युक्तिदीपिका

कुलपतेः डॉ० मण्डनमिश्रस्य 'शिवसङ्कल्प'-पुरोवाचा
पुरस्कृता

हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च
आचार्यश्रीकेदारनाथत्रिपाठी

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी



GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 15]

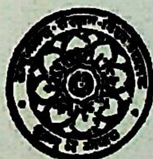
YUKTIDĪPIKĀ

With the Hindi Commentary
'KALĀ'

By
ĀCĀRYAŚRĪ KEDĀRANĀTHA TRIPĀṬHI

FOREWORD BY
DR. MANDAN MISHRA
VICE-CHANCELLOR

EDITED BY
ĀCĀRYAŚRĪ KEDĀRANĀTHA TRIPĀṬHĪ
Ex-Head of the Philosophy Dept.
Banaras Hindu University
Varanasi



VARANASI
1996

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.



Published under 'Revolving Fund Scheme
financed by Government of Uttar Pradesh.

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002



First Edition—500 Copies
Price Rs. 300.00



Printed by—
Mahakant Press
B 18/14, Rewari Talab
Varanasi-221 010

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

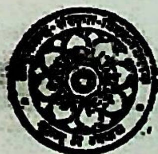
[१५]

युक्तिदीपिका

आचार्यश्रीकेदारनाथत्रिपाठिकृतया
'कला'-हिन्दीव्याख्यया

कुलपतेः डॉ० मण्डनमिश्रस्य 'शिवसङ्कल्प-' पुरोवाचा च पुरस्कृता

सम्पादकः
आचार्यश्रीकेदारनाथत्रिपाठी
दर्शनविभागाध्यक्षचरः,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी



वाराणस्याम्

२०५३ तमे वैक्रमाब्दे   १९१८ तमे शकाब्दे   १९९६ तमे ख्रैस्ताब्दे

अनुसन्धानप्रकाशनपर्यवेक्षकः —
निदेशकः, अनुसन्धानसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

उत्तर-प्रदेश-शासनेन वित्तपोषितायां
'रिवाल्विंग फण्ड'-योजनायां प्रकाशितः

प्रकाशकः —
डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी—२२१ ००२.

प्राप्तिस्थानम् —
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी—२२१ ००२.

प्रथमं संस्करणम्, ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्—३००.०० रूप्यकाणि

मुद्रकः —
महाकान्त-प्रेस
बी. १८/१४, रेवड़ी तालाब
वाराणसी—२२१ ०१०.

शिवसङ्कल्पः

साङ्ख्यदर्शनस्य माहात्म्यं प्रभावश्च सर्वेषु शास्त्रेषु दरीदृश्यते। अस्य प्रवर्तकाः कपिलाचार्या दार्शनिकेष्वाचार्येषु मुनिषु च सुप्रतिष्ठिताः। इदं हि वैदिकेषु दर्शनेषु प्रथमगणनीयम्। अत्र च 'संख्या' अर्थात् तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनत्वेन स्वीकृतम्। यथोक्तं महाभारते—

"ब्रवीति परमं मोक्षं सांख्यमेतत्प्रतिष्ठितम्"। इति।

अत्र संख्याशब्देन दोषगुणानां विवेचनपूर्वकं ज्ञानमभिप्रेतम्। अयमाशयो निम्नलिखिते उद्धरणे द्रष्टुं शक्यते—

"दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः"। इति।

सांख्यदर्शनं कापिलदर्शनत्वेन षष्टितन्त्रशास्त्रनाम्नाऽपि सुप्रसिद्धम्। "सांख्यकारिका" दर्शनस्यास्य सुसम्मतो ग्रन्थो यस्याध्ययनमध्यापनं सांख्यदर्शनस्य परिज्ञानायाधारशिलात्वेन परिगण्यते। सर्वत्र विश्वविद्यालयेषु सांख्यदर्शनस्य तत्त्वपरिचयायायं ग्रन्थः समादृतः। अस्य लेखकैः ईश्वरकृष्णाचार्यैर्भविगमीराभिर्दार्शनिकतत्त्वसम्पन्नाभिः सूक्ष्माभिः कारिकाभिः सांख्यसिद्धान्तानां यत्प्रतिष्ठापनं कृतम्,तत्सर्वथाऽनुपमम्। भगवत्पादैरादिशङ्कराचार्यैरपि स्वकीये शारीरकभाष्येऽस्याः समुल्लेखः कृतः। युक्तिदीपिकानामकं विवरणमस्याः कारिकाणां विस्तृतमधिकृतं च व्याख्यानम्। अनेन सांख्यकारिकाया गरिमा संवर्द्धितः, सांख्यतत्त्वज्ञानं च सम्पोषितम्।

अस्या व्याख्यायाः प्रथमसम्पादनं श्रीकुलीनबिहारिचक्रवर्तिभिर्विंशतिशताब्द्याश्चतुर्थदशके कृतम्, एतदनन्तरं दिल्लीविश्वविद्यालयस्याचार्यचरैर्दार्शनिकैः डॉ० रामचन्द्रपाण्डेयैरप्यस्याः सम्पादनं कृतम्।

अयमस्ति सौभाग्यस्य विषयो यदस्य विश्वविद्यालयस्य पूर्वकुलपतिभिर्विद्वद्वरेण्यैः प्रो० वि० वेङ्कटाचलम्महोदयैर्येषां प्रायशः पञ्चाशत्संख्याकानां ग्रन्थानां प्रकाशनं स्वीकृतम्, मुद्रणं च समारब्धम्, तेष्विदमपि व्याख्यानं सम्प्रति मदीये कार्यकाले विदुषां पुरस्तादहमुपस्थापयामि। एतानि सर्वाणि प्रकाशनानि तेषामवदानस्य प्रतिफलानि। अस्यै साधनायै तत्रभवद्भ्यः कुलपतिचरेभ्यः श्रीवेङ्कटाचलम्महोदयेभ्य इदंप्रथमतयाऽहं स्वकीयां कृतज्ञतां ज्ञापयामि।

ग्रन्थस्यास्य सम्पादकाः डॉ० केदारनाथत्रिपाठिमहोदयाः काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसङ्काये दर्शनविभागस्याध्यक्षा आसन्, तैश्च बहवो

ग्रन्थाः शताधिकाश्च शोधनिबन्धा लिखिताः। विद्यया विनयेन विवेकेन च संयुक्ताः श्रीत्रिपाठिमहोदया भारतराष्ट्रपतिभिर्विशिष्टसंस्कृतसेवायै सम्मानपत्रप्रदानेन पुरस्कृताः सम्प्रत्यपि वाराणस्यां शोधार्थिनां विदुषां च निर्देशनं कुर्वन्तो विराजन्त इति गौरवस्य विषयः। श्रीत्रिपाठिमहानुभावैर्न केवलमस्य सम्पादनं कृतम्; अपि त्वस्य 'कला'-नाम्नी हिन्दीव्याख्याऽपि कृता, येन सामान्यैः पण्डितैरप्येतस्य प रचयः प्राप्तुं शक्यते। अहमस्यै सफलतायै आचार्यश्रीकेदारनाथत्रिपाठिमहाशयेभ्यः स्वकीयानि वर्द्धापनानि, प्रकाशनाधिकारिणे डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठिने, ग्रन्थस्यास्य मुद्रकाय महाकान्त-मुद्रणालयव्यवस्थापकाय श्रीहरिकृष्णाय च शुभकामनाः समर्पयन् ग्रन्थमिमं सांख्यतत्त्वविशारदेभ्यः समुपहरामि।

वाराणसी
चैत्रपूर्णिमा,
वि०सं० २०५३
(३-४-१९९६ खैस्ताब्दः)

मण्डनमिश्रः
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

सांख्यसूत्रों से भी अधिक सम्मानप्राप्त ईश्वरकृष्ण की कृति विश्वविश्रुत सांख्यकारिका है; जिसका उल्लेख भगवत्पाद आद्यशंकराचार्य ने भी अपने शारीरकभाष्य में किया है, और जिसका उल्लेख उस की युक्तिदीपिकाव्याख्या में सूत्र के नामसे हुआ है। अज्ञातकर्तृक एवं अनिर्धारितकालविशेष युक्तिदीपिका का मेरे द्वारा प्रस्तुत 'कला' नामक हिन्दीविश्लेषण के साथ प्रकाशन सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय ने सम्पन्न किया, एतदर्थ मुझे अत्यन्त सन्तोष एवं हार्दिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। वस्तुतः विश्वविद्यालय ने इसका प्रकाशन स्वीकृत कर अध्येतृवर्ग एवं अन्य जिज्ञासुसमुदाय का महान् उपकार किया है और इससे मेरा भी परिश्रम सार्थक हुआ है। क्योंकि इस ग्रन्थ में हुए सूक्ष्म विचारों की गम्भीरता एवं बीच-बीच में बहुधा खण्डित एवं जगह-जगह त्रुटिपूर्ण पाठों के कारण इसकी व्याख्या एवं पाठों के संशोधन की नितान्त अपेक्षा का अनुभव विद्वत्समाज में हो रहा था। इस कठिन कार्य की निर्विघ्न पूर्णता को मैं भूतभावन करुणावतार भगवान् विश्वनाथ का अनुग्रह ही मानता हूँ। इस कार्य में अत्यन्त सावधानी वर्तने पर भी मानुष्यकनान्तरीयकदोषप्रयुक्त मेरे द्वारा भी स्खलन हो गया हो; यह सम्भव है, जिसे उदारहृदय विद्वज्जन क्षमा करेंगे और स्वयं परिमार्जन कर अनुगृहीत करेंगे।

सांख्यशास्त्र की महिमा श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणों में अनेक स्थलों में वर्णित हुयी है। और इसके प्रवर्तक महामुनि कपिल का स्मरण बहुमानपुरस्पर सर्वत्र किया गया है। एक समय था, जब एकमात्र सांख्यदर्शन ने ही अवैदिकवादों का निराकरण कर वैदिकसंस्कृति की ज्योति अक्षुण्ण रखी थी। श्रुतिप्रतिपादित कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड दोनों की विभिन्न प्रयोजनों से उपादेयता बताते हुए ज्ञानकाण्ड की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। 'तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' ईश्वरकृष्ण के इस वचन से यह स्पष्ट है। इतना ही नहीं, सभी वैदिकदर्शनों का इसे उपज्ञास्वरूप मानने में भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है। जबतक मुमुक्षु को अपवर्ग का हेतु प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान न हो जाये; तब तक सभी लौकिक वैदिक कर्मों का अधिकारी पुरुष है और वह भी लौकिकविधानानुसार लौकिककर्म तथा श्रुत्यनुसार वैदिककर्मानुष्ठान एवं तत्त्वावबोध के लिये प्रयत्न करता है। इस प्रकार कापिलदर्शन विहितकर्मों के साथ तत्त्वज्ञान का युक्तिपूर्ण आद्य दर्शन है; इसमें सन्देह नहीं है।

यद्यपि विद्याओं के चतुर्दश या अष्टादश प्रस्थानों में सांख्यशास्त्र का साक्षात् नामोल्लेख नहीं है; तथापि 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः' यहाँ न्याय-

विस्तरपद से न्याय के समान अनेकात्मवादी वैशेषिक-सांख्य एवं योग भी संगृहीत है। संख्याशब्द से निष्पन्न सांख्यशब्द ज्ञान के अर्थ में ही मुख्यतया प्रयुक्त होता है। संख्याशब्द यद्यपि गणना और ज्ञान दोनों ही अर्थ का वाचक है; फिर भी यहाँ गणना अर्थ मुख्य नहीं है।

वर्तमान सांख्यसूत्र-सांख्यकारिकायें और उन पर हुए सांख्यतत्त्व कौमुदीयुक्ति-दीपिका-सांख्यप्रवचनभाष्य प्रभृति व्याख्याग्रन्थों के अन्तरङ्ग अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कापिलदर्शन एक साथ ही पदार्थशास्त्र-प्रमाणशास्त्र और ज्ञानमीमांसा-शास्त्र तीनों ही है। इसलिये भारतीय पदार्थशास्त्र वैशेषिकदर्शन-प्रमाणशास्त्र न्याय-दर्शन तथा ज्ञानमीमांसाशास्त्र वेदान्तदर्शन इन तीनों का कापिलसांख्य आद्य स्रोत-स्वरूप है; कारण, यह सबकी अपेक्षा प्राचीनतम है।

सांख्यशास्त्र के आद्य प्रवर्तक कपिल हैं—यह श्रुति-स्मृति-इतिहास और पुराणों में प्रसिद्ध है। जैसे 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० उ०), 'सांख्यस्य कर्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते' (म० भा० शा० पर्व) में। श्रीमद्भागवतपुराण में भी महर्षि कपिल ही सांख्य के प्रवर्तक कहे गये हैं। गरुड़-पुराण में भी कहा गया है—'पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्।' (१-१-१८) मत्स्य-स्कन्द-विष्णु पुराणों में भी सांख्यशास्त्र के कर्ता कपिल कहे गये हैं। सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण ने कपिल को मुनि और परमर्षिशब्द से स्मरण किया है। (सां० का० ६९-७०)।

गरुड़पुराण के उपर्युक्त वचन से विदित है कि सांख्यविचार पहले भी था; किन्तु वह कालविलुप्त हो गया था; जिसका पुनः प्रवर्तन महर्षिकपिल ने उपदेशों द्वारा किया और सांख्यशास्त्र इनके नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रुतिप्रतिपादित होने से सांख्यमत अनादिमत है, इसमें सन्देह नहीं है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि विवेकज्ञान एवं मोक्ष की दृष्टि से यह एक शाश्वत दर्शन है। क्योंकि बन्ध और मुक्ति का सम्बन्ध प्रत्येक पुरुष से है। बन्ध का कारण है—प्रत्येक का अपने और प्रकृति का अविवेक ज्ञान। और मुक्ति का कारण है—प्रत्येक का प्रकृति के साथ विवेकज्ञान। प्रत्येक बद्ध है और प्रत्येक को मुक्त होना है। न सामूहिक बन्ध है और न सामूहिक मुक्ति है। जगत् का यही शाश्वत नियम है; इसका अपवाद नहीं है। सांख्य के पुरुष-बहुत्ववाद का यही रहस्य है।

ऐतिहासिक साक्ष्य से कपिल महर्षि का तीन स्थानों से सम्बन्ध मिलता है। श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार हिमवत्प्रदेश में सरस्वती के तट पर बिन्दुसरोवर के समीप किसी आश्रम में कर्दम और देवहूति के पुत्ररूप में जन्म लेकर; अनन्तर कुछ काल कपिलवस्तु के समीप निवास तथा अन्त में गङ्गासागरसङ्गम पर स्थित आश्रम में वे स्थायी निवास किये थे; यह मान्यता है।

समय के सम्बन्ध में गवेषक विद्वानों द्वारा निरूपित किया जाता है कि शतपथ ब्राह्मण के संकलन से पूर्व में महर्षि कपिल का आविर्भाव हो चुका था। इस तथ्य के प्रतिपादक डॉ० आद्याप्रसादमिश्र के अनुसार महर्षि कपिल का आविर्भावकाल कम से कम पाँच हजार वर्ष पूर्व था; यह मान्यता है।

सांख्यसाहित्य में षष्टितन्त्र की बहुत प्रसिद्धि है। इसका उल्लेख ईश्वरकृष्ण ने अपनी ७२ वीं कारिका में किया है। वह है—

'सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥

तन्त्रशब्द का अर्थ है शास्त्र। अर्थात् साठ विषयों का विवेचन किये जाने के कारण इस शास्त्र का नाम षष्टितन्त्र पड़ा था। वे साठ विषय हैं— पञ्च विपर्यय-नव तुष्टियाँ-आठ सिद्धियाँ-अट्ठाइस अशक्तियाँ तथा दस मौलिक अर्थ। इनका उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के अन्त में राजवार्तिक के नाम पर किया है— जैसे,

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता ।
पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश ।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम् ।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥ इति ॥

इस प्रकार महर्षि कपिल ने षष्टितन्त्र का उपदेश किया, यह प्रतीत होता है। यद्यपि कापिलदर्शन का प्रसिद्ध नाम सांख्यशास्त्र ही है; तथापि जैसे काणाददर्शन को विशेषपदार्थ की मान्यता के आधार पर वैशेषिकदर्शन या वैशेषिकशास्त्र कहा जाता है। वैसे ही ज्ञानमीमांसा की प्रधानता के कारण भी सांख्यशास्त्र या सांख्यदर्शन कहा जाता है। एवं, कपिलमुनि द्वारा प्रवर्तित होने के कारण कापिलदर्शन तथा षष्टि पदार्थों का निरूपण किये जाने के कारण षष्टितन्त्र (शास्त्र) नाम भी प्रसिद्ध हुये।

इस शास्त्र का उपदेश महर्षि कपिल ने आसुरि मुनि को दिया। आसुरि ने पञ्चशिखाचार्य को दिया और पञ्चशिखाचार्य ने इसका अपने समय में बहुत विस्तार किया। यह ईश्वरकृष्ण की कारिका से प्रमाणित है। आसुरि मुनि ने सांख्यसम्बन्धी कोई वचनात्मक रचना की या नहीं यह अनिर्णीत ही है; किन्तु उनके शिष्य पञ्चशिखाचार्य के कुछ वचनों के उद्धरण प्राप्त हैं; और वे सूत्ररूप में ही हैं। फिर भी उनका कोई प्रचलित ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। बहुत सम्भव है, लुप्त हो गया हो।

क्योंकि उनके द्वारा कोई रचित ग्रन्थ न होता तो वर्तमान में उपलब्ध वचन भी कैसे सुरक्षित रह गये।

उपर्युक्त सांख्याचार्यों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के नाम भी गौडपादाचार्य ने सांख्यकारिका भाष्य में उल्लिखित किये हैं—जैसे,

आसुरिः कपिलश्चैव तृतीयश्च सनातनः।
सनकश्च सनन्दश्च बोढुः पञ्चशिखस्तथा॥ इति॥

ये सात ब्रह्मा के पुत्र हैं। इनमें चार कपिल-बोढु-आसुरि और पञ्चशिख को सांख्याचार्य मानने में सभी का ऐकमत्य है। सनन्द भी सांख्याचार्य थे, यह मनुस्मृति की कुल्लूकभट्ट की टीका में कहा गया है। इनके अतिरिक्त भी पुलह पुलस्त्य मरीचि प्रभृति प्राचीन सांख्याचार्य थे, ऐसी मान्यता है। तथा उन सबों की अपेक्षा जैगीषव्य वार्षगण्य विन्ध्यवासि प्रभृति अर्वाचीन आचार्य थे। इस प्रकार चालीस सांख्याचार्य हुए कहे जाते हैं। अस्तु, इतने सांख्याचार्यों के होते हुए इस शास्त्र में ग्रन्थराशि अत्यल्प है। फिर भी जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनसे सांख्यदर्शन के साङ्गोपाङ्ग सिद्धांत सामने आ जाते हैं। इनमें सांख्यकारिका, सांख्यतत्त्वकौमुदी, युक्तिदीपिका, षड्ध्यायी सांख्यसूत्र एवं सूत्रों पर सांख्यप्रवचनभाष्य इस दर्शन के प्रकाशस्तम्भ हैं। इनमें भी सांख्यतत्त्वकौमुदी के बाद प्रस्तुत युक्तिदीपिका को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त है। सांख्य-दर्शन में आख्यायिकाओं का उल्लेख और उनका व्याख्यान दार्शनिकदृष्टि से भले ही अत्यन्त महत्त्व का न हो, पर सांख्यविरोधी वादों की समालोचना तो अत्यावश्यक थी, जिसे युक्तिदीपिकाकार ने विस्तार के साथ की है।

ईश्वरकृष्ण की प्रतिज्ञा का ही अनुसरण करते हुए श्रीमद्वाचस्पतिमिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में समस्त सिद्धान्तों को देते हुए जानबूझकर परवादों को छोड़ दिया था; किन्तु उन्हें भी विशदता के साथ युक्तिदीपिका में सम्मिलित कर दिये जाने से इसकी उपयोगिता और महत्ता देश-विदेश के मनीषियों द्वारा ससम्मान स्वीकृत की जा चुकी है। वाचस्पतिमिश्र ने 'ऊहः शब्दोऽध्ययनम् ··' इस कारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में कहा है—

'अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृतं परदोषोद्भावनेन सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानां नः' इति। अर्थात् हम सिद्धान्तमात्र के व्याख्यान में प्रवृत्त हैं; अतः दूसरों के मतों का दोषोद्भावन नहीं कर रहे हैं।

युक्तिदीपिकाकार ने तो आख्यायिकामात्र को ही छोड़ दिया, किन्तु सांख्य के अवान्तर भेद-प्रभेद के समस्त सिद्धान्तों को प्रकाशित करते हुये मतान्तरों का भी युक्तिपूर्ण निराकरण किया। यह युक्तिदीपिका की विशेषता है। यद्यपि षडध्यायी-सूत्रग्रन्थ में भी आख्यायिकासहित परमत-निराकरण भी मिलता है; फिर भी वह संक्षिप्त सूत्रमात्र है।

सांख्यसूत्रों पर विज्ञानभिक्षु द्वारा लिखित भाष्य में भी वह विशेषता नहीं है, जो युक्तिदीपिकाव्याख्या के अन्तर्गत पद पद में दृष्टिगोचर होती है। यह महाभाष्यकार पतञ्जलि एवं न्यायवार्तिककार उद्योतकर की शैली में अत्यन्त प्राञ्जल होती हुयी बह्वर्थगर्भित है। कारिकाओं के संक्षिप्त विषय को व्याख्या द्वारा विशद करना युक्तिदीपिकाकार का लक्ष्य था। उन्होंने सिद्धान्तमात्र को बता देना पर्याप्त नहीं समझा और सांख्य के विभिन्न आचार्यों के मतों पर भी सयुक्ति विचार प्रस्तुत किया। साथ ही सांख्यविरोधी वादों का भी यथास्थान प्रतिवाद किया है। व्याख्या का 'युक्तिदीपिका' यह नाम भी साभिप्राय है। यहाँ युक्तिपद का अर्थ है गुण अर्थात् तन्त्र के शास्त्र के गुण। शास्त्रगुणों की दीपिका प्रकाशिका यह व्याख्या है। तन्त्रगुणों को स्वयं व्याख्याकार ने प्रारम्भ में निर्दिष्ट किया है—'सूत्रप्रमाणावयवोपपत्तिः' इत्यादि श्लोक में।

कारिकाओं पर युक्तिदीपिका व्याख्या किसने लिखी यह अभी तक अज्ञात है। वस्तुतः यह तबतक अज्ञात ही रहेगा, जबतक इससे सम्बन्धित कोई शिलालेख या पाण्डुलिपि नहीं उपलब्ध हो जाती है। प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय ने स्वसम्पादित युक्तिदीपिका की भूमिका में इसके रचयिता एवं रचनाकाल के सम्बन्ध में कुछ विचार रखा है, जो युक्तिपूर्ण एवं ग्राह्य प्रतीत होता है। यद्यपि पूनास्थित मैन्यूस्क्रिप्ट में वाचस्पतिमिश्र के युक्तिदीपिका का रचयिता होने का उल्लेख है, किन्तु उक्त उल्लेख विश्वसनीय नहीं है। क्योंकि पूना के सिवाय अन्यत्र किसी हस्तलेख प्रति में वैसा उल्लेख नहीं मिलता है। साथ ही यह सुसंगत भी नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि कारिकाओं पर तत्त्वकौमुदीव्याख्या के बाद पुनः उन्हीं पर दूसरी व्याख्या लिखने का प्रयोजन क्या था? यदि कहा जाय कि शैलीभेद से दो व्याख्याग्रन्थ लिखे तो यह तर्क भी ठीक नहीं है; क्योंकि किसी भी ग्रन्थकार की भाषागत या निर्वचनगत दो शैली एक ही ग्रन्थ की व्याख्या में अपनायी गयी नहीं देखी जाती है। यदि ऐसा जानबूझकर उन्होंने किया होता तो उसका संकेत वे बाद की रचना में अवश्य करते। किन्तु वैसा संकेत न सांख्यतत्त्वकौमुदी में कहीं है और न युक्तिदीपिका में ही। संक्षेप और विस्तार की पद्धति यदि देखी भी जाती है तो साथ-साथ देखी जाती है, न कि पृथक् दो ग्रन्थों के रूप में। जैसे स्वयं युक्तिदीपिकाकार संक्षेप में कहने के बाद तत्काल उसका विस्तार करते हैं। युक्तिदीपिका को वार्तिक और भाष्य का सम्मिलितरूप माना जा सकता है। युक्तिदीपिकाकार कारिकाओं को सूत्र मानते हैं और उन पर उन्होंने स्वयं वार्तिक और भाष्य लिखा-ऐसा प्रतीत होता है।

एवं युक्तिदीपिका का अस्तित्व वाचस्पतिमिश्र के बहुत पूर्व में था; इसलिये भी युक्तिदीपिका के रचयिता वाचस्पतिमिश्र नहीं हो सकते। इसमें तीन महत्त्वपूर्ण कारणों का उल्लेख पाण्डेयजी ने किया है। वह यों है—

१. युक्तिदीपिका में दिङ्नागोक्त प्रत्यक्षलक्षण 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' का

उल्लेख है, किन्तु प्रत्यक्ष का धर्मकीर्ति द्वारा परिष्कृत लक्षण 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' का उल्लेख नहीं है। जबकि वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में धर्मकीर्ति के उक्त लक्षण का उल्लेख कर उसका खण्डन किया है। अन्य परवर्ती ग्रन्थकारों ने भी धर्मकीर्ति के लक्षण को ही उद्धृत किया है। इससे यह निश्चित किया जाता है कि युक्तिदीपिका दिङ्नाग के बाद और धर्मकीर्ति के पूर्व में रची गयी थी।

२. वाचस्पतिमिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के अन्त में राजवार्तिक के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। उक्त श्लोक युक्तिदीपिका के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के प्रसङ्ग में मिलते हैं। जब तक यह प्रमाणित न हो जाय कि युक्तिदीपिकाकार ने उन श्लोकों को किसी अन्य स्रोत से लिया है, यही मानना होगा कि वे तीनों श्लोक युक्तिदीपिकाकार के ही हैं और वहीं से वाचस्पतिमिश्र ने राजवार्तिक के नाम से अपनी तत्त्वकौमुदी में उद्धृत किया है।

३. न्यायमञ्जरीकार ने सांख्यकारिका के टीकाकार के रूप में राजा का नाम लिया है। यह टीकाकार युक्तिदीपिकाकार ही थे। इससे सिद्ध है कि न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट के समकालिक वाचस्पतिमिश्र के पूर्व ही युक्तिदीपिका टीका का अस्तित्व था और वहीं से वाचस्पतिमिश्र ने राजवार्तिक के नाम पर उक्त तीनों श्लोकों को उद्धृत किया। इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र युक्तिदीपिका के रचयिता नहीं हो सकते और युक्तिदीपिका उनसे पूर्व की रचना है। जयन्तभट्ट के उद्धरण से मालूम होता है कि राजवार्तिक राजा का लिखा था और वह एक वार्तिक के ढंग का था, जो ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के ऊपर लिखा गया है।

किन्तु उपर्युक्त तर्क के आधार पर भी उक्त निर्णय पर पहुँचना सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि राजवार्तिक का कर्ता कोई भूपति था। पाण्डेयजी ने भी इस मान्यता के प्रति सन्देह व्यक्त किया है कि युक्तिदीपिका का रचयिता राजा था और राजवार्तिक युक्तिदीपिका का ही नामान्तर था। ऐसी स्थिति में दूसरा और तीसरा तर्क पुष्ट नहीं सिद्ध होते हैं। साथ ही इस प्रकार के सन्देह की स्थिति में प्रथम तर्क भी पुष्ट नहीं हो पाता है। क्योंकि धर्मकीर्ति का उल्लेख नहीं होने से यदि युक्तिदीपिका के बाद धर्मकीर्ति की स्थिति मानी जाय तो युक्तिदीपिका का तत्त्वकौमुदी में स्पष्ट उल्लेख न होने से तत्त्वकौमुदी के बाद में युक्तिदीपिका की स्थिति सम्भावित होती है क्योंकि तत्त्वकौमुदी में उल्लिखित राजवार्तिक युक्तिदीपिका है—यह स्वयं में सन्दिग्ध है। साथ ही राजवार्तिक का 'युक्तिदीपिका' यह नामान्तर कब से चल पड़ा, और उसका कारण क्या था, यह भी एक विचारणीय प्रश्न हो जाता है।

युक्तिदीपिका में दिङ्नाग के वचन का उद्धरण होने से इतना निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि दिङ्नाग (४८०-५२० ई० वर्ष) के बाद ही युक्तिदीपिका का रचनाकाल है। साथ ही धर्मकीर्ति के परिवर्धित प्रत्यक्ष-लक्षण का उल्लेख युक्ति-दीपिका में नहीं किये जाने से यह भी सिद्ध होता है कि धर्मकीर्ति (६०० ई० वर्ष) के

पूर्व में युक्तिदीपिका की रचना हुई होगी। किन्तु कितना पूर्व में यह निश्चितरूप से कहना कठिन है। इस प्रकार युक्तिदीपिका का निश्चित कर्ता और निश्चित काल दोनों ही अभी तक अज्ञात है। युक्तिदीपिका से सम्बन्धित अन्य बाह्य जानकारीहेतु पाण्डेयजी की विशिष्ट भूमिका द्रष्टव्य है। यहाँ मेरा प्रयास केवल युक्तिदीपिका के मूल पाठों का यथासम्भव निर्धारण तथा उनके अभिप्रायों का अभिव्यक्तीकरणमात्र है। इस कार्य में मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ, इसमें विद्वज्जन ही प्रमाण हैं।

सांख्यकारिका की युक्तिदीपिकाव्याख्या की विशिष्टता का अनुभव करते हुए श्रीपुलिनविहारीचक्रवर्ती ने इस शताब्दी के चतुर्थ दशक में युक्तिदीपिका के साथ सांख्यकारिका का प्रथम प्रकाशन किया था। उक्त प्रकाशन के पूर्व इस टीका की जानकारी बहुत ही कम थी। सांख्यसाहित्य के क्रम में चक्रवर्तीमहोदय का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। उनके अनन्तर दिल्लीविश्वविद्यालय के तत्कालीन प्रोफेसर डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय ने अनेक स्रोतों से पाण्डुलिपि आदि सामग्री को प्राप्त कर उनके आधार पर युक्तिदीपिका का प्रामाणिक संस्करण टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत कर दार्शनिक जगत् का विशेषतः सांख्यदर्शन का बहुत उपकार किया है। एतदर्थ वे भूरि-भूरि धन्यवादार्ह हैं। यद्यपि पाण्डेय जी ने पाठों की त्रुटि को दूर करने का स्तुत्य प्रयास किया है; फिर भी अनेक खण्डित एवं संदिग्ध पाठों का निर्धारण शेष ही रह गया था; जिसकी औचित्यपूर्ण यथासम्भव पूर्ति करना भी मैंने अपनी इस व्याख्या का ही अङ्ग माना। जहाँ-जहाँ मैंने यह पूर्ति एवं पाठनिर्णय का कार्य किया है; वहाँ-वहाँ टिप्पणी में अंकित कर दिया है, और कहीं-कहीं पूर्व मुद्रित यथास्थित पाठ के साथ ही कोष्ठक में उल्लिखित कर दिया हैं। और वह खण्डित की पूर्ति एवं पाठ का निर्धारण मैंने अपनी दृष्टि से किया है। इसके युक्तत्व-अयुक्तत्व का निर्णय विद्वज्जन ही करेंगे।

इस ग्रन्थ में नवम आह्निक युक्तिदीपिका की समाप्ति का उल्लेख हुआ है। उसके अनन्तर दशम आह्निक का होना स्वतः सिद्ध है। अतः उसकी भी समाप्ति को सूचित करने वाली पुष्पिका का उल्लेख कहीं अवश्य होना चाहिये। तभी उसके बाद का आह्निक ग्यारहवाँ होगा और तभी ग्रन्थ के अन्त में ग्यारहवें आह्निक की समाप्ति का उल्लेख संगत होगा। किन्तु वैसा हुए बिना ही ग्रन्थ के अन्त में 'इति युक्तिदीपिकायां सांख्यसप्ततिपद्धतौ चतुर्थं प्रकरणमेकादशं चाह्निकं सम्पूर्णम्' ऐसा उल्लेख मिलता है। अतः प्रतीत होता है कि ५९ वीं कारिका की युक्तिदीपिका 'अत्र च ··· ···' इस उल्लेख के बाद खण्डित है। साथ ही ६०-६३ तथा ६५-६६ इन कारिकाओं की पूरी युक्तिदीपिका खण्डित है।

ऐसी स्थिति में अत्यन्त सम्भावित है कि इन्हीं कारिकाओं की खण्डित युक्तिदीपिका के मध्य कहीं दशम आह्निक की समाप्ति हुई हो। तभी अन्त में एकादश आह्निक की समाप्ति का उल्लेख सुसंगत हो सकता है। अथवा यह सम्भव है कि

सम्पूर्ण युक्तिदीपिकाग्रन्थ दस ही आह्निक का हो और प्रमाद से अन्त में एकादशवें आह्निक की समाप्ति का उल्लेख हो गया हो। यहाँ प्रथम पक्ष ही अधिक युक्त प्रतीत होता है। इस प्रसङ्ग में आधारभूत निश्चित प्रमाण के अभाव में हमने स्वरसतः प्राप्त दशम आह्निक का ही निर्देश रहने दिया है।

ग्रन्थ में खण्डित एवं सन्दिग्ध पाठ के कारण तथा पठन-पाठन में विशेष न आने के कारण सर्वसाधारण के लिये 'युक्तिदीपिका के दुरूह होने से तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में पाठ्यग्रन्थ के रूप में निर्धारित होने से उसकी सुगम व्याख्या अत्यन्त अपेक्षित थी। इस आवश्यकता की पूर्ति करना बहुत वर्षों से, विशेषतः जब मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालत के दर्शनविभाग में नियुक्त होकर काशी आया, मेरा अभीष्ट रहा था। विश्वविद्यालयअनुदानआयोग का प्रोत्साहन पाकर मैंने इसे पूर्ण करने का प्रयास किया। मेरे इस कार्य से यदि विद्वद्वर्ग को सन्तोष एवं अध्येतावर्ग को लाभ हुआ तो मैं अपने को कृतार्थ मानूँगा तथा अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

इस कार्य में जिन विद्वानों की कृतियों का मुझे सहयोग प्राप्त हुआ, उन सभी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। साथ ही केन्द्रीय पुस्तकालयाध्यक्ष का० हि० वि० वि० का एवं सरस्वती भवन पुस्तकालयाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय का अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने इस कार्य से सम्बन्धित पुस्तकों के दुर्लभ संस्करण प्रदान कर सहयोग प्रदान किया।

अन्ततः सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० वेङ्कटाचलम् महोदय का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर इसके प्रकाशन का गुरुतर कार्य सम्पन्न कराया। एवं विद्वत् कुलभूषण प्रो० वेङ्कटाचलम् महोदय के द्वारा स्वीकृत एवं मुद्रण की पूर्णता को प्राप्त यह ग्रन्थ इस विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति अनेक संस्कृतविद्यासंस्थानों के जीवातुभूत स्वनामधन्य डॉ० मण्डनमिश्र महानुभाव के शुभागमन के साथ प्रकाशन को प्राप्त किया है, इसमें अपना द्विगुणित हुआ सौभाग्य मानता हूँ। इस विश्वविद्यालय के प्रकाशनाधिकारी डॉ० श्रीहरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी के प्रति भी सधन्यवाद आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके कुशल निर्देशन में प्रकाशन का कार्य सम्पन्न हुआ है। साथ ही काशीहिन्दूविश्वविद्यालय में संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय के वैदिकदर्शनविभाग में सांख्ययोगविषय के वर्तमान सुयोग्य एवं उत्साही रीडर डॉ० श्री कृष्णकान्त शर्मा को भी साशीर्वाद सधन्यवाद अपनी हार्दिक शुभकामना व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम के साथ ही मेरी अनुपस्थिति में पूर्वरूपसंशोधन का कार्य सम्भालकर मुद्रणकार्य में निरन्तरता बनाये रखा। इस सन्दर्भ में महाकान्तप्रेस के कार्यकर्तागण को भी धन्यवाद है, जिन्होंने लगन के साथ अल्पावधि में इस वृहद् ग्रन्थ का मुद्रण सम्पन्न किया।

फा० कृ० ११, २०५२
दि० १९-२-९६

केदारनाथत्रिपाठी
व्याख्याकार

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

युक्तिदीपिका

[सटिप्पणकलोपेता]

प्रथमाह्निकम्



मङ्गलानि

वीतावीतविषाणस्य पक्षतावनसेविनः ।
प्रवादाः सांख्यकरिणः सल्लकीषण्डभङ्गुराः ॥ १ ॥
ऋषये परमायार्कमरीचिसमतेजसे ।
संसारगहनध्वान्तसूर्याय गुरवे नमः ॥ ॥ २ ॥
तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायासुरये मुनिः ।
यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रयनिवृत्तये ॥ ३ ॥
न तस्याधिगमः शक्यः कर्तुं वर्षशतैरपि ।
भूयस्त्वादिति सञ्चिन्त्य मुनिभिः सूक्ष्मबुद्धिभिः ॥ ४ ॥

'कला' हिन्दी-व्याख्या

नत्वेशकपिलाचार्यान् विश्रुतां युक्तिदीपिकाम् ।
कलाव्याख्यामिषेणाहं कर्तुमीहे सुनिर्मलाम् ॥

वीत और अवीत नामक दो प्रकार के अनुमान ही जिसके दो विषाण (दन्त) हैं तथा जो पक्षतारूपी वन का सेवन करनेवाला है, ऐसे सांख्यरूपी हाथी के सल्लकी समूह के समान अन्य वादों का भङ्ग (मर्दन) कर देने वाले सर्वोत्कृष्ट प्रवाद अर्थात् सिद्धान्तरूपी गर्जन विराजमान हैं ॥ १ ॥

सूर्य की किरणों के समान तेज को धारण करनेवाले तथा संसाररूपी घोर अन्धकार को नष्ट करने में सूर्यस्वरूप परमर्षि (तत्त्वद्रष्टा) गुरुदेव को नमस्कार है ॥२॥

कपिलमुनि ने जिस महान् सांख्यशास्त्र का तत्त्व के जिज्ञासु आसुरिनामक विप्र को आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा अधिभौतिक त्रिविध दुःखों की निवृत्ति के लिए उपदेश किया था ॥ ३ ॥

ग्रन्थेनाल्पेन संक्षिप्य तदार्षमनुशासनम् ।
निबद्धममलप्रज्ञैः शिष्याणां हितकाम्यया ॥ ५ ॥

प्रतिपक्षाः पुनस्तस्य पुरुषेशाणुवादिनः ।
वैनाशिकाः प्राकृतिका विकारपुरुषास्तथा ॥ ६ ॥

तेषामिच्छाविघातार्थमाचार्यैः सूक्ष्मबुद्धिभिः ।
रचिताः स्वेषु तन्त्रेषु विषमास्तर्कगह्वराः ॥ ७ ॥

शिष्यैर्दुरवगाहास्ते तत्त्वार्थभ्रान्तबुद्धिभिः ।
तस्मादीश्वरकृष्णेन संक्षिप्तार्थमिदं कृतम् ॥ ८ ॥

सप्तत्याख्यं प्रकरणं सकलं शास्त्रमेव वा ।
यस्मात् सर्वपदार्थानामिह व्याख्या करिष्यते ॥ ९ ॥

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता ।
पारार्थ्यञ्च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥ १० ॥

उस शास्त्र का सम्यक् बोध सैकड़ों वर्षों में भी करना अशक्य है; क्योंकि वह अत्यन्त विस्तृत शास्त्र है, यह सोचकर सूक्ष्मबुद्धि वाले (निर्मलप्रज्ञा वाले) मुनियों के द्वारा स्वल्पग्रन्थ के रूप में संक्षिप्त करके ऋषिप्रणीत उस अनुशासन को शिष्यों के हित की कामना से निबद्ध किया गया ॥ ४-५ ॥

उस सांख्यशास्त्र के मुख्य प्रतिपक्षी हैं—ईश्वर के रूपमें पुरुष को मानने वाले, परमाणुवादी वैशेषिक, बौद्ध, प्रकृतिमात्र को मानने वाले जड़वादी चार्वाक तथा विकारी पुरुष मानने वाले जैन आदि ॥ ६ ॥

उन प्रतिपक्षियों के अभीष्ट मन्तव्यों को निरस्त करने के लिए सूक्ष्मबुद्धि वाले आचार्यों ने अपने शास्त्रों में तर्करूपी दुर्गम कन्दराओं की रचना की थी ॥ ७ ॥

वे तर्कतत्त्वार्थ के सम्बन्ध में भ्रान्तबुद्धि वाले शिष्यों के द्वारा सरलतापूर्वक अवगाहन करने योग्य नहीं हैं, इसलिए ईश्वरकृष्ण ने यह संक्षिप्त अर्थ वाला सांख्य-सप्तति नामक प्रकरणग्रन्थ रचा अथवा सांख्यसम्बन्धी पूर्ण शास्त्र ही रचा; क्योंकि इस ग्रन्थ में सभी पदार्थों की व्याख्या उनके द्वारा की जायगी ॥ ८-९ ॥

(१) प्रधान का अस्तित्व, (२) एकत्व, (३) अर्थवत्त्व, (४) अन्यता अर्थात् भेद, (५) परार्थत्व,(६)पुरुष का अनेकत्व,(७) वियोग,(८) योग,(९) शेषवृत्ति तथा (१०)पुरुष

शेषवृत्तिरकर्तृत्वं चूलिकार्थाः स्मृता दश ।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥ ११ ॥

करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम् ।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥ १२ ॥

यथाक्रमं लक्षणतः कार्त्स्न्येनेहाभिधास्यते ।
तस्मादतः शास्त्रमिदमलं नानात्वसिद्धये ॥ १३ ॥

अल्पग्रन्थमनल्पार्थं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतम् ।
पारमर्षस्य तन्त्रस्य बिम्बमादर्शगं यथा ॥ १४ ॥

तस्य व्याख्यां करिष्यामि यथान्यायोपपत्तये ।
कारुण्यादप्ययुक्तां तां प्रतिगृह्णन्तु सूरयः ॥ १५ ॥

आह—करिष्यति भवान् व्याख्याम् । इदं त्वावावुपन्यस्तं सर्वैस्तन्त्रगुणैर्युतमिदं तन्त्रमिति । के तन्त्रगुणाः, कियन्तो वेति ?

का अकर्तृत्व ये सांख्य के दश चूलिकार्थ या मूलिकार्थ अर्थात् मौलिक पदार्थ हैं । पाँच प्रकारके विपर्यय हैं, तथा तुष्टि नौ प्रकारकी कही गई है ॥ १०-११ ॥

करणों की अशक्ति अट्ठाईस प्रकार की मानी गई है । इस प्रकार आठ सिद्धियों सहित उपर्युक्त पदार्थों की साठ संख्या है ॥ १२ ॥

इस ग्रन्थ में उपर्युक्त साठ पदार्थ लक्षणों के साथ समग्ररूप में क्रमशः कहे जायेंगे । इस हेतु नानात्वसिद्धि के लिए यह शास्त्र समर्थ है ॥ १३ ॥

अल्पशब्दवाला; किन्तु बहुत अर्थ को धारण करने वाला एवं शास्त्र के सभी गुणों से परिपूर्ण यह सप्ततिनामक शास्त्र कपिलमुनि के शास्त्र का प्रतिबिम्बरूप है । अर्थात् जैसे दर्पण के अन्तर्गत प्रतिबिम्बित होकर मुख भासमान होता है, वैसे ही इसके अन्तर्गत कपिलमुनि का सम्पूर्ण शास्त्र प्रतिबिम्बित होकर भासमान है ॥ १४ ॥

न्यायानुसार सिद्धि के लिए उसकी व्याख्या करूँगा । विद्वान् जन अयुक्त भी उस व्याख्या को करुणापूर्वक स्वीकार करें ॥ १५ ॥

प्रतिवादी—आप व्याख्या करने जा रहे हैं । यह तो आपने प्रारम्भ में कहा है कि यह शास्त्र सभी तन्त्रगुणों से युक्त है । वे तन्त्रगुण कौन हैं और कितने हैं ? इसे बतावें ।

उच्यते—

सूत्रप्रमाणावयवोपपत्तिरन्यूनता संशयनिर्णयोक्तिः ।
उद्देशनिर्देशमनुक्रमश्च संज्ञोपदेशाविह तन्त्रसम्पत् ॥

सूत्राणि च प्रमाणानि च अवयवाश्च सूत्रप्रमाणावयवाः, तेषाम् उपपत्तिः सूत्रप्रमाणावयवोपपत्तिः । उपपत्तिः सम्भव इत्यनर्थान्तरम् । अनन्योऽर्थोऽनर्थान्तरम् । उपपत्तिशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते सूत्रोपपत्तिरित्यादि ।

आह— लक्षणोपेतसूत्रोपपत्तिरिति वक्तव्यम्, इतरथा हि अलक्षणोपेतस्यापि सूत्रस्य तन्त्राङ्गभावः स्यादिति ।

उच्यते— न, नान्तरीयकत्वात् । न ह्यन्तरेण लक्षणोपेतत्वं सूत्रत्वम् । अतो न वक्तव्यमेतदिति ।

वादी—कहा जा रहा है ।

सूत्र, प्रमाण एवं अवयवों की उपपत्ति, अन्यूनता, संशय और निर्णय का कथन, उद्देश और निर्देश, अनुक्रम, संज्ञा और उपदेश, ये ग्यारह तन्त्र के गुण हैं । 'इह' शब्द के स्थान पर कहीं 'इति' शब्द का पाठ है[1] । उसके अनुसार ग्यारह गुणों के अतिरिक्त इसी प्रकार के और भी तन्त्र के गुण हैं, यह बात सूचित होती है ।

'सूत्राणि च प्रमाणानि च अवयवाश्च सूत्रप्रमाणावयवाः' यहाँ द्वन्द्व समास है । इनकी उपपत्ति अर्थात् सम्भव या प्राप्ति सूत्र, प्रमाण और अवयव की उपपत्ति है । उपपत्ति और सम्भव या प्राप्ति यह एक ही अर्थ है । अनन्य अर्थात् अभिन्न अर्थ को अनर्थान्तर कहते हैं । श्लोक में आये उपपत्तिशब्द का सम्बन्ध सूत्र,प्रमाण और अवयव प्रत्येक के साथ है । इससे सूत्रोपपत्ति, प्रमाणोपपत्ति और अवयवोपपत्ति इस त्रिविध उपपत्ति का बोध होता है ।

प्रतिवादी— 'लक्षणोपेतसूत्रोपपत्ति' ऐसा कहना चाहिए । यदि ऐसा नहीं कहा जाय तो जो सूत्र लक्षणोपेत नहीं है, वह भी तन्त्र का अङ्ग होने लगेगा ।

वादी— 'लक्षणोपेत' ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं हैं; क्योंकि लक्षण और सूत्र में अविनाभाव सम्बन्ध है । कारण, लक्षण से युक्त हुए बिना सूत्र होता ही नहीं है । अतः लक्षणोपेत, ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं है ।

---

१. युक्तिदीपिका (पृ० २२) श्रीपुलिनविहारी चक्रवर्ती ।

आह—अथ सूत्रमिति कस्मात् ?

उच्यते—सूचनात् सूत्रम् । सूचयति तांस्तानर्थविशेषानिति सूत्रम् । तद्यथा—कारणमस्त्यव्यक्तम् (का० १६) भेदानां परिमाणादिति (का० १५) ।

अत्र प्रतिज्ञाहेतू कण्ठोक्तौ । तयोरुपयोगिदृष्टान्तं साध्यसिद्धये समर्थमिति कृत्वा मूलशकलादयोऽत्रान्तरमनभिहिता अप्येतस्मादवसीयन्ते ।

अथवा भिक्षोरुपसंहृतबहिष्करणान्तःकरणस्य तेषु तेष्वतीन्द्रियेषु अपि प्रधानादिष्वर्थेषु बुद्धिं सूचयतीति सूत्रम् ।

अथवा, सौक्ष्म्यात्तदनुपपत्तिरिति (का० ८) सूत्रम् । तद्यथा—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः' ॥

अस्तोभमपुनरुक्तमित्यर्थः ।

जिज्ञासा— यहाँ सूत्र का अभिप्राय क्या है ?

समाधान— सूचित करने के कारण सूत्र कहा जाता है । अर्थात् जो उन-उन विशिष्ट अर्थों को सूचित करे वह सूत्र है । जैसे 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' यह, तथा 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादि अंश सूत्र है ।

उपर्युक्त सूत्रों में प्रतिज्ञा और हेतु कंठ से कह दिये गये हैं । एवं उनका उपयोगी दृष्टान्त साध्य की सिद्धि में समर्थ है । इस कारण मूल-शकल आदि दृष्टान्त यहाँ मध्य में नहीं कहे जाने पर भी जान लिये जाते हैं ।

अथवा जिसने बहिरिन्द्रियों को और अन्तःकरणों को वशीभूत कर लिया है, ऐसे भिक्षुको अर्थात् योगी को प्रधान आदि उन-उन अतीन्द्रिय विषयों में भी बुद्धि होती है । इस बात को सूचित करने के कारण सूत्र कहा जाता है ।

अथवा, 'सौक्ष्म्यात्तदनुपपत्तिः' यह सूत्र है । जैसा कि सूत्र का स्वरूप बताया गया है ।

सूत्र के ज्ञाता आचार्य 'अल्पाक्षरम्' अर्थात् जिसमें कम अक्षर हों और असन्दिग्ध हो, सारगर्भित हो, 'विश्वतोमुखम्' अर्थात् व्यापक अर्थ वाला हो, 'अस्तोभम्' अर्थात् पुनरुक्ति से रहित हो तथा निर्दोष हो, उसे सूत्र मानते हैं ।

'लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥

प्रमाणानि च प्रत्यक्षादीनि, तान्युत्तरत्र वक्ष्यति। दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च (का० ४) प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमित्यादि (का० ५)।

अवयवाः पुनर्जिज्ञासादयः प्रतिज्ञादयश्च। तत्र जिज्ञासादयो व्याख्याङ्गम्। प्रतिज्ञादयः परप्रत्यायनाङ्गम्। तानुत्तरत्र वक्ष्यामः।

आह— अवयवानभिधानमनुपदेशात्। न हि यथा प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्युपदिष्टानि तथा अवयवा उपदिष्टाः। तस्मादवयवोपपत्तिरित्येतदसत्।

भाष्यकारप्रामाण्याददोष इति चेत् स्यान्मतम्। यद्यपि सूत्रकारेणावयवोपदेशो न कृतस्तथाऽपि भाष्यकाराः केचिदेषां संग्रहं चक्रुः। ते च नः प्रमाणम्। तस्माद्युक्तमवयवोपपत्तिरिति।

विद्वान् जन स्वरूपतः लघु आकार वाले तथा अर्थ को सूचित करने वाले कम अक्षर और पदवाले तथा सर्वतोभावेन जो सारभूत हैं, उन्हें सूत्र कहते हैं।

प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं। इन्हें आचार्य 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च', 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' इत्यादि कारिकाओं द्वारा आगे कहेंगे।

जिज्ञासा आदि तथा प्रतिज्ञा आदि अवयव हैं। इनमें जिज्ञासा आदि अवयव व्याख्या के अङ्ग हैं तथा प्रतिज्ञा आदि अवयव दूसरों को बोध कराने में अङ्गभूत हैं। उनका निरूपण आगे करेंगे। अर्थात् छठीं कारिका के व्याख्यान में वहाँ जिज्ञासादिपद से जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन और शक्यप्राप्ति ये चार लिये गये हैं। प्रतिज्ञादिपद से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव विवक्षित हैं।

प्रतिवादी—तन्त्र-गुणों के अन्तर्गत अवयवों का अभिधान नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस सांख्यशास्त्र के अन्तर्गत आगे अवयवों का उपदेश नहीं किया गया है। अर्थात् इस शास्त्र में जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों का उपदेश किया गया है, वैसे अवयवों का उपदेश नहीं किया गया है। इसलिये अवयवोपपत्ति शास्त्र का अङ्ग है, यह कथन असत् है।

सिद्धान्ती (वादी)—यद्यपि सूत्रकार ने अवयवों का उपदेश नहीं किया है, तथापि कोई भाष्यकार अवयवों का उपदेश किये हैं, और ये भाष्यकार हमारे लिये प्रमाण हैं, इसलिये अवयवोपपत्ति को शास्त्र का अङ्ग बताना उचित ही है।

एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? उत्सूत्रत्वात् । नह्युत्सूत्रं व्याचक्षाणा भाष्यकाराः प्रमाणं भवन्ति । तथा चैतदुत्सूत्रितमिति ।

उच्यते—न, लिङ्गात् । नैतद्युक्तमनुपदेशान्न सन्ति जिज्ञासादयः । किं तर्ह्यनुपदिष्टमप्येषामस्तित्वं लिङ्गात् प्रतिपद्यामहे, यदयमाचार्यो दुःख-त्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेताविति (का० १) जिज्ञासाप्रयोजन-माचष्टे । कारणमस्त्यव्यक्तमिति (का० १६) प्रतिज्ञां करोति । भेदानां परिमाणादिति (का० १५) हेतुमुपदिशति । नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्ग-मिति (का० ४२) दृष्टान्तं द्योतयति । क्षीरस्य यथा, तथा प्रवृत्तिः प्रधा-नस्य (का० ५७) इत्युपसंहरति । तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारीति (का० ३५) निगमयति । न चानभिप्रेतैराचार्याणां शास्त्रे व्यवहारो लक्ष्यते । तेन वयं लिङ्गात्प्रतिपद्यामहे, सन्ति जिज्ञासादयोऽवयवाः शास्त्र इति ।

आह— सतामनुपदेशे प्रयोजनवचनम् । एवं चेन्मन्यसे सन्ति

प्रतिवादी— भाष्यकार के प्रमाण से अवयवोपपत्ति को शास्त्र का अङ्ग बताना अयुक्त है; क्योंकि भाष्यकार का व्याख्यान सूत्र से बहिर्भूत है । अतः सूत्र की सीमा का उल्लंघन कर व्याख्यान करने वाले भाष्यकार प्रमाण नहीं हो सकते और किसी भी भाष्यकार द्वारा किया गया अवयव का व्याख्यान सूत्रबहिर्भूत है ।

सिद्धान्ती (वादी)— प्रतिवादी का उक्त कथन युक्त नहीं है; क्योंकि लिङ्ग से विदित होता है कि शास्त्रकार को अवयवोपपत्ति भी शास्त्र का अङ्गरूप में अभीष्ट है । अर्थात् उपदेश नहीं होने से जिज्ञासा आदि अवयव शास्त्राङ्ग नहीं हैं, यह प्रतिवादी का कथन युक्त नहीं है । बल्कि उपदेश न होने पर भी लिङ्ग द्वारा अवयवों का अस्तित्व समझ लेते हैं । इसीलिये यह आचार्य 'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ' इस कारिका में जिज्ञासा और प्रयोजन का कथन करते हैं । एवं 'कारणमस्त्य-व्यक्तम्' यह प्रतिज्ञा करते हैं 'भेदानां परिमाणात्' यह हेतु का उपदेश करते हैं । 'नट-वद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्' यहाँ दृष्टान्त को बताते हैं ।'क्षीरस्य यथा, तथा प्रवृत्तिः प्रधा-नस्य' इसके द्वारा उपसंहार करते हैं । तथा 'तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि' इसके द्वारा निगमन करते हैं । जो विषय अभीष्ट नहीं होते, उनके द्वारा शास्त्र में आचार्यों का व्यवहार नहीं देखा जाता है । इसलिये हम लिङ्ग द्वारा जानते हैं कि जिज्ञासा आदि अवयव शास्त्र के अङ्ग हैं ।

प्रतिवादी— जो वस्तु है, उसका उपदेश न करने का प्रयोजन बताना चाहिए ।

जिज्ञासादयोऽवयवाः, शास्त्रे तेषामनुपदेशे प्रयोजनं वक्तव्यम्—अमुष्माद्धेतोराचार्येण नोपदिश्यन्ते, सन्ति च ते इति।

उच्यते— प्रमाणान्तर्भावात्। प्रमाणेष्वन्तर्भाव एषामित्ययमुपदिष्टो हेतुरस्माभिः। अनुमानाङ्गं हि जिज्ञासादयः, तस्मात्तदन्तर्भूतास्ते इति न पृथगुपदिश्यन्ते। किञ्च, तन्त्रान्तरेषु हि विन्ध्यवासिप्रभृतिभिराचार्यैरुपदिष्टाः। प्रमाणं च नस्ते आचार्या इत्यतश्चानुपदेशो जिज्ञासादीनामिति।

आह— न, प्रमाणानुपदेशप्रसङ्गात्। यदि च तन्त्रान्तरोपदेशादेवावयवानामनुपदेशः, प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते। श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्। सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्। यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टस्स तत्राप्तस्तस्योपदेश आप्तवचनमिति तेषामप्यनुपदेश-

---

अर्थात् यदि आप यह मानते हैं कि जिज्ञासा आदि अवयव हैं, तो उनका शास्त्र में उपदेश न करने का प्रयोजन बताना चाहिए कि इस कारण से आचार्य ने उनका उपदेश नहीं किया, यद्यपि वे हैं।

सिद्धान्ती (वादी)— जिज्ञासा आदि का प्रमाण के अन्तर्गत अन्तर्भाव होने से अवयवों का शास्त्र में पृथक् उपदेश नहीं हुआ। अर्थात् प्रमाणों में इनका अन्तर्भाव है, यही हेतु हमारे द्वारा कहा गया है; क्योंकि जिज्ञासा आदि अवयव अनुमान के अङ्ग हैं, इसलिये वे उसी में अन्तर्भूत हैं। यही कारण है कि उनका पृथक् उपदेश आचार्य द्वारा नहीं किया गया है।

अन्य तन्त्रों में उन अवयवों का कथन भी हो चुका है। अर्थात् विन्ध्यवासी प्रभृति आचार्यों के द्वारा वे अन्य तन्त्रों में उपदिष्ट हो चुके हैं। और वे आचार्य हमारे प्रमाणभूत हैं। इस हेतु से भी जिज्ञासादि अवयवोंका आचार्य ने इस शास्त्र में उपदेश नहीं किया।

प्रतिवादी—उक्त हेतुओं से अवयवों का उपदेश नहीं किया, यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि तब प्रमाणों का भी उपदेश आचार्य को नहीं करना चाहिए। अर्थात् तन्त्रान्तर में उपदेश होने के कारण यदि अवयवों का इस शास्त्र में उपदेश न हो, तो प्रत्यक्षादि प्रमाण भी तन्त्रान्तर में उपदिष्ट हैं। जैसे—श्रोत्र आदि इन्द्रियों की वृत्ति प्रत्यक्ष है। व्याप्तिरूप सम्बन्ध के बल से एक को देखकर शेष की सिद्धि कर लेना अनुमान है। जो व्यक्ति जिस विषय में प्रमाण है तथा कर्म के सम्बन्ध में दोषरहित है, वह उसमें आप्त कहा जाता है और उसके द्वारा किया गया उपदेश आप्तवचन प्रमाण है। ऐसा अन्य शास्त्रों में आचार्य ने उपदेश किया है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी यहाँ उपदेश नहीं करना चाहिए। यदि कहो कि अन्य शास्त्रों में

प्रसङ्गः। अथ सति तन्त्रान्तरोपदेशे प्रमाणान्युपदिश्यन्ते नावयवा इति, नन्वेतदिच्छामात्रमिति।

उच्यते—पूर्व एव तर्हि परिहारोऽस्तु। अथवा पुनरस्तु तन्त्रान्तरोपपत्तेरित्ययमपि परिहारः।

यत्तूक्तं प्रमाणानुपदेशप्रसङ्ग इति, अत्र ब्रूमः—

अयुक्तमेतत्। कस्मात्? प्रयोजनवतामुपदेशस्यादोषत्वात्। अनुपदेशो हि प्रयोजनवतश्चोद्यत इति युक्तमेतत्। उपदेशमेव तु सदोष इति कृत्वा कः प्रत्याचक्षीत? तस्मान्न किञ्चिदेतत्।

किञ्चान्यत्, प्रधानोपदेशे गुणभूतान्तर्भावसिद्धेः। तद्यथा, तक्ष्णुहि चैत्र इत्युक्ते यावद्भिस्साधनविशेषैर्विना तक्षणं नोपपद्यते सर्वांस्तांश्चैत्र

उपदेश होने पर भी प्रमाणों का उपदेश आचर्य ने किया; किन्तु अवयवों का नहीं किया, तो यह आचार्य की इच्छामात्र हुई, अर्थात् यह आचार्य का प्रौढिवाद है।

वादी—यहाँ पहला ही परिहार होगा। अर्थात् प्रमाणों में अन्तर्भूत होने के कारण जिज्ञासादि अवयवों का पृथक् उपदेश नहीं किया। अथवा यह भी परिहार हो सकता है कि अवयवों का विचार अन्य तन्त्रों में किया जा चुका है। इसलिये भी आचार्य ने इस शास्त्र में उनका उपदेश नहीं किया।

यह जो कहा कि तन्त्रान्तर में उक्त होने से अवयवों का उपदेश नहीं है, तो उसी तरह प्रमाणों का भी उपदेश नहीं होना चाहिए; क्योंकि प्रमाणों का भी विचार न्यायादि शास्त्रों में किया जा चुका है।

वादी—प्रमाणों का भी अनुपदेश प्रसक्त हो जायेगा, यह कथन अयुक्त है; क्योंकि जिनका उपदेश सप्रयोजन है, उनका उपदेश करने में कोई दोष नहीं है। जो प्रयोजनवान् है उसका उपदेश न करना ही आपत्तिजनक है, यह उचित है। उपदेशमात्र को सदोष कहकर कौन खण्डन करेगा? इसलिये आपका कथन अकिञ्चितकर (निरर्थक) है।

और भी, प्रधान का उपदेश होने पर गुणभूत जो भी होते हैं, उनका उस प्रधान में अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है। जैसे 'तक्ष्णुहि चैत्र' ऐसा कहने पर जितने साधनों के विना तक्षण क्रिया नहीं हो पाती है, उन सभी साधनों को चैत्र ग्रहण करता

उपादत्ते। तथा प्रत्यक्षादिषु प्रमाणेषूपदिष्टेषु यैरेषामविनाभावः सर्वाणि तान्युपादास्यामहे।

किञ्चान्यत्, अन्यत्रापि तदनुष्ठानात्। न केवलमिह, अन्यत्राप्ययमाचार्यः प्रधानानामेवोपदेशं करोति। तदङ्गभूतास्तु तदुपदेशादेव प्रतीयन्ते तद्यथा कारणमस्त्यव्यक्तम् (का० १६), भेदानां परिमाणादिति (का० १५)। इतरथा हि दृष्टान्ताभावादसाधनमेतत्स्यात्। पश्यति त्वाचार्यो नादृष्टान्तं साधनं साध्यमाप्नोतीति कृत्वा प्रतिपादकाः प्रतिपादनकाले तन्त्रान्तरोपदिष्टानपि मूलशकलादीनाक्षेप्स्यन्ति इति।

किञ्चान्यत्, अनुमाने भूतवदुपदेशात्। अतश्चैतदेवं यदयमाचार्यस्त्रिविधमनुमानमाख्यातमिति (का० ५) ब्रवीति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्? आख्यातस्य हि प्रत्याम्नाये भूतवाचिना शब्देनोपदेशो भवति। न चानेन पूर्वं

है। वैसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों का उपदेश करने पर जिनके साथ इन प्रमाणों का अविनाभाव सम्बन्ध होता है, उन सबों को हम गृहीत कर लेंगे।

एवं अन्य जगह भी आचार्य ने ऐसा किया है। अर्थात् केवल यहीं नहीं, अन्यत्र भी ये आचार्य प्रधानों का ही उपदेश करते हैं। उसके जो अङ्गभूत हैं उनकी प्रतीति तो प्रधान के उपदेश से ही हो जाती है। जैसे 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' (का० १६),'भेदानां परिमाणात्' (का० १५) इत्यादि में प्रधान का उपदेश किया है, और गौण की प्रतीति उपदेश के विना ही हो जाती है। अन्यथा दृष्टान्त का उपदेश नहीं होने से उक्त प्रतिज्ञा और हेतु अनुमान का साधन नहीं हो सकेगा। आचार्य इस बात को जानते हैं कि विना दृष्टान्त के कोई साधन साध्य की सिद्धि नहीं करता है। इस कारण प्रतिपादनकर्ता व्यक्ति प्रतिपादन के समय दूसरे शास्त्रों में उपदिष्ट भी मूलशकलादि दृष्टान्तों का आक्षेप कर लेंगे।

और भी (अन्य उत्तर भी), जैसे—अनुमान के विषय में भूतकालीन के समान उपदेश किया गया है। अर्थात् ऐसा इसलिये भी है कि यह आचार्य 'त्रिविधमनुमानमाख्यातम्' ऐसा कहते हैं।

प्रश्न—किस प्रकार यह ज्ञापक है?

उत्तर—जो पहले कहा जा चुका है, उसे पुनः कहने में भूतवाचक शब्द के द्वारा उपदेश होता है; किन्तु इस आचार्य ने स्वयं पूर्व में त्रिविध अनुमान का कथन नहीं किया है। यदि कहें कि कथन किया है, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि यह कहा

त्रिविधमनुमानमाख्यातम् । आख्यातमिति चेत्, न तदाख्यातं क्वचिदिति शक्यं प्रतिपादयितुम् । सोऽयमनाख्यायापि यद्भूतवाचिनं शब्दमुपादत्ते, तज्ज्ञापयत्याचार्यस्तन्त्रान्तरक्लृप्तानामपीह सन्निवेशोऽङ्गीक्रियते । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? तन्त्रान्तरोपदिष्टोऽपि कर्मयोनीनां प्राणभेदादीनाञ्च लक्षणोपदेशस्संगृहीतो भवतीति सिद्धं तन्त्रान्तरोपदेशादवयवानुपदेशः । तस्मात्सूक्तमेवावयवोपपत्तिरिति ।

अन्यूनता । पदार्थकार्त्स्न्यमशेषताऽन्यूनतेत्यभिधीयते । पदार्थाश्च दश चूलिकार्थाः, पञ्चाशत्प्रत्ययाः । तत्रास्तित्वमेकत्वं पञ्चभिर्वीतैः सिद्धम् । अर्थवत्त्वं कार्यकारणभावः । पारार्थ्यं संहत्यकारित्वात् परार्थत्वात् । अत एवान्यत्वम् । चेतनाशक्तेर्गुणत्रयाज्जन्ममरणकरणानाम् (का० १८) इत्येवमादिभिः पुरुषबहुत्वम् । पुरुषस्य दर्शनार्थम् (का० २१) इति संयोगः ।

जा सकता है कि त्रिविध अनुमानों का इस शास्त्र में कहीं भी कथन नहीं हुआ है। इसलिये यह आचार्य पूर्व में नहीं कहने पर भी जो भूतवाचक शब्द का प्रयोग करते हैं, उससे आचार्य यह सूचित करते हैं कि अन्य शास्त्र में उपदेश किये गये का भी यहाँ सन्निवेश मान लिया जाता है।

प्रश्न— ऐसा ज्ञापन करने में आचार्य का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर— अन्य तन्त्र में किया गया भी कर्मयोनियों का तथा विभिन्न प्राणिविशेषों का लक्षणोपदेश संगृहीत हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि तन्त्रान्तर में उपदेश होने के कारण इस शास्त्र मे अवयवों का उपदेश आचार्य ने नहीं किया। अतः ठीक ही कहा कि अवयवोपपत्ति भी तन्त्र का गुण है, अर्थात् अङ्ग है।

अन्यूनता—पदार्थों की समग्रता अर्थात् अशेषता अन्यूनता कही गई है। दश चूलिकार्थ और पञ्चाशत् प्रत्यय ये कुल साठ (षष्टि)पदार्थ हैं। इनमें प्रधान का अस्तित्व और एकत्व की सिद्धि पाँच वीत अनुमानों से होती है। कार्यकारणभाव अर्थवत्त्व है। पारार्थ्य भी एक पदार्थ है; क्योंकि कोई भी संघात परार्थ होता है। इसीलिये अन्यत्व भी दश चूलिकार्थों में एक पदार्थ है; क्योंकि पुरुष और प्रकृति में यदि अन्यत्व नहीं होता तो प्रकृति परार्थ नहीं हो सकती है। चेतनाशक्ति का त्रिगुण के साथ सम्बन्ध होने से एवं जन्म,मरण तथा करणों के प्रत्येक चेतनाशक्ति के साथ भिन्न-भिन्न होने से पुरुष का बहुत्व सिद्ध है। पुरुष के दर्शन के लिये हुआ प्रकृति का संयोग भी पदार्थ है। 'प्राप्ते शरीरभेदे' (का० ६८) इस वचन से वियोगपदार्थ का वर्णन हुआ है एवं

प्राप्ते शरीरभेदे (का० ६८) इति वियोगः। सम्यग्ज्ञानाधिगमात् (का० ६७) इति शेषवृत्तिः, तस्माच्च विपर्यासात् (का० १९) इति पुरुषस्याकर्तृत्वमित्येवं दश चूलिकार्थाः। मौलिकार्था इत्यर्थः।

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्। अष्टाविंशति भेदाः तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः (का० ४७) इति पञ्चाशत्प्रत्ययाः। सैषा षष्टिः पदार्थानाम्। तदुपपत्तिरन्यूनता।

संशयनिर्णयोक्तिः। संशयश्च निर्णयश्च तौ संशयनिर्णयौ,तयोरुक्ति-स्संशयनिर्णयोक्तिः। सामान्याभिधानं संशयः। तद्यथा,महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च (का० ८) इत्युक्ते संशयो भवति केन धर्मेण कार्यं प्रकृतिविरूपं केन वा सरूपमिति। विशेषाभिधानं निर्णयः। स च द्विविधः, शब्दतोऽर्थतश्च। शब्दतस्तावद् यथा हेतुमदादिभिः कार्यं प्रकृतिविरूपम्, त्रैगुण्यादिभिः प्रकृतिसरूपमिति। अर्थतस्तद् यथा, तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः, एते स्मृता विशेषाः (का० ३८), किं कारणम्? यस्मात् शान्ता घोराश्च मूढाश्च (का० ३८) अशान्ताघोरामूढत्वात्तन्मात्राण्यविशेषाः।

'सम्यग्ज्ञानाधिगमात्' (का० ६७) इसके द्वारा शेषवृत्ति पदार्थ का निरूपण हुआ है। 'तस्माच्च विपर्यासात्' (का० १९) इस सूत्र से पुरुष का अकर्तृत्व बताया गया है। इस प्रकार दश चूलिकार्थ हैं। 'पञ्च विपर्ययभेदा' इत्यादि कारिका के द्वारा पञ्चाशत् प्रत्यय बताये गये हैं। इस प्रकार सांख्यशास्त्र में सम्पूर्ण पदार्थ वर्णित हैं। इन समग्र पदार्थों की उपपत्ति यहाँ अन्यूनता है।

'संशयश्च निर्णयश्च संशयनिर्णयौ' यहाँ द्वन्द्व समास है। इन दोनों की उक्ति संशयनिर्णयोक्ति है। सामान्यतः कथन संशय है। अर्थात् विशेषरूप से कथन न करना और सामान्यरूप से कथन करना यहाँ संशय का बीज है। जैसे 'महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपञ्च' (का० ८) ऐसा सामान्यरूप से कहने पर संशय होता है कि किस धर्म से महदादि कार्य प्रकृति के विरूप हैं और किस धर्म के कारण प्रकृति के सरूप हैं। विशेष स्वरूप का कथन निर्णय है। वह दो प्रकार का होता है, शब्द द्वा।र तथा अर्थ द्वारा। शब्द द्वारा जैसे 'हेतुमदनित्यम्' इत्यादि से महदादि कार्य प्रकृतिविरूप हैं। तथा 'त्रिगुणम् अविवेकिविषयः' इत्यादि से महदादि कार्य प्रकृति का स्वरूप कहा गया है। अर्थतः निर्णय जैसे 'तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः, एते स्मृता

उद्देशनिर्देशम् । उद्देशश्च निर्देशश्च उद्देशनिर्देशम् । सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति इति द्वन्द्वैकवद्भावः सङ्क्षेपवचनमुद्देशः । तद्यथा, एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः (का० ४६) । विस्तरवचनं निर्देशः । तद्यथा, पञ्च विपर्ययभेदा भवन्ति (का० ४७) भेदस्तमसोऽ-ष्टविधः (का० ४८) इत्यादि ।

अनुक्रमश्च । पदार्थानामानुपूर्व्या सन्निवेशोपदेशोऽनुक्रमः । तद्यथा, प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः (का० २२) इत्यनेन ।

संज्ञोपदेशो संज्ञिप्रत्यायनार्थः शब्दः संज्ञा । सा च द्विविधा—अर्थ-निबन्धना स्वरूपनिबन्धना च । तत्रार्थनिबन्धनाऽर्थवशेनार्थक्रियापेक्षा । जात्याद्यर्थस्वरूपान्तर्भावी यथाऽर्थस्तथाभूतमेव संज्ञिनं प्रत्याययति । तद्यथा पाचको लावक इति । स्वरूपनिबन्धना पुनः संज्ञिप्रत्यायनोपायमात्रम् ।

विशेषाः' (का० ३८) यहाँ पर पञ्चभूतों को विशेष के रूप में कहा गया है; क्योंकि 'शान्ता घोराश्च मूढाश्च' (का० ३८) इस वचन के द्वारा पञ्चभूत शान्त घोर और मूढ़ बताये गये हैं, इसलिए पञ्चभूत विशेष हैं। इससे अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि अशान्त अघोर और अमूढ़ होने से पञ्चतन्मात्राएँ अविशेष हैं।

'उद्देशश्च निर्देशश्च उद्देशनिर्देशम्' यहाँ द्वन्द्व समास है। सभी द्वन्द्वसमास में विकल्प से एकवद्भाव होता है। इसके अनुसार यहाँ भी एकवद्भाव हुआ है। किसी वस्तु का संक्षेप से निर्देश करना उद्देश है। जैसे 'एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टि-सिद्ध्याख्यः' (का० ४६) यह कारिका उद्देशरूप है। एवं किसी विषय का विस्तार-पूर्वक कथन निर्देश है, जैसे 'पञ्च विपर्ययभेदा भवन्ति', 'भेदस्तमसोऽष्टविधः' (का०४८) इत्यादि वचन निर्देश हैं।

पदार्थों का क्रमानुसार सन्निवेशपूर्वक उपदेश करना अनुक्रम है। जैसे 'प्रकृते-र्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः' (का० २२) इस कारिका द्वारा प्रकृति आदि पदार्थों का यथाक्रम उपदेश किया गया है। इसलिये यह अनुक्रम है।

संज्ञी की प्रतीति कराने वाला शब्द संज्ञा है। अर्थात् जिससे प्रतीति करायी जाय, वह संज्ञा है, तथा जिसकी प्रतीति करायी जाय, वह संज्ञी है। वह संज्ञा दो प्रकार की होती है—एक अर्थनिबन्धना संज्ञा और दूसरी स्वरूपनिबन्धना संज्ञा। जहाँ

स्वरूपमात्रोपकारिणी विनाऽवयवार्थं समयवशादतथाभूतमपि संज्ञिनं प्रत्याययति। तद्यथा, गजकर्णोऽश्वकर्ण इति। प्रयत्नतो भगवतः परमर्षेरार्षेण ज्ञानेन सर्वतत्त्वानां स्वरूपमुपलभ्य संज्ञां विदधतो नास्ति स्वरूपनिबन्धनः शब्दः। तद्यथा, प्रधीयन्तेऽत्र विकारा इति प्रधानम्, पुरि शेते इति पुरुष इत्यादि। तन्मतानुसारिणामप्याचार्याणां ताभिरेव संव्यवहारान्नास्त्यपूर्वसंज्ञाविधानं प्रत्यादरः।

उपदेशः। इतिकर्तव्यताफलसमाख्यानमुपदेशः। तद्यथा—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ (का० ६४)

एते सूत्रोपपत्त्यादयस्तन्त्रगुणाः।

पर किसी प्रयोजनवश अर्थक्रिया को अपेक्षा होती हो, वहाँ अर्थनिबन्धना संज्ञा होती है।

जाति आदि अर्थस्वरूप के अन्तर्गत आने वाला अर्थ जैसा होता है, ठीक वैसे ही संज्ञी की प्रतीति संज्ञा कराती है। जैसे पाचक, लावक इत्यादि। स्वरूपनिवन्धना संज्ञा वह होती है, जो संज्ञी की प्रतीति का उपायमात्र हो। अर्थात् स्वरूपनिवन्धना संज्ञा स्वरूपमात्र को वताने में उपयोगिनी होकर बिना अवयवार्थ को बताए संकेत के द्वारा अवयवार्थ से रहित भी संज्ञी की प्रतीति कराती है। जैसे गजकर्ण अश्वकर्ण इत्यादि संज्ञा स्वरूपनिवन्धना संज्ञा है। किन्तु प्रयत्नपूर्वक अपने आर्षज्ञान के वल से सभी तत्त्वों का स्वरूप जानकर प्रधान इत्यादि संज्ञाओं का विधान करने वाले भगवान् परमर्षि कपिल द्वारा प्रयुक्त प्रधान पुरुष आदि संज्ञा स्वरूपनिवन्धना नहीं होती है। जैसे जिसमें सभी विकार अवस्थित हों, वह प्रधान है। सूक्ष्मशरीर में जो शयन करे वह पुरुष है, इत्यादि असंकेतित संज्ञाएँ स्वरूपनिवन्धना नहीं हैं। उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्य आचार्य भी उन्हीं संज्ञाओं से व्यवहार करते हैं। इसलिए प्रधान पुरुष आदि के लिए किसी अपूर्व संज्ञा का विधान करने में उनका आग्रह नहीं है।

'कर्तव्यस्य प्रकार इतिकर्तव्यता' अर्थात् कार्यविधि एवं कार्यविधि के फल का कथन उपदेश कहा गया है। जैसे—'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्' (का० ६४)। इस कारिका द्वारा तत्त्वाभ्यासरूप कार्य का विशुद्ध तत्त्वज्ञानरूपी फल का कथन किया गया है। इस प्रकार सूत्रोपपत्ति आदि तन्त्र के गुण इस शास्त्र में हैं।

इतिकरणं प्रकारार्थम्। एवम्प्रकारा अन्येऽपि द्रष्टव्याः। तद्यथा, उत्सर्गोऽपवादोऽतिदेश इत्यादिः। तत्रोत्सर्गः प्रकृतिविरूपं व्यक्तमिति (का० ८) सरूपं चेत्यपवादः (का० ८)। तथा तद्विपरीत इत्युत्सर्गः (का०११), तथा च पुमान् (का०११) इत्यपवादः। सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि व्यक्तम्, तथा प्रधानम् इत्यतिदेशः (का० ११)। इत्येवमन्या अपि तन्त्रयुक्तयः शक्या इह प्रदर्शयितुम्। अतिप्रसङ्गस्तु प्रकृतं तिरोदधातीति निवर्त्यते। सिद्धं तन्त्रयुक्तीनां सम्बन्धोपपत्तेस्तन्त्रमिदमिति।

किञ्च तन्त्रान्तराऽविरोधात्। यदि खल्वपीदमपि प्रकरणं स्यात् तन्त्रान्तरे पातञ्जलपञ्चाधिकरणवार्षगणप्रभृतीनामन्यतमस्य शेषभूतं स्यात्। तैश्चाप्यविरोधस्तत्र तत्रेति वक्ष्यामः। पूर्वतन्त्रशेषभावादिति चेत्, तुल्यम्। एतान्यपि पूर्वतन्त्रशेषभूतानि, तेषामपि प्रकरणत्वप्रसङ्गः।

सूत्रोपपत्ति आदि तन्त्रगुणों के प्रसङ्ग में उक्त श्लोक में प्रयुक्त इतिशब्द प्रकार के अर्थ में है। अर्थात् इसी प्रकार के अन्य भी तन्त्रगुण जानने चाहिए। जैसे, उत्सर्ग, अपवाद, अतिदेश आदि। यहाँ 'प्रकृतिविरूपं व्यक्तम्' यह उत्सर्ग है, तथा 'सरूपं च' यह अपवाद है। तथा 'तद्विपरीतः' यह उत्सर्ग है और 'तथा च पुमान्' यह अपवाद है। 'सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि व्यक्तं तथा प्रधानम्' यह अतिदेश है। इस प्रकार के अन्य भी तन्त्रगुण यहाँ दिखाये जा सकते हैं। अत्यन्त विस्तार तो प्रकृत विषय को ढंक देगा, इसलिये विस्तार से निवृत्त हो रहे हैं।

अतः सिद्ध हो गया कि तन्त्रगुणों का सम्बन्ध होने के कारण यह भी एक तन्त्र (शास्त्र) है।

एवं अन्य तन्त्रों के साथ इसका अविरोध होने से भी यह एक तन्त्र है, प्रकरण नहीं है। यदि यह भी किसी तन्त्रान्तर का एक प्रकरणग्रन्थ होता तो पातञ्जल पञ्चाधिकरण तथा वार्षगण प्रभृति तन्त्रों में किसी एक का अङ्ग होता। उन ग्रन्थों के साथ भी इसका उन स्थलों में अविरोध है, इस बात को आगे कहेंगे। यदि यह कहा जाय कि पूर्वतन्त्र का अङ्ग होने से यह प्रकरण है, तब तो तुल्यन्याय से पातञ्जल पञ्चाधिकरण तथा वार्षगण प्रभृति ग्रन्थ भी प्रकरण हो जायेंगे; क्योंकि वे भी पूर्वतन्त्र के शेषभूत हैं। अतः उनमें भी प्रकरणत्व की प्रसक्ति हो जायेगी। यदि कहा जाय कि सकल पदार्थों का संग्रह होने के कारण वे प्रकरण नहीं हैं; किन्तु पृथक् तन्त्र हैं, तो वैसे

अथ मतम्, सकलपदार्थसंग्रहात्तन्त्रान्तराण्येतानि । एवमिहापि सकलपदार्थसङ्ग्रहात्तन्त्रान्तरत्वमभ्युपगन्तव्यम् । तस्माद्युक्तमेतत्तन्त्रमिदम् । इत्युपोद्घातः[1] ।

आह— किंगुणविशिष्टाय शिष्याय पुनरिदं तन्त्रं व्याख्येयमिति ?

उच्यते— जिज्ञासवे मतिमते मीमांसकार्थिनेऽभ्युपगताय शिष्याय व्याख्येयं शास्त्रम् ।

कस्मात् ? परमर्षिप्रामाण्यात् । यस्माद् भगवान् विश्वाग्रजः परमर्षिर्भगवदासुरेर्जिज्ञासामुपलभ्योत्तरगुणविशेषसम्पदं च व्याख्यातवान् । रज एव दुःखम् । तन्निराकरिष्णोर्विवेकोऽयं सत्त्वात् सत्त्वं चास्मान्नानेत्येवमादिना वचनप्रतिपाद्योऽयमर्थो महद्भिश्चोक्तः । तस्माद्रजोदुःखोपघातोपघातकजिज्ञासोः सत्त्वाद्धर्मादिकुशलमूलविपाकोत्पित्सोर्दुःखत्रयनिवृत्तय इदं

ही इनमें भी सकल पदार्थों का संग्रह होने से इसे भी पृथक् तन्त्र मानना चाहिए। इसलिए यह सिद्ध है कि यह एक पृथक् तन्त्र है। यहाँ तक प्रस्तुत भाष्य का उपोद्घात हुआ।

प्रश्न– किन गुणों से विशिष्ट शिष्य के लिये इस शास्त्र की व्याख्या करणीय है।

उत्तर— जिज्ञासु मतिमान् विचारक और प्रार्थी के रूप में प्राप्त शिष्य के लिए यह शास्त्र व्याख्यायोग्य है।

प्रश्न— क्यों ?

उत्तर— परमर्षि के प्रमाण से अर्थात् परमर्षि के दृष्टान्त से उक्त गुणों से युक्त शिष्य के लिए यह शास्त्र व्याख्यायोग्य है; क्योंकि विश्व के सर्वप्रथम आविर्भूत परमर्षि भगवान् कपिलमुनि ने भगवान् आसुरि की जिज्ञासा को जानकर तथा उन्हें उत्तमगुण विशेष से सम्पन्न पाकर सांख्यशास्त्र की व्याख्या की।

रजोगुण ही दुःख है, उस दुःख का निराकरण चाहने वाले के लिए यह प्रकृति-पुरुषविवेक है। और वह विवेक सत्त्व से होता है तथा यह विषय 'सत्त्वं च अस्मान् नाना' इत्यादि वचन के द्वारा महान् आचार्यों ने भी प्रतिपादित किया है। इसलिए रजोगुणरूप दुःख से होने वाले उपघात तथा उसके अपघातक के जिज्ञासु एवं सत्त्व से होने वाले धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्यरूप कुशलमूलक विपाक (परिणाम) की उत्पत्ति के इच्छुक

---

१ 'स्थानं निमित्तं वक्ता च श्रोता श्रोतृप्रयोजनम् ।
सम्बन्धाभिधानं च उपोद्घातः स उच्यते' ॥ इति माठरः ।

शास्त्रं प्रवृत्तम्। तदर्थात्परिणम्यते शिष्यस्येति। कथं नाम शिष्यस्य निःश्रेयसेन योगः स्यादित्येवमर्थमिदं व्याख्यानं क्रियत इति।

आह— यदुक्तं जिज्ञासवे व्याख्यानं कर्तव्यमिति तत्र कुतः पुनरियं जिज्ञासा कस्मिन् वाऽर्थे भवतीति? उच्यते—यत्तावदुक्तं कुतः पुनरियं जिज्ञासा भवतीत्यत्र ब्रूमः —

'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा'

दुःखं रज इत्यनर्थान्तरम्। दुःखयतीति दुःखं भवतीति। त्रयमिति संख्यापदं सर्वद्रव्यविषयं दुःखशब्देन विशिष्यते। प्राधान्याच्च व्यतिरिक्तबुद्धया गृह्यमाणं सम्बन्धित्वादाधारस्य भेदनिबन्धनायाः षष्ठया निमित्तत्वं प्रतिपद्यते दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम्।

अभिहन्यतेऽनेनेत्यभिघातः। कः पुनरयमभिघातो नाम?

शिष्य के दुःखत्रय की निवृत्ति के लिये इस शास्त्र की प्रवृत्ति है। उसी प्रयोजन से शिष्य को विवेकज्ञानरूपी परिणाम प्राप्त होता है। किस प्रकार शिष्य को निःश्रेयस के साथ योग हो, इसीलिए यह व्याख्यान किया जा रहा है।

प्रश्न— वह जो कहा गया कि जिज्ञासु के लिए व्याख्यान करना चाहिए, तो यह जिज्ञासा क्यों होती है? अथवा किस विषय में होती है?

उत्तर— जो यह प्रश्न किया कि क्यों यह जिज्ञासा होती है, उस पर हम कहते हैं—

त्रिविध दुःखों से अभिसम्बन्ध होने के कारण जिज्ञासा होती है।

दुःख और रज एक ही वस्तु है; क्योंकि 'दुःखयतीति दुःखम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दुःख का कारण होने से रजोगुण दुःख है। 'त्रयम्' यह संख्यावाचक पद जगत् के सभी पदार्थ को बताने वाला है और दुःखशब्द से उसके विशेषण का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् सारा पदार्थ दुःखात्मक है, यह सूचित किया गया है। प्रधानता के कारण वह दुःख पृथक् बुद्धि का विषय बनता हुआ भेदार्थक षष्ठी विभक्ति के द्वारा सकल पदार्थों का निमित्त बन जाता है। यहाँ दुःख से सम्बन्धित होने के कारण आधारभूत जगत् के साथ दुःख का भेद है। इसलिये दुःख और पदार्थों में निमित्त-नैमित्तिकभाव है। अतः 'दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम्' का अर्थ हुआ— दुःखात्मक रजोगुण से उत्पन्न त्रिगुणात्मक जगत्, जिसके द्वारा पुरुष प्रपीड़ित होता है।

प्रश्न—'दुःखत्रयाभिघातात्'। यहाँ अभिघात क्या वस्तु है?

उच्यते— योऽसावुपर्युक्तदुःखत्रयेणान्तःकरणेन चेतनाशक्तेरभिसम्बन्धः। तस्माद् दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा।

यदुक्तं कस्मिन्नर्थे भवतीति तत्राह—अपहन्तीत्यपघातकः,तस्यापघातकस्तदपघातकः।

आह— तदपघातके इति समासाऽनुपपत्तिः, प्रतिषेधात्। कर्तरि यौ तृजकौ ताभ्यां सह षष्ठी न समस्यते। तस्मात्तस्यापघातक इति वक्तव्यम्।

उच्यते—न, शास्त्रे दर्शनात्। 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (पा० १।४।५५) इति शास्त्रे दृष्टः प्रयोगः। पदकारश्चाह—जातिवाचकत्वात्। तथा कदाचिद् गुणो गुणिविशेषको भवति, कदाचिद् गुणिना गुणो विशिष्यत इति चूर्णिकाकारस्य प्रयोगः। तस्मादनवद्यमेतत्।

अयं तु पिण्डार्थः— त्रिविधेन दुःखेनाभिहतो ब्राह्मणस्तदपघातकं हेतुं

उत्तर—जो उपर्युक्त दुःखत्रयाश्रय अन्तःकरण के साथ चेतनाशक्ति का प्रतिकूल अभिसम्बन्ध है, वही दुःखत्रयाभिघात है और उसी के कारण जिज्ञासा होती है।

पूर्व में कहा कि वह जिज्ञासा किस विषय में होती है, उसका उत्तर 'तदपघातके हेतौ' इस कारिका में कहा गया है। अर्थात् जो दुःखाभिसम्बन्ध को विनष्ट करे, वह अपघातक है, अर्थात् अपघातका कर्त्ता अपघातक है। 'तस्य अपघातकः' ऐसा विग्रह करके तदपघातकशब्द बनता है।

शंका— 'तदपघातके' यह समास नहीं बन सकता। क्योंकि ऐसे समासका प्रतिषेध किया गया है। जैसे—कर्त्तामें जो तृच् और अक् प्रत्यय होते हैं, उनके साथ षष्ठी समास नहीं होता[1]। इसलिये कारिकाकार को 'तस्य अपघातकः' ऐसा असमस्त ही कहना चाहिये।

उत्तर— उक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि शास्त्रमें वैसा समास देखा जाता है। जैसे 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (पा० सू० १।४।५५) इस व्याकरण सूत्रमें वैसा समस्त प्रयोग देखा गया है। पदकार ने भी 'जातिवाचकत्वात्' (म० भा० ४।१।१४) यह समस्त प्रयोग किया है एवं चूर्णिकाकार ने भी वैसे समास का प्रयोग किया है। जैसे 'कदाचिद् गुणो गुणिविशेषको भवति, कदाचिद् गुणिना गुणो विशिष्यत इति' (म० भा० ५।१।५९), अतः 'तदपघातके' यहाँ समास निर्दोष है।

यहाँ संक्षेप में यह अर्थ है— तीन प्रकार के दुःखों के सम्बन्ध से पीड़ित हुआ

---

१. द्रष्टव्यम्, पा० सू० 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (२।२।१५)।

जिज्ञासते। को नामाऽसौ हेतुः स्याद्यो दुःखत्रयमपहन्यादिति।

आह—दुःखशब्दवाचनमादावमङ्गलार्थत्वात्। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च मङ्गलेनाभिहतसंस्काराः शास्त्रार्थानाशु प्रतिपद्यन्ते। दुःखमित्ययञ्चामङ्गलार्थः शब्दः, तस्मान्नारब्धव्यः शास्त्रादाविति।

उच्यते—न, वाक्यस्यार्थे प्रयोगात् पदस्यानर्थक्यादमङ्गलार्थत्वानुपपत्तिः। वाक्यमर्थप्रत्यायनार्थं प्रयुज्यते, विशिष्टार्थाभिधानात्, न पदम्। तथा हि पदार्थव्यतिरेकेण विशिष्ट एव वाक्यार्थः प्रतीयते, केवलं तु पदं सामान्यार्थादप्रच्युतं विशिष्टार्थाभिधानासमर्थम्। अत एव न विवक्षितार्थप्रत्यायनयोग्यतयोपादीयते।

तद्यथा—देवदत्तेत्ययं शब्दः कर्तृवाचकत्वेनोपात्तः। सर्वक्रियाविषयत्वाद् नान्तरेण कर्मक्रियाशब्दौ विशिष्टार्थः प्रतीयते। तथा गामिति

ब्राह्मण उनके अपघातक हेतु की जिज्ञासा करता है कि वह कौन-सा हेतु है, जो दुःखत्रय को नष्ट कर दे।

पूर्वपक्ष—यहाँ आदि में दुःखशब्द का उच्चारण नहीं करना चाहिए; क्योंकि दुःखशब्द अमङ्गलवाची है। कारण, जिन शास्त्रों के आदि में मङ्गलार्थक शब्द प्रयुक्त होते हैं, वे शास्त्र प्रख्याति को प्राप्त होते हैं तथा उनके निर्माता पुरुष वीर अर्थात् अजेय (कभी पराजित न होने वाले) होते हैं और पढ़ने वाले जन मङ्गल के द्वारा संस्कार को प्राप्त करते हुए शीघ्र शास्त्रविषयों को समझ जाते हैं किन्तु यहाँ पर; 'दुःख'; शब्द अमङ्गलवाचक है। इसलिये शास्त्र के आदि में दुःखशब्द से आरम्भ नहीं करना चाहिए।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं है; क्योंकि यहाँ पर वाक्यार्थ के लिए दुःखशब्द का प्रयोग हुआ है। केवल दुःखपद के निरर्थक होने से वह अमङ्गलवाचक नहीं हो सकता; क्योंकि अर्थ की प्रतीति कराने के लिए वाक्य का प्रयोग किया जाता है। कारण, वाक्य ही विशिष्ट अर्थ का अभिधान करता है, पद नहीं; क्योंकि पदार्थ से व्यतिरिक्त कोई विशिष्ट अर्थ ही वाक्यद्वारा प्रतीत होता है। केवल पद तो सामान्य अर्थ से नहीं हटता है। अर्थात् सामान्य अर्थ में ही वह सीमित रहता है। अतः विशिष्ट अर्थ को बताने में वह (केवल पद) असमर्थ होता है। इसीलिये विवक्षित अर्थ को बताने के योग्य वह नहीं माना जाता है।

जैसे 'देवदत्त' यह शब्द कर्तृवाचक के रूप में प्रयुक्त होता है; किन्तु उसके सर्व-

सर्वक्रियाकर्त्रभिधाननिमित्तत्वात्। तथा अभ्याजेति क्रिया सर्वकर्मकर्तृ-विषयत्वात्।

यदा तु देवदत्त! गामभ्याज शुक्लामित्युच्यते तदा देवदत्तेन[1] गोशब्देन कर्मान्तरेभ्यो विच्छिद्य स्वात्मन्यवस्थाप्यते। क्रिया च गोशब्दश्च सर्वकर्तृभ्यो विच्छिद्य देवदत्तकर्मतया व्यवस्थाप्यते। कर्तृकर्मणी चाभ्याजिक्रियायाः साधनभावेनैव नियम्येते। शुक्लशब्दो गोशब्दश्च[2] गोशब्दं सर्वगुणविषयमाधेयान्तरेभ्यो व्यवच्छिद्य स्वात्मन आधारत्वे नियम्य, तद्विषयतां प्रतिपादयतोत्यनेन क्रमेण विशिष्टो वाक्यार्थः।

केवलानान्तु पदानां सामान्यार्थाद् अप्रच्युतानां विशेषानभिधाना-दानर्थक्यम्। आहच —

क्रियाविषयक होने से कर्म ओर क्रियावाचक शब्दों के विना विशिष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होती हैं। वैसे ही 'गाम्' यह कर्मवाचक शब्द सभी क्रियाओं के कर्ता के बोध का निमित्त होने से किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं कराता। एवं 'अभ्याज' यह क्रियावाचक शब्द भी सभी कर्म और कर्त्ता के बोध का निमित होने से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं कराता है।

किन्तु जब 'देवदत्त! गाम् अभ्याज शुक्लाम्' ऐसा पूर्ण वाक्य कहा जाता हैं, तब इस वाक्य में आया गोशब्द देवदत्त को महिष आदि अन्य कर्मों से अलग करके अपने में सम्बद्ध कर देता है एवं यहाँ का क्रियाशब्द और गोशब्द अपने को अन्य सभी कर्त्ताओं से पृथक् करके देवदत्त से सम्बद्ध हो जाता है एवं 'अभ्याजि' क्रिया द्वारा 'देव-दत्त' कर्ता एवं 'गौ' कर्म भी अभ्याजिक्रिया का ही साधनरूप से नियन्त्रित किया जाता है। अर्थात् देवदत्त और गो अभ्याजिक्रिया के ही साधन हैं, यह निर्धारण 'अभ्याज' इस क्रियापद से होता है। एवं शुक्लशब्द भी सर्वगुणविषयक गोशब्द को नील-पीत आदि अन्य गुणों से पृथक् कर शुक्ल गुण का आधार जो गो, उसी में अपने को नियन्त्रित करता है। अर्थात् शुक्ल गो का ही बोध कराता है। इस क्रम से सम्पूर्ण वाक्य द्वारा एक विशिष्ट अर्थ का बोध होता है।

केवल पद तो सामान्य अर्थ से नहीं हटने के कारण विशेष अर्थ का बोध नहीं कराने से अनर्थक हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

---

१. 'देवदत्तः' युक्तः इति चक्रवर्तिपाठः।

२. 'शुक्लशब्दश्च' इति चक्रवर्तिसम्मतः पाठ एवं युक्तः।

पृथङ्निविष्टतत्त्वानां पृथगर्थाभिपातिनाम् ।
इन्द्रियाणां यथा कार्यमृते देहान्न लभ्यते ॥
तथैव सर्वशब्दानां पृथगर्थाभिधायिनाम् ।
वाक्येभ्यः प्रविभक्तानामर्थवत्ता न लभ्यते ॥ इति ।

(वाक्यपदीयद्वितीयकाण्डम्, ४२६-४२७)

एवं सति कुतोऽयं निश्चयप्रतिलम्भो यद् दुःखशब्दोऽयममङ्गलार्थो यावता सन्दिह्यत एव, अयं किं स्वार्थप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तोऽथ हेयत्वायेति । वाक्यस्य तु मङ्गलार्थत्वम्, दुःखप्रहाणार्थमुपादानात् । यद्धि दुःखप्रहाणार्थं वाक्यमुपादीयते तन्मङ्गलार्थं दृष्टम् । तद्यथा, व्याध्यपगमः स्यादलक्ष्मीर्मा भूदिति । दुःखप्रहाणार्थञ्चेदं वाक्यमुपात्तं तस्मान्मङ्गलार्थमिदम् । अत्र यदुक्तं दुःखशब्दवाचनमादावमङ्गलार्थत्वादित्येतदयुक्तम् ।

आह—त्रयग्रहणानर्थक्यम्, गुणैकत्वात् । दुःखं रज इति प्रतिपन्नो भवान्,तच्चैकं शास्त्रे पठ्यते । तस्मात्त्रयग्रहणमनर्थकमिति । निमित्तभेदाद्

पृथक्-पृथक् निविष्ट (स्थित) है स्वरूप जिनका, तथा पृथक्-पृथक् प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये उन्मुख इन्द्रियों का देह के बिना जैसे कोई कार्य नहीं देखा जाता है, वैसे ही पृथक्-पृथक् अर्थ को बताने वाले, किन्तु वाक्यों से अलग हुए किसी भी शब्द की सार्थकता नहीं है।

अर्थात् यहाँ का स्वतन्त्र दुःखशब्द निरर्थक होने से अमङ्गलवाचक नहीं है। ऐसी स्थितिमें यह कैसे निश्चय हो सकता है कि यहाँ पर दुःखशब्द अमङ्गलार्थक है, जब कि सन्देह ही है कि यह दुःखशब्द अपने अर्थ को बताने के लिये कहा गया है ? अथवा उसकी हेयता के लिए कहा गया है।

यहाँ वाक्य तो मङ्गलार्थक हैं; क्योंकि दुःख-विनाश के अर्थ में उसका ग्रहण हुआ है; क्योंकि जो वाक्य दुःखविनाश के अर्थ में बोला जाता है, वह मङ्गलार्थक देखा गया है। जैसे व्याधिका नाश हो, अलक्ष्मी मत हो इत्यादि। वैसे ही यहाँ का वाक्य दुःख-प्रहाण अर्थ के लिए कहा गया है। इसलिए यह मङ्गलार्थक है। अतः पूर्व में यह जो कहा कि अमङ्गलार्थक होनेके कारण ग्रन्थ के आदि में दुःखशब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यह ठीक नहीं है।

पूर्वपक्ष—'दुःखत्रयाभिघातात्' यहाँ त्रयग्रहण निरर्थक है, क्योंकि दुःख का

भेदोपचार इति चेत्, स्यान्मतम् । यद्यपि एकं दुःखं तथापि निमित्तानाम-ध्यात्माऽधिभूताऽधिदैवलक्षणानां भेदादस्य भेदोपचारः करिष्यत इति । तच्च नैवम्, कस्मात् ? निमित्तानन्त्येन गुणानन्त्यप्रसङ्गात् । आध्यात्मिकं हि द्विविधम्, शारीरं मानसञ्च । शारीरं तावद्वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । मानसं कामक्रोधलोभमोहविषादभयेर्ष्याऽसूयाऽरत्यविशेषदर्शननिमित्तम् । आधिभौतिकञ्च मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षाऽशन्यवश्यायावेशनिमित्तभेदात् त्रित्वप्रतिज्ञस्य गुणानन्त्यप्रसङ्गः, स च नेष्टस्तस्मान्न निमित्तभेदात्त्रित्वम् ।

उच्यते—यदुक्तं रजस एकत्वात् त्रित्वानुपपत्तिः; तस्य निमित्तभेदात् त्रित्वोपचार इति, सत्यमेतत् । यत्तूक्तं निमित्तानन्त्येन गुणानन्त्यप्रसङ्ग इति तदयुक्तम् । कस्मात् ? भेदेऽपि सति वर्णसंख्यावद् व्यवस्थानोपपत्तेः ।

सम्बन्ध एक ही गुण से है। दुःख रज है ऐसा आपने स्वीकार किया है और वह रज शास्त्र में एक हो कहा गया है। अतः कारिका में त्रय ग्रहण व्यर्थ है। यदि कहें कि निमित्त के भेद से दुःख में भेद का उपचार है। अर्थात् यद्यपि दुःख एक ही है, तो भी अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैवस्वरूप निमित्तों के भेद से दुःख में भेद का उपचार कर लेंगे, तो ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि निमित्त के अनन्त होने से गुण में भी अनन्तत्व का प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का होता है, शारीरिक और मानसिक। शारीरिक दुःख वह है, जो वात, पित्त और कफ के वैषम्य के कारण होता है। मानसिक दुःख वह है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, विषाद, भय, ईर्ष्या, असूया, अरति और अविशेषदर्शन के कारण होता है। एवं आधिभौतिक दुःख वह है, जो मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप एवं स्थावर के कारण होता है। तथा शीत, उष्ण, वात, वर्षा, अशनि (वज्र), अवश्याय के आवेश से होने वाले दुःख को आधिदैविक दुःख कहते हैं। अतः यदि निमित्त के भेद से भेद हो, तो गुणों को तीन माननेवाले के लिये अनन्त गुणका प्रसङ्ग हो जायगा। किन्तु निमित्त के भेद से दुःख का अनन्त भेद इष्ट नहीं है। इसलिये निमित्त भेद से दुःख में त्रित्व भी नहीं हो सकता। अतः कारिका में त्रय ग्रहण करना व्यर्थ है।

समाधान—यह जो आशंका की गई कि रजोगुण के एक होने से दुःख में त्रित्व अनुपपन्न है, और निमित्त के भेद से त्रित्व का औपचारिक प्रयोग है, यह कथन सत्य है; किन्तु यह जो कहा कि निमित्त के अनन्त होने से गुणों में अनन्तत्व का प्रसङ्ग

तद्यथा, चत्वारो वर्णा इत्यस्याः संख्यायाः सति पैप्पलादिभेदे तेषां ब्राह्मणत्वादिव्यतिरेकाभावान्न संख्यान्तरहेतुत्वम्, नो खल्वपि वर्णाव्यतिरेकादेकत्वं भवति। एवं त्रीणि दुःखानीत्यस्याः संख्यायाः सति शारीरादिभेदे तेषामाध्यात्मिकादिव्यतिरेकासम्भवान्न सङ्ख्यान्तरहेतुत्वं नो खल्वपि दुःखाव्यतिरेकादेकत्वं भवितुमर्हति। किञ्चान्यत्, निमित्तभेदाद् भेदोपचार इति भवानेव प्रतिपन्नः। न चोपचारः परमार्थ इत्यलमस्थाने यत्नेन।

आह— अभिघाताज्जिज्ञासायामतिप्रसङ्गः, सर्वेषां सम्भवात्। यथासुरेर्दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा भवतीत्येतदिष्टं तेन सर्वेषामभिघातोऽस्तीति सर्वेषां जिज्ञासाप्रसङ्गः। अथ सति दुःखाभिघाते कस्यचिज्जिज्ञासा भवति कस्यचिन्नेति। नन्वेवमिच्छामात्रम्। प्राक्प्रसङ्गाच्च। प्रागस्या-

---

हो जायगा—यह कथन अयुक्त है; क्योंकि भेद होने पर भी वर्णों को संख्या को तरह व्यवस्था हो सकती है। जैसे, (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) चार वर्ण हैं। इस चार संख्या का पैप्पल आदि भेद होने पर भी वह भेद चार से अधिक संख्या का हेतु नहीं बनता है; क्योंकि उनमें ब्राह्मणत्व आदि धर्म समानरूप से वर्त्तमान हैं। एवं वर्णत्वधर्म के कारण वर्ण एक भी नहीं होता। इसी प्रकार तीन दुःख हैं, इस संख्या से भी अतिरिक्त संख्या का हेतु-शरीर आदि निमित्त का भेद नहीं हो सकता; क्योंकि शारीरिक हो या मानसिक हो या और किसी प्रकार का दुःख हो, उसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीन भेद अवश्य होते हैं। इसलिये दुःख को त्रिविध कहना उपपन्न है। और यह भी नहीं हो सकता कि दुःखत्वधर्म के कारण दुःख एक ही माना जाय। दुःख को तीन मानने का और भी कारण है कि निमित्त के भेद से भेद का व्यवहार होता है, यह आप ही ने माना है। एवं उपचार परमार्थ नहीं होता है, यह भी सत्य है। इसलिये इस विषय में विशेष यत्न समुचित न होगा।

पूर्वपक्ष— यदि अभिघात के कारण जिज्ञासा हो तो अतिव्याप्तिदोष हो जायगा; क्योंकि सब को दुःखत्रय का अभिघात हो सकता है। अर्थात् दुःखत्रय के अभिघात से आसुरि को जिज्ञासा होती है– यह यदि आचार्य का अभिप्राय है, तो संसार में सभी प्राणी को अभिघात है, इसलिये सभी को जिज्ञासा होने लगेगी। यदि कहें कि दुःखाभिघात होने पर भी किसी को जिज्ञासा होती और किसी को नहीं होती है। इसलिये आसुरि को जिज्ञासा हुई और किसी अन्य प्राणी को नहीं हुई; तो यह कथन एक इच्छामात्र है। यदि इच्छामात्र नियामक हो तो आसुरि को पहले भी जिज्ञासा होनी

सुरेर्जिज्ञासाया दुःखत्रयाभिघातो न चास्यात्यन्तिके हेतौ जिज्ञासा बभूव ।

तेन किं प्राप्तम् ? पश्चादस्य यतो बभूव तद्वक्तव्यम् । यथाऽन्यत्र ब्रह्मणोऽभ्यासनिमित्तादधर्मक्षयात् पूर्वधर्मानुग्रहाच्च विविदिषा, तथाऽन्येषां कुशलमूलाभ्यासपरिपाकात् । न चोपदिष्टमतो लघूक्तमेतत् ।

किञ्चान्यत्, तदपघाताच्चाऽनिर्मोक्षोऽकृत्स्नत्वात् । मोक्षो हि कामरूपाऽऽरूप्यधातुत्रयादिष्यते । दैवमानुष्यतिर्यग्योनित्रयाद्वा । एकदेशश्च संसारस्य दुःखत्रयम् । तस्मात्प्रयोजनमप्ययुक्तम् । किञ्च, निमित्तान्तरसद्भावाद् दिव्यकामध्यानसुखानपेक्षस्यापि विविदिषा सम्भवति, न केवलं तपोद्विग्नस्यापि । तस्मान्निमित्तमप्ययुक्तम् ।

किञ्चान्यत्, उभयथा चाऽसम्भवात् । परिकल्प्यमाना खल्वपीयं

चाहिए; क्योंकि आसुरि को जिज्ञासा के पहले भी दुःखत्रय का अभिघात था । फिर भी आत्यन्तिक हेतु में जिज्ञासा नहीं हुई ।

प्रश्न— उससे क्या आया ?

उत्तर—जिस हेतु से आसुरि को जिज्ञासा हुई, वह कहना चाहिए । अर्थात् पीछे जिस हेतु से आसुरि को जिज्ञासा हुई उसे बताना चाहिये । जैसे अन्य स्थलों पर ब्रह्मा के अभ्यास के कारण अधर्म का क्षय होने पर और पूर्वधर्म का अनुग्रह प्राप्त होने पर विविदिषा होती है, वैसे ही औरों को भी कुशलमूल के अभ्यास के परिपाक से विविदिषा होती है । किन्तु यहाँ पर पश्चात् हुई आसुरि की जिज्ञासा का निमित्त नहीं बताया गया । अतः यहाँ कथन में न्यूनता है ।

और भी दोष हैं । जैसे दुःख के अपघात से मोक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि दुःखत्रय संसार का एकदेश है । अर्थात् कामधातु, रूपधातु और आरूप्यधातु इन तीनों से मोक्ष पाना अभीष्ट है । अथवा देव, मानुष और तिर्यग्योनि इन तीनों से मोक्ष पाना अभीष्ट है । दुःखत्रय तो संसार का एक अंश है । इसलिये जिज्ञासा का प्रयोजन जो मोक्ष है, वह भी अनुपपन्न है । एवं अन्य निमित्त का सद्भाव है । अर्थात् दिव्यकाम तथा ध्यानसुख की अपेक्षा नहीं रहने पर भी जिज्ञासा हो सकती है । ऐसा नहीं है कि जो ताप से उद्विग्न हो उसी को जिज्ञासा होती हो । इसलिये दुःखत्रय का अभिघात जिज्ञासा का निमित्त भी नहीं हो सकता ।

और भी दोष हैं । जैसे, दोनों ही प्रकार से जिज्ञासा असम्भव है । अर्थात् कल्पित की जाती हुई भी यह जिज्ञासा किसे होगी ? पुरुष को होगी या सत्त्वादि गुणों को होगी ?

जिज्ञासा पुरुषस्य वा स्याद् गुणानां वा। किञ्चातः! तन्न तावत्पुरुषस्य सम्भवति। कस्मात्? नैर्गुण्याभ्युपगमात्। इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखधर्माधर्मज्ञानसंस्काराणामात्मगुणत्वं न भवद्भिरभ्युपगम्यते। न गुणानाम्, अचैतन्यात्। न ह्यचेतना घटादयो हिताहितप्राप्तिपरिहारं जिज्ञासमाना दृश्यन्ते। न च चेतना भवतां गुणाः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि प्रधानमिति (का० ११) वक्ष्यमाणवचनात्।

किञ्चान्यत्, तत्त्वान्तरानुपपत्तेः। न च गुणपुरुषव्यतिरिक्तं वस्तुतस्तत्त्वान्तरमस्ति यस्य जिज्ञासा परिकल्प्यमाना परिकल्प्येत। तस्मादनुपपन्ना जिज्ञासा।

उच्यते—यदुक्तमभिघाताज्जिज्ञासायामतिप्रसङ्गः, सर्वेषां तत्सम्भवादिति। अत्र ब्रूमः—न, अभिघातत्वेनाऽप्रतिपत्तेः। यद्यप्यविशिष्टोऽभिघातस्तथापि सर्वे नैनमभिघातत्वेन प्रतिपद्यन्ते। तथा हि, सत्त्वाध्यात्मिकादि-

---

प्रश्न— इससे क्या हुआ?

उत्तर—उक्त जिज्ञासा पुरुष को नहीं हो सकती है; क्योंकि पुरुष को निर्गुण माना गया है। आप इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, ज्ञान और संस्कार को आत्मा का गुण नहीं मानते हैं। गुणों को भी जिज्ञासा नहीं हो सकती; क्योंकि गुण अचेतन हैं। कारण अचेतन घटादि पदार्थ हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा करते हुए नहीं देखे जाते हैं और आपके यहाँ गुण चेतन नहीं हैं; क्योंकि 'सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि प्रधानमिति' (का० ११) ऐसा आगे वचन है।

अन्य भी दोष हैं। जैसे सांख्यमत में प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व अनुपपन्न है। अर्थात् गुण और पुरुष से अतिरिक्त वस्तुतः कोई अन्य तत्त्व है नहीं, जिसकी जिज्ञासा की कल्पना की जाय। इसलिये उपर्युक्त अनुपपत्तियों के कारण जिज्ञासा अनुपपन्न है।

यह जो कहा कि दुःखत्रयाभिघात से यदि जिज्ञासा हो तो अतिव्याप्तिदोष हो जायगा; क्योंकि उक्त अभिघात सभी को हो सकता है। तो यहाँ हमारा कहना है कि उक्त अतिप्रसङ्ग दोष नहीं होगा; क्योंकि अभिघात रूप में सबको प्रतिपत्ति (बोध) नहीं होती है। अर्थात् यद्यपि अभिघात सर्वसाधारण है, तो भी इसको सभी लोग अभिघात के रूप में नहीं अनुभव करते हैं; क्योंकि आध्यात्मिक आदि त्रिविध दुःखों

दुःखेष्वर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसासु च प्रीत्यभिष्वङ्गादेषां न विषयोद्वेगाप-द्वेषौ। न च विषयपरित्यागो भवति। तस्मान्नाऽविशिष्टोऽभिघातः।

विशेषेऽभिघातबुद्धेर्निमित्ताभिधानमिति चेत्? अथापि स्याद्येयम-सति विशेषे सर्वप्राणभृतामासुरेरेव भगवतो दुःखत्रयाभिघातबुद्धिर्भवति, न पुनरन्येषामित्यत्र निमित्तमभिधानीयम्। न ह्यन्तरेण निमित्तमसौ विशेषोऽवस्थापयितुं शक्यत इति।

एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? प्रश्नाऽसम्बन्धात्। कुतो जिज्ञासा भवतीत्येवं चोदकेन पूर्वमकारि प्रश्नस्तस्याश्च साक्षात् कारणमभिघातः, कारणान्तराणामनभिधानादित्यस्यैव निर्देशः कृतः। यत्तु खल्विदानीं कारणकारणमपि पृच्छ्यते तदनवस्थाप्रसङ्गभयान्नोच्यते।। अथ निर्बन्धः क्रियते, तेन पूर्वधर्मानुग्रहस्य कुशलमूलाभ्यासपरिपाकस्य कारणकारणत्व-

---

के रहने पर भी तथा अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा में दुःख के होने पर भी उनमें सुख के आरोप से प्राणियों को विषयों के प्रति उद्वेग और द्वेष नहीं होता है और विषयों का परित्याग भी नहीं होता। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि सबको समान रूप से दुःख का अभिघात है।

शङ्का— आसुरि नामक विशेष व्यक्ति में ही अभिघात की बुद्धि होती है, इसमें निमित्त कहना चाहिये। अर्थात् यह शंका हो सकती है कि कोई विशेषता नहीं होने पर भी प्राणियों के बीच केवल भगवान् आसुरि को ही दुःखत्रय के अभिघात की बुद्धि होती है, औरों को नहीं होती, इसमें निमित्त बताना चाहिए। क्योंकि किसी निमित्त के बिना और प्राणियों की अपेक्षा भगवान् आसुरि में विशेषता की स्थापना नहीं की जा सकती है।

समाधान— आसुरि को ही दुःखाभिघात की बुद्धि हुई, औरों को नहीं हुई, इसका क्या निमित्त है? यह प्रश्न करना अयुक्त है; क्योंकि वैसा प्रश्न करना असंबद्ध है। कारण, जिज्ञासा क्यों होती है? ऐसा पहले प्रश्न किया गया था और उसका उत्तर दिया गया कि जिज्ञासा का साक्षात् कारण अभिघात है; क्योंकि अभिघात से अतिरिक्त किसी दूसरे कारण का निर्देश कारिका में नहीं किया गया है और जो इस समय कारण के कारण को भी पूछते हो, वह ठीक नहीं है; क्योंकि अनवस्थादोष हो जायगा। फ़िर भी यदि पूर्वपक्षी द्वारा अभिघात का कारण बताने के लिये हठ है, तो पूर्वजन्मार्जित धर्म का अनुग्रह, जो कुशलमूल के अभ्यास का परिपाक है, उसी को

मस्माभिर्न प्रतिषिध्यत इति तदेव किं न गृह्यते? एतेन प्राक्प्रसङ्गः प्रत्युक्तः।

यत्तूक्तं तदभिघाते चाऽनिर्मोक्षोऽकृत्स्नत्वादित्येतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? शास्त्रार्थाऽनवबोधात्। अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पञ्चधा भवति, मानुष्यश्चैकविधः (का० ५३) इत्येतावानस्माकं संसारः। न तु तद्व्यतिरिक्ताः कामरूपारूप्यधातवः क्वचिदपि सिद्धाः। चतुर्दशविधे च संसारे या सुखमात्रा सा दुःखभूयस्त्वात्तच्छब्दवाच्या भवतीति। तथा चोक्तम्—

'अत्र जन्मजरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं समासेन ॥ (का० ५५)

दृश्यते च लोके भूयसा ग्रहणम्। तद्यथाऽऽम्रवनमिति। तस्मात् कृत्स्नविकल्पप्रतिषेधोऽयम्।

क्यों नहीं वह ग्रहण कर लेता है; क्योंकि मैंने उसमें कारण की कारणता का कहीं भी प्रतिषेध नहीं किया है। इससे आसुरि के अतिरिक्त जनों में पूर्व में दी गई जिज्ञासा की आपत्ति भी खण्डित हो गई।

यह जो कहा कि दुःखत्रय के अभिघात के कारण जिज्ञासा मानने पर मोक्ष नहीं बन सकेगा; क्योंकि दुःखत्रय संसार का एक अंश होने से, उससे मुक्ति होने से, पूर्ण संसार से मुक्ति नहीं हो सकती तो यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि शास्त्र के अर्थ (अभिप्राय) का ज्ञान प्रतिवादी को नहीं है। कारण आठ प्रकार का दैव सर्ग, पाँच प्रकार का तैर्यग्योनि सर्ग और एक प्रकार का मानव सर्ग, इतना ही हमारा संसार है। उससे अतिरिक्त कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु तो कहीं भी सिद्ध नहीं हैं। इस चौदह प्रकार के संसार में जो सुख की मात्रा (अंश) है, वह दुःख की अधिकता के कारण दुःखशब्द का वाच्य होती है। जैसा कि सांख्यकारिका में कहा है—

इस संसार में चेतन पुरुष लिङ्गशरीर की निवृत्ति होने तक जन्म, जरा (वार्धक्य) और मरण से होने वाले दुःख को प्राप्त करता रहता है। इसलिये संसार में प्रायः दुःख ही है।

लोक में देखा जाता है कि जिसकी अधिकता होती है, उसी का व्यवहार होता है। जैसे 'आम्रवनम्' इत्यादि में। इसलिये पूर्वोक्त कृत्स्न का विकल्प खण्डित हो गया।

यत्पुनरेतदुक्तं दिव्यकामध्यानसुखाऽनपेक्षस्यापि विविदिषासम्भवा-न्निमित्तमयुक्तमिति, तदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? उत्तरत्र प्रतिषेधात् । इष्ट-मेवैतत्सङ्गृहीतम् । तथा चोत्तरसूत्रेण प्रतिषेत्स्यत्याचार्यः 'दृष्टवदानु-श्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' (का० २) । तस्माद्दिव्यसुखानपेक्ष-स्यापि युक्ता विविदिषा । ध्यानसुखमपि क्षयातिशयौ नातिवर्तते । तदप्यत्रैव सङ्गृहीतम् । तस्मात्प्रतिषेध्य एवायं पक्ष इति न किञ्चिदभिधीयते । यदप्युक्तमुभयथाऽसम्भवाज्जिज्ञासाऽनुपपत्तिरिति, अस्तु गुणानां जिज्ञासा । यत्तूक्तमाचैतन्यादसम्भव इति सत्याचैतन्ये बुद्धिरिच्छादिसद्भावमुत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः । तस्मादुपपन्ना जिज्ञासा ।

आह—तच्छब्दानर्थक्यं प्रतिपदमसम्बन्धात् । योऽयमाचार्येण

यह जो कहा कि दुःखाभिघात को जिज्ञासा का निमित्त बताना अयुक्त है; क्योंकि दिव्य कामसुख और ध्यानसुख की अपेक्षा नहीं रखने वाले को भी जिज्ञासा हो सकती है। ऐसा नहीं है कि केवल ताप से उद्विग्न व्यक्ति को ही जिज्ञासा होती हो। तो उक्त कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि आगे उसका प्रतिषेध किया गया है। अर्थात् दिव्य कामसुख और ध्यानसुख की अनपेक्षा इष्ट ही है। इसीलिये अग्रिमसूत्र में आचार्य इन सुखों का प्रतिषेध करते हैं–जैसे 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशय-युक्तः' ॥ (का० २) इस कारिका द्वारा। इसलिये दिव्यसुख की अनपेक्षा रखने वाले व्यक्ति को भी जिज्ञासा का होना उचित ही है। स्वर्गसुख के समान ध्यानसुख भी क्षय और अतिशय से रहित नहीं है। अर्थात् ध्यानसुख भी स्वर्गसुख के समान ही क्षयी है। तथा हीन और उत्कृष्ट भाव से मुक्त नहीं है। इसलिये दिव्यसुख और ध्यानसुख भी दुःख में ही संगृहीत हो गया। अतः यह पक्ष भी खण्डनीय ही है; क्योंकि कोई विशिष्टबात इस पक्ष में भी नहीं कही जा रही है।

और भी जो यह कहा कि पुरुष या गुण इन दोनों को ही जिज्ञासा नहीं बन सकती है, तो इस सम्बन्ध में यह कहना है कि निर्गुण होने से पुरुष को भले ही जिज्ञासा न हो सके, फिर भी गुणों को जिज्ञासा हो सकती है। इस पर यह जो कहा कि अचेतन होने से गुणों में भी जिज्ञासा असम्भव है, यह ठीक नहीं है; क्योंकि अचेतन होने पर भी बुद्धि में इच्छा आदि का सद्भाव आगे बतायेंगे। अतः सूत्र में उक्त जिज्ञासा सर्वथा उपपन्न है।

पूर्वपक्ष—'तदपघातके' यहाँ 'तत्' पद निरर्थक है; क्योंकि किसी पद के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् आचार्य ने (ईश्वरकृष्ण ने) सूत्र में जो यह तत्

तच्छब्दः सूत्रे पठितोऽस्य खलु प्रतिपदमसम्बन्धात् स्वल्पामप्यर्थवत्तां नोपलभामहे। तस्मान्नैनमपुष्कलार्थमध्येष्यामह इति। उच्यते—कथं हि नाम प्रयोक्तृपारतन्त्र्याच्छब्दस्य शब्दान्तरेण सम्बन्धो न स्यादिति ? आह—न ब्रूमोऽविद्यमानसम्बन्धोऽसम्बन्धः, किन्तर्ह्ययुक्तसम्बन्धो यः स खल्वसम्बन्धः। तद्यथा, अनाचारो माणवक इति द्रव्येण क्रियाशक्तित्वान्न शक्यं किञ्चिदनाचारवता क्षणमप्यवस्थातुम्। अयुक्तं त्वाचरन्ननाचार इत्युच्यते। तथा चास्य तच्छब्दस्य प्रतिपदं सम्बन्धो न युक्तस्तस्मादनर्थकस्तच्छब्दः।

आनन्तर्याज्जिज्ञासाशब्दस्येति चेत्, स्यान्मतम्। अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा (महाभाष्य १।१।४२) इत्यनया युक्त्या जिज्ञासाशब्दस्य तच्छब्देनाभिसम्बन्धः शक्य इति।

तच्च नैवम्। कस्मात् ? तदपघाते प्रयोजनासद्भावात्। न हि

शब्द पढ़ा है, इसका किसी भी पद के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकने से इस शब्द की थोड़ी भी सार्थकता हम नहीं पाते हैं। अतः निरर्थक इस शब्द का पाठ नहीं करना चाहिए।

समाधान—शब्दप्रयोग जो होता है, वह प्रयोक्ता के अधीन होता है। इसलिये दूसरे शब्द के साथ सम्बन्ध क्यों नहीं होगा ? क्योंकि प्रयोगकर्त्ता आचार्य ने किसी के साथ सम्बन्ध के अभिप्राय से ही 'तत्' शब्द का प्रयोग किया है।

पूर्वपक्ष—असंबन्ध कहने का मेरा अभिप्राय संबन्ध का अभाव नहीं है; किन्तु अयुक्त संबन्ध को हम यहाँ असंबन्ध पद से कहते हैं। अर्थात् सूत्र में 'तत्' शब्द का किसी भी शब्द के साथ युक्त संबन्ध नहीं है। जैसे 'अनाचारो माणवकः' यहाँ पर अनाचार का अर्थ आचार का अभाव नहीं है; क्योंकि सभी द्रव्य क्रियाशक्ति से युक्त होते हैं। इसलिये बिना क्रिया के एक क्षण भी कोई द्रव्य नहीं रह सकता। अतः 'अनाचारो माणवकः' यहाँ पर अयुक्त आचार को 'अनाचार' शब्द से कहा जाता है। वैसे ही सूत्र में भी 'तत्' शब्द का किसी भी शब्द के साथ युक्त संबन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ का 'तत्' शब्द अनर्थक है। यह हमारा अभिप्राय है।

शंका— अत्यन्तसंनिहित होने के कारण तत् शब्द के साथ जिज्ञासा शब्द का संबन्ध होगा। अर्थात् 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इस युक्ति से 'जिज्ञासा' शब्द का सम्बन्ध 'तत्' शब्द के साथ हो सकता है।

उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि तत् 'पद' से यदि जिज्ञासा ली जाय तो

जिज्ञासाऽपघाते किञ्चित् प्रयोजनमस्तीति सत्यपि सम्बन्धे न तच्छब्देनार्थः ।

अभिघातस्येति चेत् ? अथापि स्याद्यदि जिज्ञासापघाते न किञ्चि-त्प्रयोजनमस्तीति । अतस्तत्सम्बन्धो नेष्यते । तेन तर्ह्यभिघातशब्देनास्या-भिसम्बन्धः करिष्यते । तथा चाऽपि तच्छब्दोऽर्थवान् भविष्यतीति ।

एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? निमित्ताऽवस्थाने पुनः पुनरुत्पत्तेः । नैमित्तिकोऽयमभिघातस्तस्य निमित्तवत्त्वादात्यन्तिकोऽपघातो न स्यात् । इतरथा ज्वरनिमित्तको दाह इव शीतद्रव्यसंस्पर्शात्शान्तोऽपि निमित्तावस्था-नात्पुनः पुनः प्रवर्तत इत्यफलत्वमस्य व्यायामस्य ।

'त्रय'शब्दस्येति चेत्, न पारतन्त्र्यात् । आश्रयपरतन्त्रा हि संख्या, तस्या नाऽन्तरेणाश्रयोपघातमपघातः शक्यः कर्तुम् । आनर्थक्यञ्च समान-मिति सुतरां तच्छब्देन नार्थः ।

जिज्ञासा के अपघात में कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये 'तत्' शब्द से सम्बन्ध हो सकने पर भी वह निरर्थक है ।

यदि कहो— 'तत्' शब्द के साथ अभिघात का सम्बन्ध हो । अर्थात् यदि जिज्ञासा के अपघात में कोई प्रयोजन नहीं है । इसलिए जिज्ञासा का सम्बन्ध तत्शब्द के साथ इष्ट नहीं है, तब 'अभिघात' शब्द के साथ तत्शब्द का संबन्ध करेंगे । इस प्रकार भी 'तत्' शब्द की सार्थकता हो जायगी ।

तो यह समाधान युक्त नहीं है; क्योंकि अभिघात के साथ भी 'तत्' शब्द का संबन्ध अनुपपन्न है। कारण, निमित्त के रहने पर नैमित्तिक (कार्य) की पुनः पुनः उत्पत्ति हो जाती है। यह अभिघात भी नैमित्तिक है, इसलिये निमित्त के उपस्थित हो जाने के कारण उसका आत्यन्तिक अपघात नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में ज्वर के निमित्त से हुआ दाह जैसे शीतद्रव्य के स्पर्श से कुछ क्षण के लिये प्रशान्त होने पर भी ज्वररूपी निमित्त के रहने के कारण वह दाह पुनः उत्पन्न हो जाता है; वैसे ही अभिघात के नैमित्तिक होने के कारण निमित्तवशात् वह पुनः उत्पन्न हो जायगा। इसलिये अभिघात के साथ भी 'तत्' शब्द का संबन्ध जोड़ने का यह प्रयास निष्फल है ।

यदि कहें कि 'तत्' शब्द के साथ 'त्रय' शब्द का सम्बन्ध है, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि 'त्रय' यह संख्या परतन्त्र है। अर्थात् संख्या आश्रय के अधीन होती है। इसलिये त्रित्व संख्या के आश्रयभूत दुःख के अपघात के बिना त्रित्व संख्या का अपघात नहीं किया जा सकता है एवं दुःख का नाश हुये बिना केवल संख्या का नाश

दुःखशब्दस्येति चेत्स्यान्मतम्— यद्येतेषाम्पदानामभिसम्बन्धे यथोक्त-दोषोपपत्तिः, दुःखशब्दं तर्हि तत्-शब्देनाभिसंमन्त्स्यामः। तस्मिन्नेष निषेधो विशतीति। तच्च नैवम्। कस्मात्? अनेकपदव्यवधानात्। कथम-नन्तरवृत्तिना सर्वनाम्नाऽनेकपदव्यवहितस्य दुःखशब्दस्याभिसम्बन्धः शक्यते प्रतिपादयितुम्? तस्मान्न किञ्चिदेतत्।

किञ्चान्यत्। उपसर्जनत्वात्। अयं खल्वपि दुःखशब्दः समास उपसर्जनीभूतः। न चैकस्मिन्काले शब्दस्य प्रधानत्वमुपसर्जनत्वं च युक्तितः सम्भवति। प्रधानस्य च पदान्तरेणाऽभिसम्बन्धः। तस्माद्विवादास्पदमे-वैतत्सूत्रम्।

किञ्चान्यत्। नित्यानामपघातानुपपत्तेः। इह नित्यानामपघातः कर्तुं न शक्यते। तद्यथा पुरुषाणाम्। अनित्यानाञ्चापघातो दृष्टः। तद्यथा, ज्वरा-

---

निरर्थक भी है। इसलिये 'तत्' शब्द के साथ 'त्रय' शब्द का संबन्ध मानने पर कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है।

शंका— 'तत्' शब्द के साथ 'दुःख' शब्द का संबन्ध होगा। अर्थात् यदि पूर्वोक्त पदों का 'तत्' पद के साथ संबन्ध होने में पूर्व में कहे गये दोष हैं, तो 'दुःख' शब्द को 'तत्' शब्द के साथ संबद्ध करेंगे और दुःख में ही अपघात का निवेश हो जायगा। तथा दुःख का नाशरूपी प्रयोजन होने से तत्शब्द की सार्थकता भी सिद्ध हो गई।

उत्तर—ऐसा भी नहीं कह सकते? क्योंकि अनेक पदों का व्यवधान है। सर्वनाम का संबन्ध अव्यवहित पद के साथ होता हैं। इसलिये अनेक पदों से व्यवहित 'दुःख' शब्द का 'तत्' शब्द के साथ संबन्ध का प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है? अतः यह भी समाधान अकिञ्चित्कर है।

और भी दोष है कि दुःख शब्द उपसर्सन है। अर्थात् यह 'दुःख' शब्द भी समास में उपसर्जन हो गया है। अर्थात् गौण हो गया है। एक समय में कोई भी शब्द प्रधान और उपसर्जन दोनों नहीं हो सकता; क्योंकि युक्तिविरुद्ध है। और दूसरे पद के साथ प्रधान का ही संबन्ध होता है। इसलिये संबन्ध नहीं हो सकने से यह सूत्र सर्वथा विवादास्पद है।

और भी दोष है कि नित्य वस्तु का अपघात नहीं हो सकता। अर्थात् यहाँ नित्य वस्तु का अपघात (विनाश) नहीं किया जा सकता है, जैसे पुरुषों का अपघात नहीं किया जा सकता; क्योंकि वे नित्य हैं। अनित्य पदार्थों का ही अपघात

दीनाम् । नित्यञ्च दुःखम्, तस्मात्तदपघातेऽभ्युत्थानानर्थक्यम् । वृत्त्यपघाते तदपघात इति चेत्, स्यात्पुनरेषा बुद्धिः । सत्यं नित्यानामपघातो न युक्तितः सम्भवति । न तु वयं गुणलक्षणस्य दुःखस्यापघातं ब्रूमः, किन्तर्हि वृत्तिरस्याभिभूयत इति । तच्च नैवम् । कस्मात् ? उक्तोत्तरत्वात् । उक्तमत्रोत्तरं निमित्तावस्थाने पुनरुत्पत्तेरिति । तस्मादयमप्यमार्गः ।

किञ्चान्यत् । अविशेषात्कल्पयित्वाऽपि वृत्त्यपघातं वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वाद् वृत्त्यपघाते वृत्तिमदपघातः प्राप्त इति नास्ति कश्चिद्विशेषः । तस्मात् कृशोऽयं परिहार इति नार्थस्तच्छब्देन ।

उच्यते—यदुक्तं तच्छब्दानर्थक्यं प्रतिपदमसम्बन्धादित्यस्तु दुःखशब्देनाभिसम्बन्धः । तत्सम्बन्धे यथोक्तदोषोपपत्तिरिति चेत्, स्यान्मतम् । यदि

देखा गया है, जैसे ज्वर आदि का । और रजोगुणात्मक दुःख तो नित्य वस्तु है । इसलिये उसके अपघात के लिये प्रयास व्यर्थ है ।

शंका—वृत्ति के अपघात होने पर दुःख का अपघात हो सकता है । अर्थात् ऐसा हम समझ सकते हैं कि वस्तुतः नित्य पदार्थ का अपघात युक्ति से सिद्ध नहीं है, यह बात सत्य है । फिर भी हम गुणरूप दुःख का अपघात नहीं कहते हैं । प्रत्युत (बल्कि) दुःख की वृत्ति अभिभूत होती है, यह हमारा कथन है ।

समाधान—वह भी नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ पूर्व में उत्तर दिया जा चुका है कि निमित्त के रहते पुनः पुनः दुःख की उत्पत्ति हो जाती है । इसलिये यह भी मार्ग ठीक नहीं है ।

और भी बाधा है कि वृत्त्यपघात कहने से कोई विशेषता नहीं आती है । अर्थात् यदि वृत्ति के अपघात की कल्पना भी की जाय तो वृत्ति और वृत्तिमान् में कोई अन्तर नहीं होने से वृत्ति का अपघात होने पर वृत्तिमान् का भी अपघात प्राप्त हो जाता है । इसलिये कोई विशेषता नहीं हुई ।

तात्पर्य यह है कि वृत्ति का अपघात भी दुःख का ही अपघात है, क्योंकि वृत्ति और वृत्तिमान् एक होता है । ऐसी स्थिति में नित्य दुःख का अपघात नहीं हो सकता यह जो हमने कहा था, वह ज्यों का त्यों कायम है । अतः वृत्ति को लेकर किया गया यह परिहार भी दुर्बल है । इसलिये 'तत्' शब्द के साथ 'दुःख' शब्द का संबन्ध नहीं हो सकता है ।

यह जो कहा कि तत् शब्द निरर्थक है; क्योंकि किसी भी पद के साथ संबन्ध

तर्हि तच्छब्दस्य दुःखशब्देनैवाऽभिसम्बन्धोऽभ्युपगम्यते, तेन येऽस्माभिः पूर्वमभिहिता दोषास्ते प्रसज्यन्ते। तस्मात् प्रतिषिद्धस्य पक्षस्य परिग्रहे साहसमात्रमिति। एतच्च नैवम्, कस्मात्? प्रतिविधानात्। सत्यमसति प्रतिविधाने साहसमात्रं स्यात्। प्रतिविधीयते तु, तस्माददोषोऽयमिति।

किन्तदिति चेत्, स्यान्मतम्। उच्यतान्तर्हि किन्तत् प्रतिविधानं यस्यावष्टम्भेनानेकदोषव्याहतोऽप्ययं पक्ष आश्रीयते। न ह्यनुक्तमस्माभिराकारमात्रेण शक्यं प्रतिपत्तुमिति। उच्यते—बाढम्। यत्तावदुक्तमनेकपदव्यवधानान्न दुःखशब्दस्य तच्छब्देनाभिसम्बन्ध इत्यत्र ब्रूमः—न, अनभ्युपगमात्। यो ह्यनन्तरकृतं शब्दस्य शब्दान्तरेण सह सम्बन्धमाचष्टे तम्प्रत्युपालम्भः स्यात्। वयन्त्वर्थकृतं सम्बन्धमाचक्ष्महे। तथा चोक्तम्—

नहीं हो सकता है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'तत्' पद का 'दुःख' शब्द के साथ संबन्ध हो सकता है। यदि कहो कि 'दुःख' शब्द के साथ संबन्ध करने में पूर्वोक्त दोष हो जायेंगे। अर्थात् यदि 'तत्' शब्द का 'दुःख' शब्द के साथ संबन्ध स्वीकार किया जाता है तो जिन दोषों को हमने पूर्व में कहा है, वे सभी दोष प्रसक्त हो जाते हैं। इसलिये जो पक्ष पूर्व में निषिद्ध किया जा चुका है, उसका ग्रहण करना साहस मात्र है। तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि उस दोष का निराकरण कर दिया जा रहा है। अर्थात् यह बात ठीक है कि दोष का निराकरण किये बिना 'तत्' शब्द का 'दुःख' शब्द के साथ संबन्ध मानना साहसमात्र होगा; किन्तु हम तो उक्त दोष का निराकरण कर दे रहे हैं। इसलिये 'दुःख' शब्द के साथ 'तत्' शब्द का संबन्ध स्वीकार करना सर्वथा दोषरहित है।

प्रश्न— दोषों का वह निराकरण क्या है? अर्थात् वह निराकरण बताइये जिसके अवलम्ब से अनेक दोषों से प्रतिषिद्ध भी यह पक्ष स्वीकृत किया जा रहा है; क्योंकि बिना बताये आकारमात्र से वह निराकरण नहीं जाना जा सकता है।

उत्तर— आपका कहना ठीक है; किन्तु आपने यह जो कहा कि अनेक पदों का व्यवधान हो जाने से 'दुःख' शब्द का 'तत्' शब्द के साथ संबन्ध नहीं हो सकता है। इस पर हमारा कहना है कि आपका यह आक्षेप ठीक नहीं है: क्योंकि हम यह नहीं मानते कि व्यवधान होने पर संबन्ध नहीं होता है। जो व्यवधानरहित शब्द का दूसरे शब्द के साथ संबन्ध कहते हैं, उनके प्रति यह आक्षेप हो सकता है। हम तो अर्थप्रयुक्त संबन्ध कहते हैं, जैसा कि कहा गया है—

'यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतस्त्वसमानानामानन्तर्येऽप्यसम्भवः ॥

किञ्चान्यत्, शास्त्रे दर्शनात्। शास्त्रे च व्यवहितानामपि सर्वनाम्नामभिसम्बन्धो दृश्यते । 'यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ' इत्यत्रार्थकृतश्च सम्बन्धः शब्दानामभ्युपगतः । ङ्याप्प्रातिपदिकात्, बहुषु बहुवचनम्, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः, अलुगुत्तरपदे, इत्येवमादीनां सम्बन्धाभ्युपगमः । तथा अनड्वाहमुदहारिणि भगिनि वहसि, या त्वं शिरसि कुम्भमवाचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति' वार्तिके दृष्टान्तः । न ह्यत्र सत्यानन्तर्ये शिरसाऽनडुहो वहनम्, कुम्भस्य वा सरणमुपपद्यते । यथा चाऽत्र व्यवहितानामभिसम्बन्धस्तथेहाऽपि द्रष्टव्यः ।

अर्थात् जिस शब्द के साथ जिस शब्द का आर्थिक संबन्ध है, वह शब्द यदि दूरस्थ भी हो तो शब्दान्तर के साथ उसका संबन्ध हो जाता है; किन्तु आर्थिक दृष्टि से जो समान नहीं है, उन शब्दों का सामीप्य होने पर भी सम्बन्ध असंभव है। अतः 'तत्' शब्द का 'दुःख' शब्द के साथ आर्थिक संगति होने के कारण संबन्ध होने में कोई बाधा नहीं है।

व्यवहित शब्दों का संबन्ध होने में और भी प्रमाण हैं; क्योंकि शास्त्र में ऐसा देखा जाता है। अर्थात् शास्त्र में अनेक पदों से व्यवहित होने पर भी सर्वनामों का संबन्ध दूसरे पद के साथ देखा जाता है, जैसे 'यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ' (महाभाष्य–५।१।११९) यहाँ पर तत्शब्द और गुणशब्द का अर्थप्रयुक्त संबन्ध महाभाष्यकार ने स्वीकार किया है। यद्यपि गुणशब्द और तत्शब्द के मध्य में अनेक शब्दों का व्यवधान है। ऐसे ही 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (पा० सू० ४।१।१), 'बहुषु बहुवचनम्' (पा० सू० १।४।२१) 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (पा० सू० २।४।७१), 'अलुगुत्तरपदे' (पा० सू० ६।३।१) इत्यादिक सूत्रों का संबन्ध अत्यन्त व्यवधान होने पर भी माना गया है। इसी प्रकार (अनड्वाहमुदहारिणि भगिनि वहसि या त्वं शिरसि कुम्भमवाचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति' (महाभाष्य–१।१।५७) यह वार्तिकवचन भी व्यवहित पदों का सम्बन्ध होने में दृष्टान्त है। उक्त वार्तिक में अत्यन्त सान्निध्य होने पर भी सिर पर बैल का ढोना या घड़े का दौड़ना उपपन्न नहीं है। अतः जिस प्रकार व्यवहित शब्दों का सम्बन्ध उक्त दृष्टान्तों में होता है, वैसे 'तदपघातके' इस कारिका में 'तत्' शब्द का 'दुःख' शब्द के साथ सम्बन्ध भी जानना चाहिये।

यत्पुनरेतदुक्तमुपसर्जनत्वात्पदान्तरेणाऽनभिसम्बन्ध इति, एतदनुपपन्नम्। कस्मात्? समासादपोद्धारे बुद्धया व्यवस्थितस्य स्वातन्त्र्योपपत्तेः। सत्यमुपसर्जनस्य पदान्तरेणाभिसम्बन्धो नोपपद्यते, न तु वयं समासवृत्तेरेव तच्छब्देनाभिसम्बन्ध इति प्रतिपद्यामहे, किन्तर्हि? समासादपोद्धृतस्य बुद्धिव्यवस्थितस्योपजनितस्वातन्त्र्यस्य शब्दान्तरेण संबन्धमिच्छाम इति।

अथैतदनिष्टम्, 'योगप्रमाणे च तदभावे दर्शनं स्यात्' अथ शब्दानुशासनम्', 'केषां शब्दानाम्' इति चैवमादीनाम्प्रयोगाणां विरोधः प्राप्नोति। अनिष्टञ्चैतत्।

यत्पुनरेतदुक्तम्—नित्यानामपघाताऽनुपपत्तेर्वृत्त्यपघाते च तदपघातप्रसङ्गादिति, एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? गुणशक्तेः प्रयोजनोपरमे सत्यात्म-

---

यह जो कहा कि उपसर्जन होने के कारण दुःखपद का दूसरे पद के साथ सम्बन्ध नहीं होगा, वह युक्त नहीं है; क्योंकि समास से अलग करने पर बुद्धि में अवस्थित दुःखपद में स्वातन्त्र्य उत्पन्न हो जायगा। अर्थात् यह बात सत्य है कि उपसर्जन पद का दूसरे पद के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है; किन्तु हम ऐसा नहीं मानते हैं कि समासान्तर्गत दुःखशब्द का सम्बन्ध किया जा रहा है; किन्तु समास से पृथक् कर बुद्धि में अवस्थित हुये और इसीलिये उपसर्जन न होकर स्वतन्त्र दुःखशब्द का सम्बन्ध दूसरे 'तत्' शब्द के साथ हम चाहते हैं। इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

तात्पर्य यह है कि दुःखशब्द को समास से पहले पृथक् कर अपनी बुद्धि में व्यवस्थित करते हैं। उसके बाद वह दुःखशब्द उपसर्जन (गौण) न होकर स्वतन्त्र (मुख्य) हो जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्र हुये दुःखशब्द का तत्शब्द के साथ सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं है।

यदि इस विधि से समासान्तर्गत शब्द का शब्दान्तर के साथ सम्बन्ध अभीष्ट न हो तो 'योगप्रमाणे च तदभावे दर्शनं स्यात्' (पा० सू० १।२।५५) तथा 'अथ शब्दानुशासनम्', 'केषां शब्दानाम्' (महाभाष्य—१।१।१) इत्यादि प्रयोगों से विरोध होने लगेगा, जो कि अनिष्ट है।

यह जो कहा कि दुःख नित्य है, इसलिये उसका अपघात नहीं बन सकता है। यद्यपि दुःख के नित्य होने पर भी उसकी वृत्ति का अपघात हो सकता है, तथापि वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद होने से वृत्ति के साथ-साथ नित्य दुःख का भी अपघात होने लगेगा। अतः दुःखशब्द के साथ तत् शब्द का सम्बन्ध नहीं हो सकेगा; किन्तु यह

कल्पेन व्यवस्थानाभ्युपगमात्। नैतदभ्युपगम्यते गुणस्योच्छित्तिर्भवति, वृत्तिर्वाऽस्याऽभिभूयते। किन्तर्हि ? पुरुषार्थनिबन्धना चरितार्था शक्तिरस्य पुरुषार्थप्रवृत्तौ प्रयोजनासद्भावादात्मकल्पेन व्यवतिष्ठत इत्येतद्विवक्षितम्। तस्माद्युक्तमेतत्तदपघातके हेतौ जिज्ञासा प्रवर्तत इति।

कारिका--'दृष्टे साऽपार्था चेत्'

स्यादेतत्--प्रत्यक्षो दुःखप्रतीकारहेतुरस्ति। तस्य समतिक्रमे किं प्रयोजनम् ? तद्यथा, शारीरस्य तावदयमपगमहेतुरनेकद्रव्यरसायनोपभोगः। मानसस्यापि मनोज्ञस्त्रीपानविलेपनभोजनवस्त्रालङ्कारादिविषयसम्प्राप्तिः। आधिभौतिकस्य नीतिशास्त्राभ्यासः, शस्त्रास्त्रकुशलता, विषमस्थानानध्यासश्च। आधिदैविकस्यापि यथाकालं विविधनिवसनास्तरणगर्भगृहप्रासादजालान्तरचन्दनव्यजनमणिहारादिसेवाविविधौषधमङ्गलस्तुतिमन्त्रप्रयोगानुष्ठानमिति दृष्टे हेतौ सा जिज्ञासाऽपार्थेति चेत्—

कहना भी अनुपपन्न है; क्योंकि गुणशक्ति का प्रयोजन समाप्त हो जाने पर आत्मा के तुल्य गुणशक्ति की व्यवस्था मानी गई है। अर्थात् हम यह नहीं कहते हैं कि दुःखरूप गुण का उच्छेद होता है, अथवा उसकी वृत्ति तिरोहित हो जाती है; किन्तु पुरुषार्थ को प्राप्त करा देने के कारण गुण की शक्ति चरितार्थ हो जाती है और उसका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है। वैसी स्थिति में गुणशक्ति का पुरुषार्थसाधन के लिये प्रवृत्ति करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है और वह आत्मतुल्य बन जाती है। यह मेरा अभिप्राय है। अतः 'तदपघातके हेतौ जिज्ञासा प्रवर्तते' सूत्रकार का यह कथन सर्वथा युक्त है।

पूर्वपक्ष— ऐसा हो कि दुःखनिवारण का हेतु प्रत्यक्ष ही है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष हेतु का उल्लङ्घन करने में क्या प्रयोजन है ? अर्थात् दृष्ट उपाय से ही दुःख की निवृत्ति हो जायगी। अतः तत्त्वजिज्ञासा निष्प्रयोजन है। जैसे शारीरिक दुःख का निवारण करने वाला अनेक प्रकार के द्रव्य और रसायन का सेवन है, मानस दुःख का भी निराकरण करने वाला हेतु मनोज्ञ स्त्री-पान-विलेपन-भोजन-वस्त्र-अलङ्कार आदि विषय की प्राप्ति है। आधिभौतिक दुःख का भी निवारण करने वाला नीतिशास्त्र का अभ्यास, शस्त्रास्त्र में कुशलता, विषम स्थान में निवास न करना आदि है। एवं आधिदैविक दुःख का भी निवारण करने वाला समयानुसार विविध वस्त्र-आस्तरण-गर्भगृह-प्रासाद-जालान्तर-चन्दन-व्यजन-मणिहार आदि का सेवन तथा विविध औषध;

कारिका—'नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्'

एतच्च नैवम् । कस्मात् ? एकान्तात्यन्ततोऽभावात् । एकान्तो नाम नियमेन भावः । अत्यन्तं भूतस्याविनाशः । एकान्तश्च अत्यन्तं च ते एकान्तात्यन्ते तयोरभाव एकान्तात्यन्ततोऽभावः, तस्मात् षष्ठी-स्थाने पञ्चमी । षष्ठ्या एव वा तसिः 'षष्ठ्या व्याश्रय' इति योगविभा-गात् । असमासकरणं वृत्तपूरणार्थम् । मानसस्य च दुःखस्य प्रतीकारे दोषान्तरोपसंग्रहार्थम् । तथा हि, स्त्र्यादीनां सत्येतस्मिन् दोषद्वयेऽशक्य-मर्जनं कर्तुमस्वाभाविकत्वात् । सत्यर्जने रक्षणमशक्यं साधारणत्वात् । सति च रक्षणे क्षयः कृतकत्वात् । सङ्गाच्चानुपशमो भूतोपघातमन्तरेण चासंभव इत्येते दोषाः ।

मङ्गल, स्तुति तथा प्रयोग का अनुष्ठान है । अतः दुःखनिवारण के लिये दृष्ट हेतु के रहते तत्त्वजिज्ञासा व्यर्थ है ।

पूर्वोक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि दृष्ट उपायों से दुःखत्रय की निवृत्ति ऐका-न्तिकरूप से और आत्यन्तिकरूप से नहीं होती है । एकान्त शब्द का अर्थ है नियमित-रूप से होना तथा अत्यन्त शब्द का अर्थ है, जो हो जाय उसका विनाश न होना । अर्थात् दुःखनिवृत्ति का सदा के लिये कायम रहना । यहाँ पर 'एकान्तश्च अत्यन्तं च ते एकान्तात्यन्ते' ऐसा द्वन्द्व समास है । एवम् इन दोनों का अभाव अर्थात् एकान्तिक और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का अभाव एकान्तात्यन्ततो अभाव है । 'एकान्तात्यन्ततः' इस पद में षष्ठी विभक्ति के स्थान में पञ्चमी विभक्ति है और पञ्चमी के अर्थ में 'तसि' प्रत्यय हुआ है । अथवा षष्ठी के ही अर्थ में 'तसि' प्रत्यय हुआ है । 'षष्ठ्या व्याश्रये' (५।४।४८) इस सूत्र में 'षष्ठ्या' ऐसा योगविभाग माना जाता है । यहाँ पर 'एकान्ता-त्यन्ततो अभावात्' पदों का समास इसलिये नहीं किया कि समास करने पर छन्द की पूर्ति नहीं होती । अर्थात् समास करने पर छन्दोभङ्ग हो जाता है । एवम्, इसलिये भी समास नहीं किया कि मानस दुःख के प्रतीकार की स्थिति में भी अन्य दोषों का संग्रह किया जा सके । जैसे स्त्री आदि को कामादि दुःख के प्रतीकार का उपाय मानने में इन दोनों दोषों के साथ-साथ अन्य दोष भी है कि स्त्री आदि की प्राप्ति करना अशक्य है; क्योंकि उसकी प्राप्ति स्वाभाविक या सहज नहीं है । यदि प्राप्ति हो भी जाय तो उसकी रक्षा अशक्य है; क्योंकि वह सर्वसाधारण है । यदि उसकी रक्षा शक्य भी हो तो उसका क्षय होना अनिवार्य है; क्योंकि वह अनित्य वस्तु है । एवम् उसके सङ्ग से भी शान्ति नहीं हो सकती है । साथ ही किसी प्राणी का उपघात किये बिना उसकी

आह—कथमेतदवगम्यते यद् दृष्टस्य हेतोरनैकान्तिकत्वमनात्यन्तिकत्वं चेति ? उच्यते—प्रत्यक्षम् एवैतदुपलभ्यते । यदायुर्वेदविहितस्य क्रियाक्रमस्याभियुक्तमात्मवन्तं भेषजभिषक्परिचारकसम्पन्नं प्रत्यानर्थक्यम् । आह च—

'सर्वेषां व्याधिरूपाणां निदानं त्रिविधं स्मृतम् ।
आहारश्च विहारश्च कर्म पूर्वकृतं तथा ॥
तत्राहारविहारोत्थान् रोगान् द्रव्यमपोहति ।
यस्तु कर्मकृतो व्याधिर्मरणात्स निवर्तते ॥

पुनरप्याह—

'सोपद्रवः सर्वरूपो बलमांसेन्द्रियापहः ।
सारिष्टश्चैव यो व्याधिस्तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥

इत्येवमनैकान्तिकत्वम् ।

प्राप्ति असंभव है। ये सब दोष हैं, जिनके संग्रह के लिये 'एकान्तात्यन्ततोऽभावात्' इन पदों में षष्ठी समास नहीं किया।

प्रश्न— वह कैसे मालूम होता है कि दुःखनिवृत्ति का दृष्ट हेतु अनैकान्तिक है और अनात्यन्तिक है ?

उत्तर— प्रत्यक्ष से ही यह बात मालूम होती है कि दृष्ट हेतु दुःखनिवृत्ति का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक उपाय नहीं है; क्योंकि देखा गया है कि आयुर्वेद में विहित क्रियाकलाप भी अभियुक्त अर्थात् यथानिर्देश करने वाला आत्मवान् अर्थात् प्रमादरहित अथवा सत्यवान् या धैर्यवान् और औषधि, वैद्य तथा परिचारक से सम्पन्न रोगी के प्रति निरर्थक हो जाता है और कहा भी गया है—

सभी व्याधियों का निदान तीन प्रकार का कहा गया है—आहार, विहार तथा पूर्वजन्मकृत कर्म। उनमें आहार और विहार से होने वाले रोगों को औषध दूर कर देता है; किन्तु जो व्याधि पूर्वजन्मकृत है, वह मृत्यु से ही निवृत्त होता है। और भी कहा है—

जो व्याधि उपद्रवयुक्त है, सभी व्याधियों का समूहरूप है एवं बल, मांस

अनात्यन्तिकत्वं तु निवृत्तानामपि व्याधीनाम्पुनरुत्पत्तिदर्शनात्। महता खल्वपि प्रयत्नेन निर्वर्तिता व्याधयः पुनरुत्पद्यन्ते। तथा चोक्तम्—'पुनर्ज्वरे समुत्पन्ने क्रिया पूर्वज्वरानुगा' इति।

तस्माद्यथैवास्यायुर्वेदादेः प्रतीकारहेतुत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेवमेकान्ताऽत्यन्तोऽभावोऽपि। तथा मानसस्य च। यथा च शारीरदुःखप्रतीकारहेतवोऽनैकान्तिकास्तथा स्त्र्यादयोऽपि। कस्मात्? तत्सन्निधाने विषयान्तराभिलाषदर्शनात्। यदि हि स्त्र्यादयो विषयाः सर्वदा दुःखप्रतीकारसमर्था भवेयुः, किमिति तेषु सन्निहितेषु विषयिणो विषयान्तरजिघृक्षा स्यात्? एवमनैकान्तिकत्वम्। अनात्यन्तिकत्वमपि—निवृत्तेच्छानामपि भूयः प्रार्थनासम्भवात्। यदि हि विषयोपभोगोऽत्यन्तमेव मानसं दुःखमपहन्यात्, किं प्राप्तं येन भूयस्तं प्रति विषयिणोऽभिलाषः स्यात्? किं कारणम्? यस्मान्न ह्यविद्यमाने तमसि देवदत्तस्य प्रदीपं प्रत्यपेक्षा भवति। दृश्यते च

और इन्द्रियों को क्षीण करने वाला है तथा अरिष्ट से युक्त है, उस व्याधि को वैद्य त्याग दे, अर्थात् उसकी चिकित्सा न करे; क्योंकि इस प्रकार की व्याधि अचिकित्स्य (असाध्य) होती है।

दृष्ट उपाय दुःखनिवृत्ति के प्रति अनात्यन्तिक इसलिये है कि औषध उपचार द्वारा निवृत्त हुये दुःखों की भी पुनः उत्पत्ति देखी जाती है; क्योंकि महान् प्रयत्न द्वारा निवृत्त किये गये रोग फिर से उत्पन्न हो जाते हैं। कहा भी गया है—

अर्थात् ज्वर के फिर से उत्पन्न हो जाने पर पूर्वज्वर के अनुसार क्रिया (उपचार) करनी चाहिये। अतः जैसे इस आयुर्वेद आदि में दुःख प्रतीकार का हेतुत्व प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है, वैसे ही दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति का न होना भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसी तरह मानस दुःख की भी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति दृष्ट उपाय से अवश्य नहीं हो सकती है। अर्थात् जैसे शारीरिक दुःख के प्रतीकार के हेतु औषधादि अनैकान्तिक हैं, वैसे ही स्त्री आदि भी मानसिक दुःख की निवृत्ति में अनैकान्तिक हेतु हैं; क्योंकि उसके सन्निधान में भी अन्य विषय की अभिलाषा देखी जाती है; यदि स्त्री आदि विषय सर्वदा के लिये दुःख-प्रतीकार में समर्थ होते तो स्त्री आदि के सन्निहित होने पर भी विषयी व्यक्ति को विषयान्तर पाने की इच्छा क्यों होती है? इस प्रकार लौकिक उपाय शारीरिक या मानसिक दुःख मिटाने में अनैकान्तिक हैं।

निवृत्तेच्छानामपि विषयोपभोगाद्विषयिणां भूयो विषयाभिलाषः। तेन मन्यामहे नायं दृष्टो हेतुर्दुःखमपहन्ति ? किन्तर्हि ? सुतरां वृद्धिं करोति।

आह च—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'॥

अपर आह—

'संवेद्यत्वाद् गुरुत्वाच्च निन्दितत्वाच्च साधुभिः।
सर्वत्रासन्निधानाच्च न दृष्टो हेतुरिष्यते'॥

संवेद्यत्वात्। भोगसाधनविकलानामर्थिनां मध्ये विषयिणोपयुज्यमानास्तैस्संवेद्यन्ते। तेषामप्रदायोपयुज्यमानं नैर्घृण्यमाविष्कुर्यात्। विष-

---

एवम्, दुःखनिवृत्ति के प्रति दृष्ट (लौकिक) उपाय अनात्यन्तिक भी हैं; क्योंकि एक बार जिनकी इच्छा निवृत्त हो जाती है, उन्हीं को फिर उस विषय के प्रति प्रार्थना (कामना) होती है। कारण, यदि विषय का उपभोग जड़ से मानस दुःख को मिटाता है, तो उससे क्या प्राप्त हुआ ? जबकि पुनः उस विषय के प्रति विषयी को अभिलाषा होती है; क्योंकि अन्धकार के नहीं रहने पर देवदत्त को प्रदीप की अपेक्षा नहीं होती है। देखा जाता है कि विषय के उपभोग से जिनकी इच्छा शान्त हो गई है, ऐसे विषयी लोगों को फिर से विषय की इच्छा होती है। इससे हम मानते हैं कि दृष्ट हेतु दुःख को नहीं मिटा सकता है, बल्कि दुःख को विशेषरूप से बढ़ाता ही है। कहा भी गया है—

काम की शान्ति कामों के उपभोग द्वारा कभी नहीं हो सकती है। बल्कि जैसे घी से अग्नि बढ़ जाती है, वैसे ही और भी कामना बढ़ती ही जाती है।

और भी कहा है—संवेद्य होने से दृष्टहेतु दुःख के आत्यन्तिक विनाश में समर्थ नहीं है। अर्थात् भोगसाधन से रहित प्रार्थी जनों के बीच विषयी जन के द्वारा उपयोग में लाये जाते हुये भोग के साधनों को देखकर वे प्रार्थी जन वेदना का अनुभव करते हैं। इसलिये उनको बिना दिये उपयोग में लाया जाता हुआ पदार्थ भोग करने वाले व्यक्ति की निर्दयता को प्रकट करता है। अथवा यदि विषयी जन प्रार्थी जनों को भोगसाधनों में से दे देता है, तो भोगसाधन के सीमित होने के कारण उसके लिये बाधा हो जायगी। इसलिये दुःख मिटाने में बुद्धिमान् जनों के लिये दृष्ट उपाय अयोग्य है, अर्थात् असमर्थ है।

विषयिणा प्रदीयमानो वाऽर्थिभ्यः परिमितत्वादवच्छिद्येतेत्यनुपायोऽयं दुःखापघाते बुद्धिमताम् । किञ्च गुरुत्वात् । भोगानां विविधनिवसनस्त्री-पानभोजनविलेपनालङ्कारादीनां सामग्र्ये सुखमुत्पद्यते, नाऽन्यतरवैकल्ये । सामग्र्यं चैषामस्वाभाविकत्वादनुपपन्नम् । आह च–

'नाभिजातिं न विज्ञानं न च शौर्यमपेक्षते ।
लक्ष्मीः संस्कारयोगाच्च क्वचिदेवावतिष्ठते ॥'

इत्येवमनेकार्थाश्रयत्वाद् गुर्विषयभोगः । किञ्च निन्दितत्वाच्चसाधुभिः । निन्दितः खल्वपि साधुभिर्विषयोपभोगः । यस्मादाह—

'आयासाश्च विघाताश्च विप्रलम्भभयानि च ।
यच्चान्यदशिवं लोके तत्कामेभ्यः प्रवर्तते ॥'

पुनरप्याह—

'अयं सक्षेत्रियो व्याधिरयमात्यन्तिको ज्वरः ।
इदमास्पदमीतीनामेष योनिः सपाप्मनाम् ॥

एवं गुरु होने के कारण (अर्थात्) कठिन होने के कारण भी दृष्ट उपाय दुःख का प्रतीकार नहीं कर सकता है; क्योंकि विविध प्रकार के निवसन (वस्त्र), स्त्री, पान भोजन, विलेपन, अलंकार आदि भोगसाधनों की समग्रता होने पर ही सुख उत्पन्न होता है। इनमें यदि एक की भी कमी हो जाय तो सुख नहीं होता; किन्तु इन भोगसाधनों की समग्रता अस्वाभाविक होने से अनुपपन्न है। कहा भी गया है—

लक्ष्मी उच्चकुल की अपेक्षा नहीं करती, विज्ञान (विद्या) की अपेक्षा नहीं करती है। शूरता की भी अपेक्षा नहीं करती; किन्तु पूर्वजन्म में किये गये कर्मों से उत्पन्न संस्कार के संबन्ध से कहीं पर ही रहती है। इस प्रकार अनेक प्रकार के पदार्थों पर आश्रित होने के कारण विषयजन्य सुख कठिन है। एवं शिष्ट लोगों के द्वारा विषयोपभोग निन्दित भी माना गया है; क्योंकि कहा गया है—

आयास, विघात तथा विप्रलम्भ के भय एवं अन्य भी जो लोक में अकल्याण है, वह कामनाओं से अर्थात् विषयों के भोग से उत्पन्न हो जाता है।

और भी कहा गया है—

यह प्रसिद्ध विषयोपभोग शरीर के लिये व्याधि है, यह आत्यन्तिक ज्वर है, वह ईतियों (उपद्रवों) का आश्रय है, यह पापयुक्त कर्मों की योनि है।

अगाधमेतत्पातालमेष पङ्को दुरुत्तरः ।
क्लेशव्याधिभयाकीर्णमेतच्छ्वभ्रं भयावहम् ॥
विविधायासशोकानामेतदायतनं महत् ।
दैन्यश्रमविषादानामेतत्क्षेत्रमपावृतम् ॥
यस्माद्विषयसम्भोगाद्विहगः पञ्जरादिव ।
गतो वनेषु रमते स सुखानि समश्नुते ॥

तस्मात् साधुभिरपाकृतत्वादसाधुर्विषयोपभोगः । किञ्च सर्वत्राऽसन्निधानात् । न हि सुप्रतिनिविष्टस्यापि कामिनः सर्वत्र विषयसन्निधानेन भवितव्यम् । नो खल्वपि एकस्मिन् देशेऽवस्थानं सम्भवति विषयाभावप्रसङ्गात् । तस्मादवश्यं वियोगेन भवितव्यम् । वियोगे च सति ध्रुवोऽनिष्टानुबन्ध इति कोऽर्थो विषयपरिग्रहेण ? तत्र यदुक्तं दृष्टस्य हेतोः सद्भावादपार्थिका जिज्ञासेति एतदयुक्तम् ।

आह—यद्येकान्तात्यन्तोऽभावाद् दृष्टे हेतावपरितोषस्तेन तर्ह्यस्त्य-

---

यह विषयोपभोग अगाध पाताल है और यह ऐसा पङ्क है, जिससे निकलना दुष्कर है एवं क्लेश और व्याधियों के भय से पूर्ण भयङ्कर गर्त है।

यह विषयोपभोग अनेक प्रकार के आयास और शोकों का बड़ा भारी घर है, और यह दैन्य, श्रम और विषाद का खुला क्षेत्र है।

चूँकि पिंजड़े से निकलकर वन में गये हुये पक्षी के समान विषय के संभोग से मुक्त हुआ पुरुष रमण करता है और वह सुखों को प्राप्त करता है। अतः साधुजनों के द्वारा तिरस्कृत होने के कारण विषय का उपभोग असमीचीन है।

एवं सर्वत्र विषय का सन्निधान भी नहीं होता है; क्योंकि अच्छी तरह से प्रयत्नशील भी कामी व्यक्ति को सर्वत्र विषय का सन्निधान सम्भव नहीं है और यह भी नहीं है कि एकदेश में अवस्थित रहना संभव हो; क्योंकि एक जगह रहने पर विषय का अभाव होने लगेगा। इसलिये विषय के उपार्जन के लिये अवश्य ही देश का वियोग होगा और वियोग पर अनिष्ट की प्राप्ति ध्रुव है। इसलिये विषय के सेवन से प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः जो कहा कि दुःख के विघात में समर्थ दृष्ट हेतु के होने से जिज्ञासा व्यर्थ है, यह अयुक्त है।

प्रतिपक्षी— यदि ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख का निराकरण नहीं कर

मन्यो हेतुरुभयदोषवर्जितः, स कस्मान्न परिगृह्यते ? कोऽसाविति चेत्, स उच्यते—शास्त्रोक्तः कर्मविधिः । स ह्यैकान्तिकः । कथम् ? एवं ह्याह— पशुबन्धेन सर्वाल्लोकान् जयति न तूक्तं कदाचिज्जयति, कदाचिन्नेति । फलस्य प्रत्यक्षानुपलब्धेरनैकान्तिकत्वमिति चेत्,स्यान्मतम् । प्रत्यक्षत एवेदं विहितस्य कर्मणः फलं नोपलभ्यते । तथा हि पुत्रकाम इष्टिं निरूप्य दुहितरमपि न प्राप्नोति । अर्थकामश्च कर्म कृत्वा माषकमपि न लभते । तस्मान्नायमैकान्तिक इति । एतच्च नैवम् । कस्मात् ? साधनवैकल्यात्तदनुपपत्तेः । अनेकसाधनसाध्यो हि कर्मविधिः । यत्र फलं नोपलभ्यते तत्र साधनवैकल्यमनुमातव्यम् । कस्मात् ? न ह्येतदिष्टम्, सति कारणे कार्यं न

सकने के कारण दृष्ट हेतु के प्रति असन्तोष है, तो यह दूसरा हेतु हो सकता है, जो उक्त दोनों (अनैकान्तिकत्व और अनात्यन्तिकत्व) दोषों से रहित है। उस हेतु को दुःखनिवृत्ति के लिये क्यों न गृहीत किया जाय। यदि पूछो वह कौन हेतु है ? तो हम कहते हैं कि शास्त्रोक्त कर्मविधि ही वह हेतु है; क्योंकि वह दुःखनिवृत्ति का ऐकान्तिक हेतु है।

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर—ऐसा वचन है कि "पशुबन्धेन सर्वाल्लोकान् जयति" (शाङ्करभाष्य-१।२।४, शतपथब्राह्मण-११।७।११)। अर्थात् पशुबन्ध याग से समस्त लोकों के ऊपर जय प्राप्त होती है। यहाँ यह तो नहीं कहा कि 'कदाचित् जयति कदाचित् न जयति।' अर्थात् उक्त याग से कभी समस्त लोकों पर जय प्राप्त करता है और कभी नहीं भी प्राप्त करता है। यदि कहो कि यज्ञ से होने वाला फल प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध नहीं होता है, इसलिये शास्त्रोक्त कर्मविधि भी अनैकान्तिक है। अर्थात् यह माना जाय कि प्रत्यक्ष से ही शास्त्र विहित कर्म का फल उपलब्ध नहीं होता है; क्योंकि पुत्र की कामना वाला व्यक्ति यज्ञ करके पुत्री भी नहीं प्राप्त करता है और अर्थकामना वाला व्यक्ति यज्ञ करके उड़द भी नहीं प्राप्त करता है। इसलिये यह शास्त्रोक्त कर्मविधि भी दुःखनिवृत्ति का ऐकान्तिक हेतु नहीं है।

किन्तु ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि साधन की विकलता से कर्मफल की प्राप्ति नहीं होती है। कारण, अनेक साधनों से कर्मविधि सम्पन्न होता है। इसलिये जहाँ कर्म करने पर भी फल नहीं मिलता है, वहाँ पर साधन में त्रुटि का अनुमान कर लेना चाहिये; क्योंकि यह कोई नहीं मानता है कि कारण के रहते कार्य न हो।

भवति। किञ्चान्यत्, संसाराऽभावप्रसङ्गात्। यदि खल्वपि कर्मणः फलवत्त्वं नेष्यते तेन तन्निमित्तस्य संसारस्याभावप्रसङ्गः। अनिष्टञ्चैतत्। तस्मात्सिद्धमस्यैकान्तिकत्वम्।

आत्यन्तिकत्वमपि सिद्धमेव, यस्मादाह—अपाम सोमममृता अभूमेति (अथर्वशिरः-३)। अत्र सोमपानादमृतत्वावाप्तिः श्रूयते। तस्मात्तदेवानुष्ठातव्यम्। किमन्येन हेतुना परिकल्पितेनेति जिज्ञासाऽपार्थैवेति। उच्यते—

कारिका—'दृष्टवदानुश्रविकः'

अनुश्रूयते इत्यनुश्रवः। अनुश्रवे भव आनुश्रविकः। दृष्टेन तुल्यं वर्तते दृष्टवत्। किम्? असावनभिप्रेत इति वाक्यशेषः। आह—कः पुनरयमनुश्रवः? उच्यते—मन्त्रब्राह्मणं यावद्वा पुरातनमनुश्रूयमाणं प्रामाण्येनाभ्युपगम्यते तत्रभवद्भिः। यथा श्रुतिनिबन्धनाः स्मृतयः अङ्गानि वेदास्तर्का वा। यथाह—

एवं संसार का अभाव होने लग जायगा, यह भी जानना चाहिये। अर्थात् यदि कर्म को फलवान् न माना जाय तो कर्मनिमित्तक जो संसार है, उसका अभाव हो जायगा; किन्तु ऐसा होना अनिष्ट है। इसलिये शास्त्रोक्त कर्मविधि दुःखनिवृत्ति में ऐकान्तिक हेतु है, यह बात सिद्ध है।

वैदिक कर्मविधि में जैसे ऐकान्तिकत्व सिद्ध है, वैसे आत्यन्तिकत्व भी सिद्ध है। अर्थात् वैदिक कर्मविधि जड़ से दुःख को मिटा देता है। चूँकि कहा गया है 'अपाम सोमममृता अभूम' इति(अर्थवशिरः-३, साकलसंहिता ऋग्वेदीया-८।४८।३)। यहाँ सोमपान से अमृतत्व की प्राप्ति श्रुति द्वारा ज्ञात होती है। इसलिये दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्म ही का अनुष्ठान करना चाहिये। विवेकज्ञानरूप अन्य हेतु की कल्पना निरर्थक है। अतः जिज्ञासा व्यर्थ है।

सिद्धान्ती—वैदिक कर्मविधि भी दृष्ट के समान ही है। 'अनुश्रूयते इति अनुश्रवः वेदः' अर्थात् गुरुमुख से जो सुना जाय वह अनुश्रव है। तथा अनुश्रव में जो प्रतिपादित है, वह आनुश्रविक है। इस प्रकार वेदोक्त कर्मविधि आनुश्रविक है। दृष्ट के जो तुल्य है, उसे दृष्टवत् कहते हैं। अतः वेदोक्त कर्मविधि दृष्टवत् है, यह अर्थ निकला। यहाँ 'किम्? असावनभिप्रेतः' यह वाक्य का शेष भाग है। अर्थात् वह वैदिक कर्मविधि किस प्रकार दृष्टवत् है? इसका उत्तर 'अनभिप्रेतः' इस पद के द्वारा दिया गया है। तात्पर्य यह है कि वैदिक कर्मविधि भी दृष्ट हेतु के समान ही दुःख के प्रतीकार के लिये अनभिप्रेत है।

'वेदवेदाङ्गतर्केषु वेदसंज्ञा निरुच्यते, इति । आह—किं पूर्वस्मादेव हेतोरयमानुश्रविको हेतुरनभिप्रेतः ? इति । नेत्युच्यते । किन्तर्हि ?

कारिका—'स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' इति । स इत्यानुश्रविकस्य हेतोः प्रतिनिर्देशः । हिशब्दो यस्मादर्थे । अविशुद्धिश्च क्षयश्चातिशयश्च तैर्युक्तः । एतदुक्तं भवति—यस्मादयमानुश्रविको हेतुरविशुद्धोऽनित्यस्तारतम्यवांश्चातो दृष्ट इवाऽनभिप्रेतः ।

तत्राविशुद्धियुक्तस्तावद् हिंसाविधानात् । यदाह ब्राह्मणे—ब्राह्मणमालभेतेत्यादि । तथा—

'षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः' ॥ इति ।

प्रश्न— यह अनुश्रव क्या है ?

उत्तर— मन्त्र और ब्राह्मण अनुश्रव है, अथवा जितना भी पुरातन अनुश्रूयमाण शास्त्र शिष्ट जनों के द्वारा प्रमाण के रूप में माना जाता है, वह सभी अनुश्रव है। जैसे, श्रुतिमूलक स्मृतियाँ वेदाङ्ग अथवा तर्क सभी वेद (अनुश्रव) हैं। जैसा कि कहा गया है—

वेद, वेदाङ्ग और तर्कों में 'वेद' संज्ञा कही जाती है।

प्रश्न— क्या पूर्व में दी गई युक्ति से ही यह वैदिक कर्मविधि दुःखनिवृत्ति के लिये अनभिप्रेत है ?

उत्तर— नहीं। अर्थात् केवल अनैकान्तिक और अनात्यन्तिक होने के कारण वैदिक कर्मविधि दुःखनिवृत्ति के लिये अनभिप्रेत नहीं है; किन्तु वह चूँकि अविशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त है, इसलिये भी अनभिप्रेत है। 'स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' इस सूत्र में 'स' शब्द आनुश्रविक हेतु का बोधक है। 'हि' शब्द हेतु अर्थ में है। 'अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' इस पद में पहले 'अविशुद्धिश्च क्षयश्च अतिशयश्च अविशुद्धिक्षयातिशयाः' ऐसा द्वन्द्व समास है, उसके बाद 'तैर्युक्तः' ऐसा तृतीया तत्पुरुष समास है। सूत्र के इस अंश से यह कहा जा रहा है कि चूँकि यह वैदिक कर्मविधि अविशुद्ध है, अनित्य है और कमीवेशी वाला है, इसलिये दृष्ट हेतु के समान ही अनभिप्रेत है। यहाँ वैदिक कर्मविधि अविशुद्धि से युक्त इसलिये है कि उसमें हिंसा का विधान है। जैसा कि ब्राह्मणग्रन्थ में कहा गया है—'ब्राह्मणमालभेत' इत्यादि मन्त्र द्वारा हिंसा का विधान हुआ है। और भी वचन हैं—

हिंसा चाविशुद्धिः, प्राणिनामिष्टशरीरव्यापादनात् ।

आह—तदनुपपत्तिः शास्त्रचोदितत्वात् । यदि शास्त्रेण चोदितेयं हिंसा न स्यात्, मुक्तसंशयमविशुद्धित्वमस्याः प्रतिपद्यामहे । शास्त्रचोदिता तु । तस्मान्नेयमविशुद्धिः । तत्प्रामाण्याऽनभ्युपगमादविशुद्धिरिति चेत्,स्यान्मतम्, वेदप्रामाण्यमभ्युपगच्छतामसंशयमेतदेव स्यात् । हेतुवादकुशलास्तु वयम् । तस्मादधीयतां यदि कश्चिदस्त्युभयपक्षप्रसिद्धो हेतुः, यतो निस्संशयः प्रत्ययः स्यादिति । एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? अभ्युपगमविरोधात् । दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्चेति प्रामाण्यत्रयमभ्युपगतं भवद्भिः । इदानीं वेदस्याप्तवचनत्वे सत्यप्रामाण्यं ब्रुवतः स्वमतव्याघातः । तस्मादयुक्तम् ।

वेदस्याप्तवचनत्वानुपपत्तेरदोष इति चेत्स्यान्मतम् । आप्तवचनत्वं प्राक्प्रसाध्यास्य वेदस्य पश्चाद् अयमुपालम्भो युक्तमभिधातुं स्यात् ।

अश्वमेध प्रकरण के वचनानुसार मध्यमदिन में तीन कम छः सौ अर्थात् पांच सौ सत्तानवे पशु बांधे जाते हैं (हिंसा के लिये) । इस प्रकार वैदिक कर्मविधि में हिंसा होने से अविशुद्धि है; क्योंकि प्राणियों को अपना शरीर इष्ट होता है और अश्वमेधादि यज्ञ में उसके इष्ट शरीर को मार दिया जाता है ।

पूर्वपक्ष— वैदिक कर्म विधि में हिंसा नहीं है; क्योंकि शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित है । यदि यह हिंसा शास्त्रप्रतिपादित नहीं होती तो निःसन्देह हम यज्ञीय हिंसा में अविशुद्धि मानते; किन्तु यह हिंसा तो शास्त्रविहित है । इसलिये इस हिंसा में अविशुद्धि नहीं है । यदि कहो कि हिंसा का विधान करने वाले शास्त्र में प्रामाण्य नहीं स्वीकृत है, इसलिये शास्त्रविहित हिंसा में भी अविशुद्धि है । अर्थात् वेद का प्रामाण्य मानने वाले के लिये निःसन्देह ऐसा हो; किन्तु हम तो तर्कवाद में कुशल हैं । इसलिये यदि उभय पक्ष में प्रसिद्ध कोई हेतु हो तो उसे कहिये, जिससे हिंसा में अविशुद्धि की प्रतीति निःसन्देह हो सके—तो ऐसा कहना अयुक्त है; क्योंकि अपने ही द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त का विरोध हो जाता है । आपने स्वयं 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च' इस सूत्र के द्वारा तीन प्रमाणों को माना है । अब इस समय वेद के आप्तवचन होने पर भी यदि आप अप्रमाण कहते हैं, तो अपने ही मत का विरोध हो जाता है । इसलिये आपका कथन युक्त नहीं है कि यज्ञीय हिंसा में अविशुद्धि है ।

यदि कहें कि वेद में आप्तवचनत्व अनुपपन्न है, इसलिये हमारे ऊपर स्वमत-व्याघात दोष नहीं होगा । अर्थात् पहले वेद का आप्तवचनत्व सिद्ध करके तब बाद में

तत्त्वसिद्धम् । तस्मादनुपालम्भोऽयमिति । एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? पुरुषबुद्धिपूर्वकत्वे सति रागादियोगाच्छब्दो विचारार्हः स्यात् किमाप्तवचनं न वेति । अपुरुषबुद्धिपूर्वकस्त्वाम्नायः स्वतन्त्रः पुरुषनिश्श्रेयसार्थं प्रवर्तते । तस्मान्नैवंविधमनिष्टं विचारमर्हति ।

किञ्चान्यत् । अविशुद्धित्वानुपपत्तिप्रसङ्गात् । यदि चैतस्मिन्नर्थे भवानपि पर्यनुयुज्येत—कथमिदं निश्चीयते यदुत प्राणिनामिष्टशरीरव्यापादनादविशुद्धिर्हिंसेति ? अवश्यमभिधानीयं शास्त्रत इति । तदेव च शास्त्रं क्रतौ हिंसामाह । तस्मात् कोऽत्र हेतुः ? अन्यत्र प्रमाणमिहैवैतदप्रमाणं भवितुमर्हति हिंसातो धर्म इति ? अनुग्रहोपघातलक्षणत्वादहिंसाहिंसयोः प्रत्यक्षसिद्धिरिति चेत्—

अथापि स्यात्, अहिंसातश्चानुग्रहो भवतीष्टशरीराव्यापादनलक्षणः,

यज्ञीय हिंसा के निर्दोष होने में स्ववचनव्याघातरूप यह आक्षेप कहना उचित है; किन्तु वेद का आप्तवचनत्व तो सिद्ध नहीं है । इसलिये मेरे प्रति स्ववचनव्याघातरूपी आक्षेप नहीं दिया जा सकता, ऐसा सांख्यवादी ने कहा ।

मीमांसक—यह भी कथन ठीक नहीं है; क्योंकि जो शब्द पुरुषबुद्धिपूर्वक होगा, उसमें रागद्वेषादि का सम्बन्ध होने से वह विचारणीय होगा कि यह शब्द आप्तवचन है कि नहीं; किन्तु वेद तो पुरुषबुद्धिपूर्वक निर्मित हुआ नहीं है, इसलिये स्वतन्त्ररूप से प्रमाण है और पुरुष के निःश्रेयस के लिये प्रवृत्त होता है । इसलिये वेद के सम्बन्ध में इस प्रकार का अनिष्ट विचार करना युक्त नहीं है कि वेद आप्तवचन है या नहीं । अतः वेद निश्चितरूप से आप्तवचन है ।

और भी हेतु है कि शास्त्रोक्त कर्मविधि में अविशुद्धि की उपपत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इस विषय में आपको भी यदि पूछा जाय कि यह कैसे निश्चय करते हैं कि प्राणियों के इष्ट शरीर को मारने से हुई हिंसा अविशुद्धि (पाप) है । इसलिये अवश्य ही आपको कहना होगा कि शास्त्र से उक्त निश्चय करते हैं और वही शास्त्र यज्ञ में हिंसा का विधान करता है । इसलिये इसमें क्या हेतु है कि अन्यत्र वह शास्त्र प्रमाण है और यहीं पर वह अप्रमाण होगा कि यज्ञ में हिंसा से धर्म होता है ।

सांख्यवादी— अहिंसा अनुग्रहरूप है और हिंसा उपघातरूप है, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है । अर्थात् ऐसा है कि अहिंसा द्वारा किसी के इष्ट शरीर को नहीं मारना अनुग्रह है और हिंसा द्वारा किसी के अभिप्रेत शरीर को मारना उसका अपघात है

हिंसातश्चोपघातो भवति अभिप्रेतशरीरव्यापादनलक्षणः। क्रियानुरूपं च फलमनुमातुं युक्तमिति प्रत्यक्षसिद्धमनयोरिष्टानिष्टफलहेतुत्वम्। तस्मात् कोऽत्र शास्त्रव्यापार इति।

एतच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? अनिष्टप्रसङ्गात्। एवं हि परिकल्प्यमाने गुरुभार्यागमनेऽपि सत्त्वान्तरानुग्रहसामर्थ्यादिष्टफलसम्बन्धः स्यात्। माणवकं चोपनीय व्रतादेशशौचब्रह्मचर्यस्वाध्यायाभ्यासभैक्षाग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषादिषु प्रवर्तयतोऽनिष्टफलसम्बन्धः स्यात्। तस्माल्लोकशास्त्रविरुद्धोऽसत्तर्को नेष्ट इति।

उभयाभिधानाच्छास्त्रविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, स्यान्मतम्—तदेव शास्त्रमहिंसामाह तदेव हिंसाम्। एवं सति परस्परविरुद्धयोरर्थयोश्चोदितत्वादुभयानुग्रहासम्भवे शास्त्रविरोधप्रसङ्ग इति। तच्च नैवम्।

तथा क्रिया के अनुकूल ही फल का अनुमान करना युक्त है। इसलिये अहिंसा का फल इष्ट (अच्छा) है और हिंसा का फल अनिष्ट (खराब) है, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिये इस सम्बन्ध में शास्त्र का क्या कार्य है?

हिंसा के विषय में शास्त्र की अनावश्यकतासम्बन्धी सांख्यवादी का उक्त विचार ठीक नहीं है; क्योंकि शास्त्र की उपेक्षा करने पर अनिष्ट का प्रसङ्ग हो जायगा। कारण, ऐसी कल्पना करने पर गुरुभार्यागमन में भी दूसरे के अनुग्रह की शक्ति होने से इष्टफल मिलना चाहिये। एवं माणवक का उपनयन करके व्रत का आदेश, स्नानादि शौच, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय का अभ्यास, भिक्षा, अग्निसेवन, गुरु की सेवा आदि कष्टकर कार्यों में प्रवृत्ति कराने वाले आचार्य को अनिष्टफल की प्राप्ति होने लगेगी। इसलिये लोक और शास्त्र से विरुद्ध असत् तर्क ठीक नहीं है।

यदि कहा जाय कि उभय का प्रतिपादन करने के कारण शास्त्र में विरोध-प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् वही शास्त्र अहिंसा को कहता है और वही शास्त्र हिंसा का विधान करता है। ऐसी स्थिति में परस्पर विरोधी अर्थों का प्रतिपादन होने से दोनों में किसी के प्रति भी अनुग्रह नहीं हो सकने से शास्त्रविरोध हो जायगा।

मीमांसक—सांख्यवादी का यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि उत्सर्ग और अपवाद में विषय का भेद होता है। अर्थात् उत्सर्ग का विषय सामान्य है और अपवाद का विषय विशेष होता है। शास्त्र सामान्यतः अहिंसा का परित्याग कर यज्ञरूपी

कस्मात् ? उत्सर्गापवादयोर्विषयभेदात् । सामान्ये हि शास्त्रमहिंसामुत्सृज्य विशेषे क्रतुलक्षणेऽपवादं शास्ति । सामान्यविहितश्च विशेषविहितेन बाध्यते । तद्यथा-दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम्, तक्रं कौण्डिन्यायेति । तस्मादुत्सर्गापवादयोर्विषयभेदान्नास्ति शास्त्रविरोध इति ।

किञ्चान्यत् । कन्यागमनवत् पुनर्विधाने दोषाभावात् । यथा खल्वपि शास्त्रे प्रतिषिद्धं कन्यागमनमिति नेदानीमभिरूपः प्रतिगृह्य तामभिगम्याऽधर्मभाग्भवति । 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्विकाम्' इति शास्त्रान्तरसद्भावाद् । एवं शास्त्रे प्रतिषिद्धा हिंसा । नेदानीं क्रतौ हिंसायां प्रवर्तमानोऽनिष्टफलभाक् स्यात् । पूर्वोक्तादेव शास्त्रान्तरसद्भावात् । तत्र यदुक्तं प्राणिनामिष्टशरीरव्यापादनादविशुद्धिर्हिंसेत्येतद युक्तम् ।

उच्यते—न, अभिप्रायानवबोधात् । चित्रमपि बह्वेतदभिधीयमानो

विशेष में अपवाद का विधान करता है । एवं सामान्य द्वारा विहित का विशेष विधान द्वारा बाध हो जाता है । जैसे ब्राह्मणों को दही दिया जाय और कौण्डिन्य को तक्र दिया जाय, यहाँ सामान्य का विशेष द्वारा बाध हो जाता है । इसलिये उत्सर्ग और अपवाद में विषय का भेद होने से शास्त्र में विरोध नहीं होगा ।

और भी प्रमाण है । कन्यागमन के समान तो गमन का विधान होने पर कोई दोष नहीं होता है । अर्थात् जैसे शास्त्र में यद्यपि कन्यागमन प्रतिषिद्ध है, तथापि कोई मनोनुकूल व्यक्ति विवाह द्वारा ग्रहण करके उसके साथ अभिगमन करता है, तो इस स्थिति में वह व्यक्ति अधर्म का भागी नहीं होता है । इसके सम्बन्ध में शास्त्रान्तर का प्रमाण भी है । जैसे 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्विकाम्', अर्थात् गृहस्थ जन अपने अनुरूप भार्या को प्राप्त करे, जो पूर्व में किसी को प्राप्त न हुई हो । इसी तरह शास्त्र में हिंसा यद्यपि प्रतिषिद्ध है, तथापि यज्ञ के निमित्त हिंसा में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति अनिष्ट फल का भागी नहीं होता है; क्योंकि यज्ञ में हिंसा का विधान करने वाला शास्त्र है, जो पहले कहा जा चुका है । जैसे—'पशुबन्धेन सर्वान् लोकान् जयति । अपाम सोमम् अमृता अभूम' इत्यादि ।

अतः यह जो कहा कि प्राणियों के प्रिय शरीर को मारने से हिंसा अविशुद्धि अर्थात् पाप है, तो यह कथन अयुक्त है ।

सांख्य का समाधान—अभिप्राय का ज्ञान नहीं होने से मीमांसक का उक्त

नाभिप्रायं वेद भवान् । किं कारणम् ! यस्मान्न वयं वेदस्य प्रामाण्यं प्रत्याचक्ष्महे । नो खल्वपि ब्रूमः शास्त्रचोदितायां हिंसायां प्रवर्तमानस्यानिष्टफलसम्बन्धो भवति । किन्तर्हि ? सति स्वर्गप्राप्तिनिमित्तत्वे वेदविहितस्य कर्मणः समनुष्ठानं प्राणिजमुपघातमन्तरेण न सम्भवति इति हितकामैरप्युपेक्ष्यते । यस्माद् न ह्येतदुक्तं यदन्येषामुपघातेनात्मानुग्रहः कार्य इति । आह—

'न तत्परस्य सन्दध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष सङ्क्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥

आह—यद्येतन्नाभ्युपगम्यते कथं पूर्वमुक्तं प्राणिनामिष्टशरीरव्यापादनादविशुद्धिर्हिंसेति ? उच्यते, कार्ये कारणोपचारात् । योऽसौ हिंसानिमित्तकः कारुण्यात् मनसि नः परिताप उत्पद्यते सा खल्वविशुद्धिरभिप्रेता । तस्यां कारणमुपचर्योक्तमविशुद्धिर्हिंसेति । यथा मुद्गैस्तृप्ता गावः सुखिन इति । आह—कथमेतदवगम्यते हिंसाकार्यं परितापमात्रमविशुद्धिराचार्यस्या-

---

कथन ठीक नहीं है । अर्थात् विचित्र है कि अधिक रूप में कहे जाने पर भी मेरे अभिप्राय को आप नहीं जान रहे हैं ।

प्रश्न— क्यों ?

उत्तर— क्योंकि हम वेद के प्रामाण्य को खण्डित नहीं कर रहे हैं । हम यह भी नहीं कहते हैं कि शास्त्र द्वारा विहित हिंसा में प्रवृत्त हुये व्यक्ति को अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है; किन्तु हमारा यह कहना है कि वेदविहित कर्म के स्वर्गप्राप्ति का निमित्त होने पर भी उसका अनुष्ठान प्राणियों के उपघात के बिना सम्भव नहीं है, इसलिए हित की कामना करने वाले व्यक्तियों के द्वारा उसकी अपेक्षा की जाती है; क्योंकि शास्त्र यह नहीं कहता है कि दूसरे को पीड़ा देकर अपना सुख किया जाय । कहा भी गया है—

जो कार्य अपने लिये प्रतिकूल है, उसे दूसरे के लिये न करे, यही संक्षेप में धर्म का स्वरूप है । इससे भिन्न यदि कोई चेष्टा करता है तो वह अपनी स्वार्थकामना के वशीभूत होकर ही करता है ।

मीमांसक— यदि ऐसा नहीं मानते हैं, तो पूर्व में आपने क्यों कहा कि प्राणियों के प्रिय शरीर को मारने के कारण हिंसा अविशुद्धि है ।

भिप्रेता, न पुनर्हिंसैवेति ? उच्यते, प्रकर्षप्रत्ययोपलब्धेः । वक्ष्यत्युपरिष्टात् 'तद्विपरीतः श्रेयान्' इति (का० २) ।

समानजातीयं च प्रतियोगिनमपेक्ष्य प्रकर्षप्रत्यय उत्पद्यते । यदि चानुश्रविकस्य प्रशस्यता नाभिप्रेता स्यात् प्रकर्षप्रत्ययानुपपत्तिप्रसङ्गः । तस्मान्नोत्सूत्रमेतत् ।

आह—संन्यासाऽनुपपत्तिः अवियोगश्रवणात् । न हि कर्मणोऽत्याग-सन्न्यासयोस्त्वमीशिषे । किन्तर्हि ? शास्त्रं यदाह तदवश्यं कर्तव्यम् । तच्चामरणात् कर्मभिरवियोगं शास्ति । कस्मात् ? एवं ह्याह—'जरामर्य-मेतत् सत्रं यदग्निहोत्रदर्शपौर्णमासौ, जरया ह एतस्मात् सत्राद्विमुच्यते, मृत्युना च ।' पुनरप्याह—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।'

सांख्यवादी—कार्य में कारण का उपचार करके अविशुद्धि कही गयी है । अर्थात् हिंसा के कारण उत्पन्न करुणावश जो मन में परिताप होता है, वह परिताप ही यहाँ पर अभिप्रेत है । अर्थात् हिंसा स्वयम् अविशुद्धि न होने पर भी अविशुद्धि का कारण होने से यहाँ पर हिंसा को अविशुद्धि कह दिया गया, जैसे 'मुद्गैस्तृप्ता गावः सुखिनः' यहाँ पर सुख का कारण मुद्ग से होने वाली तृप्ति है, स्वयम् मुद्ग सुख नहीं है । वैसे ही हिंसा से उत्पन्न होने वाला संताप ही अविशुद्धि है, हिंसा अविशुद्धि नहीं है । यह अभिप्राय है ।

मीमांसक— यह आप कैसे समझते हैं कि हिंसा का कार्य संताप मात्र ही अवि-शुद्धि के रूप में आचार्य को अभिप्रेत है, न कि स्वयं हिंसा ही अविशुद्धि है ।

सांख्यवादी— उत्कृष्टतासूचक प्रत्यय के होने से ऐसा समझते हैं; क्योंकि आगे चलकर आचार्य कहेंगे कि 'तद्विपरीतः श्रेयान् इति' (का० २) अर्थात् वैदिक कर्मविधि से विपरीत विवेकज्ञान अधिक श्रेयष्कर है । समानजातीय प्रतियोगी के होने पर ही प्रकर्ष अर्थ में ईयसुन् प्रत्यय होता है । यदि वैदिक कर्मकलाप आचार्य को प्रशंसनीय के रूप में अभिप्रेत नहीं होता तो विवेकज्ञान के लिए 'श्रेयान्' यहाँ पर प्रकर्ष प्रत्यय नहीं हो सकता था । इसलिये मेरा कथन सूत्रविरुद्ध नहीं है ।

यहाँ मीमांसक का कहना है कि कर्म का संन्यास अनुपपन्न है; क्योंकि श्रुति द्वारा कर्म का अवियोग कहा गया है । कारण, कर्म का अत्याग (ग्रहण) और संन्यास (त्याग) के लिये तुम स्वयं समर्थ नहीं हो; किन्तु शास्त्र जो कहता है, वह अवश्य करना है । और शास्त्र मरणपर्यन्त कर्म के अत्याग का विधान करता है । शास्त्र

(ईशावा० २) तस्मादामरणात् कर्मणामत्यागः। तस्मिन् सति हेत्वन्तर-कर्मणामानर्थक्यम्।

उच्यते—न, साधनानामस्वाभाविकत्वात्। पत्नीसंयोगादिभिरनेकैः साधनैरयं कर्मविधिः प्रसाध्यते। तेषां चास्वाभाविकत्वाद् अशक्यमर्जनं प्रयोगतः पूर्वं कर्तुमिति प्रतिपादितम्। तस्मादनित्यानि कर्माणि। हेतु-शास्त्रविप्रतिपत्तौ शास्त्रबलीयस्त्वमिति चेत्—स्यान्मतम्, यत्र हेतुशास्त्रयो-र्विप्रतिपत्तिर्भवति तत्र विप्रलम्भभूयिष्ठत्वादनुमानस्य बलीयः शास्त्रमित्यवश्यमभ्युपगन्तव्यमिति। तच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? शक्तितो विनियोगात्। शक्तिमपेक्ष्य शास्त्रमग्निहोत्रादीनि कर्माणि विदधत् तेषाम-

---

का वचन है—'जरामर्यमेतत् सत्रं यदग्निहोत्रदर्शपौर्णमासौ, जरया ह एतस्मात् सत्राद्विमुच्यते, मृत्युना च' (शावर-भाष्य—२।४।४१) अर्थात् अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास जो यज्ञ है, वह जरा और मृत्युपर्यन्त कर्तव्य है; क्योंकि इस यज्ञ से छुटकारा जरा और मरण से ही हो सकता है। और भी कहा है—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (ईशावा० २) अर्थात् इस संसार में कर्मों को करते हुये ही सौ वर्षों तक जीने की कामना करे। अतः मरणपर्यन्त कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। वैसी स्थिति में हेत्वन्तर से किये जाने वाले कर्म निरर्थक हैं।

सांख्यवादी—मीमांसक का यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म के साधन स्वाभाविक नहीं हैं। अर्थात् पत्नीसंयोगादि अनेक साधनों से यह कर्मविधि सम्पादित होता है। किन्तु इन साधनों के अस्वाभाविक होने से प्रयोग के पूर्व अथवा नियोग के पूर्व इन साधनों का अर्जन करना अशक्य है। यह बात शास्त्रों में कही गयी है। इस-लिये कर्म अनित्य हैं।

मीमांसक—हेतु और शास्त्र में सन्देह होने पर शास्त्र ही बलवान् होता है। अर्थात् जहाँ हेतु और शास्त्र में विप्रतिपत्ति होती है, वहाँ शास्त्र प्रमाण ही बलिष्ठ होता है; क्योंकि अनुमान प्रायः अप्रतिष्ठित होता है। यह बात आपको अवश्य स्वीकार करनी होगी।

सांख्यवादी—उक्त कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि शक्ति से ही कर्म में विनियोग होता है। अर्थात् कर्ता की शक्ति की अपेक्षा करके अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान करने वाला शास्त्र ही उन कर्मों की अनित्यता ज्ञापित करता है।

नित्यतां ज्ञापयति । कथम् ? एवं ह्याह, "योऽलं सन्नग्निहोत्रायाग्निहोत्रं न जुहोति, तमेषा देवताऽपरुद्धाऽपरुणद्ध्यस्माल्लोकादमुष्माच्चोभाभ्याम् ।" तस्मादनित्यानि कर्माणि ।

किञ्चान्यत्, जराग्रहणसामर्थ्यात् । त्वदीय एव ज्ञापके जराग्रहणमस्ति । अतोऽनुमीयते, शक्त्यपेक्षमनित्यं च कर्म । किञ्चान्यत्, शास्त्रहानेः । उभयं हि शास्त्रे निर्दिष्टम्--कर्माणि संन्यासश्च । यदि पुनः कर्माणि नित्यकर्तव्यतयेष्यन्ते, तेन सन्न्यासशास्त्रं हीयते । तस्माद् विषयरागाविष्करणमेतद् वः ।

आह—न, श्रुतिबलीयस्त्वात् । तुल्यबलयोर्हि शास्त्रयोरेकविषयसन्निपाते द्वयोर्युगपदनुग्रहासम्भवे विकल्पपर्यायौ भवतः । श्रुतिस्मृतिसन्निपाते च श्रुतिर्बलीयसी । स्मृतिविहितश्च सन्न्यासः । तस्मान्नानयोर्विकल्पः, नो खल्वपि पर्यायो न्याय्यः ।

प्रश्न— क्यों ?

उत्तर—क्योंकि श्रुति कहती है कि जो समर्थ होकर अग्निहोत्र कर्म नहीं करता है, उसके विग्रह देवता विरुद्ध होकर (तिरस्कृत होकर) इस लोक और उस लोक से अर्थात् उभय लोक से च्युत कर देते हैं। अतः कर्म अनित्य हैं । कर्मों की अनित्यता में और भी कारण है कि उक्त वचन में जराग्रहण किया गया है । अर्थात् कर्मबोधक तुम्हारे ही उक्त वचन 'जरामर्यमेतत्' इत्यादि में जरापद का ग्रहण किया गया है । इससे अनुमान किया जाता है कि कर्म शक्तिसापेक्ष और अनित्य है ।

इसमें और भी कारण हैं; क्योंकि कर्म को नित्य मानने में शास्त्र की हानि हो जायगी । कारण, शास्त्र में दोनों ही निर्दिष्ट हुआ है—कर्म भी और संन्यास भी । यदि कर्म नित्य ही कर्तव्य माने जायँ, तो उससे संन्यासशास्त्र का परित्याग हो जायगा । अतः कर्मविधि को नित्य मानना विषय के प्रति तुम्हारे राग का ही प्रकट करने वाला है, जो दोष है ।

मीमांसक—सांख्यवादी की उक्त युक्ति ठीक नहीं है; क्योंकि श्रुति सर्वाधिक बलवती है । जहाँ पर तुल्य बल वाले दो शास्त्रों(श्रुतियों) की एक विषय में प्रवृत्ति है, वहाँ पर दोनों शास्त्रों का एक साथ स्वीकार करना सम्भव नहीं है,इसलिये वैसी स्थिति में विकल्प और पर्याय को अपनाया जाता है । दोनों में कोई भी श्रुति बाधित नहीं होती;

उच्यते—तदितरत्र तुल्यम् । यथैव कर्मणां समनुष्ठानं शास्ति शास्त्रं तथा संन्यासमपि । कथम् ? एवं ह्याह —

न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां, विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति ॥

तथा—

"कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः ।
अथाऽपरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः ॥"

ब्राह्मणञ्चात्र भवति—

'तद् य इदं विदुः, ये चेमेऽरण्याः श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति । अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः, स एनान् ब्रह्म गमयति' । (छान्दो० ५।१०)

किन्तु एक ही विषय में परस्पर विरोधी श्रुति और स्मृति की प्रवृत्ति होने पर तो श्रुति ही वलवती होकर स्मृति को वाधित कर देती है। यहाँ पर कर्म श्रुतिविहित है और संन्यास स्मृतिविहित है। अतः कर्मानुष्ठान और कर्मसंन्यास में न विकल्प न्यायसंगत है और न पर्याय ही न्यायसंगत है।

सांख्यवादी—उक्त श्रुतिप्रमाण कर्म के अनित्य पक्ष में भी तुल्य है; क्योंकि शास्त्र जैसे कर्मानुष्ठान का विधान करता है, वैसे ही संन्यास का भी विधान करता है; क्योंकि शास्त्र ऐसा कहता है—

'वे न कर्म से, न प्रजा (सन्तति) से, न धन से; किन्तु एकमात्र त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति किये। वह अमृतत्व स्वर्ग से ऊपर गुहा में निहित हो देदीप्यमान है, जिसे यतिलोग प्राप्ति करते हैं'।

कर्म से ऋषि लोग भी मृत्यु को प्राप्त किये जो प्रजावान् होकर द्रव्य की कामना किये; किन्तु दूसरे ज्ञानवान् ऋषिजन कर्म से ऊपर होकर अमृतत्व को प्राप्त किये।

कर्म के संन्यास में ब्राह्मणवचन भी प्रमाण है, जैसे—जो इसे जान लिये हैं तथा जो अरण्यवासी होकर, उसमें श्रद्धा ही तप है-ऐसी उपासना करते हैं, वे अर्चिः (ज्योति) लोक को प्राप्त करते हैं। अर्चिः से दिन को, दिन से शुक्लपक्ष को शुक्लपक्ष से उत्तरायण के मासों को, इन मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा

पुनरप्याह—

'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै पूर्वे विद्वांसः प्रजां नाकामयन्त, प्रजया किं करिष्यामो येषां नायमात्मा नायं लोक इति, ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति' । (बृ० ४।४।२२) तस्मादेतेऽ त्यागसन्न्यासयोरुभयोर्लिङ्गम् ।

आह—यद्यप्येवं शास्त्रं तथापि समनुष्ठाने विधिरस्ति । विहितं चावश्यं कर्तव्यम् । सन्न्यासे त्वर्थवादमात्रमित्यनयोरयं विशेषः । तस्मिन् सति समनुष्ठानं ज्यायो न त्यागः ।

उच्यते—कोऽयं विधिः ? कोऽयमर्थवादः ?

आह—विधिस्तदर्थत्वेनापूर्वोपदेशः । यो हि विध्यर्थेन लिङा लोटा कृत्यैर्वाऽपूर्वोपदेशः क्रियते, स विधिः । यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, वायव्यं श्वेतमजमालभेत भूतिकामः' इति ।

को, चन्द्रमा से विद्युत् को और विद्युत् से अमानव पुरुष इन्हें (उपासकों को) ब्रह्म तक पहुँचा देता है । अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है ।

और भी कहा है—

'इसी (ब्रह्म) को जानकर मुनि होता है । इसी ब्रह्मलोक की कामना करते हुए संन्यासी लोग कर्मों का परित्याग कर देते हैं । इसी हेतु पूर्व के ज्ञानी प्रजा की कामना नहीं किये; क्योंकि प्रजा से हम क्या करेंगे, जिन्हें न यह आत्मा ही प्राप्त हो सकता और न यह ब्रह्मलोक ही प्राप्त हो सकता है । इसीलिये वे विद्वान् पुत्र की कामना, धन की कामना और अन्य लौकिक कामनाओं से भी ऊपर उठकर भिक्षाचर्या को करते हैं ।' इस प्रकार ये शास्त्रवचन कर्मानुष्ठान और संन्यास दोनों में प्रमाण हैं ।

मीमांसक— इस प्रकार यद्यपि कर्म और संन्यास दोनों के बोधक शास्त्र हैं, तथापि कर्म के अनुष्ठान में विधिवाक्य है, तथा विहित का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये; किन्तु संन्यास में कोई विधायक वाक्य नहीं है, केवल अर्थवाद (स्तुतिपरक वाक्य) है । यही दोनों श्रुतियों में अन्तर है । ऐसी स्थिति में कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग में अनुष्ठान ही मुख्य है, त्याग नहीं ।

स्तुतिरर्थवादः। तस्य तु विहितस्य प्ररोचनार्थं या स्तुतिः, सोऽर्थवादः। तद्यथा—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव तेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति' इति। एवंविधां हि श्रुतिमुपश्रुत्य फलार्थिने हि यजमानाय विधिः प्ररोचते, एतस्मिन् हितकामः प्रवर्तत इति।

उच्यते—न, अत एव संन्याससिद्धिः। एवं चेत्मन्यसे, यमाम्नायः श्रेयांसमर्थं मन्यते, तं प्ररोचनाय स्तौति, तथा संन्याससिद्धिः। कस्मात्? स्तुतत्वात्। बहुलार्थिनां संन्यासमाम्नायः स्तौति। स कस्मान्न प्ररोचते? इतरथा ह्यानर्थक्यम्। यदि खल्वप्यर्थवादः स्तुवन्नपि न प्ररोचयेत्, यदुक्तं 'प्ररोचनार्थोऽर्थवाद' इति तद् भवद्भिर्हापितव्यं स्यात्। अनर्थको ह्येवं सत्यर्थवादो न प्ररोचनार्थः। अर्थान्तरवचनं वा। यदि प्ररोचनार्थत्वमस्य नेष्यते, तेन ह्यर्थान्तरं वक्तव्यम्। मा भूदनर्थकत्वं वेदैकदेशस्येति। तस्मान्नानया बिभीषिकया वयं शक्याः सन्मार्गादपनेतुम्।

सांख्यवादी— यह विधि क्या है? और यह अर्थवाद क्या है?

मीमांसक—विध्यर्थ के रूप में अपूर्व का उपदेश करना विधि है। अर्थात् विध्यर्थक लिङ्-लोट् और कृत्यप्रत्ययों के द्वारा जो अपूर्व का उपदेश किया जाता है, वह विधि है। जैसे—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, वायव्यं श्वेतमजमालभेत भूतिकामः' यहाँ लिङ्प्रत्यय के द्वारा अग्निहोत्र होम और श्वेत अज का आलम्भनरूप अपूर्व कर्मों का उपदेश होने से यह विधि है।

एवं स्तुति अर्थवाद है। अर्थात् श्रुति द्वारा विहित कर्म में विशिष्ट रुचि पैदा करने के लिये जो स्तुति की जाती है, वह अर्थवाद है। जैसे—वायु अत्यन्त क्षिप्रकारी देवता है। इसलिये उस यज्ञीय भाग द्वारा वायु की उपासना की जाती है। वही इस उपासक को भूति (ऐश्वर्य) की प्राप्ति कराता है। उपर्युक्त श्रुति को पाकर फलाभिलाषी यजमान के लिये विधि रुचि पैदा करता है कि जो अपना हिताभिलाषी है, वह इस याग में प्रवृत्त होता है।

सांख्यवादी— यह जो कहा कि संन्यासप्रतिपादक श्रुति अर्थवादमात्र है, इसलिये कर्म का त्याग श्रेयस्कर नहीं है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि अर्थवाद के कारण ही संन्यास की श्रेयस्करता सिद्ध हो जाती है। अर्थात् तुम यदि यह मानते हो कि जिसे वेद श्रेष्ठ मानता है, उसमें रुचि पैदा करने के लिये उसकी स्तुति (प्रशंसा) करता है, तब तो कर्मसंन्यास की ही सिद्धि हो गयी; क्योंकि संन्यास की स्तुति वेद में की गयी है।

किञ्चान्यत् । उभयथा विकल्पेऽनिष्टप्रसङ्गात् । इहायमाम्नायो विधेयत्वेन वा संन्यासं स्तूयाद् अविधेयत्वेन वा ? किञ्चातः ? तद्यदि तावद् विधेयत्वेन स्तौति, किमन्यद् विचार्यते ? सिद्धः संन्यासः । अथाविधेयत्वेन, स्तुतावस्य प्रयोजनं कर्तव्यम् । यद्धि कर्तव्यतया नेष्टम्, तद् अपुरुषबुद्धिपूर्वकः स्वतन्त्रः पुरुषनिःश्रेयसार्थं प्रवर्तमान आम्नायः किमिति प्ररोचयेत् ? तस्मादेतामपि कल्पनां कृत्वा कृशमेवैतत् ।

अथवोभयथा विकल्प इत्यस्यायमन्योऽर्थः—इहायमाम्नायो भूतार्थेन वा संन्यासं प्ररोचयेद् अभूतार्थेन वा ? किञ्चातः ? तद्यदि तावद् भूतार्थेन

अर्थात् विशिष्ट अर्थ की कामना करने वाले व्यक्ति के लिये वेद संन्यास की स्तुति करता है। इसलिये संन्यास (कर्मत्याग) में क्यों न रुचि होगी। यदि न हो तो वह वेद निरर्थक हो जायगा। यदि संन्याससम्बन्धी अर्थवाद स्तुति करता हुआ भी उसमें रुचि न पैदा करे तो यह कहना कि 'प्ररोचनार्थोऽर्थवादः' उसे आपको छोड़ना पड़ जायगा। ऐसी स्थिति में अर्थवाद अनर्थक हो जायगा, प्ररोचनार्थ नहीं रह सकेगा।

अथवा प्ररोचना से अतिरिक्त उस अर्थवाद का कोई दूसरा प्रयोजन कहना होगा। अर्थात् इस अर्थवाद को प्ररोचनार्थक नहीं मानने पर इसका दूसरा प्रयोजन बताना चाहिये। ताकि वेद का एकदेश वह अर्थवाद अनर्थक न हो जाय। इसलिये आपकी इस मिथ्या बिभीषिका में हम सन्मार्ग से नहीं हटाये जा सकते।

हमारे पक्ष में अन्य भी युक्ति है। जैसे—दोनों प्रकार के विकल्प में अनिष्ट का प्रसङ्ग हो जाता है। अर्थात् संन्यास की स्तुति (प्रशंसा) करने वाला यह आम्नाय (वेद) विधेय के रूप में संन्यास की स्तुति करेगा अथवा अविधेय के रूप में ?

प्रश्न— इससे क्या हुआ ?

उत्तर— उक्त आम्नाय यदि विधेय के रूप में संन्यास की स्तुति करता है, तो इसमें दूसरा क्या विचार करना है ? संन्यास सिद्ध हो गया। यदि अविधेयरूप में स्तुति करता है, तो ऐसी स्तुति का कोई प्रयोजन होना चाहिये; क्योंकि जो विधेयरूप में आम्नाय को अभिप्रेत नहीं है, उसकी प्ररोचना वह आम्नाय क्यों करेगा ? जो किसी पुरुषविशेष की बुद्धि से निर्मित न होने से सर्वथा स्वतन्त्र है और पुरुष के निःश्रेयससाधन के लिये ही प्रवृत्त हुआ है। इसलिये संन्यासप्रतिपादक श्रुतिवाक्य के स्तुतिपरक होने की कल्पना करके भी तुम्हारा पक्ष दुर्बल ही है। अर्थात् जैसे यागादि कर्म श्रुति-सिद्ध है, वैसे ही कर्म का त्याग भी श्रुति-सिद्ध है।

प्ररोचयति, तथा सत्यमृतत्वप्रापकस्य संन्यासस्यापरिग्रहे विषयरागादन्यो हेतुर्वक्तव्यः। अयथाभूतार्थेन, पुरुषो निःश्रेयसाद्धीयते। कस्मात्? न ह्येतद् युक्तं यदश्रेयसि मार्गे प्रमाणभूत आम्नायो मातृमोदकन्यायेन हितार्थिनः प्राणिनः प्रतारयेत्। तस्मादयुक्तमेतत्।

किञ्चान्यत्, अनेकान्तात्। न चायमेकान्तो यद् विहितमेव कर्तव्यम्। तथा च शाबराः पठन्ति—'ग्रामगमनं भवतः शोभनम्' इत्यत्रान्तरेण विधिं स्तुतिरेव देवदत्तं ग्रामगमनाय प्ररोचयति इति।

किञ्चान्यत्, आशङ्काप्रसङ्गात्। यदि खल्वपि किञ्चित् सत्यं किञ्चिदनृतं ब्रूयाद् वेदः, तथा सति पौरुषेयवाक्यवद् वेदवाक्येष्वपि आशङ्का प्रसज्येत। तथा च सति यदुक्तमेव प्रसङ्गः। अनिष्टं चैतत्।

अथवा 'उभयथा विकल्पे' इसका यह दूसरा अर्थ है कि यहाँ यह संन्यास का प्रशंसक वचन यथार्थ रूप से संन्यास के प्रति आकृष्ट करेगा या अयथार्थ रूप से।

प्रश्न— इससे क्या हुआ?

उत्तर— यदि यथार्थरूप से आकृष्ट करता है, तो वैसी स्थिति में अमृतत्व को प्राप्त कराने वाले संन्यास को स्वीकार न करने में विषय के प्रति राग ही कारण होगा। अन्यथा विषयराग से अन्य कोई हेतु बताना होगा। यदि उक्त अर्थवाद-वचन अयथार्थरूप में संन्यास के प्रति आकृष्ट करता है तो पुरुष निःश्रेयस से वञ्चित किया जा रहा है; क्योंकि यह उचित नहीं है कि जो संन्यासमार्ग कल्याणकारक नहीं है, उसमें प्रमाणभूत आम्नाय मातृमोदकन्याय से प्रवृत्त कराकर इष्ट (कल्याण) चाहने वाले प्राणियों को ठगे। इसलिये मीमांसक का उक्त अभिप्राय युक्त नहीं है।

मीमांसक के अभिप्राय के अयुक्त होने में अन्य भी कारण है कि उक्त नियम व्यभिचरित है। अर्थात् यह नियम ऐकान्तिक नहीं है कि विहित का ही अनुष्ठान करना चाहिये। इसीलिये आचार्य शाबर कहते हैं—'ग्रामगमनं भवतः शोभनम्' इस वाक्य में विधि प्रत्यय न होने पर भी स्तुति (अर्थवाद) ही देवदत्त को ग्रामगमन के लिये आकृष्ट करती है। और भी हेतु है। जैसे—वेदवाक्यों में आशङ्का की प्रसक्ति हो जायगी। अर्थात् यदि वेद कुछ विषय सत्य कहे और कुछ असत्य कहे तो वैसी स्थिति में पौरुषेय वाक्यों की तरह वेदवाक्यों में भी असत्य अर्थ की आशङ्का होने लगेगी। वैसा होने पर यह जो कहा कि 'अवान्तरश्रुतौ भक्तिः सहसैव महात्मनाम्' इसमें व्याघात होने लगेगा; किन्तु यह अनिष्ट है।

किञ्च, विध्यनुमानं वा तत्, एवमेकदेशभूतत्वात् । अथवा विध्येकदेशोऽर्थवाद इत्यतिसृष्टं भवता । तत्र सन्न्यासेऽर्थवादमुपलभ्य विधिरप्यस्तीति अनुमातव्यम् । अनुपलम्भाददोष इति चेत्, स्याच्चैवं यद्यसौ विधिरुपलभ्यते । तस्मादनुपलम्भादयं दोषान्निर्वर्तिष्यत इति । एतच्चानुपपन्नम् । कस्मात् ! अनेकभेदत्वात् । उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् । अनेकभेदो हि प्रतिवेदमाम्नायः, तत्र यदुक्तं विधिसद्भावात् क्रियाप्राधान्यमित्येतदप्ययुक्तम् ।

इतिकर्तव्यतानुपदेशात् संन्यासानुपपत्तिरिति चेत्—अथापि स्यात्, यदि सन्न्यासमप्याम्नायो विधेयं मन्येत तेन यथा गार्हस्थ्यस्येतिकर्तव्यतां भार्योद्वहनादिकां मन्त्रवदुपदिशति तथा संन्यासमप्युपदिशेत्, न तूपदिष्टवान् । तस्मान्नास्ति सन्न्यास इति ।

अथवा संन्याससम्बन्धी अर्थवादवाक्य संन्यासविषयक विधिवचन का अनुमापक होगा; क्योंकि यह विधि का एकदेशभूत है । अर्थात् विधि का ही एकदेश अर्थवाद होता है, ऐसा आपने (मीमांसक ने) ही व्यवस्थित किया है । इसलिये संन्यास के विषय में अर्थवाद को पाकर—इससे सम्बद्ध विधि भी होगी—ऐसा अनुमान कर लेना चाहिये ।

यदि कहा जाय कि—यहाँ विधि की उपलब्धि न होने से मीमांसकमत में कोई दोष नहीं है । अर्थात् ऐसा तब होता यदि संन्यासविषयक विधि उपलब्ध होती, अतः विधि के अनुपलम्भ से मीमांसक सर्वथा दोष से निवृत्त हो जायगा । तो यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि अनेक प्रकार के वचन हैं । उनमें विधि को प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिये । कारण, प्रत्येक वेद में अनेक प्रकार के वचन भरे पड़े हैं । मीमांसा में यह जो कहा कि—विधि के सद्भाव में क्रिया की प्रधानता होती है, संन्यास (क्रियात्याग) की नहीं—यह भी इसी कारण अयुक्त है कि वेद में अनेक प्रकार के वचन हैं । अर्थात् अन्य विधियों में भले ही क्रिया की प्रधानता हो; किन्तु संन्यासविधि में तो त्याग की ही प्रधानता रहेगी, न कि क्रिया की ।

यदि कहो कि 'इतिकर्तव्यता का उपदेश न होने से संन्यास अनुपपन्न है । अर्थात् ऐसा भी कहा जा सकता है कि—यदि संन्यास को भी आम्नाय अपना विधेय मानता तो जैसे गार्हस्थ्य के विधान के साथ ही भार्या के साथ विवाह आदि इतिकर्तव्यता का उपदेश मन्त्र की तरह आम्नाय करता है, वैसे संन्यास का भी उपदेश इसकी इतिकर्तव्यता के साथ करता; किन्तु वैसा नहीं किया । इसलिये आम्नाय द्वारा

एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? अभावाद्, इतिकर्तव्यतानां हि सर्वासामभावः संन्यासः । तत्र किं शास्त्रमुपदेक्ष्यति ? यावती खल्वितिकर्तव्युता संन्यासाङ्गं, तामुपदिशति शास्त्रम् ।

कथम् ? एवं स्यात्—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्ति अरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजसः प्रयान्ति, यत्रामृतः स पुरुषोऽव्ययात्मा ।।
(मु० १।२।११)

तत्र तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्तीत्यनेन श्रद्धयोपेतं यमनियमलक्षणं धर्ममाह । अरण्य इति गृहेभ्यो विनिःसृतिम् । शान्ता इतीन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च विषयाभिलाषाद् विनिवर्तनम् । विद्वांमिति पूर्वरात्रापररात्रादिषु कालेष्वनिर्विण्णस्य योगिनो ज्ञानाभ्यासम् । भैक्षचर्यां चरन्त इति शरीरस्थितिनिमित्तं परिमितमभ्यवहारनियोगम् । उत्तरार्धेन च फलमाचष्टे । तन्निबन्धनश्च विस्तरः संन्यासेतिकर्तव्यतायां मन्वादिभिरभिहितः ।

संन्यास विहित नहीं है' । तो यहाँ यह तर्क भी ठीक नहीं है; क्योंकि संन्यास अभावात्मक है । अर्थात् सभी इतिकर्तव्यताओं का अभाव ही संन्यास है । अतः उसके विषय में शास्त्र क्या उपदेश देगा ? फिर भी जितनी इतिकर्तव्यता संन्यास का अङ्ग है, उसका उपदेश शास्त्र करता ही है ।

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर— शास्त्र यों कहता है—तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये " इत्यादि ।

यहाँ पर 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्ति' इसके द्वारा श्रद्धापूर्वक यह नियमरूप धर्म संन्यासी के लिये कहा गया है । 'अरण्ये' इसके द्वारा गृह से निकल जाने की बात कही गयी है, 'शान्ताः' इसके द्वारा इन्द्रियों एवं अन्तःकरण की विषयाभिलाषासे निवृत्ति कही गयी है । 'विद्वांसः' इसके द्वारा पूर्वरात्र एवं अपररात्र आदि कालों में योगी के लिये उद्वेगरहित होकर ज्ञानाभ्यास करने को कहा गया है । 'भैक्षचर्यां चरन्तः' इसके द्वारा शरीरधारणमात्र के लिये अपेक्षित परिमित आहार का विधान किया गया है । एवं उक्त मन्त्र के उत्तरार्द्ध द्वारा इसका फल बताया गया है ।

श्रुतिप्रतिपादित इन इतिकर्तव्यताओं के आधार पर ही मनु-प्रभृति ऋषियों ने संन्यास से सम्बद्ध इतिकर्तव्यता का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है । श्रुत्यर्थ का

श्रुतिनिर्वचनाच्च स्मृतयो भवतां प्रमाणमिति पक्षः। तत्र यदुक्तमिति-कर्तव्यतानुपदेशान्नास्ति संन्यास इत्येतदयुक्तम्। एवं च न नित्यानि कर्माणि।

यस्त्वनेनैवुक्तमानुश्रविको हेतुरनैकान्तिक इति, सत्यमेतत्। अवश्यं हि कर्मणः फलमभ्युपगन्तव्यम्। इतरथा हि तन्निमित्तस्य संसारस्याभावा-दनिष्टप्रसङ्गः। तस्मादनिष्टमेवैतदाचार्यस्य। आह—कथमेतदनुमातव्य-मिति ? उच्यते—क्षयग्रहणसामर्थ्यात्। यदि पूर्वसूत्रोक्तमिहानुवर्तते क्षय-

---

विवेचन करने के कारण हो स्मृतियाँ प्रमाण हैं, यह आपकी मान्यता है। अतः यह जो आपने कहा कि 'संन्याससम्बन्धो इतिकर्तव्यता का उपदेश श्रुति में नहीं होने से आम्नाय का विधेय मंन्यास नहीं है' यह अयुक्त है।

इस प्रकार सिद्ध है कि कर्म नित्य नहीं हैं।

आचार्य ने जो यह कहा कि दुःखापघात के प्रति आनुश्रविक (वैदिक कर्म-कलाप) हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचरित) है—यह सत्य ही है; क्योंकि कर्म का फल अवश्य ही प्राप्त होता है, यह स्वीकार करना हो होगा। अन्यथा कर्म से होने वाले संसार का अभाव हो जायगा, जो अनिष्ट है। इसलिये दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के प्रति वैदिक कर्मकलाप को हेतु मानना आचार्य को सर्वथा इष्ट नहीं है।

प्रश्न— यह कैसे अनुमान किया जाय कि वैदिक कर्म आचार्य को अभिप्रेत नहीं है।

उत्तर— आचार्य ने सूत्र में क्षयपद का ग्रहण किया है, उसी सामर्थ्य से उक्त अनुमान करना चाहिये। अर्थात् पूर्वसूत्र में कथित की ही यहाँ भी अनुवृत्ति हो तो क्षयग्रहण निरर्थक हो जायगा; क्योंकि अत्यन्ताभाव और क्षय दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं। तात्पर्य यह है कि 'दृष्टे साऽपार्था चेत्' इत्यादि पूर्व सूत्र में लौकिक उपाय को ही दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के प्रति अनैकान्तिक और अनात्यन्तिक कहा गया है। वैदिक कर्मकलाप को अनैकान्तिक नहीं कहा गया है। अतः यदि यहाँ भो उसी का अनुसरण करना होता तो आचार्य उसे क्षयशील क्यों बताते। क्षयपद का अर्थ अत्यन्ताभाव है। अतः वैदिक कर्मकलापजन्य पुण्य से प्राप्त स्वर्गादि फल पुण्य के क्षीण हो जाने पर स्वयं भी विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार क्षयपद के सामर्थ्य से सूचित होता है कि वैदिक कर्मकलाप से जन्य जो पुण्य स्वयं विनष्ट हो जाता है, वह दुःख का आत्यन्तिक निवर्तक कैसे होगा ?

ग्रहणम् अनर्थकं स्यात् । कस्मात् ? अत्यन्ताभावपर्यायो हि क्षय इति कृत्वा । एवं सिद्धोऽविशुद्धियोगः ।

आह—क्षययोग इदानीं कथमनुमातव्य इति ? उच्यते—'क्षययोगोऽङ्गपरिमाणात् ।' क्षययोगः पुनरस्य हेतोरङ्गपरिमाणाद् वेदितव्यः । यानि हि यजेरङ्गानि पशुपुरोडाशादीनि, तानि परिमितानि । परिमितानां साधनानां तन्त्वादीनां परिमितं कार्यं पटादि दृष्टम् । परिमितं क्षयधर्मि दृष्टम् । तद्वदेव ।

किञ्चान्यत्, संसारोपलम्भात् । दृश्यते चायं वाग्बुद्धिस्वभावाहार-विहारभेदभिन्नकर्मवैचित्र्यनिमित्तः संसारः । यदि पुनः साक्षात् कृतं कर्माक्षयफलं स्यात्, स पुनरावृत्त्यभावात् प्राणिनां नोपलभ्येत ।

शब्दसामर्थ्यान्नित्यत्वमिति चेत्, स्यादेतत्, शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह, तस्माकं प्रमाणम् । स चास्य हेतोरमृतत्वमाह'—'तरति

अतः आनुश्रविक कर्मकलाप में भी अविशुद्धि का योग सिद्ध हो गया । साथ ही यह भी सिद्ध हो गया कि लौकिक उपाय के समान ही वैदिक कर्मकलाप भी दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के प्रति असमर्थ हैं ।

प्रश्न— वैदिक कर्मकलाप में क्षय के योग का अनुमान कैसे करना होगा ?

उत्तर—क्षययोग का अनुमान अङ्गों के परिमाण से होगा, अर्थात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के प्रति हेतुरूप में स्वीकृत आनुश्रविक कर्मकलाप क्षयशील है, ऐसा जानना चाहिये; क्योंकि उसे सम्पादित करने वाले अङ्ग परिमित हैं । जो भी यज्ञ के अङ्ग हैं—पशु पुरोडाश आदि, वे सभी परिमित (सीमित) हैं । तन्तु आदि परिमित साधनों का कार्य पट आदि भी परिमित ही देखा गया है । और जो परिमित होता है, वह क्षयशील देखा गया है । वैसे ही कर्मकलाप को भी परिमित साधन वाला होने के कारण क्षयशील जान लेना चाहिये । इस प्रकार स्वयं क्षयशील होने के कारण वैदिक कर्मकाण्ड दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का हेतु नहीं बन सकता है ।

अन्य भी प्रमाण वैदिक कर्म की अनित्यता में है कि संसार की उपलब्धि होती है । अर्थात् वाक्-बुद्धि-स्वभाव-आहार-विहार के भेद से कर्म में भेद होता है और कर्म की विचित्रता के कारण ही यह संसार देखा जा रहा है । यदि किया गया कर्म ही साक्षात् अक्षय फल देने वाला होता तो यहां प्राणियों की पुनरावृत्ति न होने से संसार नहीं दिखाई पड़ता ।

मृत्युम्, तरति पाप्मानमि'त्यादि। तस्मादनिच्छताप्येतदवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। अनभ्युपगमे वा प्रतिज्ञाहानिः 'वेदः प्रमाणमि'ति।

एतच्च नैवम्, कस्मात्? शब्दान्तरेण विरोधात्। अनित्यत्वमस्य हेतोः शब्दोऽनुमन्यते। तस्यैवं सति विरोधः प्राप्नोति। कथम्? एवं ह्याह— "अथ ये इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति। अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्। वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिला माषा इति जायन्ते। अतो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति स भूय एव भवतीति।" (छां० उ० ५।१०।३-६) तत्र यदुक्तं शब्दसामर्थ्यान्नित्यत्वमित्येतदयुक्तम्।

आशङ्का— शब्द-प्रमाण के सामर्थ्य से कर्म नित्य हैं, अर्थात् हम शब्दप्रमाण के मानने वाले हैं। इसलिये जिसे शब्द कहता है, वह हमारे लिये प्रमाण है और वह शब्द-प्रमाण दुःखनिवृत्ति के हेतुभूत कर्मकलाप को अमृतत्त्व प्रदान करने वाला बताता है। जैसे 'तरति मृत्युम्' तरति पाप्मानम्' इत्यादि। इसलिये नहीं चाहने पर भी सांख्यवादी को इसे अवश्य स्वीकार करना होगा। यदि नहीं स्वीकार करे तो 'वेद प्रमाण है' यह उसकी प्रतिज्ञा व्याहत हो जायगी।

समाधान— मीमांसक की उक्त आशङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि अन्य शब्द-प्रमाण से विरोध है। अर्थात् दूसरा शब्द-प्रमाण आनुश्रविक कर्मरूप हेतु को अनित्य बताता है। कर्म को नित्य मानने पर उसका विरोध उपस्थित हो जाता है।

प्रश्न— कैसे?

उत्तर— वेद ऐसा कहता है—'अथ ये इमे ग्रामे स भूय एव भवतीति' अर्थात् जो ग्राम में रहकर इष्ट (अग्निहोत्रादि वैदिककर्म), वापी कूप तड़ाग आराम आदि पूर्त तथा यथाशक्ति दान करता है, वह धूमाभिमानी देवता को प्राप्त करता है। पुनः वह इसी मार्ग को वापस आता है, जैसे गया था। वह आकाश को प्राप्त करता है, आकाश से वायु को प्राप्त करता है। वायु होकर धूम होता है। धूम होकर अभ्र होता है, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर पानी के रूप में बरसता है। अनन्तर वे ब्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल, माष इत्यादि होते हैं। जो अन्न को खाता है और रेतः का सेचन करता है, वह पुनः जन्म ग्रहण करता है।

उभयथाभिधानाच्छास्त्रविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, स्यान्मतम्--तदेव शास्त्रं नित्यत्वमाह, तदेवानित्यत्वम् । एवं सति परस्परविरोधिनोरर्थयोश्चोदितत्वाद् उभयानुग्रहासंभवे सति शास्त्रविरोधप्रसङ्ग इति ।

तच्च नैवम्, कस्मात् ? असंभवे सत्यर्थान्तरक्लृप्तेः । यत्र हि प्रमाणभूता श्रुतिरसंभविनमर्थं चोदयति, तत्रार्थान्तरं कल्पयति । तद्यथा—'स आत्मनो वपामुदखिदत्', 'स्तेनं मनः', 'अनृतवादिनी वाक्' इत्येवमादिषु । एवमिहापि नास्ति संभवो यदेकोऽर्थो नित्यश्च स्यादनित्यश्चेति । तस्मान्नित्यत्ववाचकस्य शास्त्रान्तरस्य भक्त्याऽर्थान्तरं परिकल्पयिष्यामः ।

तद्वदितरत्रापीति चेत्, स्यान्मतम्—यथैव भवता नित्यानित्ययोरेकत्रासंभवान्नित्यत्वस्य भक्त्या कल्पना कृता तथैवानित्यत्वस्यापि करिष्यत इति ।

इसलिये यह जो कहा कि 'शब्द-प्रमाण के सामर्थ्य से कर्म नित्य हैं' वह अयुक्त है । अर्थात् सर्वथा कर्म और कर्मजन्य फल अनित्य हैं ।

मीमांसक — दोनों प्रकार का अभिधान होने से शास्त्र में विरोध की प्रसक्ति हो जायगी । अर्थात् वही शास्त्र कर्म में नित्यत्व कहता है और वही अनित्यत्व भी कहता है । ऐसी स्थिति में परस्पर विरोधी अर्थों का विधान करने के कारण दोनों का अनुरोध सम्भव नहीं होने से शास्त्र में विरोध का प्रसङ्ग हो जाता है ।

सिद्धान्ती—मीमांसक का उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि जहाँ पर उभय का अनुरोध असंभव हो, वहाँ अर्थान्तर की कल्पना की जाती है । अर्थात् जहाँ पर प्रमाणभूत श्रुति असंभव अर्थ का विधान करती है, वहाँ अर्थान्तर की कल्पना करा देती है । जैसे—'स आत्मनो वपामुदखिदत्, स्तेनं मनः, अमृतवादिनी वाक्' इत्यादि प्रसङ्गों में हुआ है । वैसे ही यहाँ भी यह संभव नहीं है कि एक ही अर्थ नित्य भी हो और अनित्य भी हो । इसलिये कर्म को नित्य बताने वाले अन्य शास्त्र के अर्थान्तर की कल्पना हम लक्षणा द्वारा कर लेंगे ।

शङ्का—कर्म में नित्यत्वबोधक शास्त्र के समान अनित्यत्वबोधक शास्त्र में भी लक्षणा की कल्पना की जा सकती है । अर्थात् जैसे आप नित्यत्व और अनित्यत्त्व के एक जगह नहीं रह सकने के कारण कर्म में नित्यत्व की कल्पना लाक्षणिक मानते हो वास्तविक नहीं, वैसे ही हम अनित्यत्त्व की भी लाक्षणिक कल्पना करेंगे । अर्थात् कर्म का अनित्यत्व वास्तविक नहीं है ।

एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? सर्वप्रमाणविरोधप्रसङ्गात् । विनाशो हि भक्त्या कल्प्यमाने सर्वप्रमाणविरोधः प्रसज्येत । कथम् ? प्रत्यक्षविरोधस्तावत् संसारोपलम्भात् । अनुमानविरोधः, अङ्गपरिमाणे सत्यङ्गिनो नित्यत्वानुपपत्तेः । शब्दविरोधः, ते धूममभिसंभवन्तीति वचनात् । न तु नित्यत्वे भक्त्या कल्प्यमाने दोषोऽयमुपपद्यते । तस्माद् विषममेतत् ।

आह—कथमिदानीं भक्त्या कल्पयितव्यं शास्त्रमिति ? उच्यते—प्रकृष्टार्थतया । यथा खल्वप्यमृतं वा मृतमतिजीवो मा ते ह्रासिषुरसवः शरीरमित्यभिधीयते । न च प्राणिनामत्यन्तायासवो जहति, किन्तर्हि ? प्रकृष्टं कालम् । एवमिहाप्युच्यते 'तरति मृत्युम्' इति । नात्यन्ताय

उत्तर— मीमांसक की उक्त कल्पना अयुक्त है; क्योंकि अनित्यत्व को लाक्षणिक मानने पर सभी प्रमाणों के साथ विरोध की प्रसक्ति हो जायगी । अर्थात् लक्षणा द्वारा अनित्यत्व की कल्पना करने पर सभी प्रमाणों के साथ विरोध की प्रसक्ति हो जायगी ।

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर— प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध तो संसार की उपलब्धि से होता है । अर्थात् कर्म यदि वास्तविक नित्य और लाक्षणिक अनित्य हो तो संसार की उपलब्धि न होती । अनुमान-प्रमाण के साथ विरोध इसलिये होगा कि साधनों के परिमित होने की स्थिति में अङ्गी कर्म में नित्यत्व नहीं बन सकता है । कर्मनित्यत्व का शब्दप्रमाण से विरोध तो 'ते धूममभिसम्भवन्ति' इस वचन से सिद्ध है । अर्थात् कर्म यदि नित्य होता तो जिस कर्म के बदौलत सभी प्राणी ऊपर जाता है, उसके नित्य होने से प्राणी को फिर जन्म ग्रहण नहीं करना चाहिये; किन्तु उक्त श्रुति स्पष्टरूप से पुनः जन्म-ग्रहण का प्रतिपादन करती है । इससे कर्म का अनित्यत्व सिद्ध है ।

किन्तु नित्यत्व-प्रतिपादक श्रुति को भाक्त (लाक्षणिक या गौण) मानने पर प्रमाणों से विरोधरूप उक्त दोष नहीं आता है । इसलिये हमारी युक्ति के साथ आपकी उक्त युक्ति में कोई समानता नहीं है । अतः आप द्वारा किया गया यह विषम उपन्यास है ।

प्रश्न— यहाँ पर नित्यत्वप्रतिपादक शास्त्र में लाक्षणिकता की कल्पना क्यों की जाय ?

उत्तर—प्रकृष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण लक्षणा की कल्पना की जानी चाहिये । जैसे अमृत (अमरत्व) को, वैसे मृत (मृत्यु) को भी अतिक्रान्त प्राणी है,

मृत्युं तरति, किन्तु प्रकृष्टं कालम् । उपचर्यंते हि लोके प्रकृष्टे नित्य-शब्दः, तद्यथा नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति । एवं सिद्धः क्षययोगः ।

आह—अतिशययोग इदानीमस्य हेतोः कथमनुमातव्य इति ? उच्यते—अतिशययोगः क्रियाभ्यासात् । यत्र हि क्रिया सकृत् प्रवर्तते यत्र चासकृदावर्तते तत्रातिशयो दृष्टः तद्यथा कृष्यादिषु । यज्ञे च द्रव्योपादानशक्त्यपेक्षा, क्वचित् सकृदेव प्रवृत्तिः, क्वचित् पुनः पुनरावृत्तिः । तस्मादतिशयेन भवितव्यम् ।

किञ्चान्यत्, अङ्गातिशयात् । इहाङ्गानामतिशयादङ्गिनोऽपि घटादेरतिशयो दृष्टः । अस्ति चायं प्रतियज्ञमङ्गानां दक्षिणादीनामतिशयः । तस्मादत्राप्यतिशयेन भवितव्यम् । देवताङ्गभावगमनात् क्षयातिशयानुपपत्तिरिति चेत्,अथापि स्यात्, यो हि यज्ञे द्रव्यमात्रस्य साधनभावमनुमन्यते

ऐसा कहा जाता है। उभय पक्ष में प्राण शरीर को नहीं त्यागते हैं। मृत्यु पक्ष में यद्यपि प्राण शरीर को छोड़ते ही हैं, तथापि उपयुक्त ओषधि आदि के प्रयोग से आत्यन्तिकरूप से नहीं छोड़ते हैं; किन्तु प्रकृष्ट काल तक के लिये नहीं छोड़ते हैं, अर्थात् शरीर में स्थित रहते हैं।

ऐसे ही यहाँ अमृतत्व पक्ष में भी कहा जाता है कि 'कर्म से मृत्यु को पार कर जाता हैं'। अर्थात् यहाँ सदा के लिये मृत्यु को नहीं पार करता है; किन्तु प्रकृष्ट काल (चिरकाल) तक के लिये मृत्यु नहीं होती (अमर रहता है), यह अभिप्राय है। लोक में प्रकृष्ट अर्थ में नित्य शब्द का लाक्षणिक प्रयोग होता है। जैसे अधिक काल तक हँसने वाले को 'नित्यप्रहसित' शब्द से तथा अधिक काल तक बोलने वाले को 'नित्यप्रजल्पित' शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार वैदिक कर्मकलाप में भी क्षय का योग सिद्ध है। अर्थात् कर्म अनित्य है और अनित्यफलक है।

प्रश्न—आनुश्रविक कर्मरूप दुःखनिवर्तक हेतु में अतिशय का योग है, इसका अनुमान कैसे होगा ?

उत्तर—कर्म में अतिशय योग का अनुमान क्रिया के अभ्यास से होगा; क्योंकि जहाँ एक ही बार क्रिया होती है और जहाँ अनेक बार क्रिया की आवृत्ति होती है, वहां अतिशय देखा जाता है, जैसे कृषि आदि में। यज्ञ में तो द्रव्य के उपादान की शक्ति की अपेक्षा करती हुई कहीं एक ही बार क्रिया की प्रवृत्ति होती है और कहीं बार-बार उसकी आवृत्ति होती है। इसलिये वहाँ अवश्य ही अतिशय होना चाहिये। और भी,कर्म में अतिशय योग का अनुमान अङ्गातिशय से भी होगा। लोक में अङ्गों

तं प्रति क्षयातिशयदोषावपरिहार्यौ स्याताम् । वयन्तु द्रव्यसमवायिनीं देवतां क्रतावङ्गभावमुपगच्छन्तीं विद्मः । तस्माददोषोऽयमिति ।

तच्चानुपपन्नम् । कस्मात् ? साध्यत्वात्, देवतानामपरिमितत्वं साध्यम् । तदङ्गभावगमनाच्च दोषाभावः, न चात्मक्रियाङ्गत्वमुदासीनत्वाद् इति नः सिद्धान्तः । तस्मादयुक्तमेतत् ।

उपेत्य वा क्रतुसमनुष्ठानानर्थक्यप्रसङ्गात् । यदि द्रव्यसमवायिनीं देवतामुपलभ्य तदङ्गभावगमनादक्षयो निरतिशयश्च हेतुरवाप्यते (रवगम्यते) इतीष्टं वः, तेन तर्हि यद्वा तद्वा वेदोक्तं कर्म कृत्वा शक्योऽवाप्तुमर्थः । किं प्राणिविनाशहेतुभिः क्रतुभिः ? कथम् ? नहि किञ्चित् कर्म विद्यते यत्र शरीरस्याङ्गभावो न स्यात् । सर्वदेवतामयं च शरीरम् । यस्मादाह—तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन् देवताः शरीरेऽधि-

---

में अतिशय होने पर अङ्गी घटादि में भी अतिशय देखा गया है । यहाँ वैदिक कर्म में भी प्रतियज्ञ दक्षिणा आदि अङ्गों का अतिशय होता है, इसलिये वैदिक कर्मों में भी अतिशय को होना चाहिये ।

शङ्का— देवता को हम यज्ञ का अङ्ग मानते है, इसलिये वैदिक कर्म में क्षय और अतिशय नहीं बन सकेगा । अर्थात् जो यज्ञ में द्रव्यमात्र को साधन मानते हैं, उनके प्रति क्षय और अतिशय दोष अनिवार्य हो सकते हैं । हम द्रव्यसमवेत देवता को क्रतु में अङ्ग के रूप में मानते हैं इसलिये हमारे प्रति (मीमांसक के प्रति) क्षय-अतिशय दोष नहीं है; क्योंकि देवता अपरिमित हैं ।

उत्तर—मीमांसक का उक्त कथन युक्त नहीं है; क्योंकि देवता का अङ्गत्व साध्यकोटि में है, सिद्ध नहीं है । अर्थात् द्रव्याभिमानी देवता ही यज्ञ का अङ्ग है और वह अपरिमित है, यही अभी असिद्ध है । एवं, देवता के यज्ञ का अङ्ग होने पर क्षयातिशय दोष का अभाव हो सकता है; किन्तु आत्मा क्रिया का अङ्ग ही नहीं है; क्योंकि वह सर्वथा उदासीन है, यह हमारा सिद्धान्त है । अतः मीमांसक का उक्त तर्क अनुपपन्न है । अथवा (द्रव्यसमवायिनी) देवता को यज्ञ का अङ्ग स्वीकार करने पर क्रतु (यज्ञ) का अनुष्ठान निरर्थक होने लगेगा । अर्थात् 'यदि द्रव्यसमवायिनी देवता को पाकर उसके यज्ञ का अङ्ग होने के कारण वैदिक कर्म दुःख की आत्यन्तिक-निवृत्ति के प्रति अक्षय एवं निरतिशय हेतु प्राप्त हो जाता है' यह आपको इष्ट हो, तो वैसी स्थिति में जिस किसी वेदोक्त कर्म को करके अपना अभीष्ट प्रयोजन प्राप्त किया जा सकता है । फिर प्राणियों के विनाश के हेतुभूत यज्ञों की क्या आवश्यकता है ?

समाहिताः । तत्र यदुक्तं 'देवताङ्गभावगमनात् क्षयातिशयानुपपत्तिरित्येतदयुक्तम् । एवमयं हेतुस्त्रिदोषः । तेन यः फलविशेषोऽभिनिर्वर्त्स्यते, सोऽपि तथाजातीयक इति शक्यमनुमातुम् । तस्मान्नास्य जिज्ञासोरत्र समाधिः ।

आह—यदि नायं श्रेयानिति कृत्वाऽस्य जिज्ञासोर्नायं समाधिः, तेन तर्हि यः श्रेयान् फलविशेषः, स उपदेष्टव्य इति ।

उच्यते—

'तद्विपरीतः श्रेयान्' ।

तदित्यनेन कर्मविधिनिष्पादितस्य स्वर्गप्राप्तिलक्षणस्य फलस्याभिसम्बन्धः । तस्माद् विपरीतः शुद्धोऽक्षयो निरतिशय इत्यर्थः । कोऽसावित्युच्यते—मोक्षः श्रेयान् ।

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर— कोई भी ऐसा कर्म नहीं है, जिसमें शरीर अङ्ग न हो। और शरीर को सर्वदेवतामय माना गया है; क्योंकि कहा है—'तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते सर्वा ह्यस्मिन् देवताः शरीरेऽधिसमाहिताः।' अर्थात् विद्वान् (ज्ञानी) जन पुरुष को यह ब्रह्म है, ऐसा मानते हैं, क्योंकि सभी देवता शरीर में समाविष्ट हैं।

इसलिये यह जो कहा कि 'देवता को यज्ञ का अङ्ग मानने से कर्म में क्षयातिशय दोष अनुपपन्न है।' वह युक्त नहीं है। इस प्रकार यह आनुश्रविक कर्मरूप हेतु अविशुद्धि-क्षय और अतिशयरूप त्रिदोष से युक्त है। उससे जो फल निष्पन्न होगा, वह भी उसी प्रकार त्रिदोषग्रस्त होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। इसलिये जिज्ञासु व्यक्ति का मनःसमाधान आनुश्रविक कर्मकलाप में नहीं है।

पूर्वपक्षी—वैदिक कर्मकलाप श्रेयस्कर नहीं है, इसलिये यदि जिज्ञासु जन की मनोवृत्ति इसमें नहीं जमती है तो वैसी स्थिति में जो फलविशेष श्रेष्ठ है, उसका उपदेश सांख्यवादी को करना चाहिये। अर्थात् वैदिक कर्मानुष्ठानजन्य स्वर्गादि फल श्रेष्ठ नहीं है, इसलिए उससे श्रेष्ठ फल क्या है, इसे बताना चाहिए।

सांख्यवादी—स्वर्गफल से विपरीत जो फलविशेष है, वही श्रेष्ठ है। 'तद्विपरीतः श्रेयान्' इस सूत्र में 'तत्' पद से कर्मानुष्ठान से निष्पादित स्वर्गप्राप्तिरूप फल का सम्बन्ध है। अतः स्वर्गफल से विपरीत अर्थात् शुद्ध अक्षय और निरतिशय जो फल है, वह यहाँ विवक्षित है। प्रश्न—ऐसा कौन सा फलविशेष है ? उत्तर—मोक्ष अर्थात् अपवर्ग ही वह फलविशेष है, जो स्वर्ग से श्रेष्ठ है।

एतदुक्तं भवति—उभावप्येतौ प्रशस्यौ स्वर्गापवर्गौ, आम्नायविहितत्वात् । मोक्षस्तु प्रशस्यतरः । कस्मात् ? यथोक्तदोषानुपपत्तेः । स ह्यवश्यं भावित्वादैकान्तिकः, अतीन्द्रियत्वादसंवेद्यः, स्वात्मन्यवस्थितत्वाल्लघुः सर्वत्र सन्निहितश्च । आम्नायस्तुतत्वात् प्रशस्तः, सद्भिरासेवितत्वादनिन्दितः, यमनियमवैराग्यज्ञानाभ्युपायशुद्धेर्विशुद्धः, अद्रव्यत्वादक्षयो निरतिशयश्च ।

आह—कथं पुनरयमपवर्गः प्राप्यत इति ?

उच्यते—संयोगाभावात् । दुःखं च प्रधानम् । तथा च तन्त्रान्तरेष्वप्युक्तम्—'दुःखहेतुः कार्यकारणशक्तिः' इति । तेन यदा पुरुषस्य संयोगस्तदाऽविशुद्धित्वमस्य । स्वशक्तिविशेषयोगात्तु तेषु तेषु जात्यन्तरपरिवर्तेषु धर्मादि-

---

यहाँ यह निष्कर्ष निकलता है—ये स्वर्ग एवं अपवर्ग दोनों ही प्रशस्य हैं; क्योंकि दोनों ही वेदविहित हैं; किन्तु इनमें मोक्ष प्रशस्यतर है; क्योंकि पूर्वोक्त दोषों से यह असम्पृक्त है ।

एवं यह तत्त्वज्ञान द्वारा अवश्य होने के कारण ऐकान्तिक है, अतीन्द्रिय होने से अन्य द्वारा संवेद्य नहीं है, अपने में स्वतः अवस्थित होने के कारण लघु है, तथा सर्वत्र सन्निहित भी है । वेद द्वारा प्रस्तुत होने से प्रशस्त है, शिष्टों द्वारा सेवित होने के कारण अनिन्दित है, यम-नियम-वैराग्य एवं ज्ञानरूप साधनों के शुद्ध होने के कारण विशुद्ध है, इसकी निष्पत्ति में द्रव्य की अपेक्षा नहीं होने से क्षयरहित है तथा निरतिशय हैं ।

इस प्रकार अपवर्गफल पूर्वोक्त अनैकान्तिकत्व-अनात्यन्तिकत्व-अविशुद्धि-क्षयित्व तथा सातिशयत्व दोषों से सर्वथा असंपृक्त होने से जिज्ञासु के लिये श्रेष्ठ है ।

प्रश्न— यह अपवर्ग कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर— संयोग का अभाव हो जाने पर अपवर्ग की प्राप्ति होती है । प्रधान (प्रकृति) ही दुःख है । जैसा कि तन्त्रान्तर में भी कहा है—'दुःखहेतुः कार्यकारणशक्तिः' अर्थात् कार्यकारणशक्ति ही दुःख का हेतु है । (कार्यकारणशक्ति का अर्थ है—कार्यनिरूपिता कारणगता शक्ति ।) वह शक्ति अव्यक्त स्वरूप है । उस प्रधान के साथ जब पुरुष का संयोग होता है, तब पुरुष में अविशुद्धि आती है । अविशुद्धि का होना ही पुरुष का दुःखी होना है; क्योंकि पुरुष शुद्धस्वरूप है ।

अपने अन्दर शक्तिविशेष (प्रधान) के योग से उन-उन विभिन्न जातियों के (जन्मान्तरों के) परिणामों में धर्माधर्मादि निमित्तों के सामर्थ्य से दुःख का अनुभव

निमित्तसामर्थ्यादायासमनुभवति। यदा तु प्रधानसंयोगो विनिवर्तते, तदा निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभाव इति कृत्वा न पुनर्द्वन्द्वान्यनुभवति।

आह—किमर्थः पुनरयं प्रधानस्य संयोगः ?

उच्यते—नैतदिहाभिधानीयम्। वक्ष्यत्ययमुपरिष्टादाचार्यः—पुरुषस्य दर्शनार्थः, कैवल्यार्थस्तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोग इति (का० २१)।

आह—वियोगस्तर्हि कस्मान्निमित्ताद् भवतीति ? उच्यते—

व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

व्यक्तं चाव्यक्तं च ज्ञश्च व्यक्ता- व्यक्तज्ञाः, तेषां विज्ञानं व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानम्, तस्मात्। बह्वष्वनियमादल्पाचोऽपि ज्ञशब्दस्य न पूर्वनिपातः। अथवा ज्ञानस्य साधकतमं व्यक्तम्, तत्पूर्वकत्वादव्यक्तसमधि-

---

पुरुष करता है; किन्तु जब प्रधान का संयोग निवृत्त हो जाता है, 'तब निमित्त का अभाव होने पर नैमित्तिक कार्य का भी अभाव हो जाता है' इस नियम के अनुसार फिर वह पुरुष द्वन्द्वों का अनुभव नहीं करता है।

प्रश्न— किस प्रयोजन से यह प्रधान का संयोग होता है ?

उत्तर— यह बात यहाँ नहीं कहनी है; क्योंकि 'पुरुषस्य दर्शनार्थम्…' इस २१वीं कारिका में स्वयं आचार्य इसे कहेंगे।

प्रश्न— प्रधान के संयोग से यदि दुःख होता है, तो प्रधान से वियोग किस निमित्त से होता है ?

उत्तर— व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ के विज्ञान से वियोग होता है।

'सूत्र में व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञाः' ऐसा पहले द्वन्द्वसमास होता है। पुनः 'एषां विज्ञानं व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानम्' ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास होता है। समास के अनन्तर 'तस्मात्' इस अर्थ में पञ्चमी विभक्ति लगकर 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्' यह पद बनता है। यद्यपि द्वन्द्वसमास में 'अल्पाच्तरम्' सूत्र के अनुसार अल्प अच् वाला होने से 'ज्ञ' शब्द का पूर्वनिपात हो जाना चाहिये, तथापि यह नियम बहुत शब्दों के द्वन्द्व में अनिवार्य नहीं है, इसलिये अल्पाच् होने पर भी 'ज्ञ' शब्द का पूर्वनिपात नहीं हुआ।

गमस्येत्यभिहितम् । यद्वा, व्यक्तं चाव्यक्तञ्च ते व्यक्ताव्यक्ते विजानातीति व्यक्ताव्यक्तज्ञः, तद्विज्ञानात् संयोगो निवर्तते । वक्ष्यति चैतत्— 'दृष्टा मयेत्युपेक्षत एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या' इति (का० ६६) ।

तत्र रूपप्रवृत्तिफललक्षणं व्यक्तम् । रूपं पुनः महानहङ्कारः, पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि । सामान्यतः प्रवृत्तिर्द्विविधा—हितकामप्रयोजना च, अहितकामप्रयोजना च । विशेषतः पञ्च कर्मयोनयो वृत्त्याद्याः प्राणाद्याश्च पञ्च वायवः । फलं द्विविधम्—दृष्टमदृष्टं च । तत्र दृष्टं सिद्धितुष्ट्यशक्तिविपर्ययलक्षणम् । अदृष्टं ब्रह्मादौ स्तम्बपर्यन्ते संसारे शरीरप्रतिलम्भ इत्येतद् व्यक्तम् ।

एषां गुणानां सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावगमनाद् विशेषगृहीतिः । यदा त्वङ्गभावमगच्छन्तो निर्लिखितविशेषा व्यवतिष्ठन्ते तदाऽव्यक्तमित्यु-

---

अथवा ज्ञान का सर्वातिशायी साधक व्यक्त होता है और व्यक्तबोधपूर्वक अव्यक्त का बोध होता है, इसीलिये पहले व्यक्तशब्द का उसके बाद अव्यक्तशब्द का और सबके अन्त में ज्ञशब्द का प्रयोग सूत्रकार ने किया ।

अथवा 'व्यक्तं चाव्यक्तं च व्यक्ताव्यक्ते' ऐसा ही द्वन्द्वसमास दो पदों का हुआ । उसके बाद 'ते विजानातीति व्यक्ताव्यक्तज्ञः' ऐसा उपपदसमास होकर 'व्यक्ताव्यक्तज्ञः' यह शब्द बना । और उसके विज्ञान से संयोग की निवृत्ति होती है । इस बात को आचार्य 'दृष्टा मयेत्युपेक्षत एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या' इस कारिका (६६) द्वारा आगे कहेंगे ।

इनमें रूप, प्रवृत्ति एवं फललक्षण व्यक्त है । रूप के अन्तर्गत महान्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रियाँ और पञ्च महाभूत हैं । प्रवृत्ति दो प्रकार की है—सामान्यतः प्रवृत्ति और विशेषतः प्रवृत्ति । सामान्यतः प्रवृत्ति के दो भेद हैं—हितकामप्रयोजना और अहितकामप्रयोजना । विशेषतः प्रवृत्ति में वृत्ति आदि पञ्च कर्मयोनियाँ तथा प्राण आदि पञ्च वायु समाविष्ट हैं । फल दो प्रकार का होता है—दृष्ट फल और अदृष्ट फल । दृष्ट फल चार हैं—सिद्धि-तुष्टि-अशक्ति और विपर्यय । ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त संसार में शरीर की प्राप्ति यह अदृष्ट फल है । उपर्युक्त यह सब व्यक्त है ।

इन (प्रसिद्ध) सत्त्व-रजः और तमोगुणों के परस्पर अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त करने पर विशेष स्वरूप की प्राप्ति होती है । अर्थात् सत्त्वादि गुणों के वैषम्यभावापन्न होने पर व्यक्त जगत् होता है; किन्तु जब अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त नहीं रहते हैं,

च्यन्ते। चेतनाशक्तिरूपत्वाच्चित्रं गुणवृत्तं जानातीति ज्ञः। एषां त्रयाणां भेदमभेदं च विज्ञाय संयोगनिवृत्तिं लभते। कस्मात्? संयोगनिमित्त-प्रतिद्वन्द्विभूतत्वाद् वियोगनिमित्तस्य। इह यदाऽदर्शननिमित्तः प्रधान-पुरुषयोः संयोगस्तस्मादस्य प्रतिद्वन्द्विभूतेन ज्ञानेन वियोगहेतुना भवित-व्यम्। को दृष्टान्तः? तमःप्रकाशवत्। यथा तमसा तिरोहितानि द्रव्याणि घटादीनि नोपलभ्यन्ते, तत्प्रतिद्वन्द्विभूतेन तु प्रदीपेन प्रकाशिता-नामेषामुपलब्धिर्भवति, तद्वदिहापि द्रष्टव्यमिति सिद्धं ज्ञानान्मोक्षः। उक्तं च—

वृक्षाग्राच्च्युतपादो यद्वदनिच्छन्नरः पतत्येव।
तद्वद् गुणपुरुषज्ञोऽनिच्छन्नपि केवली भवति॥

किञ्चान्यत्, आम्नायाभिहितत्वात्। आम्नायनिबन्धनो ह्ययमर्थो

अर्थात् साम्यावस्था में रहते हैं, तव ये गुग भित्ति पर उल्लिखित चित्रवत् निष्पन्दरूप में अवस्थित रहते हैं, तब अव्यक्त शब्द से कहे जाते हैं। एवं पुरुष चिच्छक्तिरूप होने से गुणों के विचित्र (अनेकाकार) परिणाम को जानने के कारण यज्ञ कहलाता है।

इन तीनों व्यक्त-अव्यक्त और ज्ञ के भेद और अभेद को जानकर प्रधानसंयोग की निवृत्ति को पुरुष प्राप्त कर लेता है; क्योंकि प्रधानसंयोग का निमित्त जो अज्ञान है, उसका प्रतिद्वन्द्वीभूत है प्रधानवियोग का निमित्त ज्ञान। अतः यहाँ प्रधान-पुरुष का संयोग जब अदर्शन (अज्ञान) निमित्तक है, तब इसका (अज्ञान का) प्रतिद्वन्द्वीभूत ज्ञान ही प्रधान-पुरुष के वियोग का हेतु होगा।

प्रश्न— इसमें दृष्टान्त क्या है?

उत्तर— तमःप्रकाश दृष्टान्त है। जैसे तमः (अन्धकार) से तिरोहित घटादि द्रव्य नहीं उपलब्ध होते हैं किन्तु उसके (तमः के) प्रतिद्वन्द्वी भूतप्रदीप द्वारा प्रकाशित होकर घटादि द्रव्य उपलब्ध हो जाता है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये कि अज्ञान के कारण प्रधान-पुरुष का संयोग होता है और उसके प्रतिद्वन्दीभूत ज्ञान के द्वारा प्रधान-पुरुष का वियोग हो जाता है। कहा भी गया है—जैसे, वृक्ष के अग्रभाग से पैर फिसला हुआ मनुष्य नहीं चाहने पर भी गिरता ही है, वैसे ही प्रधान-पुरुष के विवेक का ज्ञाता मनुष्य नहीं चाहने पर भी मुक्त हो हो जाता है।

वेद में अभिहित होने से भो उक्त बात सिद्ध है। अर्थात् ज्ञान से मोक्ष होता है, यह बात वेदप्रमाण के कारण है, न कि मनमाना सिद्ध है।

ज्ञानान्मोक्ष इति न यादृच्छिकः। कथम् ? एवं ह्याह—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥' (तै० २।१)

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥' (तै० २।४)

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।' (श्वेताश्व० ३।८) इति। तथा ब्राह्मणेऽप्युक्तम्—

'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इति।

तस्मादाम्नायप्रामाण्यादपि मन्यामहे ज्ञानान्मोक्ष इति।

आह—ज्ञानवाचिनोऽमृतत्वनिमित्ताऽभ्युपगमान्महत आम्नायस्यानर्थक्यम्। यदि ज्ञानवाचिन आम्नायखण्डकादमृतत्वमवाप्यत इत्येतदभ्युप-

---

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर— ऐसा वेद में कहा है—
'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इत्यादि। (तै० २।१, २।४)
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'। (श्वेताश्व० ३।८)
ब्राह्मण में भी कहा गया है—

'तरति शोकमात्मवित्'। (छा० ७।१।३)

तथा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादि। इसलिये वेदप्रमाण से भी हम मानते हैं कि ज्ञान से मोक्ष होता है।

मीमांसक—ज्ञानप्रतिपादक आम्नाय को यदि अमृतत्वप्राप्ति का निमित्त माना जाय तो अन्य आम्नाय निरर्थक हो जायेंगे। अर्थात् यदि यह माना जाय कि ज्ञान को बताने वाले वेदभाग से अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है, तो क्रियाप्रतिपादक विशाल अन्य वेदभागों में आनर्थक्य आ जायगा।

प्रश्न—आनर्थक्य आने का क्या कारण है ?

उत्तर—यदि बिना श्रम के ही इष्ट की प्राप्ति हो जाय तो श्रमबहुल वैदिक कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त पुरुष कुशल नहीं माना जाता है। कहा भी गया है—

गम्यते, तेन क्रियावाचिनो महत आम्नायान्तरस्यानर्थक्यं प्राप्तम् । किं कारणम् ? न ह्यनायासेनेष्टावाप्तौ सत्याम्, आयासभूयिष्ठे कर्मणि प्रवर्तमानः कृती भवतीति । आह च—

अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्मार्थस्य सम्प्राप्तौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥

उच्यते—यदि पुनः कर्माण्यत्यन्तकर्तव्यतयेष्यन्ते । ज्ञानवाचिन आम्नायस्य कथमर्थवत्ता सिद्धा भवति ? आह—समुच्चये तूभयार्थवत्त्वम् । ज्ञानकर्मणोस्तु समुच्चयेऽभ्युपगम्यमाने द्वयोरप्याम्नाययोरर्थवत्ता सिद्धा भवति, 'विद्वान् यजेत्' विद्वान् याजयेत्' इति वचनात् । तथा सर्वपुरुषाणां क्रतावधिकारः, अश्रोत्रिय-षण्ढ-शूद्रवर्जम् इति न्यायात् । तस्माज्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयादिष्टप्रसिद्धिः ।

उच्यते—न, पूर्वदोषापरिहारात् । यदि नियमतो विदुषैव कर्माणि कर्तव्यानीत्यभ्युपगम्यते, तेन यः पूर्वोक्तो दोषः संसाराभावप्रसङ्गः, तस्या-

---

'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य सम्प्राप्तौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्' ॥

अर्थात् घर के कोने में यदि मधु मिल जाय, तो पर्वत पर कोई क्यों जायगा ? इष्ट अर्थ के प्राप्त हो जाने पर कौन बुद्धिमान् व्यक्ति उसके लिये यत्न करेगा ?

सिद्धान्ती—यदि कर्म की आत्यन्तिक कर्तव्यता इष्ट है तो ज्ञानवाची आम्नाय भाग की सार्थकता कैसे सिद्ध होगी ?

मीमांसक—समुच्चयपक्ष में दोनों आम्नायों की सार्थकता हो जाती है। अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय स्वीकार कर लिये जाने पर ज्ञानप्रतिपादक और कर्मप्रतिपादक दोनों आम्नायभागों की सार्थकता सिद्ध हो जाती है; क्योंकि 'विद्वान् यजेत्, विद्वान् याजयेत्' इस वचन द्वारा ज्ञानी को ही यज्ञ करने का और यज्ञ कराने का अधिकार बताया गया है। तथा अश्रोत्रिय, षण्ढ और शूद्र को छोड़कर सभी का क्रतु में अधिकार है, यह मीमांसा का न्याय है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय होने से ही इष्ट की सम्यक् सिद्धि हो सकती है।

सांख्यवादी— ज्ञानकर्मसमुच्चय पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि पूर्व में प्रतिपादित दोषों का परिहार नहीं हो पाता है। अर्थात् यदि नियमतः विद्वान् को ही कर्म करने

परिहारः। किञ्च शास्त्रहानेश्च। यच्च शास्त्रम्-इष्टापूर्ते समुपासते(ये) ते धूममभिसंभवन्तीति तदेतस्यां कल्पनायां हीयते।

किञ्चान्यत्, भिन्नफलत्वात्। इहाभिन्नफलानि द्रव्याणि समुच्चीयन्ते। तद्यथा भुज्यङ्गानि सूपादीनि। अभिन्नं तेषां तृप्तिलक्षणं फलमिति। न चैतज्ज्ञानकर्मणोरभिन्नं फलम्, स्वर्गापवर्गहेतुत्वात्।

ज्ञानसामर्थ्यात् कैवल्यमभिन्नं फलमिति चेत्, पूर्वेणाविशेषः। यदुक्तं संसाराभावप्रसङ्ग इति तदनपहृतमेव भवति।

किञ्चान्यत्, श्रूयमाणफलविरोधश्च। क्रियायाः फलं श्रूयते 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामो राष्ट्रमग्निष्टोमेन जयति' इति विरुध्यते। कर्मणश्च शेषभावः, स्वार्थोपसर्जनत्वे सत्यर्थान्तरनिष्पादकत्वात्। यथा

ही चाहिए, यह स्वीकार किया जाता है, तो पूर्व में कथित जो दोष है—संसार का अभावप्रसङ्गरूप—उसका परिहार नहीं हो पाता है।

एवं शास्त्र की हानि भी हो जाती है। अर्थात् यह जो शास्त्र है कि 'जो इष्ट और आपूर्त की समुपासना (अनुष्ठान) करते हैं, वे धूम को प्राप्त करते हैं और पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते रहते है, संसार से छुटकारा नहीं मिलता है'—इस शास्त्र की हानि हो जाती है, यदि ज्ञानकर्मसमुच्चय की कल्पना की जाती है।

सांख्यपक्ष में अन्य भी प्रमाण है। जैसे, ज्ञान और कर्म के भिन्न-भिन्न फल हैं। लोक में अभिन्न फल वाले द्रव्यों का ही समुच्चय होता। जैसे, भोजन के अङ्गभूत सूप (दाल) आदि का समुच्चय होता है और उनका अभिन्न फल है तृप्ति; किन्तु इन ज्ञान-कर्मों का अभिन्न फल नहीं होता हैं; क्योंकि कर्म स्वर्गफल का हेतु है और ज्ञान अपवर्गफल का हेतु है।

यदि कहें कि 'समुच्चयपक्ष में भी ज्ञान के सामर्थ्य से दोनों का अभिन्न फल है कैवल्य, तो ऐसी स्थिति में पहले से कोई विशेषता नहीं हुई। अर्थात् समुच्चयपक्ष में संसाराभावप्रसङ्गरूप दोष ज्यों का त्यों कायम हो रह जाता है। मीमांसक पक्ष में अन्य दोष यह भी है कि श्रूयमाण फल का विरोध हो जायगा। अर्थात् क्रिया का जो यह फल बताया गया है कि 'अग्निहोत्र कर्म स्वर्ग का जनक है', 'अग्निष्टोम यज्ञ से राष्ट्र के ऊपर जय प्राप्त होती हैं', इसके साथ विरोध हो जाता है, यदि समुच्चय मानते हुए उसका अभिन्न फल कैवल्य माना जाय।

एवं कर्म में शेषत्व प्रसक्त हो जायगा, इसलिए समसमुच्चय नहीं बन सकता है।

अवहन्तीत्येवमाद्याः क्रियाः स्वं फलमुपसर्जनीकृत्य तद्द्वारेण यज्ञेरुपकुर्वन्त्य-स्तच्छेषभूता भवन्ति। एवं क्रियाऽपि ज्ञानफलभूतत्वात् तच्छेषभूता स्यात्।

विधिसद्भावात् क्रियाप्राधान्यमिति चेत्, न, उक्तत्वात्। कथमेतत्? नास्ति विधिकृतो विशेषः। उपेत्य वा तत्रापि तदुपपत्तेः।

अस्ति हि ज्ञानस्यापि विधायकं शास्त्रम्। कथम्? एवं ह्याह—'य आत्माऽपहतपाप्मा विजिघत्सो विपिपासो विजरो विमृत्युर्विशोकः सत्य-स्तसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। सर्वांश्च कामानवाप्नोति य आत्मानमनुविद्य विजानाति इति प्रजापतेर्वचनं श्रूयते। पुनरप्याह—'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च या। तस्माद् विधिसद्भावात् क्रियाप्राधान्य-मिति स्वपक्षानुरागमात्रमेतत्।

कर्म शेष (अङ्ग) इसलिये होगा कि अपने अर्थ को गौण बताते हुए अन्य प्रयोजन का निष्पादक हो रहा है। जैसे 'अवहन्ति' इत्यादि क्रियायें अपने फल को (वैतुष्य को) गौण बनाकर उसके द्वारा यज्ञ का उपकार करती हुई उसका अङ्ग बन जाती हैं। ऐसे ही वैदिक क्रिया भी अपना फल गौण बना देगी और कैवल्यफलक होकर ज्ञान का अङ्ग हो जायगी।

मीमांसक— ज्ञानक्रियासमुच्चयपक्ष में क्रिया की ही प्रधानता है, न कि ज्ञान की; क्योंकि क्रियापक्ष में विधिवचन है।

सांख्यवादी—इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है।

प्रश्न— यह कैसे?

उत्तर— क्रियापक्ष में विधिकृत विशेषता नहीं है। यदि क्रियापक्ष में विधिकृत विशेषता मानी जाय तो ज्ञानपक्ष में भी वह उपपन्न है; क्योंकि ज्ञान का भी विधायक शास्त्र है।

प्रश्न— कैसे?

उत्तर—ऐसा कहा गया है—'य आत्मा अपहतपाप्मा·········य आत्मान-मनुविद्य विजानाति' यह प्रजापति का वचन सुना गया है। और भी कहा गया है—'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च या' इत्यादि।

इसलिए क्रियापक्ष में विधिवाक्य होने से क्रिया की ही प्रधानता है, यह आपका अपने पक्ष के प्रति अनुरागमात्र है, कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

दृष्टार्थत्वादित्येके। एके पुनराचार्या मन्यन्ते—दृष्टमेव ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तिलक्षणं फलम्, तस्मान्न शास्त्रेण विधीयते। किं कारणम्? दृष्टार्थस्य हि कर्मणो न शास्त्रं प्रयोजकम्, स्वयमेवार्थितत्वात्तत्र प्रवृत्तेर्भुज्यादिवत् (भोज्यादिवत्)। तेषां यानि ज्ञानविधायकानि वाक्यानि तान्युपायगुणविधानार्थमनुवादभूतान्याश्रीयन्ते। तद्यथा—'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' इति।

यत्तु खल्विदमुच्यते 'विद्वान् यजेत्, विद्वान् याजयेत्, श्रोत्रियस्य च कर्मण्यधिकार' इति, तस्यायमर्थः—अधीत्य वेदं क्रियानुपूर्वीं च ज्ञात्वा कर्मणि प्रवर्तितव्यम्। एवं च सति न कश्चिद् दोषः।

यदि पुनर्नियमत एवात्मविदां कर्मण्यधिकारस्तेन संसाराभावप्रसङ्गः, स्वाभाविकत्वात् विज्ञानस्य शास्त्रस्य सर्वाधिकारविरोधः, तस्मान्नास्ति समुच्चयो ज्ञानकर्मणोः।

दृष्टफल होने के कारण ज्ञान का विधान नहीं हुआ है, ऐसा कोई कहते हैं। अर्थात् कोई आचार्य तो यह मानते हैं कि ज्ञान का अज्ञाननिवृत्तिलक्षण फल दृष्ट ही फल है, इसलिये शास्त्र द्वारा उसका विधान नहीं किया गया है।

प्रश्न— इसका क्या कारण है?

उत्तर— दृष्टफल वाले कर्म का विधान शास्त्र नहीं करता है; क्योंकि अपना इष्ट होने के कारण ऐसे कर्म में व्यक्ति को प्रवृत्ति स्वयमेव होती है, जैसे तृप्ति के लिये इष्ट होने से स्वयमेव प्राणी की प्रवृत्ति भोजन में होती है। उन आचार्यों के अनुसार जो ज्ञान के विधायक वाक्य हैं, वे उपायभूत गुणों का विधान करने के लिये अनुवादरूप में लिये गये हैं। जैसे, 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' इत्यादि स्थल में 'जुहोति' पद कर्मविधायक नहीं है; किन्तु दधि और पयरूप गुणों का विधान करने के लिये केवल अनुवादरूप में गृहीत है और गौण है। अर्थात् पूर्वप्राप्त हवन का अनुवाद कर दधिगुण का विधान होता है। वैसे ही अज्ञाननिवृत्त्यर्थ स्वतः प्राप्त ज्ञान का अनुवाद कर उसके लिये अपेक्षित गुणों का ही विधान मानना चाहिए।

जो यह कहा जाता है कि 'विद्वान् यजेत्, विद्वान् याजयेत्, श्रोत्रियस्य च (ज्ञानिनः) कर्मण्यधिकारः' इत्यादि उसका यह अभिप्राय है—वेद का अध्ययन कर तथा क्रियाओं की आनुपूर्वी (पूर्वापरभाव) को जानकर कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। ऐसी स्थिति में ज्ञान की विधि न मानने में कोई दोष नहीं है।

यदि ज्ञानियों का नियमित रूप से कर्म में अधिकार हो तो ज्ञानी कर्मकर्ता के

अपर आह—सत्यम्, नास्त्यनयोः समुच्चयः, किन्तर्हि ? सर्वार्था क्रिया, ज्ञानं प्रतिषिद्धार्थम् । ये हि षण्ढान्धवधिरादयः कर्मणोऽत्यन्तं निराकृतास्तेषां ज्ञानादाश्रमान्तरेऽमृतत्वावाप्तिः । इतरेषान्तु मूलाश्रमे कर्मण एवेति तस्य नायं वादिनः परिहार इति ।

उच्यते—न, स्वसमयविरोधात् । एवं ब्रुवाणस्यास्य वादिनः स्वसमय एव विरुध्यते । तदुक्तम्—विद्वांसः प्रजां नाकामयन्त, किं प्रजया करिष्यामः ? अथ यदुक्तम्, पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थाय भैक्षचर्यां चरन्तीति । न च षण्ढानां पुत्रैषणाव्युत्थानमर्थवद् भवति, देवकृतत्वात् ।

किञ्चान्यत्, रहस्यभूतत्वात् । रहस्यभूतं हि वेदानां ज्ञानम् । यस्मादाह—'तद्ध स्मैतदारुणिरौद्दालकिर्ज्येष्ठाय पुत्राय प्रोवाच । इदं

लिये संसार का अभाव हो जायगा; क्योंकि कर्म उसके लिये स्वाभाविक हो जायगा और ज्ञान के प्रभाव से कर्म करते हुए भी कर्मफलभूत संसार से रहित हो जायगा। तात्पर्य यह है कि उसके लिये कर्म निष्फल हो जायगा।

इस प्रकार ज्ञानप्रतिपादक शास्त्र का सभी फलाधिकारों के साथ विरोध हो जायगा। अर्थात् ज्ञान के विरोध से सभी फलप्रतिपादक शास्त्र निरर्थक हो जायेंगे। इसलिये ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता है।

अन्य आचार्य का कहना है कि यह सत्य है कि ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं है; किन्तु सम्पूर्ण काम्य अर्थों से सम्बद्ध क्रिया है और प्रतिषिद्ध है अर्थ जिसमें ऐसा ज्ञान है। जो नपुंसक, अन्ध और बधिर आदि व्यक्ति यज्ञकर्म से अत्यन्त वञ्चित कर दिये गये हैं, उनको ज्ञान द्वारा अन्य आश्रम (संन्यासाश्रम) में अमृतत्व की प्राप्ति होती है। दूसरों को तो मूल आश्रम (गृहस्थ आश्रम) में कर्म से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। इसलिये समुच्चयवादी का उक्त परिहार संभव नहीं है।

यहाँ मुख्य सिद्धान्ती का कहना है कि अपरवादी का उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि अपने ही समय (सिद्धान्त) का विरोध हो जाता है। अर्थात् इस प्रकार ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में परिहार उपस्थित करने वाले अपरवादी का अपना ही सिद्धान्त विरुद्ध हो जाता है। जैसा कि कहा गया है—'विद्वांसः प्रजां नाकामयन्त, किं प्रजया करिष्यामः' अर्थात् ज्ञानीजन प्रजा की कामना नहीं करते हैं कि हमें प्रजा से क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है। और यह जो कहा कि 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थाय भैक्षचर्यां चरन्ति' यह भी विरुद्ध हो जायगा। अर्थात् कर्म

ज्येष्ठपुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वाऽन्तेवासिने नान्यस्मै यस्मै कस्मैचन । य इमामद्भिः परिगृहीतां वसुना वसुमतीं पूर्णां दद्याद् एतदेव ततो भूय इति (छां० ३।११।४-६) ।

भवति चात्र—

परं रहस्यं वेदानामवसानेषु पठ्यते ।
प(ष)ण्डार्थं तदृष्टिं चेद् दिष्टया सफलता श्रुतेः ॥
विद्वान् कर्माणि कुर्वीतेत्येतदुक्तं किल श्रुतौ ।
स च प(ष)ण्डादिरेव स्याद् योऽत्यन्तं कर्मणश्च्युतः ॥
स एव वर्त्यतां प्राज्ञैः किं(न्यायो)न्याय्योऽथ मतिभ्रमः ।
इन्द्रियार्थानुरागो वा द्वेषो वा मोक्षवर्त्मनि ॥

का निषेध केवल षण्ढ बधिरादि के ही लिये नहीं है; किन्तु तदतिरिक्त के लिये भी है। अतः अपरवादी का उक्त समाधान समुचित नहीं है। साथ ही नपुंसकों के लिये पुत्रैषणा से पृथक् होने का कुछ अर्थ भी नहीं है; क्योंकि उसे पुत्रैषणा होती ही कहाँ है कि उससे अपने को पृथक् रखने की बात कुछ अर्थ रखती। वस्तुतः उसका पुत्रैषणा राहित्य देवकृत है, षण्ढताकृत नहीं है।

एवं कर्म की अपेक्षा ज्ञान के श्रेष्ठत्व में अन्य भी कारण है कि ज्ञान रहस्यभूत है। अर्थात् कर्म वैदिक होते हुए भी वेदों का वह रहस्य भूत नहीं है, जब कि ज्ञान वेदों का रहस्यभूत है। इसीलिये छान्दोग्य में कहा है—'तद्ध स्मैतदारुणिरोद्दालकिर्ज्येष्ठाय पुत्राय प्रोवाच' इत्यादि। अर्थात् उद्दालक के पुत्र आरुणि ने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्वेतकेतु को उस तत्त्व को बताया। इस ब्रह्म तत्त्व को पिता ज्येष्ठ पुत्र को कहे एवं विनीत शिष्य को कहे न कि अन्य जिस किसी को। जो कोई समुद्र से घिरी हुई सम्पदा से सम्पन्न सम्पूर्ण वसुमती को देवे, तो उससे भी यह ज्ञान ही अधिक है।

यहाँ यह निष्कर्ष है—

परम रहस्य का निरूपण वेदों के अन्त में अर्थात् उपनिषदों में किया गया है। यदि वह रहस्य षण्ढ-अन्ध आदि के लिये इष्ट माना जाय तो दैवात् श्रुति की सफलता सिद्ध हो गयी। कारण, 'विद्वान् कर्मों को करे' यह श्रुति में कहा गया है। अपरवादी के अनुसार विद्वान् के लिये कर्म का विधान उक्त श्रुति में किया गया है। वह षण्ढ आदि ही है, जो कर्म से अत्यन्त च्युत है; क्योंकि कर्म से अत्यन्त च्युत होने का ही परिणाम है—षण्ढ-अन्ध बधिर आदि होना। तो क्या विज्ञों को वही न्याय अपनाना

कैवल्यप्राप्तिहेतुत्वाद् या वेदविहिता स्तुतिः ।
प्रशस्ता याज्ञवल्क्याद्यैर्विशिष्टैस्तत्त्वनिश्चयात् ॥
सेयं विषयरागान्धैर्विपरीतार्थवादिभिः ।
विद्या कन्येव प(ष)ण्ढाय दीयमाना न शोभते ॥
तस्माद् रागानुगैरुक्तां कुहेतुपृतनामिमाम् ।
अपोह्य मतिमान् युक्त्या ह्याश्रमादाश्रमं व्रजेत् ॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ
युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे प्रथममाह्निकम् ॥

चाहिए ? अथवा वह मतिभ्रम है ? या ऐन्द्रिय विषयों के प्रति अनुराग है ? या मोक्षमार्ग के प्रति द्वेष है, जिससे कर्म के प्रति इतना आग्रह है। कैवल्यप्राप्ति का हेतु होने के कारण वेदविहित जिस विद्या की स्तुति की गयी है, तथा तत्त्वनिश्चय को प्राप्त याज्ञवल्क्य आदि विशिष्ट महामुनियों द्वारा जो विद्या प्रशंसित है, वह विद्या विषय के प्रति राग के कारण अन्धे हुए विपरीतार्थ का प्रतिपादन करने वाले जनों द्वारा यदि षन्ढों को दी जाती है, तो वह विद्या वैसे ही शोभा को नहीं प्राप्त करती है, जैसे नपुंसक को दी जाती हुई कन्या शोभा को नहीं प्राप्त करती है।

अतः मतिमान् व्यक्ति रागासक्तों के द्वारा कही गयी इस कुतर्क की सेना (परम्परा) को युक्ति से दूर कर आश्रम से आश्रम में जावें। अर्थात् गार्हस्थ्य आश्रम से संन्यास आश्रम में ज्ञान हेतु प्रवेश करें।

॥ इति श्रीमदाचार्यकेदारनाथत्रिपाठि कृतायां सांख्यसप्तति-
युक्तिदीपिकाया हिन्दीकव्याख्यायां प्रथमसाह्निकम् ॥



अथ द्वितीयमाह्निकम्

आह—सम्यगुपदिष्टं भवता व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षोऽवाप्यते। इदानीमुपदेष्टव्यं कथमेतत् त्रयं प्रतिपत्तव्यमिति।

उच्यते—त्रयस्यास्य प्रतिपत्तिं द्वेधा समामनन्ति समासतो विस्तरतश्च। तदेव त्रयं पञ्चभिरधिकरणैर्भिद्यते। कानि पुनरधिकरणानीति? उच्यते—प्रकृतिविकारवृत्तं, कार्यकारणवृत्तम्, अतिशयानतिशयवृत्तं, निमित्तनैमित्तिकवृत्तं, विषयविषयिवृत्तमिति। प्रकृतिविकारवृत्तपूर्वकत्वादितरेषामधिकरणानां तद्भेदान् वक्ष्यामः। तत्पुनश्चतुर्धा-किञ्चित् कारणमेव न कार्यम्, किञ्चित् कारणं च कार्यञ्च, किञ्चित् कार्यमेव न कारणम्, किञ्चिन्नैव कारणं न चापि कार्यमिति।

जिज्ञासा— आपने सम्यक् उपदेश दिया कि व्यक्त अव्यक्त, और ज्ञ के विवेकज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अब यह उपदेश करें कि इन तीनों का विवेकज्ञान कैसे प्राप्त करना चाहिये।

उत्तर— इन तीनों का विवेकज्ञान दो प्रकार से होता है, ऐसा आचार्य बताते हैं—संक्षेप से और विस्तार से। ये तीनों ही पाँच अधिकरणों में विभक्त होते हैं।

प्रश्न— वे कौन पाँच अधिकरण हैं?

उत्तर— १–प्रकृतिविकारभाव, २–कार्यकारणभाव, ३–अतिशयानतिशयभाव, ४–निमित्तनैमित्तिकभाव और ५–विषयविषयिभाव। मूलोक्त वृत्तशब्द का अर्थ है—वृत्ति-वर्तन या भाव। इसमें प्रकृतिविकारभावपूर्वक शेष अधिकरणों के होने से पहले प्रकृतिविकारभाव के भेदों को कहेंगे। वह प्रकृतिविकार भाव चार भेदों में विभक्त होता है—१–कोई कारण ही है कार्य नहीं, २–कोई कारण भी है और कार्य भी, ३–कोई कार्य ही होता है कारण नहीं होता और ४–कोई न तो कारण होता है और न कार्य ही।

आह—अतिसामान्योपदिष्टमेतन्नास्माकं बुद्धाववतिष्ठते। तस्माद् विभज्योपदिश्यतां कस्य पदार्थस्य किं वृत्तमिति ?

उच्यते—बाढम्। उपदिश्यते—

'मूलप्रकृतिरविकृतिः'

मूलमाधारः प्रतिष्ठेत्यनर्थान्तरम्। प्रकरोतीति प्रकृतिः, मूलं चासौ प्रकृतिर्मूलप्रकृतिः। मूलप्रकृतिः कस्य मूलम्? महदादीनाम्। संज्ञा खल्वियं प्रधानस्य मूलप्रकृतिरिति। सा चाविकृतिरविकाराऽनुत्पाद्येत्यर्थः।

आह—समासानुपपत्तिः विशेषणान्तरोपादानात्। मूलमित्ययं शब्दः प्रकृतिविशेषणार्थमुपात्तो महदादिविशेषणान्तरमुपादत्ते। तत्र सविशेषणानां वृत्तिर्नेति समासप्रतिषेधः प्राप्नोति।

जिज्ञासु—आपने अत्यन्त सामान्यरूप से उक्त प्रकृतिविकृतिभाव के सम्बन्ध में कहा। इतनामात्र कथन हमारी बुद्धि में नहीं बैठता है। इसलिये पृथक् पृथक् विभागपूर्वक उपदेश दें कि किस पदार्थ का क्या स्वरूप है ?

उत्तर— बहुत अच्छा। बता रहे हैं—

मूलप्रकृति अविकृति है। अर्थात् मूलप्रकृति केवल कारण है, कार्य किसी का नहीं है। मूल-आधार-प्रतिष्ठा यह एक ही वस्तु है। प्रकृष्ट कर्तृत्व जिसमें है, वह प्रकृति है। मूल होते हुए जो प्रकृति है, वह मूलप्रकृति है। अर्थात् अव्यक्त या प्रधान मूलप्रकृति है।

प्रश्न— मूल प्रकृति किसका मूल है ?

उत्तर— मूलप्रकृति महत् आदि का मूल है। यह मूलप्रकृति प्रधान या अव्यक्त की संज्ञा है। मूलप्रकृति अविकृति है अर्थात् किसी का विकार नहीं है—किसी से उत्पन्न नहीं होता है, यह आशय है।

पूर्वपक्षी—मूलप्रकृति शब्द में 'मूलं चासौ प्रकृतिः मूलप्रकृतिः' ऐसा समास नहीं हो सकता है; क्योंकि यहाँ अन्य विशेषण का भी ग्रहण किया गया है। जैसे—'मूलम्' यह एक शब्द प्रकृति के विशेषण के रूप में लिया गया है, और फिर 'महदादीनां मूलम्' कह कर महदादि को उसके विशेषण के रूप में गृहीत किया गया है। अर्थात् जो दूसरे का विशेषण होकर समास में आ चुका है, वह समासान्तर्गत 'मूल' पद समास से बहिर्भूत पद के साथ सम्बन्धित नहीं हो सकता है। और यदि उसे सम्बन्धित होना है तो फिर उसका प्रकृतिपद के साथ समास नहीं बन सकता है।

समासान्तरविधानाददोष इति चेत्, स्यान्मतम्—यद्येतस्मिन् समासे दोषोऽयमुपपद्यते समासान्तरं विधास्यते 'मूलं प्रकृतीनां मूलप्रकृतिरिति'।

एतच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? दोषान्तरोपपत्तेः एवमप्युपसर्जनं पूर्वं निपततीति षष्ठ्योक्तस्योपसर्जनत्वात् पूर्वनिपातः। तत्रैवं भवितव्यं 'मूलं प्रकृतीनां प्रकृतिमूलमिति'। तस्मादिदमप्यसारमिति।

उच्यते—पूर्व एव समासोऽस्तु, सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं वृत्तौ समस्यते। यत्तूक्तं 'विशेषणान्तरोपादानात् समासानुपपत्तिरिति' तत्र ब्रूमः—सम्बन्धिशब्दानां सम्बन्ध्यन्तरमनपेक्ष्य स्वरूपप्रतिलम्भ एव नास्तीत्याकाङ्क्षावतामेव वृत्त्या भवितव्यम्। तद्यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति सम्बन्धिशब्दत्वाद् देवदत्तशब्दमपेक्षमाणोऽपि गुरुशब्दः कुलशब्देन सह वृत्ति

क्योंकि 'सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य च विशेषणयोगो न' इस नियम के अनुसार यहाँ समास का प्रतिषेध प्राप्त हो जाता है।

यदि कहो कि 'समासान्तर का विधान होने से यह दोष नहीं होगा'। अर्थात् यदि ऐसा माना जाय कि 'मूलं चासौ प्रकृतिः मूलप्रकृतिः' इस प्रकार के समास में उक्त दोष आ सकता है। किन्तु हम तो यहाँ अन्य प्रकार का समास करेंगे। 'मूलं प्रकृतीनामिति मूलप्रकृतिः' ऐसा। अतः यहाँ उक्त दोष नहीं आयेगा। तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि तब दूसरा दोष उपस्थित हो जायगा। अर्थात् 'मूलं प्रकृतीनाम्' ऐसा समास करने पर भी 'उपसर्जन का पूर्व निपात है' इस नियम के अनुसार षष्ठ्यन्त 'प्रकृति' पद 'मूल' पद का उपसर्जन होगा, इसलिये 'प्रकृति' पद का पूर्व निपात हो जायगा। ऐसी स्थिति में 'मूलं प्रकृतीनां (प्रकृतीनां मूलम्) प्रकृतिमूलम्' ऐसा समस्तपद का स्वरूप होने लगेगा। इसलिये समासान्तर (षष्ठीसमास) के विधान से भी दोष से छुटकारा नहीं है।

सिद्धान्ती—यहाँ प्रथम समास ही रहे 'मूलं चासौ प्रकृतिः मूलप्रकृतिः' ऐसा। सम्बन्धी शब्द सापेक्ष होकर ही समास के अन्तर्गत आता है। अर्थात् यह जो पूर्वपक्ष किया कि 'मूल' शब्द का 'प्रकृति' शब्द के साथ समास नहीं हो सकता है, क्योंकि 'मूल' शब्द 'महदादीनाम्' इस अन्य विशेषण को सम्बन्धार्थ गृहीत करता है। उस पर हमें कहना है कि—सम्बन्धी शब्दों का अन्य सम्बन्धी की बिना अपेक्षा किये अपना स्वरूप ही प्राप्त नहीं होता है, इसलिये सम्बन्धीशब्द को आकाङ्क्षा के साथ ही उनका समास होगा। जैसे, 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' यहाँ 'गुरु' शब्द सम्बन्धी शब्द

प्रतिपद्यते। एवमिहापि 'मूलम्' इत्ययं शब्दः सम्बन्धिशब्दत्वान्महदाद्य-पेक्षोऽपि 'प्रकृति'शब्देन सह वृत्तिं प्रतिपद्यत इति।

किञ्चान्यत्, वाक्यप्रतिपाद्यस्यार्थस्य वृत्तावुपलब्धेः। यत्र हि वाक्यप्रतिपाद्योऽर्थो वृत्त्या न लभ्यते—यथा 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष' इति, तत्र 'सविशेषणानां वृत्तिर्ने'ति व्यवस्थितं शास्त्रे। गम्यते चेह वाक्यप्रति-पाद्योऽर्थो वृत्तावपि सत्याम्। तस्माददोषोऽयमिति।

किञ्च, ज्ञापकात्। ज्ञापकं खल्वपि 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' तथा 'अकारस्य विवृतोपदेशः' इत्यादि। तस्मान्नात्रासूया कर्तव्येति।

आह–अवयवस्य प्रत्यवमर्शानुपपत्तिः संज्ञाशब्दत्वात्। संज्ञाशब्देषु

है, इसलिये 'देवदत्त' शब्द की अपेक्षा रखता हुआ भी 'गुरु' शब्द 'कुल' शब्द के साथ समास को प्राप्त करता है।

ऐसे ही यहाँ भी 'मूलम्' यह शब्द सम्बन्धी होने के कारण 'महदादीनाम्' इस शब्द की अपेक्षा रखता हुआ भी 'प्रकृति' शब्द के साथ समास को प्राप्त करता है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है।

इसमें अन्य भी प्रमाण है—'मूलप्रकृति' यहाँ पर वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की उपलब्धि समास होने पर भी हो जाती है। अर्थात् जहाँ पर वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की प्रतीति समास द्वारा नहीं हो पाती है—जैसे 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः', यहाँ पर, वहीं 'सविशेषणानां वृत्तिर्न' यह व्यवस्था शास्त्र में की गयी है। यहाँ पर तो वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की प्रतीति समास होने पर भी हो जाती है। इसलिये यहाँ समास होने में शास्त्रव्यवस्था के उल्लङ्घन का दोष नहीं है।

इसमें ज्ञापक प्रमाण भी है। जैसे 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' इस सूत्र में 'तुल्य-क्रियः' इस समास से 'तुल्य' शब्द का 'कर्म' शब्द के साथ सम्बन्ध होता है। 'अकारस्य विवृतोपदेशः' यहाँ पर समास से वहिर्भूत 'अकार' शब्द के साथ 'विवृत' शब्द का सम्बन्ध हुआ है। ऐसे और भी दृष्टान्त हो सकते हैं। इसलिये यहाँ आचार्य द्वारा किये गये समास के लिये असूया नहीं करनी चाहिये।

पूर्वपक्षी—महदादिरूप विशेषणान्तर के साथ सम्बन्ध करने के लिये समास का अवयवभूत 'मूल' शब्द का परामर्श नहीं हो सकता है; क्योंकि 'मूलप्रकृति' यह एक

---

१. पा. सू. ३।१।८७। २. म. भा. १।१।२।

हि नावयवस्य परामर्शो भवति, तद्यथा गजकर्णोऽश्वकर्णः; कस्य गजस्य कस्याश्वस्येति ।

उच्यते—न, अर्थोपपत्तेः । यत्र ह्यर्थ उपपद्यते, भवत्येव तत्र संज्ञाशब्देष्ववयवपरामर्शः । तद्यथा सप्तपर्णान्यस्य पर्वणि पर्वणि, अष्टौ पदान्यस्य पङ्क्तौ पङ्क्तौ सप्तपर्णोऽष्टापदमिति । उपपद्यते चेहायमर्थः । तस्माददोषोऽयम् ।

आह—मूलप्रकृतिरविकृतिः-प्रकृतिरिति वक्तव्यम् । यदाह—महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेति । उच्यते—प्रकृतित्वावचनम् । प्रकृतित्वं च मूल-

---

संज्ञावाचक शब्द है। कारण, संज्ञाशब्दों में 'अवयव का परामर्श नहीं हुआ करता है। जैसे, 'गजकर्ण' या 'अश्वकर्ण' शब्द के संज्ञावाचक शब्द होने से उसके अवयवभूत 'गज' या 'अश्व' शब्द का परामर्श कर किस गज का या किस अश्व का कर्ण ऐसी सम्बन्ध्यन्तर की आकाङ्क्षा नहीं होती है। इसी प्रकार 'मूल' शब्द को महदादिरूप सम्बन्ध्यन्तर की आकाङ्क्षा नहीं हो सकती है।

सिद्धान्ती—उक्त आक्षेप नहीं हो सकता है; क्योंकि अर्थ की उपपत्ति होने से संज्ञाशब्द में भी अवयव का परामर्श हो सकता है। अर्थात् जहाँ अर्थ की उपपत्ति होती है, वहाँ संज्ञाशब्दों में भी अवयव का परामर्श होता ही है। जैसे, जिसके पर्व-पर्व में सात पर्ण (पत्र) होते हैं, वह सप्तपर्ण कहा जाता है। तथा जिसकी पंक्ति पंक्ति में आठ पद होते हैं, वह अष्टापद कहा जाता है। इसलिये सप्तपर्ण या अष्टापद में अर्थवान् होने के कारण सप्त और अष्टरूप अवयवभूत पदों का परामर्श होता ही है। वैसे 'मूलप्रकृति' इस शब्द में अर्थ को उपपत्ति होने से अवयवभूत 'मूल' का सम्बन्ध्यन्तर के साथ सम्बन्ध करने के लिये परामर्श होगा ही। इसलिये उक्त दोष भी यहाँ नहीं है।

पूर्वपक्षी— 'मूलप्रकृतिः अविकृतिः' यहाँ 'अविकृतिः' की जगह पर 'प्रकृतिः' ऐसा कहना चाहिये। अर्थात् 'मूलप्रकृति प्रकृति है' ऐसा कहना चाहिये। जैसा कि— 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, ऐसा कहा गया है। अर्थात् महदादि सात को जैसे प्रकृति-विकृति कहा गया है, वैसे मूलप्रकृति को प्रकृति कहना चाहिये।

सिद्धान्ती— प्रकृतित्व का अवचन (न कहना) ही ठीक है। अर्थात् मूलप्रकृति को प्रकृति नहीं कहना चाहिये।

प्रश्न— इसका क्या कारण है ?

उत्तर— अर्थात् सिद्ध है। अर्थात् मूलप्रकृति को अविकृति कहने से ही

प्रकृतेर्न वक्तव्यम् । किं कारणम् ? अर्थादापत्तेः । मूलप्रकृतिरविकृतिरित्येव सिद्धम् । उच्यमानं हि तदनर्थकं स्यात् ।

आह—प्रकृतित्वानुपपत्तिः, सत्कार्यवादाऽभ्युपगमात् । प्रकरोतीति प्रकृतिः, तद्भावः प्रकृतित्वम् । तच्च सति कार्ये न घटते । कस्मात् ? न हि सतामात्मादीनां कारणमुपपद्यते इति ।

उच्यते—तदितरत्रापि तुल्यम् । यथैव हि सतामात्मादीनां का(क) रणं नोपपन्नमेवमसतां शशविषाणादीनामपीति नास्ति कश्चिद् विशेषः । तृतीया तु विषा(वा)दावस्थैव कोटिः ।

एवमुभयपक्षव्युदासात् (न) स्वपक्षसिद्धिरिति चेत्, अथापि स्यात् सदसतोः क्रियासम्बन्धं प्रत्यविशेष उपदर्श्यते भवता । तेनोभयोरपि पक्षयोर्व्युदासः कृतो भवति । न चोभयपक्षव्युदासात् स्वपक्षसिद्धिरिति ।

एतच्चायुक्तम्, कस्मात् ? उत्तरत्र प्रतिषेधात् । स खल्वेष वादी सत्कार्यवादं प्रत्याचष्टे । तस्मात् स्वक एवैनमधिकारे निवर्तयिष्यामः ।

उसका प्रकृतित्व सिद्ध है । अतः यदि उसे प्रकृति कहा जाता है, तो वैसा कहना निरर्थक है ।

पूर्वपक्षी— सांख्यमत में प्रकृतित्व अनुपपन्न है; क्योंकि सत्कार्यवाद माना गया है । जो प्रकृष्टरूप से करे अर्थात् उत्पन्न करे वह प्रकृति है तथा उसका भाव (धर्म) प्रकृतित्व है । यदि कार्य पहले से है तो प्रकृतित्व नहीं बन सकता है; क्योंकि आत्मा आदि सत् पदार्थ का उत्पन्न किया जाना असंगत है ।

सिद्धान्ती— उक्त अनुपपत्ति असत्कार्यवाद में भी समानरूप से है; क्योंकि जैसे सत् आत्मा आदि का उत्पन्न किया जाना अनुपपन्न है, वैसे ही असत् शशविषाण आदि का भी उत्पन्न किया जाना अनुपपन्न है, इसलिये दोनों में कोई विशेषता नहीं है । सत्, असत् से अतिरिक्त तृतीय कोटि तो विवादास्पद है ।

पूर्वपक्षी— इस प्रकार सत् और असत् उभय पक्ष का निषेध करने में स्वपक्ष की सिद्धि नहीं होगी । अर्थात् क्रिया के साथ सम्बन्ध के प्रति सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों में आपने अविशेषता प्रदर्शित की है । उसमें दोनों पक्षों का खण्डन हो जाता है; किन्तु उभय पक्षों के खण्डनमात्र से प्रकृतित्वरूप स्वपक्ष की सिद्धि नहीं हो पाती है ।

आह—अविकृत्यभिधानानर्थक्यम्, मूलप्रकृतित्वात् तत्सिद्धेः। यदि मूलं सर्वासां प्रकृतीनाम्, अविकृत्यैव तया भवितव्यम्। इतरथा हि मूलप्रकृतित्वानुपपत्तिः। यदि खल्वपि प्रधानस्यापि प्रकृत्यन्तरं स्यात् मूलप्रकृतित्वं नोपपन्नं भवेत्। तस्मात् मूलप्रकृतित्ववचनादेव तत्सिद्धेरविकृतिग्रहणमनर्थकमिति।

उच्यते—न, अनवस्थाप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थत्वात्। यथा हि मूलादीनां बीजं प्रकृतिस्तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यदित्यनवस्था, एवं महदादीनां प्रधानं मूलप्रकृतिस्तस्याप्यन्यदित्यनवस्था प्रसज्येत। सा मा भूदित्यतस्तन्निवृत्त्यर्थं तदभिधानम्।

आह—(न)हेत्वनुपदेशात्। असंशयमेतदेवं स्यात्, न तु हेतु-

सिद्धान्ती—यह कथन अयुक्त है; क्योंकि आगे चलकर इसका प्रतिषेध किया जायगा। अर्थात् यह वादी सत्कार्यवाद का खण्डन करता है। इसलिये अपने ही अधिकार में हम इसे पराभूत करेंगे। अर्थात् सत्कार्यपक्ष में ही प्रकृतित्व का हम साधन करेंगे।

पूर्वपक्षी—सूत्र में अविकृति का कथन निरर्थक है; क्योंकि मूलप्रकृति होने से ही अविकृतित्व की सिद्धि हो जायगी। अर्थात् प्रधान यदि समस्त प्रकृतियों का मूल है, तो उसे निश्चित ही अविकृति होना चाहिये। यदि प्रधान का भी कोई दूसरा प्रकृति हो, तो उसका मूलप्रकृतित्व ही असंगत होने लगेगा। इसलिये मूलप्रकृतित्व के कथन से ही अविकृतित्व की सिद्धि हो जायगी, ऐसी स्थिति में सूत्र में अविकृति का उल्लेख निरर्थक है।

सिद्धान्ती—उक्त आक्षेप ठीक नहीं है; क्योंकि अनवस्थादोष के प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिये अविकृति पद का ग्रहण किया गया है। जैसे, मूली आदि का बीज प्रकृति है, उस बीज की भी कोई अन्य प्रकृति है और उसकी भी प्रकृति कोई अन्य है। इस प्रकार अनवस्था होती है। वैसे ही प्रधान महदादि को मूल प्रकृति है, उसकी भी प्रकृति यदि कोई अन्य हो तो अनवस्था की प्रसक्ति हो जायगी। वह अनवस्था मत हो, इसलिये उसकी निवृत्ति के लिये मूलप्रकृति को अविकृतिपद से कहा गया है।

पूर्वपक्षी—मूलप्रकृति के अविकृति होने में हेतु का उपदेश नहीं किया गया है। अर्थात् निःसन्देह मूलप्रकृति अवकृति होती है; किन्तु इसमें आपने हेतु का उल्लेख

रत्रोपदिष्टो भवद्भिः। न चानुपदिष्टहेतुकं विपश्चिद्भिः प्रतिपत्तुं न्याय्यम्। तस्मादयुक्तमेतत्।

उच्यते—कारणान्तरप्रतिषेधात्, पुरुषाकर्तृत्वात्, प्रधानाख्यानां गुणानां चावस्थान्तरानुपपत्तेरविकृतित्वसिद्धिः।

इहारभ्यमाणा प्रकृतिः कारणान्तरैरीश्वरादिभिरारभ्यते, पुरुषेण वा, गुणैर्वा ? किञ्चातः ? तन्न, तावत् कारणान्तरैरीश्वरादिभिरारभ्यते, कस्मात् ? प्रतिषेधात्। यथा कारणान्तराणि न सन्ति तथोत्तरत्र प्रतिषेधः करिष्यते।

इदानीं सत्त्वं रजस्तमः पुरुष इति पदार्थचतुष्टयं प्रतिज्ञायते। तत्रापि

नहीं किया है। और जिसमें हेतु का निर्देश न किया गया हो, वह विद्वानों द्वारा मानने योग्य नहीं होता है। इसलिये प्रधान का अविकृतित्व अयुक्त है।

सिद्धान्ती— प्रधान अविकृति इसलिये है कि प्रधान के अतिरिक्त कारण का निषेध किया गया है। अर्थात् पुरुष में कर्तृत्व का अभाव होने से तथा प्रधानात्मक त्रिगुणों की और कोई सूक्ष्म अवस्था नहीं होने के कारण मूलप्रकृति में (प्रधान में) अविकृतित्व की सिद्धि हो जायगी। (तात्पर्य यह है कि प्रधान सभी जड़ तत्त्वों की सूक्ष्मावस्था है। यदि प्रधान से भी कोई सूक्ष्मतर अवस्था होती और पुरुष में कर्तृत्व रहता तो वह प्रधान उस सूक्ष्मतर अवस्था से उत्पन्न होता और वह (प्रधान) उसकी विकृति कहाता; किन्तु प्रधानात्मक गुणों से न कोई सूक्ष्मतर अवस्था है और न पुरुष में कर्तृत्व है कि वह उस सूक्ष्मतर अवस्था से उस प्रधान को उत्पन्न कर सकेगा। इसलिये प्रधान (मूलप्रकृति) सर्वथा अविकृति है, यह सिद्ध हो गया।

एवं, यहाँ यदि प्रकृति आरम्यमाण हो अर्थात् किसी का विकार हो तो वह ईश्वर आदि कारणान्तरों से, पुरुष से अथवा गुणों से आरम्यमाण होगी।

प्रश्न— इससे क्या आया ?

उत्तर— वह प्रकृति ईश्वर आदि अन्य कारणों से आरम्यमाण नहीं हो सकती; क्योंकि अन्य कारणों का प्रतिषेध किया गया है। जैसे अन्य कारण नहीं हो सकते, वैसा आगे चलकर उनका निषेध किया जायगा।

एवं, यहाँ सत्त्व-रजः-तमः और पुरुष इन चार पदार्थों की प्रतिज्ञा की गयी है। इन में भी पुरुष का कर्तृत्व खण्डित किया जाता है। पुरुष के कर्तृत्व का प्रतिषेध

पुरुषकर्तृत्वं प्रत्याख्यायते। तस्मिन् प्रत्याख्याते गुणानामेवावस्थान्तरापेक्षः कार्यकारणभावः। सूक्ष्माणां मूर्तिलाभः कार्यम्, निवृत्तविशेषाणामविभागात्मनावस्थानं कारणमित्ययं सिद्धान्तः।

तत्रास्तङ्गतविशेषाणां निवृत्तपरिणामव्यापाराणामङ्गाङ्गिभावमनुपगच्छतामुपसंहृतशक्तीनां सर्वविकारसाम्यं सर्वशक्तिप्रलयं निस्सत्तासत्तं निस्सदसदव्यक्तलक्षणमवस्थान्तरमुपसंप्राप्तानां नास्त्यन्यत् सूक्ष्मतरमवस्थान्तरम्, यस्येदं प्रधानलक्षणमवस्थान्तरं कार्यं स्यात्। तस्मात् सुष्ठूच्यते 'मूलप्रकृतिरविकृति'रिति।

'महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।'

महानाद्यो यासां ता महदाद्याः। अवयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः। अन्यथा महानेवात्रापरिगृहीतः स्यात्। प्रकृतयश्च विकृतयश्च

हो जाने पर अवस्थाभेद की अपेक्षा से गुणों में ही कार्यकारणभाव पर्यवसित हो जाता है। अर्थात् अवस्थाविशेष में गुण ही कारण होते हैं और अवस्थाविशेष में गुण ही कार्य होते हैं। अर्थात् पुरुष कार्यकारणभाव से परे है। सूक्ष्मों का मूर्तिलाभ कार्य कहाता है तथा सभी विशेषों से रहित होकर अविभागस्वरूप में सूक्ष्मों का रहना कारण है—यह सांख्य का सिद्धान्त है।

ऐसे कार्यकारण के अन्तर्गत जिनकी विशेषावस्था तिरोहित हो गयी है, जिनके सभी परिणाम-व्यापार निवृत्त हो चुके हैं, इसीलिये जो परस्पर में अङ्गाङ्गिभाव को नहीं धारण किये हुए हैं तथा जिन्होंने प्रपञ्चसर्जनशक्ति को अपने में समेट लिया है ऐसे, तथा सभी भावविकार का साम्य हो गया है जिसमें, सभी शक्ति प्रलीन हो गयी है जिसमें, सत्ता और असत्ता से रहित, सत्-असत् से भिन्न, अव्यक्तलक्षण उस अवस्थान्तर को प्राप्त हुए सत्त्वादिगुणों की भिन्न कोई दूसरी सूक्ष्मतर अवस्था नहीं है; जिसका कार्य (विकारभूत) यह प्रधाननामक अवस्थाविशेष हो।

इसलिये ठीक ही कहा है कि सर्वापेक्षया सूक्ष्मतम मूलप्रकृति अविकृति है अर्थात् किसी का विकार नहीं है।

मूल— महदादि सात प्रकृति भी हैं और विकृति भी हैं।

महान् है आद्य जिनका वे महदाद्य हैं। जैसे, महान्-अहङ्कार और पञ्च तन्मात्र। (शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रूपतन्मात्र-रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ये पञ्च तन्मात्र हैं)। 'महदाद्याः' इस बहुव्रीहि समास में अवयव से विग्रह हुआ है और समास का अर्थ समुदाय हुआ। यदि समुदाय को समासार्थ न माना जाय तो महान् का ही ग्रहण यहाँ

प्रकृतिविकृतयः। कारणानि कार्याणि चेत्यर्थः। तत्र महानहङ्कारस्य प्रकृतिः प्रधानस्य विकृतिः। अहङ्कारोऽपि तन्मात्रेन्द्रियपर्वणोः प्रकृतिर्विकृतिर्महतः। तन्मात्राणि च भूतपर्वणः प्रकृतिरहङ्कारस्य विकृतिः।

आह—सप्तग्रहणं किमर्थम्? उच्यते—सप्तग्रहणमवधिपरिच्छेदार्थम्। अक्रियमाणे हि सप्तग्रहणे न ज्ञायते; कियान् प्रकृतिगणः प्रकृतिविकृतिसंज्ञो भवति। तत्र महाभूतेन्द्रियपर्वणोरपि प्रकृतित्वं प्रसज्येत।

आह—नैतदस्ति प्रयोजनम्, परिशेषसिद्धेः। इह भवतां पञ्चशिखानां पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि। तत्र 'मूलप्रकृतिविकृति'रित्युक्तम्।

न हो सकेगा, और वह छूट जायगा। अर्थात् केवल अहंकार और पञ्च तन्मात्र ही गृहीत हो सकेंगे। क्योंकि विग्रह में 'यासाम्' पद से इन्हीं का ग्रहण है, और इन्हीं के आदि में महान् है, अपने आदि में नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि यहाँ अन्य पदार्थ समुदाय हैं; अवयव नहीं है। इसीलिये व्याख्याग्रन्थ में कहा है कि 'अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः'। इति।

'प्रकृतयश्च विकृतयश्च प्रकृतिविकृतयः' यहाँ द्वन्द्वसमास है। प्रकृति का अर्थ है कारण तथा विकृति का अर्थ है कार्य। अर्थात् महदादि सात कारण भी हैं और कार्य भी हैं। इनमें महान् अहङ्कार को प्रकृति (कारण) है तथा प्रधान की विकृति (कार्य) है। अहङ्कार भी तन्मात्रवर्ग को और इन्द्रियवर्ग को प्रकृति है; तथा महान् की विकृति है। तन्मात्रवर्ग भूतवर्ग की प्रकृति है तथा अहङ्कार की विकृति है। इन्द्रियवर्ग अहङ्कार की विकृति है; किन्तु किसी की प्रकृति नहीं है। इसलिये उसकी गणना केवल विकृति में है। इस प्रकार महान् से लेकर तन्मात्रपर्यन्त सात ही प्रकृति-विकृति हैं।

पूर्वपक्षी—'प्रकृतिविकृतयः सप्त' यहां 'सप्त' ग्रहण किस प्रयोजन के लिये किया?

उत्तर—अवधि के ज्ञान के लिये 'सप्त' ग्रहण है। क्योंकि 'सप्त' ग्रहण नहीं करने पर यह ज्ञात नहीं हो सकता कि कितना प्रकृतिगण प्रकृतिविकृतिसंज्ञक होता है। ऐसे ही कितना विकृतिगण प्रकृति भी है। यदि अवधि का निर्धारण न हो तो महाभूतवर्ग और इन्द्रियवर्ग में भी प्रकृतित्व की प्रसक्ति होने लगेगी।

प्रतिपक्षी— अवधि का परिच्छेद (निर्धारण) सप्तग्रहण का प्रयोजन नहीं हो सकता है। क्योंकि परिशेषात् अवधि का ज्ञान हो जायगा। जैसे—आचार्य पञ्चशिख के यहाँ पच्चीस तत्त्व हैं। उनमें प्रथम मूलप्रकृति है, यह कहा जा चुका है। 'षोडश-तत्त्व पञ्च महाभूत और एकादश इन्द्रियाँ विकार (विकृति) हैं, तथा पुरुष न प्रकृति है

'षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' इति वक्ष्यति । परिशेषतः सप्तैवावशिष्यन्ते । तस्मान्नार्थस्तदर्थेन सप्तग्रहणेन ।

उच्यते—अहङ्कारपरिग्रहार्थम् । एवं तर्हि नैवाहङ्कारो विद्यत इति पतञ्जलिः, महतो'अस्मि'प्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात् । तत्परिहारार्थमेतद् भविष्यति ।

आह—न, उत्तरत्र परिग्रहात् । एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । वक्ष्यति हि महता कण्ठेनोपरिष्टादाचार्यः 'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारः' इति । तेनैवेदं सिद्धम्; नार्थस्तदर्थेनापि सप्तग्रहणेन ।

उच्यते—रूपभेदेऽपि तत्त्वाभेदज्ञापनार्थम् । एवन्तर्हि धर्मादीन्यष्टौ रूपाणि बुद्धेर्वक्ष्यमाणानि; अहङ्कारश्च वैकारिकतैजसभूतादिरूपत्वात् त्रिलक्षणो वक्ष्यमाणः । तत्र रूपभेदात्तत्त्वभेदो मा भूदित्येवमर्थं सप्तग्रहणं क्रियते ।

और न विकृति हैं' यह आगे आचार्य स्वयं कहेंगे । ये कुल अट्ठारह होते हैं । इनके बाद परिशेषात् सात ही बच जाते हैं (महान्-अहङ्कार और पञ्च तन्मात्र) जो प्रकृति-विकृति उभय होंगे । इस प्रकार परिशेष से ही सात तत्त्व प्रकृति-विकृति उभयरूप सिद्ध हो जाते हैं । अतः उस प्रयोजन के लिये 'सप्त' ग्रहण का कोई अर्थ नहीं है ।

सिद्धान्ती— अहंकार का परिग्रह करने के लिये 'सप्त' ग्रहण है । अर्थात् ऐसा मानने पर कि 'परिशेषात् महदादि-तत्त्व प्रकृति-विकृति उभयरूप सिद्ध हो जायेंगे अतः 'सप्त' ग्रहण व्यर्थ है' तो ऐसी स्थिति में, पतञ्जलि के इस मत का परिहार करने लिये ही 'सप्त' ग्रहण सार्थक होगा कि 'अहङ्कार नामक तत्त्व ही नहीं हैं, क्योंकि महतत्त्व का ही 'अस्मि' इस प्रतीति का विषय वे मानते हैं ।

प्रतिपक्षी— 'पतञ्जलि के मत का खण्डन कर अहङ्कारतत्त्व के परिग्रहार्थ 'सप्त' ग्रहण है' यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि आगे चलकर अहङ्कार का परिग्रह आचार्य ने किया ही है । अर्थात् यह भी 'सप्त' ग्रहण का प्रयोजन नहीं है । क्योंकि आगे चलकर ऊँचे स्वर में आचार्य कहेंगे कि 'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कार · ' इति । उसी से अहङ्कार तत्त्व सिद्ध हो जाता है । इसलिये अहङ्कार-सिद्धिरूप प्रयोजन के लिये भी सप्तग्रहण की सार्थकता नहीं है ।

सिद्धान्ती— रूपभेद होने पर भी तत्त्व में अभेद-ज्ञापन करने के लिये 'सप्त' ग्रहण है । अर्थात् सप्तग्रहण का उपर्युक्त प्रयोजन यदि नहीं हो सकता है, तो ऐसा

आह—हेतुमन्तरेणाप्रतिपत्तेः। कण्ठोक्तमपि युक्तिमन्तरेण न तर्कशीलाः प्रतिपद्यन्ते, किं पुनः क्लेशोपपादितम्। तस्मादत्र समाधिर्वाच्यः-कथमनेकरूपा बुद्धिरेकैवेति? न, उत्तरत्र विचारणात्। उत्तरत्रैतद् विचारयिष्यामः—किमनेकरूपाविर्भावेऽपि तदेव तद्वस्तु भवति, आहोस्विद् रूपभेदात्तत्त्वभेदः? तस्मादिह तावद् दृश्यतामिति सिद्धं महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेति।

'षोडशकस्तु विकारः'

षोडश परिमाणमस्य सोऽयं षोडशकः संघः 'तस्य परिमाणम्, संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु' (पा०सू० ५।१।५७-५८) इति 'कन्' प्रत्ययः।

आह—कः पुनरयं षोडशक इति? उच्यते—पञ्च महाभूतानि, एकादशेन्द्रियाणि। तुशब्दोऽवधारणार्थः।

हो कि—धर्म आदि आठरूप बुद्धि के कहे जायेंगे, और अहङ्कार भी वैकारिक-तैजस और भूतादिरूप होने से तीन प्रकार का आगे कहा जायगा। ऐसी स्थिति में रूपभेद से तत्त्व में भेद न हो जाय, इसके लिये आचार्य ने 'सप्त' ग्रहण किया है।

प्रतिपक्षी—हेतु के बिना यह बात भी नहीं मानी जा सकती है। कारण, कण्ठ से स्पष्ट कही हुई भी बात को युक्ति के बिना तार्किक लोग नहीं स्वीकार करते हैं; क्लेश से जिसका उपपादन किया जा रहा हो; उसके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? इसलिये यहाँ सिद्ध करना चाहिये कि कैसे अनेकरूपा बुद्धि एक ही है; तथा विलक्षण भी अहङ्कार एक ही है।

सिद्धान्ती—उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि आगे चलकर इस पर विचार किया जायगा। अर्थात् आगे हम इसका विचार करेंगे कि क्या अनेक रूपों का आविर्भाव होने पर भी वह वस्तु वही रह जाती है? अथवा रूपभेद से तत्त्व में भेद आ जाता है? इसलिये यहाँ तबतक मान लें कि अष्टरूपा बुद्धि एक ही है और त्रिलक्षण अहंकार एक ही है अनेक नहीं है, यह बताने के लिये सूत्र में आचार्य ने 'सप्त' ग्रहण किया। इस तरह सिद्ध हो गया कि महान् आदि सात तत्त्व प्रकृति-विकृति उभय रूप हैं।

मूल—पञ्च महाभूत एवं एकादश इन्द्रियां ये सोलह तत्त्व विकार (विकृति) ही हैं।

षोडश संख्या है परिमाण जिसका, वैसा यह समुदाय षोडशक है। यहाँ पर

आह—शक्यः पुनरयमर्थोऽन्तरेणापि 'तु' शब्दमवाप्तुम्। कथम्? 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्ते' ति ह्युपदिष्टं पुरस्तात्। ततोऽहङ्कार-तन्मात्रपूर्वकत्वे सिद्धे सति इन्द्रियमहाभूतपर्वणोः पुनः श्रुतेर्नियमो भविष्यति। तद्यथा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यत्र क्षुत्प्रतीकारसमर्थानां द्रव्याणामर्थादेव सर्वेषां भक्षणे सम्प्राप्ते पुनः श्रुतेर्नियमो भवति; तद्वदिवं द्रष्टव्यम्।

इष्टतोऽवधारणार्थं इति चेत्, स्यान्मतम्—इष्टतोऽवधारणार्थस्तर्हि 'तु' शब्दो भविष्यति। कथं नाम षोडशको विकार एवेति यथा विज्ञायते, षोडशकस्तु विकार इत्येवं मा ज्ञायीति।

यद्येवमस्थाने तर्हि 'तु' शब्दः पठितः। षोडशको विकारस्त्विति

संख्यावाची 'षोडश' शब्द से संघ अर्थ में 'तस्य परिमाणम्, संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु' इन सूत्रों से 'कन्' प्रत्यय हुआ है।

प्रश्न— यह षोडशक क्या है?

उत्तर— पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रियाँ ये मिलकर षोडशक हैं। सूत्र में 'तु' शब्द अवधारण (निर्धारण) अर्थ में है।

प्रश्न— यह अर्थ तो 'तु' शब्द के बिना भी अवगत किया जा सकता है। क्योंकि 'महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त, ऐसा पूर्व में उपदेश किया जा चुका है; और बाद में षोडश तत्त्वों का उपदेश हुआ है। उसी से सिद्ध है कि इन्द्रियवर्ग और महाभूतवर्ग अहङ्कार और तन्मात्र के विकार हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें पुनः 'विकार' शब्द से नियम बनेगा कि सोलह ही विकार हैं। जैसे 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यहाँ पर क्षुधा को शान्त करने में समर्थ सभी पदार्थों का भक्षण स्वतः प्राप्त है। ऐसी स्थिति में पुनः पांच नखवाले पाँच जानवरों के भक्षण का विधान करने से नियम बनता है कि पाँच नखवाले पाँच ही भक्षणयोग्य हैं। वैसे ही इसे भी समझना चाहिये।

एकदेशी—इष्ट का अवधारण करने के लिये 'तु' शब्द है' यदि ऐसा कहो, अर्थात् ऐसा माना जाय कि इष्ट का अवधारण करने के लिये 'तु' शब्द होगा। क्योंकि जिस प्रकार यह मालूम हो जाय कि षोडश पदार्थ विकार ही हैं, यह न मालूम हो कि षोडश ही विकार हैं।

प्रतिपक्षी— यदि यही बताना 'तु' शब्द का प्रयोजन है, तब तो बेजगह में 'तु' शब्द पढ़ा गया है। 'षोडशकः विकारस्तु' ऐसा कहना चाहिये।

वक्तव्यम् । अथ मतं वृत्तपरिपूरणार्थमयमस्मिन् प्रदेशे पठितस्'तु'शब्दो यत्र निर्दोषस्तत्रैवायं द्रष्टव्य इति । एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? असन्देहात् । महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेत्यपदिष्टे किमिति सांशयिकाः भविष्यामः ? तस्मात् पेलवमस्य पाठे प्रयोजनं पश्यामः ।

अथायमभिप्रायः स्यात्—यद्यप्येतदर्थतः सिद्धं तथाप्ययमाचार्यः स्फुटप्रतिपत्त्यर्थमवधारणं प्रत्याद्रियते । किं कारणम् ? यस्मात् विचित्राः सूत्रकाराणामभिप्रायगतयः । तद्यथा भगवान् पाणिनिः 'नः क्ये' (पा० सू० १।४।१५) 'रात्सस्य' (पा० सू० ८।२।२४) इत्येवमादिष्वन्तरेण प्रयत्नमिष्टतोऽवधारणे सिद्धे अन्यत्र 'अजादी गुणवचनादेव' (पा० सू० ५।३।५८) स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् (पा० सू० ८।३।६१) इत्येवमादिषु यत्नं करोति । तद्वदिहापि द्रष्टव्यमिति ।

यदि यह मत है कि छन्द की पूर्ति के लिये इस स्थान में अर्थात् 'षोडशक' शब्द के साथ यह 'तु' शब्द पढ़ दिया गया है; किन्तु जहां निर्दोष हो वहीं इसे समझना चाहिये । तो यह मत अनुपपन्न है । क्योंकि 'तु' शब्द के बिना भी षोडश तत्त्व के विकार होने में कोई सन्देह नहीं है । कारण, महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त' यह पूर्व में कहा जा चुका है; तो फिर षोडशक गण के विकारमात्र होने में हम संशयालु कैसे होंगे ? अर्थात् महदादि सात जब प्रकृति-विकृति दोनों हैं, तो सुतरां सिद्ध हो गया कि षोडशकगण विकृतिमात्र है । इसलिये सूत्र में 'तु' शब्द के पाठ में अत्यन्त मृदु (मन्द) प्रयोजन हम देखते हैं ।

सिद्धान्ती— अथवा यह अभिप्राय होगा—यद्यपि पञ्चमहाभूत एवं एकादश इन्द्रियां विकारमात्र हैं; वह अर्थतः सिद्ध है, तथापि यहां आचार्य ईश्वरकृष्ण उसकी स्फुट प्रतिपत्ति के लिये अवधारणार्थक 'तु' शब्द का समादर करते हैं ।

प्रश्न— क्या कारण है ?

उत्तर— चूंकि सूत्रकारों के अभिप्राय की गतियाँ विचित्र हैं । जैसे, भगवान् पाणिनि 'नः क्ये, रात्सस्य' (पा०सू० १।४।१५, ८।२।२४) इत्यादि सूत्रों में बिना एवकार दिये ही इष्ट का अवधारण सिद्ध मानते हैं; किन्तु 'अजादी गुणवचनादेव, स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात्' (पा० सू० ५।३।५८, ८।३।६१) इत्यादि सूत्रों में अवधारणार्थक 'एव' शब्द का प्रयोग करते हैं । वैसे यहां भी समझना चाहिये ।

एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? अशक्यत्वात् । सति वा पुनरवधारणार्थत्वे 'तु' शब्दस्य कथमिवात्र शक्यमवधारणं प्रतिपत्तुम् ? यावता महाभूतानामपि शरीरादिलक्षणं कार्यमुपलभ्यत इति ।

तत्र केचित् समाधिमाहुः—शरीरादीनामनर्थान्तरभावात् पृथिव्यादीनामप्रकृतित्वम् । यस्मात् किल पृथिव्यादीनां सन्निवेशविशेषमात्रं कार्यं मुष्टि-ग्रन्थि-कुण्डलादिवन्नार्थान्तरभूतम् । अत एषामप्रकृतित्वमिति ।

एतच्चानुपपन्नम्—कस्मात् ? अविशेषात् । सर्वमेव हि सांख्यानां कार्यमनर्थान्तरभूतम् । तत्रैतस्यां कल्पनायां सर्वतत्त्वानामप्रकृतित्वं प्रसज्येत । अथैतदनिष्टम्, सत्कार्यव्याघातः ।

अन्ये पुनराहुः—अपरिणामित्वान्महाभूतानां विकारित्वानवधारण-

प्रतिपक्षी— उक्त प्रकार से अवधारणार्थक 'तु' शब्द के प्रयोग का समर्थन अयुक्त है । क्योंकि यहाँ अवधारण अशक्य है । अर्थात् अन्यत्र 'तु' शब्द अवधारणार्थक भले ही हो, किन्तु यहां पर अवधारण का बोध कैसे किया जा सकता है ? जब कि पञ्चमहाभूतों का भी शरीरादिलक्षण विकार उपलब्ध है । अर्थात् षोडशक तत्त्व विकार ही हैं, यह अवधारण करना अनुपपन्न है, क्योंकि पञ्चमहाभूत शरीरादिकार्य के प्रति प्रकृति भी हैं । ऐसे ही षोडश तत्त्व ही विकार हैं, यह अवधारण भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरादि भी विकार ही हैं ।

यहाँ कोई समाधान कहते हैं—शरीर आदि कार्य पृथिवी आदि से भिन्न नहीं है । इसलिए पृथिवी आदि प्रकृति नहीं हैं, किन्तु विकृति ही हैं । चूँकि शरीरादि कार्य पृथिवी आदि का सन्निवेशविशेष (संघटन) मात्र है, इसलिये वह पृथिवी आदि से पृथक् नहीं है । जैसे, धान की मुठ्ठी-सूतों की गाँठ और सर्प आदि का कुण्डलीभाव ये धान सूत और सर्प से पृथक् नहीं होते हैं, वैसे ही यहां भी समझना चाहिये । अतः पृथिवी आदि प्रकृति नहीं हैं; किन्तु विकृति ही हैं ।

प्रतिपक्षी— उक्त समाधान ठीक नहीं है । क्योंकि अन्य कार्यों से शरीरादि-कार्य में कोई विशेषता नहीं है । कारण, सांख्यों का सभी कार्य कारणों से अपृथक् (अभिन्न) है । अतः ऐसी कल्पना में सभी तत्त्व अप्रकृति होने लगेंगे । अर्थात् जैसे अपृथक् होने से पृथिवी आदि शरीरादि कार्य की प्रकृति नहीं है, वैसे महदादि कारण भी अपने कार्य को प्रकृति नहीं हो सकेंगे । क्योंकि महदादिकारण और उसका तन्मात्रादि कार्य भी परस्पर में अपृथक् हैं । यदि कार्यों का कारणों से अभेद इष्ट न हो तो सत्कार्यवाद का व्याघात हो जयगा ।

मिति । तदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? प्रत्यक्षोपलब्धेः । प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते महाभूतानां कलिलाङ्कुरक्षीरादिपरिणामः । अनुमानग्राह्यस्तु तत्त्वान्तराणाम् । तदेतदधरोत्तरं भवति । तस्मादयुक्तमेतत् ।

आह—न तर्हि इदं प्रतिपत्तव्यं षोडशको विकार एवेति ?

उच्यते—प्रतिपत्तव्यम् । किं कारणम् ? तत्त्वान्तरानुपपत्तेः । इह पुरुषार्थेन हेतुना साम्यात् प्रच्युतानां गुणानां योऽयं महदादिविशेषान्तो विपरिणामः, स तत्त्वान्तरोत्पत्तिनियमेन व्यवतिष्ठते । न तु पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरोत्पत्तिरस्ति । तस्मादेतेषां विकारत्वमेवेति ।

दूसरे तो यों समाधान करते हैं—अपरिणामी होने से महाभूतों में विकारित्व धर्म नहीं है । अर्थात् वे किसी की प्रकृति नहीं हैं । इसलिये शरीरादि के प्रति वे प्रकृति नहीं हो सकते हैं ।

किन्तु उक्त समाधान भी अयुक्त है । क्योंकि पृथिव्यादि का परिणाम प्रत्यक्ष से ही उपलब्ध हे । अर्थात् प्रत्यक्ष से ही देखा जाता है कि महाभूतों का कहीं कलिल, कहीं अङ्कुर और कहीं क्षीरादि के रूप में परिणाम होता है । और तत्त्वों का परिणाभ प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होने पर भी अनुमान द्वारा गृहीत होता है । इस प्रकार यह निकृष्ट समाधान है । अतः यह अयुक्त है ।

प्रतिपक्षी— तो क्या यह न समझा जाय कि षोडशकगण विकार ही है ? यहाँ अभिप्राय यह है कि उक्त समाधानों से सिद्धान्ती को भी सन्तोष नहीं है । इसीलिये प्रतिपक्षी पूछता है कि क्या तब पञ्चमहाभूत एवं एकादश इन्द्रियां विकारमात्र हैं—ऐसा नहीं माना जाय ?

सिद्धान्ती— पृथिव्यादि षोडशतत्त्व को विकार (विकृति) ही समझना चाहिये ।

प्रश्न— क्या कारण है कि इन्हें विकार ही समझना चाहिये ?

उत्तर— इनसे तत्त्वान्तर नहीं उत्पन्न होता है । अर्थात् यहां भोग-अपवर्गरूप पुरुषार्थ के कारण साम्यावस्था से च्युत होकर वैषम्यावस्था को प्राप्त हुए सत्त्वादि गुणों का महान् से लेकर महाभूतपर्यन्त जो यह विविध परिणाम होता है, वह नियमतः तत्त्वान्तरोत्पत्तिरूप में व्यवस्थित होता है । किन्तु पृथिव्यादि से उत्पन्न देह-घटादि तत्त्वान्तर नहीं है; किन्तु देह-घट आदि भी पृथिवीतत्त्व ही है । तत्त्वान्तर का उपादान कारण होना ही प्रकृति का लक्षण है । अतः पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत तथा एकादश इन्द्रियां विकार ही हैं किसी की प्रकृति नहीं हैं ।

किञ्चान्यत्—ग्राहकान्तराभावात् । यथा तन्मात्रैरारब्धेषु पृथिव्यादिषु अहङ्कारात् तद्योग्यं ग्राहकान्तरमिन्द्रियलक्षणमुत्पद्यते; नैवं पृथिव्यादिविकाराणां घटादीनां ग्राहकान्तरमस्ति । तस्मान्न तत्त्वान्तरम् । अतश्च पृथिव्यादयो विकारा एवेति ।

किञ्चान्यत्—प्रधाने प्रकृतिभावप्रत्यस्तमयवत् तेषु विकारभावप्रत्यस्तमयात् । यथा प्रधानात् सूक्ष्मतरमवस्थान्तरं नास्तीति तत्र प्रकृतिभावस्य प्रत्यस्तमयस्तथा तेषु विकारभावप्रत्यस्तमयः । तस्माद्युक्तमुच्यते-षोडशकोऽयं विकार एवेति ।

आह—पुरुषे तर्हि का प्रतिपत्तिः ?

उच्यते— 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' ॥ ३ ॥

पुरुषो न ह्ययमवस्थान्तरं प्रतिपद्यते; नो खल्वप्यवस्थान्तरस्यावस्थान्तरं भवतीति ।

अन्य भी कारण है—चक्षुरादि इन्द्रियों से अतिरिक्त दूसरा घटादि का ग्राहक नहीं है । जिन इन्द्रियों से पृथिव्यादि का ग्रहण होता है, उन्हीं इन्द्रियों से घट-देहादि का भी ग्रहण होता है । अर्थात् जैसे, तन्मात्र से पृथिव्यादि के उत्पन्न होने पर अहङ्कार से उनके योग्य इन्द्रियरूप ग्राहकान्तर उत्पन्न होता है, वैसे पृथिव्यादि के विकारभूत घटादि का कोई अन्य ग्राहक नहीं है; किन्तु चक्षुरादि ही घटादि का भी ग्राहक होता है । अतः पृथिव्यादि का विकार घटादि तत्त्वान्तर नहीं है । इसलिये भी सिद्ध होता है कि पृथिवी आदि विकार ही हैं, प्रकृति नहीं हैं ।

अन्य भी कारण है—जैसे प्रधान में प्रकृतित्त्व का पर्यवसान होता है, वैसे ही महाभूतों में विकृतित्व का पर्यवसान होता है । अर्थात् जैसे प्रधान की अपेक्षा सूक्ष्मतर दूसरी अवस्था नहीं होने से प्रधान में प्रकृतित्त्व का विराम हो जाता है; उसके आगे कोई प्रकृति नहीं होती, वैसे हो महाभूतों की अपेक्षा कोई अन्य स्थूलतर अवस्था नहीं होती है; इसलिये उन्हीं में विकारत्व का विराम हो जाता है और महाभूत किसी की प्रकृति नहीं बनते हैं । इसलिये आचार्य ने ठीक हो कहा कि पृथिवी आदि षोडश तत्त्व विकार ही हैं; या ये ही षोडश तत्त्व विकृतिमात्र हैं ।

प्रश्न— तब पुरुष के विषय में क्या अवधारण है ?

उत्तर— पुरुष न किसी को प्रकृति है और न किसी की विकृति है । अर्थात् प्रकृति-विकृतिभाव से यह सर्वथा निर्लिप्त है । क्योंकि जैसे प्रधान महान् की अवस्था

आह—नैतद्युक्तिमन्तरेण श्रद्धीयते, तस्मादुपपाद्यतां कथमस्याप्रकृतित्वमविकृतित्वं चेति।

उच्यते—प्रकृतित्वानुपपत्तिः, उत्तरत्र प्रतिविधानात्। 'तस्माच्च विपर्यासात्' (का० १९) इत्यत्र युक्तिमुपदेक्ष्यामः। तस्मात्तावदस्याप्रकृतित्वम्।

अविकृतित्वं प्रधानवत्। यथा प्रधानमेवमयमपि पुरुषः क्रियमाणः कारणान्तरैरीश्वरादिभिर्नारभ्यते। कस्मात्? प्रतिषेधात्। यथा कारणान्तराणि न सन्ति तथोत्तरत्र प्रतिषेधः करिष्यते। (न) पुरुषान्तरैः, समत्वात्। समाः सर्वे पुरुषाः, न च समानां कार्यकारणभावो दृष्टः।

किञ्च, निष्क्रियत्वात् शुद्धत्वाच्चैषां विपरिणामलक्षणा परिस्पन्दलक्षणा वा क्रिया विभुत्वादनुपपन्ना। [नो खल्वपि परस्परारम्भकत्वम्][1],

को प्राप्त करता है,वैसे यह पुरुष परिणाम द्वारा अवस्थान्तर को नहीं प्राप्त करता है। इसीलिये यह प्रकृति नहीं है; और यह भी नहीं है कि पुरुष किसी अन्य अवस्था का अवस्थान्तर हो अर्थात् परिणाम हो। इसलिये यह विकृति भी नहीं है।

प्रतिपक्षी— पुरुषसम्बन्धी उक्त अवधारणा युक्ति के विना श्रद्धेय नहीं है; इसलिये उपपादन कीजिये कि कैसे इसमें प्रकृतित्व और विकृतित्व दोनों का अभाव है?

सिद्धान्ती—पुरुष में प्रकृतित्व नहीं बन सकता है, क्योंकि आगे चलकर पुरुष में प्रकृतित्व का निराकरण किया गया है। 'तस्माच्च विपर्यासात्' (का० १९) कारिका में युक्ति का उपदेश करेंगे। इसीलिये इसमें प्रकृतित्व का अभाव है।

पुरुष में अविकृतित्व प्रधान के समान है। जैसे प्रधान किसी से उत्पन्न नहीं होता; वैसे यह पुरुष भी क्रियमाण माना जाता हुआ ईश्वर आदि कारणान्तरों से उत्पन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि कारणान्तरों का प्रतिषेध है। जैसे ईश्वर आदि अन्य कारणों का अभाव है; वैसा आगे चलकर प्रतिषेध किया जायगा।

पुरुषान्तरों से भी पुरुष की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है; क्योंकि वे समकोटि के हैं। अर्थात् सभी पुरुष समान हैं और समानों में कार्यकारणभाव नहीं देखा गया है।

१. अत्र मूलं त्रुटितम् एवमाकारः सम्भवेत् पाठः।

कस्मात् ? एषामितरेतरानारम्भकत्वात्। न गुणैर्भिन्नजातीयकत्वात्। इहाचेतना गुणा इत्येतत् प्रतिपादयिष्यामः। यच्च येनारभ्यते, तच्च तन्मयं भवति। यदि गुणैः पुरुषाणामारम्भः, तदा तेषामप्यचेतनत्वं स्यात्, चेतनास्तु ते। तस्मान्न गुणैरारभ्यन्त इति सिद्धमेतत्।

किञ्चित् कारणमेव, न कार्यम्। किञ्चित् कारणं कार्यं च। किञ्चित् कार्यमेव। किञ्चिन्नैव कारणं नैव कार्यमिति चतुर्विधं कार्य-कारणवृत्तं प्रतिपादितम्। एतत् प्रतिज्ञापिण्डसूत्रम्। अत्र यदपदिष्टं भवद्भिरस्मिन् शास्त्रे प्रमेयमित्यवगन्तव्यम् ॥ ३ ॥

आह—अथास्य प्रमेयस्य कुतः सिद्धिरिति ?

उच्यते—'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' ॥ ४ ॥

एवं, ये पुरुष निष्क्रिय हैं और शुद्ध हैं; इसलिये इनमें परिणामलक्षण क्रिया नहीं हो सकती है। तथा विभु होने से परिस्पन्दलक्षण क्रिया भी नहीं हो सकती है। एक पुरुष एक दूसरे पुरुष द्वारा परस्पर में आरभ्यमाण हो; ऐसा भी नहीं हो सकता है। क्योंकि ये परस्पर के आरम्भक नहीं हैं। सत्त्वादि गुणों से भी पुरुष की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि गुण पुरुष से भिन्न जातीय हैं। सांख्यमत में गुण अचेतन हैं, यह आगे कहेंगे। जो जिससे उत्पन्न होता है, वह तन्मय होता है। यदि गुणों से पुरुषों का आरम्भ हो तो अचेतन गुण से उत्पन्न पुरुष भी अचेतन होने चाहिये। किन्तु वे तो चेतन हैं। इसलिये गुणों से पुरुषों की उत्पत्ति नहीं होती है; यह सिद्ध हो गया।

कुछ तत्त्व कारण ही है कार्य नहीं; कुछ कारण भी है और कार्य भी है। कुछ कार्य ही है। कुछ न तो कारण है और न कार्य है। इस प्रकार कार्यकारण का चतुर्विध रूप बताया गया। यह प्रतिज्ञासमुदाय को सूचित करने वाला सूत्र है। यहाँ सूत्र में आचार्य ने जिसे निर्दिष्ट किया है; इस सांख्यशास्त्र में वह प्रमेय है, ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न— इस प्रमेय की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर— प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है। जो जाना जाय, वह प्रमेय है। अर्थात् ज्ञेय वस्तु प्रमेय कही जाती है। उसकी सिद्धि प्रमेयसिद्धि है। सिद्धि का अर्थ है—अधिगम या अवबोध। जिससे जाना जाय, वह प्रमाण है। यहाँ करणअर्थ का

प्रमीयते तदिति प्रमेयम् । प्रमेयस्य सिद्धिः प्रमेयसिद्धिः । सिद्धिरधिगमोऽवबोध इत्यर्थः प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम् । करणसाधनो ल्युट् । तदेकमेव, बुद्धेरेकत्वाभ्युपगमात् । उपाधिवशात्तु भिन्नमाश्रीयते, प्रत्यक्षमनुमानमित्यादि । तस्य योऽसावुपाधिकृतो भेदस्तमनाश्रित्य प्रमेयपरिच्छेदकत्वसामान्यमङ्गीकृत्यैकवचननिर्देशः क्रियते प्रमाणादिति ।

एतस्मात् प्रमेयसिद्धिरित्यवगन्तव्यम् । कथम् ? व्रीह्यादिवत् । यथा हि व्रीह्यादि प्रमेयं प्रस्थादिना प्रमाणेन परिच्छिद्यते एवमिहापि व्यक्तादि प्रमेयं प्रत्यक्षादिप्रमाणेन परिच्छिद्यत इति ।

इह 'हि'शब्द इदानीं किमर्थः स्यात् ? अवधारणार्थ इति । आहयद्येवं 'हि'शब्दावचनम्, अवधारणानुपपत्तेः । न ह्येतस्मिन् सूत्रे कथञ्चिदवधारणमुपपद्यते । तस्मादवचनमेव 'हि' शब्दस्य न्याय्यम् ।

द्योतक ल्युट्प्रत्यय है । अर्थात् प्र-उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से करण अर्थ में ल्युट्प्रत्यय करने पर 'प्रमाण' शब्द बनता है । अतः प्रमेय का अवबोध जिससे हो वह प्रमाण है; यह निष्कर्ष हुआ । वह प्रमाण एक ही है । क्योंकि बुद्धि ही प्रमेय का ज्ञान कराती है और वह एक मानी गयी है । फिर भी उपाधि के भेद से प्रमाण में भेद स्वीकृत किया गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि । किन्तु उपाधिकृत जो प्रमाण का भेद है, उसका आश्रय न लेकर केवल प्रमेयपरिच्छेदकत्वसामान्य को अपनाते हुए यहाँ सूत्र में 'प्रमाणात्' ऐसा एकवचन का निर्देश किया गया है । इससे (प्रमाण से) प्रमेय की सिद्धि होती है, यह जानना चाहिये ।

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर— व्रीहि आदि के समान । अर्थात् जैसे व्रीहि (धान्य) आदि प्रमेय प्रस्थ (मापविशेष) आदि प्रमाण से जाना जाता है; ऐसे यहाँ भी व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञरूप प्रमेय प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से जाना जाता है ।

प्रश्न— यहाँ वर्तमान प्रसङ्ग में 'हि' शब्द किस प्रयोजन से है ?

उत्तर— अवधारण सूचित करने के लिये है ।

आशङ्का— यदि ऐसा है तो यहां 'हि' शब्द नहीं कहना चाहिये । क्योंकि अवधारण बन नहीं सकता है । अर्थात् इस सूत्र में किसी भी प्रकार से अवधारण की उपपत्ति नहीं हो सकती है । अतः 'हि' शब्द को नहीं कहना ही समुचित है ।

प्रमेयस्यैवेति चेत् न, अन्यस्यासंभवात् । सति हि व्यभिचारसम्भवे वस्त्ववधार्यते । तद्यथा गौरेवायं नाश्वः, देवदत्त एवायं न यज्ञदत्त इति । न च प्रमेयाप्रमेययोः प्रमाणपरिच्छेद्यत्वेऽस्ति प्रसङ्गः, यन्निवृत्त्यर्थं प्रमेयस्यैवेत्यवधार्यते ।

प्रमाणेभ्य एवेति चेत्, न, आर्षज्ञानविरोधप्रसङ्गात् । परमर्षेर्हि भगवतः (ज्ञानं) सांसिद्धिकमप्रमाणपूर्वकमिति वः पक्षः । 'सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः' (का० ४३) इति वचनात् । तदेवं सति विरुध्येत ।

उभयावधारणमिति चेन्न, उभयदोषप्रसङ्गात् । उभयावधारणे सति उभयोरपि पक्षयोर्ये दोषास्ते प्रसज्यन्ते । तस्मादयुक्तमेतत् ।

सिद्धिरेवेति चेत्, न, अनेकान्तात् । कदाचिद्ध्ययं प्रमाता सन्नि-

---

यदि कहें कि 'प्रनेयस्यैव सिद्धिः' अर्थात् 'प्रमेय की ही सिद्धि' ऐसा अवधारण हो सकता है—तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य की (अप्रमेय की) सिद्धि संभव ही नहीं है। जहां पर व्यभिचार की संभावना होती है, वहीं पर वस्तु का अवधारण किया जाता है। जैसे, गौ ही है, अश्व नहीं है; यह देवदत्त ही है, यज्ञदत्त नहीं है; इत्यादि स्थल में। प्रमाण द्वारा ज्ञेय होने का प्रसङ्ग प्रमेय-अप्रमेय दोनों में नहीं है, जिससे अप्रमेय की निवृत्ति के लिये 'प्रमेयस्यैव' ऐसा अवधारण किया जाय। अर्थात् जो अप्रमेय है, उसमें प्रमाणपरिच्छेद्यत्व का प्रसङ्ग ही कहां है कि उसका निवारण करने के लिए 'प्रमेयस्यैव' ऐसा एवकार दिया जाय।

यदि कहें कि प्रमाणों से ही प्रमेय का अवबोध होगा, ऐसा अवधारण विवक्षित है; तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि आर्षज्ञान के साथ विरोध होने लगेगा। परमर्षि भगवान् कपिल का ज्ञान सांसिद्धिक होने से प्रमाण के बिना ही है, यह आपका पक्ष है। 'सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः' यह वचन है। इस प्रकार विरोध उपस्थित हो जाता है। अर्थात् यदि प्रमाण से ही ज्ञान होता तो आर्षज्ञान सांसिद्धिक है, ऐसा क्यों कहा गया।

यदि कहें कि 'प्रमेयस्यैव तथा प्रमाणेभ्य एव' ऐसा दोनों का अवधारण 'हि' शब्द से विवक्षित है, तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि तब उपर्युक्त दोनों ही दोषों की प्रसक्ति हो जायगी। अर्थात् उभय का अवधारण विवक्षित होने पर पूर्व में दोनों पक्षों में जो दोष बताये गये हैं, उन सभी की प्रसक्ति हो जायगी।

यदि कहें कि 'सिद्धिरेव' ऐसा अवधारण विवक्षित है। अर्थात् प्रमाण से प्रमेय

हितेऽप्यादित्यादौ लिङ्गे दिङ्निश्चयादिष्वर्थेषु प्रतिहन्यते। तस्मादनेकान्तात् सिद्धिरेवेत्येतदयुक्तमवधारणम्।

उच्यते—यदुक्तं 'हि' शब्दावचनमवधारणानुपपत्तेरिति—अस्तु 'प्रमाणेभ्य एवे' त्यवधारणम्। यत्तुक्तमार्षज्ञानविरोधप्रसङ्ग इति—अयमदोषः। कस्मात्? सिद्धरूपत्वात्! साध्यमानरूपाणि हि वस्तूनि नान्तरीयकत्वात् स्वरूपनिष्पत्तये साधनसम्बन्धं प्रत्याकाङ्क्षावन्ति भवन्ति, सिद्धरूपं तु भगवतः परमर्षेर्ज्ञानम्। तस्मादस्य साधनसम्बन्धं प्रत्याकाङ्क्षा नोपपद्यत इति।

अथवा पुनरस्तु सिद्धिरेवेत्यवधारणम्। यत्तूक्तमनेकान्तादिति-तदनुपपन्नम्। कस्मात्? सत्त्वादीनामङ्गाङ्गिभावानियमात्। तमः प्रकर्षसामग्र्यात्

की सिद्धि होगी ही—यह सूत्रकार का अभिप्राय है। तो यह भी युक्त नहीं है; क्योंकि यह नियम व्यभिचरित है। कारण, वही प्रमाता कभी आदित्य आदि लिङ्ग (प्रमाण) के सन्निहित रहने पर भी दिशा का निश्चय आदि प्रयोजन सिद्ध करने में असमर्थ हो जाता है। अतः व्यभिचरित होने से 'सिद्धिरेव' यह अवधारण भी अयुक्त है।

सिद्धान्ती—यह जो कहा कि सूत्र में 'हि' शब्द नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'प्रमेयस्यैव-प्रमाणेभ्य एव 'सिद्धिरेव' ये तीनों ही प्रकार के अवधारण अनुपपन्न हैं। इस पर हमारा कथन है कि 'प्रमाणेभ्य एव' यही अवधारण हो, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। इस पर यह जो कहा कि ऐसा मानने पर आर्षज्ञान के साथ विरोध की प्रसक्ति हो जायगी—तो यह दोष नहीं होगा, क्योंकि आर्षज्ञान तो सिद्धरूप होता है। जो वस्तु सिद्ध नहीं हैं किन्तु साध्यमान कोटि में हैं, उन्हें अपने स्वरूप की निष्पत्ति के लिये साधनसंबन्ध की आकाङ्क्षा होती है। क्योंकि साध्यमान वस्तु साधन-सम्बन्ध के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती है। भगवान् कपिल का ज्ञान तो स्वत सिद्धरूप है, अतः उसे अपनी उत्पत्ति के लिये साधन (प्रमाण) सम्बन्ध के प्रति आकाङ्क्षा ही नहीं है। इसलिये 'प्रमाणेभ्यः एव' ऐसा अवधारण स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं होगा।

अथवा प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि होती ही है, यही अवधारण रहे। यह जो कहा था कि इसमें व्यभिचार दोष है। अर्थात् दिशा का निश्चय कराने वाले आदित्य आदि लिङ्ग के रहते हुए भी प्रमाता को दिशा का निश्चय नहीं होता है कि यह पूरब है या दक्खिन है—तो वह कथन युक्त नहीं हैं। क्योंकि सत्त्वादिगुणों के अङ्ग-अङ्गिभाव का कोई नियम नहीं है। इसलिये तमोगुण के प्रावल्य की सामग्री होने पर प्रमाजनक

प्रमाणवैकल्योपपत्तेः। इह सत्त्वादीनामनियतोऽङ्गाङ्गिभावः। देशकाल-निमित्तसामर्थ्याद्धि कदाचित् सत्त्वं प्रकृष्यते, कदाचिद्रजः कदाचित्तमः। सत्त्वप्रकर्षश्च प्रकाशरूपत्वात् प्रमाणम्। तत्र यदा तमः प्रकृष्यते तदा तेनाभिभूतत्वात् सत्त्वस्य तत्कार्यमनुमानं त्रिकालाङ्गमुपतिष्ठते। इत्यतः सत्यामप्यादित्यादिलिङ्गप्रवृत्तौ दिङ्निश्चयादिष्वर्थेषु प्रतिहन्यते। इतरथा तु न स्वरूपहानम्।

यस्य तु निष्पत्तिवैकल्यात् प्रमाणप्रतिबन्धो नेष्टस्तस्य स्वरूपहानं प्रमाणानां प्राप्तम्। कथम्? एतावद्धि तेषां स्वरूपं यदुत प्रमेयपरिच्छेदः। तस्मात् युक्तमेतदवधारणार्थो 'हि'शब्दः।

प्रमाण दुर्बल हो जाता है। अर्थात् लोक में सत्त्वादि का अङ्गाङ्गीभाव अनियत है। क्योंकि देश काल और निमित्त के सामर्थ्यानुसार कभी सत्त्व प्रबल हो जाता है, कभी रज: और कभी तम:। इनमें सत्त्व का प्रकर्ष (प्राबल्य) प्रकाशरूप होने से प्रमाणभूत है। किन्तु जब तमोगुण प्रबल हो जाता है, तब उससे सत्त्व के अभिभूत हो जाने से सत्त्व का कार्य अनुमान प्रमाण (त्रिकाल ?) अङ्ग होकर उपस्थित होता है न कि अङ्गी होकर। इसलिये आदित्य आदि लिङ्ग की प्रवृत्ति होने पर भी दिङ्निर्धारण आदि अर्थों में वह अनुमान प्रतिहत हो जाता है; और उसके प्रमाणत्व की हानि हो जाती है। क्योंकि वह प्रमेय की प्रतीति नहीं करा पाता है। अन्यथा तो उसके स्वरूप की (प्रमाणत्व की) हानि नहीं होती है। अर्थात् सत्त्व की प्राबल्यावस्था में अनुमान आदि प्रमाण प्रमेय की यथार्थ प्रतीति कराते हैं। इस अवस्था में उनका प्रमाणत्व अक्षुण्ण रहता है। तात्पर्य यह है कि तमोगुण की प्राबल्यावस्था में आदित्यादि लिङ्ग प्रमाण ही नहीं है। अत: यहां अनेकान्त (व्यभिचार) का प्रश्न ही नहीं है।

जिसको तो निश्चयात्मक बोध के अभाव में भी प्रमाण का प्रतिबन्ध (प्रतिहत होना) अभीष्ट नहीं है अर्थात् उसे प्रमाण ही मानते हैं, उसके यहां प्रमाणों के स्वरूप की हानि प्राप्त हो जाती है। अर्थात् उसमें व्यभिचार आ जाता है। क्योंकि प्रमाण रहते हुए भी अर्थनिश्चय नहीं हुआ।

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर— क्योंकि प्रमाणों का यही स्वरूप है कि प्रमेय का परिच्छेद (निश्चय) करा दे। अत: यह ठीक है कि सूत्र में 'हि' शब्द अवधारणार्थक है।

---

१. अनुमानं त्रिकालं भवतीति वस्तुस्थितिरत्रोक्ता इति प्रतीयते। तथा सति त्रिकालम् इति पठनीयम्।

आह—बहूनि प्रमाणान्याचार्यैरभ्युपगम्यन्ते, तानि सर्वाणि किं भवान्तनुमन्यते ? नेत्युच्यते। किं तर्हि ? त्रिविधं प्रमाणमिष्टम् (का० ४ चरण ३) विधानं विधा, तिस्रो विधा अस्य तत् त्रिविधं त्रिप्रकारमित्यर्थः। अनेनैतदाचष्टे—एकमेव बुद्धिलक्षणं सत्त्वं निमित्तान्तरानुग्रहोपजनिताभिः कार्यविशेषपरिच्छिन्नरूपभेदाभिः शक्तिभिरुपकाराद् भिन्नमिव प्रत्यवभासमानं दृष्टादिशब्दवाच्यं भवति।

न तु यथा तन्त्रान्तरीयाणां विषयोपनिपातिभिरिन्द्रियैरुपजनिता (बह्व्यो)बुद्धयस्तथेह विद्यन्ते, याः परिकल्प्यमानाः स्वतन्त्राणि त्रीणि प्रमाणानि स्युः।

स्यान्मतम्, कथं पुनः प्रमाणलक्षणानां शक्तीनामेकवस्तुसन्निवेशे रूपभेदा भवन्तीति ?

प्रश्न— आचार्यों ने बहुत प्रमाण माने हैं। क्या आप उन सभी प्रमाणों को स्वीकार करते हैं ?

उत्तर— नहीं।

प्रश्न— तो क्या मानते हैं ?

उत्तर— सांख्यमत में प्रमाण के तीन भेद स्वीकृत हैं। त्रिविध इस शब्द में विधा का अर्थ है—विधान या प्रकार। तीन विधा या प्रकार हैं जिसके, वह त्रिविध है। अर्थात् प्रमाण तीन प्रकार का होता है।

इसके द्वारा आचार्य यह बतलाते हैं कि एक ही बुद्धिस्वरूप सत्त्व विभिन्न निमित्तों के अनुग्रह से उत्पन्न हुई तथा कार्यविशेष से विभिन्न रूपों में जानी जाती हुई शक्तियों से उपकृत होकर भिन्न-भिन्न रूप में भासित होता हुआ दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और आगम शब्द से कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि जैसे अन्य शास्त्रों के आचार्यों के यहां विषयसंयुक्त इन्द्रियों से बहुत बुद्धियां उत्पन्न होती हैं, वैसे यहां (सांख्यमत में) अनेक बुद्धियां हों। और जिनकी परिकल्पना के आधार पर स्वतन्त्र तीन प्रमाण हों। अर्थात् सांख्यमत में वस्तुगत्या एक ही प्रमाण है बुद्धि, और उसके प्रकारमात्र हैं—प्रत्यक्ष अनुमान और आगम।

प्रश्न— पूर्वोक्त मत भले ही हो, किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणस्वरूप बुद्धिसत्त्व की शक्तियों का एक विषय में सन्निवेश होने पर भिन्न-भिन्न रूप कैसे हो जाता है ? अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण जब एक ही बुद्धिसत्त्व की शक्तियां हैं, वह्नि आदि एक

उच्यते—सत्त्वादिवत् । यथा सत्त्वादीनां गुणानामेकशब्दादिवस्तुसन्निवेशेऽपि प्रकाशादिकार्यभेदाद् रूपसंकरो न भवति, यथा वा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामेकद्रव्यसन्निवेशेऽपि ग्राहकान्तरगम्यकत्वात्, यथा वा कर्तृकरणाधिकरणसम्प्रदानापादानकर्मलक्षणानां शक्तीनामेकद्रव्यसन्निवेशेऽपि कार्यविशेषपरिच्छिन्नानि स्वरूपाणि न संकीर्यन्ते, तद्वदिदं द्रष्टव्यम् ।

शक्त्यन्तरोपजनने वस्त्वन्तरोपपत्तिरिति चेत्, न, अनभ्युपगमात् । नहि क्षणभङ्गसाहसं युक्तिमन्तरेण दण्डभयादपि प्रतिपद्यामहे, न तु तस्यायमवसर इति स्थीयतां तावत् ।

ही विषय में इनका सन्निवेश होने पर भी वह्नि का साक्षात्कार भिन्न प्रकार का, वह्नि की अनुमिति भिन्न प्रकार की और वह्निविषयक शाब्दबोध भिन्न प्रकार का क्यों उत्पन्न होता है ?

उत्तर–सत्त्व आदि गुणों के समान भिन्न-भिन्न रूप हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् जैसे सत्त्वादि गुणों का एक ही शब्दादि विषय में सन्निवेश होने पर भी प्रकाश प्रवृत्ति और नियमनरूप कार्य के भेद से इनका भिन्न-भिन्न रूप हो जाता है, रूपों का साङ्कर्य नहीं हो जाता। इसके अनुसार सत्त्वगुण के कारण शब्द का प्रकाश होता है, रजोगुण के कारण उसी शब्द में गति होती है और तमोगुण के कारण उसमें स्थिति या तिरोधान हो जाता है और तीनों का अपना पृथक् स्वरूप कायम रहता है।

अथवा जैसे, शब्द-स्पर्श-रूप-रस एवं गन्ध का पुष्प आदि एक ही द्रव्य में सन्निवेश होने पर भी भिन्न-भिन्न ग्राहक इन्द्रियों से इनका पृथक् पृथक् बोध होता है, वहाँ इन्द्रियों का सांकर्य नहीं हो जाता है। अथवा जैसे, कर्ता-करण-अधिकरण-सम्प्रदान-अपादान एवं कर्मस्वरूप विभिन्न शक्तियों का एक ही द्रव्य में सन्निवेश होने पर भी अपने-अपने कार्यों से जाने जाते हुए कर्ता आदि के स्वरूपों का संकर नहीं हो जाता है, बल्कि सभी कारकों का अपना अपना पृथक् स्वरूप कायम रहता है। वैसे ही प्रमाणों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। अर्थात् एक ही बुद्धिसत्त्व की शक्तिरूप होने पर भी प्रमाणों का प्रत्यक्ष-अनुमान और आगम नामक तीन भेद अपने कार्य भेद से हो जाता है।

शङ्का— यदि बुद्धिसत्त्व के शक्त्यन्तर के रूप में प्रत्यक्षादि प्रमाणों को

आह—कथं पुनरेतद् गम्यते, यथा त्रिविधमेव प्रमाणं न पुनरनेकविधमपीति ?

उच्यते—'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।'

सर्वाणि च तानि प्रमाणानि सर्वप्रमाणानि । सिद्धस्य भावः सिद्धत्वम् । सर्वप्रमाणानां सिद्धत्वं सर्वप्रमाणसिद्धत्वम् । सिद्धत्वमन्तर्भाव इत्यर्थः । तस्मात् सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् । तस्मिन्नेव त्रिविधे प्रमाण इति वाक्यशेषः । सर्वेषां परपरिकल्पितानां प्रमाणानामस्मिन्नेव त्रिविधे प्रमाणेऽन्तर्भावादिति यावदुक्तं स्यात्तावदिदमुच्यते—सर्वप्रमाणसिद्धत्वादिति ।

अथवा'सर्वप्रमाणेषु सिद्धं सर्वप्रमाणसिद्धम्' सप्तमी सिद्धशुष्कपक्व-

---

उत्पन्न माना जाय तो वस्त्वन्तर की सिद्धि हो जायगी । अर्थात् एक वस्तु नष्ट होकर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ।

उत्तर— हम वैसा नहीं मानते हैं । क्योंकि युक्ति के विना दण्ड के भय से भी क्षणभङ्ग को हम नहीं मानते;किन्तु युक्ति का यहाँ कोई अवसर नहीं है । इसलिये ऐसी शङ्का से रुकें ।

पूर्वपक्षी— यह कैसे जाना जाय कि प्रमाण त्रिविध ही है, अनेक प्रकार का भी नहीं है ? अर्थात् न्यायमतानुसार चतुर्विध या मीमांसा-वेदान्तादि के अनुसार पञ्चविध या षड्विध भी हो सकता है ।

सिद्धान्ती— सर्व प्रमाणों के तीन में ही अन्तर्भाव होने से प्रमाण त्रिविध ही है । यहाँ पर 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' इस सूत्रांश का यह व्याख्यान है—सर्वाणि च प्रमाणानि सर्वप्रमाणानि' यह कर्मधारय समास है 'सिद्धस्य भावः सिद्धत्वम्, सर्वप्रमाणानां सिद्धत्वं सर्वप्रमाणसिद्धत्वम्' ऐसा षष्ठीतत्पुरुषसमास है । तदनन्तर 'हेतु' अर्थ में पञ्चमी विभक्ति लगकर 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' यह हेतुवाक्य बनता है । चूंकि यह वाक्य अपूर्ण है, इसलिये 'तस्मिन्नेव त्रिविधे प्रमाणे'इतना वाक्य का शेष अंश समझना चाहिये । इस प्रकार पूर्ण वाक्य यों बन गया—तस्मिन्नेव त्रिविधे प्रमाणे सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' । इसलिये अन्यों द्वारा परिकल्पित सभी प्रमाणों का सांख्यद्वारा स्वीकृत इसी त्रिविध प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाने से प्रमाण त्रिविध ही है । अतः यह सम्पूर्ण अभिप्रेत अर्थ 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' इस सूत्रभाग से विवक्षित है, ऐसा समझना चाहिये ।

अथवा, 'सर्वप्रमाणेषु सिद्धं सर्वप्रमाणसिद्धम्' ऐसा सप्तमीसमास 'सिद्धशुष्क-

बन्धै'रिति समासः, यथा सांकाश्यसिद्धः पाटलिपुत्रसिद्ध इति । तद्भावः प्रमाणसिद्धत्वम्, तस्मात् प्रमाणसिद्धत्वात् । कस्य ? त्रिविधस्य प्रमाणस्येति वाक्यशेषः । केन पुनराकारेण त्रिविधं प्रमाणं सिद्धमिति ?

उच्यते—परस्परविशेषात्[1] (परस्पराविशेषात्) । अन्यानि पुनरस्मात् त्रयाद् यथाऽभिन्नानि तथा प्रतिपादयिष्यामः ।

आह—किम्पुनस्तत् त्रिविधं प्रमाणमिति ।

उच्यते—'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च' इति ।

तत्र दृष्टं नाम उपात्तविषयेन्द्रियवृत्त्युपनिपाती योऽध्यवसायः । अनुमानं द्वयोरविनाभाविनोरेकं प्रत्यक्षेण प्रमाय तत्पूर्वकं सम्बन्ध्यन्तरे यत् पश्चान्मानं भवति ।

पत्र-बन्धैश्च' (पा०सू० २।१।४१) से हुआ है। जैसा कि 'सांकाश्यसिद्धः पाटलिपुत्रसिद्धः' इत्यादि समास होता है। 'तस्य भावः प्रमाणसिद्धत्वम्, तस्मात् प्रमाणसिद्धत्वात्' ऐसा पूर्व व्याख्यान के समान ही समझना चाहिये। अर्थात् 'वादियों द्वारा स्वीकृत सभी प्रमाणों में सिद्ध होने से' ऐसा अर्थ उक्त सूत्रभाग का हुआ।

प्रश्न— कस्य ? अर्थात् किसके सिद्ध होने से ?

उत्तर— चूंकि 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' यह वाक्य अपूर्ण है, इसलिये 'त्रिविधस्य प्रमाणस्य' इसको उस वाक्य का शेष अंश समझना चाहिये। इस प्रकार 'अन्यवादियों द्वारा स्वीकृत चार-पाँच या छः आदि प्रमाणों में त्रिविध प्रमाणों के सिद्ध होने से' ऐसा समुदित वाक्य का अर्थ हुआ। इस पक्ष में 'सिद्धत्व' पद का अर्थ है—अभिन्नरूप में अनुस्यूत होना; अर्थात् अन्यवादियों द्वारा स्वीकृत सभी प्रमाणो में सांख्योक्त त्रिविध प्रमाण अभिन्नरूप में अनुस्यूत है। इसलिये प्रमाण त्रिविध ही इष्ट है।

प्रश्न— किस प्रकार से त्रिविध प्रमाण सिद्ध है ?

उत्तर— परस्पर में अविशेषता के कारण सिद्ध है। अर्थात् वादियों के प्रमाण में परस्पर अविशेषता (अभिन्नता) है। अन्य वादियों द्वारा कथित उपमान-अनुपलब्धि-अर्थापत्ति-संभव और ऐतिह्य नामक अतिरिक्त प्रमाण सांख्योक्त प्रमाणत्रय से जिस प्रकार अभिन्न हैं, उसे आगे चलकर प्रतिपादित करेंगे।

प्रश्न— वह कौन तीन प्रकार का प्रमाण है ?

उत्तर— दृष्ट (अर्थात् प्रत्यक्ष) अनुमान और आप्तवचन (अर्थात् आगम) ये तीन प्रमाण सांख्यशास्त्र में माने गये हैं। उनमें दृष्ट प्रमाण का स्वरूप यह हैं—विषय

---

१. 'परस्पराविशेषात्' इति पाठः समुचितः।

आप्तवचनं तु प्रमाणभूतशब्दद्वारकोऽत्यन्तपरोक्षेऽर्थे निश्चयः, इत्युद्देशमात्रमिदम्। मूललक्षणं तु आचार्यो वक्ष्यति स्वयमेव-प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमित्यादि।

आह—त्रैविध्याऽनुपपत्तिः, न्यूनाधिकश्रवणात्। तन्त्रान्तरीयाः केचित् चत्वारि प्रमाणानीच्छन्ति। प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति वचनात्। तथा षडित्यन्ये।

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दश्चोपमया सह।
अर्थापत्तिरभावश्च हेतवः साध्यसाधकाः॥

इत्यभिधानात्। एतानि सम्भवैतिह्यचेष्टासहितानि नवेत्यपरे।

से इन्द्रियों के सम्बद्ध होने पर उत्पन्न जो चित्तवृत्ति, उसके अनन्तर उत्पन्न जो बुद्धि-धर्म अध्यवसाय, वह दृष्ट प्रमाण है।

अनुमान प्रमाण यह है—व्याप्य और व्यापक दोनों में एक को अर्थात् व्याप्य को प्रत्यक्ष प्रमाण से जानकर उसके अनन्तर दूसरे सम्बन्धी का अर्थात् व्यापक का जो पीछे निश्चयात्मक बोध होता है, वह अनुमान है।

एवं, आप्तवचन प्रमाण यह है—प्रमाणभूत शब्द के द्वारा अत्यन्त परोक्ष विषय के सम्बन्ध में जो निश्चय, वह आप्तवचन (आगम) प्रमाण है। यहाँ प्रमाणों का नामसंकीर्तनमात्र है। प्रमाणों का मूल लक्षण तो 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमि'त्यादि के द्वारा आचार्य स्वयं ही कहेंगे।

प्रतिपक्षी— प्रमाणों का उक्त त्रैविध्य नहीं बन सकता है; क्योंकि किसी के मत से कम तथा किसी के मत से अधिक प्रमाण सुने जाते हैं। अन्य शास्त्रकार कोई चार प्रमाण मानते हैं। जैसा कि उनके यहाँ कहा गया है—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' (न्या० द० अ० १ आ० १ सू० ३)। तथा छे प्रमाण हैं ऐसा अन्य लोग मानते हैं। जैसा कि कहा गया है—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च शब्दश्चोपमया सह।
अर्थापत्तिरभावश्च हेतवः साध्यसाधकाः॥

अर्थात् प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-शब्द-अर्थापत्ति एवं अभाव ये छे प्रमाण साध्य को सिद्ध करने वाले हैं यह मत वेदान्ती एवं भाट्ट का है। ये ही सम्भव-ऐतिह्य और चेष्टा को मिलाकर नव प्रमाण हैं-ऐसा दूसरे लोग मानते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान दो

प्रत्यक्षानुमाने एवेति वैशेषिकबौद्धाः। तत्र कथमिदं निश्चीयते त्रिविधमेव प्रमाणं न पुनर्न्यूनमधिकं वेति ?

उच्यते—किम्पुनरिदमुपमानं नाम ?

आह—प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्। प्रसिद्धः प्रज्ञातः, तेन साधर्म्यात् साध्यस्याऽप्रसिद्धस्य साधनमधिगमो यस्तदुपमानम्। अवबोधविधिस्तु—येनानुपलब्धो गवयः स तस्योपलब्ध्यर्थमधिगतगवयं पर्यनुयुङ्क्ते-किंरूपो गवय इति। स तस्मा आचष्टे-यथा गौरेवं गवय इति। तत्र प्रतिपत्ताऽत्यन्ताऽनुपलक्षितगवयस्वरूपो व्याख्यातृप्रतिपादितप्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यज्ञानाहितसंस्कारः प्रतिपद्यते–नूनमेवंरूपो गवय इति।

अपर आह—प्रति(पत्तु) (?) राप्तवचनोपजनितप्रसिद्धवस्तुसाधर्म्य-

ही प्रमाण हैं ऐसा वैशेषिक और बौद्ध मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे निश्चित किया जाता है कि प्रमाण के तीन ही भेद हैं कम या अधिक नहीं।

सिद्धान्ती—प्रतिपक्षियों द्वारा स्वीकृत यह उपमान क्या है ?

प्रतिपक्षी— प्रसिद्ध के साथ जो साधर्म्य उससे साध्य का साधन करना उपमान है। प्रसिद्ध का अर्थ है प्रज्ञात अर्थात् अच्छी तरह से ज्ञात वस्तु। उसके साथ साधर्म्य के कारण अप्रसिद्ध साध्य का जो अधिगम वह उपमान है। यहाँ अप्रसिद्ध साध्य के अधिगम की विधि तो यह है—जिस व्यक्ति को गवय पदार्थ अज्ञात है, वह उसके ज्ञान के लिए उस व्यक्ति से पूछता है जो गवय को जानता है, कि गवय किसे कहते हैं अर्थात् गवय का क्या स्वरूप है। वह व्यक्ति प्रश्नकर्ता के प्रति कहता है—जैसी गौ होती है वैसा ही गवय होता है।

अनन्तर अरण्य में गया हुआ व्यक्ति गोसदृश पदार्थ को प्रत्यक्ष से देखता है। यद्यपि उसके लिये गवय का स्वरूप पहले से अत्यन्त अपरिचित है; तथापि पूर्व में व्याख्याता जन के द्वारा बताया गया जो प्रसिद्ध गोवस्तु के साथ गवय का साधर्म्य, उसके ज्ञान से उत्पन्न जो संस्कार उसके कारण वह व्यक्ति यह जान लेता है कि गो सदृश यह पदार्थ निश्चितरूप से गवय है।

आप्तजन के वचन से उत्पन्न जो प्रसिद्ध वस्तु गो के साथ साधर्म्यज्ञान (सादृश्यज्ञान) उस ज्ञान से उत्पन्न है संस्कार जिसको ऐसे प्रतिपत्ता व्यक्ति को उत्तर काल में प्रत्यक्ष द्वारा गवय को देखकर उसके साथ गवय शब्द का जो सम्बन्धज्ञान(शक्तिज्ञान),

ज्ञानाहितसंस्कारस्योत्तरकालं प्रत्यक्षेण तमुपलभ्य या समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः—अयमसावर्थोऽस्य शब्दस्य समाख्या इति—तदुपमानमुच्यते ।

(यद्येवम्)उपमैतिह्यावचनम्, आप्तोपदेशसिद्धेः । यथा गौरेवं गवय इति चाप्तोपदेशबलात् प्रतिपत्ता अप्रसिद्धं गवयमुपलभते न साधर्म्यमात्रात् । तस्मान्न शब्दात् पृथगुपमा ।

यत्तु खल्विति ह उवाच याज्ञवल्क्य इत्येतदैतिह्यं नाम प्रमाणान्तरमुपकल्प्यते तदपि वक्तृविशेषापेक्षत्वान्न शब्दादर्थान्तरम् ।

आह—न, साधर्म्यापेक्षत्वात् । यदि ह्याप्तोपदेश उपमा स्यात्तेन यथा स्वर्गेऽप्सरसः, उत्तराःकुरव इत्येवमादिष्वन्तरेण साधर्म्योपादानं प्रतिपत्तिर्भवति, एवमिहापि स्यात् । गवयन्तु अयमाख्याता प्रतिपादयिष्यन् प्रसिद्धसाधर्म्यगर्भं शब्दमुपादत्ते न केवलम् । प्रतिपत्तापि तस्मादेव प्रतिपद्यते न शब्दमात्रात् । तस्मात् पृथगेवास्योपदेशः कर्तव्यः ।

वही उपमान कहा जाता है। उसका स्वरूप यह है—यह दृश्यमान पदार्थ गवयशब्द का शक्य (वाच्य) है। तात्पर्य यह है कि दृश्यमान गोसदृश वस्तु में गवय पद की शक्ति का ज्ञान ही उपमान है। प्रथम मत के अनुसार पूर्वोक्त पद्धति से हुआ गवय-प्रत्यक्ष ही उपमान है। द्वितीय मतानुसार पूर्वोक्त पद्धति से गोसदृश वस्तु में गवय-पद की शक्ति का ज्ञान उपमान है। यदि उपमा इस प्रकार की है तो उपमा और ऐतिह्य को प्रमाण नहीं कहना चाहिये; क्योंकि आप्तोपदेश से ही वह गतार्थ हो जायेगा। कारण, चूंकि गोसदृश गवय होता है इस प्रकार के आप्तोपदेश के बल से ही प्रतिपत्ता व्यक्ति अप्रसिद्ध गवय को जानता है न कि साधर्म्यमात्र से। इसलिये शब्द-प्रमाण से पृथक् उपमान प्रमाण नहीं है। जो तो 'इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः, इस प्रकार का ऐतिह्य नामक पृथक् प्रमाण की कल्पना की जाती है, वह ऐतिह्य भी शब्दप्रमाण से पृथक् वस्तु नहीं है; क्योंकि उसमें भी किसी विशेष वक्ता की अपेक्षा रहती है, अर्थात् वक्ता की अपेक्षा होने के कारण ऐतिह्य भी शब्दप्रमाण के अन्तर्गत है।

शंका—उपमान को शब्दप्रमाण के अन्तर्गत मानना ठीक नहीं है; क्योंकि उपमान में साधर्म्य (सादृश्य) की भी अपेक्षा होती है। यदि उपमानप्रमाण आप्तोपदेश-रूप होता तो जैसे 'स्वर्गे अप्सरसः,उत्तराःकुरवः इत्यादि स्थलों में साधर्म्य के बिना ही बोध हो जाता है,वैसे उपमानस्थल में भी साधर्म्य के बिना ही गवय का बोध हो जाता; किन्तु गवय को बताने की कामना वाला वक्ता प्रसिद्ध वस्तु के साथ सादृश्यगर्भित

शब्दव्यापारात्तदन्तर्भाव इति चेत्, स्यान्मतम्—शब्दव्यापारसहितोऽयं प्रसिद्धसाधर्म्यलक्षणार्थो गवयप्रतिपत्तौ न केवलः, तस्मादस्य तत्रान्तर्भाव इति, तदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? वीतावीतयोरपि तत्प्रसङ्गात्। वीतावीतावपि हेतू परप्रतिपादनार्थमुपादीयमानौ शब्दव्यापारमपेक्षेते। तयोराप्तवचनत्वप्रसंगः। अनिष्टं चैतत्, तस्मान्नोपमानमाप्तोपदेशः।

उच्यते—साधर्म्याऽव्यतिरेकः, उपायभूतत्वात्। आख्यातृप्रामाण्यादेव प्रतिपत्तुर्गवयविज्ञानमुपपद्यते। स तु कौशलाद्‌दुरुपपादोऽयमर्थ इति कृत्वा प्रसिद्धसाधर्म्यमुपादत्ते। तस्मादाख्यातुर्गवयप्रतिपादनार्थमुपायभूतं सायर्म्यमुपाददानस्य शब्दादनर्थान्तरमु.ब्रूवति। अथैवंजातीयकानामपि प्रमाणान्तरत्वमिष्यते, तेनात्यल्पमिदमुच्यते चत्वारि प्रमाणानीति। किं तर्हि? पाणिविहाराक्षिनिकोचप्रभृतीनामप्युपसंख्यानं कर्तव्यम्।

शब्द का उच्चारण करता है न कि सादृश्यरहित केवल शब्द का। गवय का बोध करने वाला श्रोता भी सादृश्यगर्भित शब्द से ही गवय को जान पाता है न कि साधर्म्यरहित शब्दमात्र से। अतः उपमानप्रमाण शब्द से पृथक् है।

यदि कहें कि उपमान में शब्दप्रयोग की अपेक्षा होने से उपमान का शब्द में अन्तर्भाव हो जायेगा। अर्थात् शब्दप्रयोग के साथ ही यह प्रसिद्ध के साथ साधर्म्यरूप अर्थ गवय के बोध में कारण होता है; केवल साधर्म्य गवयबोध में हेतु नहीं होता। अतः उपमान का शब्द में ही अन्तर्भाव हो जायेगा।

सिद्धान्ती का यह कथन भी अनुपपन्न है; क्योंकि वीत और अवीत अनुमानों का भी शब्दप्रमाण में अन्तर्भाव की प्रसक्ति हो जायेगी। कारण, वीत और अवीत हेतु भी दूसरे को बोध कराने के लिये अपनाये जाते हैं और वे शब्दव्यापार की अपेक्षा करते हैं। अतः वे भी शब्दप्रमाण होने लगेंगे; किन्तु ऐसा आपको अभीष्ट नहीं है। इसलिये उपमान प्रमाण आप्तोपदेशरूप नहीं है। अर्थात् उपमान शब्द से वैसे ही पृथक् प्रमाण है, जैसे आपका वीत और अवीत अनुमान शब्द से पृथक् है।

सिद्धान्ती—यहाँ पर साधर्म्य का अभाव नहीं होता है; क्योंकि वह उपायरूप है। अर्थात् यहाँ साधर्म्य की अपेक्षा इसलिये है कि वह गवयज्ञान में सहायकरूप है। वस्तुतः तो वक्ता के प्रामाणिक होने से ही बोद्धा को गवय का ज्ञान हो जाता है। वक्ता तो साधर्म्य के बिना श्रोता के लिये गवय को समझाना कठिन है, यह समझकर अपनी कुशलता से गोसादृश्य का प्रतिपादन करता है। इसलिये गवय का बोध कराने के लिये उपायभूत साधर्म्य का आश्रय लेने वाले वक्ता के शब्द से अतिरिक्त प्रमाण के रूप में

किंच, वक्तृविशेषापेक्षत्वात्। यत्र ह्यर्थवशात्प्रतिपत्तिरुत्पद्यते न तत्र प्रतिपत्ता वक्तृविशेषमपेक्षते दृष्टार्थोऽयमदृष्टार्थोऽयमिति। तद्यथाऽनुमाने। अस्ति चोपमाने वक्तृविशेषापेक्षा। तस्मान्न शब्दादर्थान्तरं तत्। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। यो हि मन्यते—प्रसिद्धसाधर्म्यादेव गवयप्रतिपत्तिरिति, यथाश्वस्तथा गवय इत्येतस्मादपि तस्य सम्प्रतिपत्तिः स्यात्। न चार्हति भवितुम्, मिथ्याज्ञानत्वात्।

यत्तु खल्विदमुच्यते—यतः समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरिति—तदुपमानमिति, एतदनुपपन्नम्। कस्मात्? अनवस्थाप्रसङ्गात्। तद् यथा बहुषु निषण्णेषु कोऽत्र देवदत्त इत्युक्ते यो मुकुटी कुण्डली व्यूढोरस्कस्ताम्रायताक्ष इति प्रत्याह। ततश्च समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरिति प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्ग इत्येवमनवस्था प्रमाणानां स्यात्। अनिष्टं चैतत्। एवं हि न तावत्परत

उपमान नहीं उपस्थित होता है। यदि इस प्रकार के प्रमाणों को भी पृथक् प्रमाण का स्थान दिया जाय तो यह बहुत थोड़ा ही कहा जा रहा है कि चार प्रमाण होते हैं; बल्कि चार प्रमाणों से अतिरिक्त पाणिविहार नेत्रसंकोच आदि की भी पृथक् प्रमाण के रूप में गणना करनी पड़ जायेगी। एवं, यहाँ भी वक्तृविशेष की अपेक्षा होने से उपमान शब्दप्रमाण के ही अन्तर्गत है। अर्थात् जहाँ पर शब्दनिरपेक्ष अर्थ के आधार पर ज्ञान उत्पन्न होता है, वहाँ पर बोध करने वाला व्यक्ति वक्ताविशेष की अपेक्षा नहीं करता कि इस व्यक्ति ने उस पदार्थ को देखा है या नहीं, जैसे अनुमान में। उपमान में तो वक्ताविशेष की अपेक्षा होती है, इसलिये वह शब्दप्रमाण से पृथक् नहीं है। यह बात अवश्य माननी होगी; क्योंकि जो व्यक्ति यह मानता है कि प्रसिद्ध साधर्म्य से ही गवय की प्रतिपत्ति होती है, उसे तो 'यथा अश्वस्तथा गवयः' इस वाक्य से भी गवय का बोध हो जाना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि उक्त साधर्म्यज्ञान मिथ्या है।

यह जो कहा गया कि जिससे संज्ञासंज्ञी का सम्बन्ध बोध हो वह उपमान है, यह ठीक नही है; क्योंकि इसमें अनवस्थादोष का प्रसंग हो जायेगा। जैसे बहुत से बैठे हुये व्यक्तियों में यह पूछने पर कि इनमें कौन देवदत्त है? उत्तर दिया जाता है कि जो मुकुट पहना हो, कुण्डल धारण किया हो, विस्तृत छाती वाला हो तथा ताम्रवर्ण एवं विस्तृत नेत्र वाला हो, वह देवदत्त है। इसके अनन्तर देवदत्तसंज्ञा का उस व्यक्ति के साथ सम्बन्ध बोध हो जाता है,इसलिये यह एक पृथक् प्रमाण होने लगेगा। इस प्रकार प्रमाणों में अनवस्था हो जायेगी। किन्तु यह अभीष्ट नही है। ऐसी स्थिति में उपमान

उपमानं प्रमाणान्तरम् । यदा स्वयमेव गां गवयं चोपलभ्य विकल्पयति यथाऽयं तथाऽयमिति तदा तस्यार्थस्य प्रमाणान्तरेणाधिगतत्वात् प्रमाणमेव तन्न भवतीति । तस्मात् सुष्ठूक्तमुपमैतिह्यावचनमाप्तोपदेशात् सिद्धेरिति ।

किञ्चान्यत्—अर्थापत्तिसम्भवाभावचेष्टानामनुमानसिद्धेः अवचनमित्यनुवर्तते। तत्रार्थापत्तिर्नाम यत्रार्थयोः पूर्वमव्यभिचारमुपलभ्य पश्चादन्यतरस्य दर्शनाच्छ्रवणाद्वान्यतरस्मिन्प्रतिपत्तिर्भवति । दर्शनाद्यथा गुडमुपलभ्य माधुर्यमिन्द्रियान्तरविषयं प्रतिपद्यते । श्रवणाद्यथा गुडशब्दं श्रुत्वा माधुर्यमशब्दकं प्रतिपद्यत इति ।

अपरा खल्वर्थापत्तिः—यत्र धर्मयोरव्यभिचारमुपलभ्य तत्प्रतिद्वन्द्विनोरपि साहचर्यकल्पना । सा तु द्विविधा व्यभिचारिणी चाव्यभिचारिणी च । तत्र व्यभिचारिणी यथा सावयवमनित्यमित्युक्तेऽर्थादापन्नं निरवयवं नित्यमिति । तच्च कर्मादिष्वदृष्टमित्येषाऽनैकान्तिकत्वात्प्रमाणमेव न भवति ।

पृथक् प्रमाण नहीं हो सकता । जब स्वयं ही गाय और गवय को देखकर विकल्प करता है कि जैसा यह है वैसा वह है; तब वह गवयरूपी अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से अधिगत हो चुका रहता है, ऐसी स्थिति में अधिगतविषयक होने से वह प्रमाण ही नहीं होता है । इसलिये ठीक ही कहा कि उपमा और ऐतिह्य को पृथक् प्रमाण नहीं कहना चाहिये; क्योंकि आप्तोपदेश (शब्दप्रमाण) से ही उसका कार्य सिद्ध हो जाता है ।

और भी, अर्थापत्ति सम्भव अभाव और चेष्टा को पृथक् प्रमाण कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इनका कार्य भी अनुमानप्रमाण से हो सिद्ध है । इनमें अर्थापत्तिप्रमाण यह है कि जहां पर दो अर्थों का पूर्व में व्यभिचाराभाव जानकर पीछे किसी एक के दर्शन से या श्रवण से दूसरे की प्रतिपत्ति हो जाती है । जैसे, नेत्र द्वारा गुड़ को देखकर उसके माधुर्य को भी-जो कि रसनेन्द्रिय का विषय है—जान लिया जाता है । श्रवण द्वारा जैसे गुड़ शब्द को सुनकर उसके माधुर्य को–जो कि शब्द द्वारा अनुभवयोग्य नहीं है—जान लिया जाता है ।

अर्थापत्ति का दूसरा स्वरूप यह है कि जहाँ दो धर्मों में अव्यभिचार को जानकर उन दोनों के प्रतिद्वन्द्वी धर्मों में भी साहचर्य की कल्पना कर ली जाती है उसे भी अर्थापत्ति कहते हैं । वह दो प्रकार की होती है–व्यभिचारिणी अर्थापत्ति और अव्यभिचारिणी अर्थापत्ति । इनमें व्यभिचारिणी अर्थापत्ति वह है जैसे–जो सावयव होता है वह

या त्वविनाभाविनी अव्यभिचारिणी, यथा--केशरिवराहयोरुपगह्वरे सन्निपातमुपलभ्योत्तरकालं केवलं केसरिणं वराहव्रणाङ्कितशरीरं प्रयान्तमुपलभ्य प्रतिपद्यते--जितो वराह इति, तदनुमानम् । कथम् ? यस्मात्केशरिवराहयोर्यौ जयपराजयौ तयोरव्यभिचारी सम्बन्धः । तत्र यदा केसरिणो जयमुपलभ्याव्यभिचारिणमितरस्य पराजयं प्रतिपद्यते, किमन्यत्स्यादृतेऽनुमानात् । अधिगतोभयसम्बन्धिसमुदायस्य हि प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षोभूतान्यतरसम्बन्धिनो या सम्बन्ध्यन्तरप्रतिपत्तिस्तदनुमानम् । इत्थं चार्थापत्तिरतो न तस्मात्पृथग्भवितुमर्हति ।

सम्भवो नाम द्रोणः प्रस्थ इत्युक्तेऽर्धद्रोणादीनां सन्निधानमवसीयते । इत्ययमपि साहचर्यकल्पनयाऽर्थापत्तिरेव । कथम् ? यस्मादुक्तपरिमाणे

अनित्य होता है ऐसा कहने पर अर्थात् ज्ञात हो जाता है कि जो निरवयव है वह नित्य है। किन्तु यह व्याप्ति कर्मादिक में नहीं देखी जाती है। इसलिये यहाँ की अर्थापत्ति व्यभिचारी होने से प्रमाण नहीं होती है।

किन्तु जो अर्थापत्ति व्याप्ति से युक्त होने के कारण अव्यभिचारिणी है, जैसे सिंह और वराह के संघर्ष को देखकर बाद में वराह द्वारा घायल शरीर वाले सिंह को जाते हुये देखकर जान लिया जाता है कि वराह पराजित हो गया, यह अव्यभिचारिणी अर्थापत्ति है। यह अर्थापत्ति अनुमान ही है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—चूंकि सिंह और वराह का जो जय और पराजय है, उन दोनों का अव्यभिचारी सम्बन्ध है। वहाँ जब सिंह की जय को देखकर वराह की पराजय को जानता है, तब अनुमान के सिवा दूसरा प्रमाण क्या हो सकता है ? अर्थात् यह अनुमान ही प्रमाण है। क्योंकि जो प्रतिपत्ता व्यक्ति उभय के सम्बन्ध को जान लिया है और उन दोनों में एक सम्बन्धी का प्रत्यक्ष कर रहा है, उस व्यक्ति को दूसरे सम्बन्धी का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान है। इस प्रकार की अर्थापत्ति है; इसलिये वह अनुमान से पृथक् नहीं हो सकती है।

सम्भवप्रमाण स्थल में द्रोण प्रस्थ है। ऐसा कहने पर प्रस्थ के अन्तर्गत अर्धद्रोण आदि भी सन्निविष्ट है ऐसा निश्चित हो जाता है। इसे सम्भवप्रमाण कहा गया है; किन्तु साहचर्यकल्पना की वजह से यह भी अर्थापत्ति ही है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—चूंकि प्रस्थ प्रमाण वाले द्रव्य में द्रोण शब्द का प्रयोग होता है, न कम

द्रव्ये द्रोणशब्दो वर्तते, न न्यूने नाधिके। तत्र द्रोणइत्युक्ते यदत्यन्तसहभुवां तदवयवानामन्यशब्दवाच्यानामपि सन्निधानम् तदर्थापत्तिरेव। सा चाऽनुमानमित्युक्तम्।

अभावो नाम तद्यथा धूमस्य भावादग्नेर्भावः प्रतीयते एवं धूमाभावादग्न्यभाव इत्ययं प्रतिद्वन्द्विसाहचर्यकल्पनयार्थापत्तिरभिहितः। तत्र यदा व्यभिचारसाहचर्यकल्पना तदा प्रमाणाभाव एव। तद्यथाऽयोगुडाङ्गारादिषु धूमाभावो नाग्न्यभावः। यत्र तु क्वचिदेकान्तः स्यात् यथाऽकृतकत्वान्नित्य इति, तत्रानुमानम्। कथम्? साहचर्योपपत्तेः, कृतकत्वानित्यत्ववत्।

अन्ये तु अभावमन्यथा वर्णयन्ति। तद्यथा गेहे नास्ति चैत्र इत्युक्ते बहिरस्तीति सम्प्रत्ययो भवति। तत्र गेहाभावो बहिर्भावसम्प्रतिपत्ति-

---

में न अधिक में। इसलिये द्रोण ऐसा कहने पर द्रोण के अत्यन्त साहचर्य वाले अर्द्धद्रोण आदि अवयवों का उसमें सन्निवेश हो जाता है; यह अर्थापत्ति ही है और अर्थापत्ति अनुमान से पृथक् नहीं है यह कहा जा चुका है।

अभाव प्रमाण वह है-जैसे धूम के होने से अग्नि का होना प्रतीत होता है, वैसे ही धूम के अभाव से अग्नि का अभाव प्रतीत होता है। किन्तु इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वो के साहचर्य की कल्पना से अर्थापत्ति अभाव कहा जाता है। किन्तु वहाँ जब व्यभिचारी साहचर्य की कल्पना हो तो वहाँ का अभावबोध प्रमाण न होकर प्रमाणाभाव ही होता है। जैसे-तप्त अयोगोलक गुड़ एवं अङ्गार आदि में धूमाभाव तो रहता है; किन्तु अग्नि का अभाव नहीं रहता है। इसलिये धूमाभाव से अग्नि का अभावबोध अप्रमाण है। किन्तु जहाँ कहीं ऐकान्तिक अर्थात् अव्यभिचारी साहचर्य की कल्पना हो, जैसे-जहाँ कृतकत्व नहीं है वहाँ अनित्यत्वाभाव (नित्यत्व) का बोध अनुमानप्रमाण के अन्तर्गत आ जायेगा; क्योंकि अकृतकत्व और अनित्यत्वाभाव (नित्यत्व)में अव्यभिचारी साहचर्य होता है। एवं कृतकत्व और अनित्यत्व में भी अव्यभिचारी साहचर्य होता है। किन्तु व्यभिचारी साहचर्य की कल्पना से हुआ अभाव का ज्ञान प्रमाण ही नहीं है। अव्यभिचारी साहचर्य के ज्ञान से हुआ अभावज्ञान प्रमाण तो है; किन्तु उसका अनुमान में अन्तर्भाव हो जायेगा। अतः अभावनाम का भी अतिरिक्त प्रमाण नहीं है।

दूसरे लोग अभावप्रमाण का अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं—जैसे 'गेहे नास्ति चैत्रः' ऐसा कहने पर बाहर है ऐसी प्रतीति हो जाती है। वहाँ गृह में चैत्र का न होना, उसके बाहर होने के ज्ञान का हेतु होता है। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वो के साहचर्य की कल्पना से यहाँ अर्थापत्ति ही है। जैसे 'पीनोदेवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ पर अभोजन

हेतुरर्थान्तरापत्तिरेव प्रतिद्वन्द्विसाहचर्यकल्पनया । कथम् ? यथैव हि दिवा न भुङ्क्ते देवदत्तः पीन इत्यत्राऽभोजनप्रतियोगिनो मेदुरत्वस्योपलम्भाद्दिवाप्रतियोगिनि काले रात्रौ भुजिरवसीयते, एवमिहापि गेहाभावाभिधानसामर्थ्यात् तत्प्रतियोगिनि विपर्ययः कल्प्यते । अन्यथा तु यद्यभाव एवाभिप्रेतः स्यान्नास्ति चैत्र एवेति ब्रूयात् । अर्थापत्तिश्चानुमानम् ।

चेष्टा नाम अभिप्रायसूचकः कश्चिदेवोदरताडनाञ्जलिकरणादिः शरीरव्यापारः । स हि बुभुक्षादीन्यप्रतीयमानानि प्रतिपादयतीति प्रमाणमित्युच्यते । स चानुमानमेव । कस्मात् ? यस्मात् भोजनेच्छादिसहचरो हि व्यापारोऽनुष्ठोयमानो यदि सहचारिणं गमयति तदा नानुमानात्पृथगिति शक्यं प्रतिज्ञातुम् ।

आह—प्रतिभा तर्हि प्रमाणान्तरं भविष्यति । उच्यते-केयं प्रतिभा

का विरोधी पीनत्व की उपलब्धि होने से दिवा का विरोधीकाल रात्रि में भोजन का निश्चय हो जाता है । वैसे ही यहाँ भी गृहाभाव के कथन के सामर्थ्य से उसके प्रतियोगीभूत बहिर्भाव को कल्पना की जाती है । यह अर्थापत्ति ही हुई । यदि अर्थापत्ति नहीं होती और केवल अभाव ही अभिप्रेत होता तो 'नास्ति चैत्रः' यही प्रयोग होता; किन्तु प्रकृत में अभावमात्र का वोध वक्ता को अभिप्रेत नहीं है; किन्तु उसका बाहर होना वक्ता को अभिप्रेत है । ऐसी स्थिति में यह अर्थापत्ति हुई और अर्थापत्ति अनुमान ही है । अतः अभाव भी अतिरिक्त प्रमाण नहीं है ।

व्यक्ति के अभिप्राय को सूचित करने वाला उदरताडन अञ्जलीकरण आदि कोई शरीर का व्यापार ही चेष्टा है । उक्त व्यापार से प्रत्यक्ष द्वारा अप्रतीयमान भूख-प्यास आदि की प्रतीति होती है; इसलिये चेष्टा भी प्रमाण कहा जाता है । किन्तु वह अतिरिक्त प्रमाण न होकर अनुमान ही है । क्योंकि भोजन आदि के साथ होने वाला उदरताडनादि व्यापार किया जाता है और उससे यदि उस व्यापार के सहचारी भूख आदि की प्रतीति होती है तो उस व्यापार को अनुमान से पृथक् नहीं कहा जा सकता है ।

प्रतिपक्षी—उपमा ऐतिह्य अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, और चेष्टा भले ही पृथक् प्रमाण न हो सकें; किन्तु प्रतिभानामक पृथक् प्रमाण होगा ।

सिद्धान्ती—यह प्रतिभा क्या वस्तु है ?

प्रतिपक्षी— जो यह इस अनादि संसार में देवता मनुष्य और पशुपक्षी आदि

नाम ? आह—योऽयमनादौ संसारे देवमनुष्यतिरश्चामभिन्नेऽर्थे बाह्ये स्त्र्यादौ प्रत्यये पूर्वाभ्यासवासनापेक्षः कुणपकामिनीभक्ष्याद्याकारभेदभिन्न-प्रत्यय इतिकर्तव्यताङ्गमुत्पद्यते सा हि प्रतिभा । तथा चोक्तम्—

यथाभ्यासं हि वाक्येभ्यो विनाप्यर्थेन जायते ।
स्वप्रत्ययाऽनुकारेण प्रतिपत्तिरनेकधा ॥

येन हि योऽर्थोऽभ्यस्तस्सुखादित्वेन तस्य विनाऽपि तेनाऽर्थेन शब्दमात्रात् प्रतिपत्तिरुत्पद्यते । तद्यथा व्याघ्रोऽत्र प्रतिवसतीत्युक्ते विनाऽपि बाह्येनाऽर्थेनाभ्यासवशादेव स्वेदवेपथुप्रभृतयो भवन्ति । तस्मात् प्रतिभैव देवमनुष्यतिरश्चामितिकर्तव्यताङ्गत्वात्प्रमाणमिति । आह च—

प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुगच्छति ।
व्यवहाराः प्रवर्तन्ते तिरश्चामपि तद्वशात् ॥

उच्यते—प्रतिभाया दृष्टादिव्यतिरेकेण रूपान्तरानुपपत्तेः अवच-

को स्त्री आदि अभिन्न बाह्य वस्तु के सम्बन्ध में पूर्व अभ्यास की वासना के कारण शव, कामिनी और भक्ष्य आदि विभिन्न आकार की भिन्न-भिन्न बुद्धियां अपनी-अपनी इतिकर्तव्यता के अंग के रूप में उत्पन्न होती हैं, वही प्रतिभा है। कहा भी गया है—

यथाभ्यासं हि इत्यादि— अर्थात् पूर्वाभ्यास के अनुसार वस्तु के बिना भी वाक्य द्वारा अपनी वासना के अनुसार शव कामिनी या भक्ष्य आदि अनेक प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है। क्योंकि जो विषय जिसके लिए सुख आदि के रूप में अभ्यस्त है, उस विषय के विना भी उस व्यक्ति को शब्दमात्र सुनने पर बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जैसे—'व्याघ्रोऽत्र प्रतिवसति' यहाँ बाघ निवास करता है—ऐसा कहने पर बाघ आदिक बाह्य वस्तु के बिना भी पूर्वाभ्यास के द्वारा श्रोता व्यक्ति को पसीना, कम्पन आदि उत्पन्न हो जाते हैं। अतः ऐसे स्थलों में देव, मनुष्य, पशुपक्षी, को उत्पन्न प्रतिभा ही इतिकर्तव्यता का अंग होने के कारण प्रमाण है। कहा भी गया है—प्रमाणत्वेन तां लोकः इत्यादि। अर्थात् सभी प्राणी प्रतिभा को प्रमाण के रूप में मानते हैं; क्योंकि प्रतिभा के द्वारा पशुपक्ष्यादि के भी व्यवहार होते देखे जाते हैं।

सिद्धान्ती— उक्त युक्ति से प्रतिभा को अतिरिक्त प्रमाण मानना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तवचन के अतिरिक्त प्रतिभा का कोई अन्य स्वरूप नहीं बन सकता है। यहाँ 'अवचनम्' पद की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् प्रतिभा को प्रमाण

नमित्यनुवर्तते। यदि पूर्वाभ्यासवासनापेक्षः प्रत्ययः प्रतिभेत्यभ्युपगम्यते; तेन तर्हि असौ प्रत्यक्षमनुमानमाप्तवचनं चेत्येतदापन्नम्। कस्मात्? यतो न हि दृष्टादिव्यतिरेकेण प्रत्ययरूपं कदाचिदप्युपलभामहे। तस्मान्न तेभ्योऽर्थान्तरं प्रतिभा। आर्षप्रत्ययसम्भवादयुक्तमिति चेत्, स्यादेतत्—अस्त्यार्षो हि दृष्टादिव्यतिरेकेण सर्वपदार्थेषु सांसिद्धिकः प्रत्ययः। स प्रातिभो भविष्यतीति। एतच्चाप्ययुक्तम्। कस्मात्। उक्तत्वात्। उक्तमेतत् सिद्धरूपं भगवतः परमर्षेर्ज्ञानम्। अतो न प्रमाणापेक्षमिति। योगिनामिति चेन्न, अनभ्युपगमात्। न हि योगिनामप्रमाणपूर्वं ज्ञानमिति यथा तथा वक्ष्यामः।

स लौकिक इति चेत्, न—अनिश्चितत्वात्। स्यादेतत्—अस्ति लौकिकःप्रत्ययो दृष्टादिव्यतिरेकेण। तद्यथा सन्तमसे व्रजतो द्रागिति विज्ञानमुत्पद्यते—अस्ति मे प्रतिघाति द्रव्यं पुरस्तादूर्ध्वमवस्थितमिति।

नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यदि पूर्व अभ्यास की वासना (संस्कार) के कारण उत्पन्न प्रतीति प्रतिभा है—ऐसा स्वीकार किया जाता है तो वह प्रतिभा प्रत्यक्ष-अनुमान या आप्तवचन है, यही बात सिद्ध हो जाती है। कारण, प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे जन्य बोध के अतिरिक्त किसी ज्ञान के स्वरूप को हम कभी भी नहीं पाते हैं। अतः प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त प्रतिभा नाम की कोई वस्तु नहीं है।

शंका—प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त आर्ष प्रतीति हो सकती है; अतः सिद्धान्ती का उक्त कथन अयुक्त है। अर्थात् सभी पदार्थों के विषय में दृष्ट आदि से अतिरिक्त स्वाभाविक आर्षप्रतीति होती है—वही प्रतिभा होगी।

उत्तर— यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है। अर्थात यह बात कही जा चुकी है कि भगवान् परमर्षि (कपिलादि) का ज्ञान स्वयं सिद्ध होता है। अतः उसके लिए प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं है।

यदि कहें कि योगियों का ज्ञान प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त है, अतः वह एक अतिरिक्त प्रमाण होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि हम इसे नहीं मानते हैं। कारण, योगियों का ज्ञान इन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विना नहीं होता है—इस बात को हम आगे कहेंगे।

यदि कहो कि वह प्रतिभानामक प्रत्यय लौकिकप्रत्यय होगा तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि प्रमाणजन्य प्रत्यय निश्चयात्मक होता है और वह अनिश्चयात्मक है। अर्थात् यह कहना कि प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से उत्पन्न

तच्च नैवम् । कस्मात् ? अनिश्चितत्वात् । न हि तत्र निश्चय उत्पद्यते इदं तद्द्रव्यमस्ति पुरतो वा व्यक्तमस्तीति । न चानिश्चितं प्रमाणज्ञानमिष्यते ।

किञ्चान्यत्—अनवस्थाप्रसंगात् । यदि चैवंजातीयकोऽपि प्रत्ययः प्रमाणमभ्युगम्यते तेनानवस्था प्राप्नोति । किं कारण ? अनवस्थानाद्धि करणस्य । कामक्रोधलोभभयविषादद्वारको विकल्पः सम्यङ् मिथ्या वा यस्मादनेक उत्पद्यते, तस्मान्न लौकिकः प्रत्ययः प्रतिभा ।

यत्तु खल्विदमुच्यते—अभ्यासवासनापेक्षाऽसत्स्वपि व्याघ्रादिषु प्रतिपत्तिरुत्पद्यते इति । सत्यमेतत् । सा तु मिथ्याज्ञानत्वात्प्रमाणत्वेन न परिगृह्यते इत्ययमदोषः । तस्मात् सिद्धं दृष्टादिव्यतिरेकेण रूपान्तराऽनुपपत्तेः प्रतिभायाः पृथगनभिधानम् । ततश्च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टमिति स्थितमेतत् ।। ४ ।।

प्रत्यय से अतिरिक्त हो प्रतिभा नामक लौकिक प्रत्यय है–जैसे, घोर अन्धकार में जाते हुए व्यक्ति को सहसा विज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि मेरे सामने ऊपर की ओर उठा हुआ कोई प्रतिघात करने वाला पदार्थ है । इस प्रकार का ज्ञान प्रतिभा है और वह प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त है । किन्तु ऐसा नहीं हो सकता है । कारण, इस प्रकार का प्रत्यय अनिश्चयात्मक होता है । वहाँ पर यह निश्चय नहीं होता कि अमुक पदार्थ सामने है अथवा वह कोई पदार्थ स्पष्ट है । और अनिश्चित ज्ञान प्रमाण ही नहीं माना जाता है । ऐसी स्थिति में अनिश्चयात्मक प्रतिभाज्ञान को पृथक् प्रमाणरूप में स्वीकार करने का कोई प्रश्न ही नहीं है ।

और भी दोष है— ऐसी स्थिति में अनवस्थादोष का प्रसंग हो जायेगा, अर्थात् इस प्रकार का प्रत्यय भी यदि प्रमाण माना जाता है तो उससे अनवस्था हो जाती है । कारण, इन्द्रियजन्य विकार अनवस्थित होता है; क्योंकि काम क्रोध लोभ भय और विषाद के द्वारा उत्पन्न प्रत्यय समीचीन या मिथ्या अनेक प्रकार का होता है। अतः उक्त लौकिक प्रत्ययरूप प्रतिभा को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

यह जो कहा जाता है कि अभ्यास से उत्पन्न वासना के कारण असत् भी व्याघ्र आदि विषय का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है; यह कथन सत्य है; किन्तु वह ज्ञान मिथ्याज्ञान होने से प्रमाणरूप में परिगृहीत नहीं होता है; इसलिए यह कोई दोष नहीं है । अतः सिद्ध हो गया कि दृष्ट अनुमान और आप्तवचन से अतिरिक्त ज्ञान का

आह—अस्त्वेवमेतत् । लक्षणानभिधानात्तदप्रतिपत्तिः । तस्मात्तदभिधानम् । अनवस्थितं हि दृष्टादीनां लक्षणम्, दृष्टिवैचित्र्यात् ।

'इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति केचित् । तथा आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यदित्येके । सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमित्यपरे । श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः । कल्पनापोढमित्यन्ये । इत्थमनवस्थितं लक्षणमिति दृष्टादीनामप्रतिपत्तिः । तस्माल्लक्षणमभिधानीयम् ।

उच्यते—'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्'

विषिण्वन्तीति विषयाः शब्दादयः । अथवा विषीयन्ते उपलभ्यन्ते

कोई स्वरूप नहीं हो सकने के कारण प्रतिभा को पृथक् प्रमाण नहीं कहा गया। इससे सांख्य का यह सिद्धान्त स्थिर हो गया कि इतर सभी प्रमाणों के प्रत्यक्षादि त्रिविध प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण त्रिविध प्रमाण इष्ट है, चार या पाँच आदि नहीं।

शंका—ऐसा हो। अर्थात् दृष्ट अनुमान और आप्तवचन ये ही तीन प्रमाण हों; किन्तु इनका लक्षण कहे विना इनका ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः दृष्ट आदि प्रमाणों का लक्षण कहना चाहिए। किन्तु दृष्ट आदि प्रमाणों का लक्षण अनवस्थित है; क्योंकि इनके लक्षण के सम्वन्ध में आचार्यों की दृष्टि भिन्न-भिन्न है। कोई कहते हैं कि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण वताते हैं। अर्थात् इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यपदेश्य अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक जो ज्ञान वह प्रत्यक्ष है। यह न्याय का मत है। किसी के अनुसार 'आत्मेन्द्रियमनोर्थसनिकर्षात् यन्निष्पद्यते तदन्यदित्येके, यह प्रत्यक्ष का लक्षण है। अर्थात् आत्मा इन्द्रिय मन और विषय के सनिकर्ष से जो उत्पन्न होता है, वह आभासरहित ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह वैशेषिकमत है। एवं 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' यह अन्य आचार्य का कथन है। अर्थात् सत्विषय के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर पुरुष को उत्पन्न जो बुद्धि वह प्रत्यक्ष है, यह मीमांसा का मत है। श्रोत्र आदि इन्द्रियों की जो वृत्ति वह प्रत्यक्ष है, यह वार्षगण्य आचार्य का मत है। 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' यह अन्य का लक्षण है। अर्थात् कल्पना से रहित निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष है यह दिङ्नाग का मत है। इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि का लक्षण अव्यवस्थित होने से इन दृष्टादि प्रमाणों का ज्ञान असम्भव है। अतः इनका लक्षण कहना चाहिए।

उत्तर—'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' यह सांख्यमतानुसार प्रत्यक्ष का लक्षण

इत्यर्थः । ते च द्विविधाः—विशिष्टा अविशिष्टाश्च । विशिष्टाः पृथिव्यादिलक्षणा अस्मदादिगम्याः । अविशिष्टाश्च तन्मात्रलक्षणा योगिनामूर्ध्वस्रोतसां च गम्याः । वक्ष्यति चैतदुपरिष्टात्-बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि (का० ३४) अध्यवसायो बुद्धिरिति (का० २३) च वक्ष्यति । विषयं विषयं प्रतिवर्तते इति प्रतिविषयम् । किन्तत् ? इन्द्रियम् । तस्मिन् योऽध्यवसायः स प्रतिविषयाध्यवसायः । उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्युपनिपातिसत्त्वोद्रेकादरजस्तमस्कं यत्प्रकाशरूपम् तद्दृष्टमिति यावत् तद्दृष्टं प्रत्यक्षमित्यर्थः । एतत् प्रमाणम् । अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलम् । प्रमेयाः शब्दादयः । एवमुत्तरत्राऽपि प्रमाणफलभावो द्रष्टव्यः ।

आह—किं पुनरिदं प्रमाणात्फलमर्थान्तरमहोस्विदनर्थान्तरम् ? कथम् ? तावद्भवितुमर्हति अनर्थान्तरमिति । आह—कस्मात् ? अधिगम-

---

है । जो ज्ञान को अपने में बाँधते हैं, अर्थात् अपने द्वारा उसे निरूपित करते हैं, वे विषय हैं । जैसे—शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध आदि । अथवा इन्द्रियादि के द्वारा जिनकी उपलब्धि की जाती है, वे विषय हैं । ये दो प्रकार के होते हैं,विशिष्ट और अविशिष्ट । जो विषय हम लोगों के द्वारा गम्य हैं जैसे पृथ्वी आदि, वे विशिष्ट कहे जाते हैं, एवं जो विषय योगियों और ऊर्ध्वस्रोता जनों के गम्य हैं, वे अविशिष्ट हैं । जैसे पञ्च तन्मात्रायें । इस बात को आगे चलकर आचार्य कहेंगे जैसे—(बुद्धीन्द्रियाणि तथा अध्यवसायो का० २३) ।

उक्त प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में प्रतिविषयशब्द का अर्थ है—जो विषय-विषय के प्रति सम्बद्ध है वह प्रतिविषय है, अर्थात् विषयों से जो सम्बद्ध होता है वह प्रतिविषय है ।

प्रश्न— वह क्या है, जो विषयों से सम्बद्ध होता है ?

उत्तर—विषयों से सम्बद्ध होने वाला इन्द्रिय है । उसमें जो अध्यवसाय वह प्रतिविषयाध्यवसाय है, अर्थात् इन्द्रिय के विषय से सम्बद्ध होने पर जो अध्यवसाय उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियां जब विषय से सम्बद्ध होती हैं, तब उनको विषयाकारवृति के अनन्तर सत्त्वगुण के प्रबल होने पर रज और तम से रहित जो प्रकाशस्वरूप उत्पन्न होता है, वह दृष्ट प्रमाण है । सूत्र में दृष्ट का अर्थ है प्रत्यक्ष अर्थात् यह प्रत्यक्ष प्रमाण है; और इसके द्वारा जो चेतनाशक्ति का अनुग्रह होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है, शब्द आदि विषय प्रत्यक्षप्रमाण के प्रमेय हैं । इसी तरह आगे भी प्रमाण और फल का स्वरूप जानना चाहिए ।

रूपत्वात् । अधिगमरूपं हि ज्ञानम्, तस्योत्पत्त्यैवाधिगतोऽर्थ इति कुतः फलभेद इति ?

उच्यते—करणभाव इदानीं कथं स्यात् ?

आह—करणभावस्तु प्रसिद्धिवशात् । विषयनिर्भासा हि ज्ञानस्योत्पत्तिः अधिगमरूपापि लोके सव्यापारेव प्रतीतेति कल्पनया करणभावोऽभ्युपगम्यते न परमार्थतः ।

उच्यते—फलस्यार्थान्तरभावः, अधिकरणभेदात् । बुद्ध्याश्रयं हि प्रमाणमध्यवसायाख्यम्, पुरुषाश्रयं फलमनुग्रहलक्षणम् । न च भिन्नाधिकरणयोरेकत्वमर्हति भवितुम् ।

यत्तूक्तमधिगमरूपत्वात् ज्ञानमेव फलमिति तदनुपपन्नम् ।

प्रश्न—क्या यह फल प्रमाण से भिन्न है अथवा अभिन्न है ? अर्थात् इन दोनों पक्षों में क्या हो सकता है ?

उत्तर— प्रमाण से फल अभिन्न हैं ।

प्रश्न— क्यों ?

उत्तर—अधिगमरूप होने से, अर्थात् प्रमाणरूप ज्ञान अधिगमरूप है, अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति होने से ही अर्थ भी अधिगत हो जाता है, इसलिये ज्ञान से फल का भेद कैसे होगा ?

प्रश्न—यदि ज्ञान और फल एक है तो फल के प्रति ज्ञान में करणत्व कैसे होगा ? अर्थात् वह प्रमाण कैसे होगा ?

उत्तर—प्रसिद्धि के वल से ज्ञान में करणत्व भी हो सकता है । क्योंकि विषय का भान कराते हुये ही ज्ञान की उत्पत्ति अधिगमरूप होती हुई भी लोक में व्यापारवान् के समान प्रतीत होती है । अतः ज्ञान में करणत्व कल्पना द्वारा स्वीकृत किया जाता है वास्तविक नहीं है ।

सांख्यका पक्ष—ज्ञान से फल अर्थान्तर है अर्थात् भिन्न है; क्योंकि दोनों का अधिकरण भिन्न-भिन्न है । ज्ञानरूप प्रमाण बुद्धि में आश्रित है और अनुग्रहरूप फल पुरुष में आश्रित हैं । इस प्रकार दोनों का अधिकरण भिन्न-भिन्न है । अतः भिन्न-भिन्न अधिकरण वाले पदार्थों में एकत्व नहीं हो सकता है ।

यह जो कहा कि अधिगमरूप होने के कारण ज्ञान ही फल है, वह भिन्न वस्तु नहीं है, वह अयुक्त है ;क्योंकि फल का ज्ञानरूप होना असिद्ध है । क्योंकि जैसे घटादि

कस्मात् ? असिद्धत्वात् । यथैव हि घटादयोऽर्था ज्ञानमन्तरेण न तद्रूपा नातद्रूपा इति न शक्यं प्रतिपत्तुम्, एवं ज्ञानमपि पुरुषप्रत्ययमन्तरेण न विषयरूपं नाविषयरूपम् । तथा च शास्त्रम्—'तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गमिति (का० २०) वचनात् । अतः पुरुषप्रत्ययमन्तरेण ज्ञानमधिगमरूपमिति सांख्यं प्रत्यसिद्धमेतत् । उभयपक्षप्रसिद्धेन च व्यवहारः । पुरुषाभावादयुक्तमिति चेन्न, उत्तरत्र प्रतिपादनाद् । संघातपरार्थत्वादित्यत्र पुरुषास्तित्वं प्रतिपादयिष्यामः । तस्मात् सिद्धमध्यवसायप्रमाणवादिनः प्रमाणात्फलमर्थान्तरमिति ।

आह—यदि ह्यध्यवसायः प्रमाणं कथं लौकिकः प्रयोगोऽर्थवान् भवति 'प्रत्यक्षं वस्तु' इति ? उच्यते-विषये प्रत्यक्षशब्दः, तत्प्रमितत्वात् तत्कारणत्वाच्च । यथा प्रमितो व्रीहिराशिः प्रस्थशब्दवाच्यो भवति, एवं

विषय ज्ञान के बिना न विषयरूप है न अविषयरूप है; इसलिए विषय के रूप में या अविषय के रूप में उसकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है । वैसे ही ज्ञान भी पौरुषेय बोध के बिना न विषयरूप है और न अविषयरूप है । सांख्यशास्त्र में कहा भी गया है—'तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्' (का० २०) । अर्थात् पुरुष के संयोग से अचेतन भी बुद्धि चेतन जैसी हो जाती है । इसलिये पौरुषेय बोध के बिना ज्ञान अधिगमरूप है, यह बात सांख्य के प्रति असिद्ध है । उभयपक्ष में जो प्रसिद्ध होता है, उसी से व्यवहार होता है । अर्थात् आपकी दृष्टि से ज्ञान भले हो अधिगमरूप हो; किन्तु सांख्यवादी की दृष्टि से ज्ञान अधिगमरूप नहीं है । अतः ज्ञान से फल भिन्न वस्तु है ।

शंका—पौरुषेय बोध के बिना ज्ञान अधिगमरूप नहीं हो सकता है–यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि पुरुषनामक कोई तत्त्व नहीं है ।

उत्तर—आगे चलकर पुरुष की सिद्धि को जायेगी । अर्थात् 'संघातपरार्थत्वात्' इस कारिका के द्वारा पुरुष का अस्तित्व हम बतायेंगे । इसलिये सिद्ध हो गया कि अध्यवसाय को प्रमाण मानने वाले के लिये प्रमाण से फल अर्थान्तर होता है । अर्थात् ज्ञान से फल भिन्न है ।

शंका—यदि विषय से असम्पृक्त अध्यवसाय ही प्रमाण है तो यह लौकिक प्रयोग कैसे सार्थक होगा कि अमुक वस्तु प्रत्यक्ष है ।

उत्तर— विषय में प्रत्यक्षशब्द का लौकिक प्रयोग प्रत्यक्ष द्वारा विषय के प्रमित होने के कारण होता है और प्रत्यक्ष के प्रति विषय के कारण होने से भी उक्त लौकिक प्रयोग होता है । जैसे, प्रस्थनामक बाट से प्रमित होने के कारण धान को

प्रत्यक्षप्रमितोऽर्थः प्रत्यक्षशब्दवाच्यः स्यात् । आह—न, अन्यत्रापि तत्प्रसंगात् । यदि प्रत्यक्षप्रमितत्वाद्विषये प्रत्यक्षशब्दस्तेन तर्हि अनुमानप्रमितोऽर्थोऽनुमानमिति स्यात्, शब्दप्रमितोऽर्थः शब्द इति । न चाग्निस्वर्गादयः प्रमाणशब्दवाच्या भवन्ति । तस्माद्विषममेतत् । एतेन कारणभावः प्रत्युक्तः ।

योऽपि हि मन्यते—प्रत्यक्षोपदेशस्तत्कारणेष्वप्रतिषेध्य इत्यतो विषये प्रत्यक्षशब्दः तस्याप्यनुमानप्रसंगोऽसाववस्थित इति ।

उच्यते—कारणतुल्यत्वात् शब्दतुल्यत्वम् । एवं तर्हि—अक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षमुच्यते । द्वयं चाक्षं प्रति वर्तते विषयोऽध्यवसायश्च । विषयोऽनुग्राहकत्वेनानुग्राह्यत्वेनेतरः । तेनोभयोरपि तुल्यं निमित्तत्वमिति कृत्वा तुल्यशब्दवाच्यता भविष्यति । आह-इतरत्र कथम् ? उच्यते—

राशि को प्रस्थशब्द से कहा जाता है, ऐसे ही प्रत्यक्षप्रमित हुआ अर्थ प्रत्यक्षशब्द का वाच्य होगा, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

शंका—यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि अन्यत्र भी ऐसा होने लगेगा । अर्थात् यदि प्रत्यक्ष से प्रमित होने के कारण विषय में प्रत्यक्षशब्द का प्रयोग हो तो अनुमान से प्रमित हुए अर्थ को अनुमान शब्द से कहा जाने लगेगा, और शब्द से प्रमित हुये अर्थ को शब्द कहा जाने लगेगा ।

इसीलिये अनुमान से जाना हुआ अग्नि, शब्द से जाना हुआ स्वर्गादि प्रमाण-शब्द का वाच्य नहीं होता । अतः आपका यह कथन असंगत है कि प्रत्यक्ष से प्रमित होने के कारण वस्तु प्रत्यक्षशब्द से कही जाती है । इससे विषय का प्रत्यक्ष के प्रति कारण होना उक्त लौकिक प्रयोग का निमित्त है, यह कथन भी खण्डित हो गया । अर्थात जो यह मानते हैं कि प्रत्यक्षशब्द का प्रयोग उसके कारणों में नहीं रोका जा सकता है; इसलिये विषय में प्रत्यक्षशब्द का लौकिक प्रयोग हो सकता है । उस व्यक्ति के लिये भी अग्नि-अर्थ में अनुमानशब्द के प्रयोग का प्रसंग ज्यों का त्यों कायम है ।

उत्तर—कारण के तुल्य होने से अर्थात् निमित्त या प्रवृत्तिनिमित्त के तुल्य होने से तुल्य शब्द का प्रयोग होता है । वह यों है—'अक्षमक्षं प्रति वर्तते' अर्थात् जो इन्द्रियों से सम्बद्ध है, वह प्रत्यक्ष कहा जाता है । दोनों ही इन्द्रियों से सम्बद्ध होता है विषय भी और अध्यवसाय (ज्ञान) भी । विषय इन्द्रियों का अनुग्राहक होकर उनसे सम्बद्ध होता है, और अध्यवसाय इन्द्रियों का अनुग्राह्य होकर उनसे सम्बद्ध है । इस प्रकार विषय और अध्यवसाय दोनों का तुल्य निमित्त है, इसलिये तुल्य शब्द (प्रत्यक्षशब्द) की वाच्यता उन दोनों में हो जायेगी ।

तदभावादितरत्राप्रवृत्तिः । प्रमाणान्तरे तु नास्ति सामान्यं निमित्तम् । कथम् ? अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम् । न चाग्न्यादिभिः कश्चिदनुमीयत इत्यतस्तुल्यशब्दवाच्यता न भवति ।

आह—अध्यवसायग्रहणं किमर्थम् ?

उच्यते—अतिप्रसंगनिवृत्त्यर्थम् । प्रति विषयं दृष्टमितीयत्युच्यमाने यावत्किञ्चित् प्रति विषयं वर्ततेऽनुग्राहकत्वेनोपघातकत्वेन वा तत् सर्वं दृष्टमित्येतदापद्यते । अध्यवसायग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति । आह—न, प्रमाणाधिकारात् । नाध्यवसायशब्दस्य प्रयोजनम् । कुतः ? प्रमाणाधिकारोऽयम् । न चाध्यवसायादृते यत्किंचिद्विषयं प्रतिपद्यते तेन किंचित् प्रमीयते । तेन वयं सामर्थ्यादध्यवसायमेवाभिसंभन्त्स्यामः ।

शङ्का—अन्यों में क्या गति होगी ?

उत्तर— अग्नि और स्वर्ग आदि विषयों में तुल्य निमित्त नहीं होने से अनुमान शब्द या शब्दशब्द की प्रवृत्ति (प्रयोग) नहीं होती है । अर्थात् अनुमान या शब्दप्रमाण स्थल में तुल्य निमित्त नहीं है । क्योंकि, अनुमीयतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे वस्तु को अनुमित किया जाय, वह अनुमान है । अग्नि आदि विषयों से तो कुछ अनुमित नहीं किया जाता है । इसलिये अग्नि-विषय और उसका अनुमित्यात्मक अध्यवसाय एक शब्द (अनुमानशब्द) का वाच्य नहीं होता है ।

प्रश्न— प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षण में अध्यवसायग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर— अतिप्रसंग की निवृत्ति के लिये अध्यवसाग्रहण है । क्योंकि अध्यवसाय पद के न रखने पर (प्रतिविषयं दृष्टम्) इतनामात्र प्रत्यक्ष का लक्षण कहने पर जो कुछ भी विषय के प्रति सम्बद्ध है अनुग्राहक के रूप में अथवा उपघातक के रूप में; वह सभी दृष्टप्रमाण होने लगेगा, इस तरह की आपत्ति आ जाती है । अध्यवसायग्रहण करने पर तो यह अतिप्रसंग दोष नहीं होता है ।

शङ्का— उक्त समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ प्रमाण का अधिकार है । अर्थात् अध्यवसायपद का अतिप्रसंगनिवृत्तिरूप उक्त प्रयोजन नहीं हो सकता है; क्योंकि यहाँ प्रमाण का अधिकार है । इसलिये अध्यवसाय को छोड़कर विषय के प्रति अनुग्राहक या उपघातकरूप में जो कुछ सम्बद्ध होता है, उसमें कोई प्रमाण नहीं उत्पन्न होती है । अर्थात् प्रमाण का अधिकार होने से जिससे प्रमा पैदा हो, उसी का ग्रहण होगा; ऐसी स्थिति में प्रमाणाधिकार की सामर्थ्य से अध्यवसाय को ही यहाँ

तद्यथा—अध्ययनाधिकारे ब्राह्मणा आनीयन्तामित्युक्ते य एवाधीयते त एवानीयन्ते ।

उच्यते—करणान्तराणां तु सन्देहनिवृत्त्यर्थम् । एवं तर्हि श्रोत्रादीनामन्यतममन्तःकरणं चेत्येतद् द्वारद्वारिभावेन चतुष्टयं विषयं प्रति वर्तते । तस्मादध्यवसायग्रहणं क्रियते सन्देहो मा भूदिति ।

आह—अस्त्वत्र सन्देहः, नैकेन केनचित् कश्चिद्विषय उपादीयते । तेन वयं सर्वेषां प्रत्यक्षत्वं प्रतिपत्स्यामहे ।

उच्यते—सर्वाभ्युपगमे हि शास्त्रहानिः । यदि पुनः सर्वेषामेव प्रमाणत्वमभ्युपगम्यते, तेन यच्छास्त्रमेकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनमिति, तद्धीयते । वक्ष्यति चाचार्यः 'एते प्रदीपकल्पाः' (का० ३६) 'सर्वं प्रत्युप-

---

सम्बद्ध कर सकते हैं किसी अनुग्राह्य या उपघातक को नहीं । जैसे—अध्ययन के अधिकार में (ब्राह्मणाः आनीयन्ताम्) अर्थात् ब्राह्मण लाये जायं ऐसा कहने पर जो अध्ययन करने वाले हैं, वे ही लाये जाते हैं दूसरे नहीं ।

उत्तर—अन्य कारणों के सन्देह की निवृत्ति के लिये अध्यवसाय पद है । अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों में कोई एक और त्रिविध अन्तःकरण ये चारो हो विषय के प्रति द्वारद्वारिभावद्वा के रूप में सम्बद्ध हैं । अन्तःकरण द्वारि और श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ द्वार के रूप में विषय से सम्बद्ध हैं । ऐसी स्थिति में अध्यवसाय ग्रहण इसलिये किया जाता है कि इन्द्रियों का या अन्तःकरण का सन्देह न हो ।

पूर्वपक्ष— यहाँ सन्देह रहे । क्योंकि किसी एक से कोई विषय नहीं गृहीत होता हैं । इसलिये सभी को हम प्रत्यक्ष मानेंगे । अर्थात् अध्यवसाय के समान श्रोत्र आदि इन्द्रियां और अन्तःकरण भी प्रत्यक्ष माने जायेंगे ।

उत्तर— सभी को प्रत्यक्ष मानने पर शास्त्र की हानि हो जायगी । अर्थात् यदि सबको प्रमाण माना जाय तो जो यह शास्त्र है कि 'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' वह बाधित हो जायगा । इस शास्त्र के अनुसार अध्यवसाय ही एकमात्र दर्शन (प्रमाण) है । आचार्य ईश्वरकृष्ण भी आगे कहेंगे 'एते प्रदीपकल्पाः' (का० ३६) 'सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः' (का० ३७) इत्यादि । इसलिये दृष्ट के लक्षण में अध्यवसाय ग्रहण करना चाहिये; ताकि ज्ञानातिरिक्त इन्द्रियादि में प्रत्यक्ष-प्रमाण होने का सन्देह न हो ।

पूर्वपक्ष—यहाँ सन्देह ही भर होगा, किन्तु प्रत्यक्षलक्षण की अतिप्रसक्ति न

भोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिरिति (का० ३७) तद्विरुध्यते। तस्मादध्यवसायग्रहणं कर्तव्यम्, सन्देहो मा भूदिति।

आह—न, सन्देहमात्रमेतद् भवति। सर्वसन्देहेषु चैतदुपतिष्ठते—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्। (म० भा० १।१।१) तत्राध्यवसायो दृष्टमिति व्याख्यास्यामः।

उच्यते—मुक्तसंशयं चेन्द्रियवृत्तिप्रतिपत्तेः। स्यादेतत् यद्यत्र सन्देहः स्यात्। नैवात्र सन्देहः प्राप्तः, किन्तर्हि? श्रोत्रादिवृत्तेरेव ग्रहणम्।

आह—किं पुनः कारणं येन निमित्ताविशेषेऽपि श्रोत्रादिवृत्तेरेवात्र ग्रहणं प्राप्नोति, नान्तःकरणस्यैव प्रत्यक्षत्वम्।

उच्यते—तत्र च मुख्या श्रोत्रादिवृत्तिः। कस्मात्? साक्षाद् विषयग्रहणसामर्थ्यात्। नान्तःकरणम्, तद्‌द्वारेण प्रतिपत्तेः। गौणमुख्ययोश्च मुख्ये सम्प्रतिपत्तिः। तद्‌यथा गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्निषोमीय इति वाहीको नानुबध्यते।

होगी। क्योंकि सभी सन्देहों में यह बात उपस्थित होती है कि 'व्याख्यान द्वारा विशेष का निर्णय हो जाता है, सन्देह से लक्षण की हानि नहीं होती है। इसलिये अध्यवसाय पद का उल्लेख बिना किये ही हम व्याख्यान करेंगे कि विषयों से सम्बद्ध अध्यवसाय (ज्ञान) ही दृष्ट प्रमाण है।

उत्तरपक्ष— विना सन्देह उठे ही यहाँ इन्द्रियवृत्ति का निश्चय हो जाता है। अर्थात् व्याख्यान द्वारा विशेष निर्णय तब किया जाता यदि सन्देह पैदा होता। यहाँ तो सन्देह प्राप्त ही नहीं है।

प्रश्न— तो क्या प्राप्त है?

उत्तर— श्रोत्रादि वृत्ति का ही ग्रहण यहाँ प्राप्त है।

शङ्का— तो क्या कारण है कि किसी विशेषनिमित्त के अभाव में भी श्रोत्रादिवृत्तिका ही यहाँ ग्रहण प्राप्त है, अन्तकरण में प्रत्यक्षप्रमाणत्व सर्वथा ही अप्राप्त है।

उत्तर— यहां कारण यह है कि श्रोत्रादि की वृत्ति मुख्य है; क्योंकि श्रोत्रादिवृत्ति में ही साक्षात् विषयग्रहण की शक्ति है, अन्तःकरण में नहीं। क्योंकि अन्तःकरण की वृत्ति श्रोत्रादि के द्वारा ही होती है। इसलिये अन्तः करण गौण है। गौण और मुख्य में मुख्य का ही ग्रहण होता है। जैसे 'गौरनुबन्ध्यः अजोऽग्निषोमीयः' यहाँ गौणभूत वाहीक का अनुबन्धन नहीं होता है।

आह—यदीयं श्रोत्रादिवृत्तिरेव प्रत्यक्षमित्यभ्युपेयते, क एवं सति दोषः स्यात् ?

उच्यते—रागादिविषयं यद् विज्ञानं लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्, योगिनाञ्च ध्यानभूमिकासु विहरतामनुमानागमातीतं प्रातिभं यद् विज्ञानमुत्पद्यते, तदुपसंख्येयं स्यात्। कुतः ? न हि सुखादयः श्रोत्रादिवृत्तिग्राह्याः, योगिनाञ्चातीन्द्रियं ज्ञानमिति। यथान्यासं तु क्रियमाणे तेऽपि विषयाः, तेषां योऽध्यवसायस्तस्य प्रत्यक्षत्वं केन वार्यते ?

आह—प्रतिविषयग्रहणं तर्हि किमर्थम् ?

उच्यते—प्रतिविषयग्रहणमसद्व्युदासार्थम्। 'अध्यवसायो दृष्टम्'

शंङ्का— यदि श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति को ही प्रत्यक्ष स्वीकार कर लिया जाय हो तो ऐसा होने पर क्या दोष होगा ?

उत्तर— रागादि (सुखादि) विषयक विज्ञान जो व्याप्यव्यापकभावज्ञानपूर्वक होता है वह, तथा समाधि की भूमिकाओं में विहरण करने वाले योगियों का जो अनुमान और आगमज्ञान से भिन्न प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होता है वह, दोनों भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत गिननेयोग्य हैं। किन्तु श्रोत्रादि की वृत्तियों को प्रत्यक्ष मानने पर ये दोनों ही ज्ञान छूट जायेंगे। क्योंकि सुख-दुःखादि श्रोत्रादिवृत्ति के विषय नहीं हैं, तथा योगियों का उक्त ज्ञान इन्द्रियातीत होता है। कारिका में जैसा अध्यवसाय पद देते हुये उल्लेख हुआ है, वैसा करने पर तो चूँकि सुखादि भी विषय हैं और योगियों के प्रातिभज्ञान के विषय भी विषय हैं, इसलिये उनका जो अध्यवसाय (ज्ञान) है, उसका भी प्रत्यक्षत्व अनिवार्य है। अर्थात् उक्त ज्ञान भी प्रत्यक्ष होगा, इसे कैसे रोका जा सकता है ? अर्थात् उक्त ज्ञान भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत संग्राह्य हैं; किन्तु अध्यवसायपद के स्थान में श्रोत्रादिवृत्ति का उल्लेख करने पर वे छूट जायेंगे।

विश्लेषण—यद्यपि परकीय सुखादिका ज्ञान ही व्याप्यव्यापकभाव ज्ञानपूर्वक होता है, तथापि स्वकीय सुखादि के अभिप्राय से यहां का ग्रन्थ समझना चाहिये। क्योंकि स्वकीय सुखादिका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। फिर भी युक्तिदीपिका में लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वक कहने का उद्देश्य सुखादिको श्रोत्रादि इन्द्रियों का अविषय बतानामात्र है—ऐसा जानना चाहिये।

एवं भाष्य में 'रागादिविषयं विज्ञानम्' का अर्थ है—'रागादिजनक सुखादिका ज्ञान' ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि राग सुख नहीं है किन्तु सुख का कार्य है, अर्थात् सुख से जन्य है।

इतीयत्युच्यमाने मृगतृष्णिकाऽलातचक्रगन्धर्वनगरादिषु (अपि) योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमिति स्यात्। प्रतिविषयग्रहणात्तु तेषां व्युदासः कृतो भवति। आह—यद्येवं, विषयाध्यवसाय इत्येवोच्यताम्, किम् प्रतिग्रहणेन ? उच्यते–प्रतिग्रहणं सन्निकर्षार्थम्। विषयाध्यवसायो दृष्टमितीयत्युच्यमाने विषयमात्रे सम्प्रत्ययः स्यात्। प्रतिग्रहणे पुनः क्रियमाणे प्रतिराभिमुख्ये वर्तते। तेन सन्निकृष्टेन्द्रियवृत्त्युपनिपाती योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमित्युपलभ्यते।

आह–कस्य पुनरतीन्द्रियसन्निकर्षे प्रत्यक्षत्वं प्राप्नोति ? उच्यते—

प्रश्न— कारिका में 'प्रतिविषय' पद का ग्रहण क्यों किया गया है ?

उत्तर—'प्रतिविषयपद' का ग्रहण असद्विषयक ज्ञान के निवारण के लिये किया गया है। 'अध्यवसायो दृष्टम्' इतना ही कहने पर तो मृगतृष्णिका, अलातचक्र (उल्मूक भ्रमण) एवं गन्धर्वनगर आदि में जो अध्यवसाय होता है, वह दृष्टप्रमाण होने लगेगा। किन्तु 'प्रतिविषय' पद का ग्रहण करने पर उनका निवारण हो जाता है।

शङ्का—उक्त भ्रमों के निवारणार्थ यदि 'विषय' पद आवश्यक है तो 'विषयाध्यवसाय' यही कहा जाय, 'प्रति' ग्रहण की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—'प्रति' ग्रहण सन्निकर्ष सूचित करने के लिये है। अर्थात् 'विषयाध्यवसायो दृष्टम्' इतनामात्र कहने पर सन्निकृष्ट असन्निकृष्ट विषयमात्र का ज्ञान प्रत्यक्ष होने लगेगा। प्रतिग्रहण करने पर तो 'प्रति' शब्द आभिमुख्य अर्थ में है, इस लिये विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रियों की वृत्ति के अनन्तर होने वाला जो अध्यवसाय, वह दृष्ट प्रमाण है–यह अर्थ लब्ध होता है।

प्रश्न—इन्द्रियसन्निकर्ष के अतिक्रमण (अभाव) की स्थिति में किसका प्रत्यक्षत्व होने लगेगा ?

उत्तर—अनुमान का। क्योंकि लिङ्गदर्शन के अनन्तर असन्निकृष्ट विषय में वह (अनुमान) होता है।

पूर्वपक्षी—अनुमान में प्रत्यक्षत्व का प्रसङ्ग नहीं होगा। क्योंकि सामान्यतः विहित विषय का विशेषरूप से विहित विषय से बाध हो जाता है। प्रकृत में सामान्यतः विषयमात्र में होने वाले अध्यवसाय में प्रत्यक्षत्व का विधान कर आगे विषयविशेष में

अनुमानस्य। कस्मात्? तद्धि लिङ्गदर्शनादसन्निकृष्टे विषये भवति। आह—अनुमानस्याप्रसङ्गः, सामान्यविहितस्य विशेषविहितेन बाधनात्। सामान्ये हि विषयमात्रेऽध्यवसायस्य प्रत्यक्षत्वं विधाय विशेषे लिङ्गलिङ्गिपूर्वकेऽनुमानं शास्ति। सामान्यविहितं च विशेषविहितेन बाध्यते, यथा-दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति।

उच्यते—स्मृतेस्तर्हि प्रत्यक्षत्वं प्राप्नोति। तत्रायमपवादो नाभिनिविशत इति।

न स्मृतेः; प्रमाणाधिकारात्। प्रमाणाधिकारोऽयम्। न च स्मृत्या किञ्चित् प्रमीयते, स्मृतेः प्रमितेऽर्थे प्रादुर्भावात्।

उच्यते—संशयस्य तर्हि प्राप्नोति। न संशयस्य; अध्यवसायग्रहणात्। अध्यवसायो हि दृष्टमित्युच्यते। न च संशयोऽध्यवसायोऽनिश्चितत्वात्।

होने वाले लिङ्गलिङ्गिपूर्वक अध्यवसाय में अनुमानत्व का अनुशासन आचार्य करते हैं। और सामान्यविहित वस्तु विशेषविहित वस्तु से बाधित हो जाती है। जैसे 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्' इस सामान्यविधान के अनन्तर 'तक्रं कौण्डिन्याय' इस विशेष विधान के होने पर कौडिन्य को तक्र ही दिया जाता है, न कि ब्राह्मण होने के कारण उसे दधि दिया जाता है। वैसे यहां भी विशेष स्थिति में [इन्द्रियसन्निकर्ष के अभाव में] अनुमान ही होगा, उसमें प्रत्यक्षत्व का प्रसङ्ग नहीं हो सकता है।

सिद्धान्ती—प्रतिग्रहण के अभाव में अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्ष के अभाव में स्मृति में प्रत्यक्षत्व का प्रसङ्ग होने लगेगा। क्योंकि वहाँ यह अपवाद नहीं प्रवृत्त है। अर्थात् वहाँ सामान्यविशेषभाव नहीं होता है; किन्तु यद् विषयक प्रत्यक्ष होता है, तद्विषयक ही स्मृति होती है।

पूर्वपक्षी— प्रमाण का अधिकार होने से स्मृति में प्रत्यक्षत्व का प्रसङ्ग नहीं होगा। अर्थात् यह प्रमाण का अधिकार है। स्मृति तो प्रमाण नहीं है; क्योंकि स्मृति द्वारा कोई वस्तु प्रमित नहीं की जाती है। कारण, प्रमाण द्वारा बताये गये (प्रमित हुये) अर्थ में ही स्मृति का प्रादुर्भाव होता है। अतः प्रतिग्रहण अनर्थक है।

सिद्धान्ती—प्रतिग्रहण के अभाव में संशय में प्रत्यक्षत्व का प्रसङ्ग हो जायेगा।

पूर्वपक्षी—प्रत्यक्षलक्षण में अध्यवसाय का ग्रहण होने से संशय में प्रत्यक्षत्व का प्रसङ्ग नहीं होगा। क्योंकि अध्यवसाय को दृष्ट (प्रत्यक्ष) कहा जाता है। अनिश्चयात्मक होने के कारण संशय तो अध्यवसायरूप नहीं है।

उच्यते—इन्द्रियान्तरा[रमन्तरा]कृतविषये तु प्रसङ्गः। एवं तर्हि न्द्रियार्थसन्निकृष्टेन्द्रियवृत्त्युपनिपातीति दोषो न भवति।

आह—रागाद्युपसंख्यानम्। यदि[ ] सन्निकृष्टेन्द्रियवृत्त्युपनिपाती योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमित्यभ्युपेयते, तेन रागादिविषयं विज्ञानमतीन्द्रियत्वात्प्रत्यक्षं न प्राप्नोति। तस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यम्। उच्यते—न तर्हीदं प्रतिग्रहणमिन्द्रियविशेषणं विषयं विषयं प्रति यो वर्तते तस्मिन् योऽध्यवसायस्तद् दृष्टमिति। किन्तर्हि ? अध्यवसायविशेषणं विषयं विषयं प्रति योऽध्यवसाय इति।

आह—अध्यवसायविशेषणमिति चेत्[न]शब्दाद्युपसंख्यानम्। शब्दादीनामेव (ते न) प्रत्यक्षत्वं प्राप्नोति। तेषामुपसंख्यानं कर्त्तव्यं प्राप्नोति।

सिद्धान्ती—इन्द्रियसन्निकर्ष के बिना होने वाले सांकेतिकविषयकज्ञान में प्रत्यक्षलक्षण का अतिप्रसङ्ग दोष हो जायेगा, यदि प्रतिग्रहण न किया जाय। किन्तु प्रतिग्रहण करने पर विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रियों की वृत्ति के अनन्तर होने वाला अध्यवसाय प्रत्यक्ष है—ऐसा लक्षण होने पर कोई दोष नहीं होता है।

शङ्का—सन्निकर्षार्थक 'प्रति' शब्द के देने पर रागादि का उपसंख्यान करना पड़ेगा। अर्थात् विषय के सन्निकृष्ट इन्द्रियों की वृत्ति के अनन्तर होने वाला जो अध्यवसाय उसे यदि दृष्टप्रमाण स्वीकार किया जाता है—तो रागादिविषयक विज्ञान इन्द्रियातीत होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिये रागादिज्ञान की भी दृष्टप्रमाण के रूप में गणना करनी पड़ेगी।

समाधान— उपर्युक्त स्थिति में प्रतिग्रहण इन्द्रिय का विशेषण नहीं होगा। अर्थात् विषय-विषय के प्रति सन्निकृष्ट जो इन्द्रिय उसमें होने वाला जो अध्यवसाय वह दृष्टप्रमाण है—यह प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं है; किन्तु प्रतिग्रहण सीधे अध्यवसाय का विशेषण होकर विषय-विषय के प्रति होने वाला जो अध्यवसाय वह दृष्ट प्रमाण है।

शंका— प्रतिग्रहण को यदि अध्यवसाय का विशेषण मानते हैं—तो शब्दादि की पृथक् गणना करनी चाहिए। अर्थात् उस स्थिति में तुम्हारे कथनानुसार शब्दादि में ही प्रत्यक्षत्व की अप्राप्ति हो जाती है। अतः शब्दादि ज्ञान का भी दृष्टप्रमाण के रूप में पृथक् गणना करनी पड़ जायेगी। क्योंकि शब्दादि के साथ अन्तः करण का सन्निकर्ष बन नहीं सकता है, आपने पहले निर्दिष्ट किया है कि प्रतिग्रहण सन्निकर्ष को सूचित करने के लिए है, वह प्रतिग्रहण अब अन्तः करण का विशेषण हो गया है। एवं शब्दादि के साथ अन्तः करण का सन्निकर्ष अनुपपन्न भी है। क्योंकि शब्दादि के साथ उसका सम्बन्ध मानने पर श्रोत्रादि इन्द्रियां व्यर्थ हो जायेंगी। साथ ही अन्तः करण

किं कारणम् ? अन्तःकरणस्य तैः सन्निकर्षानुपपत्तेः प्रतिग्रहणं सन्निकर्षार्थमिति पूर्वमतिसृष्टं भवता। तच्चेदानीमन्तःकरणविशेषणम्। न चान्तःकरणस्य शब्दादिभिः सन्निकर्ष उपपद्यते, श्रोत्रादिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। द्वारिद्वारभावस्यापघातप्रसंगाच्च। तस्मात् सुदूरमपि गत्वा प्रतिग्रहणं प्रत्याख्यानान्न मुच्यते। रागाद्युपसंख्यानाद्वेति।

उच्यते—अस्तु तर्हीन्द्रियाणां प्रतिविषयग्रहणं विशेषणम्। यत्तूक्तं रागादीनामुपसंख्यानम् कर्त्तव्यमिति, तत्र ब्रूमः—एकशेषनिर्देशात् सिद्धम्। एवं तर्हि प्रतिविषयाध्यवसायश्च प्रतिविषयाध्यवसायश्च प्रतिविषयाध्यवसाय इति सरूपाणामेकशेषः करिष्यते। तत्रैकेन बहिरङ्गस्यैन्द्रियस्य प्रत्यक्षस्य परिग्रहः। द्वितीयेनान्तरङ्गस्य प्रातिभस्येति रागादिविषयं योगिनां च यद्विज्ञानं, तत् संगृहीतं भवतीति व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

आह—अनुमानमिदानीं वक्तव्यम्।

एवं श्रोत्रादि इन्द्रियों में वर्तमान जो द्वारिद्वारभाव है, उसका भी विघात होने लगेगा। अतः बहुत दूर तक विचार करने के बाद भी प्रतिग्रहण खण्डन से नहीं बच पाता है। अथवा रागादि का या शब्दादि का पृथक् उपसंख्यान करना होगा।

सिद्धान्ती का समाधान—प्रतिविषय ग्रहण इन्द्रियों का ही विशेषण रहे। यह जो कहा कि इन्द्रियों का विशेषण करने पर रागादि का पृथक् उपसंख्यान करना पड़ेगा, उसके सम्बन्ध में हम कहते हैं कि एकशेषनिर्देश से रागादिप्रत्यक्ष का भी संग्रह हो जायेगा। जैसे—प्रतिविपयाध्यवसायश्च प्रतिविषयाध्यवसायश्च ऐसा चार्थक द्वन्द्वसमास के अनन्तर 'सरूपाणामेकशेषमेकविभक्तौ' इस सूत्र के अनुसार प्रतिविषयाध्यवसायः ऐसा एकशेप कर दिया जायेगा। वहाँ एक प्रतिविषयाध्यवसाय पद से बहिरङ्ग जो ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष, उसका परिग्रह होगा और द्वितीय प्रतिविषयाध्यवसायपद से अन्तरङ्ग प्रातिभज्ञान का परिग्रह होकर रागादिविषयक एवं योगियों का जो ज्ञान वह भी दृष्टप्रमाण के अन्तर्गत स्वतः संगृहीत हो जाता है। अतः रागादिविषयक ज्ञान का या शब्दादिविषयक ज्ञान का पृथक् उपसंख्यान नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

जिज्ञासु—अब आपको अनुमान का प्रतिपादन करना चाहिये।

सिद्धान्ती— तीन प्रकार का अनुमान सांख्यशास्त्र में आचार्यों ने कहा है—

उच्यते—¹त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। अनुमानं त्रिप्रकारमाचार्यैराख्यातम्—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं च। तत्र पूर्वमिति कारणमुच्यते। यस्य हि यत् कारणं स लोके तत्पूर्वक इत्युच्यते। यथा तन्तुपूर्वकः पटः देवदत्तपूर्वको यज्ञदत्त इति। पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्।

शेष इति विकारनाम, शिष्यते इति कृत्वा। तथा चोक्तम्—न शेषोऽग्नेरन्यस्य जातमित्यस्ति, नापत्यमन्येन जातं सम्भवतीत्यर्थः। शेषोऽस्यास्तीति शेषवत्।

तत्र पूर्ववत्—यदा कारणमभ्युदितं दृष्ट्वा भविष्यत्त्वं कार्यस्य प्रतिपद्यते। तद् यथा मेघोदये भविष्यत्त्वं वृष्टेः।

आह—नैतदस्त्युदाहरणमनेकान्तात्। न हि मेघोदयोऽवश्यं वृष्टेः कारणं भवति, वाद्वादिनिमित्तप्रतिबन्धसम्भवात्।

पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। 'पूर्ववत्' इस पद में पूर्वशब्द से कारण कहा जाता है। जिसका जो कारण होता है, वह लोक में 'तत्पूर्वक है' ऐसा कहा जाता है। जैसे, तन्तु कारण से होने वाला पट तन्तुपूर्वक कहाता है। इस प्रकार जिसका कोई पूर्व हो अर्थात् कारण हो, वह पूर्ववत् है।

'शिष्यते इति शेषः इस विग्रह के अनुसार शेषशब्द विकार की संज्ञा है। कहा भी गया है—अन्यजनित वस्तु अग्नि का शेष नहीं होती; किन्तु अग्निजनित ही वस्तु अग्नि का शेष कहाती है। एवं अन्य से उत्पन्न अन्य का अपत्य नहीं हो सकता है। इस प्रकार जिसका कोई शेष हो अर्थात् विकार हो, वह शेषवत् हैं।

इनमें पूर्ववत् अनुमान तब होता है जब कि कारण को प्रकट हुआ देखकर भावी कार्य को जान लेता है। जैसे—मेघ का उदय देखकर भावी वृष्टि को जान लिया जाता है।

शङ्का— पूर्ववत् का यह उदाहरण नहीं हो सकता है; क्योंकि यहाँ व्यभिचार दोष है। कारण, मेघ का उदित होना अवश्य ही वृष्टि का कारण नहीं होता है। क्योंकि वायु आदि के द्वारा वृष्टि का अवरोध भी सम्भव है।

उत्तर— यदि उक्त उदाहरण में व्यभिचार दोष है तो प्रतिबन्धरहित कारण-शक्ति को देखकर कार्य की अभिव्यक्ति को जान लेना उदाहरण होगा। जैसे—लौह

उच्यते—यदि तर्हि कारणशक्तिं सहकारिशक्त्यन्तरानुगृहीताम-प्रतियोगिनीं दृष्ट्वा कार्यस्य व्यक्ति प्रतिपद्यते। तद् यदा लौहदण्डादि-साधनसम्पन्नेन व्यापारवता कुम्भकारेणाधिष्ठितां मृदमुपलभ्य घटस्य; तदा पूर्ववत्।

शेषवत्—यदा कार्यनिर्वृत्तिं दृष्ट्वा कारणसद्भावं प्रतिपद्यते। तद्-यथा कुमारकं दृष्ट्वा द्वयसमापत्तिम्।

आह—नैतदस्त्युदाहरणम्, अनेकान्तात्। नहि द्वयसमापत्तिपूर्वक एव प्राणभृतां प्रादुर्भावः, द्रोणादीनामन्यथोत्पत्तिविशेषश्रवणात्।

उच्यते—यदा तर्हि प्रभानुरञ्जितमन्तरिक्षं दृष्ट्वा चन्द्रार्कयोरुदयं प्रतिपद्यते, तदा शेषवत्।

आह—एतदपि नास्त्युदाहरणम्, अनेकान्तात्। न हि प्रभानुरागोऽ-न्तरिक्षे चन्द्रार्कनिमित्त एव भवति। किन्तर्हि? दिग्दाहादिनिमित्तोऽपि।

दण्ड आ द साधन से सम्पन्न व्यापारवान् कुम्हार द्वारा अधिष्ठित मट्टी को देखकर भावी घट की अभिव्यक्ति को जान लेता है, तब वह पूर्ववत् अनुमान कहाता है।

शेषवत् अनुमान वह है, जब कार्य को निष्पन्नता को देखकर उसके कारण की सत्ता को जान लेता है। जैसे कुमार को देखकर उसके कारणभूत पतिपत्नी के संयोग का अनुमान कर लिया जाता है।

शङ्का— शेषवत् का यह उदाहरण नहीं हो सकता है; क्योंकि यह नियम व्यभिचारी है। कारण, पतिपत्नी के संयोगपूर्वक ही प्राणी का जन्म होता है, ऐसी बात नहीं है। द्रोणाचार्य प्रभृति की उत्पत्ति पतिपत्नी के संयोग के बिना ही सुनी जाती है।

उत्तर— उक्त नियम में व्यभिचार की स्थिति में जब प्रभा से रञ्जीन हुए आकाश को देखकर चन्द्र या सूर्य के उदय को जान लेता है, वह शेषवत् अनुमान का उदाहरण होगा।

शङ्का— व्यभिचार दोष के कारण यह भी उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि आकाश में प्रभा का अनुराग होना चन्द्र और सूर्य के ही कारण होता हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु उस दिशा में आग लगने आदि के कारण भी आकाश में प्रभा का अनुराग देखा जाता है।

उच्यते—यदा तु नदीपूरं दृष्ट्वा वृष्टिं प्रतिपद्यते, तदा शेषवत् ।

आह—एतदपि नास्त्युदाहरणम्, अनेकान्तात् । नदीपूरस्य हि निमित्तमनेकविधं भवतीति हिमविलयनसेतुभङ्गगजक्रीडादि । तस्मादयुक्तमेतत् ।

उच्यते—यदा तर्हि पर्णं दृष्ट्वा शालूकं प्रतिपद्यते, अङ्कुरं वा दृष्ट्वा बीजमिति तदा शेषवत् । अथवा पुनरस्तु पूर्वकमेवोदाहरणम् ।

यत्तूक्तम्—अनेकान्तादिति । तत्र ब्रूमः—वीतावीतसामर्थ्यात् । वीतावीताभ्यां हेतुभ्यामभिप्रेतार्थसिद्धिरिति वक्ष्यामः । प्रसङ्गिधर्मान्तरनिवृत्तिमुखेन चावीतप्रयोगः । तत्र यदा प्रसङ्गिनां हिमविलयादीनां देशकाललिङ्गैः प्रतिषेधः क्रियते, तदा मुक्तसंशयं प्रतिपत्तिर्भवति । देशतस्तावद् यथा—दक्षिणापथे नास्ति हिमविलयनसंभवः । कालतो यथा—प्रावृट्काले

उत्तर—जब नदी की वृद्धि को देखकर वृष्टि का अनुमान कर लेता है, वह शेषवत् है ।

शङ्का—यह भी उदाहरण ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें भी व्यभिचार है । कारण, नदी में बाढ़ का भी अनेक निमित्त होता है । जैसे बर्फ का गलना, कहीं पुल का ध्वस्त हो जाना अथवा हाथियों की जलक्रीडादि से नदी में वृद्धि सम्भव है । इस लिये शेषवत् का यह उदाहरण भी ठीक नहीं है ।

समाधान— जब पत्ता को देखकर कन्द का अनुमान किया जाता है अथवा अंकुर को देखकर बीज का अनुमान किया जाता है वह शेषवत् है । अथवा पूर्व में दिया हुआ उदाहरण हो रहे, उसमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

यह जो कहा कि पूर्व उदाहरणों में व्यभिचार दोष है—उसके सम्बन्ध में हमारा कहना है कि वहाँ व्यभिचार दोष नहीं है;क्योंकि वीत और अवीत अनुमानों की शक्ति से उक्त दोष का परिहार हो जाता है । हम आगे कहेंगे कि वीत और अवीत हेतुओं से अभीष्ट की सिद्धि होती है । व्यभिचारप्रसंग के लिये उपस्थित किये जाने वाले अन्य धर्मों की निवृत्ति द्वारा अवीतअनुमान का प्रयोग होता है । जब प्रसक्त किये जाने वाले हिमविलयन आदि धर्मों का देश काल और लिङ्गसे निषेध कर दिया जाता है, तब असंदिग्धरूप से बोध हो जाता है । देश द्वारा प्रतिरोध का उदाहरण जैसे—दक्षिणापथ में हिमविलयन (बर्फ के गलने) का सम्भव ही नहीं है । काल जैसे—वर्षाकाल में । अर्थात् वर्षाकाल में भी बर्फ के गलने का कोई प्रश्न नहीं हैं । लिङ्ग

लिङ्गतोऽपि; यस्मान्मुद्गगवेधुकश्यामाककाष्ठतृणसूत्रशकृत्प्रभृतीनामनुपलम्भस्तथोष्मकलुषत्वादीनामुपलम्भः।

तस्मात् परिशेषतो मेघ्या एवाप इति। तस्मान्नानेकान्तः। एवं कृत्वा पूर्वाण्यप्युदाहरणानि उपपन्नानि भवन्ति, देशादिविचारसामर्थ्यात्।

सामान्यतोदृष्टं नाम यत्रैकदाऽर्थयोरव्यभिचारमुपलभ्य देशान्तरे कालान्तरे च तज्जातीययोरव्यभिचारं प्रतिपद्यते। तद्यथा क्वचिद्धूमाग्निसम्बन्धं दृष्ट्वा क्वचिद्धूमान्तरेणाग्न्यन्तरस्यास्तित्वं प्रतिपद्यते।

आह—नैतदस्त्युदाहरणम्। अविशेषप्रसङ्गात्। सर्वत्रैव ह्यनुमाने क्वचिदर्थयोरव्यभिचारमुपलभ्यान्यत्र तज्जातीययोरर्थयोरव्यभिचारं प्रतिपद्यते। तद्यथा क्वचित् साधनवतो मृत्पिण्डाद् घटनिष्पत्तिमुपलभ्यान्यत्र साधनवतः पिण्डान्तराद् घटान्तरनिष्पत्तिं प्रतिपद्यते; तथैकत्र नदीपूराद् वृष्टिमुपलभ्यान्यत्र नदीपूरान्तराद् वृष्ट्यन्तरमवसीयते। तथा च सति त्रयाणामविशेषप्रसंगः।

से भी विलयन आदि का निषेध हो जाता है। जैसे—मुद्ग, गवेधुक, श्यामाक, काष्ठ, तृण; सूत्रऔर पुरीष आदि का उपलब्ध न होना और उष्मा तथा कलुषत्व आदि का उपलम्भ होना सूचित करता है कि नदो में वृद्धि हिमविलयन से नहीं हुई है। अतः परिशेषात् सिद्ध होता है कि नदी में बढ़ा हुआ जल मेघ के ही कारण है हिमविलयन आदि के कारण नहीं। इसलिये पूर्वोक्त अनुमान में भी व्यभिचार दोष नहीं है। इस प्रकार पूर्व में दिये गये शेषवत् के उदाहरण भी उपपन्न हैं देश काल और लिङ्ग के विचार के सामर्थ्य से।

सामान्यतोदृष्ट उसे कहते हैं जहाँ एक बार दो अर्थों का अव्यभिचार प्राप्त कर अन्य देश में और अन्य काल में भी उस जातिमात्र की वस्तुओं में अव्यभिचार का ज्ञान किया जाता हैं। जैसे कहीं धूम और अग्नि का सम्बन्ध देखकर अन्यत्र भी दूसरे धूम से दूसरी अग्नि का अस्तित्व जान लिया जाता है।

शङ्का—सामान्यतोदृष्ट का यह उदाहरण नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में अन्य अनुमानों से इसमें अविशेषता का प्रसङ्ग हो जायेगा। अर्थात् अन्य अनुमानो में और इसमें कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। क्योंकि सभी अनुमानों में दो अर्थों का कहीं अव्यभिचार देखकर उसी जाति के दो अर्थों का अव्यभिचार ज्ञात होता है। जैसे साधनसम्पन्न मृत्पिण्ड से घट की उत्पत्ति देखकर अत्यत्र भी साधन-सम्पन्न पिण्डान्तर से घटान्तर की निष्पत्ति जानी जाती है।

उच्यते—यदा तर्हि सहभुवामेकस्य विशिष्टगुणमुपलभ्य शेषाणामपि तद्वत्त्वमनुमीयते तदा सामान्यतोदृष्टम्। तद्यथा वृक्षादेकस्य फलस्य पाकमुपलभ्य शेषाणां वृक्षान्तराणां च पाकोऽनुमीयते।

आह—एतदपि नास्त्युदाहरणम्, अनेकान्तात्। न हि सर्वेषां फलानां तुल्यकालं पाको भवति, पूर्वापरकालनिष्पन्नत्वात्, निमित्तभेदाच्च।

उच्यते—यदा तर्हि समुद्रादेकमुदबिन्दुं प्राश्य शेषस्य लवणताऽनुमीयते, स्थाल्यां वैकं पुलाकमुपलभ्य शेषाणां पाकोऽनुमीयते, तदा सामान्यतोदृष्टम्।

आह—नैतदस्त्युदाहरणम्, अकृत्स्नसङ्ग्रहात्। वक्ष्यत्ययमाचार्यः—'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्' इति (का० ६)। तत्रैवं प्रमाणे परिकल्प्यमाने कार्यकारणयोस्तत्संघातानां च सुखदुःखमोहस्वभावोपलम्भात् तन्मात्राहङ्कारप्रधानानां समधिगमः स्यात्, न पुरुषस्यः, तज्जातीयार्थानुपलम्भात्।

वैसे ही एक जगह नदी की वृद्धि से वृष्टि का ज्ञान कर अन्यत्र भी नदी की वृद्धि से अन्य वृष्टि का बोध हो जाता है; इस स्थिति में तीनों अनुमानों का परस्पर में अविशेष प्रसङ्ग हो जाता है।

उत्तर— जब साथ होने वाली वस्तुओं में एक के विशिष्ट गुण को देखकर शेष वस्तुओं में भी विशेष गुण का अनुमान होता है; तब सामान्यतोदृष्ट कहाता है। जैसे किसी वृक्ष के एक फल का पकना देखकर उसके शेष फलों का तथा और वृक्षों के भी फलों का पकना अनुमान द्वारा जान लिया जाता है, यह सामान्यतोदृष्ट है।

पूर्वपक्षी—यह भी सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण नहीं हो सकता है; क्योंकि यहाँ भी व्यभिचार है। कारण, सभी फलों का तुल्यकाल में पाक नहीं होता है। किन्तु किसी फल का पूर्व में और किसी का बाद में पाक होता है अथवा फल ही आगे पीछे पैदा होता है। और प्रत्येक फल का निमित्त भी भिन्न होने से एक काल में सबका पाक नहीं हो सकता है।

सिद्धान्ती—जब समुद्र से निकालकर एक जल बिन्दु को जीभ पर रखा जाता है, तब शेष जल का खारापन अनुमान से ज्ञात हो जाता है। अथवा थाली में एक पुलाक (पुलाव) को देखकर शेष चावलों का पाक अनुमान द्वारा अवगत हो जाता है। तब वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

उच्यते—यदा तर्हि क्वचिद्धर्मेण धर्मान्तरस्य व्यभिचारमुपलभ्यैकधर्मोपलम्भाद् भिन्नजातीयेऽत्यन्तानुपलब्धस्य धर्मान्तरस्य प्रतिपत्तिस्तदा सामान्यतोदृष्टम् ।

तद्यथा—देवदत्ते गमनाद् देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यात्यन्तादृष्टज्योतिषां देशान्तरप्राप्तेर्गमनमनुमीयते । तथा प्रासादादीनां वृद्धिपूर्वकं दीर्घत्वमुपलभ्योषधिवनस्पतीनां दीर्घत्वदर्शनाद् वृद्धिरनुमीयते ।

आह—नैतदप्यस्त्युदाहरणम्, पूर्वेणाविशेषात् । कार्यात् कारणस्याधिगमः शेषवदिति पूर्वमतिसृष्टं भवता । अत्रापि देशान्तरप्राप्तिलक्षणात् कार्याद् गतिलक्षणस्य कारणस्याधिगमः । तस्मात् शेषवत्सामान्यतोदृष्टयोरभेदप्रसङ्गः ।

पूर्वपक्षी—यह भी उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि इसके द्वारा सभी अनुमान का संग्रह नहीं हो पाता है। कारण, आचार्य ईश्वरकृष्ण स्वयं कहेंगे—'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् (का० ६) इस कारिका द्वारा और भी अनुमान बताये गये हैं। किन्तु उक्त प्रकार के सामान्यतोदृष्ट अनुमान की परिकल्पना करने पर कार्यकारण एवं उसके संघातों में सुख दुःख मोहस्वभाव का उपलम्भ होने से उस स्वभाव वाले तन्मात्र अहङ्कार और प्रधान का बोध तो हो जायेगा; परन्तु पुरुष का अनुमान (बोध) नहीं हो सकेगा; क्योंकि पुरुष में उस जाति का स्वभाव नहीं उपलब्ध होता है।

सिद्धान्ती— ऐसी स्थिति में जब कहीं एक धर्म के साथ धर्मान्तर का अव्यभिचार (व्याप्ति) देखकर एक धर्म का उपलम्भ होने से भिन्न जाति की वस्तुओं में भी पहले से अत्यन्त अनुपलब्ध धर्मान्तर की प्रतीति हो जाती है, तब वैसी प्रतीति सामान्यतोदृष्ट प्रमाण होगा।

जैसे, देवदत्त में गमनक्रिया द्वारा देशान्तर में पहुंचना देखकर अत्यन्त अदृष्ट नक्षत्रों में भी देशान्तरप्राप्ति (देशान्तर में पहुंच जाना) से गमन क्रिया का अनुमान हो जाता है। एवं, जैसे महल आदि में निर्माण द्वारा धीरे-धीरे हुई वृद्धि से उसकी ऊँचाई को पाकर उसी समय समान ओषधि और वनस्पतियों की ऊँचाई को देखकर क्रमशः हुई उसकी वृद्धि का हम अनुमान कर लेते हैं।

शङ्का— सामान्यतोदृष्ट का यह भी उदाहरण नहीं ठीक है। क्योंकि पूर्वोक्त शेषवत् अनुमान से इसमें कोई विशेषता नहीं है। कार्य से कारण का ज्ञान होना

उच्यते—न, अनियमात् । यत्र हि नियमतः कार्येण कारणमधिगम्यते तच्छेषवदिति अयमस्मदभिसन्धिः, न तु तदस्ति सामान्यतोदृष्टे। कस्मात् ? संघातत्वसामान्यात् पारार्थ्यसामान्यसाधनमपि दृश्यते। यथाह—अव्यभिचाराद् विशेषास्तु प्रतीताः प्रतिपादका इति । साध्यसाधनसामान्ययोरपि दृश्यते, यथाऽनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति । तत्रैवं सति नियमवादिनः प्रतिज्ञाहानिः ।

एतेनासिद्धविरुद्धानैकान्तिकसाधनाभासाः प्रत्युक्ताः । ते हि संशयविपर्ययाज्ञानहेतुकत्वादगमका इति व्याख्यातमनुमानम् ।

शेषवत् अनुमान है, यह आप ने पहले प्रतिपादित किया और यहाँ भी देशान्तरप्राप्तिरूप कार्य से गमनक्रियारूप कारण का अधिगम होता है । अतः शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमानों में परस्पर अभेद का प्रसंग हो जाता है ।

उत्तर— उक्त दोष नहीं होगा; क्योंकि सामान्यतोदृष्ट अनुमान में कार्य से कारण के अधिगम होने का नियम नहीं है । जहाँ नियमितरूप से कार्य से कारण का अधिगम होता है, वह शेषवत् अनुमान है; यह हमारा अभिप्राय है; किन्तु ऐसा नियम सामान्यतोदृष्ट में नहीं है ।

प्रश्न— क्यों ?

संघातत्वसामान्य से परार्थत्वसामान्य का साधन भी देखा जाता है । अर्थात् जो संघात होता है वह परार्थ होता है; ऐसा भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है । इस प्रकार कार्यकारणभाव के बिना भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान देखा जाता है । जैसा कि कहा गया है—अव्यभिचाराद् विशेषास्तु प्रतीताः प्रतिपादकाः । अर्थात् व्यभिचाररहित विशेष का ज्ञान बोधजनक होता है । इस प्रकार साध्यसामान्य और साधनसामान्य में भी बोध्य-बोधकभाव देखा जाता है । जैसे—'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्' यहाँ पर कृतकत्वरूप सामान्यसाधन से अनित्यत्वरूप सामान्यसाध्य की सिद्धि होती है । ऐसी स्थिति में सामान्यतोदृष्ट में नियमतः कार्यकारणभाव मानने वाले के लिये प्रतिज्ञाहानिनामक दोष हो जायेगा ।

अनुमान के उपर्युक्त विवेचन से असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिकनामक साधनाभास (हेत्वाभास) खण्डित हो गये । अर्थात् वे अनुमानप्रमाण नहीं हैं । क्योंकि वे क्रमशः संशय विपर्यय और अज्ञानहेतुक होने से साध्य के बोधक नहीं होते हैं । इस प्रकार अनुमानप्रमाण का व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

आह–आप्तवचनस्य किं लक्षणमिति ?

उच्यते–आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ।। ५ ।।

आप्ता नाम रागादिवियुक्तस्यागृह्यमाणकारणपरार्था व्याहृतिः । श्रवणं श्रुतिः । आप्ता चासौ श्रुतिराप्तश्रुतिः । अथवा आप्ताऽस्यास्तीत्याप्तः, अकारो मत्वर्थीयः तद्यथा तुन्दो घट इति । आप्तेभ्यः श्रुतिराप्तश्रुतिः, सरूपाणामित्येकशेषः । तत्र पूर्वेणाप्तश्रुतिग्रहणेनैवं प्रतिपादयति–अपुरुषबुद्धिपूर्वक आम्नायः स्वतन्त्रः पुरुषनिःश्रेयसार्थम् प्रवर्तमानो निःसंशयं प्रमाणमिति ।

द्वितीयेन मन्वादिनिबन्धनानां च स्मृतीनां वेदाङ्गतर्केतिहासपुराणानां शिष्टानां नानाशिल्पाभियुक्तानां चादुष्टमनसां यद्वचस्तत्प्रमाणमित्येतत् सिद्धं भवति । 'तु' शब्दोऽवधारणार्थः । आप्तश्रुतिरेवाप्तवचनम् न शब्दमात्रम् । एवं सति यदुक्तं तन्त्रान्तरीयैःशिशपादिशब्दानां निर्विकल्पकानु-

---

प्रश्न— आप्तवचनप्रमाण का क्या लक्षण है ?

उत्तर—आप्तवचनप्रमाण आप्तश्रुतिरूप है । आप्ता जो श्रुति वह आप्तश्रुति है । आप्ता कहते हैं—रागादिदोष से रहित व्यक्ति के द्वारा स्वार्थाभिसन्धिरहित परार्थ कही गयी श्रुति अर्थात् श्रवण या शब्द । अर्थात् स्वार्थाभिप्रायरहित व्यक्ति द्वारा कथित परार्थ वचन आप्तवचन है ।

अथवा आप्ता उक्ति जिसकी हो, वह आप्त है । यहाँ मत्वर्थीय अच् प्रत्यय है । जैसे तुन्द जिसमें हो; ऐसा घर तुन्द कहा जाता है । अतः ऐसे आप्तजनों से प्रवृत्त शब्द आप्तश्रुति । आप्तश्रुतिशब्द में चार्थे द्वन्द्वसमास होकर 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इस सूत्र से एकशेष हो गया है । अर्थात् 'आप्तश्रुतिश्च आप्तश्रुतिश्च' ऐसा समास है । इसमें प्रथम 'आप्तश्रुति' शब्द से अपौरुषेय वेद कहा गया है । स्वतन्त्र एवं पुरुष के निःश्रेयस के लिये प्रवर्तमान संशयरहित आम्नाय आप्तश्रुति है । यह प्रथम आप्तश्रुतिपद का अभिप्राय है ।

द्वितीय आप्तश्रुति ग्रहण से यह सिद्ध होता है कि मनु आदि के द्वारा लिखित स्मृतियों का, वेदाङ्ग, तर्क एवं इतिहास–पुराणों का, शिष्टजनों का, तथा नाना शिल्प में संलग्न शुद्ध मन वाले जनों का जो वचन, वह आप्तवचनप्रमाण है । कारिका में 'तु' शब्द अवधारण अर्थ में है । अतः उक्त प्रकार की आप्तश्रुति ही आप्तवचन प्रमाण है, शब्दमात्र प्रमाण नहीं है । ऐसी स्थिति में अन्य शास्त्रकारों ने यह जो कहा कि शिंशपा आदि शब्दों से उत्पन्न निर्विकल्पक ज्ञान का अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव हो जायेगा; क्योंकि अनुमान के तीनों लक्षण पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्व, एवं विपक्षव्यावृत्तत्वरूप शब्द-

मानेऽन्तर्भावः त्रिलक्षणत्वादिति—तदयत्नतः प्रतिक्षिप्तं भवतीति व्याख्यातानि प्रमाणानि । एतैः पूर्वोक्तं प्रमेयं यथास्वं प्रतिपत्तव्यमिति ॥ ५ ॥

आह—अस्तु तावदक्षसन्निकर्षभाजामर्थानां प्रत्यक्षेणोपलब्धिः । असन्निकर्षभाजामपि चोपलब्धसम्बन्धानामनुमानेन । ये त्वतीन्द्रिया भावास्तेषामुभयवैलक्षण्यान्नास्ति प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलब्धिः । आगमिकत्वे सर्ववादसिद्धिप्रसंगः । इत्यतोऽत्यन्तमेवाग्रहणं प्राप्तम् । तत्र यदुक्तमेतावद्भिः प्रमाणैः सकलपदार्थावबोध इति एतदयुक्तम् ।

उच्यते—स्यादेतदेवं यद्येकरूपमेवानुमानमधीतं स्यात् । किं तर्हि ? त्रिविधम् । तत्र सत्यमेव पूर्ववच्छेषवती प्रागनुभूतसम्बन्धविषयफले इति कृत्वा न ताभ्यामशेषपदार्थाधिगमोऽभ्युपगम्यते ।

'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रसिद्धिरनुमानात् ।'

स्थल में भी घटित होते हैं—वह कथन बिना प्रयास के ही खण्डित हो जाता है । अर्थात् आप्तवचन नामक तृतीय प्रमाण अवश्य मानना चाहिए । इस प्रकार त्रिविध प्रमाणों का व्याख्यान पूर्ण हुआ । इन तीनों प्रमाणों से पूर्वोक्त अव्यक्त आदि प्रमेयों को यथास्वरूप जानना चाहिए ॥ ५ ॥

पूर्वपक्ष— इन्द्रियसन्निकर्ष वाले पदार्थों की प्रत्यक्षप्रमाण से भले ही उपलब्धि हो जाय और इन्द्रियसन्निकर्ष से रहित तथा जिनका व्याप्तिरूप सम्बन्ध ज्ञात है; ऐसे पदार्थों का भी ज्ञान अनुमानप्रमाण से भले ही हो जाय; किन्तु जो अतीन्द्रिय भाव पदार्थ हैं उनकी उपलब्धि प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणों से नहीं हो सकती है । क्योंकि वे पदार्थ न प्रत्यक्ष हैं न अनुमेय हैं; किन्तु दोनों से विलक्षण हैं ।

यदि कहें कि अतीन्द्रिय पदार्थ प्रत्यक्षानुमानगम्य नहीं होने पर भी आगम प्रमाण द्वारा सिद्ध हैं—तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि तब सभी सिद्धान्तों की सिद्धि होने लगेगी । अतः अतीन्द्रिय पदार्थों का सर्वथा अग्रहण प्राप्त हो गया । इसलिए यह जो कहा गया कि इतने प्रमाणों से सकल पदार्थों का ज्ञान हो जायेगा—यह कथन अयुक्त है ।

उत्तर— आप का यह पूर्वपक्ष तब सम्भव होता यदि अनुमान का एक ही स्वरूप ज्ञात होता;किन्तु अनुमान तो तीन प्रकार का है। यह बात सत्य है कि पूर्ववत् और शेषवत् अनुमान,पूर्व में अनुभूत है सम्बन्ध जिसका ऐसे विषय और फल से सम्बन्धित हैं। इसलिए उनदोनों अनुमानों से अशेष पदार्थ का बोध स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

यत्त्वेतत्सामान्यतोदृष्टमनुमानम्,एतस्मादतीन्द्रियाणामर्थानां समधिगमः प्रत्यवगन्तव्यः ।

कथम् ? यथा हि कृतकत्वानित्यत्वयोर्घटे सद्भावमुपलभ्यान्यत्र शब्दादौ कृतकत्वदर्शनादनित्यत्वमनुमीयते, एवं शकलादीनां तज्जातीयतया चन्दनादिपूर्वकत्वसिद्धेः, कार्यकारणस्य सुखादिजातीयतया तत्पूर्वकत्वसिद्धेः, शयनादीनां च संघातत्वात् पारार्थ्यसिद्धेः, कार्यकारणस्यापि संघातत्वात्पारार्थ्यसिद्धिरिति सर्वमिष्टं सङ्गृहीतं भवतीति ।

येषां तु शेषवदेव सामान्यतोदृष्टं, तेषां तस्य कार्यद्वारेण समधिगमहेतुत्वात् पुरुषस्याग्रहणप्रसंगः । वृत्तौ कार्योपचाराददोष इति चेत्, स्यान्मतम्—यद्यपि पुरुषस्य कार्याभावस्तथापि पुरुषाव्यक्तमहदहङ्कारविशेषाणां साम्प्रते काले स्ववृत्तिभ्यस्तेषां ग्रहणमित्युक्तम् । कस्मात् ? वृत्तिशक्तिरेषां कार्यत्वेनोपचरिता स्वमात्मानं युनक्तीति ।

अतः 'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रसिद्धिरनुमानात्' इस कारिका द्वारा आचार्य ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों का बोध निरूपित किया है।

अर्थात् यह जो सामान्यतोदृष्ट अनुमान है, इससे अतीन्द्रिय पदार्थों का बोध होता है, ऐसा समझना चाहिये ।

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर— जैसे कृतकत्व और अनित्यत्व का घट में साहचर्य देखकर अन्यत्र भी शब्दादि में कृतकत्व को देखकर अनित्यत्व का अनुमान हो जाता है। ऐसे ही चन्दन आदि के टुकड़े को उस जाति का देखकर उसमें चन्दनादिपूर्वकत्व की सिद्धि हो जाती है। तथा कार्यकारण को सुखादिजाति का देखकर उसमें भी सुखादिपूर्वकत्व की सिद्धि हो जाती है। ऐसे ही शयनादि के संघातरूप होने से उसमें परार्थत्व की सिद्धि हो जाती है। इसके समान कार्यकारण के भी संघातरूप होने से वह भी परार्थ है, इसकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण अभीष्ट संगृहीत हो जाता है।

जिनके मत में शेषवत् अनुमान ही सामान्यतोदृष्ट है, उनके अनुसार शेषवत् अनुमान कार्य के द्वारा ही बोध का हेतु होता है, इस स्थिति में पुरुष का ग्रहण (बोध) नहीं हो सकेगा। क्योंकि पुरुष का कोई कार्य नहीं होता है और न पुरुष किसी का कारण होता है। यदि कहा जाय कि वृत्ति में ही कार्य का उपचार होने से उक्त दोष नहीं होगा। अर्थात् यद्यपि पुरुष का कोई कार्य नहीं होता है, तथापि पुरुष-अव्यक्त-

तच्चायुक्तम्—कस्मात् ? हेत्वन्तराभिधानात् । यदि वृत्त्या ग्रहणं पुरुषस्य सूपपादमभविष्यत्, संहतपारार्थ्यमाचार्यो नावक्ष्यत् । तच्चावृत्तिभूतमित्यवश्यं शेषवत्सामान्यतोदृष्टयोरर्थान्तरभावोऽभ्युपगन्तव्यः । तस्मात् सिद्धम्-सामान्यतोदृष्टादतीन्द्रियाणामर्थानामधिगमः ।

तस्य प्रयोगमात्रभेदात् द्वैविध्यम्-वीतःअवीत इति । तयोर्लक्षणमामनन्ति—

यदा हेतुः स्वरूपेण साध्यसिद्धौ प्रयुज्यते ।
स वीतोऽर्थान्तरा(र)क्षेपादितरः परिशेषितः ॥

स्वरूपं हि साधनस्य द्विविधम्—साधारणमसाधारणं च । तत्र साधारणं साध्यसहभावी तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वेन यथावदाश्रीयमाणोऽर्थात्मा । असाधारणं पुनः परिमाणमन्वयः संघातपरार्थत्वमित्यादि ।

महत् और अहङ्कारविशेषों की वर्तमान काल में हुई अपनी वृत्तियों से ही पुरुषादि का ग्रहण हो जाता है, यह कहा जा चुका है। क्योंकि वृत्तिशक्ति ही कार्य के रूप में उपचरित होकर अपने आपको पुरुष आदि से सम्बद्ध कर देती है और उनका बोधक हो जाती है।

वह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि हेत्वन्तर का अभिधान किया गया है। अर्थात् यदि वृत्ति द्वारा पुरुष के ज्ञान का उपपादन ठीक होता तो 'संघातपरार्थत्वात्' ऐसा आचार्य नहीं कहते। उक्त अनुमान तो उक्त वृत्तिस्वरूप है नहीं। अतः वृत्ति को कार्य मानकर उससे पुरुष का ज्ञान शेषवत् अनुमान से नहीं हो सकता। इसलिये शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमानों का पारस्परिक भेद अवश्य ही मानना चाहिये। अतः सिद्ध हुआ कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय विषयों की प्रतीति होती है।

वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रयोगमात्र के भेद से दो प्रकार का होता है—वीत और अवीत। उन दोनों का लक्षण आचार्यों ने कहा है—

जब हेतु अपने स्वरूप से साध्यसिद्धि के लिये प्रयुक्त होता है, तब वह वीत कहाता है। और जब अर्थान्तर का निराकरण कर परिशेषात् अन्य अर्थ सिद्ध किया जाता है, तब वह अवीत अनुमान कहाता है।

यहाँ वीत के लक्षण में कथित साधन का स्वरूप दो प्रकार का होता है—साधारण और असाधारण। उनमें साधारण स्वरूप वह है, जो साध्य के साथ होता

तत्र यदा हेतुः परपक्षमपेक्ष्य यथार्थेन स्वरूपेण साध्यसिद्धावुपदिश्यते; तदा वीताख्यो भवति। यदा तु स्वसाध्यादर्थान्तरभूतानां प्रसङ्गिनां क्षेपमपोहं कृत्वा परिशेषतः साध्यसिद्धावुपदिश्यते, तदाऽवीताख्यो भवति तद् यथा—न चेत् परमाणुपुरुषेश्वरकर्मदैवकालस्वभावयदृच्छाभ्यो जगदुत्पत्तिः संभवति, परिशेषतः प्रधानादिति, तदा पुनरवीताख्यो भवति।

तत्र यदा वीतो हेतुः स्वबुद्धाववहितविज्ञानरूपं विज्ञानान्तरमादधानेन वक्त्रा प्रतिपाद्यादौ वाक्यभावमुपनीयते, वाक्यमन्तरेणार्थस्य

हुआ साध्यप्रतीति का हेतुभूत विषय के रूप में यथावत् प्रयुक्त होता है। जैसे अग्निसाध्य के प्रति धूम-हेतु।

प्रकृति और पुरुष की सिद्धि में प्रयुक्त होने वाले परिमाण, अन्वय और संघात-परार्थत्व आदि हेतु के असाधारण स्वरूप हैं। अर्थात् महत्तत्त्व से लेकर पञ्चभूत-पर्यन्त सभी विशेषतत्त्व परिमित हैं, अतः इनका कारण अव्यक्त है। एवं उक्त विशेषतत्त्व सुख दुःख और मोह से समन्वित हैं, अतः इनका कारण भी सुख दुःख मोहरूप त्रिगुणात्मक होना चाहिये। क्योंकि कारणगुण से समन्वित कार्य होता है। वह कारण अव्यक्त प्रकृति ही है। इसी तरह शयन आसन आदि संघात जैसे किसी दूसरे के उपयोग के लिये होता है, वैसे कार्यकरणसंघातरूप यह देह भी किसी असंहृत पुरुष के लिये है। इस प्रकार संघातपरार्थत्व हेतु से देहातिरिक्त पुरुष की सिद्धि होती है। यह हेतु के असाधारण स्वरूप का उदाहरण है।

इन वीतावीत अनुमानों में जब हेतु परपक्ष की अपेक्षा से यथार्थ स्वरूप से (अपने अर्थानुसारी स्वरूप से) साध्यसिद्धि के लिये प्रयुक्त होता है, तब वह वीत नामक हेतु होता है। अर्थात् वीत नामक अनुमान में परपक्ष का बिना अपोह किये हेतु स्वसाध्य की सिद्धि कराता है।

जब जो अपने साध्य से भिन्न प्राप्त (प्रसक्त) हो रहे अर्थों का प्रतिक्षेप (अपोह-व्यावर्तन) कर परिशेषात् साध्यसिद्धिहेतु प्रयुक्त होता है, तब वह अवीत नामक हेतु होता है। अर्थात् यदि परमाणु-पुरुष-ईश्वर-कर्म-दैव-काल-स्वभाव और यदृच्छा से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, तो परिशेषात् प्रधान से जगत् की उत्पत्ति होती है—यह अपना पक्ष सिद्ध हो जाता है, तब यह अवीतनामक हेतु (अनुमान) होता है।

उनमें जब अपनी बुद्धि में स्थित जो वह्न्यादिकज्ञान उसके समान अन्य

बुद्ध्यन्तरे संक्रामयितुमशक्यत्वात्, तदाऽवयविवाक्यं परिकल्प्यते। तस्य पुनरवयवाः जिज्ञासासंशयप्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासलक्षणाश्च व्याख्याङ्गम्। प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपसंहारनिगमनानि परप्रतिपादनाङ्गमिति।

तत्र ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। कश्चित् कंचिदुपसद्याह—पुरुषं ज्ञातुमिच्छामि। किमस्ति नास्तीति ? कुतः संशय इति पर्यनुयुक्तः प्रत्याह—अनुपलभ्यमानस्योभयथा दृष्टत्वात्। इहानुपलभ्यमानमुभयथा दृष्टम्—सद्भूतमसद्भूतं चेति। सद्भूतं चार्केन्दुमण्डलापरभागादि, असद्भूतं च शशविषाणादि। अयमपि चात्मा नोपलभ्यते। अतः संशयः किमस्ति नास्तीति ?

किमस्याश्चिन्तायाः प्रयोजनमिति पृष्टो व्याचष्टे—शास्त्रसतत्त्वाधिगमः, ततश्च मोक्षावाप्तिः। कथमिति ? यदि तावदयमात्माऽस्ति ततोऽस्य

विज्ञान को व्यक्तिविशेष के अन्दर संक्रमित करते हुए वक्ता के द्वारा प्रतिपादित होकर वीत हेतु को वाक्य के रूप में पहले प्रयुक्त किया जाता है, क्योंकि वाक्यप्रयोग के बिना स्वबुद्धिगत विषय को दूसरे की बुद्धि में संक्रमित नहीं किया जा सकता है, तब उक्त वक्ता के द्वारा अवयवी वाक्य की परिकल्पना की जाती है। उसके जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशयव्युदासरूप अवयव व्याख्या के अङ्ग हैं। एवं प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त उपसंहार (उपनय) और निगमन दूसरे के प्रति प्रतिपादन के अंग हैं।

इनमें जानने की इच्छा जिज्ञासा है। जैसे कोई किसी के पास जाकर कहता है—मैं पुरुष को जानना चाहता हूँ कि क्या पुरुष है या नहीं है ? यह कैसे संशय हुआ ऐसा पूछे जाने पर वह बोलता है—किसी वस्तु की अनुपलब्धि दोनों प्रकार से देखी जाती है। अर्थात् अनुपलब्ध वस्तु दोनों तरह की देखी गयी है—सत् भी और असत् भी। जैसे—सूर्य और चन्द्रमण्डल का दूसरा भाग सत् होते हुए भी दिखायी नहीं पड़ता एवं शशश्रृङ्ग आदि असत् होता हुआ नहीं दिखाई देता। ऐसे ही वह आत्मा भी उपलब्ध नही होता है; अतः संशय होता है कि क्या आत्मा है या नहीं है।

प्रश्न— इस चिन्ता का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर— शास्त्र से सत् तत्त्व का अधिगम और उससे मोक्ष की प्राप्ति हो इस चिन्ता का प्रयोजन है।

प्रश्न— कैसे ?

उत्तर— यदि यह आत्मा है तो इसके सम्बन्ध में नैरात्म्यभ्रान्ति को दूर करने

अप्रकृतित्वौदासीन्यविभुत्वादिसतत्त्वविज्ञानान्नैरात्म्यभ्रान्तिविपक्षभूतादपव-र्गप्राप्तिरवश्यं भाविनीति। यदुक्तम् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षोऽवाप्यत इति तच्छास्त्रमर्थवद् भवतीति।

अथ नास्तीति निश्चीयते, तेन सामान्यतोदृष्टादनुमानात् तद्वदन्येऽपि पदार्थाः न सन्तीति विप्रलम्भभूयिष्ठमार्षं दर्शनमपहायात्मग्रहदृष्टिविगमा-ल्लोकोत्तरमनवलम्बनं शून्यं ध्यानविषयमुपसम्प्राप्तस्त्रैधातुकक्लेशनिरोधल-क्षणमात्यन्तिकं निर्वाणमवाप्स्यसीति।

शक्यश्चायमर्थो निश्चेतुम् प्रमाणत्रयपरिग्रहादिति व्यवस्थिते व्युदस्य संशयं साध्यावधारणं प्रतिज्ञा। [साध्यस्य यदवधारणम्-अस्ति पुरुष इति सा प्रतिज्ञा।]

साधनसमासवचनं हेतुः। साध्यतेऽनेनेति साधनं लिङ्गम्। समासः संक्षेपः। साधनस्य समासवचनं साधनसमासवचनम्। साधनग्रहणं तदा-

---

वाले अप्रकृतित्व औदासिन्य एवं विभुत्व आदि तत्त्व के ज्ञान से अवश्य ही अपवर्ग की प्राप्ति होगी। जैसा कि कहा है—व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षोऽवाप्यत इति। अर्थात् व्यक्त अव्यक्त और आत्मा के ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है; इस प्रकार का शास्त्र अर्थवान होता है।

यदि ऐसा निश्चय हो कि आत्मा नहीं है तो सामान्यतोदृष्ट अनुमान के बल से आत्मा के समान अन्य पदार्थ भी असत् है—ऐसा निश्चय होने से आत्मदर्शन को छोड़कर आत्मज्ञान की दृष्टि लुप्त हो जाने से लोकमर्यादा से विपरीत निराधार, एवं प्रवञ्चनापूर्ण शून्यतत्त्व को ध्यान का विषय बनाने वाला व्यक्ति त्रैधातुक क्लेशों का निरोधरूप आत्यन्तिक निर्वाण को प्राप्त हो जायेगा—यह असद्बुद्धि हो जाती है।

प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तवचनरूप त्रिविध प्रमाणों के द्वारा इस आत्मारूपी विषय का निश्चय किया जाता है। ऐसा व्यवस्थित हो जाने पर संशय का निराकरण कर के साध्य का निश्चय करना प्रतिज्ञा है। अर्थात् पुरुष है—ऐसा साध्य का जो निश्चय होता है, उसे अनुमान का प्रतिज्ञारूप अङ्ग कहते हैं।

साधन का संक्षेप से कथन हेतु है और जिससे साध्य सिद्धि हो वह साधन है अर्थात लिङ्ग है। समास का अर्थ है संक्षेप, संक्षेप से साधन का कथन करना 'साधन-समासवचन' का अर्थ है।

भासप्रतिषेधार्थम् । नहि तानि साधनं संशयविपर्ययहेतुत्वात् । समास-ग्रहणमवयवान्तरावकाशप्रदानार्थम् । लिङ्गनिर्देशमात्रं हेतुः । यस्तु तस्य साध्यसहभावित्वलक्षणः प्रपञ्चः सोऽवयवान्तराणीत्युक्तं भवति ।

उदाहरणन्त्वत्र निदर्शनं दृष्टान्तः । तस्य साधनस्य साध्येन सहभा-वित्वनिदर्शनं यत् असौ दृष्टान्तः । तद्यथा संहत्यकारिणां परार्थत्वं दृष्टं यथा शयनासनरथशरणानाम् । व्यतिरेकस्त्ववीतस्य प्रसक्तिधर्मान्तरनिवृ-त्तिरूपत्वात् तदन्तर्भूत इति न तदर्थं वैधर्म्यदृष्टान्त उच्यते ।

साध्यदृष्टान्तयोरेकक्रियोपसंहारः उपनयः । साध्यस्य चक्षुरादिपारा-र्थ्यलक्षणस्य दृष्टान्तस्य च शयनादेरेकक्रियोपसंहारः । तत्रार्थान्तरभूतत्वात्

यहाँ साधन का ग्रहण साधनाभास का प्रतिषेध करने के लिए है; क्योंकि साधनाभास साधन नहीं होता । अर्थात् साधनाभास से साध्य की सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि साधनाभास संशय और विपर्यय का हेतु होता है । हेतु के लक्षण में समासशब्द का उल्लेख अन्य अवयवों को अवसर प्रदान के लिये है । अर्थात् साध्यसिद्धि के लिये हेतु से अतिरिक्त भी अंग अपेक्षित है, यह बात समासग्रहण से सूचित होती है । तात्पर्य यह है कि लिङ्ग का केवल निर्देश करना हेतु है तथा अन्य जो अनुमान में साध्य-साहचर्यरूप प्रपञ्च है, वह हेतु के अतिरिक्त अवयव हैं, यह फलितार्थ है ।

यहाँ उदाहरण या निदर्शन को दृष्टान्त कहते हैं । अर्थात् उस साधन का साध्य के साथ जो साहचर्य स्थल है, वह दृष्टान्त है । जैसे, परस्पर में संहत होकर (मिलकर) अर्थक्रिया करने वाली वस्तु परार्थ देखी गयी है, अर्थात् वह वस्तु दूसरे के प्रयोजन के लिये होती है । जैसे, शयन-आसन-रथ या गृह व्यक्तिविशेष के लिये होता है । यह वीतनामक अनुमान का अङ्ग है । अवीतनामक अनुमान का अङ्ग तो व्यतिरेक दृष्टान्त होता है । और वह पक्ष में प्रसक्त होने वाले धर्मान्तर की निवृत्ति-रूप होने से दृष्टान्त के ही अन्तर्गत है । अतः अवीत अनुमान के लिये प्रयुक्त होने वाला भी दृष्टान्त ही है, अतः उसके लिये वैधर्म्य दृष्टान्त नहीं कहा जाता है ।

साध्य और दृष्टान्तका एक क्रिया में उपसंहार या पर्यवसान होना उपनय है । अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों में जो परार्थत्व है, उस परार्थत्वरूप साध्य का तथा शयना-दिरूप दृष्टान्त का एक क्रिया में जो पर्यवसान है, वह उपनयनामक अङ्ग है । क्योंकि साध्य और दृष्टान्त के परस्पर में भिन्न वस्तु हाने के कारण सर्वात्मना एक क्रिया नहीं बन सकती है । कारण, उसी से उसका निरूपण नहीं होता अर्थात् पक्ष हो दृष्टान्त नहीं हो सकता है । इसलिये समान धर्म के कारण एक क्रिया का व्यवहार

साध्यदृष्टान्तयोरञ्जसा नैकक्रियोपपद्येत, तेनैव तस्यानिदर्शनादित्यतो धर्म-सामान्याद् यथेदं तथेदमित्येकक्रियोपचर्यते। यथा शयनादयः संहतत्वात् परार्था एवं चक्षुरादिभिरपि परार्थैर्भवितव्यम्, योऽसौ परः, स पुरुषः।

तद्वशात् प्रतिज्ञाऽभ्यासो निगमनम्। हेतुदृष्टान्तोपसंहारापेक्षया यः पुनरभ्यासः तन्निगमनम्। तद्यथा—तस्मादस्ति पुरुष इति।

एषामवयवानां परस्परसम्बन्धाद् विशिष्टार्थः समुदायो वाक्यमि-त्युपदिश्यते। वाक्यमप्यनेकं यदा गुणीभूतस्वार्थमर्थान्तरोपकारित्वादि-तरेण संसृज्यते, तदा शास्त्रमप्येकवाक्यमित्यवसीयते।

आह—जिज्ञासाद्यनभिधानम्, तद्व्यतिरेकेणापि स्वयमर्थगतेः। स्वनिश्चयवच्च परप्रतिपादनात्। यथा हि स्वयमुत्पद्यते निश्चेतुः प्रत्यय-

---

होता है—जिस तरह धूमवान् होने से महानस अग्निमान् होता है, वैसे ही धूमवान् होने से पर्वत भी अग्निमान् है। एवं संघातरूप होने से जैसे शयनादि वस्तु परार्थ होती है, ऐसे ही चक्षुरादिके भी संघातरूप होने से परार्थ होना चाहिये। यहाँ जो पर है; जिसके लिये चक्षुरादि इन्द्रियाँ हैं, वह पुरुष है। इस प्रकार साध्य (पक्ष) और दृष्टान्त का उपसंहार एक क्रिया में होता है।

उसके अधीन प्रतिज्ञा को पुनः दुहराना निगमन है। अर्थात् हेतु और दृष्टान्त के पूर्वोक्त उपसंहार के आधार पर जो प्रतिज्ञा का (साध्यावधारण का) पुनः दुहराना, वह निगमन है।जैसे —'तस्मादस्ति पुरुष इति' अर्थात् उक्त हेत्वादि के आधार पर सिद्ध होता है कि पुरुष है।

उक्त पञ्चविध अवयवों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण विशिष्ट अर्थ को प्रति-पादित करने वाला जो समुदाय, वह वाक्य कहा जाता है। इसे ही पञ्चावयव वाक्यात्मक न्यायशब्द से भी व्यवहृत किया जाता है।

वाक्य भी जब अनेक होता हुआ अपने अर्थ को गौण बनाकर दूसरे अर्थ का उपकारी होकर एक वाक्य दूसरे वाक्य से संसृष्ट होता है, तब शास्त्र भी एक वाक्य के रूप में पर्यवसित हो जाता है।

शङ्का—अनुमानाङ्ग के रूप में जिज्ञासा आदिका अभिधान नहीं करना चाहिये। क्योंकि उसके बिना भी अपने आप अर्थ की अवगति एवं अपने निश्चय की तरह दूसरे में भी बोध की उत्पत्ति की जाती है। अर्थात् जैसे निश्चय कर्त्ता को जिज्ञासादि के बिना भी स्वयं ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही दूसरे में उत्पन्न किया

स्तथैवान्यः प्रत्याय्य इत्येतन्न्याय्यम्। न च स्वयमेवार्थं प्रतिपद्यमानस्य जिज्ञासादीनां तत्र व्यापारः। तस्मात् परार्थमप्येषामुपादानं न कल्प्यते।

संशयवचनानर्थक्यं च, प्रतीतार्थत्वात्। निश्चितौ हि वादिप्रतिवादिनौ स्वपक्षयोः। तयोरितरेतरसंशयपर्यनुयोगे नास्ति प्रयोजनम्।

किञ्चान्यत्—प्रयोजनशक्यप्राप्त्यवचनं च, साधनाभ्युपगमादेव तत्प्रतीतेः। न हि महतां निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरुपपद्यते। न चाशक्येऽर्थे हिमवत्समीकरणादिषु प्रवृत्तिः। तस्मादनर्थकं तदभिधानम्।

तद्भावे भावादिति चेत्, स्यादेतत्—सत्सु जिज्ञासादिषु तत्त्वाधिगमं प्रति प्रवृत्तिर्भवति, असत्सु न भवति। तस्मादेतान्यपि साधनं भविष्यन्तीति। एतच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? अतिप्रसङ्गात्। सत्स्वात्मान्तः

जा सकता है, यह न्यायसंगत है। क्योंकि स्वयमेव अर्थ की प्रतिपत्ति करने वाले को जिज्ञासादि व्यापार की अपेक्षा नहीं रहती है। इसलिये दूसरे को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये भी जिज्ञासादि ग्रहण की कल्पना नहीं की जा सकती है।

एवं, संशय को अनुमानाङ्ग कहना भी निरर्थक है; क्योंकि विषय की प्रतीति दोनों को ही रहती है। अर्थात् वादी और प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष के सम्बन्ध में निश्चयवान् होते हैं। अतः दोनों के लिये परस्पर संशय की अनिवार्यता कथन का कोई प्रयोजन नहीं है।

और भी—प्रयोजन और शक्यप्राप्ति को भी अनुमानाङ्ग नहीं कहना चाहिये; क्योंकि साध्य की सिद्धि को अपनाने से ही प्रयोजन और शक्यप्राप्ति की प्रतीति हो जाती है। कारण, बड़ों की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती। साथ ही हिमालय को समतल बनाने आदि अशक्य विषय में भी प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः प्रयोजन और शक्यप्राप्ति का कथन अनर्थक है।

यदि कहें कि जिज्ञासादि के होने पर ही अनुमान में प्रवृत्ति होती है। अर्थात् जिज्ञासा आदि के होने पर तत्त्वाधिगम के लिये प्रवृत्ति होती है, और उनके अभाव में नहीं होती है, अतः जिज्ञासा आदि भी अनुमान के साधन होंगे—तो यह भी अनुपपन्न है।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—अतिप्रसङ्गदोष होने से, अर्थात् आत्मा अन्तःकरण इन्द्रियाँ-आलोक

करणेन्द्रियालोकविषयेषु प्रवृत्तिदर्शनात् तेषामपि साधनत्वं स्यात्। अनिष्टं चैतत्। तस्माज्जिज्ञासादयोऽनर्थकाः।

प्रतिज्ञादयो दुर्विहिताः। कथम्? [साध्याभिधायिनः प्रतिज्ञाऽभ्युपगमाद् हेतुदृष्टान्तयोरपि तत्प्रसङ्गः] साध्यावधारणस्यावयवान्तरेष्वप्युपपत्तेः। यदि साध्यावधारणं प्रतिज्ञेत्युच्यते, तेन साध्यस्य हेतोर्दृष्टान्तस्य वा यदवधारणं तदपि प्रतिज्ञा (त्वं) प्राप्नोति, निमित्ताविशेषात्। साध्यशब्दो ह्ययं सामान्यवृत्तिः, न यत्नमन्तरेण विशेषेऽवस्थापयितुं शक्यत इति।

किञ्च हेतुलक्षणानुपपत्तिश्च साधनानुपदेशात्। यो हि साधनसमासवचनं हेतुरित्येतल्लक्षणमाचष्टे, तेन प्राक् साधनमभिधेयं स्यात्। ततो वक्तव्यममुष्य समासवचनं हेतुरिति, न चैवमुक्तम्। तस्मादलक्षणमेतद्।

और विषय के रहने पर उक्त प्रवृत्ति देखी जाती है, ऐसी स्थिति में ये भी अनुमान के साधन होने लगेंगे। किन्तु यह अनिष्ट है। अतः जिज्ञासा आदि अनर्थक है।

एवं, प्रतिज्ञादि के स्वरूपों का विधान भी दोषयुक्त है।

प्रश्न—क्यों?

उत्तर—साध्य का अभिधान करने वाले को प्रतिज्ञा माना गया है। ऐसी स्थिति में हेतु और दृष्टान्त में भी प्रतिज्ञात्व का प्रसङ्ग हो जायेगा; क्योंकि साध्य का अवधारण अन्य अवयवों में भी बन जाता है। अर्थात् यदि साध्य के अवधारण को प्रतिज्ञा कहा जाता है, तो साध्यभूत हेतु या दृष्टान्त का जो अवधारण, वह भी प्रतिज्ञा के रूप में प्राप्त हो जाता है; क्योंकि प्रतिज्ञा होने का जो निमित्त है, वह हेतु और दृष्टान्त में भी समान है। कारण, यहाँ साध्यशब्द सामान्य अर्थ का का बोधक होने से हेतु और दृष्टान्त भी साध्य है। क्योंकि बिना प्रयत्न के सामान्यवाची साध्यशब्द को वह्न्यादि विशेष अर्थ में नहीं गृहीत किया जा सकता है।

और भी दोष है—हेतु का लक्षण भी नहीं बन सकता है। क्योंकि हेतुलक्षण में आये साधनशब्द का क्या अर्थ है, यह नहीं बताया गया है। अर्थात् 'साधनसमासवचनं हेतुः' ऐसा जो लक्षण कहते हैं उन्हें पहले साधन क्या है? यह कहना चाहिये। उसके बाद कहना चाहिये कि 'उसका समासवचन हेतु है'। किन्तु ऐसा कहा नहीं। अतः हेतु का यह लक्षण नहीं बन सकता है।

किञ्चान्यत्—समास[ा]वचनं च विस्तरनिषेधप्रसङ्गात् । यदि हि समासग्रहणं क्रियते, किं प्राप्तम् ? योऽयम् 'आध्यात्मिकानां भेदानां कार्यकारणात्मकानां चैकजातिसमन्वयो दृष्टः, इत्येवमादिः साधनप्रपञ्चः, सोऽहेतुरित्युक्तं भवति । तस्मात् समासग्रहणमनिष्टम् ।

लिङ्गाभिधानाददोष इति चेत्, स्यान्मतम्—लिङ्गं हि नः साधनम् । तस्यात्र निर्देशः कृतः । यस्मात्त्वमतिजाड्यादिदमनिष्टमध्यारोप्यते, न त्वस्मत्प्रसा[मा]दादिति ।

एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? तस्य द्विधा भिन्नस्य पञ्चधा साधनभावात् । तद्धि लिङ्गं वीतावीतत्वेनेष्टम् । तेन द्विधा भिन्नम् । तत्रापि वीतः पञ्चप्रभेदः इत्यतः समुदायान्निष्कृष्टस्यैकस्य लिङ्गत्वमशक्यं वक्तुमिति ।

किञ्चान्यत्, दृष्टान्तलक्षणायोगश्च शब्दार्थलक्षणेऽनिष्टप्रसङ्गात् ।

और भी—हेतु के लक्षण में समास भी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि विस्तार का निषेध होने लगेगा।

प्रश्न—यदि समासग्रहण किया जाता है तो उससे क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर—समासग्रहण करने पर 'आध्यात्मिकानां भेदानां कार्यकारणात्मकानां चैकजातिसमन्वयो दृष्टः' इत्यादि जो साधनप्रपञ्च है, वह अहेतु है ऐसा अर्थ हो जायेगा। अतः समासग्रहण करना अनिष्ट है।

यदि कहें कि यहाँ साधनशब्द से लिङ्ग का अभिधान किया गया है, अतः उक्त दोष नहीं है। अर्थात् हेतु के लक्षण में कहा गया हमारा साधन लिंग है, और उसी का यहाँ निर्देश किया गया है। इसलिये अपनी बुद्धि की जड़ता के कारण उक्त अनिष्ट का आरोप किया गया है, न कि हमारे प्रमाद के कारण।

तो यह कथन भी अयुक्त है। क्योंकि दो भेदों वाले उस लिङ्ग में पाँच प्रकार से साधनभाव हैं। वह लिङ्ग वीत-अवीतरूप से अभीष्ट है। इस प्रकार लिङ्ग के दो भेद हैं। इनमें भी वीत के पाँच भेद हैं। इसलिये समुदाय से निकाल कर किसी एक को लिङ्ग कहना अशक्य है। अतः समास का कथन नहीं करना चाहिये।

और भी—दृष्टान्त का लक्षण भी अयुक्त है; क्योंकि शब्द और अर्थरूप दृष्टान्त में अनिष्टका प्रसङ्ग हो जायगा। निदर्शन ही तो दृष्टान्त है। वहाँ क्या शब्द दृष्टान्त

तन्निदर्शनं दृष्टान्त इति। अत्र शब्दो वा, येन साध्यसाधने निर्देश्येते, स दृष्टान्तःस्यात् ? अर्थो वा, यत्र निदर्श्यते ?

किञ्चातः ? तद्यदि तावच्छब्दः परिगृह्यते, तत उपनयलक्षणं बाध्यते। कस्मात् ? नहि यथाऽभिधानं तथा साध्यमित्येकक्रिया युज्यत इति। अथार्थः परिगृह्यते, तेनाभिधेयस्य वाक्यानवयवत्वात्पञ्चावयवत्व-विरोधः।

किञ्चान्यत्—दृष्टान्तोपनयनिगमनाभेदश्च, हेतुप्रतिज्ञार्थाभिधानात्। साधनत्वमेव साध्याविनाभावित्वलक्षणं दृष्टान्तोपनययोः प्रत्याय्यते। प्रति-ज्ञार्थं च (र्थत्वञ्च) निगमनस्य नावयवान्तरत्वं युज्यते।

उच्यते—यदुच्यते स्वनिश्चयेनाङ्गभावगमनात् परप्रत्यायनार्थं जिज्ञा-साद्यनभिधानमिति। अत्र ब्रूमः—न, उक्तत्वात्। उक्तमेतत् पुरस्ताद्

है जिसके द्वारा साध्य और साधन निदर्शित किया जाता है ? अथवा अर्थ है जहाँ पर साध्य-साधन निदर्शित किया जाता है ?

प्रश्न— इससे क्या हुआ ?

उत्तर— यहाँ यदि शब्द को निदर्शन के रूप में परिगृहीत किया जाता है, तो उपनय का लक्षण बाधित हो जाता है। क्योंकि 'जैसा शब्द है, वैसा साध्य है' इस तरह की एक क्रिया युक्त नहीं है। यदि अर्थ को निदर्शन के रूप में परिगृहीत किया जाता है—तो अभिधेयार्थ के वाक्य का अवयव नहीं होने से दृष्टान्तरूप अवयव न्यून हो जायगा और पञ्चावयवत्व का विरोध हो जायगा।

और भी दोष है—दृष्टान्त-उपनय और निगमन का अभेद भी हो जायगा। क्योंकि हेतु और प्रतिज्ञा के अर्थ का इनमें अभिधान होता है। कारण, साध्याविनाभा-वित्वलक्षण साधनत्व ही दृष्टान्त और उपनय में प्रतीत होता है। प्रतिज्ञा का ही अर्थ निगमन में होने से निगमन भी प्रतिज्ञा से भिन्न अवयव नहीं हो सकता है।

समाधान— यह जो कहा कि अपने निश्चय के रहते ही प्रतिज्ञादि में अनुमान का अङ्गत्व प्राप्त है, अतः दूसरे को प्रतीति कराने के लिये जिज्ञासा आदि का कथन नहीं करना चाहिये। यहाँ हमारा कहना है कि उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है। अर्थात् जिज्ञासा आदि व्याख्या के अङ्ग हैं, यह पूर्व में

व्याख्याक्तं जिज्ञासादयः, सर्वस्य चानुग्रहः कर्त्तव्यः इत्येवमर्थं शास्त्रव्याख्यानं विपश्चिद्भिः प्रतायते, न स्वार्थं स्वसदृशबुद्ध्यर्थं वा। तत्रैवं कल्प्यमाने ये व्युत्पाद्यास्तान् प्रति नैवैषामानर्थक्यम्।

अथैतदनिष्टम्—यदुक्तं सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नबुद्ध्यनुग्रहार्थो हि सतां विनिश्चयः शास्त्रकथेत्यस्य व्याघातः। किञ्च नियमानभ्युपगमात्। न हि वयमेषामावश्यकमभिधानमाचक्ष्महे, किन्तर्हि ? यदा प्रतिवादी पर्यनुयुङ्क्ते--किं जिज्ञाससे इति अवश्यमभिधानीयं (शब्दमिति।) केन धर्मेण ? किं नित्योऽनित्य इति ? कुतः संशयः ? (अ)मूर्तत्वात्।

यस्तु न पर्यनुयुङ्क्ते; न तं प्रति एते वाच्याः। क्वचिदानर्थक्यात्

कहा जा चुका है। व्याख्या द्वारा सबको अनुगृहीत करना चाहिये, इसी प्रयोजन से विपश्चिद् जन व्याख्यान द्वारा शास्त्र का विस्तार करते हैं, अपने लिये नहीं और अपने सदृश जनों में बुद्धि उत्पन्न करने के लिये भी नहीं। ऐसी कल्पना की स्थिति में जो अज्ञानी हैं और उन्हें ज्ञान देना है, उनके प्रति यह जिज्ञासा आदि अनर्थक नहीं हैं। अर्थात् अबोधजनों के लिये जिज्ञासा आदि की सार्थकता है।

यदि व्युत्पाद्यों के प्रति जिज्ञासादि की सार्थकता इष्ट न हो तो यह जो कहा गया कि 'सन्दिग्ध-विपर्यस्त-अव्युत्पन्न जनों के बोधरूप अनुग्रह के लिये सज्जनों का विनिश्चयरूप शास्त्रविस्तार है' उसका व्याघात हो जायगा। इसके अतिरिक्त जिज्ञासादि का नियम हम नहीं मानते हैं। अर्थात् इनका अभिधान (कथन) आवश्यक है, ऐसा हम नहीं कहते हैं। किन्तु जब प्रतिवादी इसके लिये नियोजित-प्रेरित-बाध्य करता है, या पूछता है कि 'क्या जिज्ञासा करते हो ?' तब अवश्य ही कहना चाहिये कि 'शब्द की जिज्ञासा करता हूँ'।

प्रश्न— किस धर्म से ?

उत्तर— नित्य है या अनित्य है ? अर्थात् शब्द में नित्यत्व है ? या अनित्यत्व है ?

प्रश्न— यह संशय कैसे हो रहा है ?

उत्तर— इसलिये कि शब्द अमूर्त है। क्योंकि अमूर्त पदार्थ नित्य भी होता है और अनित्य भी होता है।

जो तो नहीं पूछता है, उसके प्रति ये सब नहीं कहे जाते हैं। यदि कहो कि एक जगह जिज्ञासादि के अनर्थक होने पर सर्वत्र ही आनर्थक्य की प्रसक्ति हो जायेगी,

सर्वत्र प्रसङ्ग इति चेन्न, इतरेषामपि तत्प्रसङ्गात् । प्रतिज्ञादीनामपि तर्हि क्वचिचिदनभिधानमतस्तेषामपि सर्वत्रावचनं प्रसज्यते । तथा च भवतरोक्तं कस्यचित्तु किञ्चित् प्रसिद्धमेव भवतीत्यन्यतरोक्तिरपि साधनं भवति शब्द इवार्थद्वयप्रतीतत्वादुभयानभिधानमिति ।

यदप्युक्तम्—निश्चितत्वात् संशयावचनमिति, असदेतत् । कस्मात् ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत् सति पर्यनुयोगे तद्वचनमिति । एतेन प्रयोजनशक्यप्राप्ती प्रत्युक्ते । यो हि पर्यनुयुञ्जीत किंप्रयोजनोऽयं शक्यो वायमर्थ इति, तं प्रति वाच्यमेतत् । यदप्युक्तं तद्भावे भावादिति, न, अनभ्युपगमात् । न ब्रूमो यस्मात् सत्सु जिज्ञासादिषु तत्त्वाधिगमसद्भावस्तस्मादेतेषामवयवत्वमिति । किन्तर्हि ? यं प्रत्येषां प्रतिपत्तावङ्गभावगमनं तं प्रत्येतानि साधनमिति ।

यदप्युक्तं साध्याभिधायिनः प्रतिज्ञाभ्युपगमाद्धेतुदृष्टान्तयोरपि तत्प्रसंग इति, अयुक्तमेतत् । कस्मात् ? जिज्ञासादेः सद्भावे सति

तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि अन्य अङ्गों में भी आनर्थक्य का प्रसङ्ग होने लगेगा। अर्थात् प्रतिज्ञादि में भी तब सर्वत्र अवचन की प्रसक्ति होने लगेगी। क्योंकि प्रतिज्ञादि का भी कहीं अनभिधान देखा जाता है। आपने कहा है कि किसी अनुमान का तो कोई अङ्ग प्रसिद्ध ही रहता है। इसलिये प्रसिद्ध अङ्ग को छोड़कर अप्रसिद्ध किसी अनन्तर अङ्ग का अभिधान भी अनुमान में साधन होता है।' जैसे शब्दस्थल में दो अर्थों के प्रतीत रहने पर अन्यतर अर्थ स्वतः प्रतीत हो जाता है, इसलिये वहाँ उभय शब्दों का अभिधान नहीं किया जाता है। 'द्वारं पिधेहि' यहाँ केवल 'द्वारम्' कहने पर भी 'पिधेहि' शब्द के अभिधान के बिना भी उस अर्थ का बोध प्रसिद्धिवश से हो जाता है।

यह भी जो कहा कि 'वादी प्रतिवादी दोनों को स्व-स्व साध्य का निश्चय रहने से संशय का अनुमानाङ्ग के रूप में कथन नहीं करना चाहिये, तो यह असत् है; क्योंकि इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है। अर्थात् पूर्व में बताया जा चुका है कि पर्यनुयोग होने पर संशय का कथन आवश्यक है।

इसके अनुसार प्रयोजन और शक्यप्राप्तिसम्बन्धो आक्षेप भी खण्डित हो गया। क्योंकि कोई पूछे कि इस अर्थ का क्या प्रयोजन है ? या क्या यह अर्थ शक्य है ? उसके प्रति प्रयोजन और शक्यप्राप्ति वाच्य है।

यह भी जो कहा कि जिज्ञासादि के रहने पर अनुमान होता है, वह ठीक नहीं है;

तत्प्रतीतेः । यद्यपि साध्यशब्दोऽयमविशेषेण सिद्धत्वादर्थान्तरमाचष्टे, तथापि यं प्रति जिज्ञासासंशयप्रयोजनशक्यप्राप्तयस्तस्य व्युदस्य संशयं साध्यस्यावधारणं प्रतिज्ञा, न हेतुदृष्टान्तयोस्तदस्तीत्यसदेतत् ।

किञ्चान्यत्—तद्भावेऽविरोधात् । यदा तु जिज्ञासादयो हेतौ दृष्टान्ते वा भवन्ति तदा किं कृतकः शब्दोऽथ न कृतकोऽथ बुद्धिर्नित्या क्षणिका वेति भवत्येव तदवधारणं प्रतिज्ञा ।

यदप्युक्तम्—साधनानुपदेशाद्धेतुलक्षणायोग इति, असदेतत् । कस्मात् ? लोकप्रसिद्धत्वात् । यथा साध्यवत्त्वेनेप्सितः पक्ष इति प्रतिज्ञालक्षणमाचक्षाणो भवान्न साध्यलक्षणमाचष्टे, कस्मात् ? साधनीयं साध्य-

---

क्योंकि ऐसा हम नहीं मानते हैं। अर्थात् हम यह नहीं कहते हैं कि जिज्ञासादि के रहने पर ही तत्त्वाधिगम का सद्भाव होता है, अतः जिज्ञासादि अनुमान के अवयव हैं। किन्तु हम यह कहते हैं कि जिसके प्रति ये बोध कराने में अङ्ग बनते हैं, उसके प्रति ये साधन हैं।

यह भी जो कहा कि 'जिसमें साध्य का अभिधान होता है वह प्रतिज्ञा मानी जाती है, इसलिये हेतु और दृष्टान्त में साध्य का अभिधान होने से वे भी प्रतिज्ञा होने लगेंगे। यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जिज्ञासादि अङ्गों के सद्भाव के अनन्तर साध्य की प्रतीति को प्रतिज्ञा कहा जाता है। अतः हेतु और दृष्टान्त में प्रतिज्ञात्व की प्रसक्ति नहीं होगी। अर्थात् यद्यपि सामान्यवाची साध्यशब्द प्रतिज्ञातिरिक्त अन्य अर्थ हेत्वादि को भी कहता है, तथापि जिसके प्रति जिज्ञासा संशय प्रयोजन शक्यप्राप्तिरूप अवयव हैं, उसके संशय को हटाकर साध्य का अवधारण प्रतिज्ञा है। ऐसी बात हेतु और दृष्टान्त में नहीं है। अतः उक्त आक्षेप असत् है। तात्पर्य यह है कि धूम-महानसादि भी सिद्धिविषय होने से साध्य हैं तथापि इनकी साध्यता जिज्ञासादिपूर्वक नहीं है। अतः हेतु आदि का अवधारण प्रतिज्ञा नहीं हो सकता है।

और भी—जिज्ञासादि के होने पर कोई विरोध नहीं है, अर्थात् जब हेतु या दृष्टान्त में जिज्ञासा आदि होते हैं, तब शब्द क्या कृतक है अथवा कृतक नहीं है, बुद्धि नित्य है या क्षणिक है, इस प्रकार का संशय होने पर किया गया जो शब्द में कृतकत्व का निर्णय और बुद्धि में क्षणिकत्व का निर्णय है वह प्रतिज्ञा है। इस प्रकार हेतु और दृष्टान्त में भी यदि जिज्ञासा आदि का सद्भाव हो तो हेतु और दृष्टान्त के भी प्रतिज्ञा स्वरूप होने में कोई आपत्ति नहीं है।

मिति लोके सिद्धत्वात् । एवं साधनसमासवचनं हेतुलक्षणमाचक्षाणा वयं न साधनमाचक्ष्महे, कस्मात् ? साध्यतेऽनेनेति कृत्वा साधनमिति लोके सिद्धत्वात् । उपेत्य वाऽनुमाननिर्देशात् । लिङ्गं हि नः साधनम्, तच्च निर्दिष्टमिति ।

यत्तूक्तम्—वीतावीतभेदे सति पञ्चधा साधनभावादिति, अत्र ब्रूमः—अयुक्तमेतत् । कस्माद् ? समासग्रहणसामर्थ्याद् । अतएव समासग्रहणं क्रियते, साधनस्वरूपाभिधानमात्रं हेतुरिति यथा विज्ञायते । प्रपञ्चस्त्ववयवान्तराणीति । एतेन विस्तरप्रतिषेधप्रसङ्गः प्रत्युक्तः । कथम् ? नहि समासशब्दस्यायमर्थ इति कृत्वा ।

यह भी जो कहा कि साधनस्वरूप का उपदेश नहीं होने से हेतु का लक्षण नहीं बन पाया है। तो यह कथन भी असत् है; क्योंकि साधन का स्वरूप लोक में प्रसिद्ध है । अतः साधन के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। जैसे—साध्यवान् के रूप में ईप्सित जो पक्ष वह प्रतिज्ञा है । ऐसा प्रतिज्ञा का लक्षण कहते हुए आप साध्य का स्वरूप नहीं कहते; क्योंकि जो साधन के योग्य है, वह साध्य है, यह लोक में प्रसिद्ध है। इसी तरह साधनसमासवचन हेतु है, ऐसा हेतु का लक्षण करते हुए हम साधन का स्वरूप नहीं कहते हैं। क्योंकि 'साध्यतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे कोई वस्तु सिद्ध की जाय वह साधन है, यह बात भी लोक में प्रसिद्ध है । अतः हेतुलक्षण कहते समय साधनस्वरूप का उपदेश अपेक्षित नहीं है । अथवा साधन का उपदेश हुआ है ऐसा स्वीकार कर अनुमान का निर्देश किया गया है । क्योंकि हमारे यहाँ लिङ्ग ही साधन है, और उसका निर्देश हो चुका है । अतः पूर्वोक्त हेतु के लक्षण में कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

यह जो कहा कि वीत और अवीत का भेद होने पर पाँच प्रकार का साधन होता है, अतः केवल लिङ्गमात्र का निर्देश होने पर भी हेतु का लक्षण पूर्ण नहीं होता है । इसलिये सविस्तर लिंग का संग्रह करने के लिए समासपद नहीं कहना चाहिए । यहाँ हम कहते हैं कि यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि समासग्रहण इसीलिये किया गया है कि साधनस्वरूप का कथनमात्र हेतु है, ऐसा बोध हो । जहाँ तक वीतावीत भेद से पाँच प्रकार के साधन का प्रपञ्च है, वह तो हेतु से अन्य अवयव हैं ऐसा जानना चाहिए ।

इससे यह जो कहा कि समासग्रहण करने से विस्तार के प्रतिषेध की प्रसक्ति हो जायेगी—यह कथन भी खण्डित हो गया ।

यत्पुनरेतवुक्तं, शब्दार्थकल्पनेऽनिष्टप्रसंगाद् दृष्टान्तलक्षणायोग इति, अस्तु तावच्छब्दो दृष्टान्तः। यत्तूक्तम्, उपनयलक्षणं बाध्यत इति, अनुपपन्नमेतद्। कस्माद्? असम्भवे सति सम्बन्ध्यन्तरे कार्यविज्ञानाद्। शब्देऽसम्भवादर्थे कार्यं विज्ञास्यामः। अथवा पुनरस्त्वर्थो दृष्टातः। यत्तूक्तमभिधेयस्य वाक्यानवयवत्वात्पञ्चावयवत्वविरोध इति अर्थेऽसम्भवाच्छब्दे कार्यं विज्ञास्यामः।

यदप्युक्तम्, प्रतिज्ञाहेत्वर्थाभिधानाद् दृष्टान्तोपनयनिगमनानां नावयवान्तरत्वमिति-अयमदोषः। कस्मात्? अप्रतिज्ञानात्। न ह्येतदस्माभिः प्रतिज्ञायते। किं तर्हि? प्रमेयवचनं प्रतिज्ञा। प्रमाणरूपमात्रवचनं हेतुः। तस्य प्रमेयसहभावित्वनिदर्शनं दृष्टान्तः। साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मसामान्यादेक-

---

प्रश्न— क्यों?

उत्तर— इसलिए कि समासशब्द का विस्तारप्रतिषेधरूप अर्थ हो नहीं है। समासशब्द इतनामात्र बतलाने के लिये है कि साधनस्वरूप का अभिधानमात्र हेतु है।

यह जो कहा कि 'दृष्टान्त के रूप में शब्द या अर्थ की कल्पना करने पर अनिष्ट प्रसङ्ग हो जाने से दृष्टान्त का लक्षण नहीं बन सकता है' तो यहाँ शब्द ही दृष्टान्त रहे। यह जो कहा कि शब्द को दृष्टान्त रखने पर उपनय का लक्षण बाधित हो जाता है, तो यह कथन अनुपपन्न है; क्योंकि असम्भव की स्थिति में किसी दूसरे सम्बन्धी में कार्य जाना जाता है। अर्थात् शब्द में दृष्टान्तत्व असंभव होने पर अर्थ में दृष्टान्त के कार्य को जानेंगे।

अथवा अर्थ ही दृष्टान्त रहे। इस पर यह जो कहा कि 'वाक्य का अवयव अर्थ नहीं हो सकता इसलिये एक अवयव न्यून हो जाने से अनुमान का पञ्चावयवत्व बाधित हो जायगा' तो अर्थ में असम्भव होने पर शब्द में कार्य को जानेंगे?

जो तो यह कहा कि हेतु और प्रतिज्ञार्थ का अभिधान होने से दृष्टान्त-उपनय और निगमन पृथक् अनुमानाङ्ग नहीं हो सकेंगे, अर्थात् ये तीनों हेतु और प्रतिज्ञा में ही गतार्थ हो जायेंगे। तो यह दोष नहीं होगा। क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा नहीं है। अर्थात् अवयवों के सम्बन्ध में हम वैसी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं।

प्रश्न— तो कैसा मानते है?

उत्तर— प्रमेय का वचन प्रतिज्ञा है, प्रमाणस्वरूपमात्र का वचन हेतु है,

क्रियोपसंहार उपनयः । समुदायस्य साध्यसिद्धये व्यापारनिर्देशो निगमनम् । तस्मादयुक्तमेतत् ।

किञ्चान्यत्—एकस्य साधनभावपरिकल्पना,[वत्]तत्परिकल्पने दोषाभावात् । यथा वाक्यम् एवञ्च तदर्थश्च । मुख्यौ शब्दार्थौ, तयोरभिन्नार्थत्वात् इत्यभ्युपगमात् । एवमेवार्थमभागमक्रमं च बुद्धाववस्थाप्य श्रोत्रग्राह्यत्वानित्यत्वप्रमेयत्वादिलक्षणानां शक्तीनामपोद्धारात् साध्यसाधनसमुच्चयरूपापन्नं वक्तारो भिन्नमाचक्षते । न चैकार्थधर्मत्वात् साध्यसाधनसमुच्चयाभिधानानामेकत्वमनुषज्यते । तथैकस्य साधनस्य साध्यधर्मतत्सहभावित्वलक्षणानां शक्तीनामभिधानं हेतुदृष्टान्तादिनाऽवयवान्तरं नः स्यात् । तत्र यदुक्तम्—प्रतिज्ञाहेत्वर्थाभिधानाद् दृष्टान्तोपनयनिगमनानां नावयवान्तरत्वमिति, एतदयुक्तम् । तस्मात् सूक्तं दशावयवो वीतः ।

हेतु का प्रमेय के साथ साहचर्य दिखाना दृष्टान्त है, साध्य और दृष्टान्त का सामान्यधर्म के कारण एक क्रिया में पर्यवसान होना उपनय है, और प्रतिज्ञादि समुदाय का साध्यसिद्धि के अनुकूल व्यापार निर्देश करना निगमन है। ऐसा हम मानते हैं। इसलिये उक्त दोष देना अयुक्त है।

और भी—जैसे अनुमान के प्रति प्रतिज्ञा और हेतु में साधनभाव की कल्पना की जाती है, वैसे दृष्टान्त आदि में भी साधनत्व की कल्पना करने में कोई दोष नहीं है। जैसे वाक्य अङ्ग है, वैसे उसका अर्थ भी अङ्ग होगा। प्रतिज्ञा और हेतु वाक्यरूप हैं, तथा दृष्टान्त आदि अर्थरूप हैं। शब्द और अर्थ दोनों ही मुख्य होते हैं। क्योंकि शब्द और अर्थ अभिन्न वस्तु हैं, ऐसा माना गया है। अतः भाग और क्रमरहित एक वस्तु को बुद्धि में अवस्थापित कर श्रोत्रग्राह्यत्व-अनित्यत्व-कृतकत्व-प्रमेयत्व आदिरूप शक्तियों का अपोद्धार द्वारा वक्ता जन साध्य साधन और समुच्चयरूपापन्न उन्हें भिन्न-भिन्न कहते हैं। ऐसा नहीं होता कि एकार्थविषयक होने से साध्यवचन (प्रतिज्ञा) साधनवचन (हेतु) और समुच्चयवचन (दृष्टान्तादि) सभी एक ही हो जायेंगे। अर्थात् इनका भेद अवस्थित रहेगा। एक ही साधन पक्षधर्मत्व का अभिधान होने से हेतु एवं साध्य साहचर्य का अभिधान होने से दृष्टान्त के रूप में भिन्न-भिन्न अवयव हमारे यहाँ होगा।

यह जो कहा कि प्रतिज्ञा और हेतु के अर्थ का अभिधान होने से दृष्टान्त-उपनय और निगमन पृथक् अवयव नहीं हो सकेंगे, यह कथन ठीक नहीं है। इसे पूर्व में बताया जा चुका है। इसलिये ठीक कहा गया कि वीत अनुमान के दश अवयव

तस्य पुरस्तात् प्रयोगं न्याय्यमाचार्या मन्यन्ते। किं कारणम्? अवीतलक्षणविरोधात्। अवीतस्य हि लक्षणं परिशेषतः साध्यानुग्रहः। तत्रा-न्वयादिना स्वरूपेणाधिगते प्रधानलक्षणे धर्मिणि परपक्षप्रतिषेधमात्रेणोप-संहारे क्रियमाणे परिशेषलक्षणं बाध्यते। कस्मात्? इह प्रतिषेधमात्रमा-दावुच्यते। तेन यथा हेतुविरोधात् परमाण्वादिभ्यो न व्यक्तमुत्पद्यते, तथा हेत्वभावात् प्रधानादपि नोत्पद्यते इति शक्यं कल्पयितुम्। अतस्तद्व्य-वच्छेदोऽपि चावीताद् गम्यते। तथा सति कः परिशेषः स्यात्? स्वरूपेण तु परिच्छिन्ने धर्मिणि उपसंहारो यथावदवकल्प्यते।

न चेत् परमाण्वादिभ्यो व्यक्तमुत्पद्यते परिशेषतः प्रधानादेव व्यक्त-मुत्पद्यते इति यथोक्तेभ्योऽन्वयादिभ्य इत्युक्तं भवति। तस्मात् प्राग्वीत-

---

होते हैं। वे हैं—जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-शक्यप्राप्ति और संशयव्युदास तथा प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त-उपनय और निगमन। प्रथम पाँच व्याख्या अर्थात् स्वार्थानुमान की दृष्टि से हैं तथा प्रतिज्ञादि पाँच परार्थानुमान की दृष्टि से हैं।

उस वीत अनुमान का पहले प्रयोग न्यायोचित है ऐसा आचार्य लोग मानते हैं।

प्रश्न— क्या कारण है?

उत्तर—अवीतलक्षण में विरोध होने से अर्थात् वीत का लक्षण अवीत अनुमान से सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि परिशेषात् साध्य का बोध कराना अवीत का लक्षण है। अन्वय आदि के द्वारा प्रधानरूप धर्मी के स्वरूपतः अधिगत हो चुकने पर परपक्ष के प्रतिषेधमात्र से उपसंहार करने में परिशेष का लक्षण [स्वरूप] बाधित हो जाता है।

प्रश्न— कैसे?

उत्तर—यहाँ पर प्रतिषेधमात्र ही पहले कहा जाता है। जैसे विरुद्ध हेतु होने से परमाणु आदि से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति नहीं होती है, वैसे प्रधानरूप हेतु का अभाव होने के कारण प्रधान से भी जगत् की उत्पत्ति नहीं होती है—ऐसी कल्पना की जा सकती है। अतः जैसे जगत् के कारण के रूप में परमाणु आदि का खण्डन हो जाता है, वैसे अवीत द्वारा प्रधान का भी खण्डन हो जाता है। ऐसी स्थिति में जब परमाणु भी खण्डित हो गया और साथ-साथ प्रधान भी खण्डित हो गया तो जगत् में कारण के रूप में क्या परिशेष हुआ?

वीत अनुमान द्वारा प्रधानरूप धर्मी के ज्ञात हो जाने पर अनुमान का उप-

प्रयोग इति सिद्धं सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणामर्थानां समधिगम इति ।

आह—न, कारणान्तरतोऽनुपलभ्यमानानामग्रहणात् । यदि सामान्यतोदृष्टादनुमानात् सर्वपरोक्षमधिगम्यते इत्यभ्युपगम्यते,प्राप्तमिदम्-येषामप्यर्थानां कारणान्तरतोऽनुपलब्धिः तेषामपि तस्मादेव ग्रहणम् । तद्यथा—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान् मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ।। ७ ।।

तत्रातिदूरात् तावत्—तद्यथा प्रोड्डीनस्य शकुनेः । अतिसामीप्यादञ्जनप्रभृतीनाम् । इन्द्रियघाताच्छब्दादीनाम् । मनोऽनवस्थानाच्छकटादीनाम् । अभिभवात् सूर्यप्रकाशाद् ग्रहादीनाम् । समानाभिहारादनेकप्रदीपप्रभाणाम् । 'च' शब्दादैश्वर्ययोगाद् देवादीनाम् । न चार्हति भवितुम्, धर्मसामान्यानुपपत्तेः । तस्मादयुक्तम्-सर्वमतीन्द्रियमनुमानग्राह्यमिति ।

संहार यथोचित हो जाता है। अर्थात् यदि परमाणु आदि से व्यक्त की उत्पत्ति नहीं होती है तो परिशेषात् यथोक्त अन्वय आदि प्रमाण से प्रधान से ही व्यक्त उत्पन्न होता है-यह पक्ष सिद्ध हो जाता है। अतः पहले वीत का ही प्रयोग समुचित है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होता है।

पूर्वपक्ष-सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय अर्थों का ग्रहण होता है, यह नहीं कह सकते हैं; क्योंकि कारणान्तर से अनुपलब्ध पदार्थों का ग्रहण नहीं देखा जाता है। अर्थात् यदि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से सभी परोक्षपदार्थों का ग्रहण हो जाता है, यह माना जाय तो यह भी होने लगेगा कि जिन पदार्थों की अनुपलब्धि किसी और कारण से होती है, उनका भी ग्रहण सामान्योदृष्ट अनुमान से हो जाना चाहिये। जैसे—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

अर्थात् अत्यन्त दूरी के कारण आकाश में उड़ रहे पक्षी का, अत्यन्त सामीप्य के कारण लोचनस्थ अञ्जन आदि का, इन्द्रियदोष के कारण शब्द आदि का, मन की अनवधानता के कारण मार्ग से जाते हुए शकट आदि का, सूक्ष्म होने के कारण परमाणु आदि का, व्यवधान होने के कारण भूगर्भ में स्थित हिरण्य आदि का, सूर्य के तेज से अभिभूत होने के कारण ग्रह नक्षत्र आदि का, समान वस्तु के मिश्रण के

उच्यते—शक्यं तावत् कारणान्तरतोऽनुपलभ्यमानं किञ्चित् सामन्यतोदृष्टादनुमानादधिगन्तुम्। तद्यथा समीपावस्थितस्य शकुनेरयत्नेन चक्षुषा ग्रहणम्। यथा यथा तु विप्रकर्षं प्रतिपद्यते, प्रणिधाय चक्षुर्गृह्यते तावद् यावत् क्रमेणादर्शनमुपसम्प्राप्तः। तत्र देशविप्रकर्षे प्रचीयमानेऽदर्शनमुपचीयमानमवगम्यात्यन्तादर्शनमपि पश्चात् तद्धेतुकमनुमीयते।

तथा नातिसमीपावस्थितस्य द्रव्यस्यास्फुटमाकारमवधार्य पश्चाद् यथा यथाऽऽरादुपसंपद्यते, तथा तथा प्रतिपद्यमानदर्शनशक्तयोऽनुमातारः कृष्णसाराञ्जनप्रभृतीनामग्रहणमतिसामीप्यादनुमिमते। तथा गिरिसरित्-समुद्रसमीपवर्तिनं श्रवणप्रतिघातिनं प्राक् शब्दमुपलभ्य पश्चात्तस्मिन्नेव देशे शब्दमगृह्णानाः श्रवणोपघातमनुमिमते।

तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् (साध्यम्)॥ ६॥

कारण अनेक प्रदीपों की प्रभाओं का ग्रहण नहीं हो पाता है। कारिका में 'च' शब्द से ऐश्वर्य के कारण देवादि का ग्रहण नहीं होता है; यह भी संगृहीत हो गया। उपर्युक्त वस्तुओं का ग्रहण अनुमान द्वारा हो भी नहीं सकता है; क्योंकि उनमें सामान्य धर्म अनुपपन्न है। इसलिये सभी अतीन्द्रिय पदार्थ अनुमान ग्राह्य है; यह कथन अयुक्त है।

समाधान—कारणान्तर से अनुपलभ्यमान कुछ पदार्थ सामान्यतोदृष्ट अनुमान से जाना जा सकता है। जैसे समीप में पक्षी बिना प्रयत्न से चक्षुः से गृहीत हो जाता है। वह पक्षी जैसे-जैसे दूरी को प्राप्त करता जाता है, चक्षुः को संलग्न कर तब तक दिखाई पड़ता है, जब तक क्रमशः वह अदृश्य नहीं हो जाता है। यहाँ देश की दूरी के बढ़ते हुए पक्षी का अदर्शन भी बढ़ता जाता है। इसे जानकर पक्षी का अत्यन्त अदृश्य हो जाना भी दूरी की अत्यन्त वृद्धिहेतु से है—ऐसा बाद में अनुमान हो जाता है। ऐसे ही जो द्रव्य अत्यन्त समीप नहीं है, उसके धुंधले आकार को पहले जानता है, पीछे वह जैसे जैसे पास होता जाता है, वैसे-वैसे उस द्रव्य को देखने की शक्ति बढ़ती जाती है और अन्ततः अनुमानकर्ता जन आँख में लगे अञ्जन प्रभृति का अग्रहण अत्यन्त समीपता के कारण है—ऐसा अनुमान कर लेते हैं। इसी प्रकार गिरि-नदी-समुद्र के समीपवर्ती तथा श्रवण को प्रतिहत करने वाले शब्द को पहले उपलब्ध कर बाद में उसी गिरि आदि देश में शब्द का ग्रहण न करते हुए श्रवणेन्द्रिय के उपघात का अर्थात् बधिरता का अनुमान कर लेते हैं।

तस्मादपि चासिद्धमित्यनेनागमविषये सामान्यतोदृष्टस्यानवतारमाचष्टे। परोक्षमिति विषयं प्रतिनिर्दिशति। आप्तागमात् साध्यमिति विषयिणमाह।

एतदुक्तं भवति—तस्मादपि सामान्यतोदृष्टादनुमानाद् यन्न सिद्ध्यति, प्रत्यक्षग्राह्यमपि स्वयमदृष्टं कारणान्तरप्रतिबद्धविषयभावमत्यन्तपरोक्षं वा स्वर्गापवर्गदेवतादि धर्मसामान्यरहितं तदाप्तागमात् साध्यम्।

सर्ववादसिद्धिप्रसङ्गादप्रमाणमिति चेत्, स्यादेतत्—यदि तर्ह्यागमः प्रमाणी क्रियते, तेन प्रतिशास्त्रं येऽभियुक्तास्तेषां प्रामाण्यमित्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। एवं सति सर्वाचार्यप्रामाण्यादनेकविकल्पविचित्रा तर्कवृत्तिरित्यपरिनिश्चिततत्वाद् भ्रान्तिः प्रसज्येत। तथा च सति जिज्ञासूनामपवर्गप्राप्तिविघातः स्यात्। तस्माद् भिषजेव भवता परोपदेशः प्रयुक्तो नास्मानयं प्रीणाति।

सामान्यतोदृष्ट से भी नहीं सिद्ध होने वाला परोक्ष पदार्थ आप्तागम से सिद्ध किया जाता है। 'तस्मादपि चासिद्धम्' इसके द्वारा यह कहा जाता है कि आगम विषय में सामान्यतोदृष्ट का अवतरण नहीं है। 'परोक्षम्' इसके द्वारा विषय का निर्देश किया गया है। तथा 'आप्तागमात् साध्यम्' इसके द्वारा विषयी का उल्लेख है।

यहाँ यह आशय हुआ—उस सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी को नहीं सिद्ध होता है अर्थात् प्रत्यक्षग्राह्य भी वस्तु जो स्वयं अदृष्ट हो, जैसे हिमालयस्थ ओषधि प्रभृति, अथवा किसी अन्य कारण से जिसका विषयभाव बाधित है, या जो अत्यन्त ही परोक्ष स्वर्ग-अपवर्ग-देवता आदि सामान्यधर्म से रहित है, वह आप्त आगम से सिद्ध किया जाता है।

शङ्का— सामान्यतोदृष्ट अनुमान से नहीं सिद्ध हो सकने वाला परोक्ष पदार्थ यदि आगम से सिद्ध माना जाय तो सभी वादों की सिद्धि प्रसक्त हो जायगी, अतः आगम में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। अर्थात् परोक्ष पदार्थ की सिद्धि में यदि आगम को प्रमाण किया जाय तो प्रत्येक शास्त्र में जो अभियुक्त हैं, उन सभी का प्रामाण्य अवश्य मानना होगा। ऐसी स्थिति में सभी आचार्यों के प्रमाण स्वरूप होने से उनकी अनेक (विभिन्न) प्रकार की विकल्पनाओं से विचित्र तर्कवृत्ति के कारण तत्त्व का विनिश्चय नही हो सकेगा और भ्रान्ति प्रसक्त हो (फैल) जायगी। ऐसी स्थिति में

एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? आप्तलक्षणस्यानवधारितत्वात् । व्यपगत-रागादिदोषाणामसन्दिग्धमतीनामतीन्द्रियार्थद्रष्टृणामीश्वरमहर्षीणामाप्तत्वमाचक्ष्महे, न सर्वेषाम् । यदि चान्योऽप्येवंधर्मोऽस्ति, भवतु प्रमाणम् ।

किञ्चान्यत्, स्वविषये च तत्प्रामाण्यस्यादोषवत्त्वात् । यस्य खल्वपि यो विषयस्तस्य तस्मिन् विषये वचोऽन्तरेणापि साधनं प्रमाणमित्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । इतरथा प्रतिशास्त्रमाचारस्थितिनियमानामदृष्टार्थानामप्रतिपत्तिः स्यात् । एतेनाखिलल्लिङ्गादागमोऽर्थान्तरम् । यस्मान्महताभिधानेन युक्तिरन्विष्यते, तस्माद् युक्त्यपेक्षाल्लिङ्गादागमोऽर्थान्तरमिति ।

आह—न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामधिगमहेतुत्वात् । यथा कृतकत्वादिधर्मोऽनित्यत्वादौ विषये दृष्टस्तदभावे चादृष्ट इत्यनित्येऽर्थे निश्चयमा-

---

जिज्ञासुओं को अपवर्गप्राप्ति में विघात हो जायगा। इसलिये चिकित्सक के समान आपने दूसरों को उपदेश दिया है; जो हमें प्रीतिकर नहीं हो सकता है।

समाधान—उक्त शंका अयुक्त है। क्योंकि आप्तलक्षण का अवधारण सबमें नहीं है। जिनमें रागादि दोष दूर हो गया है, एवं जिनकी बुद्धि सन्देह से सर्वथा रहित है, तथा जो अतीन्द्रिय विषय को देखने वाले हैं; ऐसे ईश्वर और महर्षियों को ही हम आप्त कहते हैं, सबको नहीं। यदि इस प्रकार के गुणों से सम्पन्न और भी कोई है, तो वह भी प्रमाण हो, इससे हमें आपत्ति नहीं है।

एवं—अपने विषय में उसका प्रामाण्य मानने पर कोई दोष नहीं है। अर्थात् जिसका जो विषय है, उसका वचन उस विषय में साधन के बिना भी प्रमाण है, यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा प्रत्येक शास्त्र में प्रतिपादित अदृष्टार्थक आचार और स्थिति तथा नियमों का ज्ञान नहीं हो सकेगा। इससे सिद्ध हुआ कि समस्त लिङ्ग से आगम एक दूसरी वस्तु है। अर्थात् चूंकि बड़े उद्घोष के साथ अनुमान में युक्ति की अपेक्षा की जाती है, इसलिये युक्तिसापेक्ष लिङ्ग (अनुमान) से आगम भिन्न वस्तु है।

शङ्का—आगम भी अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अधिगम का हेतु होता है। अर्थात् जैसे कृतकत्व आदि धर्म अनित्यत्व आदि विषय के रहने पर देखा जाता है और जहाँ अनित्यत्व का अभाव है वहाँ नहीं देखा जाता है, इसलिये कृतकत्व हेतु शब्दविषय में अनित्यत्व का निश्चय करा देता है। ऐसे ही शब्द भी अपने अर्थ में देखा जाता है और उस जाति के अन्य अर्थ में नहीं देखा जाता है, इसलिये वह

दधाति, एवं शब्दोपि स्वार्थे दृष्टोऽन्यत्र तज्जातीये न दृष्टः प्रतिपत्तिहेतुर्भवति। तस्मादनुमानादभिन्न एवायमिति।

उच्यते—चन्द्रादिष्विदानीमसाधारणविषयेषु का प्रतिपत्तिः स्यादिति।

आह—अवयवापेक्षत्वाच्चन्द्रशब्दो ह्यनेकेषु अवयवेषु वर्तते, जातिद्रव्यगुणक्रियासु च, तथा डित्थादिशब्दः, तस्मादेवंजातीयकानामपि चानुमानादभेदः।

उच्यते—स्वर्गादीनां तर्हि कथमनुमानत्वमिति ?

आह—आप्तवचोऽविसंवादसामर्थ्यात्। यथा हैरण्यकप्रभृतीनामाप्तानां वाक्यमव्यभिचारि एवमीश्वरमहर्षयोपि चाप्ताः। तस्मादेषामपि वाक्यमव्यभिचारीति शक्यमत्रापि सामान्यविषयत्वं कल्पयितुम्। एवमनुमानमेवमागम इति।

शब्द स्वार्थ के बोध का हेतु होता है। इससे सिद्ध होता है कि आगम अनुमान से भिन्न नहीं है; किन्तु अभिन्न ही है।

उत्तर—यदि अन्वयव्यतिरेक के बल से शब्द अर्थ का बोधक हो तो चन्द्र आदि असाधारण विषयों में चन्द्रशब्द से बोध कैसे होगा ?

शङ्का—चन्द्रशब्द अवयवसापेक्ष है, इसलिये अनेक अवयवों में वह प्रयुक्त होता है, जैसे जाति द्रव्य गुण और क्रिया में। अर्थात् चन्द्रादिशब्द जैसे जातिबोधक द्रव्यबोधक गुणबोधक और क्रियाबोधक है। वैसे ही डित्थ आदि शब्द भी अनेक अवयवों में प्रयुक्त होता है। अतः चन्द्रादिशब्द भी असाधारणविषयक नहीं है; किन्तु साधारणविषयक ही है। इसलिये अन्वयव्यतिरेक सुलभ होने से इस प्रकार के शब्द का भी अनुमान से अभेद है।

उत्तर—तब स्वर्गादि का बोध अनुमान कैसे होगा ? क्योंकि स्वर्गादि कोई जाति, द्रव्य, गुण, क्रियारूप अवयव नहीं होता।

शङ्का—आप्तजनों के वचनों में अविसंवाद (अविरोध) के कारण स्वर्गादि विषय का प्रतिपादक आगम अनुमान ही है। अर्थात् जैसे-हिरण्यगर्भ प्रभृति आप्तों का वचन अव्यभिचारी है, वैसे ही ईश्वर महर्षि भी आप्त हैं और उनके वचन भी अव्यभिचारी हैं। अतः यहाँ भी सामान्यविषयत्व की कल्पना की जा सकती है। अर्थात् स्वर्गादि शब्द भी

उच्यते—यदुक्तमन्वयव्यतिरेकाभ्यामधिगमहेतुत्वाच्छब्दोऽनुमानमिति, अत्र ब्रूमः—न, अप्रतिज्ञानात्। न हि वयं व्यवहारानुपातिनां वृक्षादीनामागमत्वमाचक्ष्महे, किं तर्हि ? स्वर्गादीनामत्यन्तपरोक्षविषयाणाम्। तस्मादप्रतिज्ञानादनुपालम्भोऽयमिति।

उपेत्य वा वक्त्रपेक्षत्वात्। अथवोपेत्यापि सर्वशब्दानामागमत्वमनुमानादर्थान्तरभावं ब्रूमः। तथा हि कृतकत्वादिति लिङ्गं चाण्डालकापालिकैरपि प्रयुज्यमानं साहचर्यापेक्षं निश्चयमादधाति, न वक्तृविशेषमपेक्षते। वक्तृविशेषापेक्षस्तु शब्दः। तस्मान्न लिङ्गम्।

किं चान्यत्—विपर्ययात्। न हि लिङ्गम् देशान्तरे विपर्येति शब्दस्य तु दृष्टो विपर्ययः। स एव हि शब्दो देशान्तरे कालान्तरे तु स्वार्थं न प्रत्याययति अर्थान्तरं च प्रशंसति। सम्बन्धानुपलब्धेरिति चेत्, स्यादेतत्-

---

असाधारणविषयक न होकर सामान्यविषयक ही हैं। इस प्रकार जैसा अनुमान है वैसा ही आगम भी है। अतः अनुमान से आगम भिन्न नहीं है।

समाधान— यह जो कहा कि अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अधिगम का हेतु होने से शब्द भी अनुमान ही है, उस पर हमारा कहना है कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि हमारी वैसी प्रतिज्ञा नहीं है। अर्थात् हम व्यवहार में आने वाले वृक्षादिशब्दों को आगम नहीं कहते हैं। किन्तु अत्यन्त परोक्ष विषय को बतलाने वाले स्वर्गादिशब्दों को ही आगम कहते हैं। अतः वृक्षादिशब्दों के बारे में प्रतिज्ञा नहीं होने से उक्त उपालम्भ नहीं दिया जा सकता है कि अन्वयव्यतिरेक द्वारा अधिगम का हेतु होने से शब्द भी अनुमान ही है। क्योंकि स्वर्गादिशब्द को आगम कहते हैं और उसमें अन्वयव्यतिरेक सम्भव नहीं है।

अथवा सभी शब्दों को आगम मानकर भी अनुमान से भिन्न आगम को हम कहते हैं। क्योंकि आगम में वक्तृविशेष की अपेक्षा होती है। और अनुमान में वैसी अपेक्षा नहीं रहती है। जैसे, 'कृतकत्वात्' यह हेतु चाण्डाल और कापालिकों के द्वारा भी प्रयुक्त होता हुआ साध्य के साथ साहचर्यमात्र की अपेक्षाकर साध्य का निश्चय करा देता है। इस प्रकार हेतु किसी विशेष वक्ता की अपेक्षा नहीं करता है; किन्तु शब्द तो बोध कराने के लिये वक्तृविशेष की अपेक्षा करता है। इसलिये शब्दप्रमाण लिङ्ग या अनुमान नहीं हो सकता है।

सम्बन्धान्तरं देशान्तरेऽनुपलक्षितम्; तस्माच्छब्दार्थविपर्यय इति। एतदनुपपन्नम्—लिङ्गवैधर्म्यात्। न हि प्रत्यक्षाभिमतस्य लिङ्गिन उपलब्धौ गवादेर्लिङ्गं नोपलभ्यते। शब्दस्तूपलभ्यमानो (ने) गवादौ नोपलभ्यते। तस्मान्न लिङ्गम्।

किञ्चान्यत्—देशनियमात्। न हि लिङ्गस्य देशनियमो दृष्टः। अस्ति तु शब्दस्य देशनियमः। तद् यथा शवतिर्गतिकर्मा काम्बोजेष्वेव भाष्यते, रंहतिः प्राच्येषु। तथा दातिर्लवनार्थः दात्रमुदीच्येषु नान्यत्र। तस्मान्न शब्दो लिङ्गम्।

किञ्चान्यत्—इष्टतो विनियोगात्। स्वाभाविकं लिङ्गम्। न हि धूमोऽग्नेरपकृष्य शक्यतेऽप्सु वायावाकाशेऽन्यत्र वा निवेशयितुम्। शब्दस्तु यत्र यत्र वक्तुरभिप्रायस्तत्र तत्र विनिवेश्यते। यथा वृद्ध्यादयः शब्दाः स्वार्थाभ्युच्चयादिषु प्रसिद्धा आदैक्षु विनिवेश्यन्ते। तस्मान्न ते लिङ्गम्।

और भी—शब्द में देशविपर्यय भी हो जाता है। अर्थात् लिङ्ग देशान्तर में भी नहीं बदलता है; किन्तु शब्द का तो विपर्यय देखा गया है; क्योंकि वही शब्द देशान्तर में और कालान्तर में अपने अर्थ को नहीं प्रतीत कराता है, बल्कि अन्य अर्थ का बोध कराता है।

यदि कहें कि 'देशान्तर में उस शब्द का अपने अर्थ के साथ सम्बन्धग्रह नहीं होने से वह अपने अर्थ का बोध नहीं कराता है। अर्थात् देशान्तर में सम्बन्ध अज्ञात रहता है, इसीलिये वहाँ शब्द और अर्थ का विपर्यय हो जाता है' तो यह कथन अनुपपन्न है। क्योंकि लिङ्ग से शब्द में वैधर्म्य है; क्योंकि प्रत्यक्ष से अवगत गवादि लिङ्गी की उपलब्धि होने पर उसका लिङ्गभूत सास्नावत्त्व भी उपलब्ध हो ही जाता है। ऐसा नहीं होता कि गौ की उपलब्धि हो और उसका सास्नादि लिङ्ग न उपलब्ध होता हो। गोशब्द तो प्रत्यक्ष गवादि के उपलभ्यमान होने पर भी श्रवणगोचर नहीं होता है। इसलिये शब्द लिङ्ग से भिन्न है।

और भी—शब्द में देश का नियम होता है। अर्थात् लिङ्ग में देश का नियम नहीं देखा गया है; किन्तु शब्द में तो देशनियम है। जैसे, शवधातु गतिअर्थ में काम्बोज देश में ही प्रयुक्त होता है और प्राच्य देश में रंहधातु प्रयुक्त होता है। तथा लवनार्थक दाधातु से निष्पन्न दात्र शब्द उदीच्यों में तो प्रयुक्त होता है, अन्यत्र नहीं। अतः शब्द लिङ्ग नहीं है।

सर्वाभिधानशक्तित्वाच्छब्दस्यादोष इति चेत्, स्यान्मतम्—सर्वाभिधानशक्तिः शब्दः सर्वाभिधेयशक्तिश्चार्थस्तयोः पुरुषव्यापारेण शक्त्यवच्छेदः क्रियते। कथम्? अयमेव शब्दोऽस्यार्थस्य प्रत्यायको भवतु। अयमेव चार्थोऽनेन शब्देनाभिधीयताम्। एतावति पुरुषव्यापारः। तस्माच्छब्दस्य स्वाभाविकः सम्बन्धो वक्त्रपेक्षया व्यज्यत इति।

एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? सुतरामनुमानादर्थान्तरत्वप्रसङ्गात्। एवमपि कल्पयित्वाऽनुमानात् सुतरां शब्दस्यार्थान्तरत्वमापद्यते। कस्मात्? न हि यथा वक्त्रपेक्षया सर्वार्थस्य सतः शब्दस्य शक्त्यवच्छेदस्तथा सर्वार्थं लिङ्गं वक्त्रपेक्षयाऽर्थान्तरादवच्छिद्यते। यथा चैकः शब्दो जगदित्येवमुदितः

और भी—शब्द का इच्छानुसार विनियोग होने से भी शब्द लिङ्ग नहीं है। लिङ्ग स्वाभाविक होता है। ऐसा नहीं होता है कि धूम को अग्नि से अलगकर उसे जल में, वायु में, आकाश में या अन्यत्र कहीं निवेशित किया जा सके। शब्द तो जहाँ-जहाँ वक्ता का अभिप्राय होता है, वहाँ वहाँ विनिवेशित कर दिया जाता है। जैसे, वृद्धि आदि शब्द अभ्युच्चय (बढ़ना) आदि अर्थ में प्रसिद्ध हैं, फिर भी उन्हें व्याकरण-शास्त्र में आत् और ऐच् में प्रयुक्त किया जाता है। अतः वे शब्द लिङ्ग नहीं है।

यदि कहो कि शब्द में सबका अभिधान (बोध) करने की शक्ति होने से इच्छानुसार पुरुष द्वारा विनियोग किये जाने में कोई दोष नही है। अर्थात् ऐसा माना जाय कि सभी अर्थों का अभिधान करने की शक्ति शब्दों में है और सभी शब्दों द्वारा अभिधेय होने की शक्ति अर्थ में है; किन्तु पुरुष व्यापार द्वारा उनकी शक्तियों को सीमित किया जाता है।

वादी—किस प्रकार?

प्रतिवादी—यही शब्द इस अर्थ का बोधक हो और यही अर्थ इस शब्द के द्वारा बोधित हो। यही प्रकार है, जिससे शब्द और अर्थ की शक्ति पुरुष द्वारा सीमित कर दी जाती है। इतने में ही पुरुषव्यापार है। अतः शब्द का भी लिङ्ग के समान ही अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है और वह वक्ता की अपेक्षा से उस उस अर्थ में अभिव्यक्त होता है।

वादी—यह कथन भी अनुपपन्न है। क्योंकि ऐसी स्थिति में सुतराम् (अनायास ही) अनुमान से शब्द अर्थान्तर सिद्ध होने लगेगा। अर्थात् ऐसी कल्पना करने पर भी अनुमान से शब्द सुतराम् अर्थान्तर हो जाता है।

पुरुषविनियोगापेक्षः सर्वमर्थमभिधातुं समर्थस्तथैकं लिङ्गं कयाचिद् युक्त्या (न) सर्वार्थप्रत्यायनसमर्थम् । तस्मान्न शब्दो लिङ्गम् ।

यत् पुनरेतदुक्तम्—चन्द्रादीनामवयवापेक्षं सामान्यमभ्युपगम्यते । तदयुक्तम्, असाधारणत्वात् । अनुमानाभावे शब्दप्रसिद्धोऽर्थ इति, व्याघातः ।

किञ्चान्यत्—जात्यादिसाध्यत्वात् । जातिगुणद्रव्यक्रियाणां च परस्परतोऽर्थान्तरत्वं समुदायश्च साध्यः । तस्मादयुक्तमेषां तदपेक्षया सामान्यविषयत्वम् । यदप्युक्तमाप्तवादाविसंवादसामान्यात् स्वर्गादिशब्दानामनुमानत्वमिति, अत्र ब्रूमः—एतदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? प्रमाणविषयत्वात् । सत्यमस्त्येषां सामान्यपरिकल्पना, सा तु प्रमाणविषया न तु

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—इसलिये कि जैसे सर्वार्थक होते हुए भी शब्द की शक्ति वक्ता की अपेक्षा से सीमित हो जाती है, वैसे सर्वार्थक लिङ्ग की शक्ति वक्ता की अपेक्षा से अर्थविशेष में सीमित नहीं की जाती है । जैसे 'जगत्' यह एक शब्द उच्चरित होकर पुरुष द्वारा विनियोग किये जाने पर सभी अर्थ को कहने में समर्थ होता है, वैसे ही एक कोई भी लिङ्ग किसी भी युक्ति से सर्वार्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं है । इसलिये शब्द लिङ्ग नही है ।

यह जो कहा कि चन्द्रादि शब्दों को जाति-द्रव्य-गुण और क्रियारूप अवयवों की अपेक्षा से सामान्य स्वीकार किया जाता है, यह अयुक्त है । क्योंकि एकार्थवाचक होने से चन्द्रादिशब्द सर्वथा असाधारण हैं, और यहाँ अन्वयव्यतिरेक नहीं बन सकता है । इस प्रकार अनुमान न होने से शब्दप्रमाण से ही अर्थबोध होता है । अतः उक्त कथन व्याहत है ।

और भी—जाति आदि साध्य हैं । अर्थात् जाति-गुण-द्रव्य और क्रिया परस्पर में भिन्न अर्थ हैं और इनका समुदाय ही चन्द्रादिशब्द का साध्य (बोध्य) होगा । अतः यह कथन अयुक्त है कि चन्द्रादिशब्द जात्यादि की अपेक्षा से सामान्यविषयक हो जायगा ।

और यह जो कहा कि 'जैसे आप्त जनों का वचन अव्यभिचारी होता है, वैसे स्वर्गादिविषयक ईश्वर-महर्षियों का वाक्य भी अव्यभिचारी होने से सामान्यविषयक हैं, अतः स्वर्गादिशब्द भी अनुमान है ।' इस पर हमारा कहना है कि यह भी अनुपपन्न है । क्योंकि इनके वचन प्रमाणविषयक नहीं हैं । अर्थात् यह सत्य है कि आप्त

प्रमेयविषया । प्रमेयं तु सामान्यमनुमानस्येत्ययमभ्युपगमो वः । तच्चासाधारणत्वात् स्वर्गादीनां प्रतिषिद्धम् । तस्मात् त्यज्यतामियमाशङ्काऽनुमानमेवागम इति ।

अन्यः पुनरनुमानागमयोरभेदप्रतिज्ञ इदमाह—स्वर्गादयः शब्दा न प्रमाणम् । कस्मात् ? प्रमाणान्तरेण तदर्थानुपलब्धेः । यस्य हि शब्दस्यार्थः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा नोपलभ्यते, स न प्रमाणम् । इतरस्तु प्रमाणम् । तद्यथा नद्यास्तीरे पक्वमाम्रवनं, पथि गुडशकटं विपर्यस्तमिति । न च स्वर्गादिशब्दानामर्थः प्रमाणान्तरेणोपलभ्यते । तस्माद् यथा विभुरात्मा, सर्वत्र सुखादिसंभवात् इत्येवमादयो बौद्धं प्रति धर्म्यसिद्धत्वादयथार्थास्तथा वेदशब्दा अपि प्रायेणेति[1] ।

एतत्तु न युक्तरूपम् । कस्मात् ? अन्यायेन सर्वशब्दापवादात् । का ह्यत्र युक्तिर्यदस्मदादिभिरनुपलभ्यमानार्थं प्रमाणभूतानामपि वाक्यमयथार्थं

जनों एवं महर्षियों के वचन समानरूप से अव्यभिचारी हैं । किन्तु ये वचन प्रमाणरूप हैं, न कि प्रमेयरूप हैं । अनुमानप्रमाण के लिये तो प्रमेय को सामान्यरूप होना चाहिये, ताकि लिङ्ग और साध्य का अन्वय-व्यतिरेक बन सके । यह आपको मान्यता है । यह सामान्यरूपता स्वर्ग आदि वस्तुओं (प्रमेयों) में नहीं है । अतः यह आशङ्का छोड़ दें कि आगम अनुमान ही है ।

अन्य प्रतिवादी भी अनुमान और आगम को अभिन्न मानने वाला कहता है—स्वर्ग आदि शब्द प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि अन्य प्रमाणों से उसके अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है । जिस शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष या अनुमान से उपलब्ध नहीं होता है, वह शब्द प्रमाण नहीं है । किन्तु उससे भिन्न शब्द प्रमाण है, जिसका अर्थ प्रमाणान्तर से कहीं उपलब्ध होता है । जैसे नदी के किनारे पका हुआ आम्रवन है, मार्ग में गुड़लदी गाड़ी लुढ़क गयी है' इत्यादि वाक्य प्रमाण होंगे, क्योंकि इनके अर्थ को प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है । किन्तु स्वर्गादिशब्दों का अर्थ प्रमाणान्तर से उपलब्ध नहीं है । अतः ये शब्द प्रमाण नहीं हैं । इसलिये जैसे, 'विभुः आत्मा, सर्वत्र सुखादिसंभवात्' इत्यादि शब्द बौद्ध के प्रति अप्रमाण हैं; क्योंकि उसके यहाँ आत्मारूपी धर्मी असिद्ध है । अतः जैसे उपर्युक्त शब्द अप्रमाण है, वैसे ही वेदशब्द भी प्रायः अप्रमाण हैं ।

---

१. अत्रत्यं पाठान्तरं विश्रृङ्खलमिवावभाति ।

स्यात् ? सर्वेण चावश्यं कश्चिदाप्तस्तस्य च वाक्यमदृष्टार्थमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अतोऽयं तवात्रापि समानः प्रसङ्गः ।

न च प्रमाणं स्वार्थसिद्धये प्रमाणान्तरमपेक्षते । तत्र यदि शब्दस्य प्रमाणान्तरापेक्षं यथार्थत्वमाश्रीयते, तेन न केवलं स्वर्गादयः, किन्तर्हि ? शब्दा एवाप्रमाणमिति प्राप्तम् । अनुमानस्य प्रमाणान्तरनिरपेक्षस्य गमकत्वाभ्युपगमादागमस्य ततोऽर्थान्तरत्वं सुतरां प्रसज्यते। तस्माद् युक्तागमविरोधिन एवंविधा नास्तिकवादाः श्रेयोर्थिभिर्दूरादपोह्या इति स्थितमेतत्—अनुमानादसिद्धं वस्तु यत्, तदाप्तागमात् साध्यमिति ।

एवमस्य त्रिविधस्य प्रमाणस्यैन्द्रियकं कारणान्तरतोऽनुपलभ्यमानं च प्रमेयं व्याख्यातम् । एतस्मात्तु यदन्यत् तदसदिति प्रत्यवगन्तव्यम् ॥

आह—यद्येवं, प्रधानस्यासत्त्वप्रसङ्गः । अनुपलब्धौ कारणान्तरत्वा-

---

यहाँ 'प्रायेण' यह शब्द इसलिये कहा कि वेद के स्वर्ग आत्मा ईश्वर आदि शब्द ही बौद्ध से यहाँ अप्रमाण हैं; बाकी शब्द प्रमाण भी हैं ।

सिद्धान्ती—प्रतिवादी का उक्त कथन युक्त नहीं है । क्योंकि अन्याय से सभी शब्दों का अपवाद (अप्रामाण्य) हो जायेगा । अर्थात् बिना न्याय या तर्क के यदि वैदिक शब्द अप्रमाण होगा तो सभी शब्द अप्रमाण हो जायेंगे । क्योंकि इसमें क्या युक्ति है कि हमारे द्वारा जिसके अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है, ऐसा प्रमाणभूत आप्तों का भी वाक्य अप्रमाण हो ? सभी को अवश्य ही यह स्वीकार करना होगा, कि 'कोई आप्त है और उसका वचन अदृष्टार्थक है ।' इसलिये यहाँ यह दोष समानरूप से तुम्हारे ऊपर भी है ।

एवं, कोई भी प्रमाण अपने अर्थ की सिद्धि के लिये प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करता है । यहां यदि शब्द की प्रमाणता अन्य प्रमाण की अपेक्षा पर अपनायी जाय तो, उससे न केवल स्वर्ग आदि शब्द प्रत्युत शब्दमात्र अप्रमाण हैं, यह प्रसङ्ग हो जायेगा ।

एवं अनुमानप्रमाण अन्यप्रमाण की बिना अपेक्षा किये गमक होता है, ऐसा स्वीकृत होने से परसापेक्ष आगम अनुमान से भिन्न है, यह बात अनायास सिद्ध हो जाती है । क्योंकि निरपेक्ष और सापेक्ष परस्पर अभिन्न कैसे हो सकते हैं ?

इसलिये सर्वथा युक्त आगमों के विरुद्ध इस प्रकार के नास्तिक वादों का दूर से ही परित्याग श्रेय चाहने वाले व्यक्ति को कर देना चाहिये । अतः यह स्थिर हो गया कि अनुमान से असिद्ध जो वस्तु, उसका साधन आगमप्रमाण से होता है ।

नुपलब्धेः । तद्द्विविध प्रत्यक्षाविषयत्वे सत्यतिदूरादिभिरनुपलब्धिकारणैर्नो[1]-पलभ्यते । तन्न तावत् अतिदूरात् सामीप्याद् व्यवधानाच्चास्याग्रहणम् । कस्मात् ? विभुत्वात् । नेन्द्रियघातात्, अविकलेन्द्रियैरग्रहणात् । न मनसोऽनवस्थानात्, अवस्थितमनोभिरग्रहणात् । न सौक्ष्म्यात्, शशविषाणादीनां सत्त्वप्रसङ्गात् । नाभिभवात्, असंभवात् । न समानाभिहारात्, एकत्वात् । तस्मात् कारणान्तराभावतोऽनुपलभ्यमानस्यासत्त्वमिच्छतः प्रधानस्यापि शशविषाणवदसत्त्वप्रसङ्गः । अथैतन्नेष्यते, कारणान्तरं तर्ह्यनुपलब्धौ वक्तव्यमिति ।

इस प्रकार इस त्रिविध प्रमाण का दो प्रकार का प्रमेय-एक ऐन्द्रियक दूसरा अतीन्द्रिय, जो कि अतिदूरत्व आदि कारणों से उपलभ्यमान नहीं होता, प्रतिपादित हुआ। इस प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से सिद्ध पदार्थों से अतिरिक्त जो कुछ है, वह असत् है, ऐसा जानना चाहिये।

शङ्का— त्रिविध प्रमाणों से अगम्य यदि असत् है, तो प्रधान में भी असत्त्व की प्रसक्ति हो जावेगी। क्योंकि प्रधान प्रत्यक्ष का अविषय होता हुआ अतिदूरत्वादि अनुपलब्धिकारणों से अनुपलभ्यमान नहीं है; किन्तु असत् होने के कारण शशशृङ्गादि के समान अनुपलभ्यमान है। अर्थात् प्रधान की अनुपलब्धि अतिदूरत्व के कारण या सामीप्य के कारण या व्यवधान के कारण नहीं है, क्योंकि वह विभु है। इन्द्रियघात से भी अनुपलब्धि नहीं है, क्योंकि स्वस्थ इन्द्रियवाले व्यक्ति के द्वारा भी वह गृहीत नहीं होता है। मन के अनवस्थित (चञ्चल) होने से भी प्रधान का अग्रहण नहीं है, क्योंकि सावधान मन की स्थिति में भी प्रधान गृहीत नहीं होता है। सूक्ष्म होने के कारण भी प्रधान का अग्रहण नहीं है, क्योंकि तब शशविषाण को भी सत् मानना पड़ जायेगा। कारण, उसके लिये भी कहा जा सकता है कि सूक्ष्म होने के कारण उसका उपलम्भ नहीं होता है। किसी अन्य पदार्थ से अभिभूत होने के कारण भी प्रधान का अग्रहण नहीं हो सकता है; क्योंकि सर्वातिशायी प्रधान का अभिभव असम्भव है। समानाकार वस्तु के मिश्रण के कारण भी प्रधान का अग्रहण नहीं माना जा सकता है; क्योंकि प्रधान एक ही होता है, दूसरा प्रधान होता नहीं, जिसका मिश्रण हो जाय। इसलिये अतिदूरत्वादि कारणों के अभाव में अनुपलभ्यमान वस्तु को जो असत् कहता है, उसके यहाँ प्रधान भी शशविषाण के समान असत् हो जायेगा। यदि ऐसी बात नहीं है, अर्थात् प्रधान वस्तुतः सत् है; तो उसकी अनुपलब्धि का कारण बताना चाहिये।

---

१. र्न नोपलभ्यते इति पाठ उचितः।

उच्यते—यत्तावदुक्तमनुपलब्धौ कारणान्तरानुपपत्तेः प्रधानस्यासत्त्व-प्रसङ्ग इति । अत्रास्तु—

"सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्"

यत्तूक्तं शशविषाणादिवदसत्त्वप्रसङ्ग इति तदयुक्तम् । कस्मात् ? साधनोपपत्तेः । अस्ति हि प्रधानस्य सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धौ साधनम्, न शशविषाणादीनाम् । किं तत् ? उच्यते—

"कार्यतस्तदुपलब्धिः"

प्रधानस्य हि कार्यत उपलब्धिरित्येतदुपरिष्टात् प्रतिपादयिष्यामः । न तु शशविषाणादीनां कार्यमस्ति । तस्माद् विषमोऽयमुपन्यासः ।

आह—एवमपि प्रतिज्ञान्तरानर्थक्यम्, एकेन कृतत्वात् । सौक्ष्म्यात्त-दनुपलब्धिरित्युक्ते गम्यत एतन्नाभावादिति । तस्मात् तद्वचनमनर्थक-मिति ।

समाधान— यह जो कहा कि अनुपलब्धि में कोई कारण नहीं होने से प्रधान में असत्त्व का प्रसङ्ग हो जायगा, तो यहाँ सूक्ष्मता ही प्रधान की अनुपलब्धि का कारण रहे । इस प्रधान का शशशृङ्ग की तरह अभाव हो, ऐसी बात नहीं है । अर्थात् शशविषाण की तरह प्रधान का असत्त्व हो जायगा, यह शङ्का अयुक्त है; क्योंकि सूक्ष्मता के कारण प्रधान की अनुपलब्धि होने से उसकी उपलब्धि का साधन है । अर्थात् प्रधान सूक्ष्म तत्त्व है, इसलिये प्रधान की अनुपलब्धि में उसकी सूक्ष्मता कारण है । इसीलिये उसकी उपलब्धि का साधन है । किन्तु शशविषाण की उपलब्धि का कोई साधन नहीं है ।

प्रश्न— वह कौन साधन है, जिससे प्रधान की उपलब्धि होती है ?

उत्तर— कार्य से प्रधान की उपलब्धि होती है । कार्य से प्रधान की कैसे उपलब्धि होती है, यह बात आगे चलकर बतायेंगे । शशविषाण का उपलम्भक कोई कार्य तो है नहीं, इसलिये शशविषाण का अभाव हो है सूक्ष्मता नहीं है । अतः शश-विषाण का उदाहरण देना उपयुक्त नहीं है ।

शङ्का—फिर भी दूसरी प्रतिज्ञा निरर्थक है; क्योंकि एक से ही कार्य किया जा चुका है । अर्थात् 'सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः' इतना कहने पर यह बात ज्ञात ही हो जाती है कि प्रधान की अनुपलब्धि का कारण अभाव नहीं है ।

उच्यते—न, वीतावीतपरिग्रहार्थत्वात्। एवं सिद्धे यत् प्रतिज्ञाद्वयं करोति, तत् ज्ञापयत्याचार्यः—वीतावीताभ्यामभिप्रेतार्थसिद्धिः। प्राक् च सौक्ष्म्यातिशयात्तदनुपलब्धिरित्याचक्षाणः प्रतिपादयति—पुरस्ताद् वीतः प्रयोक्तव्य इति।

एकस्मिंश्च विषये द्वौ प्रयुञ्जानः समुच्चयेन सिद्धिं द्योतयति।

किं सिद्धं भवति? यदुक्तं तन्त्रान्तरीयैः 'न पृथक् प्रतिपत्तिहेतू वीतावीतौ' इति, तदिष्टमेवं संगृहीतं भवति। तस्य वीतस्य प्रतिज्ञा 'सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः'। तस्य चावीतस्य प्रसक्तधर्मान्तरनिवृत्तिरूपेण, नाभावात् हेतुरुभययोगी। कथम्? यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्य कार्य-

---

उत्तर— उक्त शङ्का नहीं हो सकती है। क्योंकि वीतावीत उभय अनुमानों का परिग्रह करने के लिये 'नाभावात्' यह दूसरी प्रतिज्ञा कही गयी है। अर्थात् एक से सिद्ध हो जाने पर भी आचार्य जो दो प्रतिज्ञा करते हैं उससे सूचित करते हैं कि वीत-अवीत दोनों से अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि होगी। पहले 'सौक्षम्यात्तदनुपलब्धिः' ऐसा कहते हुए आचार्य प्रतिपादित करते हैं कि पहले वीत का प्रयोग करना चाहिये। एक विषय में दो अनुमानों का प्रयोग करते हुए आचार्य समुच्चय से (मिलकर) सिद्धि को सूचित करते हैं।

प्रश्न—क्या सिद्ध होता है?

उत्तर—अन्य शास्त्र वाले यह जो कहते हैं कि 'वीत और अवीत पृथक् निश्चय के हेतु नहीं होते हैं' वह इसके द्वारा इष्ट ही संगृहीत हो जाता है। अर्थात् दोनों मिल कर साध्य का निश्चय कराते हैं।

वीत की प्रतिज्ञा है 'सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः' अर्थात् सूक्ष्म होने के कारण प्रधान की अनुपलब्धि है। और उस अवीत की प्रतिज्ञा है—प्रसक्त जो धर्मान्तर (असत्त्व) उसकी निवृत्ति। यहाँ 'नाभावात्' हेतु उभय से सम्बद्ध है।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—जो प्रत्यक्ष से अनुपलभ्यमान है, और कार्य से उसकी उपलब्धि होती है, उसकी सूक्ष्मता के कारण अनुपलब्धि देखी गयी है, जैसे, इन्द्रियां। इन्द्रियां यद्यपि प्रत्यक्ष से नहीं प्रतीत हैं; किन्तु दर्शन-श्रवण-स्पर्शन-आस्वादन और घ्राणरूपी कार्य से उनकी निश्चयात्मक प्रतीति हो जाती है। यदि प्रधान को अनुपलब्धि अभाव से हो

तस्तदुपलब्धिस्तस्य सौक्ष्म्यास्तदनुपलब्धि[र्दृष्टा । तद्यथेन्द्रियाणि । यदि पुनरस्याभावादनुपलब्धिः स्यात्, कार्यतोऽनुपलब्धिप्रसङ्गः । अस्ति चेयं कार्यत उपलब्धिः । तस्मान्नाभावात् । न चेदभावात् परिशेषतः सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिरिति ।]

आह—किं पुनस्तत् कार्यं यद् भवान् प्रधानस्यास्तित्वे लिङ्गमाचष्ट इति ?

उच्यते—'महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं च, तद्धि महदहङ्कारेन्द्रियविशेषाविशेषलक्षणं कार्यं प्रधानेन सदृशं विसदृशं चेत्युपरिष्टात् प्रवेदयिष्यामः ।

आह—प्रस्तावाभावादयुक्तमेतत् । किं पुनरधिकृत्येदमुच्यते—प्रकृतिविरूपं सरूपं च महदादि कार्यमिति !

उच्यते—व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षोऽवाप्यते इत्येतत् । एतानि च

तो कार्य से भी अनुपलब्धि होनी चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं है और भूत-भौतिक कार्यों से उसकी उपलब्धि हो जाती है। अतः अभाव से अनुपलब्धि नहीं है। इस प्रकार जब अभाव से अनुपलब्धि नहीं है, तो परिशेषात् सूक्ष्मता के कारण प्रधान की अनुपलब्धि है, यह सिद्ध हो जाता है। इस तरह दोनों ही हेतु दोनों के साध्य साधन में उपयोगी हैं।

प्रश्न—वह कार्य क्या है ? जिसे आप प्रधान के अस्तित्व में लिङ्ग बताते हैं।

उत्तर—यह महदहङ्कार आदि ही प्रकृति का वह कार्य है। और यह कार्य प्रकृति के विरूप भी है और प्रकृति के सरूप भी है। अर्थात् महत् अहङ्कार इन्द्रियां विशेष और अविशेष लक्षण वह कार्य हैं, जो प्रकृति के विसदृश हैं और सदृश भी हैं। इस बात को आगे चलकर बतायेंगे। यहाँ विशेषपद से भूतभौतिक पदार्थ विवक्षित है और अविशेषपद से शब्दादि तन्मात्रायें विवक्षित हैं।

शङ्का—प्रकृति के विरूप और सरूप कहना अयुक्त है; क्योंकि किसी का पहले से प्रस्ताव नहीं हुआ है। अर्थात् किसे अधिकृत कर किस प्रसङ्ग में न प्रकृतिविरूपं सरूपं च च महदादि कार्यम्' यह वचन कहा ?

उत्तर—व्यक्त-अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) के विशिष्ट ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है, यह प्रकृत हो चुका है। इनका विज्ञान तब तक नहीं हो सकता है, जब तक कि

परस्परवैधर्म्यसाधर्म्यप्रतिपत्तिमन्तरेण न शक्यानि विज्ञातुमित्येमर्थमिदं प्रस्तूयते। तस्मान्नाकस्मिको वैरूप्यसारूप्योपन्यास इति ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ
युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे द्वितीयमाह्निकम् ॥

इनके परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य का निश्चय न हो जाय। इसीलिये विरूप-सरूप का प्रस्ताव किया जा रहा है। अतः यहाँ वैरूप्य-सारूप्य का उपन्यास आकस्मिक या अप्रासङ्गिक नहीं है।

इति श्रीमदाचार्य केदारनाथत्रिपाठिकृतायां सांख्यसप्ततियुक्तिदीपिकाया
हिन्दी कलाव्याख्यायां द्वितीयमाह्निकम्।

अथ तृतीयमाह्निकम्

आह—आस्तां तावद् वैरूप्यसारूप्यचिन्ता । कार्यमिदमेव तावन्महदादि परीक्षिष्यामहे । किं प्रागुत्पत्तेरस्ति नास्तीति ? कुतः संशय इति चेत्, स्यान्मतम्—असंगतार्थं प्रकरणान्तरमुपक्षिप्यते भवता । न चाविद्यमानसम्बन्धस्य संशयस्य प्रकरणान्तरेऽभिधीयमानस्य निर्णीतिं साध्वीमाचार्या मन्यन्ते, अवकाशासंभवादिति ।

उच्यते—अस्ति संशयावकाशः । कस्मात् ? आचार्यविप्रतिपत्तेः । प्रागुत्पत्तेः कार्यमसदित्याचार्याः कणादाक्षपादप्रभृतयो मन्यन्ते । सदसदिति बौद्धाः । नैव सद् नासदित्यन्ये । तस्मादुपपन्नः संशयः ।

तत्रेदानीं भवतः का प्रतिपत्तिरिति ?

उच्यते—नाविद्यमानस्य महदादेर्विकारस्य प्रधानादाविर्भाव इति

सिद्धान्ती—यहाँ अभी वैरूप्य-सारूप्य की चिन्ता स्थगित रहे। तब तक इस महदादि कार्य की ही परीक्षा करेंगे—क्या उत्पत्ति के पूर्व कार्य है या नहीं ?

शङ्का—यह संशय ही क्यों हुआ ? अर्थात् प्रकृत में जिसका कोई सम्बन्ध न हो और प्रकरणान्तर में कहा जा रहा हो, ऐसे संशय का निर्णय करना (सन्दिग्ध वस्तु का निर्णय करना) आचार्य उचित नहीं मानते हैं। क्योंकि उक्त संशय का अवकाश सम्भव नहीं है।

उत्तर—संशय का अवकाश (अवसर) है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—आचार्यों की विप्रतिपत्ति होने से संशय का अवसर है। जैसे, उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् है, ऐसा कणाद गौतम प्रभृति आचार्य मानते हैं। सत् असत् उभय है, ऐसा बौद्ध मानते हैं। न सत् है और न असत् है, ऐसा अन्य आचार्य मानते हैं। अतः यहाँ संशय होना युक्त है।

प्रश्न—उत्पत्ति के पूर्व कार्य के सत्त्व और असत्त्व के सम्बन्ध में आपका निश्चय क्या है ?

प्रतिजानीमहे। कस्मात् ? सन्निवेशविशेषमात्राभ्युपगमात्। न हि नः कारणादर्थान्तरभूतं कार्यमुत्पद्यत इत्यभ्युपगमः। किं तर्हि ? विश्वात्मकानां सत्त्वरजस्तमसामपगतविशेषाविशेषाः सन्मात्रलक्षणोपचयाः प्रतिनिवृत्तपरिणामव्यापाराः परमविभागमुपसम्प्राप्ताः सूक्ष्माः शक्तयः। तासामधिकारसामर्थ्यादुपजातपरिणामव्यापाराणां सन्मात्रानुक्रमेण प्रचयमुपस्पद्यमानानां सन्निवेशविशेषमात्रं व्यक्तम्।

एतस्यां कल्पनायामसत उत्पत्तौ कः प्रसङ्ग इति ? एतेनैव बाह्यानां तन्त्वादिकार्याणां पटादीनां सन्निवेशविशेषमात्रत्वादसत उत्पत्तिः प्रतिषिद्धा बोद्धव्या।

आह—अविद्यमानमेतत्, कस्मात् ? असिद्धे, नार्थान्तरसिद्धेः।[1] यदि हि सन्निवेशविशेषमात्रत्वं कार्यस्य सिद्धं स्यादत एतद् युज्यते

उत्तर—पहले से असत् महद् आदि विकार का प्रधान से आविर्भाव नहीं हो सकता है, यह हमारी प्रतिज्ञा है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—महदादि विकार को हम प्रधान का सन्निवेश (गठन) विशेष मात्र मानते हैं। हमारे मत में कारण से भिन्न होकर कार्य का उत्पन्न होना नहीं माना गया है।

प्रश्न— तो क्या माना गया है ?

उत्तर— विश्वात्मक सत्त्वरजः और तमः के दो स्वरूप हैं। एक विशेष अविशेष से रहित, सन्मात्रस्वरूप से युक्त, विरत हैं परिणामरूप व्यापार जिनके, ऐसी अत्यन्त अविभाग को संप्राप्त सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, जिन्हें अव्यक्त कहा गया है। दूसरा, उन शक्तियों के अधिकार सामर्थ्य से प्रकट हो गया है परिणाम व्यापार जिनमें, ऐसे सन्मात्र लक्षण से क्रमशः प्रचय (विस्तार) को प्राप्त हुए सत्त्वरजः और तमोगुणों का सन्निवेशविशेषमात्र व्यक्त है।

प्रश्न— इस सूक्ष्म शक्ति (अव्यक्त) एवं व्यक्त की कल्पना में असत् की उत्पत्ति मानने में क्या दोषप्रसङ्ग हो जायगा ?

उत्तर— इसी के आधार पर तन्तु आदि के कार्यभूत बाह्य पटादि भी सन्नि-

---

१. [सिद्धेनार्थान्तरसिद्धेः] इति चक्रवर्ति पाठः।

वक्तुम्—तदभ्युपगमादसदुत्पत्तेरप्रसङ्ग इति। तत्त्वसिद्धम्। द्रव्यान्तर-भूतस्यावयविनो निष्पत्तिप्रतिज्ञानात्। तस्मात् काकविषाणात् शशविषाण-सिद्धिवदयुक्तं सन्निवेशविशेषमात्राभ्युपगमात् सत्कार्यं सिद्धिरिति।

इतश्चासत् कार्यम्, अग्रहणात्। इह श्रोत्रादीनां विषयभूतस्य तत्सन्निधानादवश्यं ग्रहणेन भवितव्यम्। यदि प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यं स्यात्, तदपि श्रोत्रादिसन्निधानाद् गृह्येत, न तु गृह्यते। तस्मादसत् कार्यम्।

अनुपलब्धिकारणसद्भावादिति चेत्, तत्रैतत् स्यात्, अस्ति प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यानुपलब्धिकारणं; तस्मादस्य सतोऽप्यग्रहणं भवति। उत्तरकालं तद्विगमाद् ग्रहणमिति।

एतच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? अनुपलब्धि असम्भवात्। तद्धि

वेशविशेषमात्र होंगे। अतः इस कल्पना के अन्तर्गत असत् की उत्पत्ति खण्डित समझनी चाहिये।

पूर्वपक्ष— उक्त कथन असत् है। क्योंकि स्वयं असिद्ध होने पर अर्थान्तर की सिद्धि नहीं हो सकता है। (यहाँ पाठान्तर के अनुसार—सिद्ध से ही अर्थान्तर की सिद्धि होती है, असिद्ध से नहीं) अर्थात् यदि पहले कार्य में सन्निवेशविशेषमात्रत्व सिद्ध हो तो आपका कथन युक्त होगा कि उक्त मान्यता के आधार पर असत् की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं होगा; किन्तु पटादि कार्य सन्निवेशविशेषमात्र है, यह बात ही असिद्ध है। क्योंकि अवयव से भिन्न द्रव्यभूत अवयवी उत्पन्न होता है, सन्निवेशविशेष मात्र नहीं है, यह हमारी प्रतिज्ञा है। इसलिये काकविषाण से शशविषाण की सिद्धि के समान यह भी अयुक्त है कि कार्य को सन्निवेशविशेषमात्र मानने से सत्कार्यवाद की सिद्धि हो जायगी।

इससे भी सिद्ध होता है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् होता है; क्योंकि उसका ग्रहण नहीं होता है। यहाँ श्रोत्र आदि इन्द्रियों का जो विषयभूत है, उसका श्रोत्र आदि इन्द्रिय के साथ सन्निधान होने पर अवश्य ही ग्रहण होता है। यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य सत् है, तो उसका भी श्रोत्रादि के सन्निधान से ग्रहण होना चाहिये, किन्तु नहीं गृहीत होता है। इसलिये कार्य असत् है।

यदि कहें कि 'कार्य के सत् होने पर भी उसको अनुपलब्धि का कारण रहने से ग्रहण नहीं होता है। वहाँ ऐसा है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य की अनुपलब्धि का कारण विद्यमान है, इसीलिये सत् होते हुए भी कार्य का ग्रहण नहीं हो पाता है। और अग्रिम काल में अनुपलब्धिकारण के हट जाने से कार्य का ग्रहण हो जाता है।'

प्रत्यक्षाविषयत्वे सत्यतिदूरादिभिरनुपलब्धिकारणैर्नोपलभ्यते। न चैषां तत्र सम्भवः; तस्मादसदेतत्। [कारणान्तरानभिधानात्। न चातिदूरादिव्यतिरिक्तमनुपलब्धौ कारणान्तरमधीध्वे, यतोऽस्याग्रहणं स्यात्। अतश्चासदेव।]

किञ्चान्यत्, कारणानुपलब्धिप्रसङ्गात्। अनुपलब्धिकारणसद्भावात् कार्यस्याग्रहणमिच्छतः कारणाग्रहणप्रसङ्गः। कस्मात्? अभिन्नदेशत्वात्, एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, स्थूलत्वाच्च। तच्चानिष्टम्। तस्मादयुक्तमनुलब्धिकारणसद्भावात् सतः कार्यस्याग्रहणमिति।

प्रमाणान्तरनिवृत्तिप्रसङ्गादयुक्तमिति चेत्, स्यादेतत्—यदि तर्हि प्रत्यक्षविषयमेवास्ति; ततोऽन्यन्नास्तीत्येतदुपगम्यते; तेनातीन्द्रियविषयस्यानुमानस्य निवृत्तिप्रसङ्गः। अनिष्टं चैतत्। तस्मान्नानुपलब्धेरसत् कार्यमिति।

तो यह कथन अनुपपन्न है। क्योंकि अनुपलब्धि असम्भव है। कारण, कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष का अविषय होने पर अतिदूरत्व आदि अनुपलब्धिकारणों के चलते नहीं उपलब्ध होती है। कार्य के सम्बन्ध में अतिदूरत्व आदि कारण वहाँ सम्भव नहीं है। अतः उक्त कथन असंगत है।

एवं, अतिदूरत्व आदि से अतिरिक्त अनुपलब्धि का कारण बताया नहीं गया है। अर्थात् तुमने अनुपलब्धि के प्रति अतिदूरत्व आदि से व्यतिरिक्त कोई अन्य कारण बताया नहीं है, जिससे इस कार्य का अग्रहण हो। अतः उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् ही है।

और भी—कारण को अनुपलब्धि का प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् अनुपलब्धि कारण के होने से सत् कार्य का ग्रहण नहीं होता है, ऐसा चाहने वाले के लिये कारण का भी अग्रहण होने लगेगा।

प्रश्न— क्यों?

उत्तर— कार्य और कारण का अभिन्न देश होने से, दोनों के एक इन्द्रिय से ग्राह्य होने से तथा कार्य-कारण दोनों के स्थूल होने से। अर्थात् दोनो की समान स्थिति होने के कारण यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य की अनुपलब्धि कहो तो कारण को भी अनुपलब्धि होने लगेगी। अतः यह कथन अयुक्त है कि अनुपलब्धि का कारण होने से विद्यमान भी कार्य का ग्रहण नहीं होता है। अतः उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् है।

एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? क्रियागुणव्यपदेशासंभवात् । यद्धि प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते तत् क्रिययास्तीति संसूच्यते; यथा हर्म्यावस्थितानां तृणानामुद्वहनाद् वायुः । गुणेन यथा मालतीलता गन्धेन, व्यपदेशेन वा कार्यादिना यथेन्द्रियाणि । न तु प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य क्रियागुणव्यपदेश-संभवः । तस्मादसत् कार्यम् ।

इतश्चासत् कार्यम् । कर्तृप्रयाससाफल्यात् । प्राग् व्यापारोपक्रमात् कर्तारस्तस्मात् फलमुपलिप्समानाः कार्यविशेषनियतसामर्थ्यं साधनमुपादाय व्याप्रियन्ते । तच्चेत् प्रागपि व्यापारात् स्यात् तदर्थस्य परिस्पन्दस्यानर्थक्यं प्राप्तम्, अनिष्टं चैतत् । तस्मात् कर्तृव्यापारसाफल्यादसत् कार्यम् ।

शङ्का— उक्त प्रकार से कार्य को असत् बताना ठीक नही है । क्योंकि तब अनुमान आदि अन्य प्रमाणों की निवृत्ति होने लगेगी । अर्थात् यदि प्रत्यक्ष के विषय को ही सत् माना जाय, और उससे भिन्न नही है, ऐसा माना जाय तो अतीन्द्रिय विषयक अनुमान की निवृत्ति होने लगेगी । किन्तु इस प्रकार से प्रमाणान्तर का विलोप अनिष्ट है । इसलिये अनुपलब्धि के कारण कार्य असत् नही हो सकता है; किन्तु सत् है ।

उत्तर— सत्कार्यवादी की यह भी युक्ति असंगत है । क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व क्रिया-गुण और व्यपदेश के असंभव होने से कार्य असत् है । अर्थात् जो वस्तु उपलब्ध नही होती है, क्रिया द्वारा उसकी सत्ता सूचित हो जाती है । जैसे प्रासाद पर अवस्थित तृण के उड़ने से वायु सिद्ध हो जाता है । गन्धगुण से मालती लता सिद्ध हो जाती है । स्पर्शादि कार्य के व्यपदेश (व्यवहार) से अप्रत्यक्ष भी इन्द्रियाँ सिद्ध हो जाती हैं । किन्तु उत्पत्ति के पूर्व घटादि में क्रिया गुण या कोई व्यवहार नही सम्भव है । अतः कार्य असत् है ।

इस कारण भी असत् कार्य है—कर्ता का व्यापार असत्कार्य पक्ष में ही सफल है । अपना व्यापार प्रारम्भ करने के पूर्व कर्ता उस व्यापार से फल को प्राप्त करने को इच्छा करता हुआ कार्य विशेष के प्रति नियत रूप से समर्थ साधन को अपना कर व्यापार करता है । वह अभिप्रेत फल यदि व्यापार के पूर्व में भी सत् हो तो उसके निमित्त चेष्टा अनर्थक हो जायेगी । किन्तु व्यापार की अनर्थकता इष्ट नही है । अतः कर्तृव्यापार की सफलता के लिये कार्य असत् है—यह सिद्ध हुआ ।

शङ्का—कर्तृव्यापार के द्वारा परिणाम आदि की उपपत्ति होती है, इसलिये

परिणामाद्युपपत्तेर्न दोष इति चेत्, स्यान्मतम्—कारणस्य परिणाम-व्यूहसंश्लेषव्यक्तिप्रचयलक्षणान् धर्मान् यस्मात् कर्त्रादीनि कुर्वन्ति नानर्थकानि स्युः। सत्त्वं च कार्यस्य न निरुध्यते। क एवं सति दोषः स्यादिति ?

उच्यते—न शक्यमेवं कल्पयितुम्। कस्मात् ? मार्गान्तरानुपपत्तेः। परिणामो हि नामावस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तिः धर्मान्तरप्रवृत्तिश्च। तत्र सतो धर्मान्तरस्य निरोधाभ्युपगमादसतश्चोत्पत्तिप्रतिज्ञानात् नेदमर्थान्तरमारभ्यते। एवं व्यूहादयोऽप्युपसंहर्तव्याः। तस्मात् परिणामादिभिरभिभवात् कर्त्रादीनामर्थवत्त्वादसत् कार्यम्। [तथा चोक्तम्—

जहद् धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदापरम्।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते ॥

कुतश्च न सत्कार्यम् ? आरम्भोपरमयोराद्यन्ताविशेषप्रसङ्गात्।

सत्कार्यपक्ष में भी कर्तृव्यापार में आनर्थक्य दोष नहीं आता है। अर्थात् कर्ता आदि सभी उपकरण कारण में परिणाम-व्यूहन-संश्लेषण-स्वरूप में प्रचयरूप धर्मों को करते हैं, अतः वे अनर्थक नहीं हो सकते हैं, और कार्य का सत्त्व भी अबाधित रहता है। ऐसी स्थिति में क्या दोष होगा ?

समाधान—उक्त कल्पना नहीं की जा सकती है। क्योंकि परिणाम आदि मानने पर भी असत् कार्यवाद के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। कारण, परिणाम उसे कहते हैं, जिसमें द्रव्य के यथावत् अवस्थित रहते हुये एक धर्म की निवृत्ति हो जाय और अन्य धर्म की प्रवृत्ति हो जाय। यहाँ पूर्व से वर्तमान धर्म का निरोध माना जाता है और अविद्यमान धर्म की उत्पत्ति मानी जाती है। इस प्रकार यहां असत् कार्य से अतिरिक्त का आरम्भ नहीं होता है। इसी प्रकार व्यूह आदि का भी उपपादन करना चाहिये।

इसलिये परिणाम आदि असत् कार्यों से सम्बद्ध होने के कारण कर्तृव्यापारादि के सार्थक होने से असत् कार्य है। [कहा भी गया है—जो एक धर्म का परित्याग करता हुआ अन्य धर्म को प्राप्त करे तथा धर्मी अपने स्वरूप से बना रहे, वह परिणाम है।]

प्रश्न—अन्य किस कारण से सत्कार्यवाद ठीक नहीं है।

यदि सत्कार्यं स्यात् तेनः यः क्रियार्थः साधनानामादौ परिस्पन्दः सोऽन्तेऽपि स्यात्। वा योऽन्ते विरामः स आदावपि स्यात्। कस्मात्? सदविशेषात्। न तु तदस्ति, तस्मादसत् कार्यम्।

इतश्चासत् कार्यम्—उत्पत्तिधर्मस्याद्यन्तयोरविशेषप्रसङ्गात्। यदि सत्कार्यं स्यात्, तेन यथा निष्पन्नस्योत्पत्तिधर्मेणाभिसम्बन्धः तथा आदावपि स्यात्। यथैवादावभिसम्बन्धः तथाऽन्तेऽपि स्यात्। दृष्टस्त्वभिसम्बन्धो नाभिसम्बन्धश्चाद्यन्तयोः। तस्मादसत् कार्यम्।

इतश्चासत् कार्यम्। जन्मसच्छब्दयोर्विरोधात्। इह जन्मशब्दः प्रागभूतस्यार्थस्य भावक्रममाह। सच्छब्दस्तु क्रियान्तरहेतुत्वमाह। यदि सतो जन्म स्यादैकार्थ्यमनयोः स्यात्। न त्वेतदस्ति। तस्मादयुक्तं सज्जायत इति।

उत्तर—यदि सत् कार्य हो तो उत्पत्तिरूपधर्म की आदि और अन्त में कोई विशेषता नहीं रह जायेगी। अर्थात् यदि सत् कार्य हो तो उसके निमित्त आदि में जो साधनों में चेष्टा होती है, वह अन्त में भी (कार्य हो जाने पर भी) होनी चाहिये। एवं जो अन्त में साधनों का विराम हो जाता है, वह पहले भी (उत्पत्ति के पूर्व भी) हो जाना चाहिये। क्योंकि उभय अवस्था में कार्य समानरूप से सत् है। किन्तु वैसा नहीं होता है, इसलिये कार्य असत् है।

इससे भी कार्य असत् है—उत्पत्तिरूप धर्म की आदि और अन्त में कोई विशेषता नहीं रह जायेगी। अर्थात् यदि सत् कार्य हो तो जैसे निष्पन्न का उत्पत्तिधर्म से अभिसम्बन्ध होता है, वैसे आदि में भी अर्थात् कारणव्यापार के पूर्व में भी होना चाहिये। एवं जैसे आदि में उत्पत्ति धर्म का अभिसम्बन्ध होता है, वैसे अन्त में भी होना चाहिये। किन्तु निष्पन्न होने के समय में उत्पत्ति धर्म का अभिसम्बन्ध देखा जाता है। किन्तु उसके पहले और बाद में उत्पत्ति का अभिसम्बन्ध नहीं देखा जाता है। अतः असत् कार्य है।

इससे भी असत् कार्य है—जन्म शब्द का और सत् शब्द का विरोध है। यहाँ जन्मशब्द पहले अभूत वस्तु का होना अर्थ बताता है। और सत् शब्द तो जलाहरणादि क्रियान्तर के प्रति हेतुत्व को बताता है। यदि सत् का ही जन्म होता तो सत् और जन्मशब्द दोनों एकार्थक होते; किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये सत् उत्पन्न होता है' यह कथन अयुक्त है।

उच्यते—यदुक्तं द्रव्यान्तरभूतस्यावयविनो निष्पत्तिप्रतिज्ञानान्न सन्निवेशविशेषमात्रत्वात् सत्कार्यम्, इत्यत्र ब्रूमः—तदसिद्धिः, भेदेनाग्रहणात्। यदि तन्त्वादिभ्यो द्रव्यान्तरभूतस्यावयविनो निष्पत्तिः स्यात्, तेन यथा तन्तुकलापे पटस्तत्रैव वा पटान्तरमाहितं भेदेनोपलभ्यते, तथैवोपलभ्येत; न तूपलभ्यते। तस्मात् न द्रव्यान्तरम्।

समवायादग्रहणमिति चेत्, स्यादेतत्—संयोगिनोर्द्रव्ययोः सत्याधाराधेयभावे भेदेन ग्रहणं भवति। समवायलक्षणा तु प्राप्तिस्तन्तुपटयोः। तस्मान्नास्ति भेदेन ग्रहणमिति।

तच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? असिद्धत्वात्। सिद्धे सत्यर्थान्तरभावेऽवयविनस्तत्प्राप्तौ च समवाये सर्वमेतत् स्यात्। तत्त्वसिद्धमुभयम्। तस्मादयुक्तमेतत्।

सिद्धान्ती का समाधान—यह जो कहा कि 'तन्तु आदि अवयवों से भिन्न द्रव्य के रूप में पटादिरूप अवयवी की उत्पत्ति मानते हैं, इसलिये पट को तन्तुरूप अवयवों का सन्निवेशमात्र (आतानवितानमात्र) मानकर सत्कार्य नहीं हो सकता है' तो यहाँ हमारा कहना है कि अवयव से भिन्न अवयवी द्रव्य असिद्ध है। क्योंकि भिन्न के रूप में अवयवी का ग्रहण नहीं होता है। अर्थात् तन्तु आदि से द्रव्यान्तर के रूप में यदि अवयवी की निष्पत्ति हो, तो जैसे तन्तुसमुदाय के ऊपर रखा हुआ पट अथवा उसी पट पर रखा हुआ दूसरा पट भिन्न होकर उपलब्ध होता है; वैसे ही तन्तु से उत्पन्न पट भी भिन्न होकर ही उपलब्ध हो, किन्तु वैसा नहीं होता है। अतः तन्तु आदि अवयव से भिन्न द्रव्य पट आदि अवयवो नहीं है।

यदि कहो कि समवाय के कारण अवयव और अवयवी का भेदेन ग्रहण नहीं होता है। अर्थात् परस्पर संयोगी द्रव्यों का आधार-आधेयभाव होने पर भेदेन ग्रहण होता है। यहाँ तो तन्तु अवयव और पट अवयवी का समवायरूप सम्बन्ध है; इसी लिये तन्तु से भिन्न रूप में पट गृहीत नहीं होता है।

तो उक्त कथन भी अनुपपन्न है। क्योंकि असिद्ध है। अर्थात् अवयव से भिन्न अवयवी सिद्ध हो और समवायरूप उन दोनों का सम्बन्ध सिद्ध हो तो यह सब कथन हो सकता है। किन्तु अवयव से अवयवी भिन्न असिद्ध है और समवायनामक उनका सम्बन्ध भी असिद्ध है। अतः उक्त कथन अयुक्त है।

किञ्चान्यत्—दृष्टान्ताभावात् । महापरिमाणं द्रव्यमन्यत्राहितं समवायाद् भेदेन नोपलभ्यते, इत्येतस्मिन्नर्थे पर्यनुयुक्तस्य कस्ते दृष्टान्तः ? न चास्त्यनुदाहृतो वादः ।

व्याप्ते (:) न ग्रहणमिति चेत्, स्यान्मतम्—अकार्यकारणभूतं द्रव्यं सत्यपि सम्बन्धे न द्रव्यान्तरं व्यश्नुते इत्यतो भेदेन गृह्यते । तन्तुपटयोस्तु कार्यकारणभूतत्वाद् व्याप्तिः, तस्मान्नास्ति भेदेन ग्रहणमिति । एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? साध्यत्वात् । सत्यर्थान्तरभावेऽवयविद्रव्यान्तरवत् कार्यकारणभावः साध्यः समवायश्च । अत इयं व्याप्तिः स्यात् । सा चाप्रसिद्धा इत्यतो न सम्यगेतत् ।

वेमादिवत् इति चेत्, स्यादेतत्—यथा सत्यर्थान्तरभावे वेमादयोऽवयविनः कारणम् एवं तन्तवोऽपि । एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? अनभ्यु-

---

और भी—अवयवी के अवयव से भिन्न होने पर भी समवायसम्बन्ध के कारण भेद की उपलब्धि नहीं होती है, इसमें दृष्टान्त का अभाव है। अर्थात् अल्प परिमाण वाले तन्तुओं की अपेक्षा महापरिमाण वाला पटात्मक अवयवी द्रव्य अपने से भिन्न तन्तुओं में स्थित होकर भी समवायसम्बन्ध के कारण उन तन्तुओं से भिन्नरूप में नहीं उपलब्ध होता है—इस विषय में दृष्टान्त पूछे जाने पर तुम्हारा क्या दृष्टान्त होगा ? क्योंकि उदाहरण (दृष्टान्त) के बिना वादकथा नहीं चलती है।

तन्तु और पट में व्याप्तिसम्बन्ध होने के कारण भेद का ग्रहण नहीं होता है। अर्थात् जो द्रव्य कार्यकारणभाव से रहित है, वह द्रव्य सम्बन्ध होने पर भी द्रव्यान्तर को व्याप्त नहीं करता; इसलिये वहाँ पर उन दोनों द्रव्यों में भेद का ग्रहण होता है। जैसे—देह पर रखे हुए पट का देह के साथ सम्बन्ध होने पर भी व्याप्ति नहीं होने से देह और पट में भेद विदित होता है। किन्तु तन्तु और पट में कार्यकारणभाव होने से व्याप्ति है। इसीलिए तन्तु और पट का भिन्नरूप में ग्रहण नहीं होता है।

किन्तु इस प्रकार का कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि तन्तु एवं पट का कार्यकारणभाव असिद्ध है। कारण, अवयव तथा अवयवी में भेद सिद्ध होने पर ही अन्य अवयवी द्रव्य के समान कार्यकारणभाव सिद्ध किया जा सकता है। ऐसे ही अवयव और अवयवी में भेद होने पर ही समवाय भी सिद्ध हो सकता है।

शंका— वेमा आदि के समान तन्तु-पट में भी कार्यकारणभाव हो सकता है। अर्थात् जैसे भेद होने पर वेमा आदि पटरूप अवयवी का कारण होता है, वैसे ही

गमात् ! करणं वेमादयः पटस्य न कारणमित्ययमभ्युपगमो नः । तस्मात् विषमोऽयं दृष्टान्तः ।

किञ्चान्यत्—तद्वदव्याप्तिप्रसङ्गात् । वेमादिवदर्थान्तरं पटात् तन्तव इत्येवं ब्रुवतस्तद्वदव्याप्तिप्रसङ्गः ।

किञ्चान्यत्—स्पर्शक्रियामूर्तिगुरुत्वान्तरवतस्तद्वति प्रतीघातादिति । इह स्पर्शान्तरवति स्पर्शान्तरवतः प्रतिघातो दृष्टः, तद्यथा घटस्याश्मनि । स्पर्शान्तरवांश्च ते पटस्तन्तुभ्य इत्यतोऽस्य तद्व्यापित्वमयुक्तम् ।

एवं च क्रियादयो वक्तव्याः । तस्माद् युक्तमेतत्, भेदानां ग्रहणान्नावयवी द्रव्यान्तरमिति ।

भिन्न होकर तन्तु पट का कारण हो सकता है । अतः अवयव-अवयवी का भेद होने पर ही परस्पर कार्यकारणभाव होने में कोई बाधा नहीं है ।

उत्तर— उक्त कथन ठीक नही है क्योंकि वैसा माना नहीं गया है । अर्थात् वेमा आदि पट के करण हैं, न कि कारण हैं । ऐसी आपकी मान्यता है । अतः वेमा का दृष्टान्त देना उचित नहीं है ।

और भी, वेमादि के समान व्याप्ति का अभाव भी होने लगेगा । अर्थात जैसे पट से वेमादि भिन्न वस्तु है; इसलिए पट में और वेमादि में व्याप्ति का अभाव रहता है, वैसे ही पट से तन्तु भिन्न है—ऐसा मानने वाले असत्कार्यवादी के यहाँ पट और तन्तु में भी व्याप्ति का अभाव होने लगेगा ।

और भो, भिन्न स्पर्श-क्रिया-मूर्ति-गुरुत्व वाले पदार्थ का भिन्न स्पर्शादि से युक्त पदार्थ में प्रतिघात होता है । अर्थात् यहाँ भिन्न-स्पर्श से युक्त पदार्थ में भिन्न स्पर्श वाले पदार्थ का प्रतिघात देखा गया है, जैसे—घट का पत्थर में । किन्तु आप के मतानुसार भिन्न स्पर्श वाले पट से तन्तु भिन्न स्पर्श वाले होते हैं, ऐसी स्थिति में पट का तन्तु के साथ वैसे ही प्रतिघात होगा, जैसा घट का पत्थर के साथ होता है । ऐसी स्थिति में पट की तन्तुओं में देखी गयी व्याप्ति नहीं बन सकेगो ।

इसी प्रकार क्रिया मूर्ति आदि के बारे में भी समझना चाहिये । अर्थात् भिन्न क्रियादि से युक्त पदार्थ का भिन्न क्रियादि से युक्त पदार्थ के साथ प्रतिघात देखे जाने से भिन्न क्रियादि वाले पट का भिन्न क्रियादि वाले तन्तुओं के साथ प्रतिघात होने से उनमें व्याप्ति नहीं बनेगो अतः सत्कार्यवादी का यह कथन युक्त है कि अवयव अवयवी में भेद का ग्रहण होने पर भी अर्थात् अवयव-अवयवो का भेद मानने पर भो अवयव से अतिरिक्त द्रव्य अवयवी सिद्ध नहीं होता है ।

इतश्च नावयवी द्रव्यान्तरम्, कृत्स्नैकदेशवृत्त्यनुपपत्तेः। स ह्यवयवेषु वर्तमानः कृत्स्नेषु वा वर्तते प्रत्यवयवं वा ? किं चातः ? तन्न तावत् कृत्स्नेषु वर्तते। कस्मात् ? एकदेशग्रहणे ग्रहणाभावप्रसङ्गात्। यदनेकेषु वर्तते तस्य कृत्स्नाधारग्रहणे सति ग्रहणं दृष्टम्, तद्यथा द्वित्वादीनाम्। एवं च सति विषाणादिग्रहणे गोग्रहणप्रसङ्गः।

किञ्चावयवानवस्थाप्रसङ्गात्। स ह्यवयवान् व्याप्नुवंस्तद्व्यतिरेकेणावयवान्तराभावात् केन व्याप्नुयात् ? अवयवान्तराभ्युपगमे चानवस्थाप्रसंगः! कृत्स्नैकदेशवृत्तिप्रसङ्गश्च समानः। तस्मान्न सर्वेषु परिसमाप्यते। न प्रत्येकमनेकत्वप्रसङ्गात्। अनेकाधारपरिसमाप्तं ह्यनेकं रूपादि दृष्टमिति।

इस कारण से भी अवयवी अवयव से अतिरिक्त द्रव्य नहीं होता है, क्योंकि सम्पूर्ण या एकदेश में अवयवी की वृत्ति नहीं बन सकती है। कारण अवयवों में रहने वाला अवयवी द्रव्य समग्र अवयवों में एक साथ रहता है या प्रत्येक में रहता है ?

प्रश्न—इससे क्या हुआ ?

उत्तर—यहाँ समस्त अवयवों में अवयवी नहीं रह सकता; क्योंकि एकदेश का ग्रहण होने पर अवयवी का ग्रहण नहीं हो सकेगा। कारण, जो वस्तु अनेक में रहती है उसका ग्रहण समस्त आधार का ग्रहण होने पर ही देखा जाता है जैसे—द्वित्व त्रित्व आदि का। अर्थात् दो में रहने वाले द्वित्व का ग्रहण दोनों के ग्रहण पर ही होता है, एवं तीन में रहने वाले त्रित्व का ग्रहण तीनों का ग्रहण होने पर ही होता है। ऐसी स्थिति में विषाण आदि समस्त अवयवों के ग्रहण होने पर ही गौ का ग्रहण होना चाहिए; किन्तु ऐसा देखा जाता है कि गौ के एक भाग का ग्रहण होने पर भी गौ की प्रतीति हो जाती है।

एवं, अवयवों की अनवस्था भी होने लगेगी; क्योंकि वह अवयवी समस्त अवयवों को व्याप्त करता हुआ किसके द्वारा व्याप्त करेगा। कारण, उन अवयवों से अतिरिक्त अवयव होता नहीं है। यदि तन्तुओं में पट के व्याप्त होने के लिये अतिरिक्त अवयव माने जाँय, तो अनवस्था दोष हो जायेगा। एवं, उस अतिरिक्त अवयव में भी पुनः प्रश्न उठेगा कि समस्त अवयवों में पट की वृत्ति है या एक भाग में यदि वहाँ भी समस्त में पट की वृत्ति कहो तो पुनः पूर्वोक्त दोष उपस्थित हो जायेगा; इसलिए समस्त तन्तुओं में पट की व्याप्ति नहीं हो सकती है। यदि प्रत्येक तन्तु में पट का रहना मानो

किञ्चान्यत्—शास्त्रहानेः। प्रत्यवयवं परिसमाप्तोऽवयवीत्येतदि-च्छतो मूर्तिमताऽवयवेन समानदेशः स्यात्। ततश्च यच्छास्त्रं मूर्तिमताम-समानदेशत्वमिति—तस्य व्याघातोऽवयवपरिमाणं च प्राप्नोति। न महत्त्वादिपरिसमाप्तत्वादेकद्रव्यं च प्राप्नोति। ततश्च यच्छास्त्रं 'द्रव्य-मनेकद्रव्यमद्रव्यं वा' तस्य हानिरेतावती चास्य वृत्तिर्भवन्ती भवेत्। सर्वथा च दोषः। तस्मान्नावयवी द्रव्यान्तरम्।

अर्थान्तरावस्थानेऽर्थान्तरोत्पत्तिविनाशदर्शनादन्यत्वमिति चेत्, स्यादेतत्—विद्यमानेषु तन्तुषु पटो न भवति, संयोगलक्षणस्य कारणा-न्तरस्यानुत्पत्तेः। संयोगोत्तरकालं तु भवति। कारणसामग्र्या विद्यमानेष्वेव च तन्तुषु विनाशमुपयाति। विभागादर्थान्तरावस्थाने चार्थान्तरोत्पत्ति-विनाशौ दृष्टौ, तद्यथा हिमवदवस्थाने दवाग्नेः। तस्मादर्थान्तरं पटस्तन्तु-भ्य इति।

तो हरेक तन्तु में रहने वाला पट भी तन्तु के समान अनेक हो जायेगा। क्योंकि अनेक आधार में व्याप्त रूपस्पर्शादि अनेक देखे जाते हैं।

और भी दोष है—शास्त्र की हानि (व्याघात) हो जायगी। अर्थात् प्रत्येक अवयव में अवयवी व्याप्त होता है, ऐसा मानने वाले के यहाँ मूर्तिमान् अवयव और अवयवी का एक ही देश होने लगेगा। ऐसी स्थिति में यह जो शास्त्र है कि 'मूर्तिमान् द्रव्य समान देश वाले नहीं होते हैं' उसका व्याघात हो जायगा। साथ ही अवयव एवं अवयवी दोनों समान परिणाम के भी होने लगेंगे। ऐसी स्थिति में महत्त्वादि के साथ व्याप्त होने से अवयवी को जो एक द्रव्य माना जाता है, वह भी नहीं बन सकेगा। अतः यह जो शास्त्र कि द्रव्य या तो अनेक द्रव्याश्रित होगा या परमाणु आदि के समान अद्रव्य (द्रव्यानाश्रित) होगा, उस की हानि हो जायगी और यही इसकी (द्रव्य की) स्थिति हो जायगी। यहाँ दोनों ही स्थितियों में दोष है। अतः अवयवी अवयव से अतिरिक्त द्रव्य नहीं है।

शङ्का—दूसरे अर्थ के विद्यमान रहते दूसरे अर्थ की उत्पत्ति एवं विनाश देखा जाता है, इसलिये उन दोनों अर्थों में भेद है। भाव यह है—तन्तुओं के विद्यमान रहते ही पट का अभाव रहता है। क्योंकि तन्तुओं का संयोगरूप जो पट का दूसरा कारण है, वह अभी उत्पन्न नहीं है। संयोग हो जाने पर तो यह हो जाता है। एवं विनाश का कारणभूत सामग्री हो जाने पर तन्तुओं के रहते ही पट विनाश को प्राप्त हो जाता

एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? साध्यत्वात् । साध्यं तावदेतत्—किमन्नार्थान्तरमुत्पद्यते विनश्यति वा ? आहोस्वित् तन्तुष्वेव समवस्थानविशेषापेक्षस्य पटाभिधानस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती सेनावनवद् भवतः ? तस्मादेतदपि नावयविनो द्रव्यान्तरभावे लिङ्गम् ।

तत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्वसमासोपपत्तेरन्य इति चेत्, स्यान्मतम्—इहार्थान्तरत्वे सति तत्पुरुषो दृष्टः । तद्यथा राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इति । बहुव्रीहिश्च चित्रगुः शबलगुः । द्वन्द्वश्च प्लक्षन्यग्रोधाविति । अस्ति चेहापि तत्पुरुषस्तन्तूनां पटः । बहुव्रीहिश्च दृढतन्तुः शुक्लतन्तुः । द्वन्द्वश्च तन्तुपटाविति । तस्माच्चावयव्यर्थान्तरम् ।

है । क्योंकि विभाग (भेद) होने के कारण दूसरे पदार्थ के रहते ही दूसरे पदार्थ को उत्पत्ति और विनाश देखे गये हैं, जैसे हिमालय के विद्यमान रहते ही उसमें उत्पन्न दवाग्नि का विनाश हो जाता है । अतः तन्तुओं से पट द्रव्य भिन्न है ।

समाधान— उक्त कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि वह भी साध्य कोटि में ही है । अर्थात् यह बात भी सिद्ध हो करनी है कि तन्तुओं से भिन्न पट उत्पन्न होता है या नष्ट होता है । अथवा तन्तुओं में ही आतान-वितानरूप विशेष की अपेक्षा रखने वाले पटनामक वस्तु की भी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है । जैसे—सैनिकों से अतिरिक्त सेना नहीं होती एवं वृक्षों से अतिरिक्त वन भी नहीं होता, किन्तु विशेषरूप से सज्जित सैनिक ही सेना है, और वृक्ष ही वन के नाम से कहे जाते हैं । इसलिये यह भी अवयव से अतिरिक्त पट अवयवी के होने में प्रमाण नहीं है ।

शङ्का—तन्तु और पटशब्द के साथ तत्पुरुष बहुव्रीहि और द्वन्द्वसमास का व्यवहार होने से अवयव से अवयवी अतिरिक्त है । अर्थात् यहाँ यह माना जाय कि भेद होने पर ही तत्पुरुष समास देखा गया है, जैसे—'राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः' यहाँ पर । एवं भेद में ही बहुव्रीहि समास भी देखा गया है, जैसे—चित्रगु-शबलगु इत्यादि में । अर्थात् चित्र है गौ जिसकी ऐसा व्यक्ति या शबल है गौ जिसकी ऐसा व्यक्ति । यहाँ गौ और पुरुष भिन्न हैं । एवं भेद में ही द्वन्द्वसमास भी होता है, जैसे—'प्लक्षन्यग्रोधौ' यहाँ पर । वैसे ही तन्तु और पटशब्द में भी तत्पुरुषसमास होता है, जैसे—'तन्तूनां पटः तन्तुपटः' यहाँ पर । बहुव्रीहि भी होता है—'दृढास्तन्तवो यस्य स दृढतन्तुः पटः तथा शुक्लास्तन्तवो यस्य स शुक्लतन्तुः पटः' यहाँ पर । एवं द्वन्द्वसमास भी होता है, जैसे—'तन्तुश्च पटश्च तन्तुपटौ' यहाँ पर । इस प्रकार तन्तु और पट शब्द में भेदमूलक तत्पुरुष बहुव्रीहि और द्वन्द्व समास के होने से सिद्ध है कि अवयव से अवयवी भिन्न है ।

एतच्चायुक्तम्, कस्मात् ? अनेकान्तात् । अनन्यत्वेऽपि हि तत्पुरुषो दृष्टः तद्यथा—'सेनागजः, काननवृक्षः इति । बहुव्रीहिश्च-वीरपुरुषा मत्तगजा सेना इति । द्वन्द्वस्तु यदि स्यात् सत्यमेवार्थान्तरमवयवी स्यात् । न तु कश्चित् पटावस्थायामेवं प्रयुङ्क्ते—तन्तुपटावानयेति । तस्मान्मनोरथमात्रमेतत् ।

एतेन समाख्यासामर्थ्यभेदाः प्रत्युक्ताः । ते चापि चानर्थान्तरत्वे सति सेनादिषु दृष्टाः । तस्मान्नाऽवयवो द्रव्यान्तरम् । द्रव्यान्तरभूतस्याऽवयविनो निष्पत्तिप्रतिज्ञानात् सत्कार्यमित्येतदयुक्तम् (इति) । न,

---

समाधान—उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार दोष है। कारण, अभेद में भी तत्पुरुषसमास देखा गया है। जैसे—सेनागजः काननवृक्षः इत्यादि स्थल में। यहाँ सेना और गज कानन और वृक्ष में अभेद विवक्षित है। ऐसे ही बहुव्रीहि समास भी अभेद में भी देखा गया है। जैसे 'वीरपुरुषा सेना' मत्तगजा सेना इत्यादि स्थल में। यहाँ पर भी वीरपुरुषों से अतिरिक्त सेना नहीं है और मत्त गजों से अतिरिक्त सेना नहीं है। इस प्रकार बहुव्रीहि में भी अभेद विवक्षित है। यदि तन्तु और पट में द्वन्द्वसमास होता तो यह सत्य था कि अवयवी अवयव से भिन्न है। किन्तु तन्तु और पट में द्वन्द्व होता ही नहीं; क्योंकि कोई भी व्यक्ति पट की अवस्था में ऐसा प्रयोग नहीं करता है कि तन्तु और पट को लाओ, बल्कि केवल पट लाने को ही कहता है। अतः तत्पुरुष बहुव्रीहि और द्वन्द्व समास के कारण तन्तु और पट को भिन्न मानना मनोरथ मात्रा है।

इस रीति से समाख्याभेद और सामर्थ्यभेद भी खण्डित हो जाता। अर्थात् तन्तु के लिये पट संज्ञा का प्रयोग नहीं होता है और पट के लिये तन्तु संज्ञा का प्रयोग नही होता है। ऐसे ही पट में आवरण सामर्थ्य है किन्तु तन्तु में नहीं होता। इस प्रकार समाख्याभेद से और सामर्थ्यभेद से तन्तु से पट भिन्न है यह कथन ठीक नही है। क्योंकि अभेद में भी समाख्या का तथा सामर्थ्य का भेद देखा जाता है। जैसे सैनिक और सेना दोनों अभिन्न है, ऐसे ही वृक्ष और कानन दोनों अभिन्न है। फिर भी इन स्थलों में संज्ञाभेद और सामर्थ्यभेद होता है। क्योंकि पृथक् पृथक् वृक्षों के लिये वृक्षसंज्ञा का प्रयोग होता है तथा समुदितरूप में काननसंज्ञा का प्रयोग होता है। ऐसे ही पृथक्-पृथक्रूप से सैनिकसंज्ञा का प्रयोग है और समुदितरूप में सेनाशब्द का प्रयोग होना है। यह बात तन्तु और पट के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। अतः अवयवी अवयव से अतिरिक्त द्रव्य नहीं है।

[1]सन्निवेशविशेषमात्रत्वात्। यत्पुनरेतदुक्तमनुपलब्धेरसत्कार्यमिति, अत्र ब्रूमः—एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? संशयकारणत्वात्। स च सद्विषयाऽनुपलब्धिः। इत्येतस्मादेव हेतोस्सांशयिका वयम्। तामेव तु निश्चयार्थमवलम्बमानो न युक्तिमार्गमनुयाति।

यत् पुनरेतदुक्तं कारणान्तरानभिधानादिति—एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? अभिप्रायानवबोधात्। यो हि यथा कुण्डे बदराण्यर्थान्तरभूतान्याहितानि तथा कारणे कार्यमस्तीत्येतदाचष्टे, तं प्रत्ययमुपालम्भः स्यात्। वयं तु अनेकशक्तिधर्मिणः सहकारिशक्त्यन्तरानुगृहीतस्य पूर्वस्याः शक्तेस्तिरोभावमुत्तरस्याश्चाविर्भावमुपदधानाः कारणमेव कार्यमनुमन्यामहे। तयोस्तु शक्त्योर्युगपदग्रहणम्, इतरेतरप्रतिबन्धहेतुत्वात्।

तन्तु से अतिरिक्त पट की उत्पत्ति करने की प्रतिज्ञा कुविन्द करता है। इस लिये सत्कार्यवाद नहीं हो सकता; यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सन्निवेशविशेषमात्र ही पट का उत्पत्ति है अतिरिक्त नहीं है। यहाँ जो कहा कि उत्पत्ति के पूर्व पट की उपलब्धि नहीं होने से असत्कार्य है। इस पर हमारा कहना है कि यह भी युक्ति ठीक नहीं है। क्योंकि अनुपलब्धि होना संशय का कारण हो सकता है, न कि अभाव का निश्चायक होता है और वर्तमान विषय की अनुपलब्धि ही संशय है। इसी कारण हम सांख्यवादी सांशयिक हैं। इसीलिये जो व्यक्ति निश्चय के लिये अनुपलब्धि का अवलम्बन करता है, वह युक्तिमार्ग का अनुयायी नहीं है। अर्थात् अनुपलब्धि से अभाव का निश्चय करना युक्तिविरुद्ध है। अतः उत्पत्ति के पूर्व अनुपलब्धि के कारण कार्य को असत् कहना युक्तिविरुद्ध है।

और यह जो कहा कि 'अतिदूरत्व आदि से अतिरिक्त कोई अनुपलब्धि का कारण कहा नहीं है और अतिदूरत्व आदि अनुपलब्धिकारण पट के सम्बन्ध में सम्भव नहीं है। अतः असत् कार्य की सिद्धि हो जायेगी, यह भी अनुपपन्न है; क्योंकि हमारा (सत्कार्यवादी का) अभिप्राय आप नहीं समझ रहे हैं। क्योंकि कुण्ड में रखे गये अर्थान्तरभूत बदर (बेर) के समान जो यह कह सकता है कि कारण में कार्य रहता है, उसके प्रति यह उपालम्भ (आक्षेप) दिया जा सकता है कि यदि उत्पत्ति के पूर्व भी तन्तुओं में पट सत् है तो उसकी अनुपलब्धि का कारण बताना चाहिये।

---

१. अत्र मुद्रितग्रन्थपाठो विश्रृङ्खल इवास्ति।

वस्त्रस्यायामविस्तारवत्, कूर्माङ्गमिव[च]द्रष्टव्यम् । यथा वस्त्रस्योपसंहारप्रतिबन्धादायामविस्तारौ न ग्रहणविषयतां प्रतिपद्येते, सत्तां वा न जिहीतः कूर्मस्येवचाङ्गानि, तथा तन्त्वादीनामपि भावानां कारणाभिमता कार्याभिमता चावस्था क्रमेण वा स्थिरश्च भवत् (स्थिरा च भवति) तन्निमित्तस्तद् ग्रहणाग्रहणविकल्पः । एतेन कारणग्रहणं प्रत्युक्तम् ।

यदप्युक्तं प्रमाणान्तरनिवृत्तिप्रसंगादिति, सत्यमेतत् । यत्तूक्तं क्रियागुणव्यपदेशासम्भवादनुमानाभाव इति तदनुपपन्नम् । कस्मात् ? पृथक्त्वा-

---

किन्तु हम तो यह मानते हैं कि धर्मी में अनेक प्रकार की शक्ति होती है । अतः धर्मी को जब किसी अन्य सहकारी शक्ति का अनुग्रह प्राप्त होता है, तब उसको पूर्व शक्ति का तिरोभाव हो जाता है । और उत्तर शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। इस प्रकार उत्तर शक्ति के आविर्भाव को प्राप्त कारण ही कार्य है । अतः कारण में कार्य की अनुपलब्धि का कारण बताने का प्रश्न ही नहीं है ।

एवं, उन पूर्वापर शक्तियों का एक साथ ग्रहण नहीं होता है; क्योंकि एक शक्ति दूसरी शक्ति का प्रतिबन्धक हो जाती है । सांख्यमत में कार्य और कारण को वस्त्र के आयाम और विस्तार के समान तथा संकोच विकास शाली कछुए के अङ्ग के समान समझना चाहिये । अर्थात् जैसे वस्त्र के संकोच से बाधित होकर उसके आयाम और विस्तार नहीं गृहीत हो पाते हैं और न अपनी सत्ता को ही खो देते हैं । कछुये के अङ्ग भीतर घुसकर अदृश्य हो जाते हैं, फिर भी उनका अस्तित्व नहीं समाप्त हो जाता है । वैसे ही तन्तु आदि भावों की कारण के रूप में और कार्य के रूप में अवस्थायें होती हैं, और वह अवस्था क्रमशः होती है अथवा स्थिररूप में होती है । एवं उस कारणावस्था और कार्यावस्था के कारण ही पटादिकार्य का ग्रहण या अग्रहण होता है ।

इससे कार्य के लिये पृथक् कारण का ग्रहण करना खण्डित हो गया । अर्थात् सांख्यमत में किसी कार्य के प्रति कोई कारण अपेक्षित नहीं है, किन्तु भाव वस्तु ही अवस्था विशेष में कारणशब्द से और अवस्थाविशेष में कार्यशब्द से व्यवहृत होता है ।

यह जो मैंने कहा है कि प्रत्यक्ष विषय ही यदि सत्य हो तो अनुमानादि प्रमाणों का अभाव हो जायेगा यह हमारा कथन सत्य ही है । इस पर प्रतिवादी ने जो यह कहा कि 'क्रिया गुण और व्यपदेश के सम्भव नहीं होने से उत्पत्ति के पूर्व पटादि कार्य की सत्ता का अनुमान नहीं हो सकता है । अर्थात जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता उसका ज्ञान क्रिया से होता है । जैसे—तृण के उड़ने से वायु का अनुमान होता है । अथवा गुण से होता है । जैसे गन्ध से मालती पुष्प की सत्ता का अनुमान बिना देखे भी हो

ऽनभ्युपगमात् । कार्यकारणपृथक्त्ववादिनस्तत्क्रियागुणानां पृथक्त्व-मनुमातुं युक्तमित्यतस्त(न्त्व)वस्थाने पटक्रियागुणग्रहणादनुमानाभाव इत्ययमुपालम्भः सावकाशःस्यात् । अस्माकन्तु कारणमात्रस्यैव संघाता-दाकारान्तरपरिग्रहाद् वा क्रियागुणानां प्रचितिर्व्यक्तिविशेषो भवतीति ब्रुव-तामदोषः ।

व्यपदेशस्तु कार्यकारणपर्यायः । सोऽयुक्तः । कस्मात् ? अनेका-न्तात् । द्रव्यगुणकर्मत्वादीनां क्रियागुणकार्यकारणभावोऽथ च सत्त्व-मिष्यते ? अथ लिङ्गपर्यायः, न तर्हि वयं पर्यनुयोज्या व्यपदेशाभावाद-सत्कार्यमिति । किं कारणम् ? प्रकरणात् । विप्रत्तिपत्तौ हि सत्यां लिङ्गतः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य समधिगमं करिष्याम इति प्रकृतमेवैतत् ।

जाता है। एवं व्यपदेश अर्थात् कार्य के द्वारा भी अदृश्य वस्तु का अनुमान हो जाता है। जैसे—रूप स्पर्शादि के ज्ञानरूप कार्य से चक्षुरादि इन्द्रियों का अनुमान होता है। प्रतिवादी का उक्त कथन अनुपन्न है क्योंकि कार्य और कारण में हम पृथकत्व नहीं मानते अर्थात् जो व्यक्ति कार्य ओर कारण में पृथक्त्व मानता है उसी के यहाँ कारण-गत क्रिया और गुणों से कार्यगत किया गुणों का पृथक्त्व सिद्ध किया जा सकता है।

इसलिये तन्तु की अवस्था में पटगत क्रिया गुण का ग्रहणरूप लिङ्ग से पट का अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि तन्तु-अवस्था में पटगत न कोई क्रिया है और न कोई गुण है। किन्तु इस प्रकार के आक्षेप का अवसर कार्य-कारण को पृथक् मानने वाले के प्रति ही हो सकता है, हमारे मत में तो तन्त्वादि कारण में ही संघात के द्वारा या आकारान्तर ग्रहण के द्वारा क्रिया और गुणों की वृद्धिरूपी अभिव्यक्तिविशेष होता है। ऐसा कहने में कोई दोप नहीं है। अर्थात् तन्तु की अवस्था में पटसत्ता का अनुमान करने के लिये पृथक् क्रियागुणरूप लिङ्ग की अपेक्षा हम नहीं मानते हैं।

एवं, व्यपदेश का अर्थ यदि कार्यकारणभाव है, तो भी उक्त आक्षेप अयुक्त हैं। क्योंकि उसमें व्यभिचार दोष है। कारण, द्रव्य-गुण और कर्म आदि से द्रव्य और क्रिया-गुण का परस्पर कार्यकारणभाव है, फिर भी द्रव्य में क्रिया और गुण सत् माने जाते हैं, असत् नहीं।

व्यपदेशशब्द यदि लिङ्ग का पर्याय हो तो हमारे प्रति यह नहीं कहा जा सकता है कि व्यपदेश का अभाव होने से उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् होता है। क्योंकि यहाँ कार्य को सत् सिद्ध करने का प्रकरण है। अर्थात् विप्रतिपत्ति होने पर लिङ्ग द्वारा उत्पत्ति के पूर्व भी सत्ता सिद्ध करेंगे, यह तो प्रकृत ही है।

अनैकान्तिकत्वं च समानम् । निष्पत्त्यनन्तरं द्रव्यस्यास्तित्वाभ्युपगमादगुणवतो द्रव्यस्य गुणारम्भः । कर्मगुणा अगुणाः इति वचनादुत्पन्नमात्रं द्रव्यं निष्क्रियं निर्गुणमवतिष्ठते इति वः पक्षः । न चास्य तथाभूतस्य लिङ्गमस्ति । अथ चास्तित्वं भवद्भिरभ्युपगम्यते । सिद्धेर्ग्रहणात्सद्भाव इति चेन्न, सर्वविवादसिद्धिप्रसङ्गात् । दृष्टान्तविरुद्धमर्थं प्रतिज्ञाय [प्रतिषिध्यमानेन सिद्धबुद्धिविषयता स्मर्तव्येत्येतस्यां] कल्पनायां सर्वविवादसिद्धिप्रसंगः स्यात् । किञ्चान्यत्—प्रतिपक्षे समानत्वात् । अस्मत्पक्षेऽपि तर्हि भगवत्पञ्चशिखादीनां प्रत्यक्षत्वात्सत्कार्यमभ्युपगन्तव्यम् । तस्मान्न क्रियागुणव्यपदेशासंम्भवादसत्कार्यम् ।

यत्पुनरेतदुक्तम्—कर्तृप्रयाससाफल्यादसत्कार्यमिति, अत्र ब्रूमः-एतदप्ययुक्तम् । कस्मात्—

'असदकरणात्' ।

एवं व्यभिचार भी समानरूप से है; क्योंकि उत्पत्ति के अनन्तर द्रव्य का अस्तित्व आप मानते हैं और उत्पत्ति काल में द्रव्य गुणरहित होता है और उत्पत्ति के दूसरे क्षण में उसमें गुण का आरम्भ होता है। कर्म और गुण निर्गुण होते हैं यह वचन है तथा उत्पन्नमात्र द्रव्य निष्क्रिय और निर्गुण रहता है, यह आपका पक्ष है। किन्तु इस पक्ष में कोई लिङ्ग नहीं है। फिर भी उत्पत्ति काल में गुणरहित द्रव्य का अस्तित्व तथा कर्म और गुण का निर्गुणत्व आप स्वीकार करते हैं।

यदि कहें कि वैसा सिद्ध होने के कारण निर्गुण द्रव्यादि का अस्तित्व है, तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि वैसा होने पर सभी विवादास्पद विषयों की सिद्धि होने लगेगी। अर्थात् दृष्टान्त से विरुद्ध अर्थ की प्रतिज्ञा करके प्रतिषिध्यमान वस्तु को सिद्ध-बुद्धि का विषय माना जाय तो दृष्टान्तविरुद्ध सभी विवादास्पद विषयों की सिद्धि होने लगेगी।

सत्कार्यवाद में और भी युक्ति है। जैसे—असत्कार्यपक्ष के समान ही सत्कार्यपक्ष में भी प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्थात् जैसे उत्पत्ति के पूर्व आप को पटादि कार्य का असत्त्व प्रत्यक्ष है, वैसे ही हमारे पक्ष में भी भगवान् पञ्चशिखाचार्यप्रभृति को उत्पत्ति के पूर्व पटादि कार्य का सत्त्व प्रत्यक्ष होने से सत्कार्यवाद स्वीकार करना चाहिए। अतः क्रिया गुण और व्यपदेश का अभाव होने से कार्य असत् है, यह नहीं कह सकते।

यह जो कहा था कि सत्कार्यपक्ष में कर्ता का प्रयास निष्फल हो जायेगा; अतः असत्कार्यपक्ष ठीक है—उस पर हमारा कहना है कि यह तर्क भी अयुक्त है। क्योंकि

यद्युभयपक्षप्रसिद्धस्यासतः क्रियायोगः स्यात्, अत एतद्युज्यते वक्तुम् 'कार्ये सति कर्तुः प्रयासोऽनर्थक' इति। तत्त्वसतः करणमनुपपन्नम्। तस्मादयुक्तमेतत्।

हेत्वनभिधानादसिद्धिरिति चेत्, स्यादेतत्—यथा निष्पन्नत्वान्मध्वादीनां धारणसमर्थो घटो न क्रियत इत्ययमपदिष्टा हेतुरस्माभिः, एवमित्थं कार्यस्यासतः करणं नोपपन्नमिति नोक्तं भवता। तस्मादसिद्धिरिति।

एतच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? सत्यसति वा सम्बन्धे दोषप्रसङ्गात्। तद्धि क्रियमाणं सति वा सम्बन्धे कारकैः क्रियतेऽसति वा? सम्बन्धश्चास्य भवन्प्रवृत्तिकाले वा कारणानां स्यात् निष्पत्तिकाले वा? किं चातः? तन्न तावत्प्रवृत्तिकाले सम्बन्धो युक्तः। कस्मात्? अद्रव्य-

---

यदि कार्य असत् हो तो कथमपि उसे किया नहीं जा सकता है। अर्थात् यदि जो उभय पक्ष में असत् के रूप में प्रसिद्ध है, उसमें क्रिया का योग होता तो यह कहना युक्त होता कि कार्य के रहते कर्ता का प्रयास निरर्थक है। किन्तु असद् वस्तु का करना या उसमें क्रिया का योग अनुपपन्न है। अतः उक्त आक्षेप ठीक नहीं है।

शङ्का—हेतु का कथन नहीं करने से आप के पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थात् जैसे—पहले से निष्पन्न होने के कारण मधु आदि द्रव्यों को धारण में समर्थ घट की उत्पत्ति नहीं की जाती है। ऐसे ही कार्य यदि असत् है तो उसका किया जाना अनुपपन्न हैं, इसमें आप ने हेतु नहीं कहा। इसीलिये आप का कथन कि कार्य पहले से सत् है—असिद्ध है।

समाधान— यह कथन भी अनुपपन्न है; क्योंकि असत्कार्यपक्ष में कारण के साथ सम्बन्ध को सत् या असत् मानने में दोष की प्रसक्ति हो जाती है। अर्थात् उत्पन्न किया जाता हुआ कार्य कारकों से सम्बन्ध होने पर किया जाता है? अथवा विना सम्बन्ध हुए? यदि सम्बन्धपक्ष लो तो वह सम्बन्ध कारणों की प्रवृत्ति के काल में होता है? अथवा घटादि कार्य की निष्पत्ति के काल में होता है?

प्रश्न— इस विकल्प से क्या हुआ?

उत्तर— प्रवृत्ति काल में सम्बन्ध होना असंभव है। क्योंकि कर्ता आदि की प्रवृत्ति के काल में आपका पटादि कार्य शशविषाण के तुल्य अवस्तुभूत है। कारण, उस समय उस कार्य में क्रिया गुण और व्यपदेश (प्रयोजनसिद्धि) का अभाव होने से

त्वात् । प्रवृत्तिकाले कर्त्रादीनां क्रियागुणव्यपदेशाभावादवस्तुभूतं शशविषाणस्थानीयं वः कार्यम् । न चास्ति तथाभूतस्य वस्तुभूतेन सम्बन्धः ।

अथ निष्पत्तिकालेऽभिसम्बध्यते, यदुक्तं 'सतो निष्पन्नत्वात् क्रियानुत्पत्तिरिति' तस्य व्याघातः । अथ मतम्—असत्यपि सम्बन्धे निष्पत्तिर्भवतीति, तेन कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गः । प्रागपि कारकोपादानात् कार्यनिष्पत्तिप्रसङ्ग इति । उक्तं च—

असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारकैः सत्त्वसङ्गिभिः ।
असम्बन्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥ इति ॥

आह—ननु च मध्यमे काले कर्त्रादिभिः कार्यं क्रियते । कः पुनरसौ मध्यमः काल इति ? आह—

वह खरहे की सींग की तरह अलीक है । अतः उस प्रकार के अलीकभूत पटादिकार्य का वस्तुभूत (वास्तविक) कारकचक्र के साथ सम्बन्ध हो नहीं सकता है ।

यदि कहो कि कार्य का जो निष्पत्तिकाल है, उसी काल में कारकों का कार्य के साथ सम्बन्ध होता है, तो आपने जो कहा था कि जो वस्तु निष्पन्न है, उसमें क्रिया नहीं उत्पन्न हो सकती—उसका व्याघात हो जायगा । अर्थात् एक तरफ यह कहना कि निष्पन्न में क्रिया नहीं हो सकती और दूसरी तरफ निष्पत्ति काल में पटादि कार्य के साथ कारकों का सम्बन्ध मानना परस्पर विरोधी वचन है । यदि यह मानें कि कारकों के साथ सम्बन्ध नहीं होने पर भी पटादि कार्य की निष्पत्ति होती है, तो फिर कारकों का व्यापार व्यर्थ होने लगेगा । अर्थात् चक्र-कुलाल आदि निरर्थक हो जायेंगे । तथा कारकों की उपस्थिति के पहले भी पटादि कार्य की निष्पत्ति होगे लगेगी । कहा भी गया है—

असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारकैः सत्त्वसङ्गिभिः ।
असम्बन्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥

अर्थात् कारक व्यापार के पहले कार्य यदि असत् हो तो सत्त्वयुक्त कारकों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता । यदि कहें कि विना सम्बन्ध के ही कुलालादि द्वारा घट की उत्पत्ति हो जायगी तो कोई व्यवस्था नहीं रह जायगी । अर्थात् कार्य के साथ कारक का सम्बन्ध नहीं मानने पर किसी भी कारक से कोई भी कार्य निष्पन्न होने लगेगा ।

पूर्वपक्षी— कर्ता आदि कारकों से मध्यम काल में कार्य उत्पन्न होता है ।

आरम्भाय प्रसृता यस्मिन् काले भवन्ति कर्तारः ।
कार्यस्यानिष्पादात्तं मध्यमं कालमिच्छन्ति ॥ इति ॥

यदा हेतवः प्रवृत्तारम्भाः भवन्त्युद्दिश्य कार्यं, न च तावन्नैमित्तिकस्यात्मलाभः संवर्तते, स मध्यमः कालः । तस्मिन् क्रियते कारकैः कार्यमिति ।

उच्यते—न, अवस्थान्तरानुपपत्तेः । [प्राङ्निष्पत्तेरसत्ता निष्पन्नस्य सत्तेत्यवस्थाद्वयम् । सदसद्रूपा चावस्था नास्ति यो मध्यमः स्यात् ।] अतो न युक्तमेतदिति । किञ्चान्यत्—पूर्वदोषापरिहाराद्उद्दिश्य कार्यं तस्यात्मनो लाभात्केन सह सम्बन्ध इति ? तत्राप्ययं पर्यनुयोगो नैव निवर्तत इति । तस्माच्चित्रमपि वाक्यं प्रसार्य न किञ्चित्परिहृतं भवता । तस्माद् युक्तमेतत्—सत्यसति वा सम्बन्धे दोषप्रसंगादसन्न क्रियत इति ।

प्रश्न— वह मध्यम काल कौन है ?

उत्तर—

आरम्भाय प्रसृता यस्मिन् काले भवन्ति कर्तारः ।
कार्यस्यानिष्पादात् तं मध्यमं कालमिच्छन्ति ॥

अर्थात् हेतु जब कार्य को उद्देश्य करके उसकी उत्पत्ति में प्रवृत्त हो जाते हैं; किन्तु तब तक कार्य अपने स्वरूप में नहीं रहता है । यही मध्यम काल है । और उसी काल में कारकों के द्वारा कार्य उत्पन्न किया जाता है, न पहले न बाद में ।

सिद्धान्ती—नैयायिक का उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि कार्य की मध्यम-नामक कोई भिन्न अवस्था नहीं बन सकती है । कारण, उत्पत्ति के पहले कार्य की असत्ता रहती है और उत्पत्ति के अनन्तर सत्ता होती है । इस प्रकार असत्ता और सत्ता दो ही अवस्था होती है । इससे अतिरिक्त सत् और असत् उभयरूप कोई अवस्था नहीं होती, जिसे मध्यम काल कहा जाय । अतः उक्त कथन ठीक नहीं है । एवं पूर्व दोष का परिहार भी नहीं होता है । क्योंकि कार्य को उद्देश्य करके ही कारक का स्वरूपलाभ होता है । ऐसी स्थिति में उत्पत्ति के पूर्व कार्य के असत् होने से किसके साथ कारकों का सम्बन्ध होगा ? और सम्बन्ध नहीं होने पर वह कारक कैसे कहायेगा ? अतः इस दोष की निवृत्ति अभी भी नहीं हो रही है । इस प्रकार विचित्र वाग्जाल को फैला करके भी आपने शङ्का का परिहार नहीं किया । अतः मेरा यह कथन ठीक है

यस्य पुनः सत्कार्यम्, तस्य दोषो नास्ति। कस्मात्—

उपादानग्रहणात्:' ।

उपादानमिति कारणं तन्त्वाद्याचक्ष्महे। तद्धि तस्य कारकैर्गृह्यते अभिसम्बध्यत इत्यर्थः। तस्माच्च नार्थान्तरं कार्यम् इत्यतः कारणेनाभिसम्बद्धानां कारकाणां कार्येणैव सम्बन्धो भवतीत्यदोषः।

आह—ननु च यस्यापि सत्कार्यं तस्योपादानादर्थान्तरं तत्कार्यं स्यात्। कस्मात् ? कार्यार्थिभिरुपादानात्। यद्यदर्थमुपादीयते तत्तस्मादर्थान्तरं यथा वेमादिभ्यः पटः। [तन्तवश्च पटार्थिभिरुपादीयन्ते। तस्मात्तेभ्योऽप्यर्थान्तरं पट इति। एतेन सत्त्वं प्रत्युक्तम्। यद्यदर्थमुपादीयते तत्तस्मिन्नसत् यथा वेमादिषु पट इति]। उच्यते,—न, अवयविप्रतिषेधात्। प्रतिषिद्धस्तावदवयवी द्रव्यान्तरभूतस्तस्मादनुपपन्नार्थमेतत्।

कि कारकसमूह का कार्य के साथ सम्बन्ध या असम्बन्ध उभय पक्षों में दोष आ जाने से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

जिसके मत में सत् कार्य है, उसके यहाँ कोई दोष नहीं है। क्योंकि उपादान का ग्रहण माना गया है। उपादानशब्द से कारणभूत तन्तु आदि कहे जाते हैं। वह तन्तु आदि उसके कारकों से अर्थात् कुविन्द तुरी वेमा आदि कारकोंसे गृहीत होता है अर्थात् सम्बन्धित होता है और उस तन्तु से अतिरिक्त कार्य नहीं होता। अतः कारणभूत तन्तु के साथ हुआ कारकों का सम्बन्ध कार्य से ही सम्बन्धहुआ। इसलिये सांख्यमत में कोई दोष नहीं है।

प्रतिवादी—जिसके भी मत में कार्य सत् होता है, उसके यहाँ भी वह कार्य कारण से भिन्न है। क्योंकि पट कार्य के इच्छुक व्यक्ति के द्वारा तन्तु का ग्रहण होता है। जो जिसके लिये गृहीत होता है, वह उससे भिन्न होता है। जैसे वेमा आदि से पट भिन्न होता है; क्योंकि पट के लिये वेमा आदि का ग्रहण होता है। वैसे ही तन्तु भी पटार्थी के द्वारा पट के लिये गृहीत होते हैं, इसलिए तन्तुओं से पट भिन्न है—यह बात सिद्ध होती है। इस युक्ति से तन्तुदशा में पट की सत्ता भी खण्डित हो जाती है। क्योंकि जो जिसके लिये गृहीत होता है, उसमें वह असत् होता है। जैसे वेमा आदि पट के लिये गृहीत होते हैं, और उनमें पट असत् होता है।

सिद्धान्ती—उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि सत्कार्यमत में अवयवी का प्रतिषेध कर दिया गया है। अर्थात् अवयव से अतिरिक्त अवयवी द्रव्य निषिद्ध कर दिये गये हैं। इसलिये यह कथन अयुक्त है।

किञ्चान्यत्—

'सर्वसम्भवाभावात्' ।

उपादानत्वसामान्याद् वेमादि वदर्थान्तरं पटस्तन्तुभ्य इति ब्रुवतोऽर्थान्तरत्वसामान्यात् तन्तुवत् सर्वस्मात् कार्यस्य सम्भवः स्यात् न त्वेवमस्ति। तस्मात् सर्वसम्भावाभावादसम्यगेतत्।

किञ्चान्यत्, जातिभेदप्रसङ्गादर्थान्तरारम्भप्रसङ्गाच्च। उपादानसामान्याद् वेमादिवदर्थान्तरं पटस्तन्तुभ्य इति ब्रुवतो—यथा वेमादिभ्यो भिन्नजातीयो भिन्नदेशश्च, तथा तन्तुभ्यः पटः स्यात्। यथा चावस्थिते पटे वेमादयः पटान्तरं कुर्वन्ति, तथा ह्यवस्थिते पटे तन्तवोऽपि पटान्तरमारभेरन्, न चैतदिष्टम्। न तर्ह्युपादानसामान्याद् वेमादिवत् तन्तुभ्यः पटस्यार्थान्तरत्वम्।

यत् पुनरेतदुक्तम्—यद्यदर्थमुपादीयते, न तत् तत्रास्तीति, अत्र ब्रूमः—अयुक्तमेतत्। कस्मात्? आधाराधेयभावानभ्युपगमात्। असकृदु-

---

और भी—सबसे कार्य का सम्भव (उत्पत्ति) नहीं होता है। अर्थात् जो यह कहते हैं कि उपादानत्वसामान्य (कारणत्वसामान्य) के कारण जैसे वेमादि से पट अर्थान्तर (भिन्न) है, वैसे ही तन्तुओं से भी पट भिन्न है—उनके अनुसार अर्थान्तरत्वरूप समान धर्म को लेकर जैसे तन्तु से पट होता है, वैसे सभी कारणों से कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं है। अतः सबसे सबका सम्भव नहीं होने से कार्य पहले भी सत् ही होता है, असत् नहीं।

और भी—असत्कार्यपक्ष में जातिभेद की प्रसक्ति होने लगेगी और अर्थान्तर का भी आरम्भ होने लगेगा। अर्थात् उपादानस्वरूप सामान्यधर्म के कारण, जैसे वेमादि से पट अर्थान्तर है, वैसे तन्तुओं से भी अर्थान्तर है—ऐसा कहने वाले के अनुसार जैसे वेमादि से पट भिन्न जाति का है और भिन्न देश में रहने वाला है, वैसे तन्तुओं से भी पट भिन्न जाति और भिन्न देश का होना चाहिये।

एवं, एक पट के कायम रहते वेमादि दूसरे पट को उत्पन्न कर लेते हैं, वैसे तन्तु भी एक पट उत्पन्न कर उसके कायम रहते ही दूसरा भी पट पैदा कर दें; किन्तु यह नैयायिक (असत्कार्यवादी) को इष्ट नहीं है। ऐसी स्थिति में उपादानत्व सामान्य के कारण वेमादि के समान तन्तुओं से पट अर्थान्तर (भिन्न) नहीं हो सकता है।

और जो यह कहा कि जिसके लिये जो गृहीत होता है, वह उनमें नहीं रहता

क्तमस्माभिः न तन्तुषु पटो नाम कश्चिदस्ति । किन्तर्हि ? तन्तव एव पटः । तत्तु सन्मार्गविद्वेषाद् भवता न गृह्यते ।

किञ्चान्यत्—अनेकान्तात् । उपेत्य वा ब्रूमः—कथं तावत् तिलास्तैलार्थमुपादीयन्ते ? भवति चात्र तैलम् । मृद्वीका रसार्थमुपादीयते ? भवति चास्यां रसः । गोधुक् च पयोऽर्थं गामादत्ते ? भवति च तस्यां क्षीरम् । शालिकलापश्च तण्डुलार्थमुपादीयते ? सन्ति चात्र तण्डुला इत्यनैकान्तिको हेतुः ।

आह—आवरणोपलब्धेरयुक्तम् । तिलादिष्वावरणं प्रत्यक्षत उपलभ्यते, तत्प्रतिबन्धात् तैलादीनामग्रहणम् । व्यापारश्च कर्तुस्तद्विगमार्थः न तु कार्यस्यावरणमस्ति, तस्माद् विषमो दृष्टान्तः ।

है । इस पर हम कहते हैं कि यह कथन अयुक्त है; क्योंकि तन्तु और पट में हम आधाराधेय भाव नहीं मानते हैं । अनेक बार हमने कहा है कि तन्तुओं में पटनायम का कोई पदार्थ रहता नही है किन्तु तन्तु ही पट हैं । और आप इसे सन्मार्ग के प्रति द्वेषभावना के कारण नहीं स्वीकार करते हैं । अर्थात् जब तन्तु ही पट हैं तो उनमें पहले या पीछे पट के रहने या न रहने का प्रश्न ही नही है ।

और भी—आपके उक्त कथन में व्यभिचार दोष भी है । अथवा हम आप ही के उक्त कथन को कि 'पट के लिये तन्तुओं का ग्रहण होता है' मानकर कहते हैं,क्यों तैल के लिये तिलों का ग्रहण होता है ? क्योंकि उनमें तैल पहले से ही रहता है । क्यों रस के लिए द्राक्षा गृहीत होती है ? क्योंकि उसमें रस रहता है । क्यों ग्वाला दूध के लिये गौ का ग्रहण करता है? इसलिये कि उसमें दूध रहता है । क्यों चावल के लिये धान की राशि ली जाती है ? इसलिये कि उसमें तण्डुल पूर्व से रहते हैं । अतः आपका उक्त कथन कि 'जिसके लिये जो गृहीत होता है, वह उसमें नहीं रहता है' व्यभिचारदोष से ग्रस्त है ।

नैयायिक—तिलादिका दृष्टान्त देना अयुक्त है । क्योंकि तिलादि में प्रत्यक्ष से आवरण की उपलब्धि होती है और उसी आवरण से प्रतिबन्धित होने के कारण तैल आदि का ग्रहण नही हो पाता है। एवं, कर्ता का व्यापार उस प्रतिबन्ध को हटाने के लिये ही होता है । किन्तु पटादि कार्य का तो कोई आवरण है नही कि उसे तैलादि के समान पहले से सत् माना जाय । अतः यहाँ तिलादि का दृष्टान्त विषम दृष्टान्त है । दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक के समान होना चाहिये ।

सांख्यवादी—आपका उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि आप मार्ग छोड़ रहे हैं । कारण, पहले से जो जहाँ है, उसके लिये उसका उपादान नहीं होता है, यह आपने

उच्यते—न, मार्गान्तरत्वात्। यद्यत्रास्ति तत्र तदर्थमुपादीयते इति पूर्वं भवताऽतिसृष्टम्। इदानीं त्व(ा)वगमविगमार्थं सतोऽप्युपादानमिति ब्रुवतो मार्गान्तरगमनं पूर्ववादत्यागोऽनैकान्तिकस्य चापरिहार इति।

यत् पुनरेतदुक्तम्, परिणामाद्युपपत्तेरदोष इति, तथा तदस्तु। यत्तूक्तम्, मार्गान्तरानुपपत्तेरिति, अत्र ब्रूमः—

एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? परिणामधर्मानवबोधात्। सतो धर्मान्तरस्य निरोधमसतश्चोत्पत्तिं—परिणाममभिदधतो व्यक्तमयमुपालम्भः स्यात्, न त्वनयाऽनुसृत्या प्रतिष्ठामहे। किं तर्हि? साधनानुगृहीतस्य धर्मिणो धर्मान्तरस्याविर्भावः पूर्वस्य च तिरोभावः परिणामः। न चाविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिनिरोधौ।

पूर्व में कहा था; किन्तु अब तेल का नया आगम निषिद्ध करने केलिये सत् भी तैल का उपादान होता है, ऐसा आप कह रहे हैं। अतः यह आपका मार्गान्तरगमन हो गया, पूर्व स्वीकृत असत्कार्यवाद का परित्याग हुआ तथा आपके पक्ष में आये व्यभिचारदोष का परिहार भी नहीं हुआ।

यह जो पूर्व में कहा था कि पूर्वधर्म की निवृत्ति और धर्मान्तर की उत्पत्तिरूप परिणाम आदि के उपपन्न होने से न्यायपक्ष में (असत्कार्यपक्ष में) कोई दोष नहीं है, तो वह परिणामवाद वैसे ही रहे, इसमें हमें कोई विरोध नही हैं। किन्तु यह कहना कि मार्गान्तर नही बन सकता, अर्थात् इससे सत्कार्यवाद नहीं सिद्ध हो सकता—इस पर हम कहते हैं, कि—

यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि परिणामस्वरूप का बोध आप को नहीं है। वर्तमान धर्मान्तर का जो निरोध एवं असत् धर्मान्तर की जो उत्पत्ति उसको परिणाम मानने वाले नैयायिक के ऊपर ही यह उपालम्भ हो सकता है। किन्तु हम सांख्यवादी इस मार्ग का अनुसरण करके नहीं चल रहे हैं। हमारे मत के अनुसार साधन से युक्त धर्मी में धर्मान्तर का आविर्भाव होना और पूर्वधर्म का तिरोभाव होना हो परिणाम है। आविर्भाव का अर्थ प्रकट होना है उत्पत्ति होना नहीं। एवं तिरोभाव का अर्थ तिरोहित होना है नष्ट होना नहीं। इस प्रकार आप ही के यहाँ मार्गान्तरगमनरूप दोष है। क्योंकि तन्तु और पट के सम्बन्ध में असत् पट की उत्पत्ति मानते हैं। तथा यहाँ तिल-तैल के प्रसङ्ग में तिल में तैल की पूर्व सत्ता मानते हैं।

व्यूहसंश्लेषव्यक्तिप्रचयास्तु किमसतो धर्मा उत स्वतोऽसन्त इति विचार्यम् । किंचातः ? यदि तावदसतो धर्माः, तथा कस्येति वाच्यम् । अथ स्वयमसन्तः पश्चाद् भवन्ति, तदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? अनर्थान्तरत्वात् । सत्यर्थान्तरभावे प्रागसन्तः पश्चादुपलभ्यमानाः सत्कार्यवादं निराकुर्युः । स चैषामर्थान्तरभावो न प्रसिद्धः । तस्मात् किमत्रोत्पन्नम् ? ग्रहणाग्रहणविकल्पे चोक्तः परिहारः ।

किञ्चान्यत् । द्रव्यान्तरोत्पत्तिव्याघातात् । उपेत्य वैषामुत्पत्तिं ब्रूमः—यदि हि परिणामव्यूहसंश्लेषव्यक्तिप्रचयमात्रं कार्यमिष्यते, यदुक्तं 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्त' इति तस्य व्याघातः । कस्मात् ? न ह्येते

एवं तन्तुओं का व्यूह-संश्लेष-व्यक्ति एवं प्रचय भी क्या असत् के धर्म हैं ? अथवा धर्मी के सत्य होने पर भी स्वयं असत् हैं—यह विचारणीय है ।

प्रश्न— इससे क्या हुआ ?

उत्तर— यदि व्यूह आदि धर्म असत् के धर्म हैं तो यह बताओ कि किस असत् के धर्म हैं । यदि कहो कि धर्मी तो सत्य हैं; किन्तु व्यूह आदि धर्म स्वतः असत् हैं और पीछे उत्पन्न होते हैं तो नैयायिक का यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि व्यूह-संश्लेष-व्यक्ति और प्रचय भी धर्मी से भिन्न वस्तु नहीं हैं । यदि धर्मी से भिन्न होते तो पहले असत् होकर और पीछे उपलब्ध होकर असत्कार्यवाद का पोषक होते, और सत्कार्यवाद का निराकरण करते; किन्तु व्यूह आदि का तन्तुओं से अर्थान्तर भाव है-यह बात लोक में प्रसिद्ध नहीं है । इसलिए यहाँ क्या उत्पन्न हुआ ? अर्थात् व्यूह आदि तन्तुओं से अभिन्न हैं, अतः इनकी कोई उत्पत्ति नहीं होती ।

एवं ग्रहण एवं अग्रहण के विकल्प में भी यही उत्तर समझना चाहिए । अर्थात् कार्य यदि पहले सत् होता तो पीछे के समान पहले भी पट का ग्रहण होता । किन्तु पहले ग्रहण नहीं होता है और पीछे ग्रहण होता है । इससे सिद्ध है कि कारक व्यापार के पहले कार्य असत् होता है—इस प्रकार के नैयायिक के ग्रहणाग्रहणविकल्प का भी परिहार हो जाता है । क्योंकि पट यदि तन्तु से भिन्न होता, तो यह माना जाता कि पूर्व में पट का ग्रहण नहीं होता है और बाद में होता है । जिसके मत में तन्तु ही पट है उसके मत में ग्रहण-अग्रहण का प्रश्न ही नहीं है । यह अभिप्राय है ।

और भी— तन्तुओं से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति व्याहत है । अथवा व्यूह संश्लेष आदि की उत्पत्ति मानकर हम कहते हैं कि—जब परिणाम-व्यूह-संश्लेष-व्यक्ति और

भावा द्रव्यान्तरम् । तस्माद् दिनकरकिरणप्रतापमूर्छितस्येव दावाग्न्युपसर्पणदोषोऽनुतापायैव भवतः प्रतिपत्तिः ।

एतेनारम्भोपर[1] [उपक्रम]मोत्पत्त्यविशेषप्रसङ्गो जन्मसच्छब्दः प्रत्युक्तः । कथम् ? आत्मभूतं हि पटाख्यं व्यूहस्थानीयं सन्निवेशविशेषं यदा कारकाणि स्वेन स्वेन व्यापारेणाविष्कुर्वन्ति, तदा क्रियते उत्पद्यते जायत इत्येवमादिर्लोकस्य व्यवहारः प्रवर्तते । यदा तु कारकाणि शक्त्यन्तराविर्भावात् संस्थानान्तरेणौत्सुक्यवर्तितामवस्थामुपसंहरन्ति, तदा प्रागुपलब्धं संस्थानं विनाशशब्दवाच्यतां प्रतिपद्यते । परमार्थतस्तु न कस्यचिदुत्पादोऽस्ति न विनाशः ।

यत्पुनरेतदुक्तं जन्मशब्दः प्रागभूतस्यार्थस्य भावोपक्रममाहेति, तदपीच्छामात्रम् । कस्मात् ? विवादात् । सदसद्विषयं जन्मेति विवादेऽनुषक्ते

प्रचयमात्र ही कार्य अभीष्ट है तो यह जो कहा कि 'द्रव्यों से भिन्न द्रव्यों की उत्पत्ति है' इसका व्याघात हो जाता है । क्योंकि ये परिणाम व्यूह आदि भाव भिन्न द्रव्य नहीं हैं। इसलिये सूर्यकिरणों के ताप से मूर्छित व्यक्ति का दावाग्नि (वनदाह) के निकट जाने के समान आप की उक्त समझ अनुताप के लिये ही है ।

इससे आरम्भ उपक्रम और उत्पत्ति शब्दों में तथा जन्म और सत् शब्दों में अविशेषता का प्रसंग हो जायेगा, यह भी खण्डित हो गया । क्योंकि तन्तुओं का पट अपना स्वरूप है और व्यूहस्थानीय एवं सन्निवेशविशेष के रूप में उसे जब कारकसमुदाय अपने-अपने व्यापार द्वारा प्रगट करते हैं, तब क्रियते-उत्पद्यते एवं जायते इत्यादि व्यवहार लोक में होने लगता है । एवं जब कारकसमुदाय अपनी भिन्न शक्ति के आविर्भाव से नवीन संस्थान के रूप में पुरानी अवस्था को समेट लेते हैं; तब पूर्व में अनुभूत संस्थान विनाश शब्द का वाच्य हो जाता है । वस्तुतः तो न किसी की उत्पत्ति होती है, न विनाश होता है ।

एवं, जो यह कहा कि जन्मशब्द पहले से असत् अर्थ की बाद में सत्ताप्राप्ति को कहता है, वह भी इच्छामात्र है; क्योंकि इसमें विवाद है । जन्मशब्द सद्विषयक है या असद्विषयक है, इस विवाद के कायम रहते जन्मशब्द पहले से असत् अर्थ का बाद में सद्भाव बतलाता है—यह कहना नहीं कहने के समान है । अर्थात् जन्मशब्द का आप के द्वारा कथित यह अर्थ अनिश्चित है ।

---

१. उपरमस्थाने 'उपक्रम' इति पाठः सम्यक् ।

जन्मशब्दः प्रागभूतस्य सद्भावमाचष्ट इति ब्रुवतोऽनुक्तसमम् । पुरुषादावदृष्टत्वादसिद्धिरिति चेत्, स्यादेतत्—यदि तर्हि क्रियते उत्पद्यते जायत इत्येषोर्थः सद्विषयः कल्पते, प्रधानपुरुषयोरपि तत्प्रसंगः सदसद्विशेषादिति । अतश्च विवादावस्थमेवैतत्प्रकरणमिति ।

एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? संस्थानविषयत्वात् । यदा भावः स्वतोऽनर्थान्तरभूतं संस्थानं भजते तदैते शब्दाः प्रवर्तन्त इत्युक्तम् । दृष्टं च लोके तद्यथा मुष्टिग्रन्थिकुण्डलानि करोति जनयत्युत्पादयति, अभिव्यक्तात्मसु च मूलोदकादिषु भवत्युत्पन्नं जातमिति । उभयपक्षप्रसिद्धे शशविषाणादौ नैते शब्दाः प्रवर्तन्ते । तस्माद् भवत एवानिष्टप्रसङ्ग इति । उक्तं च—

यद्यसत्त्वं घटादीनामुत्पत्तौ हेतुरिष्यते ।
शशशृङ्गेऽपि तुल्यत्वादुत्पत्तिस्ते प्रसज्यते ॥

शंका—पुरुष प्रधान आदि के सत् होते हुए भी उसके लिये जन्मशब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता है, अतः सत्-अर्थ में भी जन्मशब्द है—यह कथन असिद्ध है । अर्थात् क्रियते उत्पद्यते एवं जायते यह व्यवहार यदि सद् विषय में अर्पित किया जाय तो प्रधान और पुरुष में भी क्रियते आदि शब्दों का प्रसंग होने लगेगा । क्योंकि आपके कथनानुसार समानरूप से सत् असत् उभय के लिये इन शब्दों का प्रयोग होता है । अतः सत्कार्य सम्बन्धी यह प्रकरण विवादास्पद ही रहे । ऐसी स्थिति में कार्य सत् ही होता है; यह सांख्य का सिद्धान्त अनिश्चित है ।

उत्तर—यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि क्रियते जायते उत्पद्यते इत्यादि शब्दव्यवहार संस्थानविषयक है । अर्थात् अवयवों के सन्निवेशविशेष के लिए प्रयुक्त होते हैं । अर्थात् जब कोई भाव पदार्थ अपने से अभिन्न संस्थान को (अवस्थाविशेष को) प्राप्त करता है, तब इन शब्दों को प्रवृत्ति होती है, यह कहा जा चुका है । लोक में देखा भी गया है—जैसे, मुष्टि करोति ग्रन्थि करोति कुण्डलं करोति जनयति उत्पादयति ऐसा व्यवहार होता है । एवं जिनका स्वरूप अभिव्यक्त हो गया है, ऐसे मूली जल आदि में 'उत्पन्नं जातम्' ऐसा व्यवहार होता है । किन्तु उभय पक्ष में असत् के रूप में प्रसिद्ध शशविषाण आदि में इन शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती है । अर्थात् यदि असत् में भी जायते उत्पद्यते आदि व्यवहार हो तो शशविषाण आदि में भी 'शशविषाणो जायते' ऐसा प्रयोग होने लगेगा । इसलिए असत् की उत्पत्ति मानने वाले आपके ही ऊपर अनिष्ट प्रसंग हो जायेगा । कहा भी गया है—

इति सिद्धं सत्कार्यम् ।

इतश्च सत्कार्यम्—

'शक्तस्य शक्यकरणात्' ।

शक्यमिदमस्य, शक्तश्चायमस्येत्ययं नियमः सतां दृष्टः । तद्यथा-चक्षुषो रूपस्य । अस्ति चायं पटस्य वेमादीनां च नियमः । तस्माच्च सत्कार्यम् ।

सहकारिवत् तन्नियम इति चेत्, स्यान्मतम्—यथाऽऽपो बीजा(द)-ङ्कुरस्योत्पत्तौ समर्था भवन्ति, न काष्ठादग्नेर्वा । उभयं तत्तासु न विद्यते । बीजादपां विच्छिन्नत्वात् । यथा च सूर्यः सूर्यकान्तादग्नि-मुत्पादयितुं समर्थो न चन्द्रकान्ताच्च पानीयम् । उभयं तत् तत्र न विद्यते । तथा च तन्त्वादीनां पटस्यैव(स्येव) शक्तिनियमः स्यात् । न च पटस्य तन्तुषु सत्त्वं स्यादिति ।

एतच्चायुक्तम्—कस्मात् ? साध्यत्वात् । अङ्कुरादयोऽपि कार्यम-

यद्यसत्त्वं घटादीनामुत्पत्तौ हेतुरिष्यते ।
शशशृङ्गेऽपि तुल्यत्वादुत्पत्तिस्ते प्रसज्यते ॥

अर्थात् यदि पटादि की उत्पत्ति में उसकी असत्ता हेतु मानी जाय तो असत् होने के कारण शशशृङ्ग की भी तुम्हारे यहाँ उत्पत्ति होने लगेगी । अतः सत्कार्यवाद सिद्ध है ।

इससे भी सत्कार्य सिद्ध है । क्योंकि शक्त शक्य को करता है, अशक्त अशक्य को नहीं कर सकता । अर्थात् यह इसका शक्य है और यह इसमें शक्त है, यह नियम सत् पदार्थों में ही देखा गया है । जैसे चक्षु और रूप में देखा गया है । पट और वेमा आदि में भी यह नियम है । अतः सत्कार्य है ।

शङ्का—सहकारियों की तरह उक्त नियम होगा । अर्थात् जैसे, जल बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति में समर्थ होता है, काठ से अग्नि को उत्पन्न करने में नहीं । फिर भी वह बीज और अङ्कुर दोनों ही जल में असत् होते हैं । क्योंकि बीज से जल विच्छिन्न होकर रहता है । एवं जैसे, सूर्य सूर्यकान्तमणि से अग्नि को उत्पन्न करने में समर्थ है, न कि चन्द्रकान्त से पानी को, फिर भी वह सूर्यकान्त और अग्नि दोनों ही सूर्य में नहीं हैं । वैसे ही तन्तु आदि का पट के साथ ही शक्ति का नियम होगा कि तन्तु पट को ही उत्पन्न करने में समर्थ है । अतः पूर्वोक्त दृष्टान्तों के समान पट भी तन्तुओं में सत् नहीं होगा और उनमें परस्पर शक्ति का नियम होगा ।

यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि यह भी साध्यकोटि में है । यहाँ अङ्कुर आदि भी अप् (जल) आदि का कार्य है । (अतः तन्तु-पट के समान यह भी साध्य है । अर्थात्

वादीनाम् । अतः साध्यम् । किमङ्कुरोऽस्त्यथ नास्त्येव । तथा सूर्यकान्तेऽग्निः । तदर्थमेव चायं विवादोऽनुषक्तः । यत्तूक्तमपां विच्छिन्नत्वान्न तास्वङ्कुरोऽस्तीति, तत्रापि यासामपां बीजानुप्रवेशादङ्कुरभावेन विपरिणामस्ताभ्यः तस्यानन्यत्वं साध्यम् । अतो न किञ्चिदेतत् ।

किञ्चान्यत्—रूपव्यवस्थानाच्च । तद्यथा रूपं विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे सति न (चक्षू) रूपं दृष्टमिति नेदानीं तत्सामान्यात् रूपमप्यरूपं भवति । एवं पटकारणत्वाद् वेमादयो न पट इति नेदानीं तन्तवोऽप्यपटः । तस्माद् युक्तमेतत् 'शक्तस्य शक्यकरणात्' सत् कार्यम् ।

'कारणभावाच्च सत्कार्यम्' ॥ ९ ॥

इहासति कार्ये कारणभावो नास्ति । तद्यथा, वन्ध्यायाः । अस्ति चेह कारणभावस्तन्तुपटयोः, तस्मात् सत्कार्यम् ।

जल में अङ्कुर है ? अथवा सर्वथा उसमें उसका अभाव है ? वैसे ही सूर्यकान्त में अग्नि है ? अथवा उसका सर्वथा अभाव है ? उसी के निर्णय के लिये यह विवाद प्रवृत्त है। और यह जो कहा कि 'जल से अङ्कुर विच्छिन्न (अलग) है, इसलिये जल में अङ्कुर का अस्तित्व नहीं है' वहाँ जिस जल का बीज में अनुप्रवेश होने से वह बीज अङ्कुररूप में परिणाम को प्राप्त करता है, उससे वह अङ्कुर अभिन्न है—यह भी हमें सिद्ध ही करना है। अतः असत्कार्य में यह दृष्टान्त अकिञ्चित्कर है।

और भी—रूप की व्यवस्था देखी जाती है। अर्थात् जैसे, रूप विज्ञान का हेतु होता है; किन्तु चक्षु का रूप दिखाई नहीं पड़ता, इसलिये रूपसामान्य के कारण दृष्ट रूप भी अरूप नहीं हो जाता। वैसे ही पट का कारण होकर वेमा आदि पट नहीं है, इसीलिए पट का कारण तन्तु भी अपट नहीं हो जायेगा। अतः यह कथन ठीक ही है कि शक्त पदार्थ शक्य का कारण होता है, इसलिये सत्कार्य है।

कारण होने से भी सत्कार्य है। यहाँ कार्य के असत् होने पर कारण होता ही नहीं है। जैसे, वन्ध्या स्त्री पुत्र का कारण नहीं होती है, क्योंकि पुत्ररूप कार्य वहाँ असत् है। यहाँ तन्तु में पट के प्रति कारणभाव (कारणत्व) है; इसलिये पटरूप कार्य सत् है।

शङ्का—वेमा आदि कारणान्तर से उसमें असत् कार्य पट की उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिये तन्तु में भी कारणत्व की बुद्धि हो जायेगी। अर्थात् पहले वेमादि अन्य कारणों से उससे भिन्न असत् पटरूप कार्य की उत्पत्ति देखकर पीछे उसी दृष्टान्त में तन्तु में भी पटरूप असत् कार्य के प्रति कारणत्व की बुद्धि हो जायेगी।

कारणान्तरात् कार्योत्पत्तिदर्शनादन्यत्र तद्बुद्धिरिति चेत्, स्यान्मतम्—प्राक्कारणान्तरात् कार्यान्तरस्यासत उत्पत्तिमुपलभ्य पश्चात् कारणान्तरे कारणबुद्धिर्भवतीति। एतच्चायुक्तम्—कस्मात्? अनभ्युपगमात्। असतः कार्यस्योत्पत्तिरेव न सिद्धा, शशविषाणादिष्वसिद्धत्वात्। कुतः पुनस्तन्निमित्ता कारणत्वबुद्धिः?

कारणभावादिति चेत्, स्यादेतत्—असत्त्वाविशेषेऽपि पटस्य कारणं समवाय्यसमवायिनिमित्तलक्षणमस्ति। तस्मात् पट उच्यते, न शशविषाणमिति।

एतच्चायुक्तम्—कुतः? हेत्वभावात्। असत्त्वाविशेषेऽपि पटस्य कारणमस्ति न शशविषाणस्येत्यत्र हेतुरनुक्तः। पुरुषवदिति चेत्, स्यादेतत्—यथा तुल्यत्वे सत्त्वे पटस्य कारणमस्ति न पुरुषस्य, एवमसत्त्वे पटस्य

समाधान—यह कथन भी अयुक्त है। क्योंकि हम वैसा मानते नहीं है। अर्थात् असत् कार्य की उत्पत्ति ही सिद्ध नहीं है; क्योंकि असत् शशविषाणादि की उत्पत्ति असिद्ध है। ऐसी स्थिति में वेमादिरूप निमित्तों की तरह ही तन्तुओं में भी उपादान कारणत्व की बुद्धि कैसे होगी?

शङ्का—पट का कारण होने से ऐसा है। अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व पट में और शशविषाण में समानरूप से असत्त्व के रहने पर भी पट का समवायि-असमवायि और निमित्तलक्षण कारण होता है। अतः पट की उत्पत्ति कही जाती है; किन्तु शशविषाण का कोई कारण नहीं होने से उसकी उत्पत्ति नहीं कही जाती है।

समाधान—यह भी कथन अयुक्त है। क्योंकि इसमें कोई हेतु नहीं है। अर्थात् पट में और शशविषाण में समानरूप से असत्त्व होने पर भी पट का कारण है, शशविषाण का नहीं है, इसमें कोई हेतु (प्रमाण) आपने नहीं दिया है।

शङ्का—पुरुष के समान हो सकता है। अर्थात् जैसे पट और पुरुष में समानरूप से सत्त्व के रहने पर भी सांख्यमत में पट का कारण होता है, और पुरुष का कारण नहीं होता है। वैसे ही न्यायमतानुसार पट और शशविषाण में समान असत्त्व होने पर भी पट का कारण है; किन्तु शशविषाण का कारण नहीं है।

समाधान—यह कथन भी अयुक्त है। क्योंकि इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है। अर्थात् पटस्थल में संस्थान (अवयवसन्निवेश) रूप कार्य देखा जाता है, किन्तु

कारणमस्ति, न शशविषाणस्येत्येतदप्ययुक्तम् कस्मात् ? उक्तत्वात् । संस्थानं कार्यं पटस्य, संस्थानं न पुरुषस्येत्युक्तं प्राक् ।

संस्थानवत् तद्विशेष इति चेत्, स्यान्मतम्—यथा सत्त्वाविशेषे पटः संस्थानं न पुरुष एवमसत्त्वाविशेषे पटः कार्यं न शशविषाणमिति ।

एतदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? सामान्यविशेषभावात् । सामान्यस्य हि विशेषपरिग्रहः संस्थानम् । न त्वयमस्ति चेतनाशक्तौ विकल्पः । तस्मान्न पुरुषः संस्थानम् । असतस्तु निरात्मकत्वाद् विशेषो दुरुपपादः । तदुपपत्तौ वा सत्त्वप्रसङ्ग इति । आह च—

निरात्मकत्वादसतां सर्वेषामविशिष्टता ।
विशेषणं चेद् भिन्नं ते सत्त्वमभ्युपगम्यताम् ॥

तस्माद् युक्तमेतत् 'कारणभावाच्च सत्कार्यम्' । एवं तावद् वैशेषिकमतेनासत्कार्यवादो न विमर्दसहः ।

निरवयव पुरुष में संस्थानरूप कार्य नहीं होता है । इसीलिये सांख्यमत में दोनों के सत् होने पर भी पट का कारण होता है और पुरुष का कारण नहीं होता है ।

शङ्का—संस्थान की तरह पट और शशविषाण में विशेषता होगी । अर्थात् जैसे समानरूप से सत्त्व के होने पर भी पट संस्थान है किन्तु पुरुष संस्थान नहीं है । वैसे ही समानरूप से असत्त्व के होने पर भी पट कार्य (संस्थान) है किन्तु शशविषाण नहीं है ।

समाधान—यह कथन भी ठीक नही है । क्योंकि सामान्यविशेषभाव में संस्थान होता है । अर्थात् सामान्य वस्तु का विशेष अवस्था का परिग्रह संस्थान है । चेतना शक्ति में (पुरुष में) इस प्रकार का अनुभव नहीं है । अर्थात् पुरुष में सामान्य-विशेष अवस्था नहीं होती है, अतः पुरुष संस्थान नहीं हो सकता है । पटस्थल में तो तन्तु सामान्य अवस्था है और पट उसकी विशेष अवस्था है । किन्तु पट को यदि असत् माना जाय तो उसके निरात्मक (निःस्वरूप या तुच्छ) होने से उसमें विशेष अवस्था का उपपादन दुःशक्य है । यदि तो विशेष का उपपादन हो तो उसमें सत्त्व ही मानना पड़ेगा और वह असत् नहीं हो सकता । कहा भी है—

निरात्मकत्वादसतां सर्वेषामविशिष्टता ।
विशेषणं चेद् भिन्नं ते सत्त्वमभ्युपगम्यताम् ॥

बौद्धपक्षे तु भूयान् दोषः। कथं तर्हि द्रव्यान्तरं पटो नेष्यते ? "तन्तुष्वेव तथास्थेषु पट इत्यादिबुद्धयः" इत्येवमादिना न्यायेनावयविप्रषेधात्। संयोगोऽपि न संयोगिभ्यस्तेषामर्थान्तरमिष्टः। तत्रैतावती परिकल्पना स्यात्—यदुत तन्तुसंयोगो वा पटः, संयोगकारणं वा द्रव्यान्तरम् ? उभयं च तेषां नार्थान्तरम्। अथोत्पत्तिविनाशौ कस्यापीति मायाकारचेष्टितम्—तदपि चित्रतरोऽयमुपन्यासः। काणादानां तु

अर्थात् जो असत् है, वह निरात्मक या तुच्छ होगा। ऐसी स्थिति में पट और शशविषाणादि में कोई विशेषता नहीं रह जायेगी। यदि शशविषाण को अपेक्षा पट में भिन्न विशिष्टता मानें तो पट में सत्त्व को स्वीकार करें।

इसलिये सांख्यवादो का यह कथन युक्त है कि कार्य के प्रति कारण होने से भी कार्य सत् है, अन्यथा असत् का कोई कारण नहीं होता है। इस प्रकार वैशेषिकमत का असत्कार्यवाद तर्क की कसौटी पर नहीं टिक पाता है।

बौद्धपक्ष में तो अत्यधिक दोष है। अर्थात् वैशेषिकमत में तन्त्वादि सत् कारण से असत् पटादि कार्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु बौद्ध मत में तो तन्त्वादि कारण के भी नष्ट हो जाने पर हो पट आदि की तथा बीज के नष्ट हो जाने के बाद ही अङ्कुर की उत्पत्ति होतो है। इस प्रकार असत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है, यह बौद्धों का असत्कार्यपक्ष है।

इसके ऊपर सिद्धान्ती का कहना है कि उपर्युक्त बौद्धपक्ष में तो वैशेषिकपक्ष से भी अधिक दोष है।

अथवा यहाँ बौद्धपक्ष का यह अभिप्राय है—परमाणुओं का पुञ्ज ही घट पट आदि कार्य है, अतिरिक्त अवयवी नही है। इस प्रकार सांख्यमत में अवयव से अतिरिक्त अवयवी नहीं होता है और बौद्धमत में भी अवयवसमूह ही घट पटादि है, अतिरिक्त कोई अवयवी नहीं है। दोनों पक्षों में अवयवातिरिक्त अवयवी का निषेध होने पर बौद्धपक्ष में अत्यधिक दोष है। वह दोष यों है—

बौद्ध द्वारा पट अतिरिक्त द्रव्य (अवयवो) क्यों नहीं माना जाता है ? यदि कहे कि 'तथावस्थित तन्तुओं में ही पट की वुद्धि होती है—इस न्याय से अवयवी का प्रतिषेध हो जाता है' तब तो उनके यहाँ संयोग भी संयोगियों से अतिरिक्त पदार्थ मान्य नहीं हो सकेगा।

उसमें ऐसी परिकल्पना हो सकती है–यदि तन्तुओं का संयोग ही पट है अथवा संयोग का कारण कोई द्रव्यान्तर पट है, वह दोनों ही उनके यहाँ तन्तुओं से कोई

द्रव्यान्तरोत्पत्तिविनाशाभ्युपगमान्न तार्किकसदृशो विचारः। तस्मात् पारमर्ष एव पक्षो ज्यायान्। यथा चासत्कार्यं न संभवति तथा 'च' शब्दात् सदसत्कार्यमपि।

परस्परविरोधात् नैव सन्नासदिति एके। एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात् ? सत्त्वे हेत्वभिधानान्निश्चितः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सद्भावः।

प्रकृतमिदानीं वक्ष्यामः। किं च प्रकृतम् ? महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं स्वरूपं चेति वचनाद्वैरूप्यम्।

आह—प्राक्सारूप्यग्रहणं सुखप्रतिपत्तिहेतुत्वात्। अधिगतसारूप्यस्य हि सुखं वैरूप्यस्य प्रतिपत्तिर्भवतीति प्राक्सारूप्यग्रहणं कर्तव्यम्। यथा तन्त्रान्तरीयाणां सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्य-

---

अतिरिक्त वस्तु नहीं है। अर्थात् इस तरह बौद्ध ने सांख्यपक्ष का समर्थन किया। यदि कहा जाय कि उत्पत्ति और विनाश पट का नहीं होता है; किन्तु किसी अनिवर्चनीय का ही होता है। इस प्रकार घट पटादि किसी मायावी की ही चेष्टा है। तो बौद्ध का यह भी उपन्यास अनोखा है। वैशेषिकों के मत में तो घट पट आदि एक अतिरिक्त द्रव्य हैं ओर उनकी उत्पत्ति और विनाश माना गया है। इसलिये बौद्ध का उक्त विचार किसी तार्किक के समान नहीं है। अर्थात् वैशेषिक मत से भी निकृष्ट कोटि का बौद्ध पक्ष है। अतः परमर्षि कपिल का ही पक्ष सर्वोत्तम है

एवं जैसे असत् कार्यवाद असम्भव है, वैसे सदसत्कार्यवाद भी सम्भव नहीं है, यह बात कारिका के अन्त में उल्लिखित 'च' शब्द से बतायी गयो है। एवं किसी का मत है कि परस्पर विरोध होने के कारण कार्य न सत् ही है न असत् ही है—यह कथन भी अनुपपन्न है। क्योंकि सत्कार्यवाद में अनेक हेतु कहे गये हैं। इसलिये उत्पत्ति के पूर्व कार्य का सद्भाव निश्चित है।

अब प्रकृत विषय को कहेंगे। अर्थात् सत्कार्यवाद का विचार तो प्रसंगवशात् किया गया है।

प्रश्न— प्रकृत क्या है ?

उत्तर—'महदादि तच्च कार्यम् प्रकृतिविरूपं सरूपं च' इस वचन से महदादि का वैरूप्य प्रकृत है।

शंका— वैरूप्य विवक्षित होने पर भी पहले कारिका में सारूप्य का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि सुखपूर्वक बोध का वह हेतु है। अर्थात् जिसके सारूप्य का

गुणकर्मणामविशेषसामान्यमुक्त्वा द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरमित्येवमादिः विशेषोऽभिधीयते ।

उच्यते—तदनुपपत्तिः । अविशेषात् यथैवाधिगतसारूप्यस्य लघीयसी वैरूप्यप्रतिपत्तिरेवमधिगतवैरूप्यस्य लघीयसी सारूप्यप्रतिपत्तिः । कस्मात् ? परस्परापेक्षत्वात् । वैरूप्यापेक्षं हि सारूप्यं, सारूप्यापेक्षं च वैरूप्यमिति ।

आह—एवमपि वैरूप्यस्य प्रागभिधाने प्रयोजनवचनम् । द्वयोरविशेषेऽन्यतरस्य प्रागभिधाने नियमहेतुर्वक्तव्य इति ।

उच्यते—न, वैरूप्यस्य प्रकरणानङ्गभावात् । विच्छिन्नं हि वैरूप्यमतस्तत् पूर्वमभिधाय प्रकरणाङ्गं सारूप्यं सुखमभिधातुमित्येवमाचार्येणैवं क्रियते ।

ग्रहण हो चुका रहता है, उसके वैरूप्य का बोध सुखपूर्वक हो जायेगा । अतः कारिका में पहले सारूप्य का ही ग्रहण करना चाहिए । इसलिए कारिका में 'प्रकृतिविरूपं स्वरूपं च' के स्थान में 'प्रकृतसरूपं विरूपं च' ऐसा उल्लेख करना चाहिये । जैसे—अन्य शास्त्राचार्यों के यहाँ (सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवत्) इस सूत्र द्वारा पहले द्रव्य, गुण और कर्म का समान धर्म कहकर अनन्तर (द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्) इत्यादि सूत्रों द्वारा इनकी विशेषता का कथन किया गया है ।

समाधान— उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि पहले वैरूप्य का ग्रहण किया जाय और बाद में सारूप्य का ग्रहण किया जाय अथवा पहले सारूप्य का ग्रहण किया जाय और बाद में वैरूप्य का ग्रहण किया जाय, इनमें कोई विशेषता नहीं है । अर्थात् जैसे—सारूप्य का ज्ञान होने पर वैरूप्य का बोध आसान है, वैसे ही वैरूप्य का ज्ञान होने पर सारूप्य का ज्ञान भी आसान है । क्योंकि इन दोनों में परस्पर अपेक्षा है । अर्थात् वैरूप्य की अपेक्षा सारूप्य को है और सारूप्य की अपेक्षा वैरूप्य को है । इस प्रकार परस्पर सापेक्ष होने से किसी का भी पहले ग्रहण किया जाय इसमें कोई अन्तर नहीं है ।

शङ्का— फिर भी कारिका में पहले वैरूप्य के उल्लेख में प्रयोजन बताना चाहिये । अर्थात् जब वैरूप्य और सारूप्य दोनों समानरूप से परस्पर सापेक्ष हैं, तब किसी एक के (वैरूप्य) के पहले कथन में नियामक हेतु कहना चाहिये । किन्तु वैसा नहीं कहने से न्यूनता दोष आ गया ।

कथं सारूप्यस्य प्रकरणाङ्गत्वमिति चेत्, त्रैगुण्याभिधानद्वारेण गुण-लक्षणोपदेशात् । तत्सिद्धौ चाविवेक्यादीनां व्यक्तसिद्धेः, कारणगुणात्मक-कत्वाच्च कार्यस्य प्रधाने त्रैगुण्यादिप्रतिपत्तेः, कार्यकारणभावासन्देहाच्च प्रधानास्तित्वप्रसिद्ध्यपदेशात्, तत्सिद्धौ च भोगस्य भोक्त्रपेक्षत्वात् पुरुषसिद्धेः, अधिगतभोक्तृभोग्यस्य तत्संयोगस्य च सुखप्रतिपाद्यत्वात् तादर्थ्याच्च तत्त्वभूतभावसर्गाणाम् । तस्माद् युक्तमेतत् प्रकरणाङ्गत्वात् सारूप्यं पश्चान्निर्दिश्यते, तदसम्बन्धादितरत् प्रागिति ।

आह—यदि तर्हि भवान् प्राग् वैरूप्याभिधानं न्याय्यं मन्यते, तद् वक्तव्यं किं पुनरिदं वैरूप्यमिति ।

समाधान— उक्त दोष नहीं है, क्योंकि वैरूप्य प्रकरण का अङ्ग नहीं है। कारण, वैरूप्य तो प्रकरण से बहिर्भूत है। इसलिये उसे पहले कह कर पीछे प्रकरण का अङ्गभूत सारूप्य कहना प्रकरण की दृष्टि से आसान है, इसीलिये आचार्य ने ऐसा किया।

प्रश्न— सारूप्य प्रकरण का अङ्ग कैसे है ?

उत्तर— अव्यक्त को त्रिगुणात्मक कहने से सत्त्वादि गुणरूप लक्षण का उपदेश हुआ है। अर्थात् गुणरूप लक्षण अव्यक्त और व्यक्त में समानरूप से है। इस प्रकार गुणों की सिद्धि होने पर अविवेकित्वादि की भी सिद्धि व्यक्त में हो जायगी। एवं कारण के गुण के समान कार्य का गुण होता है, इसलिये त्रिगुणात्मकत्व का निश्चय प्रधान में हो जाता है। एवं व्यक्त और अव्यक्त में कार्यकारणभाव के असन्दिग्ध होने से त्रिगुणात्मक कार्य को देखकर त्रिगुणात्मक प्रधान के अस्तित्व की सिद्धि कही गयी है।

प्रधान की सिद्धि हो चुकने पर प्रधानरूप भोग्य को भोक्ता की अपेक्षा होने से भोक्ता के रूप में पुरुष की सिद्धि हो जाती है। एवं भोक्ता और भोग्य तथा इनके संयोग का ज्ञान होने पर तत्त्वभूत धर्म अधर्म आदि भावसर्ग भी सुखपूर्वक प्रतिपादित हो जाता है, क्योंकि भावसर्ग भी उसी के लिये है।

अतः यह ठीक ही है कि प्रकरण का अङ्ग होने से सारूप्य का पीछे निर्देश हुआ और प्रकरण से बहिर्भूत होने के कारण वैरूप्य का पूर्व में निर्देश हुआ।

पूर्वपक्षी— यदि आप पहले वैरूप्य का ही कथन न्यायसंगत मानते हैं, तो आप को बताना चाहिये कि यह वैरूप्य क्या है ?

उच्यते—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

तत्र हेतुः कारणमित्यनर्थान्तरम् । तदस्यास्तीति हेतुमत् । नित्यं ध्रुवम् । न नित्यमनित्यम् । व्याप्नोतीति व्यापि, न व्याप्यव्यापि असर्वगतमित्यर्थः । सह क्रियया सक्रियम् । अनेकं भिन्नम् । आश्रितमाधेयम् लिङ्गं तल्लक्षणोपपन्नम् । अवयूयन्त इत्यवयवाः पृथगुपलभ्यन्त इत्यर्थः । सहावयवैः सावयवम् । परतन्त्रमन्याधीनम् ! एते हेतुमदादयः परतन्त्रान्ता निरपवादा व्यक्तस्यासाधारणाः प्रधानपुरुषाभ्यां धर्माः ।

आह—हेतुमदित्यविशेषः, सर्वत्र सद्भावात् । व्यक्ताव्यक्तपुरुषाणां हि सर्वेषां हेतुरस्तीति अविशेष एवायं पठितव्यः ।

उच्यते—न, कारकपरिग्रहात् । यद्यपि व्यक्ताव्यक्तपुरुषाणाम-

सिद्धान्ती— हेतुमान्-अनित्य-अव्यापि-सक्रिय-अनेक-आश्रित-लिङ्ग सावयव और परतन्त्र व्यक्त होता है, तथा इसके विपरीत हेतुरहित-नित्य-व्यापि-अक्रिय-एक-अनाश्रित-अलिङ्ग-निरवयव और स्वतन्त्र अव्यक्त होता है।

यहाँ हेतु और कारण एक ही वस्तु है। वह (हेतु या कारण) जिसका हो, वह हेतुमत् है। नित्यशब्द का अर्थ है—ध्रुव। जो नित्य (ध्रुव) न हो वह अनित्य है। जो सर्वत्र व्याप्त होकर रहे, वह व्यापि है तथा जो व्यापि न हो वह अव्यापि है। अर्थात् सर्वव्यापक न होना अव्यापि है। क्रिया के साथ जो हो, वह सक्रिय है। अनेक का अर्थ है—भिन्न। आश्रित का अर्थ है—आधेय अर्थात् जो किसी आधार में रहे। लिङ्ग के लक्षणों से जो सम्पन्न हो, वह लिङ्ग है। जो पृथक् उपलब्ध होते हों, वे अवयव हैं। और अवयवों के सहित रहने वाला सावयव है। अन्य के अधीन रहने वाला परतन्त्र है। ये हेतुमत् से लेकर परतन्त्र तक धर्म विना किसी अपवाद के व्यक्तमात्र के हैं, और प्रधान तथा पुरुष में नहीं रहते हैं।

शङ्का— 'हेतुमत्' यह सामान्य धर्म है; क्योंकि इसकी सर्वत्र सत्ता है। अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त और पुरुष इन सबों का ज्ञापक हेतु है; इसलिये इसे सबका सामान्य स्वरूप ही पढ़ना चाहिये; न कि यह व्यक्त का ही विशेष धर्म है।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ हेतुपद से कारक का परिग्रह किया गया है। अर्थात् यद्यपि व्यक्त अव्यक्त और पुरुष में हेतुमत्त्व समान

विशिष्टं हेतुमत्त्वं,तथापि विशिष्टस्य कारकस्य हेतोः परिग्रहं करिष्यामः। स च व्यक्तस्यैव नान्यस्येति नायमविशेषो भविष्यति।

आह—तदनुपपत्तिः, विशेषानुपादानात्। हेतुरिति सामान्यशब्दोऽयम्। सामान्यशब्दाश्च नार्थप्रकरणशब्दान्तराभिसम्बन्धमन्तरेण विशेषेऽवतिष्ठन्त इति विशेष उपादेयः स्यात्। स तु नोपादीयते, तस्मात्ते अविशेषा एवेति।

उच्यते—न, सर्वसम्भविनोऽभिधानस्य प्रकर्षार्थत्वात्। इह यः सर्वसम्भवी धर्म एकविषय उपादीयते, तस्मात् प्रकर्षो विज्ञायते। तद् यथा भोक्ता माणवक इत्युक्ते सर्वेषां भोक्तृत्वस्य संभवादेवं विज्ञायते 'प्रकर्षेणायं भोक्तेति'। एवमिहापि सर्वसम्भवीत्याहाचार्यो 'व्यक्तं हेतुमत्' इति। तेन वयमस्मात् प्रकर्षं विज्ञास्यामः। कश्च प्रकर्षः? कारकज्ञापकयोरुभयोरपि संभवे कारकस्यैव ग्रहणम्।

रूप से है; तथापि यहाँ हेतुपद से विशिष्ट कारक का हम परिग्रह करेंगे। वह विशिष्ट कारक व्यक्त का ही होता है, दूसरे का (प्रधान या पुरुष का) नहीं। इसलिये हेतुमत्त्व सबका अविशेष (सामान्य) धर्म नहीं है।

शङ्का—सिद्धान्ती का उक्त उपपादन ठीक नहीं है। क्योंकि उसमें विशेष का उपादान नहीं हुआ है। अर्थात् 'हेतु' यह सामान्य शब्द है। और सामान्य शब्द अर्थ (प्रयोजन) प्रकरण या शब्दान्तर के सम्बन्ध के बिना किसी विशेष अर्थ में पर्यवसित नहीं हो सकता है; इसलिये उसके लिये विशेष शब्द का उपादान होना चाहिये; किन्तु वैसा नहीं किया गया है। अतः हेतुशब्द सर्वसाधारण ही है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ सर्वसाधारण धर्म का अभिधान हुआ है, इसलिये वह किसी प्रकर्ष को सूचित करने के लिये होगा। अर्थात् जो धर्म सर्वसाधारण होता है और किसी एक के लिये गृहीत किया जाता है, तो वहाँ अवश्य ही प्रकर्ष का बोध होता है। जैसे, 'भोक्ता माणवकः' ऐसा कहने पर चूँकि सबमें भोक्तृत्व संभव है; इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यह माणवक प्रकृष्ट भोक्ता है सामान्य भोक्ता नहीं है। ऐसे ही यहाँ भी आचार्य ने सर्वसाधारण अर्थ 'हेतुमत्त्व' को व्यक्त के लिये कहा है। इससे हम व्यक्त में प्रकर्ष समझेंगे।

प्रश्न— यहाँ कौन सा प्रकर्ष समझा जायगा?

उत्तर— हेतुशब्द से कारक और ज्ञापक दोनों के सम्भव होने पर कारक का

अनित्यशब्दसम्बन्धाद्वा । अथवाऽयमाचार्यो हेतुमदित्युक्त्वाऽनित्यमिति पठति । शब्दान्तराभिसम्बन्धात् योऽनित्यसहचरो हेतुस्तस्येह ग्रहणं गम्यते । कश्चानित्यसहचरो हेतुः ? कारकः ।

आह—एवमप्यनुपपन्नमेतत् । कस्मात् ? उभयत्र तत्संभवात् । उत्पाद्यव्यङ्ग्ययोर्हि विनाशं पटादिषु दृष्टत्वात् अव्यभिचारात् तन्त्रान्तरीया मन्यन्ते । तस्य वा परिहारो वक्तव्यः । न वा वक्तव्यो विशेषे स्थितिरस्तीति ।

उच्यते—न, एकान्तवादप्रसङ्गात् । सर्वेण हि वादिनाऽवश्यं किञ्चिन्नित्यमभ्युपगन्तव्यम् । अन्ततो विनाशेऽपि न कश्चिदर्थः शब्दबुद्धिभ्यां न व्यज्यते । तथा सत्येकान्तवादोऽयं स्यात् । स च युक्तिमद्भिर्ने-

---

ही ग्रहण होगा, ज्ञापक का नहीं । अर्थात् कारकहेतुमान् व्यक्त ही होता है । प्रधान और पुरुष का ज्ञापक हेतु होने पर भी कोई कारक हेतु नहीं होता, इसलिये वे अहेतुमत् हैं ।

अथवा 'अनित्य' शब्द के साथ सम्बन्ध होने के कारण 'हेतुमत्' यहाँ का हेतुपद कारक अर्थ में है । अर्थात् कारिका में यह आचार्य 'हेतुमत्' यह कहकर 'अनित्यम्' ऐसा पढ़ते हैं । इस प्रकार 'अनित्य' इस शब्दान्तर के साथ सम्बन्ध होने से अनित्य सहचर जो हेतु (कारक) उसी का यहाँ ग्रहण अवगत होता है ।

प्रश्न— अनित्यसहचर हेतु कौन है ?

उत्तर— कारकरूप हेतु ही अनित्यसहचर होता है ।

शङ्का— फिर भी यह अनुपपन्न है; क्योंकि दोनों में अनित्यत्व सम्भव है । अर्थात् अन्य तन्त्र वाले वैशेषिकादि उत्पाद्य या व्यङ्ग्य दोनों का विनाश होना मानते हैं । ऐसा पटादि में और तैल पय आदि में देखा गया है, और इसमें व्यभिचार नहीं है । अतः इसका परिहार करना होगा अथवा यह कहना छोड़ देना होगा कि—अनित्य शब्द के साहचर्य से हेतुशब्द कारक अर्थ में है ।

समाधान—उक्त शङ्का नहीं की जा सकती है । क्योंकि तब एकान्तवाद को प्रसक्ति हो जायगी । अर्थात् सब कुछ अनित्य हो जायगा । किन्तु सभी वादी को अवश्य ही कुछ नित्य मानना चाहिये । अन्ततः विनाश हो जाने पर भी ऐसा नहीं है कि शब्द और बुद्धि द्वारा कोई अर्थ व्यक्त न किया जाता हो । यदि वैसा हो तो यह एकान्तवाद हो जायगा, जो युक्तिवादियों को इष्ट नहीं है । एवं ऐसी कल्पना करने

ष्यते। तथा च संस्कृतमप्येवं कल्प्यमाने विनाशि स्यात्। तस्मादुत्पाद्य-व्यङ्ग्ययोर्विनाशं ब्रुवतोऽतिसाहसम्।

आह—अनित्यत्वानुपपत्तिः, सत्कार्यवादाभ्युपगमात्। सर्वत्र हि नासत उत्पत्तिरस्त्येवं सतोऽपि विनाशेन न भवितव्यम्। अथ सतोऽपि विनाशोऽभ्युपगम्यते, तेन प्रलयकाले विनष्टानां तत्त्वादीनां [तन्त्वादीनाम्] पश्चादसतामुत्पत्तिः सत्कार्यवादं निराकुर्यात्। तस्मादनित्यं व्यक्तमित्ययुक्तम्।

उच्यते—न; व्यक्त्यपगमप्रतिज्ञानात्। सत्यमेव वयं सतो विनाशमाचक्षाणाः सत्कार्यवादं प्रत्याचक्षीमहि। कारणानां तु यः परस्परं संसर्गात् संस्थानविशेषपरिग्रहस्तस्य विरोधिशक्त्यन्तराविर्भावाद् व्यक्तिस्तिरोधीयत इत्येतद् विनाशशब्देन विवक्षितम्। तथा च वार्षगणाः पठन्ति—'तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति न सत्त्वाद्;अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्।'

पर संस्कार की गई वस्तु भी विनाशी कही जाने लगेगी, जैसे संस्कार किया हुआ स्वर्ण आदि। अतः उत्पाद्य और व्यङ्ग्य दोनों का विनाश कहना अत्यन्त साहस है।

शङ्का— व्यक्त में अनित्यत्व अनुपपन्न है; क्योंकि सत्कार्यवाद माना गया है। सत्कार्यवाद में सर्वत्र असत् की उत्पत्ति जैसे नहीं है, वैसे ही सत् का विनाश भी नहीं हो सकता है। यदि सत् का भी विनाश माना जाता है, तो प्रलय काल में विनष्ट तत्त्वों की (तन्तु आदि की) पीछे सृष्टि काल में उत्पत्ति सत्कार्यवाद का निराकरण कर देगी। अतः व्यक्त अनित्य (विनाशी) है, यह कथन अयुक्त है।

समाधान— उक्त शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि व्यक्ति का तिरोधान होता है, यह हमारी प्रतिज्ञा है, विनाश नहीं होता। निश्चित ही हम सत् का विनाश कहते हुए सत्कार्यवाद का प्रत्याख्यान कर डालेंगे; किन्तु वैसा हमारा विवक्षित नहीं है। बल्कि, कारणों के परस्पर संसर्ग से जो संस्थानविशेष का परिग्रह होता है, उसकी विरोधिनी शक्ति के आविर्भाव से व्यक्ति तिरोहित हो जाती है—यही हमारा विनाशशब्द से विवक्षित है। जैसा कि आचार्य वार्षगण पढ़ते हैं—'यह त्रैलोक्य केवल अभिव्यक्ति से रहित हो जाता है, सत्ता से नहीं। ऐसे ही तिरोहित हुआ भी सत् रहता है; क्योंकि विनाश का अभाव है।' कारणों का परस्पर संसर्ग हट जाने से कार्य में सूक्ष्मता आ जाती है, और सूक्ष्मता के कारण उसकी उपलब्धि नहीं हो पाती है। अतः सत्कार्यवाद में अभिव्यक्ति का हट जाना ही विनाश है। यह तिरोभाव दो प्रकार का होता है—प्रथम-प्रलय से लेकर सृष्टि होने तक तत्त्वों का तिरोभाव

असंसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यम्, सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिस्तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः। स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात्तत्त्वानाम्, किञ्चित्कालान्तराव-स्थानादितरेषामिति।

आह—अयुक्तमेतत्। कस्मात्? विप्रतिपत्तेः। सर्वमेव क्षणिकं बुद्धि-बोध्यमवकाशनिरोधवर्जितमिति शाक्यपुत्रीयाः प्रतिपन्नाः। तेषां प्रतिषेधो वक्तव्यः, न वा वक्तव्यो(व्यं)द्विविधमनित्यमिति।

उच्यते—न हेत्वनुपगमात्। प्रतिक्षणमुच्छिद्यते त्रैलोक्यमित्यत्र लिङ्गमभियुक्ता अपि नोपलभामहे। तस्मान्नैतद् युक्तमस्माकं बुद्धावव-तिष्ठत इति।

आह—अन्ते क्षयदर्शनात्। इह यस्यान्ते क्षयस्तस्य क्षणिकत्वं दृष्टम्, तद्यथा प्रदीपज्वालाबुद्धिशब्दानाम्। अस्ति चान्ते क्षयः संस्कारा-णाम्, तस्मात् क्षणिका उच्यन्ते।

तदनुपपत्तिः, साध्यत्वात्। इह तु सिद्धेनातिदेशो भवति, तद्यथा

रहता है, तथा दूसरा कुछ काल के लिये तिरोभाव की स्थिति अन्य पदार्थों की होती है।

शङ्का— सत्कार्यवादी की उक्त व्यवस्था ठीक नहीं है। क्योंकि इसके सम्बन्ध में विपरीत विचार मिलते हैं। सब कुछ क्षणिक है, बुद्धिबोध्य है तथा अवकाश एवं तिरोभाव से वर्जित है, अथवा आविर्भाव एवं तिरोभाव से वर्जित हैं—ऐसा शाक्य-पुत्रीय बौद्ध लोग मानते हैं। या तो उनका खण्डन बोलना चाहिये अथवा यह कहना छोड़ देना चाहिये कि दो प्रकार का अनित्य होता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि उसमें हेतु नहीं प्राप्त है। अर्थात् प्रतिक्षण त्रैलोक्य का उच्छेद (विनाश) हो जाता है; इसमें हम उद्योगशील होने पर भी हेतु या लिङ्ग को नहीं पाते हैं। इसलिये हमारी बुद्धि में बौद्धों का उपर्युक्त मत ठीक नहीं बैठता है।

क्षणिकवादी की शङ्का— अन्त में क्षय देखा जाता है, इसलिये क्षणिक है। यहाँ अन्त में जिसका क्षय देखा जाता है, उसे क्षणिक देखा गया है। जैसे, प्रदीप की ज्वाला, बुद्धि और शब्द की। संस्कारों [विकारों] का भी अन्त में क्षय देखा जाता है, इसलिये वे क्षणिक कहे जाते हैं।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि दिये गये दृष्टान्त स्वयं साध्य

गवयस्य। न तु प्रदीपज्वालाबुद्धिशब्दानां क्षणिकत्वं प्रसिद्धम्। अतो न किञ्चिदेतत्।

आह—नैतदप्रसिद्धम्। कस्मात्? वृद्ध्यदर्शनात्। यदि हि अविनष्टायां ज्वालायामिन्धनान्तरे ज्वालान्तरमुत्पद्येत, वृद्धिः स्यात्, न तु दृश्यते। तस्मादनवस्थिता प्रदीपज्वाला। किञ्चाश्रयाभावात्। यदाश्रया ज्वालोत्पत्तिस्तदुत्पद्यमानैवासौ निरुणद्धीति न युक्तमस्या विनाश्रयेणावस्थातुम्। उपयुक्तेन्धनाया अवस्थानप्रसङ्गात्।

किञ्चावरणोपनिपातेन प्रभाभेदप्रसङ्गात्। ज्वालानामवस्थानमिच्छतः उपरिष्टादावरणोपनिपातात् प्रभायास्तन्तोरिव द्वैधीकरणं स्यात्। अनिष्टं चैतत्। तस्मान्न दीपे ज्वालानामवस्थितिरस्तीति।

कोटि में हैं। यहाँ वादव्यवहार में सिद्ध से असिद्ध का बोध कराया जाता है। जैसे, प्रसिद्ध गौ से गवय का बोध होता है। प्रदीपज्वाला-बुद्धि और शब्द का तो क्षणिकत्व कहीं प्रसिद्ध नहीं है। अतः उक्त कथन अकिञ्चित्कर है।

पूर्वपक्ष— प्रदीपज्वाला आदि का क्षणिकत्व अप्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि ज्वाला में वृद्धि नहीं देखी जाती है। अर्थात् यदि पहली ज्वाला विनष्ट नहीं होती तो तैल आदि इन्धनान्तर के मिलते दूसरी ज्वाला उत्पन्न होती और पहली ज्वाला से मिलकर ज्वाला में वृद्धि हो जाती, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः प्रदीप की ज्वाला अवस्थित नहीं रहती है, किन्तु क्षण क्षण में विनष्ट होती रहती है अर्थात् क्षणिक है।

एवं आश्रय का अभाव हो जाने से भी ज्वाला क्षणिक सिद्ध होती है। अर्थात् जिस आश्रय को पाकर ज्वाला उत्पन्न होती है, उसको वह ज्वाला उत्पन्न होते ही भस्म कर डालती है, अतः आश्रय के विना ज्वाला का कायम रहना अयुक्त है। यदि वैसा हो तो इन्धन का उपयोग समाप्त हो जाने के बाद भी ज्वाला को अवस्थित (कायम) रहना चाहिये।

एवं, आवरण के पड़ने पर प्रभा में भेद होने लगेगा। अर्थात् जो ज्वाला का स्थिर मानना चाहते हैं, उनके अनुसार ज्वाला के ऊपर किसी आवरण के पड़ने पर उस ज्वाला की फैली हुई प्रभा दो भागों में विभक्त प्रतोत हानो चाहिये। क्योंकि प्रभा का कारण ज्वाला पूर्ववत् कायम है। जैसे पट के ऊपर किसो छोटे आवरण के पड़ जाने पर उसका कुछ तन्तु इधर और कुछ तन्तु उधर दिखाई पड़ता है और तन्तु दो भागों में विभक्त हो जाता है। प्रभा का तो द्वैधोकरण इष्ट नहीं है। अतः दीप में ज्वाला को अवस्थिति नहीं रहती है, इसलिये वह क्षणिक है।

एतेन शब्दोऽपि प्रत्युक्तः। कथम्? तस्यापि यदि विनाशो न स्यात् द्रुतपवनाम्बुधाराभिघातात् प्रतिक्षणमपूर्वशब्दाविर्भावात् पूर्वशब्दाविनाशाच्च वृद्धिः स्यात्। अदृष्टा चासौ।

किञ्च प्रत्यक्षत उपलब्धेः। पाण्युपघातजो हि शब्द उत्पत्तेरूर्ध्वं न भवतीति प्रत्यक्षसिद्धमिदम्। अभिव्यक्तेरिति चेन्न; नियमदर्शनात्। शब्दानां वाच्यवक्तृभेदभिन्नानां कारणनियमो दृष्टः नचैतदस्ति समानेन्द्रियग्राह्याणाम्।

किञ्च पृथक् श्रुतेः। अभिव्यक्तिकारणदेशाच्च पृथक् श्रूयते शब्दः। न चैतदभिव्यक्तानां घटादीनां दृष्टमिति क्षणिकाः।

बुद्धेस्तु प्रागेवोक्ता नाशहेतवः। तत्र यदुक्तं साध्यत्वात् प्रदीपज्वालाबुद्धिशब्दादीनां क्षणिकत्वस्य, न संस्काराः क्षणिका इति एतदयुक्तम्।

इससे शब्द का भी अक्षणिकत्व खण्डित हो गया। क्योंकि शब्द का भी यदि विनाश न हो तो तेज वायु एवं जलधारा के अभिघात से प्रत्येक क्षण में अपूर्व (नये) शब्द का आविर्भाव होने से तथा पूर्वशब्द के विनष्ट नहीं हुऐ रहने से दोनों शब्दों को मिलाकर बढ़ा हुआ शब्द उत्पन्न होना चाहिये; किन्तु वैसा नहीं देखा गया है।

एवं शब्द का विनाश प्रत्यक्ष से उपलब्ध होता है। अर्थात् हाथ की ताली से उत्पन्न शब्द उत्पत्ति के बाद नहीं रहता है, यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है। यदि कहो कि शब्द उत्पन्न नहीं होता किन्तु उसको अभिव्यक्ति होती है। इसीलिये हाथ की ताली से हुआ शब्द उत्पन्न नहीं होता है, और न विनष्ट होता है, किन्तु अभिव्यक्त होता है और तिरोहित होता है, तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि शब्दोत्पत्ति में नियम देखा जाता है। अर्थात् वाच्य भेद से और वक्ता के भेद से उसके कारण नियत होते हैं। किन्तु वे शब्द यदि एक ही इन्द्रिय से अभिव्यक्त भर होते तो उनके लिये नियत कारणभेद की अपेक्षा न होती।

एवं, शब्द का पृथक् श्रवण होने से भी वह उत्पत्ति-विनाश शाली है। अर्थात् अभिव्यक्ति के कारणभूत देश से पृथक् शब्द सुना जाता है। यदि शब्द अभिव्यक्त होता तो उसी देश में अभिव्यक्त होता। जैसे घटपटादि कारणदेश में ही अभिव्यक्त होते देखे गये हैं। इसलिये उत्पत्तिविनाशशाली होने से शब्द क्षणिक हैं।

बुद्धि के नाश के हेतु तो पहले ही कहे जा चुके हैं। इसलिये यह जो कहा कि प्रदीपज्वाला बुद्धि एवं शब्दादि का क्षणिकत्व असिद्ध है, अतः संस्कार [विकार] क्षणिक नहीं हैं; वह अयुक्त है।

उच्यते—यदुक्तं वृद्ध्यदर्शनादिति, अत्र ब्रूमः—अयुक्तमेतत्। कस्मात्? विशेषप्रतिपत्तेः। क्षणिकमित्युक्तपरिमाणोऽयं कालनिर्देश आश्रीयते। वृद्ध्यभावादिभ्यश्च कदाचिद् विनाशमात्रं प्रतीयते। स तु विनाश एकक्षणमवस्थितानां ज्वालानां भवति न पुनः क्षणद्वयं [त्रयं वा पर्युषितानामित्यत्र हेतु···तस्माद् युक्तमप्येतदयुक्तम्। यत् पुनरेतदुक्तं (उक्तम्)—इन्धनानवस्थानाज्ज्वालानवस्थानमित्यत्र ब्रूमः—एतदप्यनुपपन्नम्, साध्यत्वात्। क्षणमवस्थितस्येन्धनस्य निरोधः, न पुनः···] इत्येतदप्रमाणकमाज्ञामात्रावगृहीतशिक्षाकः कः प्रतिपत्तुमुत्सेहत?

यत्तूक्तम्—आवरणोपनिपातात् प्रभाभेदप्रसङ्ग इति—एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? उभयथाऽनुपपत्तेः। किं तावद् यस्य द्वैधीभावो दृष्ट-

---

सिद्धान्ती का समाधान—यह जो कहा कि 'इन्धनान्तर का प्रक्षेप होने पर ज्वाला की वृद्धि नहीं देखे जाने से ज्वाला क्षणिक है' उस पर हमारा कहना है कि यह कथन अयुक्त है। क्योंकि इससे विशेष को प्रतिपत्ति होती है। अर्थात् 'क्षणिकम्' इससे काल का एक परिणामविशेष कहा गया है और उसी परिणाम वाले काल का निर्देश अपनाया जाता है; न कि वस्तु का विनाश होता है।

पूर्वोक्त वृद्ध्यभाव आदि हेतुओं से कादाचित्क विनाशमात्र की प्रतीति हो सकती है, किन्तु वह विनाश एकक्षणमात्र अवस्थित ज्वालाओं का होता है, न कि दो क्षण या तीन क्षण अवस्थित ज्वालाओं का—इस प्रमाणशून्य मत को आज्ञामात्र से कौन मूढ मानने के लिये तैयार होगा?

कोष्ठकगत पाठभेद का अर्थ—[वह विनाश एक क्षणमात्र अवस्थित ज्वालाओं का होता है, न कि दो क्षण या तीन क्षणों तक का अन्तर पायी ज्वालाओं का होता है, इसमें कोई हेतु (आपने नहीं दिया) इसलिये वृद्ध्यभाव आदि होने पर भी आपके द्वारा क्षणिकत्वसाधन अयुक्त है।

और जो यह कहा कि 'इन्धन के अवस्थित नहीं होने से ज्वाला भी अवस्थित नहीं रहेगी' इस पर हमारा कहना है कि यह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि यह भी साध्य कोटि में है। कारण, इन्धन का निरोध (अभाव) उसके एक हो क्षण रहने के बाद हो जाता है, न कि दो-तीन क्षण पर्युषित का। अर्थात् दो-तीन क्षणों का अन्तर पाये का होता है—इसमें कोई हेतु आपने नहीं दिया है। अर्थात् यदि इन्धन अनेक क्षणावस्थायी हो सकता है, तो उसमें आश्रित ज्वाला भी अनेक क्षण स्थायी हो सकती है। अतः ज्वाला का क्षणिकत्व असिद्ध है।]

पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि—ज्वाला के ऊपर आवरण पड़ने पर प्रभा में

स्तदक्षणिकम् ? आहोस्विद् यस्य न दृष्टः तत्क्षणिकमिति ? किं चातः ? तद् यदि तावदेवमभ्युपगम्यते यस्य द्वैधीभावस्तदक्षणिकमिति—तन्तोरक्षणिकत्वप्रसङ्गः। अथ मतम् यस्य द्वैधीकरणं न दृष्टं तत्क्षणिकमिति—यथाकिमित्युदाहार्य्यम्। कुतः ? यस्मात् न ह्यनुदाहृतो वादः।

एतेन शब्दवृद्धिः प्रत्युक्ता। यत्पुनरेतदुक्तम्—पाण्युपघातजशब्दानवस्थानादिति—तत्र भवतैवोक्तम्, व्यङ्ग्यत्वादिति। यत्तूक्तम्—नियमदर्शनान्न व्यङ्ग्यः शब्द इति—तदयुक्तम्। अनेकान्तात्। यथा शुक्लकृष्णौ नियमतः शुक्लकृष्णशब्दाभ्यां प्रत्याय्येते, न च तौ तयोर्न व्यङ्ग्यौ।

एवं शब्दस्यापि वक्तृवादि[1] (त्वादि) (वक्तृवाच्यादि) नियमः

द्वैधीभाव (भिन्नता) की प्रसक्ति हो जायेगी—यह भी अयुक्त है। क्योंकि दोनों ही प्रकारों से यह अनुपपन्न है। क्या जिसका द्वैधीभाव देखा गया है; वह अक्षणिक (स्थिर) है ? या जिसका द्वैधीभाव नहीं देखा गया है; वह क्षणिक है ?

प्रश्न—इस विकल्प के उपन्यास से क्या आया ?

उत्तर—यदि तो ऐसा माना जाता है कि जिसका द्वैधीभाव होता है; वह अक्षणिक है—तब तन्तु में अक्षणिकत्व का प्रसङ्ग हो जायेगा। यदि यह माना जाता है कि—धिसका द्वैधीकरण नहीं देखा गया है; वह क्षणिक है—तो 'यथा' के रूप में क्या उदाहरण देय होगा ? क्योंकि बिना उदाहरण वाद (कथाविशेष) नहीं होता है।

इससे शब्दवृद्धिप्रसङ्गरूप दोष भी खण्डित हो गया। यह भी जो कहा कि 'हाथ की ताली से उत्पन्न शब्द अवस्थित नहीं रहता है, किन्तु तुरन्त शष्ट हो जाता है' तो इसके सम्बन्ध में आप ही ने कहा है कि वहाँ का शब्द व्यङ्ग्य होता है। अर्थात् वहाँ पर शब्दान्तर का आविर्भाव आपने कहा है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व शब्द का वहाँ तिरोभाव हो जाने से शब्दवृद्धि नहीं होगी। साथ ही हाथ की ताली से उत्पन्न शब्द भी नष्ट नहीं होता किन्तु तिरोहित हो जाता है।

जो तो यह कहा कि 'हम शब्द को व्यङ्ग्य नहीं मानते; क्योंकि शब्द की प्रतीति होने में नियम देखा जाता है' तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें व्यभिचार दोष है। कारण, शुक्लशब्द और कृष्णशब्द से नियमतः शुक्ल और कृष्ण अर्थों की प्रतीति होती है, फिर भी वे उन शब्दों के व्यङ्ग्य नहीं हैं, ऐसी बात नहीं। ऐसे ही भिन्न-भिन्न शब्द के होने में वक्ता-वाच्य आदि का नियम होने पर भी शब्द भी अव्यङ्ग्य नहीं होकर व्यङ्ग्य ही होगा।

---

१. 'वक्तृवादि' इति मुद्रितपुस्तकपाठः।

स्यात्, न चाव्यङ्ग्यः स्यात् । यदप्युक्तम्—व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोर्देशभेदानुपपत्तेर्न व्यङ्ग्यः शब्द इति—तदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? चक्षुर्वत् तत्सिद्धेः । तद्यथा, चक्षुषो रूपस्य च देशभेदेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः, एवं शब्दस्यापि स्यात् । तस्मान्न शब्दोऽपि क्षणिकः ।

बुद्धेस्तु स्वाधिकार एव क्षणिकत्वहेतुनिराकरणं वक्ष्यामः । तत्र यदुक्तमन्ते क्षयदर्शनात् प्रदीपज्वालाबुद्धिशब्दवत् क्षणिकाः संस्कारा इत्येतदयुक्तमिति ।

आह—इतस्तर्हि प्रदीपादीनामन्येषां च भावानां क्षणिकत्वम् । कुतः ? अवस्थाने हेत्वभावात् । नष्टश्चेदर्थोऽभ्युपगम्यते, ननु प्राप्तमिद-

---

यह भी जो कहा कि 'व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का भिन्न-भिन्न देश नहीं हो सकने से शब्द व्यङ्ग्य नहीं हो सकता है। अर्थात् व्यङ्ग्य वहीं होता है, जहाँ व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का अभिन्न देश होता है। शब्द का कारण नगाड़ा आदि कहीं अन्य देश में होता है और शब्द किसी अन्य देश में सुनाई पड़ता है। इसलिए शब्द को व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है' तो यह भी कथन अयुक्त है। क्योंकि चक्षु के समान देशभेद होने पर भी व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव बन सकता है। अर्थात् जैसे चक्षु और रूप में देशभेद होने पर भी उनमें व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव देखा जाता है, वैसे ही देशभेद होने पर भी नगाड़ा व्यञ्जक और शब्द व्यङ्ग्य हो सकता है। अतः शब्द भी क्षणिक नहीं है।

बुद्धि के क्षणिकत्व में हेतु का निराकरण तो उसके अधिकार में ही आगे चलकर कहेंगे। अतः यह जो कहा कि 'अन्त में क्षय देखे जाने से प्रदीपज्वाला बुद्धि और शब्द के समान संस्कार (विकार) क्षणिक हैं' यह कथन अयुक्त है। [यहाँ संस्कार का अर्थ भावविकार है]।

बौद्ध पूर्वपक्षी—तब इसहेतु प्रदीप आदि का और अन्य भाव वस्तुओं का क्षणिकत्व होगा।

प्रश्न—किस हेतु से ?

उत्तर—इनके अवस्थित रहने में (स्थिर रहने में) कोई हेतु नहीं है। क्योंकि यदि नष्ट हो जाने पर भी वस्तु की सत्ता मानी जाती है, तो यह बात प्राप्त हो जायगी कि उत्पन्न हुये सभी पदार्थों में विनाशरूपी विघ्न नहीं है। अर्थात् किसी भी वस्तु का कभी विनाश होगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में सभी भाव पदार्थ कूटस्थ हो जायेंगे।

अथवा पदार्थों के कायम रहने में कोई हेतु नहीं है। यदि तो पदार्थ को (सदा)

मुत्पन्नमात्रस्यास्य विनाशविघ्नो नास्तीति। [तावत्येव विनाशेन भवितव्यम्। अथ सति प्रतिबन्धे न विनाशः स्यादिति] कौटस्थ्यं सर्वभावानां प्राप्तमिति।

उच्यते, न, कारणोपपत्तेः। अधिकारो हि सर्वभूतानां संस्कारवशादुत्पत्तिस्त [दवस्थानमेव तेषामलं स्थितये। सति विनश्वरत्वे संस्कारोपयोगे तु स्थित्यपभ्रंश इत्यतोऽस्ति कश्चित् काल] मवस्थानं भावानाम्। न च कौटस्थ्यप्रसङ्गः।

किञ्चान्यत्—सन्ततिविनाशप्रसङ्गात्। नंष्टुश्चेदुत्पत्तिसमनन्तरं विनाश इष्यते, सन्ततिरप्यन्ते क्षयदर्शनान्नंष्ट्री। तस्या अपि तथैव विनाशः प्राप्तः। ततश्च तडिद्विलसितवत् क्षणदृष्टनष्टस्य त्रैलोक्य-

---

नष्ट ही स्वीकार किया जाय तो यह बात प्राप्त हो जायेगी कि उत्पन्न हुए सभी पदार्थ विनाशरूपी विघ्न से रहित हैं। अर्थात् स्वतः नष्ट हुये के विनाश का प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि उत्पन्न होते ही विनाश को स्वतः हो जाना है। यदि माना जाय कि प्रतिबन्धक होने से उत्पत्तिक्षण में ही विनाश नहीं होगा तो ऐसी स्थिति में सभी भाव पदार्थ कूटस्थ हो जायेंगे।

अतः पदार्थ न तो सदा अवस्थित ही हैं, और न तो सदा नष्ट ही हैं; किन्तु क्षणिक हैं। अर्थात् क्षणमात्रावस्थायी होकर नष्ट हो जाते हैं।

सिद्धान्ती— उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि स्थिरपक्ष में कारण की उपपत्ति है। अर्थात् सभी भूतों का यह अधिकार है कि संस्कारवश (कारण से) उनकी उत्पत्ति होती है, तथा उस संस्कार का कायम रहना ही उन भूतों को स्थिर रखने में पर्याप्त (समर्थ) है। अतः भाववस्तु यदि विनश्वर है अर्थात् कूटस्थ नित्य नहीं है, तो संस्कार का उपयोग हो चुकने पर ही उसकी स्थिति का अभाव होता है। अत एव कुछ काल तक भाव पदार्थ स्थिर रहते हैं और उनमें कूटस्थत्व की प्रसक्ति भी नहीं आती है।

और भी—क्षणिकवाद में सन्तति (सन्तान या धारा) का भी विनाश प्रसक्त हो जायगा। अर्थात् नाशवान् वस्तु का यदि उत्पत्ति के बाद ही विनाश मान लिया जाय तो अन्त में क्षय देखे जाने से सन्तति भी नाशवान् है, अतः उसका भी उसी तरह उत्पत्ति के बाद तत्काल विनाश हो जायगा। ऐसी स्थिति में बिजली की चमक की तरह क्षणमात्र दृष्ट होकर नष्ट हो जाने वाले इस त्रैलोक्य का अभाव हो जाने से

स्याभावे संसारोच्छेदप्रसङ्गः। तस्मादयुक्तं नंष्टुरुत्पत्तिसमकालमेव विनाश इति।

कारणावस्थानान्न दोष इति चेत्, स्यान्मतम्—अस्ति कारणं पूर्वोत्पन्नो भाव उत्तरस्योत्पत्तौ, स चाप्युत्तरस्य इत्येवं सन्ततेरनुच्छेदः। विरोधिभावान्तरसंसर्गात्तूभयतस्तथोत्पत्तेर्भ्रंश इति।

एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? पूर्वहेतुत्यागात्। प्रागुक्तम्, येन नंष्टव्यमसौ मन्त्रौषधमङ्गलप्रयोगैरपि क्षणादूर्ध्वं नावतिष्ठते। साम्प्रतं तु नंष्ट्री सन्ततिः कारणवशादेव तिष्ठतीति सोऽयं पूर्वहेतुत्यागः।

विनाशहेत्वभावात् क्षणिकत्वमिति चेत्, स्यादेतत्—नास्ति भावानां

संसार का उच्छेद प्राप्त हो जायगा। अतः यह कहना अयुक्त है कि नाशवान् वस्तु उत्पन्न होते ही विनष्ट हो जाती है।

शङ्का— कारण के अवस्थित रहने से सन्ततिउच्छेद (संसारोच्छेद) दोष नहीं होगा। अर्थात् पूर्व में उत्पन्न भाव उत्तरकालीन भाव की उत्पत्ति में कारण होता है, और वह उत्तर काल में उत्पन्न भाव भी अपने उत्तरकालीन भाव की उत्पत्ति में कारण होता है। इस प्रकार कारणपरम्परा के होने से भावसन्तति का उच्छेद नहीं होगा और संसारोच्छेद का प्रसङ्ग नहीं आयगा। यहाँ भाव वस्तु के दोनों तरफ (पूर्व में और बाद में भी) विरोधि अन्य भावों के संसर्ग से ही पूर्व में भी और बाद में भी अर्थात् दोनों तरफ उत्पत्ति के बाद विनाश हो जाता है। इस प्रकार सन्तति का उच्छेद भी नहीं होता और क्षणिकत्व भी सिद्ध हो जाता है।

समाधान— पूर्वपक्षी का यह कथन भी अयुक्त है। क्योंकि पूर्व हेतु का त्याग हो जाता है। अर्थात् पूर्व में आपने कहा था कि 'जिसे नष्ट हो जाना है, वह अनेक मन्त्र-ओषधि एवं मङ्गलप्रयोगों में भी एक क्षण के बाद कायम नहीं रह सकता है। और इस समय आप ही कहते हैं कि 'नाशवान् सन्तति अपने कारणवश से ही अवस्थित रहती है।' इस प्रकार पूर्व हेतु का त्याग हो गया। अतः या तो सन्तति का भी उच्छेद मानकर संसार का उच्छेद स्वीकार करो अथवा भावों के भी क्षणिकत्व का आग्रह छोड़कर उनका स्थिरत्व मानो।

शङ्का— विनाश का हेतु नहीं होने से भाव क्षणिक हैं। अर्थात् भावों के विनाश का हेतु उपलब्ध नहीं है। इसलिये समझा जाता है कि भावों का प्रध्वंस

विनाशहेतोरुपलम्भ इति। अतः स्वाभाविकः प्रध्वंसः। तस्मादुत्पत्तिसमकालमसौ केन वार्यते ?

इदमप्ययुक्तम्—कस्मात् ? अनभ्युपगमात्। को ह्येतदवमंस्यति, अहेतुको विनाशः। किं तर्हि ? प्रागेवोक्तमर्थवशाद् भावानां स्थितिस्तद (वभ्रंशश्च)[1] विरोधिद्रव्यान्तरसम्बन्धेनाध्यात्मिकादिना भवतीति।

विनाशस्य विनाशप्रसङ्गादयुक्तमिति चेत्, यदि तर्ह्यभावोऽपि हेतुमान् परिकल्प्यते, प्राप्तमस्यापि घटवद् विनाशित्वम्। अनिष्टं चैतत्। तस्मादहेतुको विनाशः इत्येतदयुक्तम्। कस्मात् ? व्यक्त्यपगमप्रतिज्ञानात्। भावविनाशिनं प्रति सत्यमेवायमुपालम्भः स्यात्, व्यक्त्यपगमस्तु नो विनाशः। स तु हेतुमत्त्वेन कथं विरोत्स्यत इति। तस्मान्न विनाशहेत्वभावात् क्षणिकं संस्कृतमिति।

(विनाश) स्वाभाविक है, अपने आप होता रहता है। अतः भावों की उत्पत्ति के समकाल उनके विनाश को कौन रोक सकता है ? इसलिये भाव क्षणिक हैं।

समाधान— यह शङ्का भी अयुक्त है। क्योंकि भावों का स्वाभाविक विनाश अमान्य है। अर्थात् कौन इसे मानेगा कि भावों का अहेतुक (स्वाभाविक) विनाश होता है।

प्रश्न— तो क्या होता है ?

उत्तर— यह पहले ही कहा जा चुका है कि अर्थवश या प्रयोजनवश भावों की स्थिति होती है और उसका अवभ्रंश (तिरोभाव) भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक या आधिदैविक विरोधी द्रव्यान्तर के संसर्ग से होता है।

शङ्का— विनाश को हेतुमान् मानना अयुक्त है; क्योंकि तब विनाश का भी विनाश प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् यदि अभाव को भी घटादि के समान हेतुमान् (सहेतुक) कल्पित किया जाता है, तो घट के समान अभाव का भी विनाश प्राप्त हो जायगा; किन्तु यह अनिष्ट है। अतः विनाश अहेतुक होता है।

समाधान— उपर्युक्त शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि अभिव्यक्ति का हट जाना ही हमारी प्रतिज्ञा का विषय है। अर्थात् भाव को जो विनाशी मानता है, उसके प्रति ठीक ही यह आक्षेप हो सकता है। किन्तु हमारे मत में तो वस्तु की अभिव्यक्ति का हट जाना (तिरोभाव होना) ही विनाश है, उसका प्रध्वंस हो जाना नहीं। उसका फिर सहेतुकत्व के साथ कैसे विरोध होगा ? अर्थात् विनाश नाम की कोई वस्तु ही

---

१. अत्र खण्डितः पाठः।

इतश्च न क्षणिकम् । कस्मात् ? अग्रहणप्रसङ्गात् । इहाऽसतोऽग्रहणं दृष्टम् । तद्यथा-द्वितीयस्य शिरसः क्षणादूर्ध्वं च घटादयो न भवन्ति । तस्मात्तेषामप्यग्रहणप्रसङ्गः ।

तत्सदृशोत्पत्तेरदोष इति चेत्, स्यादेतत्—उत्पत्तिसमकालं निरोधेऽपि घटस्यान्यस्य तादृशस्योत्पत्तिर्भवति; तन्निरोधेऽन्यस्येत्येवमविच्छेदेन ग्रहणं भवति, ज्वालानदीस्रोतोऽनुसन्धानवदिति ।

एतदप्ययुक्तम्—कुतः ? कारणाभावात् । स्यादेतदेवं यदि तदानीं सदृशोत्पत्तौ कारणं स्यात्,न तु तदस्ति,प्रागेव निरोधात् । तस्मादसदेतत् ।

नहीं होती । अतः यह कहना ठीक नहीं है कि विनाश का हेतु नहीं होने से (विनाश के अहेतुक होने से) सब भाव पदार्थ स्वभावतः क्षणिक है ।

विश्लेषण— तिरोभाव का सहेतुकत्व के साथ कोई विरोध नहीं है । क्योंकि सत्कार्य पक्ष में तिरोभाव आविर्भाव की परम्परा चल सकती है । अर्थात् तिरोभाव हटकर पुनः आविर्भाव हो सकता है । नैयायिकों के विनाश के समान यदि तिरोभाव भी अनन्त होता तो सहेतुक होने पर उसकी अनन्तता समाप्त होने लगती और विरोध का प्रसङ्ग हो जाता ।

इससे भी भाव वस्तु क्षणिक नहीं है । क्योंकि उसका अग्रहण होने लगेगा । अर्थात् यहाँ असत् का अग्रहण देखा गया है, जैसे—द्वितीय सिर का ग्रहण नहीं होता है । बौद्ध मत में क्षण के बाद ही घट आदि असत् हो जाते हैं । इसलिये दूसरे क्षण में घटादि का ग्रहण नहीं होना चाहिये । किन्तु होता है, इसलिये घटादि वस्तु स्थिर हैं, क्षणिक नहीं हैं ।

शङ्का—पूर्वघट के द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाने पर भी उसके सदृश अन्य घट के उत्पन्न हो जाने से उक्त अग्रहण दोष नहीं होगा । अर्थात् घटादि की उत्पत्ति के समकाल अन्य घट की उत्पत्ति हो जाती है । पुनः उसके भी नष्ट हो जाने पर अन्य की उत्पत्ति हो जाती है । इस प्रकार घटपरम्परा का विच्छेद नहीं होने से क्षणिक पक्ष में भी ग्रहण हो जाता है; जैसे क्षणिक होने पर भी ज्वाला एवं नदी प्रवाह की अविरल प्रतीति होती है, वैसे ही ।

समाधान—उक्त शङ्का भी युक्त नहीं है । क्योंकि सदृश उत्पत्ति में कोई कारण नहीं है । अर्थात् ऐसा तब होता, यदि उस क्षण में सदृश अन्य घट की उत्पत्ति में कारण होता । किन्तु वह कारण नहीं है, क्योंकि उसका पहले ही नाश हो चुका है । अतः उक्त शङ्का असत् है ।

पूर्वोत्पन्नस्य कारणभावात् तत्सिद्धिरिति चेन्न, उपादानात् तन्निष्पत्तिप्रसिद्धेः। इहोपादानान्मृपिण्डकसंज्ञकाल्लोके घटनिष्पत्तिः प्रसिद्धा, न च तदानीमस्ति मृत्पिण्डः।

किञ्च क्रमानुपलब्धेः। इह शिविकादीनामनुक्रमेण घटोत्पत्तिरुपलभ्यते। न चानुक्रमोऽस्ति। किञ्च कारकसामग्र्यभावात्। इह कुम्भकारदण्डचक्रसूत्रोपलसामग्र्याद् घटनिष्पत्तिः प्रसिद्धा। न चास्त्येषां तत्र संभवः।

किञ्च तदुत्पाद्यान्तरोत्पाद्यस्यानिष्पत्तेः। इह घटाद् घटनिर्वृत्तिर्न प्रसिद्धा लोके। न चाप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः। बुद्धिशब्दवदिति चेत्, स्यादेतत्—यथा बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरं सदृशं सूते, शब्दश्च शब्दान्तरमेवं घटाद् घटनिष्पत्तिर्भवतीति। एतदप्यसत्। कस्मात्? सिद्धं हि बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं

यदि कहो कि 'पूर्व उत्पन्न वस्तु ही कारण है, इसलिये अग्रिम क्षण में अन्य घट की उत्पत्ति सिद्ध हो जायेगी' तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि उपादान कारण से घट की निष्पत्ति प्रसिद्ध है। अर्थात् इस लोक में मृत्पिण्ड नामक उपादान से घट की उत्पत्ति प्रसिद्ध है। किन्तु अग्रिम क्षण में मृत्पिण्ड है नहीं। अतः कारण के अभाव में सदृशघट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

एवं पुनः पुनः घटान्तर की उत्पत्ति में क्रम की उपलब्धि नहीं होती है। यहाँ लोक में शिविका(पालकी)आदि के क्रम से घट की उत्पत्ति देखी जाती है। [शिविका=जिसमें मिट्टी ढोयी जाय] किन्तु घटान्तर की उत्पत्ति के लिये अपेक्षित क्रम का अभाव है। एवं कारक सामग्री का भी अभाव है। अर्थात् यहाँ कुम्भकार-दण्ड-चक्र-सूत्र एवं उपलरूपी सामग्री से घट की उत्पत्ति प्रसिद्ध है; किन्तु वहाँ इनका सम्भव नहीं है।

एवं कुम्भकार आदि से उत्पन्न होने वाले घट से अन्य उत्पाद्य की उत्पत्ति नहीं होती है। अर्थात् यहाँ लोक में घट की निष्पत्ति प्रसिद्ध नहीं है। और अप्रसिद्ध कोई दृष्टान्त नहीं होता है।

यदि कहो कि बुद्धि और शब्द दृष्टान्त होगा। अर्थात् जैसे, एक बुद्धि अपने सदृश अन्य बुद्धि को पैदा करती है, तथा एक शब्द अपने सदृश अन्य शब्द को पैदा करता है, ऐसे ही पूर्वघट से उत्तरघट की उत्पत्ति होती है—तो यह भी नहीं है। क्योंकि बुद्धि से अन्य बुद्धि का होना तथा शब्द से अन्य शब्द का होना हमें भी प्रसिद्ध है। किन्तु घट से घट की उत्पत्ति तो सर्वथा अप्रसिद्ध है। अतः उक्त कथन प्रलापमात्र है।

शब्दाच्च शब्दान्तरं जायत इत्येतदप्यस्माकं प्रसिद्धम् । तस्मात् प्रलापमात्रमेतत् ।

तत्र यदुक्तम्—सदृशोत्पत्तेः सोऽयमिति ग्रहणमविच्छिन्नं क्षणिकत्वेऽपि भावानाम्-इत्येतदयुक्तम् ।

किञ्चान्यत्—कार्योत्पत्तिकाले कारणनिवृत्तेः । यदा न कारणमस्ति, न तदा कार्यमुत्पद्यते, द्वयोर्घटयोर्युगपदुपलब्धिप्रसङ्गात् । यदा तु कार्यमुत्पद्यते, तदा कारणं निरुद्धमिति निर्बीजः प्रादुर्भावः प्राप्नोति । अनिष्टं चैतत्, सततोत्पत्तिप्रसङ्गात् ।

अनुत्पन्ने हेतुसामर्थ्यादिदोष इति चेत्, स्यात्तत्—अनुत्पन्ने कार्ये कारणेन प्रयोजनम्, उत्पन्ने तद्व्यापारानर्थक्यात् । अस्ति चानुत्पन्ने कार्ये कारणम् । अतो न निर्बीजः प्रादुर्भाव इति ।

एतदप्ययुक्तम्—कस्मात् ? अभावेऽपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । अङ्ग !

इसलिये यह जो कहा कि भावों के क्षणिकत्वपक्ष में भी सदृश की उत्पत्ति होने से यह वही घट है ऐसी बुद्धि बिना किसी व्यवधान के होती रहती है—यह कथन अयुक्त है ।

और भी दोष है—कार्य की उत्पत्ति के समय में कारण की निवृत्ति हो गई रहती है । इसलिये भी क्षणिकवाद में अग्रिम क्षणों में घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । अर्थात् जब कारण नहीं है, तब कार्य नहीं उत्पन्न होता है । क्योंकि यदि कारण के अभाव में भी कार्य उत्पन्न हो तो एक साथ दो घड़ों की उपलब्धि होने लगेगी; एक कारण से उत्पन्न घट की और दूसरे बिना कारण उत्पन्न घट की । एवं जब कार्य उत्पन्न होता है, उस समय कारण नष्ट हो गया रहता है । ऐसी स्थिति में कोई भी (प्रादुर्भाव) उत्पत्ति बिना बीज (कारण) के होने लगेगी । किन्तु यह अभीष्ट नहीं हो सकता है । क्योंकि वैसी स्थिति में सदैव उत्पत्ति होने लगेगी ।

शङ्का—अनुत्पन्न कार्य के प्रति हेतु की अपेक्षा होने से उक्त दोष नहीं होगा । अर्थात् जो कार्य उत्पन्न नहीं हुआ है, उसी कार्य के प्रति कारण का प्रयोजन है । जो कार्य तो उत्पन्न हो चुका है उसके प्रति कारण व्यापार निरर्थक है । यहाँ अनुत्पन्न कार्य में कारण का प्रयोजन है । इसलिये निर्बीज प्रादुर्भाव का प्रसङ्गदोष नहीं होगा ।

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि क्षणिकत्वपक्ष में कारण के

तावत् अणुशो विभज्यन्तामग्नौ वा क्षिप्यन्तां तन्तवस्तदापि प्रसिद्ध्यविनाशानामभूवन्निति (?) शक्यमुपदेष्टुम्, यदि तेभ्यः पट उत्पद्यते। तस्माद् भ्रान्तिरियम्।

युगपत् कार्यकारणयोरुत्पत्तिनिरोधौ तुलानतोन्नतवदिति चेत्, स्यादेतद्—यथा नामोन्नामौ तुलान्तर्या[1](?)यौगपद्येन भवतः, एवमुत्पत्तिविनाशौ कार्यकारणयोरिति। तदप्ययुक्तम्। कस्मात्? कार्यकारणभावाऽदर्शनात्। किमिदमुदके निमज्जद्भिः फेनमवलम्ब्यते? तुल्या तस्य ह्येकस्यावनतिरवस्था तद् द्वितीय स्योन्नतये हेतुर्भवति। भवतः कारणविनाशः कार्योत्पत्तिश्च यौगपद्येन भवतः। न च तयोर्हेतुहेतुमद्भावः शक्यः कल्पयितुम्। तस्मादयुक्तमेतत्।

विशेषग्रहणात् क्षणिकत्वसिद्धिरिति चेत्, स्यान्मतम्—यद्युत्पन्नमात्रो-

---

अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग होने लगेगा। अर्थात् तन्तुओं को अणु-अणु के रूप में विभक्त कर दिया जाय या अग्नि में डाल दिया जाय तो भी यदि इनसे पट की उत्पत्ति होती हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि क्षण विनष्ट वस्तु से भी कार्य की उत्पत्ति होगी। इसलिए यह भ्रम है कि तन्तु के नष्ट होने पर पट भी उत्पत्ति होती है।

पूर्वपक्ष—कार्य की उत्पत्ति एवं कार्य का विनाश दोनों एक साथ होते हैं। जैसे—तराजू में एक भाग का नत होना और दूसरे भाग का उन्नत होना एक साथ होता है। अर्थात् जैसे तराजू में नमन और उन्नमन दोनों एक साथ होते हैं, वैसे ही कार्य की उत्पत्ति और कारण का विनाश ये दोनों भी एक साथ होंगे।

समाधान—उक्त कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक साथ होने वाले में कार्यकारणभाव नहीं देखा जाता है। जैसे दो सींगों में कार्यकारणभाव नहीं होता। अतः पानी में डूबते हुए के द्वारा फेन का अवलम्बन क्यों किया जा रहा है। तराजूस्थल में एक की अवनति-अवस्था दूसरे को उन्नति का हेतु समानरूप से होती है। किन्तु आप के मत में कारण का विनाश और कार्योत्पत्ति एक साथ होता है। अतः एक साथ होने वाले कारणविनाश और कार्य-उत्पत्ति में हेतुहेतुमद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसीलिए उक्त कथन ठीक नहीं है।

पूर्वपक्षी—विशेषता का ग्रहण होने से क्षणिकत्व की सिद्धि होती है।

अर्थात् यदि भावों की उत्पत्ति होते ही उनका विनाश नहीं होता है तो वायु

---

१. तुलानान्तर्याद् इति, तुल्योरनान्तर्याद् इति, तुलान्तरयोर् इति वा पाठः संभवति।

परतिर्नास्ति भावानाम् किं कृतः शरीरादीनां प्राणापानश्रमरूपाविकृतोऽश्मा-श्मप्रभृतीनां च शीतोष्णस्पर्शकृतो भेदः ? घण्टादीनां चाशब्दकानां पश्चाच्छब्दवतां ग्रहणम् ? तस्मादनिषिद्धः क्षणभङ्गः । इत्येतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? उक्तत्वात् । उक्तमत्रोत्तरम्--कारणाऽभावेऽनुत्पत्तिप्रसङ्गादिति । किञ्च, संस्थानान्तराऽनुपलब्धेः । न ह्यत्र पूर्वसंस्थानविपरीतं संस्थानान्तरं गृह्णीमहे । तस्मादविशिष्टास्त इत्येव गम्यताम् । विशेषग्रहणन्त्ववस्त्वन्तरानुग्रहे शक्त्यन्तराविर्भावात् । उक्तञ्च--व्यक्तेरपगमोऽभीष्टः पूर्वसंस्थानहानितः । तदभावादसिद्धोऽस्य विशे][1] ॥ १० ॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥[2]

शरीर आदि में प्राण-अपान, श्रम एवं रूपादि की वजह से भेद क्यों होता है ? एवं शङ्ख तथा पत्थर आदि में शीत-उष्ण स्पर्शों के कारण भेद क्यों होता है ? एवं जो घण्टा आदि पहले बिना शब्द के थे, पीछे चलकर शब्दसहित उनका ग्रहण क्यों होता है ? अतः क्षणभङ्ग का निषेध नहीं हो सकता है ।

समाधान--यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि यहाँ उत्तर दिया जा चुका है कि क्षणिकपक्ष में कारण का अभाव होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी ।

विश्लेषण--'शरीरादीनाम्' यहाँ आदिपद से वायु आदि गृहीत है । प्राण अपान आदि के रूप में वायु में भेद होता है और श्रम (व्यायाम) आदि के कारण शरीर में भेद होता है ।

एवं भिन्न संस्थान (अवयवों का सन्निवेश) की उपलब्धि नहीं होने से क्षणिकत्व असिद्ध है । क्योंकि पूर्व संस्थान से विपरीत अन्य संस्थान की उपलब्धि हम नहीं करते हैं । अतः सिद्ध है कि जो घट आदि उत्पत्ति-काल में थे वे ही बाद में भी हैं; ऐसा माना जाय । एवं जहाँ पर विशेष का ग्रहण होता है वहाँ वस्त्वन्तर के सम्बन्ध से अन्य शक्ति का आविर्भाव होने से होता है । कहा भी गया है । (व्यक्तेरपगमोऽभीष्टः

---

१. विशेषस्य परिग्रहः ॥ इति श्लोकशेषपाठो भाति ।
अतः परं शेषव्याख्या नोपलभ्यते ।
२. ११, १२ कारिकयोश्च युक्तिदीपिका व्याख्या नोपलभ्यते ।

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

एवशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते । सत्त्वं लघु प्रकाशकमेवेष्टम् । यत्किञ्चित् कार्यकरणे लघु प्रकाशकं च तत्सत्त्वरूपमिति प्रत्यवगन्तव्यम् । तत्र कार्यस्य तावदुद्गमनहेतुर्धर्मो लघुत्वम्, करणस्य वृत्तिपटुत्वहेतुः । प्रकाशस्तु पृथिवीधर्मस्य च्छायालक्षणस्य तमसस्तिरस्कारेण द्रव्यान्तरप्रकाशनम् । करणस्यापि ग्रहणं सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायविषयेषु यथास्वं प्रवर्तमानम् ।

उपष्टम्भकं चलमेव रजः । यः कश्चिदुपस्तम्भश्चलता चोपलभ्यते तत् रजोरूपमित्यवगन्तव्यम् । तत्रोपस्तम्भः प्रयत्नः, चलता क्रिया । सा च द्विविधा, परिणामलक्षणा प्रस्पन्दलक्षणा च । तत्र परिणामलक्षणया

पूर्वसंस्थानहानितः, तदभावादसिद्धोऽस्य विशेष—। अर्थात् पूर्व संस्थान की हानि होने से अभिव्यक्ति का हट जाना ही विनाशशब्द से अभीष्ट है। यहाँ पर पूर्व संस्थान की हानि का अभाव होने से विशेष का ग्रहण नहीं होता है। अतः क्षणिकवाद असिद्ध है।

सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक इष्ट है। रजोगुण उपष्टम्भक (उत्तेजक) और चल है। तथा तमोगुण गुरु और आवरण करने वाला है। प्रदीप के समान प्रयोजनवशात् इन गुणों की वृत्ति होती है।

कारिका में पठित 'एव' शब्द प्रत्येक में सम्बन्धित है। इसलिये सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक ही इष्ट है—ऐसा प्रथम पाद का अर्थ हुआ। अर्थात् जो कुछ कार्य और करण समुदाय लघु और प्रकाशक है, वह सब सत्त्वरूप है, ऐसा समझना चाहिये। उनमें कार्य के उद्गमन का हेतुभूत धर्म लघुत्व है और करण में वृत्तिपटुत्व (क्रियापाटव) का हेतुभूत धर्म लघुत्व है। पृथिवी का धर्मभूत जो छायास्वरूप तम उसका तिरस्कार कर द्रव्यान्तर का प्रकाश करना प्रकाश है। एवं करण द्वारा विषय का ग्रहण भी यह है कि 'सङ्कल्प-अभिमान-अध्यवसाय के विषयों में यथायोग्य प्रवृत्त होना।

रजोगुण उपष्टम्भक और चल ही होता है। अर्थात् जो कुछ उपस्तम्भ (प्रयत्न) और चञ्चलता उपलब्ध होती है, वह रजोरूप है, ऐसा समझना चाहिये। वहाँ उपस्तम्भ का अर्थ है—प्रयत्न तथा चलता का अर्थ है—क्रिया। वह क्रिया दो प्रकार की होती है—परिणामलक्षण और प्रस्पन्द (स्पन्दन) लक्षण। उसमें परिणामस्वरूप क्रिया

सहकारिभावान्तरानुगृहीतस्य धर्मिणः पूर्वधर्मात् प्रच्युतिः। प्रस्पन्दलक्षणा प्राणादयः कर्मेन्द्रियवृत्तयश्च वचनाद्याः। बाह्यानां द्रव्याणामुत्पतननिपतनभ्रमणादीनि।

'गुरुवरणकमेव तमः' यत्किञ्चिद् गौरवं वरणं चोपलभ्यते, तत्तमोरूपमिति प्रत्यवगन्तव्यम्। तत्र गुरुत्वं कार्यस्याधोगमनहेतुर्धर्मः, करणस्य वृत्तिमन्दता। वरणमपि कार्यगतं च द्रव्यान्तरतिरोधानम्। करणगता चाशुद्धिः प्रकाशप्रतिद्वन्द्विभूता। इत्येष सत्त्वादीनामव्यतिकरेण स्वभावोपलम्भो, यत एषां नानात्वमवसीयते।

यत् पुनरेतदुक्तम्[1]—स्त्री-क्षत्र-मेघेषु स्वभावव्यतिकरोपलम्भादेको गुणस्त्रिरूपः, सर्वे वा सर्वरूपा, रूपान्तरस्य वा सतः उत्पत्तिरिति।

अत्र ब्रूमः—न, गुणभूतस्य भक्तित उपकारात् प्रधानरूपोपपत्तेः।

द्वारा सहकारीभूत अन्य भाववस्तु से अनुगृहीत हुए धर्मी को अपने पूर्व धर्म से च्युति हो जाती है और नये धर्मान्तर का प्रादुर्भाव हो जाता है। प्राणन अपानन आदि प्राणादि की वृत्तियाँ तथा वचन आदान आदि कर्मेन्द्रियों की वृत्तियाँ प्रस्पन्दलक्षण क्रिया है। और बाह्य द्रव्यों की क्रियायें उत्पतन निपतन भ्रमण आदि हैं।

गुरु (भारी) और आवरण करने वाला तम होता है। अर्थात् जो कुछ गौरव (भारीपन) और आवरण उपलब्ध होता है, वह तमोगुण रूप है, ऐसा समझना चाहिये। वहाँ कार्यगत गुरुत्व कार्य के अधोगमन का हेतुभूत धर्म है। तथा कारणगत गुरुत्व इन्द्रियादि करणों की क्रिया में मन्दता का आ जाना है। ऐसे ही वरण भी कार्यगत है, द्रव्यान्तर को तिरोहित कर देना (ढँक लेना)। एवं कारणगत वरण है, उसकी अशुद्धि जो प्रकाश की प्रतिद्वन्द्वीभूत है। अर्थात् अविशुद्धतारूप वरण के कारण इन्द्रियाँ अर्थप्रकाश करने में असमर्थ हो जाती हैं।

यह सत्त्वादि गुणों के असंकीर्ण (पृथक् पृथक्) स्वभाव की उपलब्धि है, जिसकी

---

१. उपलब्ध मूल में उक्त पक्ष पहले आया हुआ नहीं मिलता है। अतः हो सकता है, यह अंश त्रुटित हो गया हो। वस्तुतः यह अंश त्रुटित ११ वीं कारिका (त्रिगुण मविवेकि इत्यादि) की व्याख्या प्रतीत होती है। अथवा १२ वीं कारिका की व्याख्या भी संभव है। क्योंकि आगे लिखा है—तस्मादयुक्तमेतत्–'अन्योन्यजननवृत्तयो गुणा' इत्यादि।

इह गुणभूतस्य भक्तितः प्रधानोपकारित्वे सति भक्तितस्तद्रूपोपपत्तिर्दृष्टा। तद्यथा--क्षीरादेः। तद्धि मुखादिषु दृष्टप्रतिलब्धप्रवृत्तिः पित्तस्य स्वेन रूपेणाङ्गभावं गच्छंस्तस्योपकारात् तिक्तं सम्पद्यते। न च तथा सदेव।

सत्त्वमपि स्त्रैणगुणभूतं सपत्नीरजसः स्वेन रूपेणाङ्गभावं गच्छं-स्तस्योपकाराद् दुःखं सम्पद्यते। तमसो मोहः।

एवं क्षात्रं रजः आर्यदारलक्षणस्य सत्त्वस्य दस्युलक्षणस्य च तमसः। एवं मेघ्यं तमः कार्षिके सत्त्वस्य प्रोषितदयितायाश्च रजसः। तस्मान्नास्ति गुणानां स्वभावव्यतिकरः।

वजह से इन गुणों का नानात्व निश्चित किया जाता है। अर्थात् सत्त्व-रजः और तमः ये तीनों पृथक् पृथक् स्वतन्त्र गुण हैं।

यह जो कहा कि स्त्री-क्षत्र और मेघ में स्वभाव (सात्त्विक-राजस-तामस) का एकत्र संसर्ग देखा जाता है, इसलिये एक ही गुण तीन स्वरूप वाला है। अथवा सभी (तीनों) गुण सर्वरूप वाले हैं। अथवा एक रूप के रहते हुए दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है।

यहाँ हम कहते हैं कि उक्त पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि गुणभूत एक रूप गौण रहते हुये उपकार करेगा और प्रधानरूप की उपपत्ति हो जायगी। अर्थात् यहाँ देखा गया है कि गुणभूतरूप प्रधान का उपकारी होकर गौणरूप में प्रधान का स्वरूप बन जाता है। अर्थात् वहाँ एक गुण प्रधान रहता है और शेष गुण गौण रहकर प्रधान का उपकारी होता है। जैसे दूध आदि पदार्थ मुख आदि में प्राप्त होकर अपने मधुररूप में पित्त का अङ्ग बन जाता हुआ पित्त का ही उपकारी होकर स्वयं तिक्त बन जाता है, न कि वह स्वयं तिक्त ही है।

ऐसे ही स्त्रीगुण सत्त्व भी (सुखरूपता भी) अपने सत्त्व रूप से ही सपत्नी के रजोगुण का अङ्ग बन जाता है, और उसको उपकृत करता हुआ दुःखरूप बन जाता है। तथा उसे न प्राप्त कर सकने वाले पुरुष के तम का अङ्ग बनकर वही स्त्रीगत स्वाभाविक सत्त्वगुण मोहरूप बन जाता है। जिससे वह पुरुष मोह को प्राप्त होता है।

ऐसे ही क्षत्रियगत रजोगुण आर्यदार (पत्नी) स्वरूप सत्त्व का अङ्ग बन कर सुखरूप बन जाता है तथा दस्युस्वरूप तम का अङ्ग बनकर मोह बन जाता है।

ऐसे ही मेघगत तमोगुण कृषक के प्रति सत्त्व का अङ्ग बनकर उसके लिये सुखरूप बन जाता है। तथा जिसका पति दूर चला गया है, ऐसी स्त्री के रजोगुण का अङ्ग बनकर उस स्त्री के लिये दुःखरूप बन जाता है। अर्थात् मेघ की कालिमा

किञ्चान्यत्—अगुणभूतानां स्वभावग्रहणात् । यदा चैतेऽङ्गभाव-(मनु)मुपगच्छन्तो मध्यस्थास्तुल्यसंस्काराश्च प्रतिपद्यन्ते, तदा स्वरूपेणैव । तस्मादसङ्कीर्णं गुणरूपम् ।

आह—न, सन्देहात् । उभयथा हि रूपान्तरग्रहणं क्षीरादिषु दृष्टम् । ताद्रूप्यात् तैश्च विपरिणतानां गुणभावाच्च, यथोक्तम् । तत्र कथमिदमेकान्तेन निश्चीयते गुणभावात् सत्त्वादीनां रूपान्तरग्रहणं न पुनस्ताद्रूप्या देवेति ?

उच्यते—ग्रहणविकल्पोपलम्भात् । यदि स्त्रैणं सत्त्वं ताद्रूप्यादेव सपत्न्या[1] गृह्यते, तेन भर्तुरपि तथा ग्रहणप्रसङ्गो मध्यस्थानां तुल्य संस्काराणाञ्च । अनिष्टं चैतत् । तस्माद् भाक्तोऽयं गुणविकल्पोपलम्भः ।

देखकर कृषक हर्षित होता है और वियोगिनी स्त्री दुःखी होती है । इस प्रकार गुण परस्पर अङ्गाङ्गीभाव को प्राप्त होकर रहते हैं । अतः गुणों में स्वभाव की सङ्कीर्णता नहीं है ।

और भी—जब ये गुण गौण नहीं होते, तब वे अपने स्वभाव से ग्रहण किये जाते हैं । अर्थात् जब ये गुण किसी अन्य गुण का अङ्गत्व नहीं ग्रहण करते हुए मध्यस्थ होकर तुल्य प्रभाव वाले होते हैं, तब वे अपने स्वरूप से ही गृहीत होते हैं । अतः गुणों का स्वरूप सर्वथा असङ्कीर्ण है ।

शङ्का— उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ सन्देह है । क्योंकि दूध आदि का रूपान्तरग्रहण करना दो प्रकार से देखा जाता है । एक तो तद्रूप होकर । जैसे—दूध अपने माधुर्य का परित्याग कर तक्र के रूप में परिणत होकर अम्ल बन जाता है, दूसरा तो अपना स्वरूप छोड़े बिना गुणीभूत होकर । जैसे, पञ्चगव्य आदि में तथा स्त्री-क्षत्रिय और मेघ के सम्बन्ध में जैसा आपने पूर्व में कहा है । अतः यह कैसे एकपक्षीय निश्चय किया जा सकता है कि सत्त्व आदि गुण गौण होकर रूपान्तर को ग्रहण करते हैं; अपना स्वरूप छोड़कर तद्रूप होकर रूपान्तर ग्रहण नहीं करते हैं ।

समाधान—वैकल्पिकरूप से (भिन्न-भिन्न रूप से) गुणों के ग्रहण की उपलब्धि होती है । इससे सिद्ध होता है गौण होकर ही एकगुण अन्य प्रधान गुण के साथ रहता है, अपना स्वरूप छोड़कर नहीं । यदि स्त्रीगत सत्त्व सर्वथा सपत्नीगत रजोगुणरूप से गृहीत हो अर्थात् स्वयं भी रजोगुण का रूप धारण कर ले तो पति के लिये भी वह स्त्री दुःखरूप में गृहीत होने लगेगी; जैसे अग्नि की उष्णता सबके लिये समान

---

१. मुद्रिते 'तेन' .ति पाठोऽधिको भ्रमादागतः ।
यु० दो० ३०

किञ्चान्यत्—उत्तरकालं स्वरूपग्रहणान्निवृत्तानुशयाभिश्चैकार्थता-मुपगताभिः सपत्नीभिः स्वनैव रूपेण स्त्रैणस्य सत्त्वस्य ग्रहणमुपलभ्यते। स्वगृहसमवस्थितैश्चार्यादारैः क्षत्रियाणाम्। निष्पन्नसस्यैश्च कृषीबलैर्मेघानाम्। तस्माद् भाक्तोऽयं ग्रहणविकल्पोपलम्भः। तस्माद् युक्तमेतत्—अन्योऽन्यजननवृत्तयो गुणाः, न च सङ्कीर्णस्वभावा इति।

यत् पुनरेतदुक्तम्—'अन्योन्यमिथुनत्वानुपपत्तिः, सत्त्वस्येतरविरोधात्' इत्यत्र ब्रूमः—अस्ति चायं विरोधो गुणानाम्; [तथापि]—

'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः'।

किम् ? उपपद्यत इति वाक्यशेषः।

तद् यथा वर्तिज्योतिस्तैलानां परस्परविरोधेऽपि प्रदीपकरणैककार्य-

---

प्रतीत होती है; किन्तु वैसा नहीं होता है। अर्थात् पति के लिये स्त्री का सत्त्व गुण ज्यों का त्यों बना रहता है; इसीकारण उसके लिये वह सुखरूप बनी रहती है। ऐसे ही मध्यस्थों के भी प्रति और तुल्य संस्कार वालों के भी प्रति वह स्त्रीसत्त्व यथावत् कायम रहता है। किन्तु पति आदि के लिये स्त्री की दुःखरूपता किसी को भी इष्ट नहीं है।

अतः गौण रूप से ही विभिन्न गुणों की उपलब्धि होती है, ऐसा समझना चाहिये। इसलिये गुणों का स्वरूप असङ्कीर्ण है।

और भी— आगे चलकर स्वरूपग्रहण कर लेने से अर्थात् सत्त्वगुण अपना लेने से, जिनका अनुताप निवृत्त हो गया है और समान प्रयोजन वाली बन गयी हैं, ऐसी सपत्नियों के कारण स्त्रीगत सत्त्व का अपने ही रूप में ग्रहण होना अनुभव में आता है। अर्थात् वहाँ स्त्रीसत्त्व सपत्नी के रजोगुण का गुणीभूत बनकर नहीं रहता है; और वह सपत्नी उसके लिये दुःखरूप नहीं रह जाती है।

ऐसे ही अपने गृह में अवस्थित आर्यस्त्रियों के कारण क्षत्रियों का रजोगुण सत्त्व का अङ्ग नहीं बनता। अर्थात् स्वगृह में अवस्थित आर्यदारायें क्षत्रियों के लिये सुखरूप नहीं होती हैं। एवं फसल उत्पन्न हो जाने के बाद मेघों का तमोगुण कृषकों के सत्त्वगुण का अंग नहीं बनता है। अर्थात् उन कृषकों के लिये वे मेघ सुखरूप नहीं होते हैं, जिनकी फसल पैदा हो चुकी है। इसलिये गौणरूप में ही गुणविशेष की उपलब्धि होती है, संकीर्णरूप में नहीं। अतः यह ठीक ही कहा कि गुण एक दूसरे को मुख्य या गौणरूप में बनाकर रहते हैं, संकीर्ण होकर नहीं रहते।

यह जो कहा 'कि गुणों का परस्पर मिथुनीभाव अनुपपन्न है; क्योंकि सत्त्वगुण का इतर गुणों से विरोध है' तो यहाँ हम कहते हैं—यद्यपि गुणों का यह परस्पर विरोध है।' तथापि प्रदीप के समान प्रयोजनवशात् इनकी वृत्ति (व्यवहार) उत्पन्न है।

साधनभावोपगतानां वृत्तयः एकत्र संमूर्छिताः सहभावं प्रकृष्टमपि कालमनुभवन्ति। एवं सत्त्वरजस्तमसां सति विरोधे महदाद्येककार्यसाधनभावोपगतानां वृत्तयः एकत्र मूर्छिताः सह भवन्तीति।

युक्त्यभावादसिद्धिरिति चेत्, स्यान्मतम्—का पुनरत्र युक्तिर्येन विरोधिनामेककार्यता भवतीति ?

उच्यते—गुणप्रधानभावात्। गुणभूतो हि प्रतियोगी प्रधानभूतेन तदुपकारकत्वान्न विरुध्यत इति संसर्गेण वर्तितुमुत्सहते। तुल्यबलयोस्तु द्वयोः सत्यमेव सहावस्थानस्य नास्ति सम्बन्धः। तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति—रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्तन्ते।

जैसे, बत्ती-ज्योति और तेल का परस्पर में विरोध होने पर भी प्रकाश करना-रूपी एक कार्य के प्रति साधनभाव को प्राप्त हुयें इन तीनों की वृत्तियाँ (क्रियायें) एकत्र मिलकर अधिक समय तक साथ रहती हैं; ऐसे ही सत्त्व रजस् और तमस् में विरोध रहने पर भी महत् आदि एक कार्य के प्रति साधनभाव को प्राप्त हुये इन तीनों गुणों की वृत्तियाँ (क्रियायें) एकत्र मिलकर साथ रहती हैं। अर्थात् एक दूसरे का सहायक बनती हैं।

शङ्का—युक्ति का अभाव होने से विरोधी तीन गुणों की एककार्यता नहीं सिद्ध हो सकती है। अर्थात् इसमें क्या युक्ति है कि विरोधी सत्त्व रजस् और तमस् गुण मिलकर एक कार्य करेंगे।

समाधान—विरोधी होने पर भी परस्पर में गुण प्रधानभाव होने से एक कार्य का साधन कर सकते हैं। अर्थात् प्रतियोगीभूत गुण गौण होकर प्रधानगुण का उपकारक होने से उसके साथ विरोध नहीं करता है और मिलकर रहने के लिये उद्यत हो जाता है। यदि तो दोनों गुण तुल्यबल वाले हों, अर्थात् गौण-मुख्यरूप से न रहें तो सचमुच ही उनका सह-अवस्थान (एक-साथ मिलकर कार्य करना) नहीं बन सकेगा। जैसा कि भगवान् वार्षगण्य कहते हैं—कि विशेष स्वरूप (रूपातिशय) और विशेष क्रिया (वृत्त्यतिशय) परस्पर में विरोधी होते हैं। किन्तु सामान्य रूप और सामान्य क्रिया तो विशेष रूप और विशेष क्रिया के साथ रह सकते हैं, और एक कार्य का साधन कर सकते हैं। जैसे, जल और अग्नि परस्पर विरोधी होने पर पाक कार्य में और स्वेद (पसीना या सेदना कार्य) में मिलकर परस्पर उपकारक होते हैं। एवं छाया और आतप (धूप) परस्पर विरोधी होने पर भी सूक्ष्म रूप को प्रकाशित

तद् यथा जलाग्नी पचनीयस्वेदनीयेषु कार्येषु, छायातपौ च सूक्ष्मरूपप्रकाशने, शीतोष्णे च प्रजावस्थितौ एवम्। तत् सिद्धः प्रदीपवत् सत्त्वरजस्तमसां विरोधेऽपि सहभावः।

आह—यदुक्तं 'लघ्वादिस्वभावभेदात् गुणनानात्वम्' इत्यत्र ब्रूमः—

भिन्ना लक्षणभेदाच्चेन्मिथः सत्त्वादयो गुणाः।
तर्हि लक्षणयुक्तत्वात् षड्गुणाः प्राप्नुवन्ति ते ॥

यदि लघ्वादिलक्षणभेदात् सत्त्वादीनां नानात्वं मिथोऽभ्युपगम्यते, तेन लघुत्वप्रकाश(क)त्वयोरपि भेदोऽस्ति, गुणद्वयप्रसङ्गः। एवमुपस्तम्भचलताभ्यां गौरववरणाभ्यां च द्वयं द्वयमिति षड् गुणाः प्राप्नुवन्ति।

अथ मतम्—लघुत्वप्रकाशयोरभेद इति, पृथगनभिधानं प्राप्तम्। तद्भेदे वा ग्रहणभेदमनिच्छतः प्राप्तो लघुत्वादिभेदेऽपि गुणाभेदः, तथा चैको गुण इति प्राप्तम्।

करने में मिलकर परस्पर के उपकारक होते हैं। एवं शीत और उष्ण परस्पर विरोधी होने पर भी जीव की रक्षा में मिलकर उपयोगी होते हैं। अर्थात् शीत-उष्ण दोनों से प्राणी की स्थिति है, किसी एक से नहीं।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रदीप की तरह विरोध होने पर भी सत्त्व रजस् और तमस् का सहभाव गुणप्रधानभाव के द्वारा हो सकता है।

पूर्वपक्ष—यह जो कहा कि 'लघु आदि स्वभाव के भेद से गुणों में नानात्व है अर्थात् गुणों के तीन भेद हैं' इस पर हम कहते हैं—कि लघुत्व-उपस्तम्भकत्व-गुरुत्व-लक्षण के भेद से यदि सत्त्व-रजस्-और तमस् भिन्न गुण हैं, तो भिन्न-भिन्न लक्षण से युक्त होने के कारण ही छः गुण होने चाहिये। अर्थात् लघुत्व आदि लक्षण के भेद से यदि सत्त्व आदि परस्पर भिन्न माने जाते हैं, तो स्वयं लघुत्व और प्रकाशकत्व में भी परस्पर भेद है। अतः सत्त्वगुण भी दो होने लगेगा। इसी प्रकार उपस्तम्भकत्व और चलत्व के भेद से रजो गुण भी दो होने लगेगा। तथा गुरुत्व और आवरणलक्षण के भेद से तमोगुण भी दो होने लगेगा। इस प्रकार सत्त्व आदि तीनों गुण दो दो होने लगेंगे और गुणों की संख्या छः होनी चाहिये; तीन ही क्यों?

यदि यह मानो कि 'लघुत्व और प्रकाश में अभेद होने से सत्त्व एक ही होगा' तो फिर लघुत्व और प्रकाशकत्व को पृथक्-पृथक् नहीं कहना चाहिये। यदि कहो कि

यत् पुनरेतदुक्तम्—गुणभूतस्य भक्तितः उपकारात् प्रधानरूपापत्ति-रिति,

अङ्गभावं व्रजत् सत्त्वं दुःखं सम्पद्यते यदि ।
वैरूप्यस्योपसंहारात् पूर्वदोषानिवर्तनम् ॥

यदि हि रजसोऽङ्गभावमुपगच्छत् सत्त्वमुपकारात् तद्रूपं भवति तेन (तिना) प्रतिज्ञातस्य रूपान्तरस्योपसंहारात् त्रैरूप्यं गुणानामेकैकस्य प्राप्तम् । रूपान्तरस्य वा [अ] सत उत्पत्तिः । तस्मात् पूर्वदोषापरिहारात् प्रतिज्ञामात्रमेवायं समाधिः ।

यदप्युक्तम्—अगुणभूतानां स्वभावग्रहणादिति, 'अङ्गभावानपेक्षं तु ग्रहणं नास्त्यृषेरपि' । परमर्षेरपि गुणानां कार्यमेव प्रत्यक्षं न शक्तिमा-

---

'लघुत्व और प्रकाश में भेद तो है, किन्तु उनका भिन्नरूप में ग्रहण नहीं मानते हैं। अतः सत्त्व गुण एक ही होगा' तो फिर लघुत्व-उपस्तम्भकत्व और गुरुत्व में भेद होने पर भी सत्त्व-रजस् और तमस् गुणो में भी अभेद मानो। ऐसी स्थिति में तीन गुण न होकर एक ही गुण की प्राप्ति हा जाती है। अर्थात् एक ही गुण होना चाहिये।

यह जो कहा कि एक गुण प्रधान गुण के प्रति गौण होने से प्रधान का ही उपकार करेगा और प्रधानरूप हो जायगा—वह ठींक नहीं है। क्योंकि अङ्गभाव को प्राप्त होकर सत्त्वगुण यदि दुःखरूप बन जाता है; तो गुणों का वैरूप्य समाप्त हो जायेगा और पूर्वदोष ज्यों का त्यों कायम रह जायेगा। अर्थात् रजोगुण के प्रति अङ्गभाव को प्राप्त हुआ सत्त्वगुण रजोगुण का ही उपकारक होकर यदि रजोगुणरूप बन जाता है; तो प्रतिज्ञा से बहिर्भूत तमोगुण का भी ऐसे ही उपसंहार हो जायेगा। अर्थात् सत्त्वगुण कभी तमोगुण का अङ्ग होकर तमोगुणरूप बन सकता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक गुण त्रिरूप होने लगेगा। जैसे अभी-अभी सत्त्वगुण रजोगुणरूप और तमोगुणरूप भी बन गया। ऐसे ही रजोगुण भी त्रिरूप और तमोगुण भी त्रिरूप होने लगेगा। अथवा एक गुण के रहते अन्य गुण की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार पूर्वोक्त दोष का परिहार नहीं होने से गुणों के नानात्व का आपका समाधान प्रतिज्ञामात्र है, उसमें कोई हेतु नहीं है।

और जो कहा कि 'जो गुणभूत अर्थात् गौण या अङ्ग नहीं होते, वे अपने स्वभाव से ही गृहीत होते हैं' वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि अङ्गभाव की अपेक्षा किये बिना गुणों का स्वरूपतः ग्रहण ऋषि को भी नहीं होता है। अर्थात् परमर्षिको भी गुणों का कार्य

त्रेणावस्थानम्, असंवेद्यत्वात्। तत्र चाङ्गाङ्गिभावगमनमनिवार्यम्। तस्माद् दोषमनिच्छता गुणा एव परित्याज्याः, नास्ति वा सुदूरमपि गत्वा तत्संकरदोषपरिहारः।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं, लक्षणभेदाद् गुणनानात्ववादिनो लक्षणद्वययोगावेकैकस्य गुणषट्त्वप्रसङ्ग इति, तन्न, कस्मात्? द्वयोर्गुणप्रधानभावानुपपत्तेः। इहार्थान्तरस्यार्थान्तरेण गुणप्रधानभावो भवति, यथा स्त्रीक्षत्रमेघेषु व्याख्यातम्। न च लघुत्वप्रकाशयोरुपस्तम्भचलनयोर्गौरववरणयोश्च मिथो गुणप्रधानभावोऽस्ति। तदनर्थान्तरं धर्मास्त इति नास्ति षट्त्वप्रसङ्ग इति।

किञ्च, अप्रसिद्धत्वात्। न ह्येतत् क्वचित् प्रसिद्धम्, यथा यावन्तो धर्मास्तावन्तो धर्मिण इति। न चाप्रसिद्धेन व्यवहारः।

ही प्रत्यक्ष होता है, शक्तिमात्र से अवस्थित गुणों का स्वरूप नहीं; क्योंकि शक्तिमात्र संवेदन के योग्य नहीं होती है। अतः प्रत्यक्ष के लिये गुणों का अङ्गाङ्गिभाव प्राप्त होना अनिवार्य है। अतः दोष से बचना चाहने वाले के द्वारा गुण का ही परित्याग कर देना होगा अथवा बहुत दूर तक जाकर भी गुणों में साङ्कर्यदोष का बचाव नहीं हो पाता है।

उत्तरपक्ष—जो तो कहा कि लक्षण (स्वभाव) भेद से गुण को नाना कहने वाले के मत में एक एक गुण के दो दो लक्षण का सम्बन्ध होने से छः गुण होने लगेंगे' वह ठीक नहीं है। क्योंकि उन दोनों गुणों में गुणप्रधानभाव नहीं बन सकता है।

कारण, यहाँ अर्थान्तर का अर्थान्तर के साथ गुणप्रधानभाव होता है। जैसे कि स्त्री, क्षत्र और मेघ के सम्बन्ध में पहले कहा गया है। लघुत्व और प्रकाश में, उपस्तम्भ और चलत्व में तथा गौरव और आवरण में तो परस्पर गुणप्रधानभाव है नहीं। क्योंकि लघुत्व और प्रकाशत्व धर्म, उपस्तम्भकत्व और चलत्व धर्म तथा गुरुत्व और आवरण धर्म एक ही हैं। अतः गुणों में षट्त्वसंख्या का प्रसङ्ग नहीं होगा।

एवं, अप्रसिद्ध होने से भी षड्गुणत्व का प्रसङ्ग नहीं होगा। क्योंकि यह कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है कि जितने धर्म हों उतने धर्मी हों, और बिना प्रसिद्धि के अप्रसिद्ध से कोई व्यवहार नहीं होता है। अर्थात् लघुत्व प्रकाशकत्व आदि धर्म के भेद से सत्त्व आदि प्रत्येक गुण दो दो नहीं हो जायेंगे।

किञ्च पृथक्त्वैकान्तप्रसङ्गात्। लक्षणभेदान्नानात्वप्रतिज्ञस्य सर्वार्थानां स्वसामान्यलक्षणयोगात् स्वतोऽर्थान्तरमिति पृथक्त्वैकान्तप्रसङ्गः। अथैतदनिष्टं, न तर्हि वक्तव्यम्—लक्षणभेदाद् गुणानां षट्त्वमिति।

यत् पुनरेतदुक्तम्—अङ्गभूतस्य प्रधानरूपापत्तेः पूर्वदोषानिवृत्तिरिति, तदप्ययुक्तम्, कस्मात्? भक्त्यभिधानात्। असकृदधीतमस्माभिर्भाक्तोऽयं गुणानां ग्रहणविकल्प इति। न च भक्तिः परमार्थं इत्यस्थाने यत्नः।

यत् पुनरेतदुक्तम्—अगुणभूतानां सत्त्वादीनामृषेरप्यविषयत्वमिति, सत्यमेतत्।

यत्तूक्तम्—कार्यस्य विषयभूतत्वादङ्गाङ्गिभावगमनं गुणानां सकलसत्कार्यमपेक्षते। तथा (यथा) स्त्रीक्षत्रमेघाः प्रकृतास्तेष्वङ्गभावम-

---

एवं, ऐकान्तिक पृथक्त्व की प्रसक्ति हो जायगी। अर्थात् लक्षण (धर्म) के भेद से धर्मी में नानात्व सिद्ध करने वाले के लिये, चूँकि सभी पदार्थों में स्व-स्वधर्मरूप लक्षण का योग होता है, इसलिये सभी पदार्थ स्वतः ही भिन्न होंगे। ऐसी स्थिति में सर्वत्र ऐकान्तिकरूप से (एकमात्र) पृथक्त्व की प्रसक्ति हो जायगी। और जैसे घट पट से पृथक् कहाता है, वैसे वह घट से भी पृथक् कहलाने लगेगा। यदि यह अभीष्ट नहीं है, तो यह भी नहीं कहना चाहिये कि लघुत्व-प्रकाशकत्व, उपस्तम्भ-चलत्व, गुरुत्व-आवरणरूप धर्मों के भेद से गुण छः होना चाहिये।

यह जो कहा कि 'अङ्गभूत गुण के प्रधानरूप हो जाने से पूर्व दोष की निवृत्ति नहीं होगी; अर्थात् प्रत्येक गुण त्रिरूप होने लगेंगे' तो वह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि हमने भक्ति (गौणत्व) का अभिधान किया है। अर्थात् हमने अनेक बार कहा है कि गुणों का यह ग्रहणभेद (भिन्नरूप में प्रधानरूप में ग्रहण) भाक्त (गौण) है, और जो भाक्त होता है, वह परमार्थ नहीं होता। इसलिये पूर्वपक्षी का यह यत्न अनुचित है।

और यह जो कहा कि—अगुणीभूत सत्त्वादि को ऋषि भी नहीं जान सकते यह कथन ठीक नहीं है—इसे हम भी मानते हैं।

किन्तु यह जो कहा कि 'चूंकि कार्य अङ्गाङ्गिभाव का विषय है, इसलिए समस्त कार्य गुणों के अङ्गाङ्गिभाव की अपेक्षा करता है। जैसे, स्त्री क्षत्रिय और मेघ प्रकृत (कार्य) हैं, इसलिये उनमें सत्त्वादि गुण अङ्गभाव को प्राप्त होते हैं' तो यह विदित है।

गच्छत् (न्) इति, विज्ञायत इति। सामान्यशब्दानां हि प्रकरणाद् विशेषेऽवस्थानं भवति। तद् यथा भोजनकाले सैन्धवमानयेत्युक्ते लवणे संप्रतिपत्तिर्नाश्वादिषु। तस्मात् प्रकरणमनपेक्ष्य महति तन्त्रे दोषाभिधानं बालवाक्यस्थानीयम्। एवं गुणलक्षणोपदेशात् सिद्धं त्रैगुण्यम्॥ १३॥

आह—अविवेक्यादिरिदानीं गणः कथं प्रतिपत्तव्य इति ? उच्यते—

'अविवेक्यादिः सिद्धस्त्रैगुण्यात्'

यत् त्रिगुणं तदविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मीति (का० ११) कथमवगम्यते इति चेत्—

'तद्विपर्ययाभावात्।'

यस्माद् गुणविपर्ययः क्षेत्रज्ञः। तत्र विषयत्वमचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वं च न भवतीति पुरस्तात् प्रतिपादयिष्यामः। तस्मात् परिशेषतो व्यक्ते एतेषां धर्माणामविरोधः।

क्योंकि प्रकरणवशात् सामान्य शब्द विशेष अर्थ में पर्यवसित हो जाते हैं। जैसे भोजन-काल में 'सैन्धवमानय' ऐसा कहने पर नमक का बोध होता है, अश्व आदि का नहीं। अर्थात् आनयन क्रिया का अङ्ग नमक होता है, न कि अश्वादि। तात्पर्य यह है कि प्रकरणानुसार गुणों का अङ्गाङ्गिभाव जाना जाता है। सर्वत्र एक सा नहीं रहता। इसीलिये जब गुण अङ्गभाव को नहीं प्राप्त हुए रहते हैं, तब अपने स्वरूप में ही रहते हैं। इसलिये प्रकरण की अपेक्षा किये बिना इस महान् सांख्यशास्त्र में दोष का प्रति-पादन करना बालक के वचन के समान है। इस प्रकार गुण के त्रिविध लक्षणों का उपदेश होने से त्रिगुण सिद्ध हैं।

प्रश्न—अविवेकी आदि समूह का निश्चय कैसे करना चाहिये ?

उत्तर—त्रैगुण्य हेतु से अविवेकी आदि की सिद्धि होती है। अर्थात् जा त्रिगुणा-त्मक है, वह अविवेकी-विषय-सामान्य-अचेतन और प्रसवधर्मी होता है। यह बात ११ वीं कारिका में बतायी जा चुकी है।

प्रश्न— त्रैगुण्य से अविवेकी आदि सिद्ध होता है, यह कैसे समझा जाता है ?

उत्तर—चूंकि व्यक्त में त्रैगुण्य का विपर्यय नहीं है, इसलिये। अर्थात् चूंकि क्षेत्रज्ञ पुरुष में त्रैगुण्य का अभाव है और उसमें विषयत्व-अचेतनत्व और प्रसवधर्मित्व नहीं होता है, यह बात आगे कहेंगे। इसलिये परिशेषात् सिद्ध होता है कि त्रिगुणात्मक

आह—'तथा प्रधानम्' इति प्रागुक्तं (का० ११) भवता। तदिदानीं कथं प्रतिपत्तव्यम्—प्रधानमपि त्रिगुणात्मकमिति ?

उच्यते—

'कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्' ॥ १४ ॥

इह कारणगुणात्मकं कार्यं दृष्टं पटादि। व्यक्ते च त्रैगुण्यमुपलभ्यते। तस्मात् कारणमप्यस्य तथाजातीयकमिति शक्यमनुमातुम्। सिद्धान्तमात्रोपदर्शनमेतदाचार्यः करोति। न्यायं तु यथोक्तेषु प्रदेशेषूपपादयिष्यामः।

आह—कार्यधर्मस्य कारणोपलब्धौ हेतुमदादिप्रसङ्गः, अविशेषात्। यदि कार्ये दृष्टस्य धर्मस्य कारणे सद्भावोऽभ्युपगम्यते, प्राप्तो हेतुमदादी-

---

व्यक्त पदार्थ में अविवेकित्व आदि धर्मों के होने में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् गुणरहित पुरुष में विषयत्वादि धर्मों का विरोध होने से त्रिगुणात्मक व्यक्त पदार्थ में विषयत्व आदि के होने में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार व्यक्त पदार्थ में अविवेकित्व आदि की सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न—'तथा प्रधानम्' ऐसा आपने ११ वीं कारिका में कहा है। तो इस समय कैसे निश्चय किया जाय कि व्यक्त के समान प्रधान (अव्यक्त) भी त्रिगुणात्मक है।

उत्तर—कारणगुणात्मक कार्य होता है; इसलिये व्यक्त जब त्रिगुणात्मक है तो उसका कारण अव्यक्त भी त्रिगुणात्मक सिद्ध होता है। अर्थात् यहाँ कारण के गुण के समान गुण वाला कार्य देखा गया है,जैसे पट आदि कार्य तन्तु के रूपादि गुण के समान रूपादि गुण वाला होता है। व्यक्त में त्रैगुण्य (त्रिगुणात्मकता) की उपलब्धि होती है, इसलिये यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका कारण अव्यक्त भी त्रिगुणात्मक होगा। आचार्य ईश्वरकृष्ण यहाँ केवल सिद्धान्तमात्र को प्रदर्शित कर रहे हैं। न्याय (अनुमान) का उपपादन तो हम यथास्थान आगे करेंगे।

शङ्का— कार्यगत धर्म की उपलब्धि यदि कारण में हो तो प्रधान भी हेतुमत्, अनित्य आदि होने लगेगा। क्योंकि इस दृष्टि से व्यक्त और प्रधान में कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् कार्य में दृष्ट धर्म को सत्ता यदि कारण में भी मानी जाती है, तो हेतुमत्त्व आदि धर्म भी कार्य में देखे गये हैं, इसलिये प्रधान में (कारण में) भी हेतुमत्त्व आदि की प्रसक्ति हो जायगी। यदि कार्य में धर्म की उपलब्धि समान होने पर भी

नामपि धर्माणां कार्यदृष्टत्वात् प्रधाने प्रसङ्गः। अथ कार्योपलब्धौ तुल्यायां हेतुमदादयो नेष्यन्ते, न तर्हीतरेषामपि कारणावस्थितिरस्तीति।

उच्यते—न, स्वरूपविरोधित्वे तदपवादविज्ञानात्। 'कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य' इत्यनेन लिङ्गेन हेतुमदादयोऽपि कारणे प्रसज्यन्ते। तेषां तु कार्यकारणरूपविरोधित्वादपवादो विज्ञायते। कथम्? यदि तावद्धेतुमदादयो व्यक्ते दृष्टत्वात् प्रधाने व्यज्यन्ते, कृतकत्वात् कार्यमेव तत्, न कारणमिति प्राप्तम्।

अनित्यत्वाच्च स्वयमुच्छिद्यमानमननुग्राहकमव्यापित्वादिभिश्चानन्तविकारोत्पादनशक्तिहीनम्। अहेतुमदादयः प्रधानेऽभ्युपगमाद् व्यक्तेरपि-

---

अव्यक्त में हेतुमत्त्व आदि नहीं मानते हैं तो त्रैगुण्य आदि कार्यगत अन्य धर्मों की भी कारणीभूत अव्यक्त में स्थिति नहीं होगी। अर्थात् जैसे, कार्यगत हेतुमत्त्व आदि धर्म कारणभूत अव्यक्त में नहीं रहता है, वैसे कार्यगत त्रैगुण्य आदि धर्म भी अव्यक्तरूप कारण में नहीं रहना चाहिये।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि स्वरूप का विरोधी होने पर उसका अपवाद समझा जाता है। अर्थात् 'कार्यस्य कारणगुणात्मकत्वात्' इस लिङ्ग से यदि त्रैगुण्यादि के समान हेतुमत्त्व आदि की भी कारण में (प्रधान में) प्रसक्ति होने लगती है; तो वैसा होने पर सभी कार्यों के प्रति प्रधान का जो कारणत्व स्वरूप है, उसका विरोध उपस्थित हो जाता है। अतः यहाँ प्रधान में हेतुमत्त्व आदि का अपवाद (बाध) समझा जाता है। अर्थात् प्रधान हेतुमत् नहीं है।

प्रश्न— क्यों?

उत्तर— इसलिये कि हेतुमत्त्व आदि व्यक्त में देखे गये हैं, इसलिये यदि वे प्रधान में भी माने जाँय, तो [हेतु से] उत्पन्न होने के कारण प्रधान भी कार्य ही है, कारण नहीं है, ऐसा प्राप्त होने लगेगा। अतः प्रधान से कारणत्व का विरोध न हो, इसलिये उसमें हेतुमत्त्व आदि धर्म का अपवाद समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि प्रधान को हेतुमत् माना जाय तो कार्य मात्र के प्रति उसका कारण स्वरूप समाप्त हो जायगा।

एवं प्रधान को हेतुमत् मानने पर वह कार्य होने से अनित्य हो जायेगा। और अनित्य होने से स्वयं उच्छिद्यमान होकर किसी का अनुग्राहक नहीं हो सकेगा। तथा हेतुमान् के साथ साथ अव्यापी होने से भी प्रधान अनन्त विकारों को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हो जायगा; यह भी दोष है।

(ऽपि) प्राप्यन्ते तादृशाः, कारणासंभवात् कार्यमेव तन्न भवतीति प्राप्तम् । अविवेक्यादयस्तूभयत्रापि भवन्तो नेतरेतरस्वरूपविरोधिनः। तस्मात् कार्यकारणभावाभ्युपगमाद् धेतुमदाद्यपवादः, इतरेषां च कारणसद्भावः सिद्धः ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे तृतीयमाह्निकम् ॥

एवं, प्रधान में अहेतुमत्त्व आदि माने गये हैं। इसलिये 'कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य' इस नियम के अनुसार व्यक्त कार्य में भी वैसे ही अहेतुमत्त्व आदि की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में कारण नहीं होने से व्यक्त कार्य ही नहीं है, इसकी प्राप्ति होने लगेगी; यह भी दोष है।

किन्तु अविवेकित्व आदि धर्म तो ऐसे हैं, जो व्यक्त-अव्यक्त (प्रधान) दोनों में होते हैं; इसलिये परस्पर के कार्यत्व और कारणत्वस्वरूप के विरोधी नहीं है। इसलिये व्यक्त और प्रधान में कार्यकारणभाव के स्वीकृत होने से प्रधान में हेतुमत्त्व आदि का अपवाद सिद्ध होता है। तथा प्रधान से अतिरिक्त व्यक्तों में कारण का सद्भाव सिद्ध है ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्यकेदारनाथत्रिपाठिकृतायां सांख्यसप्तति-युक्तिदीपिकाया हिन्दीकलाव्याख्यायां तृतीयमाह्निकम् ॥

अथ चतुर्थमाह्निकम्

'यदुक्तम्—'कारणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धमिति' तदयुक्तम्। कस्मात्? व्यक्ताव्यक्तयोः कार्यकारणभावाप्रसिद्धेः। सिद्धे हि व्यक्ताव्यक्तयोः [कार्य] कारणत्वे एतदेवं स्यात्। तत्त्वसिद्धम्। तस्मादयुक्तमेतत्।

विशेषानभिधानादुभयसाम्यमिति चेत्, स्यान्मतम्—यथा भवानाह—व्यक्ताव्यक्तयोः कार्यकारणभावोऽप्रसिद्धः, एवं वयं वक्ष्यामः—तयोः कार्यकारणभावाप्रसिद्धिरप्यसिद्धा। न च क्वचिद् विशेषोस्त्युभयसाम्यं भविष्यतीति।

तच्चायुक्तम्—कस्मात्? सद्भावासिद्धेः। सत्यम्, अनभिधोय-

पूर्वपक्ष— यह जो कहा कि 'कार्य कारणगुणात्मक होता है, इसलिये त्रिगुणात्मक कार्य को उत्पन्न करने वाले त्रिगुणात्मक अव्यक्त की भी सिद्धि हो जाती है' वह अयुक्त है; क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त में कार्यकारणभाव ही अप्रसिद्ध है। अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त में क्रमशः कार्यत्व और कारणत्व के सिद्ध होने पर ही उक्त प्रकार से अव्यक्त की सिद्धि हो सकती है; किन्तु इनमें कार्यकारणभाव ही असिद्ध है। अतः अव्यक्त की सिद्धि अनुपपन्न है।

यदि कहें कि विशेष (एकतर पक्षपातिनी युक्ति) का अभिधान नहीं हुआ है, इसलिये दोनों ही पक्ष समानरूप से असिद्ध हैं। अर्थात् जैसे, आप कहते हैं कि व्यक्त और अव्यक्त में कार्यकारणभावअप्रसिद्ध है, वैसे हम भी कहेंगे कि व्यक्त और अव्यक्त में कार्यकारणभाव की अप्रसिद्धि भी असिद्ध है। उक्त दोनों पक्षों में किसी भी पक्ष में विशेषता नहीं है; इसीलिये अप्रसिद्धि की दृष्टि से दोनों पक्षों में साम्य हो जायगा।

तो उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अव्यक्त का सद्भाव ही असिद्ध है। अर्थात् यह सत्य है कि विशेष का अभिधान नहीं होने पर उभय पक्ष में साम्य हो जायगा। किन्तु अव्यक्त का तो सद्भाव ही असिद्ध है; जबकि व्यक्त का सद्भाव

---

१. अव्यक्तसाधनेऽवतरणग्रन्थोऽयम्। मुद्रितग्रन्थे तृतीय चतुर्थाह्निकयोः समाप्तिप्रारम्भोल्लेखोऽन्यथादृश्यते, तच्चिन्त्यम्।

माने विशेषे स्यादुभयसाम्यम्। अव्यक्तस्य तु सद्भाव एवासिद्ध इत्ययं विशेषः। तस्मादयुक्तमेतदपीति।

कार्यस्य कारणपूर्वकत्वाद् व्यक्तस्य च कार्यत्वादव्यक्तसद्भावे प्रतिपत्तिरिति चेत्, स्यादेतत्—कार्यं कारणपूर्वकं दृष्टम् घटादि। कार्यं चेद् व्यक्तं प्रमितत्वात्; तस्मादिदमपि कारणपूर्वकं भवितुमर्हति। यच्च तस्य कारणं तदव्यक्तमिति।

तच्चानुपपन्नम्। कस्मात्? अनैकान्तात्। इहाकस्मिकी च कार्यस्योत्पत्तिर्दृष्टा; तद्यथेन्द्रधनुषः। असतश्च भ्रान्तिमात्रात्; तद् यथा मायास्वप्नेन्द्रजालमृगतृष्णिकाऽलातचक्रगन्धर्वनगराणाम्। सतश्च कारणात्; यद्यथा मृदादिभ्यो घटादीनाम्। कार्यं चेद् व्यक्तमतः संशयः—किमिन्द्र-

---

प्रत्यक्षसिद्ध है। यही दोनों में अन्तर है; जिस कारण साम्य नहीं होगा। अतः विशेष का अभिधान नहीं होने से दोनों का साम्य बताना भी अयुक्त है।

विश्लेषण— प्रत्येक कार्य कारणपूर्वक होता है अर्थात् कारण से ही उत्पन्न होता है। और यह व्यक्त जगत् भी कार्य है, इसलिये इसका भी कोई कारण होगा। इससे यह प्रतिपत्ति (निश्चय) होती है कि व्यक्त का कारणभूत अव्यक्त की सत्ता है। इसे स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार कहते हैं—'स्यादेतत्' इत्यादि। अर्थात् लोक में कार्य का कारणपूर्वक होना देखा गया है। घटादि कार्य यदि व्यक्तरूप में प्रमित है अर्थात् प्रमाण द्वारा सिद्ध है, तो इसे भी अवश्य ही कारण पूर्वक होना चाहिये। अतः जो इस घटादि व्यक्त जगत् का कारण है, वह अव्यक्त है।

पूर्वपक्ष— उक्त कथन भी उपपन्न नहीं है अर्थात् युक्तिसंगत नहीं है।

प्रश्न— क्यों युक्तिसंगत नहीं है?

उत्तर— क्योंकि सिद्धान्तवादी द्वारा प्रतिपादित नियम कि 'कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है' व्यभिचरित है। कारण, बिना किसी कारण के अकस्मात् कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे—वर्षा ऋतु में आकाश में इन्द्रधनुष की उत्पत्ति अकस्मात् ही बिना किसी कारण के होती है। दूसरा, असत् कारण से भी भ्रममात्र से कार्य उत्पन्न होता देखा जाता है। जैसे—माया, स्वप्न, इन्द्रजाल, मृगतृष्णिका (मरुमरीचिकाजल), अलातचक्र (घुमायी जाती हुई उल्का का चक्राकार बन जाना) तथा आकाश में बना गन्धर्वनगर हाथी आदि। तीसरा, सत् कारण से भी कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे—सत् मट्टी सूत आदि से घट वस्त्रादि की उत्पत्ति।

यहाँ यदि व्यक्त जगत् भी कार्य है; तो संशय होता है कि क्या इसका प्रादुर्भाव

धनुर्वदकस्मादस्य प्रादुर्भावोऽथ मायाविवदसतोऽथ कारणात् सतो घट-वदिति ?

उच्यते—नाकस्मिकमसत्पूर्वं व्यक्तम् । कस्मात् ?

'भेदानां परिमाणात्'

यत् परिमितं तस्य सतः उत्पत्तिर्दृष्टा। तद् यथा मूलाङ्कुरपर्णनाल-दण्ड-बुस-तुष-शूक-पुष्प-क्षीर-तण्डुलकणानाम्। परिमिता महदहङ्कारेन्द्रिय-तन्मात्रमहाभूतलक्षणभेदाः। तस्मात् सत्कारणपूर्वकाः। यदेषां कारणं तदव्यक्तम्।

आह—कस्मादस्त्यव्यक्तम् ? असद्भेदानामपि परिमाणदर्शनात् अनेकान्त इति चेत्, स्यान्मतम्—अस्ति हि मायास्वप्नेन्द्रजालानुविधायिना-मपि भेदानां परिमाणमिति। तस्मादनैकान्तिको हेतुरिति।

इन्द्रधनुष के समान अकस्मात् है ? अथवा क्या माया स्वप्नादि की तरह असत् से ही भ्रमवशात् व्यक्त जगत् का प्रादुर्भाव है ? अथवा क्या घटादि की तरह व्यक्त जगत् की भी उत्पत्ति किसी सद्भूत कारण से होती है ?

समाधान— उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि यह व्यक्त जगत् न आकस्मिक अर्थात् अकारण है और न असत् कारण से उत्पन्न है।

प्रश्न— क्यों ?

उत्तर— 'भेदानां परिमाणात्'। अर्थात् जगत् में जितने भेद हैं—विभिन्न पदार्थ हैं, वे सभी परिमित हैं—सीमित हैं। जो सीमित वस्तु होती है, उसकी सत् कारण से उत्पत्ति देखी गयी है। जैसे—मूली-अङ्कुर-पत्ता-नाल-दण्ड-बुस (भूसा) तुष (धान की भूसी), शूक (घास की नुकीली सूई) पुष्प, दूध, चावलकण आदि की उत्पत्ति सत् कारणों से होती है। ऐसे ही महत्-अहङ्कार-इन्द्रियाँ-तन्मात्रायें-महाभूतस्वरूप जगत् के भेद भी परिमित हैं—सीमित परिणाम वाले हैं। इसलिये ये भी सत् कारण से ही उत्पन्न हो सकते हैं। अतः जो इन भेदों का कारण है, वह अव्यक्त है। इस प्रकार अव्यक्त की सिद्धि हुई।

प्रश्न—भेदों के परिमाण के कारण अव्यक्त (प्रधान) की सत्ता क्यों है ? क्योंकि असत् विशेषों में भी परिमाण देखा जाता है। अतः व्यक्त के परिमित होने से अव्यक्त सिद्ध करने में व्यभिचार दोष है। अर्थात् माया-स्वप्न-इन्द्रजाल के कारण होने वाले विशेषों में भी परिमाण (परिमितत्व) होता है। किन्तु उससे कारण के रूप में किसी

तच्च नैवम् । कस्मात् ? न हि तेषां नियमोऽस्ति, एतावद्भिरेवोत्पत्तव्यं नान्यैरिति । महदादयस्तु प्रलयकालतिरोभूतास्तावन्त एवोत्पद्यन्ते । तस्मान्नानैकान्तः ।[1]

आह—परिमाणानवस्थानं कालद्वयानुपलब्धेः । सत्यम्, सांप्रते काले महदादयो युक्तपरिमाणाः, प्रत्यक्षानुमानोपलब्धेः । अतीतानागतयोस्तु कालयोर्नास्ति प्रसिद्धिः । तस्मादयुक्तमेतत् ।

उच्यते, न, विपर्यये प्रमाणानुपलब्धेः । इदानीमेतावन्तो भेदा इत्येतच्छक्यमनुमातुम् । अतीतानागतयोस्तु कालयोर्नास्ति [विपर्ययस्य] प्रसिद्धिः । तस्मान्न भेदानवस्थाप्रसङ्गः ।

सत्पदार्थ की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये परिमाणहेतु सत् अव्यक्त की सिद्धि में व्यभिचारी है।

उत्तर—उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि मायिक, स्वप्न और ऐन्द्रजालिक पदार्थों के लिये कोई नियम नहीं है कि इतने ही उत्पन्न हो सकते हैं, दूसरे नहीं। अर्थात् माया आदि के द्वारा अनियमित रूप से और भी उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु प्रलयकाल में तिरोहित हुये महत् आदि तो उतने ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में वैषम्य होने से यहाँ व्यभिचार दोष नहीं है।

शङ्का—महदादि में परिमितत्व की अवस्थिति नहीं हो सकती है; क्योंकि अतीत और अनागतकाल में परिमितत्व की उपलब्धि नहीं है। अर्थात् यह सत्य है कि वर्तमान काल में महदादि परिमाण से युक्त हैं; क्योंकि वर्तमानकाल में प्रत्यक्ष और अनुमान से उपलब्धि है। किन्तु अतीत और अनागत काल में तो उनके परिमितत्व की सिद्धि नहीं है। अतः महदादिभेदों को परिमित बताना और उसके द्वारा अव्यक्त की सिद्धि करना अयुक्त है।

समाधान—अतीत और अनागत कालों में विपर्यय है अर्थात् महदादि में परिमाण नहीं है—इसमें भी प्रमाण नहीं है। अर्थात् वर्तमान काल में इतने महदादि भेद हैं, ऐसा अनुमान कर लेना शक्य ही है। अतीत और अनागत कालों में तो विपर्यय (परिमाणाभाव) की भी प्रसिद्धि नहीं है। अतः उन कालों में यह भी नहीं निर्धारण कर सकते कि महदादि में परिमितत्व नहीं है। अतः महदादि भेदों में परिमितत्व के अभाव की प्रसक्ति नहीं होगी।

---

१. 'तस्मान्नैकान्त' इति क्वाचित्कः पाठोऽसंगतः।

[1] आह—भेदाभेदानवस्थानात्। महदादीनां ये भेदा देवमनुष्य-तिर्यञ्चो घटादयश्च तेषामशक्यं परिमाणं परिच्छेत्तुम्।

सामान्येऽन्तर्भावादयुक्तमिति चेत्, स्यान्मतम्—अस्ति शरीराणां महाभूतसामान्यं घटादीनाञ्च पृथिवीसामान्यं, तत्परिमाणादेतेऽपि परि-मिता इति। तदयुक्तम्, कस्मात्? अभावात्। नहि वः सामान्यं द्रव्याद-र्थान्तरभूतमस्ति, सारूप्यमात्रे सामान्यपरिकल्पनात्।

उच्यते—न, तत्त्वान्तरानुपपत्तेः। तत्त्वभेदेन परिमिता भेदा इत्येतद् विवक्षितम्; यथोक्तमस्माभिः। उक्तं च यद्यस्ति तत्त्वान्तरम्, उच्यताम्।

पूर्वपक्ष—महदादि भेद और मायिक स्वाप्न आदि असद्भेद–इन दोनों ही में परिमितत्व की अवस्थिति नहीं है। अर्थात् जैसे मायिक आदि में परिमाण की इयत्ता नहीं है कि इतने ही होंगे, वैसे महदादि के जो भेद हैं देव मनुष्य तिर्यक तथा घट पटादि, उनमें भी परिमाण की इयत्ता का निश्चय अशक्य है कि इतने देवादि हैं और इतने घटादि हैं।

अवान्तर समाधान—सामान्य में अन्तर्भाव होने से उक्त कथन अयुक्त है। अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीर महाभूतसामान्य के अन्तर्गत आ जाते हैं, और घट-पटादि पृथिवीसामान्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिए भूतसामान्य और पृथिवीसामान्य के परिमित होने से तदन्तर्गत देवादि शरीर और घटादि भी परिमित सिद्ध हैं।

अवान्तर समाधान का खण्डन—उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि सामान्य-पदार्थ का अभाव है। अर्थात् आपके मत में सामान्य कोई पृथक् वस्तु नहीं है। सारूप्यमात्र में सामान्य परिकल्पित है।

उत्तरपक्ष—देवादि शरीर और घटादि कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, किन्तु भूत-सामान्य तत्त्व है और पृथिवीसामान्य भी तत्त्व है, जिसके अन्तर्गत देवादि शरीर और घटपटादि आते हैं। अतः तत्त्वविशेष के रूप में देवादि शरीर और घटादिरूप महद-दादि के भेद भी परिमित हैं; यह हमारा विवक्षित है; जैसाकि हमने पहले कहा है। आपके द्वारा निदर्शन के रूप में कहा गया मायिक-स्वाप्न-ऐन्द्रजालिक आदि पदार्थ यदि तत्त्वान्तर हो अर्थात् वस्तुसत् हो तो आप यहाँ अनेकान्तिकत्व-दोष कहें। अतः अतात्त्विक दृष्टान्त से अनेकान्तदोष नहीं होगा।

और यह जो कहा कि आप के पक्ष में (मेरे मत) में सामान्य नामक कोई

---

१. अत्र अभेदशब्दार्थः 'असद्भेद' इति बोध्यम्।

यत् पुनरेतदुक्तम्—सामान्यस्यार्थान्तरभूतस्य भवत्पक्षेऽनुपपत्तिरिति, सत्यमेतत्। तथाविधेनापि तु तेन संव्यवहारो न प्रतिषिध्यते इति वक्ष्यामः। तस्मात् सिद्धं भेदानां परिमाणादस्त्यव्यक्तम्।

किञ्चान्यत्—

'समन्वयात्'

इह येन भेदानां समनुगतिस्तस्य सत्त्वं दृष्टम्। तद् यथा मृदा घटादीनाम्। अस्ति चेयं सुखदुःखमोहैः शब्दादीनां समनुगतिः। तस्मात्तेऽपि सन्ति। ये च सुखादयोऽस्तमितविशेषास्तदव्यक्तम्। तस्मादस्त्यव्यक्तम्।

आह—न, असिद्धत्वात्। सुखादिभिः शब्दादयोऽनुगम्यन्त इत्येतदप्रसिद्धम्, केन कारणेन प्रतिपत्तव्यमिति ?

उच्यते—तद्बुद्धिनिमित्तत्वात्। इह शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सन्निधाने स्वसंस्कारविशेषयोगात् सुखःदुखमोहाकाराः प्राणिनां बुद्धय-

---

अर्थान्तर अनुपपन्न है' तो यह ठीक ही है। क्योंकि उस अवस्था में भी उससे व्यवहार का प्रतिबन्ध नहीं होता है, यह हम आगे कहेंगे। अतः सिद्ध हो गया कि महदादि भेदों के परिमित होने से उसका कारण अव्यक्त तत्त्व है।

और भी—समन्वय से भी अव्यक्त की सिद्धि होती है। यहाँ जिसके द्वारा भेदों की (विशेषों की) समनुगति (अनुगमन) होती है, उसकी सत्ता देखी गयी है, जैसे घटादि में अनुगत मट्टी की। वैसे ही जिससे महदादि भेद अनुगत है, उसकी सत्ता है। शब्दादि विषयों की समनुगति सुख दुःख और मोह से है, इसलिये सुख दुःख मोह भी सत् हैं। एवं, जिन सुखादिकों के विशेष अस्तंगत हो गये हैं; ऐसे सुखादि अव्यक्त हैं। अतः अव्यक्त है, यह सिद्ध हो गया।

पूर्वपक्ष—सुखादि से शब्दादिविषय अनुगत हैं, ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि सुखादि से शब्दादि विषय का अनुगत होना सर्वथा अप्रसिद्ध है। अतः इस अनुगति को किस कारण से स्वीकार किया जाय ?

उत्तरपक्ष—सुखाकारादिबुद्धियों का निमित्त होने के कारण वैसा सिद्ध है। अर्थात् यहाँ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध विषयों के संनिहित होने पर अपने संस्कारविशेष के योग से प्राणियों में सुख-दुःख-मोहाकार बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जो विषय जैसी बुद्धि को उत्पन्न करता है, वह उससे अन्वित होता है। जैसे चन्दन की सुगन्ध को उत्पन्न करने वाला टुकड़ा अवश्य ही चन्दन से समन्वित होता है। अतः शब्दादि विषयों का सुखादि से समन्वय असिद्ध नहीं है।

उत्पद्यन्ते। यच्च यादृशीं बुद्धिमुत्पादयति तत्तेनान्वितम्। तद्यथा, चन्दनादिभिः शकलादयः। तस्मान्नासिद्धिः समन्वयस्येति।

आह—असिद्ध एवायं समन्वयः। कस्मात्? विलक्षणकार्योत्पत्तिदर्शनात्। नह्ययं नियमः—कारणसदृशमेव कार्यमुत्पद्यते, किं तर्हि? विलक्षणम् अग्निधूमशब्दादि। कथम्? न ह्यग्निस्तृणादिस्वभावकोऽग्निस्वभावको वा धूमः। न च भेरीदण्डादिस्वभावः शब्दः। तस्मात् सुखाद्यनुगताः शब्दादय इतीच्छामात्रम्।

उच्यते—न, विशेषितत्वात्। सुखादिस्वरूपाः शब्दादयः, तत्सन्निधाने सुखाद्याकारप्रत्ययोत्पत्तिरित्येतदादित एवास्माभिर्विशेषितम्। तस्मान्न भिन्नजातीयास्त इति।

यत्तु खल्विदमुच्यते—अग्न्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात् प्रधानभेदानामतज्जातीयप्रसङ्ग इति। तदयुक्तम्। कस्मात्? अभिप्रायानवबो-

---

शङ्का—उक्त समन्वय असिद्ध है। क्योंकि कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। यह नियम नहीं है कि कारण के सदृश ही कार्य उत्पन्न होता है; किन्तु विलक्षण भी उत्पन्न होता है, जैसे अग्नि धूम और शब्दादि।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—क्योंकि तृण आदि से उत्पन्न होने वाला अग्नि तृणादिस्वभाव का नहीं होता और अग्नि से उत्पन्न होने वाला धूम अग्निस्वभाव का नहीं होता है। एवं भेरीदण्डादि से उत्पन्न होने वाला शब्द भेरी-दण्डादिस्वभाव का भी नहीं होता है। अतः सुख दुःख मोह से अनुगत शब्दादिविषय होते हैं, यह इच्छामात्र है; इसमें प्रमाण नहीं है।

समाधान—उक्त शङ्का नहीं हो सकती है। क्योंकि हमारा नियम कुछ विशेष प्रकार का है। वह यह है-शब्द आदि विषय सुखादि स्वरूप हैं, क्योंकि इनके सन्निधान में सुखादि आकार की प्रतीति उत्पन्न होती है। इस प्रकार पहले से ही विशेषता बताई गयी है। अतः शब्दादि विषय भिन्नजातीय नहीं हैं; किन्तु सुखादिजातीय ही हैं।

जो तो यह कहा जाता है कि अग्नि आदि विजातीय कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है; इसलिये प्रधान के भेद महदादि प्रधान के सजातीय नहीं हो सकेंगे—वह अयुक्त है। क्योंकि हमारे अभिप्राय को आप नहीं समझ रहे हैं। हम यह कथमपि नहीं कहते हैं कि जो जिसका विकार होता है, वह उस जाति का होता है। किन्तु

घात् । नैव ब्रूमो यो यस्य विकारः स तज्जातीयक इति । किं तर्हि ? यो यज्जातीयकः स तस्य विकार इति । तस्मादयुक्तमेतत् ।

किञ्चान्यत्, उदाहरणाप्रसिद्धेः । न चैतदुदाहरणं प्रसिद्धम्, अग्न्यादयः स्वकारणजाति नानुविदधतीति । कस्मात् ? बलवीर्यानुविधानात् । तद्यथा अग्नेर्धूमस्य च त्वक्चन्दन-नलिकादिस्निग्धतानुवृत्तेस्तैक्ष्ण्याद्यनुवृत्तेश्च । भेरीविकारः शब्दो न तु यथाभेरीरूपमवस्थितम् । प्रदीपेनेव तु दण्डाभिघातेन व्यज्यत इति साध्यमेतत् । न चैकैको रूपादीनां द्रव्याकारः, समुदायधर्मत्वात् । तस्मान्न भेरीविकारः शब्दः । तत्र यदुक्तं विलक्षणकार्योत्पत्तिदर्शनादसिद्धोऽन्वय इत्येतदयुक्तम् । तस्माद् युक्तमेतत् समन्वयादस्त्यव्यक्तमिति ।

किञ्चान्यत्—

'शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।'

जो जिसकी जाति का होता है, वह उसका विकार है। अतः उक्त कथन ठीक नहीं है ।

और भी–उदाहरण की अप्रसिद्धि से उक्त कथन अयुक्त है । क्योंकि यह उदाहरण अप्रसिद्ध है कि अग्नि आदि अपने कारण की जाति का अनुकरण नहीं करते हैं। क्योंकि उनमें कारणगत बलवीर्य का अनुविधान होता है । जैसे, अग्नि में त्वक्चन्दनगत स्निग्धता की अनुवृत्ति होती है और धूम में नलिकादि (एक प्रकार का गन्धद्रव्य) गत तीखापन की अनुवृत्ति होती है। भेरी का विकार शब्द है, परन्तु वह भेरी के रूप के अनुसार रूप वाला नहीं होता है, किन्तु प्रदीप से जैसे कोई वस्तु व्यक्त होती है, वैसे ही दण्ड के अभिघात से भेरी में शब्द प्रकट होता है । अतः शब्द को भेरी का विकार होना चाहिये—यह अभी साध्यकोटि में है, अर्थात् सिद्ध नहीं है । एवं रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द में कोई भी द्रव्य का आकार नहीं होता; किन्तु द्रव्य का आकारभूत रूपादि समुदाय का धर्म है। अतः शब्द भेरी का विकार नहीं है; किन्तु दण्ड के आघात से वह व्यक्त होता है ।

इसलिये यह जो कहा कि 'विलक्षण कार्य की उत्पत्ति देखे जाने से कारण गुण का कार्य में समन्वय असिद्ध है' 'यह अयुक्त है । अतः यह समुचित है कि समन्वय के कारण अव्यक्त की सत्ता है ।

इह यावती काचिल्लोके प्रवृत्तिरुपलभ्यते सा सर्वा शक्तितः । तद्यथा कुम्भकारस्य दण्डादिसाधनविन्यासलक्षणायाश्च शक्तेः सन्निधानाद् घटकरणे प्रवृत्तिः । अस्ति व्यक्तस्य चेयं कार्यत्वात् तद्भावेन [भावने] प्रवृत्तिरिति । अतस्तस्यापि शक्त्या भवितव्यम् । याऽसौ शक्तिस्तदव्यक्तम् । तस्मादस्त्यव्यक्तमिति ।

आह—प्राक्प्रवृत्तेः शक्त्यभावः, प्रवृत्त्यनुपलब्धेः । यदि शक्तिपूर्विका प्रवृत्तिरिति मन्यध्वं, तेन यावत् प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते, तावच्छक्तिर्नास्तीत्येतदापन्नम् । कस्मात् ? सत्यां शक्त्यां कार्याभावे स्वरूपाभावप्रसङ्गात् । यदि खल्वपि विद्यमाना शक्तिः केनचित् प्रतिबन्धेन कार्यं नोत्पादयेच्छक्तिरशक्तेत्येतदापन्नम् । तस्मात् सहकारिभावान्तरसन्निधानात् प्रवृत्तिसमकालमेवार्थानां शक्तयः उत्पद्यन्ते । ताश्च तावदेव प्रध्वंसन्ते । तत्र यदुक्तं, प्राक्प्रवृत्तेः शक्तिदर्शनात् व्यक्तस्यापि निष्पादिका शक्तिरस्तीत्येतयुक्तम् ।

और भी हेतु है—शक्ति के कारण प्रवृत्ति होती है, इसलिये भी अव्यक्त है। अर्थात् इस लोक में जितनी भी कोई प्रवृत्ति उपलब्ध होती है, वह सभी शक्ति के कारण होती है । जैसे, कुम्भकार की घट बनाने में प्रवृत्ति दण्ड आदि साधनों के विनियोगलक्षण शक्ति के सन्निधान के कारण होती है । व्यक्त के भी कार्य होने से उसे उत्पन्न करने में प्रवृत्ति है । अतः व्यक्तोत्पादन को भी शक्ति होनी चाहिये । जो वह शक्ति है, वही अव्यक्त है । अतः अव्यक्त है, यह सिद्ध हुआ ।

पूर्वपक्ष— प्रवृत्ति के पहले शक्ति का अभाव है; क्योंकि प्रवृत्ति की उपलब्धि प्राक् काल में नहीं होती है । अर्थात् यदि यह मानते हो कि शक्तिपूर्विका प्रवृत्ति होती है, तो जब तक प्रवृत्ति की उपलब्धि नहीं होती है, तबतक शक्ति नहीं है, यह प्राप्त हो जाता है । क्योंकि शक्ति के रहते यदि कार्य न हो तो शक्तिस्वरूप का ही अभाव प्रसक्त हो जाता है । अर्थात् तब शक्ति ही नहीं है, ऐसा समझा जायगा ।

यदि प्रवृत्ति के पूर्व शक्ति के रहते भी किसी प्रतिबन्ध के कारण वह कार्य को उत्पन्न नहीं करे तो शक्ति ही अशक्त है, यह प्राप्त हो जाता है । इसलिये मानना चाहिये कि सहकारिभूत अन्य भावों का सन्निधान होते ही प्रवृत्ति समकाल में ही अर्थों में शक्ति उत्पन्न हो जाती है, और वे शक्तियाँ तत्क्षण ही प्रध्वस्त (नष्ट) भी हो जाती हैं । इसलिये यह जो कहा कि 'प्रवृत्ति के पूर्व कुलालादि में शक्ति देखी जाती है, अतः व्यक्त को भी उत्पन्न करने वाली शक्ति (अव्यक्त) पहले है यह अयुक्त है ।

किञ्चान्यत्—भेदाभेदकल्पनानुपपत्तेः। इह प्रधानमेव वा शक्तिः स्यात्, प्रधानाद्वा भिन्ना? किञ्चातः? तद् यदि तावत् प्रधानमेव शक्तिस्तेन कार्ये भेदाच्छक्तिभेदोऽवसीयत इति शक्तिभेदात् प्रधाननानात्वप्रसङ्गः। प्रधानैकत्वाद् वा तदव्यतिरिक्तानां शक्तीनामेकत्वप्रसङ्गः। ततश्च कार्यनानात्वाभावः।

अथ मा भूदयं दोष इति प्रधानादर्थान्तरभावः शक्तीनामभ्युपगम्यते, तेन भिन्नानां शक्तीनां प्रवृत्तितः सिद्धौ प्रधानसिद्धिर्नास्तीत्येतदापन्नम्।

किञ्चान्यत्–[1]स्वरूपानभिधानं च। प्रधानस्य शक्तिमात्रादप्यर्थान्तरत्वमभ्युपगम्यते प्रधानं स्वावस्थायामिति, तच्चाशक्यमभिधातुम्। तस्माद् भेदाभेदकल्पनानुपपत्तेरकल्पनीय शक्तिरिति।

उच्यते—यदुक्तं प्राक्प्रवृत्तेः शक्त्यभावः प्रवृत्त्यनुपलब्धेरिति, अत्र-

---

और भी— भेद अथवा अभेद की कल्पना नहीं बन सकती है। अर्थात् यहाँ शक्ति प्रधान ही है? या प्रधान से भिन्न है?

प्रश्न— इस विकल्प से क्या आया?

उत्तर— यहाँ दोष आया कि यदि प्रधान ही शक्ति है अर्थात् शक्ति प्रधान से अभिन्न है, तो कार्य में भेद होने से शक्ति में भेद का निश्चय होगा और शक्ति के भेद से प्रधान में नानात्व की प्रसक्ति हो जायगी। अथवा प्रधान के एक होने से उससे अभिन्न शक्तियों में भी एकत्व की प्रसक्ति हो जायगी और उसके परिणामस्वरूप कार्य में भी नानात्व का अभाव हो जायगा।

यदि उक्त दोष के परिहार के लिये प्रधान से भिन्नता शक्तियों में स्वीकृत की जाती है, तो उससे यह दोष उपस्थित हो गया कि प्रवृत्ति के कारण भिन्न शक्तियों की सिद्धि हो जायगी और उस स्थिति में एक प्रधान की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

और भी—प्रधानस्वरूप का अभिधान भी नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रधान को शक्तिमात्र से भी भिन्न मानकर 'इस स्वरूप वाला प्रधान अपनी अवस्था में है' यह कहना अशक्य है। अतः शक्ति में प्रधान से भेद और अभेद उभय कल्पना के असंभव होने से शक्ति के रूप में प्रधान की कल्पना नहीं की जा सकती है।

उत्तरपक्ष—यह जो कहा कि 'प्रवृत्ति के पूर्व प्रवृत्ति की उपलब्धि नहीं होने

---

1. स्वरूपाभिधानं च इति क्वाचित्कः पाठोऽयुक्तो भाति।

ब्रूमः—न, अप्रसिद्धत्वात् । कारणं शक्तिः कार्यं प्रवृत्तिः । न च कार्यानुलब्धौ कार्याभावः [कारणाभाव] इत्येतल्लोके प्रसिद्धम् ।

यत् पुनरुक्तम्, कार्यानिष्पत्तौ शक्तेः स्वरूपहानमिति । अत्र ब्रूमः—न, प्रदीपदृष्टान्तात् । तद्यथा प्रदीपस्य घटादिप्रकाशनशक्तिरस्ति, अथ च कुड्याद्यावरणसामर्थ्यान्न घटादीन् प्रकाशयितुं शक्नोति । न च शक्यते वक्तुं प्रदीपस्य प्रकाशनशक्तिरशक्तेति । एवमन्येषामपि भावानां प्राक्-प्रवृत्तेरपि शक्तिः स्यात् । न चाप्रवृत्तिदर्शनादस्याःस्वरूप हानं स्यात् ।

यत्तूक्तम्—सहकारिभावान्तरसन्निधानात्, प्रवृत्तिसमकालमेवार्थानां शक्तिप्रादुर्भाव इति—ब्रूमः—तदप्रसिद्धिः, शक्त्यपेक्षत्वात् । इह सर्वः कर्त्ता स्वगतां शक्तिमपेक्ष्य तद्योग्यतया सहकारिभावान्तर-मुपादत्ते । सा चेत् प्राक् प्रवृत्तेर्न स्यात्, साधनानां विषयस्वभावानवधारणादनुपादानप्रसङ्गः । अनिष्टं चैतत् । तस्मात् प्राक् प्रवृत्तेः शक्तिः ।

से शक्ति (प्रधान) का अभाव है।' यहाँ, हमें कहना है—यह पूर्वपक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि अप्रसिद्ध है। अर्थात् कारण शक्ति है और कार्य प्रवृत्ति है। कार्य की उपलब्धि न होने से कार्य का अभाव है, यह लोक में प्रसिद्ध नहीं है। [अथवा 'कार्याभाव' की जगह पर 'कारणाभाव' यह पाठ है। इसके अनुसार कार्य की उपलब्धि न होने पर कारण का अभाव है, यह लोक में प्रसिद्ध नहीं है। ऐसा अर्थ करना चाहिये]।

और यह जो कहा हि कार्य को निष्पत्ति नहीं होने की दशा में शक्ति के स्वरूप को हानि हो जाती है—यहाँ हमारा कहना है कि शक्तिस्वरूप को हानि नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रदीप का दृष्टान्त है। जैसे प्रदीप में घटादि प्रकाशन की शक्ति है, किन्तु दीवाल आदि आवरण के कारण वह घटादि का प्रकाशन नहीं कर सकता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रदीप की प्रकाशन शक्ति अशक्त हो गयी है। ऐसे ही अन्य भी भाव वस्तुओं में प्रकृति के पूर्व में भी शक्ति रहेगी। प्रवृत्ति के अदर्शनमात्र से शक्ति की स्वरूप-हानि नहीं हो जायगी।

यह जो कहा कि सहकारीभूत अन्य विषय का सान्निध्य होने से प्रवृत्ति के समकाल ही वस्तुओं में शक्ति का प्रादुर्भाव होता है—इसपर कहना है कि ऐसा कहीं प्रसिद्ध नहीं है; क्योंकि प्रथमतः शक्ति की अपेक्षा होती है। अर्थात् सभी कर्ता अपनी कार्यकरण शक्ति की अपेक्षा करके उसके अनुरूप सहकारीभूत अन्य विषय को अपनाता

यत् पुनरेतदुक्तम्, तावदेव प्रध्वंस इति, अत्र ब्रूमः—न, कार्यनिष्ठादर्शनात्। यदि प्रवृत्तिसमकालमेव प्रध्वंसः स्यात्, कार्यनिष्ठैव न स्यात्, तन्निमित्तत्वात् कार्यस्य। अस्ति त्वसौ। तस्मान्न प्रवृत्तिसमकालमेव शक्तिप्रध्वंसः।

सदृशसन्धानोत्पत्त्या कार्यनिष्ठेति चेन्न, विनाशसमकालोत्पत्त्यसंभवात्। अथापि स्यादेकस्यां शक्तौ क्षणसाध्यमंशमवसाय विनष्टायामन्यत्तत्सदृशं। शक्त्यन्तरमुत्पद्यते, तस्मिन् विनष्टेऽन्यदिति। एवं शक्तिसन्तानात् कार्यनिष्ठा भवतीति।

एतदप्ययुक्तम् कस्मात्? विनाशकालोत्पत्त्यसंभवात्। को ह्यत्र हेतुर्येन विनाशसमकालमन्यच्छक्तिरूपं कार्यमवसाययति, न पुनः प्राक्तनमेवावस्थितमिति?

है। वह शक्ति यदि प्रवृत्ति के पूर्व कर्ता में न हो तो विषय के स्वभाव का निश्चय न कर पा सकने के कारण उस कार्य के लिये उपयोगी साधन का वह उपादान (ग्रहण) नहीं कर पा सकेगा। यह अनिष्ट भी है। अतः प्रवृत्ति के पूर्व शक्ति की सत्ता है।

यह जो कहा कि शक्ति का ध्वंस प्रवृत्तिकाल में ही हो जाता है—इस पर हमारा कहना है कि ऐसी बात नहीं है; क्योंकि कार्य की निष्ठा (स्थिति) देखी जाती है। यदि प्रवृत्ति के समकाल में ही कार्यजनन शक्ति का ध्वंस हो जाय, तो कार्य की स्थिति ही नहीं होनी चाहिये। क्योंकि शक्ति ही कार्य की उत्पत्ति या स्थिति का निमित्त है। यहाँ कार्य की निष्ठा तो है। अतः कार्यप्रवृत्ति के समकाल ही शक्ति का प्रध्वंस नहीं होता है। यदि कहो कि—पूर्व शक्ति के सदृश शक्ति-सन्धान (सन्तान) की उत्पत्ति होने से कार्यनिष्ठा में कोई बाधा नहीं है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि विनाश के समकाल में सदृश शक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

अर्थात् 'यदि ऐसा हो कि क्षणसाध्य कार्य को पूर्ण कर एक शक्ति के नष्ट हो जाने पर उसके सदृश दूसरी शक्ति उत्पन्न हो जाती है और उस शक्ति के भी विनष्ट हो जाने पर दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार शक्ति की सन्तान (परम्परा) के कारण कार्यनिष्ठा हो जाती है—तो यह भी अयुक्त है; क्योंकि विनाशसमकाल में शक्त्यन्तर की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कारण, इसमें क्या हेतु है कि पूर्वशक्ति के विनाशसमकाल में उत्पन्न दूसरी शक्ति कार्य को पूर्ण करती है, पूर्वावस्थ शक्ति ही अवस्थित रहकर नहीं करती है। अथवा पूर्वशक्ति अपने विनाशसमकाल में ही

किञ्चान्यत्—कौटस्थ्यदोषपरिहारात्। क्षणोत्तरकालावस्थाने च भावानां यो दोष उपात्तः कौटस्थ्यप्रसङ्ग इति तस्य परिहार उक्तः। तस्मान्नास्ति शक्तीनां प्रवृतिकाले विनाशः। प्रवृत्त्युत्तरकालमपि नास्ति। कस्मात्? पुनः प्रवृत्तिदर्शनात्।

शक्त्यन्तरोत्पत्तौ प्रवृत्त्यन्तरसद्भाव इति चेत्, न, हेत्वभावात्। को ह्यत्र निर्बन्धः, तस्यां विनष्टायामन्या प्रवृत्त्यन्तरहेतुर्भवति, नैव पुनः सैवेति? कृतार्थत्वादिति चेत्, न, अनभ्युपगमात्। न ह्येकघटार्था शक्तिरभ्युपगम्यते। तत्र येनैव हेतुना एकं घटमवसाय न विनश्यति, तेनैव यावन्ति कर्तव्यानीति। तस्मात् त्रिषु कालेषु शक्तयोऽवतिष्ठन्ते।

यत् पुनरेतदुक्तम्—भेदाभेदकल्पनानुपपत्तिरिति, अत्र ब्रूमः—अस्तु प्रधानादभिन्ना शक्तिः, न तस्य नानात्वं शक्त्येकत्वं वा प्रसज्यते।

दूसरा शक्तिरूप कार्य को उत्पन्न कर देती है, स्वयं प्राक्तन शक्ति ही अवस्थित नहीं रहती है—ऐसा अर्थ होगा।

और भी—स्थिर शक्ति के पक्ष में कूटस्थत्व दोष का परिहार हो जाता है। अर्थात् वस्तुओं के प्रथम क्षण के बाद वाले काल में भी अवस्थित होने में जो दोष दिया था, उसका परिहार कहा जा चुका है। अतः कार्यप्रवृत्तिकाल में शक्तियों का विनाश नहीं होता है।

ऐसे ही प्रवृत्ति के उत्तर काल में भी शक्तियों का विनाश नहीं होता है; क्योंकि फिर कार्य की प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि कहो कि शक्त्यन्तर की उत्पत्ति होने पर अन्य प्रवृत्तियां होती हैं, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि इसमें हेतु नहीं है। कारण, इसमें क्या आग्रह है कि पूर्वशक्ति के विनष्ट हो जाने पर अन्य शक्ति प्रवृत्त्यन्तर का हेतु होती है, वही शक्ति हेतु नहीं होती है?

यदि कहो कि पूर्व शक्ति कृतकृत्य हो चुकी है, इसलिये—तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि हम वैसा नहीं मानते हैं। अर्थात् एक ही घट के लिये शक्ति होती है, ऐसा हम नहीं मानते हैं। तब जिस कारण से एक घट को उत्पन्न कर शक्ति नष्ट नहीं होती है, उसी हेतु से जितने भी किये जाने वाले घट हैं, सब के सम्बन्ध में जानना चाहिये। अतः तीनों काल में शक्तियाँ रहती हैं, क्षणमात्र में ध्वस्त नहीं हो जातीं।

कस्मात् ? संख्याव्यवहारस्य बुद्ध्यपेक्षत्वाद्, बुद्धिनिमित्तस्य चासत्कारेण प्रधानशक्तिस्वभावात् । इहायं संख्याव्यवहारो बुद्ध्यपेक्षः । कथम् ? यद-भिन्नां बुद्धिमुत्पादयति, तदेकम् । प्रधानावस्थायां च शक्तयोऽस्तमित-विशेषत्वादभिन्नां बुद्धिमुत्पादयन्ति, तस्मादेकम् । तत्प्रवृत्तिकाले विशेषाव-ग्रहेण भेदं प्रतिपद्यते, देवशक्तिर्मनुष्यशक्तिरित्यादि ।[1] तस्मात्तासामेकत्व-मतो न भेदाभेदकल्पनानुपपत्तिरिति ।

व्यक्ते दर्शनाच्छक्तीनामव्यक्ते[ऽ]प्रतिपत्तिरिति चेत्, स्यादेतत्— व्यक्ते शक्तिप्रवृत्ती दृष्टे न चाव्यक्ते । क्वचिदन्यतो व्यक्तमेवैतस्माद्धेतोः सिध्यति नाव्यक्तम्, इत्येतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? सामान्यतोदृष्टा[त्]न्तात् सिद्धेः । यथैव हि देवदत्ताधारया क्रियया तस्य देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यात्यन्ता-

---

और जो यह कहा कि 'प्रधान के साथ शक्ति के भेद या अभेद की कल्पना नहीं बन सकती है। इस पर हमारा कहना है कि प्रधान के साथ शक्ति अभिन्न हो रहे। इसके कारण न प्रधान में नानात्व की प्रसक्ति हो सकती है और न शक्ति में एकत्व की प्रसक्ति हो सकती है। क्योंकि एकत्व आदि संख्या का व्यवहार बुद्धिसापेक्ष है। तथा जो वस्तु बुद्धिनिमित्तक होती है, उसका असत्कार [तिरोभाव] होने से वह प्रधानशक्तिस्वरूप बन जाती है।

यहाँ प्रधान में एकत्व-संख्या का व्यवहार बुद्धिसापेक्ष है। क्योंकि जो वस्तु अभिन्न बुद्धि को उत्पन्न करती है, वह एक है। प्रधान (अव्यक्त) की अवस्था में उसमें रहने वाली समस्त शक्तियाँ अभिन्न बुद्धि को उत्पन्न करती हैं। क्योंकि उस समय शक्तियों की विशेषता अस्त (तिरोहित) हो गयी रहती हैं। इसीलिये प्रधान एक है।

प्रवृत्तिकाल में तो विशेषता का ग्रहण होने से अर्थात् विशेषता को अपनाने के कारण वही प्रधानशक्ति भेद को प्राप्त कर जाती है—देवशक्ति मनुष्यशक्ति इत्यादिरूप मे। अतः उन शक्तियों का प्रधान के साथ एकत्व होने से भेदाभेदकल्प-नानुपपत्तिरूप पूर्वोक्त दोष नहीं है।

शङ्का— कार्यजनन शक्तियाँ व्यक्त में देखी जाती हैं; इसलिये अव्यक्त में शक्ति का अस्तित्वनिश्चय नहीं हो सकता है। अर्थात् व्यक्त में शक्ति और प्रवृत्ति देखी गयी है अव्यक्त में नहीं। अतः कहीं अन्यत्र भी इस हेतु से व्यक्त ही सिद्ध हो सकता है, अव्यक्त नहीं।

---

१. तस्मात्तासाम् इति क्वचित् पाठः।

दृष्टं ज्योतिषां देशान्तरप्राप्तेर्गमनमनुमीयते, एवं प्रवृत्तेः शक्तिनियमितत्वात् व्यक्तस्य च प्रवृत्तिभूतत्वादवश्यमत्यन्तादृष्टा शक्तिरभ्युपगन्तव्येति सिद्धं शक्तितः प्रवृत्तेरस्त्यव्यक्तम् ।

किञ्चान्यत्—

'कारणकार्यविभागात्'

कारणं च कार्यं च कारणकार्ये, तयोर्विभागः कारणकार्यविभागः इदं कारणमिदं कार्यमिति बुद्ध्या द्विधावस्थापनं विभागो यः स कारण-कार्यविभागः । तदवस्थितभावपूर्वकं दृष्टम् । तद्यथा शयनासनरथ-चरणादिः । अस्ति चायं व्यक्तस्य कारणकार्यविभागः, तस्मादिदमप्यव-स्थितभावपूर्वकम् । योऽसाववस्थितो भावस्तदव्यक्तम् ।

आह—अनुपलब्धेरयुक्तम् । न हि शयनादीनां कारणकार्यविभागः कश्चिदुपलभ्यते । तस्मादयुक्तमेतत् ।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अव्यक्त की सिद्धि होती है। जैसे, देवदत्तवर्ती क्रिया से देवदत्त का देशान्तर में पहुँचना देखकर नक्षत्रों की नहीं देखी गयी भी गमनक्रिया का अनुमान उनकी देशान्तरप्राप्ति से हम कर लेते हैं। वैसे ही कार्य को प्रवृत्ति भी शक्ति से नियमित (व्याप्त) होती है तथा समस्त व्यक्त पदार्थ प्रवृत्तिभूत है। इसलिये इसके कारण के रूप में अवश्य ही अत्यन्त अदृष्ट शक्ति (अव्यक्त) को स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति होने के कारण अव्यक्त है।

और भी—कारण-कार्य का विभाग होने से भी अव्यक्त है।'कारणं च कार्यं च कारणकार्ये' यहाँ द्वन्द्वसमास है। इन दोनों का जो विभाग है, वह कारण-कार्य विभाग है। अर्थात् यह कारण है और यह कार्य है, इस बुद्धि द्वारा दो भागों में व्यवस्थापित करनारूप जो विभाग है, वह कारणकार्यविभाग है। इस प्रकार का विभाग पूर्व से अवस्थित भावपूर्वक देखा गया है। जैसे, [तन्तु और पट का विभाग] शयन-आसन-रथचरण आदि अवस्थित भावपूर्वक होता है। अर्थात् पूर्व से अवस्थित व्यक्तिविशेष के लिये ही शयन आसन आदि होते हैं। तथा व्यक्त में भी ऐसा ही कारण-कार्य का विभाग है। अतः यह भी पूर्व में अवस्थित किसी भावपूर्वक ही है। यहाँ जो पूर्व में अवस्थित भाव है, वह अव्यक्त है।

शङ्का— शयनासनादि में कारण-कार्यविभाग अनुपलब्ध है; इसलिये उक्त

उच्यते—न कार्यकारणयोरुपकारकोपकार्यपर्यायत्वात् कारणं कार्यमिति निर्वर्त्यनिर्वर्तकभावोऽभिप्रेतः। किं तर्हि? उपकारकोपकार्यभावः। स चास्ति शयनादीनां व्यक्तस्य च। अतो न प्रमादाभिधानमेतत्।

आह—कः पुनर्व्यक्तस्य परस्परस्य कार्यकारणभाव इति?

उच्यते—गुणानां तावत् सत्त्वरजस्तमसां प्रकाशप्रवृत्तिनियमलक्षणैर्धर्मैरितरेतरोपकारेण यथा प्रवृत्तिर्भवति, तथा 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' इत्येतस्मिन् सूत्रे(का० १२) व्याख्यातम्। तथा शब्दादीनां पृथिव्यादिषु परस्परार्थमेकाधारत्वम्। श्रोत्रादीनामितरेतरार्जनरक्षणसंस्काराः। करणस्य कार्यात्, स्थानसाधनप्रख्यापनादिकार्यस्य करणाद् वृत्तिक्षतभङ्गसंरोहणसंशोषणपरिपालनानि[1]। पृथिव्यादीनां धृति संग्रह पक्ति व्यूहावकाशदा-

---

युक्ति ठीक नहीं है। अर्थात् शयन (शय्या), आसन आदि में कोई कारण-कार्यविभाग उपलब्ध नहीं होता है; इसलिये उक्त प्रकार से अव्यक्त की सिद्धि अनुपपन्न है।

समाधान— कार्य और कारणशब्द उवकार्य और उपकारक का पर्यायवाची है, इसलिये यहाँ कारण और कार्य से निर्वर्त्यनिर्वर्तकभाव अभिप्रेत नहीं है। किन्तु उपकारक और उपकार्यभाव अभिप्रेत है। और वह शयनादि में तथा व्यक्त में है। अर्थात् जैसे शयन-आसम आदि उपकारक है और देवदत्त आदि उपकार्य है; वैसे ही व्यक्त उपकार्य है और अव्यक्त उसका उपकारक है। अतः उक्त शयनासनादि का दृष्टान्तकथन प्रमादवश नहीं है।

प्रश्न—व्यक्त का परस्पर कार्यकारणभाव क्या है?

सत्त्व-रजस् और तमस् के प्रकाश-प्रवृत्ति एवं नियमलक्षण धर्मों से एक दूसरे के उपकार द्वारा जैसे महदादि कार्य की प्रवृत्ति होती है, उसे 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' इस सूत्र में (का० १२ में) पहले विस्तारपूर्वक कहा गया है। एवं शब्दादि विषयों का परस्पर का उपकार करने के लिए पृथिवी आदि एक आधार में रहना। एवं श्रोत्र आदि इन्द्रियों का परस्पर में अर्जन-रक्षण और संस्कार का करना, करण का कार्य से स्थान (स्थिति) साधन (सिद्धि) प्रख्यापन आदि, कार्य का करण से वृत्ति (प्रादुर्भाव) क्षत भङ्ग संरोहण संशोषण और परिपालन ये उपकार होते हैं। पृथिवी जल

---

१. उपकारो भवतीत्यर्थः। वृत्तिःअस्तित्व प्रादुर्भाव इति यावत्। क्षतमपि घटादेः कुतश्चित् कारणादेव भवति। तथैव संरोहणादीनि अपि कारणादेव भवन्ति नाकारणकानि तानि।

नैर्गवादिभावो, देवमानुषतिरश्चां यथर्तुविधानेज्यापोषणाभ्यवहारसंव्यवहारैरितरेतराध्ययनं, वर्णानां स्वधर्मप्रवृत्तिविषयभावः। अन्यश्च लोकाद् यथासंभवं द्रष्टव्यः।

आह—तदनुपपत्तिः, क्रमयौगपद्यासंभवात्। योऽयं गुणानां प्रकाशप्रवृत्तिनियमैरितरेतरोपकारोऽभ्युपगम्यते, स खलु क्रमेण वा स्याद् युगपद् वा? किं चातः? तन्न तावत् क्रमेण संभवति। कस्मात्? एकस्य निरपेक्षस्य प्रवृत्तावितरयोरपि तत्प्रसङ्गात्। यदि तावत् सत्त्वं पूर्वं गुणान्तरनिरपेक्षं स्वशक्तित एव प्रकाशते तयोरुपकारकमित्याश्रीयते, तेन यथा सत्त्वमेवमितरावप्युपकारनिरपेक्षौ स्वकार्यं करिष्यत इत्युपकारानर्थक्यम्। अथ मा भूदयं दोष इत्यतो यौगपद्यमाश्रीयते। तदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? सहभूतानामनुपकारकत्वाद्, गोविषाणवत्।

आदि का क्रमशः धृति-संग्रह पक्ति-व्यूह और अवकाशप्रदान द्वारा गवादिभाव होना, देवमनुष्य और तिर्यक् योनियो का जैसे ऋतु का विधान, इज्या-पोषण-अभ्यवहार और संव्यवहार द्वारा एक दूसरे का उपकार करना, वर्णों का अपनी धर्मप्रवृत्ति (व्यवहार)का विषय बनना आदि प्रवृत्तियाँ हैं, जो कारणकार्यभाव के उदाहरण हैं। लोक द्वारा इनके अलावे अन्य भी यथासम्भव कार्यकारणभाव के निदर्शन जानने चाहिये।

पूर्वपक्ष—सत्त्वादि गुणों का परस्पर उपकार अनुपपन्न हैं; क्योंकि यहाँ क्रम या यौगपद्य दोनों सम्भव नहीं हैं। अर्थात् जो यह गुणों का प्रकाश प्रवृत्ति और नियमन द्वारा एक दूसरे का उपकार स्वीकृत किया जा रहा है, वह उपकार क्रमशः होगा? या एक साथ होगा?

प्रश्न—इससे क्या आया?

उत्तर—यहाँ क्रमशः उपकार नहीं हो सकता है; क्योंकि यदि एक की निरपेक्ष होकर प्रवृत्ति होगी तो शेष दोनों की भी निरपेक्ष ही प्रवृत्ति का प्रसङ्ग हो जायेगा। अर्थात् यदि पहले सत्त्वगुण इतर गुणों की अपेक्षा किये बिना अपनी ही शक्ति से प्रकाशकार्य करेगा और शेष दोनों का उपकारक माना जायेगा, तो जैसे सत्त्व वैसे इतर दोनों गुण भी सत्त्व द्वारा उपकार की बिना अपेक्षा किये ही अपना कार्य प्रवृत्ति और नियमन कर लेंगे। इस प्रकार परस्पर का उपकार निरर्थक हो जायेगा।

यदि यह आनर्थक्य दोष न हो इसके लिये गुणों का उपकार युगपत् स्वीकृत किया जाय तो वह भी अनुपपन्न है; क्योंकि साथ होने वालों में उपकारकत्व नहीं

किञ्चान्यत्, सदसद्विकल्पानुपपत्तेः। इह सत्त्वं प्रकाशमानं रजस्तमसोर्विद्यमानं वा प्रकाशमाविष्कुर्यात् अविद्यमानं वा ? किञ्चातः ? तद्यदि तावद् विद्यमानमभिव्यनक्ति, तेन सर्वेषामेकस्वाभाव्यःद् गुणत्वप्रसङ्गः। किञ्च सत्त्ववच्चेतरयोः स्वातन्त्र्यप्रसङ्गः। यथा सत्त्वस्य प्रकाशशक्तिरस्तीत्यतस्तद् गुणान्तरनिरपेक्षं प्रकाशते, तद्वदितरावपीत्यदोषः। अथवाऽविद्यमाना प्रकाशशक्तिः सत्त्वसम्बन्धाद् रजस्तमसोरुपजायते। तेन यदुक्तम्—प्राक् प्रवृत्तेवतिष्ठन्ते शक्तय इति, तद् हीनम्। ततश्च सत्कार्यवादव्याघातः।

होता है। अर्थात् वे सभी साथ हुए हैं, इसलिये कोई किसी का उपकारक नहीं हो सकता है। जैसे, साथ में उत्पन्न गऊ की सींगें परस्पर में उपकारक नहीं होती हैं, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।

और भी—सत् और असत् का विकल्प नहीं बन सकता है। अर्थात् यहाँ प्रकाशमान सत्त्वगुण अर्थात् प्रकाश द्वारा रजस्-तमस् का उपकारक सत्त्वगुण रजस् और तमस् में विद्यमान प्रकाश को आविष्कृत करेगा ? अथवा अविद्यमान को ?

प्रश्न—इससे क्या आया ?

उत्तर—यदि तो सत्त्व गुण रजस्-तमस् गुणों में पूर्व से विद्यमान प्रकाश को अभिव्यक्त करता है; तो सभी एक ही स्वभाव के गुण हो जायेंगे। अर्थात् रजोगुण और तमोगुण में भी प्रकाश के विद्यमान रहने से ये दोनों भी सत्त्वस्वभाव के गुण होने लगेंगे।

एवं सत्त्वगुण के समान ही इतर गुणों में भी प्रकाश के बारे में स्वतन्त्रता होने लगेगी। अर्थात् जैसे सत्त्वगुण में प्रकाश की शक्ति है; इसलिये वह गुणान्तर से निरपेक्ष होकर प्रकाश करता है; वैसे इतर गुण भी प्रवृत्ति और नियम के समान प्रकाश के बारे में भी स्वतन्त्र हो जायेंगे और प्रकाश के लिए सत्त्वगुण के मुखापेक्षी नहीं होंगे; क्योंकि उनमें भी सत्त्व के समान ही प्रकाशशक्ति को विद्यमान मानते हो।

वैकल्पिक पूर्वपक्ष–अथवा यदि यह कहा जाय कि 'रजस् और तमस् में प्रकाशशक्ति पूर्व से विद्यमान नहीं रहती है और सत्त्व के सम्बन्ध से उनमें उत्पन्न हो जाती है' तो यह जो सांख्यवादी ने कहा था कि प्रवृत्ति (कार्यप्रवृत्ति) के पूर्व में शक्तियाँ अवस्थित रहती हैं'–उसे यह छोड़ देना पड़ा। ऐसी स्थिति में सत्कार्यवाद का व्याघात हो गया।

एवं अनेकान्त (व्यभिचार) के कारण भी सत्कार्यवाद का व्याघात है। क्योंकि यह नियम नहीं है कि जो परस्पर में उपकारी होते हैं, वहाँ पूर्व में कोई भाववस्तु

किञ्चाय[1]मनेकान्तात् । न ह्ययमनेकान्तः परस्परोपकारिणामवस्थितभावपूर्वकत्वमिति । तथा हि सत्त्वादयः परस्परोपकारिणो न चावस्थितभावपूर्वकाः । तेन यदुक्तम्–कारणकार्यविभागाद् भेदानामव्यक्तमस्ति, एतदयुक्तम् ।

उच्यते—यदुक्तमुपकाराभावः क्रमयौगपद्यासंभवादिति, अस्तु युगपदुपकारः । यत्तूक्तम्–सहभूतानामनुपकारकत्वं गोविषाणवदिति—अत्र ब्रूमः–न, अन्यथानुपपत्तेः । न हि गोविषाणयोः सहभूतत्वादुपकारानुपपत्तिः, किं तर्हि ? एककार्याभावात् । येषां तु कार्यमेकं, सहभावे तु तेषामुपकारो न प्रतिषिध्यते । तद् यथा, पृथिव्यादीनां धृति-संग्रह-पक्ति (पाक) व्यूहावकाशदानैः । शरीरस्थितयोरक्रमभाविनोरपि खुरविषाणयोर्नास्ति परस्परोपकारः । तस्मान्न सहभावासहभावावुपकारानुपकारहेतू ।

अवस्थित रहती ही है । कारण, सत्त्वादि गुण परस्पर में उपकारी हैं, किन्तु उपकार के पूर्व में कोई कारणीभूत भाववस्तु अवस्थित नहीं रहती है । अतः यह जो कहा कि महदादि भेदों में कारण-कार्य का विभाग होने से भेदों का कारण अव्यक्त है—यह कथन अयुक्त है ।

उत्तरपक्ष–पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि क्रम या यौगपद्य न हो सकने के कारण गुणों में परस्पर उपकार सम्भव नहीं है, तो कहूँगा कि यहाँ युगपत् उपकार होगा । इस पर यह जो कहा कि गऊ की सींगों की तरह साथ होने वालों में परस्पर उपकारकत्व नहीं होगा—इस पर हम कहते हैं कि ऐसा नहीं है; क्योंकि गोविषाणों में उपकारकत्व की अनुपपत्ति (अभाव) अन्य कारण से होती है । अर्थात् गोविषाणों में उपकार की अनुपपत्ति साथ होने की वजह से नहीं है, किन्तु उनका कोई एक कार्य नहीं होने से उपकाराभाव है । जिनका तो कोई एक कार्य है, उनके सहभाव में तो उपकारकत्व का प्रतिषेध नहीं होता है । जैसे, पृथिवी-जल-तेज-वायु और आकाश क्रमशः धृति-संग्रह-पक्ति=पाक व्यूहन एवं अवकाशप्रदान द्वारा परस्पर में उपकारक होते हैं । इसके विपरीत शरीर में स्थित खुर और विषाण साथ होने पर भी परस्पर में उपकारक नहीं होते हैं । इसलिये सहभाव होना अनुपकारकत्व का प्रयोजक नहीं हैं और असहभाव होना उपकारकत्व का प्रयोजक नहीं है । बल्कि एक कार्य का होना उपकारकत्व का प्रयोजक है और उसका अभाव होना अनुपकारकत्व का प्रयोजक है ।

---

१. अयम्=सत्कार्यवादव्याघात इत्यर्थः ।

किं च, दृष्टत्वात् । दृष्टः खलु वेगेनोर्ध्वगमने वायोररघट्टादीनां युगपदुपकारः, न च कश्चिद् दोषः । तथा गुणानामपि स्यात् । संयोगनिमित्त इति चेत्, साध्यम्, किमर्थान्तरभूतमुत प्राप्तिमात्रं संयोग इति ।

यत् पुनरेतदुक्तं—सदसद्विकल्पानुपपत्तेरिति, अत्र ब्रूमः—अयुक्तमेतत् । कस्मात् ? पङ्ग्वन्धवत् तदुपकारे दोषानुपपत्तेः । तद्यथा पङ्ग्वन्धयोरितरेतरसम्बन्धान्न विद्यमानयोर्दृग्गतिशक्त्योरन्योन्यात्मनि व्यक्तिः न चाविद्यमानयोः, अथ चैककार्यसिद्धिः । यथा च पृथिव्यादीनां परस्परोपकारित्वं शक्त्योरभिव्यज्यते न परशक्त्या, एवं गुणानामपीति ।

एवं, युगवत् उपकार देखा भी गया है । अर्थात् वेग से ऊपर की ओर जाने में वायु का और अरहट का युगपत् उपकार देखा गया है । और इसमें कोई दोष नहीं है । अरघट अर्थात् उड़न खटोला जितने वेग से ऊपर जाता है; उतने ही वेग से वायु भी ऊपर जाती है तथा जितने वेग से वायु ऊपर की ओर जाती है; उड़न खटोला भी उतने ही वेग से की ऊपर ओर जाता है । ऐसा देखा गया है । इस प्रकार दोनों ही दोनों के तेजी से ऊपर जाने में एक साथ उपकारी होते हैं । वैसे ही गुणों का भी परस्पर युगपत् उपकार होने में कोई दोष नहीं है ।

यदि कहो कि वायु और अरहट आदि परस्पर में युगपत् उपकार नहीं करते हैं, किन्तु संयोगरूप निमित्त से उनका वेग से ऊर्ध्वगमन होता है—तो आपको यह सिद्ध करना है कि वह निमित्तभूत संयोग कोई अर्थान्तरभूत वस्तु है ? या वायु और अरहट का परस्पर मिलन ही संयोग है ? अर्थात् अर्थान्तरभूत नहीं सिद्ध हो सकने से प्राप्तिरूप ही मानना होगा । ऐसी स्थिति में फलतः वायु और अरहट में ही परस्पर उपकारकत्व सिद्ध हो गया ।

और यह जो कहा कि सत् या असत् इन दोनों विकल्पों के नहीं हो सकने से गुणों का परस्पर उपकारकत्व नहीं बन सकता है–तो यहाँ हमारा कहना है कि उक्त अनुपपत्ति अयुक्त है;क्योंकि पङ्गु और अन्ध के समान उपकारी होने में कोई दोष नहीं होगा । अर्थात् जैसे पङ्गु और अन्ध के परस्पर संयोग होने से जो एक दूसरे में दृष्टिशक्ति और गतिशक्ति की अभिव्यक्ति होती है, वे शक्तियाँ न तो विद्यमान ही हैं और न अविद्यमान ही हैं । फिर भी ग्रामप्राप्तिरूप एक कार्य की सिद्धि होती है । एवं, जैसे पृथिवी जल आदि अपने में वर्तमान गन्ध स्नेह आदि शक्ति से एक दूसरे का उपकार करते हैं; न कि दूसरे की शक्ति से । अर्थात् ऐसा नहीं होता है कि पृथिवी जल का सम्बन्ध होने पर जल में गन्धशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है और पृथिवी में स्नेहशक्ति की । ऐसा ही गुणों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये ।

यत् पुनरेतदुक्तमनेकान्तादिति, तदयुक्तम् । कस्मात् ? शास्त्रानवबोधात् । इहास्माकं कार्यकारणयोरर्थानभ्युपगमाद् गुणानामवस्थान्तरमेवावस्थान्तरानपेक्षं कार्यकारणशब्दवाच्यतां लभते । तत्र ये तावत् प्रधानावस्थानुभाविनो गुणास्तेषां शक्तिमात्ररूपत्वादनिर्देश्यप्रकाशादिस्वभावानां नास्ति तन्निबन्धन उपकारः ।

यदा वैषम्यमापद्यन्ते, तदाऽनिवारितप्रकाशादिरूपास्तन्निमित्तमुपकारं प्रतिपद्यन्ते । तस्माद् व्यक्तानामुपकाराभ्युपगमादवस्थितभावपूर्वकत्वं न विरुध्यत इति शास्त्रमनवगम्यैवमुच्यते ऽनैकान्तिकोऽयं हेतुः ।

प्रधानावस्थायामुपकारानभ्युपगमादुत्तरकालमपि तत्प्रसङ्ग इति चेत्, स्यान्मतम्—यदि गुणानामाद्ये प्रकोपे स्वसामर्थ्यादेव पूर्वस्मात् प्रच्युतिस्तेनो-

---

और यह जो कहा कि परस्पर उपकारियों में अवस्थित भावपूर्वकत्व होना एकान्तिक (नियत) नहो हैं किन्तु व्यभिचारी है—वह कथन अयुक्त है; क्योंकि शास्त्र का अवबोध नहीं होने से इसमें व्यभिचार मालूम पड़ता है, वस्तुतः व्यभिचार है नहीं । कारण,इस शास्त्र में हमारे द्वारा कार्य और कारण का कोई अलग अर्थ नहीं स्वीकृत हुआ है । किन्तु किसी अवस्थान्तर की अपेक्षा किये विना गुणों की भिन्न-भिन्न अवस्थायें ही कार्यशब्द और कारणशब्द की वाच्यता को प्राप्त करती हैं ।

उनमें जो गुण प्रधानावस्था का अनुभव करने वाले होते हैं, वे शक्तिमात्ररूप है, अर्थात् अव्यक्तरूप हैं, उनके प्रकाश प्रवृत्ति और नियमनरूप निजी स्वभावों का निर्देश अशक्य है । अतः उनके तत् तत् स्वभावों के कारण परस्पर में कोई उपकार नहीं होता है ।

किन्तु जब वे गुण प्रधानभाव से निकलकर वैषम्य को प्राप्त करते है; तब उनके प्रकाशादि स्वभाव उद्‌बुद्ध हो जाते हैं, तब उनके कारण वे गुण एक दूसरे के द्वारा उपकृत होते हैं । अतः अभिव्यक्त गुणों में ही उपकार के स्वीकृत होने से उसका पूर्व में अवस्थित भाव [अव्यक्त] पूर्वकत्व के साथ कोई विरोध नहीं है । इसलिये शास्त्र को नहीं समझने के कारण ही यह कहा गया कि अव्यक्त की सिद्धि में परस्परोपकारकत्वहेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है ।

पूर्वपक्ष—प्रधानावस्था में उपकार न स्वीकार करने पर उत्तरकाल में भीं उपकार की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये । अर्थात् यदि प्रथम प्रकोप (क्षोभ) में गुणों की

त्तरकालमपि तद्वदेव भविष्यति । अथ प्रधानावस्थायामपि चोपकारः, न तर्हि नानैकान्तिको हेतुरिति ।

तच्च नैवम्, कस्मात्? अग्निवत् स्वशक्तिनिमित्तत्वात्। तद् यथा सूक्ष्मोऽग्निः सूक्ष्मं प्रकाशं स्वयमेव करोति; घटादिप्रकाशने तु तैलवर्त्याद्यपेक्षते । तद्वद् गुणानानाद्यः प्रकोपः स्वशक्तितः महादाद्यपेक्षस्तूपकारतः । तस्माद् युक्तमेतत्, कारणकार्यविभागादस्त्यव्यक्तमिति ।

किञ्चान्यत्, अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य । इह यद्विश्वरूपं तस्याविभागो दृष्टः तद्यथा सलिलादीनाम् । जलभूमी विश्वरूपाश्च महदादयः । तस्मादेषामप्यविभागेन भवितव्यम् । योऽसावविभागस्तदव्यक्तम् । तस्मादस्त्यव्यक्तम् ।

आह—किं पुनस्तद्वैश्वरूप्यं को वा विश्वरूप इति ?

अपनी शक्ति से ही पूर्वस्थिति से प्रच्युति होकर कार्य-प्रवृत्ति होगी, तो उसी तरह आगे के क्षणों में भी अपनी शक्ति से ही कार्य प्रवृत्ति हो जायेगी । ऐसी स्थिति में अग्रिम कार्य-प्रवृत्ति के लिये गुणों को परस्पर उपकार की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये । यदि हो प्रधानावस्था में भी परस्पर उपकार की अपेक्षा मानो तो फिर अनैकान्तिकत्व का निवारण नहीं हो सका । अर्थात् प्रधानावस्था में भी परस्परोपकारकत्व है; किन्तु अवस्थितभावपूर्वकत्व नहीं है । क्योंकि प्रधानास्था के पूर्व किसी भाव की अवस्थिति सांख्यमत में स्वीकृत नहीं है ।

उक्त पूर्वपक्ष नहीं हो सकता है । क्योंकि अग्नि के समान अपनी ही शक्ति निमित्त बनती है । अर्थात् जैसे सूक्ष्म अग्नि सूक्ष्म प्रकाश को स्वयमेव करती है; किन्तु घटादि के प्रकाशन में तेल बत्ती आदि की अपेक्षा करती है । वैसे ही सत्त्वादि गुणों का प्रथम प्रकोप [क्षोभ] अपनी ही शक्ति से होता है । किन्तु महदादिसापेक्ष (सम्बन्धी) कार्य-प्रवृत्ति तो परस्पर के उपकार से होती है । इसलिए सांख्य का यह कथन ठीक है कि कारण-कार्य के विभाग से अव्यक्त की सत्ता है ।

और भी—'अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य' अर्थात् यहाँ जो विश्वरूप है; उसका कहीं अविभाग देखा गया है । जैसे-सलिल आदि का जल और भूमि में अविभाग होता है । तात्पर्य यह है कि जल के अनेक रूप हैं, और पृथ्वी के भी अनेक रूप हैं । किन्तु इन का जल और पृथ्वी महाभूत में अविभाग हो जाता है । अर्थात् महाभूत जल और पृथ्वी उन विभिन्न रूपों की अविभागावस्था है । ऐसे ही महदादि भी विश्वरूप हैं ।

उच्यते—वैश्वरूप्यमिति विशिष्टमवस्थानमाचक्ष्महे अस्तमितविशेष-स्वमविभाग इति। विशेषस्य सामान्यपूर्वकत्वादिति योऽर्थस्तदुक्तं भवति अविभागाद्वैश्वरूप्यस्येति। एवमेतैः पञ्चभिर्वीतैर्व्यक्तस्य कारणमस्त्यव्यक्त-मिति सिद्धम्।

आह—विप्रतिषेधप्रसंगः, कारणान्तरप्रतिषेधावचनात्। यथा भवानाह—प्रधानं जगदुत्पत्तिसमर्थं कारणमस्ति। एवं तन्त्रान्तरीयाः परमाणु-पुरुषेश्वर-कर्म-दैव-स्वभाव-काल-यदृच्छाऽभावान् कारणत्वेनाभि-दधति, तेषां च प्रतिषेधो नोच्यत इति। अतो विप्रतिषेधः प्राप्नोति। किं प्रधानमेव कारणम्, आहोस्विदेतान्येव, वोभयमिति ?

अन्वयदर्शनात्तदनुपपत्तिरिति चेत्, स्यान्मतम्—प्रधानान्वय एव पृथिव्यादिषु सुखादिलक्षण उपलभ्यते। यच्च येनान्वितं तस्यासौ विकार इति युक्तमेतत्प्रागपदिष्टम्। तस्मात् प्रधानविकार एव व्यक्तमिति !

अतः इनका भी कहीं अविभाग होना चाहिए। जो वह अविभाग अवस्था है; वह अव्यक्त है। इससे सिद्ध है कि अव्यक्त है।

प्रश्न—वह वैश्वरूप्य क्या है ? और विश्वरूप कौन है ?

उत्तर—वैश्वरूप्यशब्द से हम विशिष्ट अवस्थाओं को कहते हैं। और वही विशिष्ट अवस्थायें अस्त हो जाती हैं, तो उसे अविभाग कहते हैं। क्योंकि प्रत्येक विशेष सामान्यपूर्वक होता है। इससे जो अर्थ निकलता है, वही 'अविभागाद् वैश्व-रूप्यस्य' इस कारिकांश द्वारा बताया गया है। अर्थात् विशेष अवस्थाओं का सामान्य रूप ही अव्यक्त है।

इस प्रकार इन पाँच वीत हेतुओं से सिद्ध होता है कि व्यक्त का कारण अव्यक्त है।

पूर्वपक्ष—यहाँ विप्रतिषेध का प्रसंग हो जाता है। क्योंकि अन्य कारणों का निषेध नहीं कहा गया है। जिस प्रकार आप कहते हैं—कि प्रधान जगत् की उत्पत्ति में समर्थ कारण है, वैसे ही अन्य शास्त्र वाले परमाणु, पुरुष, ईश्वर, कर्म, दैव, स्वभाव, काल, यदृच्छा, और अभाव को जगत् का कारण कहते हैं।

उनका निषेध आपने नहीं कहा है। इसलिए यहाँ तुल्य बल का विरोध प्राप्त

तच्चानुपपन्नम् । कस्मात् ? अनेकान्वयसम्भवात् । परमाण्वन्वयोऽपि हि व्यक्त उपलभ्यते रूपादिसत्त्वात् । पुरुषान्वयः करणस्य संवेदकत्वात् । ईश्वरान्वयः शक्तिविशेषयुक्तानामुपलब्धेः । कर्मदैवान्वयः जगद्वैचित्र्योपलम्भात् । स्वभावान्वयो द्रव्यान्तरसंसर्गेऽपि भावानां तस्मादप्रच्युतेः । कालान्वयो युगाद्यनुविधानात्, यदृच्छान्वयो नियमाभावात् । अभावान्वयो गवादीनां परस्परात्मस्वदर्शनादितरेतराणि प्रत्युक्तानि । कारणान्तरपूर्वकत्वेऽपि खलु व्यक्तस्य शक्याः परिमाणादयः पूर्वमेव कल्पयितुम् । तस्माद्युक्तमन्वयादिभ्यः कारणमस्त्यव्यक्तमिति ।

उच्यते—यत्तावदुक्तं परमाणूनामप्रतिषेधात् विप्रतिषेधप्रसंग इति,

---

हो जाता है। क्या प्रधान ही जगत् का कारण है ? अथवा पूर्वोक्त परमाणु ईश्वर आदि ही कारण हैं ? अथवा प्रधान और ईश्वरादि दोनों कारण हैं ?

यदि कहो कि पृथिव्यादि में प्रधान का ही सुखादिरूप से अन्वय देखा जाता है; इसलिए परमाणु ईश्वर आदि की कारणता अनुपपन्न है । क्योंकि जो जिससे अन्वित होता है, वह उसका विकार है । इसलिए हमने जो पहले कहा था, वह ठीक ही है । अतः व्यक्त जगत् प्रधान का ही विकार है ।

उक्त कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि अनेक का अन्वय हो सकता है; केवल प्रधान का ही नहीं । जैसे परमाणु का अन्वय भी व्यक्त में उपलब्ध होता है; क्योंकि परमाणुगत रूपादि की सत्ता व्यक्त में है । पुरुष का अन्वय भी व्यक्त में है; क्योंकि करण (अन्तःकरण और बाह्यकरण) में संवेदकता देखी जाती है । ईश्वर का भी व्यक्त में अन्वय है; क्योंकि शक्तिविशेष से युक्त व्यक्तियों की उपलब्धि होती है । कर्म और दैव का भी अन्वय है; क्योंकि जगत् में कर्मप्रयुक्त विचित्रता की उपलब्धि होती है । स्वभाव का भी अन्वय है; क्योंकि अन्य द्रव्य का संसर्ग होने पर भी भाव वस्तु अपने स्वभाव से च्युत नहीं होती है । काल का भी अन्वय है; क्योंकि युग आदि का अनुगमन व्यक्त जगत् में है । यदृच्छा का भी अन्वय है; क्योंकि जगत् में अनियम भी देखा जाता है । अभाव का भी अन्वय है; क्योंकि गवा.द के परस्पर के स्वरूप में नहीं देखे जाने से वे आपस में व्यावृत्त हो जाते हैं ।

एवं यदि कारणान्तरपूर्वकत्व व्यक्त में हो भी तो किसी व्यक्त के ही परिमाण आदि की कल्पना महदादि के पूर्व में की जा सकती है । इसलिए अन्वय आदि के बल से अव्यक्त कारण है, यह कहना अयुक्त है ।

उत्तर पक्ष—यह जो कहा कि परमाणुओं का प्रतिषेध नहीं करने से परमाणुओं

अत्र ब्रूमः—तदनुपपत्तिरस्तित्वानभ्युपगमात् । अस्तित्वे हि परमाणूनामभ्युपगम्यमाने सति सत्यमेवं स्यादियमाशङ्का—किं परमाणुपूर्वकमिदं विश्वमथ प्रधानपूर्वकमिति ? नतु तेषां सद्भावो निश्चितः । तस्मादयुक्तमेतत् । यत्तु खल्विदमुच्यते पृथिव्यादिषु रूपाद्युपलम्भादन्वयदर्शनादणूनां सद्भावः प्रधानवदेव कल्पयितव्य इति, एतदपि चानुपपन्नम् । कस्मात् ? अन्यथापि तदुपपत्तेः । तन्मात्रपूर्वकत्वेपि हि पृथिव्यादीनां कल्प्यमाने रूपादिसत्त्वादतो न युक्तमेतत् ।

सुखदीनामात्मगुणत्वेनाभ्युपगमात्प्रधानेऽपि तत्प्रसंग[1] इति चेत्, अथापि स्याद्—यथा तन्मात्राणां रूपादिमत्त्वं कल्प्यते तत्पूर्वकत्वं च पृथिव्यादीनां दृश्यमपि तेषु रूपादि(म)त्त्वलिङ्गेन परमाणुभ्यो निष्कृष्यते, एवमस्माभिः

का अन्वय व्यक्त जगत् में हो सकता है । इस प्रकार तुल्यबलविरोध का प्रसंग हो गया । अर्थात् जैसे प्रधान का अन्वय हो सकता है, वैसे परमाणुओं का भी अन्वय सिद्ध हो सकता है ।

उपर्युक्त विप्रतिषेधप्रसङ्ग के सम्बन्ध में कहना है कि वह नहीं हो सकता; क्योंकि परमाणुओं का अस्तित्व हम नहीं मानते हैं । अर्थात् यदि परमाणुओं का अस्तित्व स्वीकृत किया जाय तो ठीक ही यह आशंका हो सकती है कि विश्व परमाणु-पूर्वक है ? या प्रधानपूर्वक है ? किन्तु परमाणुओं का सद्भाव निश्चित नहीं है । अतः विप्रतिषेध का प्रसंग अयुक्त है ।

जो तो यह कहा जाता है कि 'पृथ्वी आदि में रूपादि की उपलब्धि होने से अन्वय देखे जाने के कारण परमाणुओं की सत्ता प्रधान के समान ही कल्पना द्वारा मान लेनी चाहिये ।' यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि अन्य प्रकार से भी पृथिव्यादि में रूपादि की उपलब्धि हो सकती है । अर्थात् पृथ्वी आदि के तन्मात्रपूर्वक होने पर भी तन्मात्रगत रूप के कारण पृथ्वी आदि में रूपादि की सत्ता बन सकती है । अतः उक्त युक्ति से परमाणुओं को सत् सिद्ध करना युक्त नहीं है ।

यदि कहो कि सुख आदि को आत्मा का गुण मानते हैं, इसलिए प्रधान में भी उक्त प्रसंग हो जायेगा । अर्थात् जैसे तन्मात्राओं में रूपादिमत्ता की कल्पना की जाती है, और पृथ्वी आदि में भी तन्मात्रपूर्वकत्व को आप मान लेते हैं और इस प्रकार रूपादिमत्त्व लिंग से दृश्य भी परमाणुपूर्वकत्व का पृथ्वी आदि में निराकरण कर देते

---

१. तत्प्रसङ्गः पृथ्व्याद्यकारणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

सुखादीनामात्मगुणत्वाभ्युगमात्तद्बुद्धिनिमित्तत्वे पृथिव्यादीनां प्रधानपूर्वत्वाक्षेपः करिष्यत इति ।

एतच्चानुपपन्नम् । कस्मात् ? आत्मगुणत्वप्रतिषेधात् । 'तस्माच्च विपर्यासादि'त्यत्र (का १९) सुखादीनामात्मगुणत्वप्रतिषेधं करिष्यामः । तस्मादसम्यगेतत् ।

आह—यदि पुनस्तन्मात्राणामेव परमाणुत्वमभ्युपगम्यते क एवं सति दोषः स्यात् ?

उच्यते—न शक्यमेवं भवितुम् । किं कारणम् ? वृद्धिमत्यस्तन्मात्रलक्षणाः प्रकृतयोऽस्माभिरभ्युपगम्यन्ते । कस्मात् ? स्वकार्याद्धि प्रथीयसी प्रकृतिर्भवतीति च नः समयः । महान्ति च पृथिव्यादीनि महाभूतानि । तस्मात्तेषां तदतिरि क्तया पृथिव्या भवितव्यम् । परिच्छिन्नदेशाश्च परमाणवः ।

तस्मान्न तन्मात्राभ्युपगमात्तेषामभ्युपगमः ।

हैं। ऐसे ही हम सुखादि को आत्मा का गुण मानते हैं। अतः पृथ्वी आदि में आत्मगत बुद्धि को निमित्त मानकर पृथिवी आदि में प्रधानपूर्वकत्व का भी निषेध कर दिया जायेगा-तो उक्त कथन भी अनुपपन्न है। क्योंकि सुखादि में आत्मगुणत्व का प्रतिषेध किया गया है। (तस्माच्च विपर्यासात्) इस कारिका में सुखादि के आत्मा का गुण होने का प्रतिषेध हम करेंगे। इसीलिए उक्त आपत्ति ठीक नहीं है।

अर्थात् सांख्यमत में त्रिगुणात्मक प्रधान को सुखदुःखमोहात्मक माना गया है। उससे सुखाद्यात्मक बुद्धि की उत्पत्ति, बुद्धि से तन्मात्रा और तन्मात्रा से पृथिव्यादि की उत्पत्ति मानी गयी है। किन्तु न्यायमत में सुखादि आत्मा के गुण हैं और बुद्धि भी आत्मा से जन्य आत्मगत धर्म है। इस प्रकार प्रधान के स्थान पर आत्मा को मानकर प्रधान का आक्षेप अर्थात् निराकरण कर देंगे। यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय है।

प्रश्न—यदि तन्मात्राओं को ही परमाणु स्वीकार कर लिया जाय तो इसमें क्या दोष होगा ?

उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता है।

प्रश्न—ऐसा न होने का क्या कारण है ?

उत्तर— हम तन्मात्र लक्षण प्रकृतियों को वृद्धि से युक्त मानते हैं। अर्थात् तन्मात्राओं को पृथिव्यादि की अपेक्षा बड़ी मानते हैं। क्योंकि कार्य की अपेक्षा उसका

उपेत्य वा तदसम्भवः कृतकत्वात् । अकृतकेन हि जगत्कारणेन युक्तं भवितुं, कृतकाश्च परमाणवः । तस्मात्सत्यपि सद्भावे न तेषां जगत्कारणत्वमुपपद्यते । हेत्वनुपदेशादयुक्तमिति चेत्, अथापि स्यात् । किं पुनरत्र कारणं येनाकृतकं जगत्कारणमिष्यत इति ।

उच्यते—तस्यैव कारणत्वप्रसंगात् । यद्धि तत्परमाणूनां कारणं तदेव जगत्कारणत्वेन युक्तं कल्पयितुं स्यात् न तन्निष्पादिताः परमाणवः ।

कृतकत्वासिद्धेरयुक्तमिति चेत्, स्यान्मतम्—यदि परमाणूनां कृतकत्वं प्रसिद्धम् अतस्तद् युज्यते वक्तुममुष्माद्धेतोरकारणं परमाणव इति । तत्त्वसिद्धम् । तस्मान्न किञ्चिदेतत् ।

कारणभूत प्रकृति बड़ी होती है, यह हमारा सिद्धान्त है । पृथ्वी आदि महाभूत महान् हैं । अतः पृथ्वी की अपेक्षा उसका कारणभूत तन्मात्रायें उससे भी अतिरिक्त होगीं । परमाणु तो अत्यन्त सीमित देश वाले हैं । अतः परमाणु में और तन्मात्राओं में अत्यन्त अन्तर होने के कारण तन्मात्राओं को स्वीकार करने से परमाणुओं का स्वीकार नहीं कहा जा सकता है ।

अथवा यदि परमाणुओं का सद्भाव स्वीकार भी कर लिया जाय तो परमाणु में जगत् का कारणत्व सम्भव नहीं है; क्योंकि परमाणु कृतक हैं । अर्थात् परमाणुओं की सत्ता भले हो हो फिर भी उनसे जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं मानते । कारण, परमाणु कृतक हैं । अकृतक को ही जगत् का कारण होना युक्त हो सकता है । इसलिये परमाणुओं का सद्भाव होने पर भी उनमें जगत्कारणत्व नहीं बन सकता है ।

शंका— हेतु न देने से यह कथन अयुक्त है । अर्थात् क्या कारण है, जिससे अकृतक ही जगत् का कारण मानते हैं ।

उत्तर— यदि कृतक परमाणुओं को जगत् का कारण माना जाय तो उन परमाणुओं का जो कारण होगा, उन्हीं में कारणत्व की प्रसक्ति हो जायेगी । अर्थात् जो परमाणुओं का कारण होगा, उसी को जगत्कारण के रूप में मानना युक्त होगा; न कि उनसे उत्पन्न परमाणुओं को ।

शंका— परमाणुओं में कृतकत्व असिद्ध है, इसलिये परमाणुओं के कारण को जगत् का कारण कहना अयुक्त है । अर्थात् यदि परमाणुओं में कृतकत्व प्रसिद्ध हो; तब यह कहना उचित है कि कृतकत्व के कारण परमाणु जगत् का कारण नहीं है ।

उच्यते—परिच्छिन्नदेशत्वात् । इह यत् परिच्छिन्नदेशं तत्कृतकं दृष्टम् । तद् यथा घटः, परिच्छिन्नदेशाश्च परमाणवः, तस्मात् कृतकाः ।

किञ्चान्यत्, रूपादिमत्त्वात् । इह यद्रूपादिमत् तत्कृतकं दृष्टम् । तद्यथा घटः, रूपादिमन्तश्च परमाणवः । तस्मात् कृतकाः :

किञ्चान्यत्-औष्ण्ययोगात् । यदौष्ण्ययुक्तं तत्कृतकम् । तद्यथा प्रदीपः, तद्वन्तश्चाग्नेयाः परमाणवः, तस्मात् कृतकाः । किञ्च वेगवत्त्वात् । इह यद्वेगवत् तत्कृतकम् । तद्यथा, इषुर्वेगवान्, तद्वन्तो वायवीयाः परमाणवः, तस्मात् कृतकाः । किंच स्नेहद्रवत्वयोगात् । इह यत्स्नेहद्रवत्वयुक्तं तत्कृतकम् । यथा केदारादिष्वापः । इत्थं चाप्याः परमाणवः, तस्मात् कृतकाः । किंचाधेयत्वात् । इह यदन्यस्मिन्नाधीयते, तत्कृतकम् । तद्यथा [1]बदरम् । आधीयन्ते च परमाणवः पृथिव्याम्, तस्मात्कृतकाः । किंच, अर्थान्तराधारत्वात् । इह यदर्थान्तरस्याधारत्वं प्रतिपद्यते तत्कृत-

---

किन्तु परमाणुओं का कृतकत्व असिद्ध है । अतः परमाणुओं को अकारण बताना अकिंचित्कर है ।

उत्तर— परिच्छिन्न देश वाला होने से परमाणु कृतक है । अर्थात् यहाँ जो वस्तु परिच्छिन्न (सीमित) देश वाली होती है; वह कृतक देखी गयी है, जैसे घट कृतक है और परिछिन्न देश वाला है । अतः परमाणु कृतक है ।

और भी-- उष्णता का योग होने से परमाणु कृतक हैं । अर्थात् जो वस्तु उष्णता से युक्त होती है, वह कृतक होती है, जैसे—प्रदीप । उष्णता से युक्त अग्नि के परमाणु भी है । अतः वे कृतक हैं ।

एवं वेगवान् होने से परमाणु कृतक हैं । अर्थात् जो वेगवान् होता है वह कृतक होता है । जैसे—वेगवान् बाण कृतक होता है । वायु के परमाणु भी वेगवान् हैं । इसलिये वे भी कृतक हैं ।

एवं स्नेह और द्रवत्व से युक्त होने के कारण परमाणु कृतक हैं । अर्थात् जो वस्तु स्नेह और द्रवत्व से युक्त होती है वह कृतक होती है । जैसे—क्षेत्रगत जल । जल के परमाणु भी स्नेह और द्रवत्व से युक्त हैं, इसलिये वे भी कृतक हैं ।

एवं आधेय होने से भी परमाणु कृतक हैं । अर्थात् यहाँ जो किसी दूसरे में

१, मुद्रितपुस्तके ठथरम् इति पाठोऽसार्थः ।

कम् । तद्यथा घटः, अर्थान्तरस्य च द्व्यणुकादेराधारत्वमणवः प्रतिपद्यन्ते, तस्मात्कृतकाः । किञ्च प्राप्तिव्यवधानात् । इह ययोर्मध्ये अन्तरा द्रव्यमवस्थितम् प्राप्तेर्व्यवधायकं भवति, तौ कृतकौ । तद्यथा द्व्यङ्गुली । तथा चाणू द्वावन्तराण्वन्तरमवस्थितं ययोः प्राप्तेर्व्यवधायकं तौ कृतकौ, तस्मात्तावपि कृतकौ । किंच द्रव्यान्तराम्भकत्वात् । इह यद् द्रव्यान्तरारम्भकं तत् कृतकं वः । तद्यथा तन्तुः, द्रव्यारम्भकाश्च परमाणवः । तस्मात् कृतकाः ।

किञ्च प्रत्यक्षत्वात् । इह यत्प्रत्यक्षं तत्कृतकं दृष्टम् । तद्यथा घटः, प्रत्यक्षाश्च योगिनां परमाणवः, तत्कृतकाः । अतएवाकृतकत्वमिति चेत्, स्यान्मतम्—यत एव योगिनां प्रत्यक्षाः परमाणवस्तत एव (ा) कृतकाः ।

रखा होता है वह कृतक है । जैसे बेर का फल कुण्ड आदि में रखा जाता है और वह कृतक है । परमाणु भी पृथ्वी में रखे हुएँ होते हैं । इसलिये कृतक हैं ।

एवं दूसरी वस्तु का आधार होने से परमाणु कृतक हैं । अर्थात यहाँ जो वस्तु का आधार बनती है, वह कृतक होती है, जैसे, घड़ा । परमाणु भी द्व्यणुक आदि अर्थान्तर के आधार बनते हैं, इसलिए वे भी कृतक हैं ।

एवं प्राप्ति का (संयोग का) व्यवधान करने के कारण भी परमाणु कृतक हैं । अर्थात् यहाँ जिन दो वस्तुओं के मध्य में कोई द्रव्य अवस्थित होकर उन दोनों के संयोग का व्यवधायक हो जाता है । वे दोनों कृतक हैं । जैसे दो अङ्गुलियाँ । वैसे हो दो परमाणुओं के बीच में दूसरा परमाणु अवस्थित होकर जिन दोनों की प्राप्ति में व्यवधायक होता है, वे दोनों ही कृतक होते हैं ।

एवं द्रव्यान्तर का आरम्भक होने से भी परमाणु कृतक हैं । अर्थात् यहाँ जो द्रव्यान्तर का आरम्भक होता है, वह आप के यहाँ कृतक माना है । जैसे तन्तु पट का आरम्भक होते हैं और कृतक हैं । परमाणु भी द्रव्यान्तर के आरम्भक होते हैं इसलिये वे भी कृतक हैं ।

एवं प्रत्यक्ष होने से परमाणु कृतक है । यहाँ जो प्रत्यक्ष है, वह कृतक देखा गया है, जैसे घट । परमाणु भी योगियों को प्रत्यक्ष हैं, अतः वे कृतक हैं ।

पूर्वपक्षी—इसीलिये तो परमाणु अकृतक हैं । अर्थात् चूंकि परमाणु योगियों को प्रत्यक्ष हैं, इसीलिए अकृतक हैं ?

प्रश्न—क्या कारण है ?

किं कारणम् ? अस्मदादिप्रत्यक्षं घटादि हि कृतकं दृष्टमिति कृत्वा। एतदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? शरीर(1)कृतकत्वप्रसङ्गात् । शरीरमपि हि योगिनां प्रत्यक्षम्, कामं तदप्यकृतकमस्तु । अथ नैतदेवम्; तर्हि नाकृतकाः परमाणवः । प्रधानादिषु प्रसङ्ग इति चेन्न, अनभ्युपगमात् । श्रीकपिल-ब्राह्मणैरपि प्रधानपुरुषावप्रत्यक्षाविति नः शास्त्रम् । तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् ।

सत्तावदिति चेत्, स्यान्मतम्—यथा सत्ता-गुणत्व-रूपत्वादीनां सति प्रत्यक्षत्वेऽकृतकत्वमेवं परमाणूनां भविष्यतीति । तदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? साध्यत्वात् । परमाण्वकृतकत्ववत् सत्तादीनां सद्भावोऽसिद्धः । तस्माच्छशविषाणात् पुरुषविषाणसिद्धिवदग्राह्यमेतत् ।

सौक्ष्म्यादणूनां कृतकत्वाप्रसङ्ग इति चेत्, स्यान्मतम्—न हि परमाणुभ्यः सूक्ष्मतरमन्यद् भावान्तरमस्ति, यदेषामारम्भकं स्यात् । परा

उत्तर—जो अस्मदादि को प्रत्यक्ष है घटादि, वही कृतक देखा गया है । इसी लिये योगियों को प्रत्यक्ष परमाणु अकृतक हैं ।

सिद्धान्ती—परमाणुओं को अकृतक सिद्ध करने वाली उक्त युक्ति अनुपपन्न है । क्योंकि तब शरीर में भी अकृतकत्व की प्रसक्ति हो जायेगी । अर्थात् शरीर भी योगियों को प्रत्यक्ष है; इसलिये वह भी अकृतक हो जाय । यदि ऐसा नहीं है, तो शरीर के समान परमाणु भी अकृतक नहीं होंगे ।

यह कहें कि योगियों को प्रत्यक्ष होने से यदि परमाणु कृतक हैं, तो प्रधान आदि में भी कृतकत्व की प्रसक्ति हो जायेगी; तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि हम प्रधान आदि को योगिप्रत्यक्ष का विषय नहीं मानते हैं । कारण, ब्रह्मज्ञानी श्रीकपिल को भी प्रधान और पुरुष अप्रत्यक्ष हैं, यह हमारा शास्त्र कहता है । अतः परमाणु को अकृतक बताना तुच्छ है ।

यदि कहो कि 'सत्ता के समान परमाणु अकृतक हैं । अर्थात् जैसे सत्ता-गुणत्व और रूपत्व आदि में प्रत्यक्षत्व होने पर भी ये अकृतक हैं; ऐसे ही योगियों को प्रत्यक्ष होने पर भी परमाणु अकृतक होंगे ।'

तो यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि सत्ता आदि स्वयं साध्यकोटि में हैं । अर्थात् जसे परमाणुओं का अकृतकत्व असिद्ध है, वैसे सत्ता आदि का सद्भाव भी असिद्ध ही है । अतः शशशृङ्ग से पुरुषशृङ्ग की सिद्धि के समान यह अग्राह्य है ।

यदि कहो कि सूक्ष्म होने के कारण परमाणुओं में कृतकत्व की प्रसक्ति नहीं हो

खल्वेषा काष्ठा सौक्ष्म्यस्य यत् परमाणवः । तस्मादेषां कृतकत्वमनुपपन्न-मिति ।

एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? पाकजेष्वतिप्रसङ्गात् । सौक्ष्म्यादकृत-कत्वमिच्छतः पार्थिवेषु तु परमाणुष्वग्निसंयोगाच्छ्यामतामपमृद्य ये पाकजा आधीयन्ते, तेषामकृतकत्वप्रसङ्गः । तेऽपि परमाणवः सूक्ष्माः ।

यत्तु खल्वतिसौक्ष्म्यात् प्रधानपुरुषयोरकृतकत्वं दृष्टम्, तत् सति विभुत्वे । न च यथा प्रधानपुरुषावेवमणवोऽपि विश्वं व्यश्नुवते । तस्मात् सति सौक्ष्म्ये पाकजवदेषां कृतकत्वमनिवार्यम् ।

येषां तु कार्यद्रव्यं पश्यत (पच्यत ?) इति पक्षः, तेषामयमनुपा-लम्भ इत्यतः परमाणुसमवेतं कर्मोदाहार्यम् । तद्धि सूक्ष्ममतीन्द्रियं कृतकं चेति सिद्धम्—कृतकाः परमाणवः । कृतकत्वाच्चैषामनित्यताप्यनपाति(यि) नीति कृत्वाऽन्तरालप्रलयमहाप्रलयेषु प्रध्वंसात् परमाणूनां कारणाभावात्

सकती; क्योंकि परमाणुओं से सूक्ष्मतर अन्य कोई भाववस्तु नहीं है; जो परमाणुओं का आरम्भक (जनक) हो। यह सूक्ष्मता की चरमसीमा है, जो परमाणु है। अतः परमाणुओं का कृतकत्व अनुपपन्न है।

उक्त कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि पाकजरूप आदि में अतिव्याप्ति हो जायेगी। अर्थात् सूक्ष्मता के कारण अकृतकत्व मानने वाले के लिये पार्थिव परमाणुओं में अग्निसंयोग से श्यामता को हटाकर जो पाकज रक्त परमाणु उत्पन्न होते हैं, उनमें भी अकृतकत्व की अतिप्रसक्ति हो जायेगी; क्योंकि वे भी सूक्ष्म परमाणु हैं।

जो तो अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण प्रधान और पुरुष में अकृतकत्व देखा गया है; वह उनके विभु होने के कारण है। जैसे प्रधान और पुरुष विश्व को व्याप्त करते हैं। अतः सूक्ष्मता के रहते हुए भी पाकज के समान अन्य परमाणुओं में भी कृतकत्व अनिवार्य है।

जिन (पिठरपाकवादियों) का तो यह पक्ष है कि परमाणु द्रव्य में पाक नहीं होता है; किन्तु कार्यद्रव्य में ही पाक होता है; उनके ऊपर यह दोष नहीं है। इसलिए परमाणु-समवेत कर्म का उदाहरण देना चाहिए। परमाणुगत कर्म सूक्ष्म अतीन्द्रिय और कृतक भी हैं। अर्थात् सूक्ष्म को अकृतक मानने पर परमाणु का कर्म भी अकृतक होने लगेगा। अतः सिद्ध हो गया कि परमाणु कृतक हैं।

जब परमाणु कृतक सिद्ध हो गये तो इनकी अनित्यता भी अनिवार्य है। इस

कार्याभाव इति स्वशास्त्रसिद्धावनुमानाज्जगदुच्छित्तिदोषप्रसङ्गः। तथा भोगिनामुपचितस्य स्वकर्मणोऽनुपभोगात् कृतस्य विप्रणाशः। अनिष्टं चैतत्। तस्मान्न जगत्कारणं परमाणवः।

यापि खल्वियमाशङ्का—पुरुषाज्जगदुत्पत्तिर्भविष्यतीति साऽप्ययुक्ता, कस्मात्? प्रतिषेधात्। 'तस्माच्च विपर्यासात्' इत्यत्र (का० १९) पुरुषस्याकर्तृत्वमुपपादयिष्यामः। चैतन्याविशेषादीश्वरस्यापि स एव विधिः कारणत्वप्रतिषेधे बोद्धव्यः।

आह—अस्त्येवमीश्वर इति पाशुपतवैशेषिकाः। कस्मात्? कार्यविशेषस्यातिबुद्धिपूर्वकत्वात्। इह कार्यविशेषः प्रासादविमानादिरतिशयबुद्धिपूर्वको दृष्टः। अस्ति चायं महाभूतेन्द्रियभुवनविन्यासादिलक्षणः कार्यविशेषः। तस्मादनेनाप्यतिशयबुद्धिपूर्वकेण भवितव्यम्। यत्पूर्वकोऽयं स ईश्वरः। तस्मादस्तीश्वर इति।

कारण अन्तराल में हुए प्रलय और महाप्रलयों में परमाणुओं का प्रध्वंस हो जाने पर परमाणुरूप कारण का अभाव हो जाने से जगत्‌रूप कार्य का अभाव हो जायेगा। इस प्रकार नैयायिकों के स्वशास्त्रोक्त अनुमान के आधार पर जगत् का उच्छेद प्रसक्त हो जायेगा।

एवं कर्मभोगियों के द्वारा सञ्चित कर्म का भोग न हो सकने से कृतहानि दोष हो जायेगा; किन्तु यह इष्ट नहीं है। अतः परमाणु जगत् का कारण नहीं हैं।

और यह भी जो आशङ्का है कि 'पुरुष से जगत् की उत्पत्ति होगी' वह भी अयुक्त है। क्योंकि पुरुष के कर्तृत्व का प्रतिषेध है। अर्थात् 'तस्माच्च विपर्यासात्' (का० १९) इस कारिका के व्याख्यान में पुरुष के अकर्तृत्व का हम उपपादन करेंगे।

एवं पुरुष के चैतन्य और ईश्वर के चैतन्य में कोई विशेषता नहीं होने से ईश्वर में कारणत्व के प्रतिषेध की भी वही विधि समझनी चाहिये; जो पुरुष के कारणत्व के निषेध में है।

पूर्वपक्ष—ईश्वर जगत् का कारण है, यह पाशुपत और वैशेषिक मानते हैं। क्योंकि कार्यविशेष अतिशयबुद्धिपूर्वक होता है। अर्थात् यहाँ प्रासाद (महल) विमान आदि कार्यविशेष अतिशयबुद्धिपूर्वक देखा गया है। और यह महाभूत इन्द्रिय और भुवन की संरचनादिलक्षण कार्यविशेष है। इसलिए महाभूतादि को भी अतिशयबुद्धिपूर्वक

किञ्चान्यत्, चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वात्। इह चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धश्चेतनकृतो दृष्टः, तद् यथा गोशकटयोः। अस्ति-चायं चेतनाचेतनयोः शरीरशरीरिणोरभिसम्बन्धः। तस्मादनेनापि चेतन-कृतेन भवितव्यम्। यत्कृतोऽयं, स ईश्वरः। तस्मादस्तीश्वरः कारणम्।

उच्यते—यत्तावदुक्तं कार्यविशेषस्यातिशयबुद्धिपूर्वकत्वादीश्वर-सद्भावसिद्धिरिति, अत्र-ब्रूमः—न, साध्यत्वात्। अस्मदादिबुद्धिपूर्वकाः प्रासादादयः अतिशयबुद्धिपूर्वका वा इति साध्यमेतत्। तस्मादनुत्तरम्। किञ्च प्राक् प्रधानप्रवृत्तेर्बुद्ध्यसंभवात् कारणान्तरप्रतिषेधात् प्रधानादयं बुद्धिपूर्वकं कार्यविशेषं कुर्वीत;प्राक् च प्रधानविपरिणामाद् बुद्धिरेव नास्ती-त्युपपन्नमेतत्।

शक्तिमत्त्वात् स्वत इति चेत्, स्यात्पुनरेतत्—सर्वशक्तिप्रचित ईश्वरः। तस्य प्रागपि प्रधानविपरिणामात् स्वत एवेच्छायोगाद् बुद्धिसद्-

---

होना चाहिये। जिस अतिशयबुद्धि वाले से यह रचित है; वह ईश्वर है। अतः ईश्वर है; जो जगत् का रचयिता है।

और भी युक्ति है—चेतन और अचेतन का सम्बन्ध चेतनकृत होने से भी ईश्वर है। अर्थात् यहाँ चेतन-अचेतन का सम्बन्ध किसी चेतन द्वारा किया गया देखा गया है, जैसे गो और शकट (गाड़ी) का सम्बन्ध। यहाँ भी शरीर और शरीरीरूप चेतन और अचेतन का सम्बन्ध है। अतः इस सम्बन्ध को भी चेतनकृत होना चाहिये। जिस चेतन द्वारा यह सम्बन्ध किया गया है; वह ईश्वर है। अतः जगत् का कारण ईश्वर है।

उत्तरपक्ष—यह जो कहा कि कार्यविशेष के अतिशयबुद्धिपूर्वक होने से ईश्वर की सिद्धि होती है—तो यहाँ हम कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि यह अभी साध्य कोटि में है कि प्रासादादि अस्मदादिबुद्धिपूर्वक हैं या अतिशयबुद्धिपूर्वक हैं। अतः ईश्वर सिद्धि में उक्त उत्तर ठीक नहीं है।

एवं प्रधान की प्रवृत्ति के पूर्व बुद्धि का अस्तित्व असम्भव होने से ईश्वर जगत् की रचना नहीं कर सकता है। अर्थात् कारणान्तर का निषेध होने से ईश्वर प्रधान से उत्पन्न बुद्धिपूर्वक ही कार्यविशेष को करेगा। किन्तु प्रधान का विपरिणाम होने के पहले बुद्धि ही नहीं है। इसलिये यह बात उपपन्न है कि भुवन की संरचना अभी साध्यकोटि में है; सिद्ध नहीं है।

भावो न प्रतिषिध्यत इति। एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? दृष्टान्ताभावात्। बुद्धिः स्वत एवेत्यत्र पर्यनुयुक्तस्य कस्ते दृष्टान्तः? तस्मादसदेतत्।

शक्तिविशेषाददोष इति चेत्, अथापि स्यात्—नान्येषां बुद्धिमतामीश्वरतुल्या शक्तिः। अत एषां प्रधानाच्छरीरव्यूहसमकालमात्मादिसन्निकर्षाद् वा बुद्धय उत्पद्यन्त इति, ईश्वरस्य तु स्वत इति।

एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? सर्ववादसिद्धिप्रसङ्गात्। दृष्टान्तविरुद्धमर्थमादाय प्रतिबध्यमानेन शक्तिविशेषः स्मर्तव्य इत्येतस्यां कल्पनायां सर्ववादसिद्धिप्रसङ्गः स्यात्। तस्माद् ग्रहमात्रमेतत्। एवं स्वत ईश्वरस्य बुद्धिसम्भवो न चेद् भवेत्; युक्तमुच्यते प्राक् प्रधानप्रवृत्तेर्बुद्ध्यसंभवान्न बुद्धिमत्पूर्वकोऽयं कार्यविशेषः।

किञ्च, फलानुपपत्तेः। दृष्टमदृष्टं वा फलमुद्दिश्य बुद्धिमन्तः कार्यविशेषान् प्रासादविमानादीनारभमाणा दृश्यन्ते। अनुपहतश्चायमैश्वर्यात्।

पूर्वपक्ष—शक्तिमान् होने के कारण ईश्वर में स्वतः ही बुद्धि का सद्भाव है। अर्थात् सम्पूर्ण शक्तियों से पूर्ण ईश्वर है। इसलिये प्रधान के विपरिणाम के पूर्व में भी उसकी इच्छा के योग से स्वतः ही बुद्धि का सद्भाव रहता है, जिसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है।

समाधान—उक्त पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि इसका कोई दृष्टान्त नहीं है। अर्थात् बुद्धि स्वतः ही है, इसमें तुमसे पूछा जाने पर क्या दृष्टान्त है? अतः उक्त पूर्वपक्ष असत् है।

यदि कहो कि शक्तिविशेष के कारण ईश्वर में स्वाभाविक बुद्धिसद्भाव होने में कोई दोष (अनुपपत्ति) नहीं है; अर्थात् अन्य बुद्धिमानों को ईश्वर के समान शक्ति नहीं है। इसीलिये इन्हें शरीररचना के समकाल ही प्रधान से अथवा आत्मादि के सन्निकर्ष से बुद्धियां उत्पन्न होती हैं; किन्तु ईश्वर को तो वे बुद्धियां स्वतः ही रहती हैं-तो यह भी अनुपपन्न है। क्योंकि तब सभी वादों की सिद्धि होने लगेगी। अर्थात् 'दृष्टान्तविरुद्ध अर्थ को लेकर बाधित हेतुविशेष से शक्तिविशेष की सिद्धि करनी चाहिये' इस कल्पना में सभी वादों की सिद्धि होने लगेगी। अतः उक्त कथन आग्रहमात्र है। इस प्रकार जब ईश्वर में बुद्धि का स्वतः सद्भाव नहीं सिद्ध हो पाता है, तो यह ठीक ही कहा जाता है कि 'प्रधान की प्रवृत्ति के पूर्व में ईश्वर को बुद्धि का सद्भाव नहीं होने से महाभूतादि कार्यविशेष बुद्धिमत्पूर्वक नहीं है।'

किञ्च, प्रयोजकानुपपत्तेः । अन्येन खलु प्रयुक्ता बुद्धिमन्तः कार्यविशेषमारभमाणा दृश्यन्ते । तच्चानुपपन्नमीश्वरस्य, तद्विशिष्टानुपपत्तेः ।

किञ्च, अनेकान्तात् । न च सर्वः कार्यविशेषो बुद्धिपूर्वकः; वृक्षादीनां तद्व्यतिरेकेणोत्पत्तेः । सर्वस्येश्वरबुद्धिपूर्वकत्वाभ्युपगमे दृष्टान्ताभावः । न चास्त्यनुदाहृतो वादः । तस्मादनेकान्तान्न बुद्धिमत्पूर्वकं व्यक्तम् ।

किञ्च, दुःखोत्तरत्वात् । बुद्धिपूर्वकश्चेदस्य कार्यविशेषः स्यात् कर्तुर्दुःखोत्तरविधाने प्रयोजनं नास्ति । शक्तिमांश्चायमिति सुखोत्तरमेव विदध्यात् । दुःखोत्तरश्चायम्, तस्मान्न बुद्धिपूर्वकः कार्यविशेषः ।

किञ्च दुःखोपायत्वात् । बुद्धिपूर्वकश्चेदयं कार्यविशेषः स्याद्,

---

एवं, ईश्वर को सृष्टि रचना में कोई फल भी नहीं सम्भव है । अर्थात् दृष्ट या अदृष्ट फल को उद्देश्य करके ही बुद्धिमान् प्रासाद विमान आदि कार्यविशेष का आरम्भ करते हुए देखे जाते हैं; किन्तु ईश्वर तो सम्पूर्ण ऐश्वर्य से अनुपहृत (परिपूर्ण) है । ऐसी स्थिति में कौन सा फल उसे अप्राप्त है, जिसकी प्राप्ति के उद्देश्य से वह सृष्टि की रचना करेगा ?

एवं, ईश्वर को सृष्टि रचना में प्रयुक्त करने वाला कोई प्रयोजक भी नहीं सम्भव है । अर्थात् किसी दूसरे से प्रयुक्त होकर बुद्धिमान् कार्यविशेष का आरम्भ करते हुए देखे जाते हैं । ईश्वर के लिये तो किसी प्रयोजक का होना अनुपपन्न है । क्योंकि उससे कोई विशिष्ट हो नहीं सकता; जो उसका प्रयोजक हो । यदि कोई विशिष्ट हुआ तो वह ईश्वर नहीं रह गया ।

एवं, यहाँ व्यभिचार दोष भी है; क्योंकि सभी कार्यविशेष बुद्धिपूर्वक नहीं होते हैं । वृक्ष आदि कार्य उसके बिना भी उत्पन्न होते हैं । एवं सभी कार्य को ईश्वर-बुद्धिपूर्वक मानने में कोई दृष्टान्त नहीं हैं । और बिना उदाहरण का कोई वाद (सिद्धान्त) नहीं होता है । इसलिये व्यभिचार दोष से ग्रस्त होने के कारण व्यक्त जगत् बुद्धिमत्पूर्वक नहीं सिद्ध हो सकता है ।

एवं, जगत्रूप कार्य के दुःखोत्तर (अन्त में दुःख वाला) होने से भी यह बुद्धिमत्पूर्वक नहीं हो सकता है । क्योंकि ईश्वर का सृष्टिरूप कार्यविशेष यदि बुद्धिपूर्वक होता तो परिणाम में दुःख देने वाले कार्यविशेष की रचना का कोई प्रयोजन नहीं

धर्मार्थकाममोक्षप्राप्तयः सुखोपायाः स्युः। दुःखोपायाश्च, तस्मादबुद्धिपूर्वकः।

धर्माधर्मनिमित्तत्वाददोष इति चेत्, स्यान्मतम्—यद्यपीश्वरपूर्वकोऽयं कार्यविशेषः, तथाप्याविसर्गं सुखोत्तराणामस्मदुत्पन्नानां प्राणिनां धर्माधर्मपरिग्रहाद् हीनमध्यमोत्कृष्टवयोजातिस्वभावादियोगो भवति। ततश्च नाऽपराधोऽयमीश्वरस्येति। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? अधर्मोत्पत्तिहेत्वभावात्। ईश्वरश्चेद्धर्माऽधर्मयोरुत्पत्तावीष्टे, धर्ममेव प्राणिनां सुखहेतुत्वादुत्पादयेत्, नाधर्मं प्रयोजनाभावात्। अथ मतम्—स्वाभाविको धर्माधर्मयोः स्वकारणादुत्पत्तिः—यदुक्तं सर्वमीश्वरबुद्धिपूर्वकं व्यक्तमिति तु तस्य व्याघातः। तस्मादीश्वरो न कारणम्।

है। ईश्वर तो शक्तिमान् भी है; इसलिये सुखपरिणाम वाले कार्य को ही करे। किन्तु यह सृष्टिकार्य दुःखोत्तर भी है। अतः यह कार्यविशेष बुद्धिपूर्वक नहीं है।

एवं, इस कार्यविशेष का उपाय भी दुःखरूप ही है। यदि यह कार्यविशेष बुद्धिपूर्वक होता तो धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की प्राप्तियाँ सुखोपाय से होतीं। उक्त प्राप्तियाँ दुःखोपाय से होती हैं; इसलिये बुद्धिपूर्वकत्व कार्यविशेष में नहीं सिद्ध हो सकता है।

यदि कहो कि सुख और दुःख धर्म और अधर्म के निमित्त से होता है; इसलिए उक्त दोष नहीं होगा। अर्थात् यह कार्यविशेष यद्यपि ईश्वरपूर्वक है; तथापि सृष्टि के आदि में उत्पन्न सुखरूप अथवा दुःखरूप परिणाम को देने वाले हमारे जैसे प्राणियों के धर्म और अधर्म के ही कारण से हीन मध्यम या उत्कृष्ट आयु, जाति एवं स्वभाव आदि का योग प्राप्त हो जाता है। अतः दुःखपरिणाम के लिए यह ईश्वर का अपराध नहीं है–तो यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि अधर्म की उत्पत्ति का कोई हेतु नहीं है। अर्थात् ईश्वर यदि धर्म-अधर्म की उत्पत्ति में समर्थ है तो धर्म ही को उत्पन्न करे ताकि प्राणियों को सुख हो। अधर्म को उत्पन्न न करे; क्योंकि प्राणियों को दुःख देने वाले अधर्म की उत्पत्ति में ईश्वर का कोई अपना प्रयोजन नहीं है। यदि मानो कि धर्म-अधर्म की उत्पत्ति अपने कारणों से होती है और वह स्वभाविक है। अतः धर्माधर्म की उत्पत्ति से ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है; तो यह जो कहा कि सब व्यक्त जगत् ईश्वरबुद्धिपूर्वक है; उसका व्याघात हो गया। अतः ईश्वर जगत् का कारण नहीं है।

यत्पुनरेतदुक्तम्—चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वादीश्वरस्य सद्भाव इति—अत्र ब्रूमः—अयुक्तमेतत् । कस्मात् ? साध्यत्वात् । योऽयं चेतनाचेतनयोर्गोशकटयोरभिसम्बन्धः, स केन चेतनेन कृतः ? यदि चैत्रेण, तस्य कार्यकारणसंघातत्वादाचैतन्यम् । अथ चैत्रशब्दवाच्यस्य पिण्डस्योपद्रष्टा क्षेत्रज्ञः, तत्कृत इष्यते, तदयुक्तम्, साध्यत्वात् । न हि पुरुषकर्तृत्वमस्मत्पक्षे प्रसिद्धम् । उभयपक्षप्रसिद्धेन व्यवहारः ।

किं चान्यत्—अनवस्थाप्रसङ्गात् । चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वं ब्रुवतः प्राप्तमीश्वरकार्यकारणयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वम् । तथा चानवस्थाप्रसङ्गः ।

अथ मा भूदयं दोष इति स्वाभाविक ईश्वरस्य कार्यकारणयोरभिसम्बन्ध इष्यते, न तर्ह्यैकान्तिको हेतुः । तयोश्चैतन्याददोष इति चेत्,

---

और यह जो कहा कि चेतन और अचेतन का सम्बन्ध चेतनकृत होता है; इसलिए चेतन ईश्वर की सत्ता है। यहाँ हमारा कहना है कि उक्त युक्ति अयुक्त है। क्योंकि चेतन और अचेतन का सम्बन्ध चेतनकृत होता है—यह अभी साध्य कोटि में है। क्योंकि जो यह चेतन और अचेतन भूत गो और शकट का सम्बन्ध है; वह किस चेतन के द्वारा किया गया है। यदि चैत्रादि के द्वारा किया मानते हो तो चैत्रादि का शरीर कार्य-कारण का संघातरूप होने से अचेतन है। यदि कहो कि चैत्रशब्द का वाच्य जो देहपिण्ड है, उसका उपद्रष्टा क्षेत्रज्ञ है और उसी के द्वारा गो और शकट का सम्बन्ध किया गया है—तो यह कथन अयुक्त है। क्योंकि यह भी साध्य कोटि में ही है। कारण, हमारे मत में क्षेत्रज्ञ पुरुष किसी कार्य का कर्ता होता है। यह प्रसिद्ध नहीं है। और जो वादी-प्रतिवादी उभयपक्ष में प्रसिद्ध होता है, उसी से व्यवहार होता है।

और यह भी दोष है—अनवस्था का प्रसंग होने से चेतन अचेतन का सम्बन्ध ईश्वरकृत नहीं हो सकता। अर्थात् चेतन-अचेतन का सम्बन्ध चेतनकृत है—ऐसा कहने वाले के प्रति ईश्वर और कार्य-कारण का सम्बन्ध भी किसी अन्य चेतन के द्वारा किया गया मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष की प्रसक्ति हो जाती है।

यदि यहाँ अनवस्था दोष न हो, इसलिए ईश्वर का और कार्य-कारण का स्वाभाविक सम्बन्ध इष्ट है, तो आप का हेतु एकान्तिक नहीं हुआ। अर्थात् आपने कहा था कि चेतन और अचेतन का सम्बन्ध चेतनकृत होता है, किन्तु यहाँ आपने

स्यात्पुनरेतत्—ईश्वरस्य यत्कार्यकारणं तदपि चेतनमीश्वरोऽपि; तस्मात्सम्बन्धेन प्रत्युदाहरणमुपपद्यत इति। एतदयुक्तम्। कस्मात्? असम्बन्धप्रसंगात्। चैतन्याविशेषादात्मन आत्मान्तरेणाभिसम्बन्धो नास्ति। एवमीश्वरकार्यकारणयोरपि न स्यात्। अनिष्टं चैतत्। किंच अविपर्ययप्रसंगात्। उभयचैतन्यप्रतिज्ञस्य यथेश्वरस्य करणं बुद्ध्यादयः, एवमीश्वरोऽपि बुद्ध्यादीनां करणं स्यात्। कस्मात्? अविशेषात्। अथैतदनिष्टम्; न तर्ह्युभयोश्चैतन्यम्।

कार्यकारणवत्ताऽनभ्युपगमाददोष इति चेत्, व्यापी निरवयवोऽनन्तशक्तिः सूक्ष्मेभ्यः सूक्ष्मतमो महद्भ्यो महत्तमोऽधिकरणधर्माऽनादिरित्येवम-

---

ईश्वर और कार्य-कारण का सम्बन्ध स्वाभाविक मान लिया है। अतः चेतनकृत नहीं होने से यह अनुमान व्यभिचारी हो गया। यदि कहें कि दोनों ही के चेतन होने से यह दोष नहीं होगा, अर्थात् ईश्वर का कार्य-कारण जो जगत् वह भी चेतन है और ईश्वर भी चेतन है। अतः उन दोनों का सम्बन्ध स्वाभाविक होने से यह प्रत्युदाहरण के रूप में हो सकता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ चेतन एवं अचेतन का सम्बन्ध होता है, उसी सम्बन्ध को हम चेतनकृत मानते हैं। जहाँ दोनों ही चेतन हैं, वहाँ का सम्बन्ध चेतनकृत न होकर स्वाभाविक होगा। अतः यह प्रत्युदाहरण के रूप में है।

उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थिति में ईश्वर और कार्य-कारणरूप जगत् का सम्बन्ध ही नहीं बन सकेगा। अर्थात् जैसे समान चैतन्य वाले एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं होता है, ऐसे ही ईश्वर और कार्य-कारण का भी सम्बन्ध नहीं हो सकेगा; क्योंकि आप दोनों को चेतन बताते हैं। किन्तु यह आपको इष्ट नहीं है।

एवं अविपर्यय का भी प्रसंग हो जायेगा। अर्थात् ईश्वर में और बुद्ध्यादि पदार्थों में कोई अन्तर नहीं होगा। क्योंकि दोनों को चेतन मानने वाले आपके यहाँ जैसे बुद्धि आदि पदार्थ ईश्वर के करण हैं, वैसे ईश्वर भी बुद्धि आदि का करण होने लगेगा। क्योंकि दोनों को चेतन मानने के कारण इनमें कोई अन्तर नहीं है।

यदि दोनों को दोनों का करण मानना इष्ट नहीं है; तब आपका कहा हुआ दोनों का चैतन्य भी नहीं है।

पूर्वपक्षी—ईश्वर में कार्यकारणवत्ता (कार्यकारण का सम्बन्ध) हम नहीं मानते हैं; इसलिये उक्त प्रकार का अविपर्यय दोष नहीं होगा। अर्थात् ईश्वरतत्त्व के ज्ञाता जन

नन्तलक्षणमीश्वरपदार्थं तद्विदो व्याचक्षते। तस्य कुतः कार्यकारणमवलम्ब्येदमध्यारोपितमिति ? एतदप्यनुपपन्नम्। कस्मात् ? अनुमानविरोधात्। इत्थं चेदीश्वरो; यदिदमनुमानं कार्यविशेषस्यातिशयबुद्धिपूर्वकत्वाच्च चेतनाचेतनयोरभिसम्बन्धस्य चेतनकृतत्वमिति; तद्व्याहन्यते। कस्मात् ? न न ह्येतावदीदृशार्थेन सहैतद् दृष्टमिति।

उपेत्य वा; मूर्तिपरिग्रहव्याघातात्। यद्येकान्तेनैवंरूप ईश्वरः, क्षित्यादिमूर्तिपरिग्रहो व्याहन्येत। किंचान्यत्—श्रुतेः। श्रुतिरपि चास्य मूर्तिमाचष्टे—कृत्तिवासाः पिनाकहस्तो विततधन्वा नीलशिखण्डीत्यादि।

तदभ्युपगमात् स्वपक्षहानिरिति चेत्; स्यान्मतम्—यदि तर्हि श्रुतिवचनान्मूर्तिमानीश्वरः परिगृह्यते, तेन सिद्धमस्यास्तित्वम्। कस्मात् ? न ह्यसतो मूर्तिमत्त्वमुपपद्यत इति कृत्वा। एतदप्ययुक्तम्। अभिप्रायानवबो-

---

ईश्वर पदार्थ को व्यापक अवयवरहित-अनन्त शक्तिवाला-सूक्ष्मों से भी सूक्ष्मतम-महानों से भी महानतम-सबका आधारभूत और अनादिरूप अनन्तलक्षण वाला प्रदिपादित करते हैं। ऐसी स्थिति में कार्यकारण का आश्रय लेकर उसमें इस प्रकार का आरोप कि 'ईश्वर भी बुद्ध्यादिका करण हो जाय' कैसे होगा ?

सिद्धान्ती—यह कथन भी अनुपपन्न है। क्योंकि आपके अनुमान का विरोध हो जाता है। अर्थात् आपका ईश्वर यदि ऐसा (कार्यकारणसम्बन्धरहित) है, तो यह जो अनुमान कि कार्यविशेप अतिशय बुद्धिपूर्वक होता है, तथा चेतनाचेतन का सम्बन्ध चेतनकृत होता है, इसलिये ईश्वर की सत्ता है—इसका व्याघात हो जाता है। क्योंकि इतने और इस प्रकार के अर्थ के साथ यह नहीं देखा गया कि कार्यकारण-सम्बन्धरहित भी हो और कार्यविशेष का कर्ता तथा चेतनाचेतनसम्बन्ध का कर्ता भी हो। यदि ईश्वर का व्यापित्व आदि उक्त स्वरूप स्वीकार कर लिया जाय तो उसके द्वारा मूर्तिपरिग्रह का व्याघात हो जायेगा। अर्थात् ईश्वर का यदि यही नियत स्वरूप हो तो क्षिति आदि मूर्ति का परिग्रह व्याहत हो जायेगा। एवं ईश्वर के मूर्तिमान् होने में दूसरा प्रमाण श्रुति है। अर्थात् 'कृत्तिवासाः पिनाकहस्तो विततधन्वा नीलशिखण्डी' इत्यादि श्रुतिवचन ईश्वर की मूर्ति का प्रतिपादन करते हैं।

यदि शङ्का करो कि सिद्धान्ती के द्वारा ईश्वर की मूर्ति स्वीकार करने के कारण उसके पक्ष की हानि हो जायेगी। अर्थात् श्रुतिवचन के प्रमाण से मूर्तिमान् ईश्वर माना जाय तो ईश्वर का अस्तित्व ही सिद्ध हो गया। क्योंकि असत् होने पर

धात्। न ह्येकान्तेन वयं भगवतः शक्तिविशेषं प्रत्याचक्ष्महे, माहात्म्यशरीरादिपरिग्रहात्। यथा तु भवतोच्यते, प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः तयोः प्रयोक्ता नास्तीत्ययमस्मदभिप्रायः, तस्मादेतस्य बाधकम्। अतो न प्रधान पुरुषयोरभिसम्बन्धोऽन्यकृतः।

किञ्चान्यत्—अशक्यत्वात्। कुर्वाणः खल्वप्ययमभिसम्बन्धं शरीरमात्रेण वा शरीरिणः कुर्यात्? शरीरकारणेन वा? किञ्चातः? तन्न तावच्छरीरमात्रेण करोति। कस्मात्? अनपेक्षस्य शरीरोत्पत्तौ निमित्ताभावात्। न शरीरकारणेन, विभुत्वात्। परिच्छिन्नयोर्गोशकटयोरभिसम्बन्धोऽन्यकृतः, विभू च प्रधानपुरुषौ।

किञ्च, पारार्थ्यात्। गोशकटयोरभिसम्बन्धः परार्थो दृष्टः, न तु

उसमें मूर्तिमत्ता नहीं बन सकती है—तो यह शङ्का भी अयुक्त है। क्योंकि हमारे अभिप्राय को आप नहीं समझ रहे हो। क्योंकि हम अनिवार्यरूप से भगवान् के शक्तिविशेष का प्रत्याख्यान (निषेध) नहीं करते हैं। क्योंकि उसके माहात्म्यशरीर आदि के परिग्रह को मानते हैं।

जैसा कि आप कहते हैं—प्रधान-पुरुष से व्यतिरिक्त उन दोनों का प्रयोक्ता नहीं हैं—यह हमारा अभिप्राय है और इसके द्वारा उस कथन का बाध होता है कि प्रधान-पुरुष से व्यतिरिक्त इन दोनों का प्रयोजक ईश्वर है। अतः हमारे उक्त अभिप्रायानुसार सिद्ध हुआ कि कि प्रधान-पुरुष का सम्बन्ध ईश्वरकृत नहीं है।

प्रधान-पुरुष के सम्बन्ध के ईश्वरकृत नहीं होने में अन्य भी प्रमाण है—जैसे वह सम्बन्ध अशक्य भी है। अर्थात् यह ईश्वर उक्त सम्बन्ध को करता हुआ शरीरी पुरुष के शरीरमात्र से करेगा? अथवा शरीरकरण से करेगा?

प्रश्न—इससे क्या आया?

उत्तर—ईश्वर शरीरमात्र के साथ तो सम्बन्ध नहीं करता है। क्योंकि शरीरिनिरपेक्ष शरीरमात्र की उत्पत्ति में कोई निमित्त नहीं है। एवं शरीरकारण पुरुष के साथ भी प्रधान का सम्बन्ध ईश्वर नहीं करता है। क्योंकि प्रधान-पुरुष तो विभु हैं और विभु का सम्बन्ध स्वतः सदा होने से किया नहीं जा सकता। क्योंकि एकदेशी गौ और शकट का ही सम्बन्ध अन्यकृत देखा गया है। प्रधान और पुरुष तो विभु हैं, एकदेशी (परिच्छिन्न) नहीं हैं।

एवं सम्बन्ध के परार्थ होने से भी वह ईश्वरकृत नहीं है। अर्थात् गौ और शकट का सम्बन्ध दूसरे के लिये देखा गया है। प्रधान और पुरुष का सम्बन्ध तो दूसरे के लिये है नहीं।

प्रधानपुरुषयोरभिसम्बन्धः परार्थ इति । ईश्वरार्थं इति चेन्न, उक्तत्वात् । दृष्टादृष्टार्थं ईश्वरस्यानुपपन्न इत्यादावेवोक्तमेतत् । एवं तावत् पाशुपतानामीश्वरपरिग्रहे दोषः ।

वैशेषिकाणां चायं दोषः । किं च, द्रव्यादिपदार्थान्तरभावाभावपरिकल्पनाऽनुपपत्तिश्च । तैरीश्वरो द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायभूतो वा परिकल्प्यमानः परिकल्प्यते, पदार्थान्तरभूतो वा ? किं चातः ? तन्न तावद् द्रव्यादिभूतः । कस्मात् ? द्विविधं हि द्रव्यम् अनेकद्रव्यमद्रव्यं च । तत्र नाऽनेकद्रव्यमीश्वरः कृतकत्वाविदोषप्रसङ्गात् । नाऽद्रव्यं, परिसंख्यानात् । पृथिव्यादीनि मनःपर्यन्तानि नवैव द्रव्याणीति वः सिद्धान्तः, इति करणस्य परिसमाप्त्यर्थत्वात् ।

यदि कहो कि प्रधान-पुरुष का सम्बन्ध ईश्वर के लिये है, तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है । अर्थात् यह प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि ईश्वर का दृष्ट या अदृष्ट कोई प्रयाजन सम्भव नहीं है । पाशुपत-मतवालों के द्वारा ईश्वर के स्वीकार किये जाने में ये सब दोष हैं ।

उपर्युक्त दोष वैशेषिकों के मत में भी हैं । एवं वैशेषिकपक्ष में ईश्वर पदार्थ द्रव्यादि सात पदार्थों से अतिरिक्त या अनतिरिक्त नहीं बन सकता है । अर्थात् यह कल्पना भी नहीं बन सकती है कि वैशेषिकों के द्वारा ईश्वर पदार्थ द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेषसमवाय के अन्तर्गत परिकल्पित किया जा रहा है ? अथवा इनसे अतिरिक्त पदार्थ के रूप में परिकल्पित किया जा रहा है ।

प्रश्न—इससे क्या आया ?

उत्तर—यह कि ईश्वर द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष या समवायरूप नहीं हो सकता । क्योंकि द्रव्यों के दो भेद हैं—अनेकद्रव्य और अद्रव्य । इसमें ईश्वर अनेकद्रव्य नहीं हो सकता है । क्योंकि अनेकद्रव्य का अर्थ होगा—अनेक अवयवों से उत्पन्न । अतः यदि ईश्वर को अनेकद्रव्य माना जाय तो ईश्वर में कृतकत्व अर्थात् जन्यत्व आदि दोष की आपत्ति हो जायेगी । एवं, ईश्वर को अद्रव्य भी नहीं कहा जा सकता । क्योंकि अद्रव्य का अर्थ है—द्रव्यासमवेत अर्थात् निरवयव । किन्तु ऐसे पदार्थ चूँकि परिगणित हैं । अर्थात् पृथ्वी से लेकर मनः पर्यन्त नव ही द्रव्य हैं-यह आपका सिद्धान्त है । कारण, 'पृथ्व्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि'

किं च गुणकर्मनिर्देशात् । सति चास्य द्रव्यत्वे वैशेषिकगुणनिर्देश आचार्येण कृतः स्यात् । कारणान्तरप्रयोगसमर्थस्य च कर्म निर्दिष्टं स्यात्, न तु तथा, तस्मान्न द्रव्यगुणादयः । आश्रयपरतन्त्रा हि गुणादयः परार्थाः । एवं न द्रव्यादिभूतो नापि पदार्थान्तरभूतः । पदार्थत्वे हि सति द्रव्यादिवल्लक्षणमुक्तमभविष्यत् । आचार्येण तु नोक्तम् । तस्मात्सूत्रकारमते नास्तीश्वरः ।

लिङ्गादिति चेत्, स्यान्मतम् 'संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्, प्रत्यक्षपूर्वकत्वाद्वा संज्ञाकर्मण' इत्येतस्माल्लिङ्गादीश्वरपरिग्रह आचार्यस्य सिद्ध इति। तदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? अभिप्रेताऽसिद्धेः । सत्यमनेन लिङ्गेनास्मदादिभ्यो विशिष्टशक्तेः कस्यचिदेव माहात्म्यशरीरस्याऽन्यस्य वा प्रति-

---

(वै० सू० १।१।५) में इतिशब्द का प्रयोग परिसमाप्ति का सूचक है। अतः वैशेषिक सूत्र के अनुसार नव के अतिरिक्त ईश्वर दसवां द्रव्य कैसे हो सकता है ?

एवं, गुण-कर्म का निर्देश भी अपेक्षित होगा। अर्थात् यदि ईश्वर भी द्रव्य होता तो आचार्य के द्वारा इसके विशेष गुणों का भी निर्देश किया गया होता। एवं अन्य कारणों का प्रयोग करने में समर्थ ईश्वर के लिये क्रिया का भी निर्देश सूत्र में किया गया होता; किन्तु वैसा नहीं किया गया है; इसलिये ईश्वर द्रव्य-गुणादिरूप नहीं है।

एवं गुणादिरूप इसलिये नहीं है कि गुणादि पदार्थ परार्थ होते हैं और आश्रय के अधीन होते हैं। इस प्रकार ईश्वर न तो द्रव्यादिरूप है और न पदार्थान्तररूप है। क्योंकि ईश्वर यदि पदार्थ होता तो द्रव्यादि के समान उसका भी लक्षण वैशेषिक दर्शन में कहा गया होता; किन्तु आचार्य ने उसका कोई लक्षण नहीं कहा है; इसलिये सूत्रकार के मत में ईश्वर नहीं है।

पूर्वपक्ष—लिङ्ग से ईश्वर की सिद्धि होती है। अर्थात् 'संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्-प्रत्यक्षपूर्वकत्वाद्वा संज्ञाकर्मणः' इन सूत्रों के आधार पर सिद्ध होता है कि आचार्य कणाद को ईश्वर स्वीकृत है।

उत्तर—उक्त कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त सूत्रों के आधार पर आप के अभिप्रेत की सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थात् ठीक ही है कि उक्त सूत्रों के द्वारा हमसे विशिष्ट शक्ति वाले माहात्म्यशरीर से सम्पन्न किसी व्यक्तिविशेष का या अन्य किसी का ज्ञान हो सकता है; किन्तु वह एक संज्ञामात्र का भेद होगा। जैसे कि आप

पत्तिः स्यात्, संज्ञामात्रं तु। यथा भवद्भिः सर्वकारणानां सृष्ट्युपसंहार-प्रवृत्तिहेतुरेकः स्वतन्त्र इष्यते, तथा चास्माल्लिङ्गात्प्रतिपत्तिः।

किं चान्यत्, प्रागनुपदेशेऽकौशलप्रसङ्गात्। ईश्वरपरतन्त्रे चेदणूनां प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातां, तमेव प्रागुपदिशेत्। धर्मवत् प्रधानपदार्थस्य वा प्रागनुपदेशादकुशलः सूत्रकार इत्येतदापद्यते। न चैतदिष्टमुभयम्।

किं चान्यत्, असंकीर्तनात्। शास्त्रप्रदेशे चायमीश्वरो न कस्मिंश्चिदप्याचार्येण संकीर्तितः। न चास्य वध्वा इव श्वसुरनामसंकीर्तने दोषोपपत्तिः स्यात्। दोषसंविभागार्थमिदमाचार्यस्याऽनिष्टमध्यारोप्यते, न तु मतमस्यैतत्। एवं काणादानामीश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत्। तस्मादीश्वरोऽप्यकारणम्।

उसे सभी कारणों के मध्य सृष्टि और संहार की प्रवृत्तिका हेतु एक स्वतन्त्र कारण मानते हैं। जिसकी इन सूत्रों के आधार पर आप प्रतिपत्ति करते हैं। तात्पर्य यह है कि उन सूत्रों के आधार पर सिद्ध पदार्थ ईश्वर नहीं है; किन्तु हम लोगों की अपेक्षा कोई विशिष्ट व्यक्ति है।

और भी—ईश्वर का प्रारम्भ में उपदेश न करने के कारण आचार्य की अकुशलता की प्रसक्ति से भी ईश्वर नहीं है। अर्थात् परमाणुओं की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति यदि ईश्वर के अधीन होती है, तो आचार्य पहले ईश्वर का ही उपदेश करते। किन्तु जैसे धर्म का उपदेश किया, वैसे मुख्य पदार्थ का पहले उपदेश न करने के कारण वैशेषिक सूत्रकार अकुशल हैं, यह आपत्ति हो जाती है। परन्तु यह दोनों ही अभीष्ट नहीं हैं। अर्थात् ईश्वर का अनुपदेश और सूत्रकार की अकुशलता, ये दोनों ही इष्ट नहीं हो सकता।

और भी—अनुल्लेख होने से भी सूत्रकार को ईश्वर अभिप्रेत नहीं है। अर्थात् शास्त्र के किसी भी भाग में आचार्य ने ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है। और न आचार्य को ईश्वर का नाम कहने में कोई दोष हो जायेगा, जैसे वधू को अपने श्वसुर का नाम कहने में होता है। बल्कि सूत्रकार के ऊपर सम्भावित दोष के संविभाग के लिये अर्थात् सूत्रकार को अनीश्वरवादी होने के दोष से बचाने के लिये उपर्युक्त दोनों सूत्रों के आधार पर, आचार्य को इष्ट न होते हुये भी उनके ऊपर ईश्वरवादी होने का आरोप किया जा रहा है। किन्तु वस्तुतः सूत्रकार को ईश्वर अभिमत नहीं है। इसलिये काणादों (वैशेपिकों) के मत में ईश्वर है—यह प्रसिद्धि पाशुपतमतमूलक है। अतः ईश्वर भी जगत् का कारण नहीं है।

कर्माणुभिर्व्याख्यातम् । कथम् ? यथा कृतकत्वान्न जगत्कारणमणवः, एवं कर्माणि न शरीरनिमित्तम् । तस्मात् तदप्यकारणम् । इतरेतरनिमित्तत्वाददोष इति चेत्, स्यान्मतम्—यथान्तरेण शरीरं कर्म नोत्पद्यमानं दृष्टम्, एवमन्तरेण कर्म शरीरस्यापि कारणान्तरमशक्यं कल्पयितुमिति परस्परनिमित्तत्वान्नास्य परिवर्तस्य पूर्वकोटिः प्रज्ञायते । तस्मान्नास्त्यनयोः कारणान्तरमिति ।

एतच्चायुक्तम्—कस्मात् ? अनवस्थानानामवस्थानपूर्वकत्वदर्शनात् । तद्यथा शुक्रशोणिताच्छरीरं शरीराच्छुक्रशोणितमित्यस्य परिवर्तस्य पूर्वकोटिरदृष्टा, प्रतिज्ञायते चायोनिजत्वमीश्वरशरीराणामादिसर्गे च । तथा च बीजादङ्कुरादयोऽङ्कुरादिभ्यो बीजमित्यनवस्था । भवति चात्रादिसर्गे परमाणुमात्रादपि बीजप्रादुर्भावस्तथा शरीरकर्मणोरनवस्था ।

परमाणुओं के प्रसङ्ग से कर्म के कारणत्व की भी व्याख्या हो गयी।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—जैसे कृतक होने के कारण परमाणु जगत् के कारण नहीं हैं, ऐसे ही कर्म भी शरीर का निमित्त नहीं है । अतः कर्म भी कारण नहीं है ।

यदि कहो कि–एक दूसरे का निमित्त होने के कारण कोई दोष नहीं है । अर्थात् जैसे शरीर के बिना कर्म उत्पन्न होता नहीं देखा गया है, वैसे कर्म के बिना शरीर का भी कोई अन्य कारण कल्पना से परे है । अतः परस्पर का निमित्त होने के कारण कर्म और शरीर की वर्तमान शृंखला में किसी एक को पूर्वकोटि के रूप में नहीं जाना जा सकता है । अतः इन दोनों का कोई अन्य कारण नहीं है । किन्तु परस्पर में एक दूसरे का कारण है । इस प्रकार कर्म की कारणता सिद्ध हो गयी ।

पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है । क्योंकि अनवस्थायें भी अवस्थानपूर्वक देखी जाती हैं । जैसे- शुक्र और शोणित के संयोग से शरीर होता है और शरीर से शुक्र-शोणित होता है-इस शृङ्खला की पूर्वकोटि नहीं देखी गयी है । फिर भी ईश्वरीय शरीरों को तथा आदिसर्गीय शरीर को अयोनिज स्वीकार किया जाता है । वैसे ही बीज से अङ्कुरादि होते हैं और अङ्कुरादि से बीज होता है, यहाँ अनवस्था है । फिर भी आदि सर्ग में परमाणुमात्र से बीज का प्रादुर्भाव होता है । वैसे ही शरीर और कर्म में भी अनवस्था है । फिर भी इस समय और सृष्टि के आदि में भी अधिकारमात्र के अधीन शरीर की उत्पत्ति होगी । अतः कर्म शरीर का निमित्त है–यह पूर्वपक्षी का कथन असंगत है ।

इदानीमपि चादिसर्गे चाधिकारमात्रवशाच्छरीरोत्पत्तिः स्यात् ।

साधारणविग्रहत्वप्रसङ्ग इति चेत्, स्यादेतत्—यद्यधिकारनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरादिसर्गेऽभ्युपगम्यते प्राप्तमेकेन शरीरेण सर्वपुरुषाणामभिसम्बन्धो नियमहेत्वभावात् । ततश्च शरीरान्तरानर्थक्यम्, तेनैव सर्वेषामुपभोग-सामर्थ्यादिति । एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? प्रत्यक्षविरोधात् । सत्यमेतदनु-मानतः । प्रत्यक्षतस्तु शरीराणि प्रतिपुरुषम्; तस्मान्नायं प्रसंगः ।

अपवर्गनियमप्रसंग इति चेत्, स्यान्मतम्—यद्यधिकारमात्रवशाच्छ-रीरोत्पत्तिः परमर्षेरेवापवर्गसाधनं शरीराबु(द्यु)त्पद्येतेति ।।

उच्यते—न तस्यैव किं तर्हि ? सर्वेषां गुणानां प्राधान्यात्तन्निमित्तानि शरीराण्यादिसर्गे सांसिद्धिकान्युत्पद्यन्ते । यस्य सत्त्वप्रधानं कार्यकरणं स परमर्षिः । यस्य सत्त्वं रजोबहुलं स माहात्म्यशरीरः । एवं गुणसम्पर्काद्

शङ्का—अधिकारमात्र के अधीन शरीर की उत्पत्ति होने पर वह सर्वसाधारण शरीर होने लगेगा। अर्थात् यदि अधिकारनिमितक शरीर की उत्पत्ति सृष्टि के आदि में मानी जाती है तो सृष्टि के आदि में उत्पन्न उस एक शरीर के साथ सभी पुरुषों का सम्दन्ध होने लगेगा; क्योंकि उस शरीर का किसके साथ सम्बन्ध हो और किसके साथ न हो, इसका नियामक कोई हेतु नहीं है। इस प्रकार पुरुषों के लिये अन्य शरीर निरर्थक हो जायेंगे। क्योंकि सृष्टि के आदि में उत्पन्न उस एक ही शरीर से सभी पुरुषों को भोग की सामर्थ्य रहेगी। अतः कर्म को शरीर का हेतु मानना युक्त है।

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष का विरोध है। अर्थात् अनुमान से एक शरीर की कल्पना भले ही की जाय; किन्तु प्रत्यक्ष में तो प्रत्येक पुरुष को अलग-अलग शरीर है। अतः प्रत्यक्षविरोध के कारण एक शरीर से सभी पुरुषों को उपभोग होना प्रसक्त नहीं होगा।

शङ्का—अपवर्ग में नियम की प्रसक्ति हो जायेगी। अर्थात् यदि आदि सर्ग में अधिकारमात्र के अधीन शरीर की उत्पत्ति हो तो अधिकारवशात् परमर्षि के ही शरीर से सभी के अपवर्ग की सिद्धि हाने लगेगी।

समाधान—उक्त शङ्का नहीं की जा सकती। क्योंकि सृष्टि के आदि में पर-मर्षि का ही शरीर नहीं उत्पन्न होता है। किन्तु सभी को सत्त्वादि गुणों की प्रधानता के अनुसार सृष्टि के आदि में गुणनिमित्तक सांसिद्धिक शरीर उत्पन्न होते हैं। उनमें जिसका कार्यकारणसमुदाय (शरीर) सत्त्वप्रधान होता है, वह परमर्षि कहाता है और जिसका सत्त्वगुण रजोगुणबहुल होता है, वह माहात्म्यशरीर वाला होता है। इस

गुणप्रधानभावेन यावत्स्थावरशरीरप्रादुर्भाव इत्यतो नास्ति गुणानां शरीरविनियोगपक्षपातः। तस्माद् युक्तमेतत्कृतकत्वान्न कर्म जगत्कारणमिति। एतेन चैवं व्याख्यातम्। तदपि हि कर्मणामेव प्राप्तपरिपाकाणामभिधानमर्थान्तरमेवेति चेत्, साध्यम्। तस्मादप्यकल्पनीयमिति।

यदप्युक्तम्—कालाज्जगदुत्पत्तिर्भविष्यतीति, तदनुपपन्नम्। कस्मात्? कारणपरिस्पन्दस्यैव तदभिधानसन्निवेशात्। न हि नः कालो नाम कश्चिदस्ति। किं तर्हि? क्रियमाणक्रियाणामेवादित्यगतिगोदोहघटास्तनितादीनां विशिष्टावधिसरूपप्रत्ययनिमित्तत्वम्। परापरादिलिङ्गसद्भावात्प्रतिपत्तिरिति चेन्न, अकृतकेषु तदनुपपत्तेः। यदेव कृतकं

गुणों के संसर्ग से गुणों की प्रधानता एवं अप्रधानता के अनुसार सम्पूर्ण स्थावर-शरीर की अभिव्यक्ति होती है।

अतएव शरीर के विनियोग में गुणों का कोई पक्षपात नहीं है। तात्पर्य यह है कि सत्त्वादि गुणों के प्राधान्य और अप्राधान्य के अनुसार सभी को शरीर प्राप्त होता है। ऐसा नहीं है कि परमर्षि को हो अपवर्ग का साधन शरीर प्राप्त हो।

अतः यह युक्त है कि कृतक (जन्य) होने के कारण कर्म जगत् का कारण नहीं है। इसके द्वारा परमाणुओं के समान कर्म भी जगत् के प्रति अकारण के रूप में व्याख्यात हो गया।

तदापि परिपाकावस्था को प्राप्त कर्मों का ही नामान्तर वाला कोई अर्थान्तर है, जो जगत् का कारण है—यदि ऐसा कहो; तो वह भी साध्यकोटि में ही है। अर्थात् उक्त कथन भी असिद्ध है। अतः उक्त कल्पना भी नहीं करनी चाहिये।

एवं, यह जो कहा कि काल से जगत् की उत्पत्ति होगी—वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि कारणगत क्रिया के लिए ही कालसंज्ञा का प्रयोग होता है। हमारे मत में कालनामक कोई पदार्थ नहीं है; किन्तु आदित्य की गति, गाय का दुहा जाना एवं मेघ का गर्जन आदि कीजाने वाली क्रियायें ही किसी खास अवधि में अनुरूप प्रतीति के निमित्त होती हैं। वह अवधि सूर्य की गति के आधार पर दिन-रात आदि के रूप में, गोदोहन क्रिया के आधार पर प्रातः-संध्या के रूप में, और मेघगर्जन के आधार पर कुछ क्षण के रूप में व्यवहृत होती है। अतः क्रिया के अतिरिक्त क्षण-घण्टा-दिन-मास वर्ष आदि कोई काल नहीं होता। यदि कहो कि पर-अपर अर्थात् जेष्ठ कनिष्ठ आदि लिङ्ग के होने से काल का अस्तित्व निश्चित होता है—तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि नित्य वस्तुओं में ज्येष्ठत्व कनिष्ठत्व अनुपपन्न है। अर्थात् जो ही कृतक (जन्य)

तत्रैव परमपरमित्यादिः प्रत्ययो दृष्टः । स यदि क्रियाव्यतिरिक्तनिमित्तः स्यादविशेषान्नित्यानित्येषु स्यात् ।

क्वचित्सामर्थ्यादपाकजवददोष इति चेत्, स्यान्मतम्—यथाऽग्निसंयोगः पाकजहेतुः; तथा चाविशेषेऽपि पृथिव्यामेव पाकजोत्पत्तिनिमित्तं भवति नाकाशादिषु । एवं कालोऽपि परापरादिहेतुरथ चाऽनित्येष्वेव स्यान्न नित्येष्विति । तच्चायुक्तम् । कस्मात् ? विशेषोपपत्तेः । रूपादिविक्रियाहेतुरग्निः, तद्युक्तं यदसौ तद्वति द्रव्ये पाकजानादध्यात्, (ना) तद्वत्याकाशादौ । कालस्तु सम्बन्धमात्रोपकारी न विक्रियाहेतुः । तस्मादसदेतत् । एवं, यदि क्रियाभ्योऽन्यः[नन्यः]काल इष्यते, कारणपरिस्पन्दस्य जगत्कारणत्वमथान्यत्, साध्यम् ।

यदृच्छाऽपि न कारणं, कर्मवत् कार्यकारणभावात् । कार्यकारणभूतं ह्येदं व्यक्तमिति प्राग्व्याख्यातम् । स च कार्यकारणभावः प्रेक्षापूर्वकृतानां

है, उसी में ज्येष्ठ-कनिष्ठ आदि प्रतीति देखी गयी है। यदि ज्येष्ठ-कनिष्ठादि प्रतीति क्रिया से अतिरिक्त किसी और निमित्त से हो तो किसी विशेषता के नहीं होने से समानरूप में नित्य और अनित्य सबमें ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व की प्रतीति होनी चाहिए।

यदि कहो—सामर्थ्यवशात् अपाकज के समान कहीं ज्येष्ठ-कनिष्ठादि प्रतीति होने में कोई दोष नहीं है। अर्थात् जैसे अग्नि का संयोग पाकजरूप आदि का हेतु होता है और सर्वत्र अग्नि का संयोग समान होने पर भी वह पृथ्वी में ही पाकज रूप आदि की उत्पत्ति का निमित्त होता है; आकाश में नहीं। ऐसे ही काल भी ज्येष्ठ-कनिष्ठ का हेतु होता हुआ भी अनित्यों में ही हेतु होगा, नित्यों में नहीं—तो उक्त कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि काल एवं अग्नि में अन्तर है। अग्नि रूपादि विकारों का हेतु होती है; इसीलिए यह युक्त है कि वह स्वसंयुक्त द्रव्य में पाकज रूपादि को पैदा करे और आकाशादि में न करे। किन्तु काल तो सम्बन्धमात्र से उपकारी होता है; किसी विकार का हेतु नहीं होता। अतः काल के लिए अग्निसंयोग का दृष्टान्त देना ठीक नहीं है। एवं, यदि क्रियाओं से अनन्य काल माना जाता है तो कारणगत क्रिया ही जगत् का कारण होगी न कि काल। यदि काल क्रियाओं से भिन्न वस्तु हो तो उसका भिन्नत्व सिद्ध करना होगा; क्योंकि क्रिया से भिन्न काल सांख्यमत में असिद्ध है।

एवं, कर्म के समान यदृच्छा भी जगत् का कारण नहीं है। क्योंकि जगत् में कार्यकारणभाव है। यह समस्त व्यक्त जगत् कार्यकारणभूत है; यह पहले प्रतिपादित

शयनादीनामुपलब्धो यादृच्छिकेषु चानुपलब्धो न तस्या लिङ्गमिति शक्यं वक्तुम् ।

अभावोऽप्यकारणम्, परिमाणादिदर्शनात् । नहि तत उत्पन्नानां परिमाणमुपपद्यत इत्यर्थः । नाप्यन्वयः, सात्मकनिरात्मकयोरत्यन्तजातिभेदात् । नापि शक्तिः, तदभावात् । नोपकारोऽनवस्थानात् । न च विभागो निरात्मकत्वात् । तस्मान्न परमाणुपुरुषेश्वरकर्मदैवकालस्वभावयदृच्छाऽभावेभ्यो व्यक्तमुत्पद्यते । न चैदेभ्यः, परिशेषतः प्रधानस्यैवास्तित्वलिङ्गमिदम् । तस्माद्युक्तमेतत्—भेदानां परिमाणादिभ्यः कारणमस्त्यव्यक्तमिति ।

आह—एवमप्यस्य व्यक्तहेतुत्वमनुपपन्नम्, एकत्वात् । बहूनां

किया जा चुका है। वह कार्यकारणभाव बुद्धिपूर्वक किये गये शयनादि में उपलब्ध है तथा यादृच्छिक पदार्थों में अनुपलब्ध है। इसलिए कार्यकारणभाव यदृच्छा का ज्ञापक लिङ्ग है, यह नहीं कहा जा सकता।

एवं, अभाव भी जगत् का कारण नहीं है। क्योंकि जगत् में परिमाण आदि देखा जाता है। किन्तु अभाव यदि कारण हो तो उससे उत्पन्न व्यक्त जगत् में परिमाण नहीं बन सकता है। एवं, इससे भी कि अभाव का जगत् में अन्वय सम्बन्ध नहीं बन सकता है। क्योंकि व्यक्त जगत् सात्मक है तथा अभाव निरात्मक है और सात्मक और निरात्मक दोनों की अत्यन्त भिन्न जाति है।

एवं, अभावगत शक्ति भी जगत् का कारण नहीं है। क्योंकि शक्तिपदार्थ का अभाव है। एवं, अभाव किसी से उपकृत होकर भी जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकता; क्योंकि वैसी स्थिति में जिससे उपकृत होगा वह भी किसी दूसरे से उपकृत होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। यहाँ विभाग भी नहीं हो सकता; अर्थात् अभाव भी एक स्वतन्त्र विभक्त वस्तु है, ऐसा भी नहीं मान सकते; क्योंकि अभाव के निरात्मक होने से उसका स्वतन्त्र स्वरूप नहीं हो सकता है। अतः परमाणु, पुरुष ईश्वर, कर्म, दैव, काल, स्वभाव, यदृच्छा और अभाव से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। एवं जब परमाणु आदि से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है तो परिशेषात् कारण के रूप में प्रधान की ही सत्ता का सूचक यह व्यक्त जगत् है। अतः यह कथन युक्त है कि व्यक्त पदार्थों में परिमाण आदि के होने के कारण अर्थात् व्यक्त जगत् के परिमित होने से इसका कारण अपरिमित अव्यक्त है।

पूर्वपक्ष—अव्यक्त की सत्ता में इतने प्रमाणों के रहने पर भी उसमें व्यक्त के

कार्यारम्भो दृष्टस्तन्त्वादीनाम् । एकं प्रधानम्, तस्मान्न तदारम्भशक्ति-युक्तमिति ।

उच्यते—यद्यपि गुणानां प्रधानलक्षणमवस्थान्तरमभिन्नबुद्धिनिमित्त-त्वादेकमपि कार्यकाले किंचिद्वैषम्योपजनितव्यपदेश्यरूपाभिरितरेतरोपका-रिणीभिः शक्तिभिः समुदायत्वमापद्यते । तस्मादिदानीं—

प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।

'प्रवर्तते' इत्यनेनोत्पत्तिमाचष्टे । 'त्रिगुणतः' इत्यव्यपदेश्यरूपाणां प्रधानाप्रधानभावेन गुणशक्तीनां वैषम्याद् व्यपदेश्यरूपान्तरमाह । यत्रैतच्छ-क्यते वक्तुं त्रयः सत्त्वादय इति तदवस्थानं कार्यारम्भकमिति । समुदया-दित्यनेन परस्परापेक्षाणामारम्भशक्तिमवद्योतयति । एतदुक्तं भवति— कार्यकाले गुणाः परित्यक्तपूर्वावस्था भेदं प्रतिलभ्य परस्परोपकारेण संहन्यन्ते । संहताश्च व्यक्तमुत्पादयन्ति ।

तस्मान्नाऽवस्थान्तरस्याभिन्न-बुद्धिनिमित्तत्वात्प्रधानैकत्वदोषः, गुण-

---

प्रति हेतुत्व अयुक्त है; क्योंकि आपका प्रधान एक है और संसार में तन्तु आदि बहुत अवयव मिलकर कोई कार्य उत्पन्न करते हैं ऐसा देखा जाता है। आपका प्रधान तो एक है; इस लिये वह व्यक्त को उत्पन्न करने की शक्ति से रहित है।

सिद्धान्त—यद्यपि गुणों की प्रधाननामक अवस्था अभिन्न बुद्धि का निमित्त होने से एक है; फिर भी वे गुण कार्यकाल में कुछ वैषम्य के कारण उत्पन्न व्यवहारयोग्य परस्पर उपकार करने वाली शक्तियों का समुदायरूप बन जाते हैं। इसीलिये इन गुणों की प्रवृत्ति दो प्रकार से मानी गयी है—एक त्रिगुणात्मकरूप में, और दूसरी समुदितरूप में।

कारिका में 'प्रवर्तते' पद से आचार्य उत्पत्ति कहते हैं। और 'त्रिगुणतः' इसके द्वारा प्रधान और अप्रधानरूप में व्यवहार के अयोग्य त्रिविध गुणशक्तियों में आये वैषम्य के कारण व्यवहारोपयोगी रूपान्तर को आचार्य प्रतिपादित करते हैं; जहाँ पर यह कहा जा सकता है कि सत्त्व-रजस्-और तमस् ये तीन गुण हैं और गुणों की यह वैषम्या-वस्था महदादि कार्यों का आरम्भक होती है।

'समुदयात्' इसके द्वारा परस्पर की अपेक्षा रखने वाले गुणों में आरम्भशक्ति

भेदान्नैकस्य कार्यारम्भ इति ।

आह—निष्क्रियत्वात्तर्हि प्रकृतेः कार्यारम्भोऽनुपपन्नः क्रियात्वा[1]नभ्युपगमे वा व्यक्तवैधर्म्यविरोध इति ।

उच्यते—न, क्रियावैधर्म्यभेदात् । द्विविधा हि क्रिया, प्रस्पन्दलक्षणा परिणामलक्षणा च । तत्र प्रस्पन्दः प्रधानस्य सौक्ष्म्यात् प्रतिषिध्यते ।

परिणामतः—

परिणामतस्तु तत्कार्यमारभत इति ।

आह—ननु च परिणामोऽपि सौक्ष्म्यात् प्रधानस्य नोपपद्यते । कस्मात् ? न हि सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मस्याकाशादेर्विपरिणामो दृष्ट इति ।

उच्यते—संस्कारस्य सौक्ष्म्येऽपि परिणामोऽभ्युपगन्तव्यः । तस्माद् युक्तः सूक्ष्मःपरिणामीति ।

को आचार्य सूचित करते हैं। तात्पर्य है कि कार्यकाल में गुण अपनी पूर्वावस्था को छोड़कर और परस्पर भेद (वैषम्य) को प्राप्त होकर परस्पर में उपकार के साथ मिलते हैं और मिलकर महदादि व्यक्त जगत् को उत्पन्न करते हैं।

इसलिये गुणों का जो अवस्थान्तर अर्थात् अव्यक्तावस्था, उसके अभिन्न बुद्धि का निमित्त होने के कारण प्रधान में वर्तमान एकत्व दोषावह नहीं होगा। अर्थात् गुणों में आये वैषम्य के कारण एक में कार्यारम्भकत्वप्रसङ्ग दोष नहीं होगा।

शङ्का—यदि प्रकृति द्वारा कार्यारम्भ करने में उसका एकत्व बाधक नहीं है तो निष्क्रिय होने के कारण ही प्रकृति द्वारा व्यक्त जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अथवा प्रकृति को क्रियावान् नहीं मानने पर क्रियाशील व्यक्त के साथ वैधर्म्यरूप विरोध हो जायेगा। अथवा 'अभ्युपगमेवा' पाठ में प्रकृति को क्रियावान् मानने पर व्यक्त के साथ उसके वैधर्म्य का विरोध हो जायेगा। अर्थात् व्यक्त भी सक्रिय है और प्रधान के भी सक्रिय होने से सक्रियत्व निष्क्रियत्व का जो वैधर्म्य है, उसका विरोध हो जायेगा।

समाधान—उक्त शङ्का नहीं हो सकती है। क्योंकि क्रिया का वैधर्म्य भिन्न-भिन्न होता है। दो प्रकार की क्रिया होती है—प्रस्पन्दरूप और परिणामरूप। उसमें प्रधान में प्रस्पन्दरूप क्रिया का ही प्रतिषेध सांख्यशास्त्र में किया गया है; क्योंकि प्रधान के सूक्ष्म होने से उसमें प्रस्पन्दन क्रिया नहीं हो सकती है। परिणामलक्षण क्रिया से तो प्रधान व्यक्त जगत् को उत्पन्न करता है।

---

१. 'क्रियावत्त्वाभ्युपगमे वा' इति पाठ उचितो भाति ।

आह—कः पुनरयं परिणामो नाम ?

उच्यते—

जहद्धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम् ।
तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते ॥ इति ॥

यदा शक्त्यन्तरानुग्रहात् पूर्वधर्मान् तिरोभाव्य स्वरूपादप्रच्युतो धर्मी धर्मान्तरेणाविर्भवति, तदवस्थानमस्माकं परिणाम इत्युच्यते ।

आह—नैतद् विधानमात्रं दृष्टान्तमन्तरेण प्रतिपद्यामहे । तस्माद्यथा किमिति वक्तव्यम् ।

उच्यते—यथा पालाशं पलाशादप्रच्युतं निमित्तान्तरस्यातपादेरनुग्रहाच्छ्यामतां तिरोभाव्य पीततां व्रजति तथेदं द्रष्टव्यम् ।

आह—न, अन्यथोत्पत्तेरप्रतिषेधात् ।

शङ्का—सूक्ष्म होने के कारण प्रधान में परिणाम भी नहीं हो सकता है; क्योंकि सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म आकाशादि का परिणाम नहीं देखा गया है ।

समाधान—संस्कार के सूक्ष्म होने पर भी स्मृति-लक्षण परिणाम मानना पड़ता है । इसलिये यह युक्त है कि प्रधान सूक्ष्म होता हुआ भी परिणामी होगा ।

प्रश्न—यह परिणाम क्या वस्तु है ?

उत्तर— जहद्धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम् ।
तत्त्वादच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते ॥ इति ॥

अर्थात् जब अपने स्वरूप से बिना च्युत हुआ धर्मी पूर्व धर्म को छोड़ता हुआ अन्य धर्म को प्राप्त करता है, उसे परिणाम कहते हैं । अर्थात् जब शक्त्यन्तर का अनुग्रह पाकर अपने पूर्व धर्मो को तिरोहित करके अपने स्वरूप में अप्रच्युत हुआ धर्मी दूसरे धर्म के साथ प्रकट होता है; वह अवस्था हमारे मत में परिणाम है ।

पूर्वपक्ष—आपके इस कथनमात्र को हम बिना दृष्टान्त के स्वीकार नहीं कर सकते । इसलिये आपको दृष्टान्त कहना चाहिये कि जैसे—अमुक ।

उत्तर—जैसे पलाशपत्र पलाशवृक्ष से नीचे बिना गिरे आतप आदि निमित्तान्तर का संसर्ग पाकर अपनी श्यामता को तिरोहित करता हुआ पीतता को प्राप्त कर जाता है, वैसे ही इसे भी जानना चाहिये ।

पूर्वपक्ष—उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं है । क्योंकि प्रकारान्तर से उत्पत्ति का

कथं पुनरेतदवगम्यते पालाशं स्वरूपादप्रच्युतं धर्मान्तरस्य परित्यागमुपादानं च करोति, न पुनरन्यथा चान्यथा चोत्पद्यत इति ?

उच्यते—क्षणभङ्गप्रतिषेधात् । प्रागेव क्षणभङ्गे निर्दिष्टं विनष्टानां भावानां पुनरुत्पत्तौ नास्ति कारणम् । तदभावे चोत्पत्तिरयुक्तेति ।

आह—धर्मधर्मिणोरनन्यत्वाऽभ्युपगमाद्धर्मोत्पत्तिविनाशे धर्म्युत्पत्तिविनाशप्रसंगः । न हि वो धर्मेभ्योऽन्यो धर्मी । तत्र यदि धर्मस्य निवृत्तिरभ्युगम्यते धर्मिणोऽपि निवृत्तिरनन्यत्वात् प्राप्ता, धर्मोत्पत्तौ तदुत्पत्तिः । तत्र यदुक्तं धर्मोत्पत्तिविरोधे धर्मिस्वरूपावस्थानमिति—एतदयुक्तम् । उच्यते, न,सेनादिवद्व्यवस्थानोपपत्तेः। तद्यथा सेनाङ्गेभ्योऽनन्यत्वं सेनायाः। न च सेनाङ्गानां विनाशे सेनाविनाशः । यद्यथा तन्तुभ्यो नाऽन्यः पटः ।

निषेध नहीं किया गया है । अर्थात् यह कैसे समझा जाय कि पलाश अपने स्वरूप से विना च्युत हुये पूर्व-धर्म का परित्याग करता है और अन्य धर्म का ग्रहण करता है। यहाँ यही क्यों न माना जाय कि पलाश धर्मी हो अन्य उत्पन्न होता है । अर्थात् यह पूर्व धर्मी नष्ट होकर पुनः दूसरा धर्मी उत्पन्न होता है ।

उत्तर पक्ष—आपकी शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि क्षणभङ्गवाद का खण्डन किया जा चुका है । अर्थात् पहले क्षणभङ्ग के प्रसङ्ग में कहा जा चुका है कि जो भाव विनष्ट हो गया, उसकी फिर उत्पत्ति का कोई कारण भी नहीं है । और कारण के अभाव में पूर्व धर्मी के नष्ट हो जाने पर अन्य धर्मी को उत्पत्ति अनुपपन्न है ।

पूर्वपक्ष—आपके मत में धर्म और धर्मी में अभेद होने से धर्म की उत्पत्ति और विनाश होने पर धर्मी की भी उत्पत्ति और विनाश की प्रसक्ति हो जायेगी; क्योंकि आपके मत में धर्मों से अतिरिक्त धर्मी नहीं होता । इसलिये यदि धर्म की निवृत्ति स्वीकार करते हैं तो अभिन्न होने के कारण धर्मी को भी निवृत्ति हो जायेगी । और धर्म की उत्पत्ति होने पर धर्मी की उत्पत्ति भी होने लगेगी । इसलिये यह जो कहा कि धर्म को उत्पत्ति और निरोध होने पर भी धर्मी का स्वरूप ज्यों का त्यों कायम रहता है—यह कथन अयुक्त है ।

उत्तर पक्ष—उक्त आपत्ति नहीं की जा सकती है । क्योंकि सेना आदि के समान व्यवस्था बन जायेगी । जैसे सेना के अङ्गों से सेना अभिन्न है। फिर भी सेना के अङ्गों का विनाश होने पर सेना का विनाश नहीं हो जाता । और जैसे तन्तुओं से पट अतिरिक्त नहीं है; क्योंकि बौद्धों के यहाँ संयोग से उत्पन्न पृथक् अवयवी का

बौद्धानां संयोगावयविप्रतिषेधात्। न पटविनाशे तन्तुविनाशः। तत्र यद्युक्तं धर्मिविनाशे धर्मविनाश इति—एतदयुक्तम्।

आह—एवमप्ययुक्तम्। तत्कस्मात्? सामान्यविशेषयोर्धर्मिस्वरूपपरिकल्पनानुपपत्तेः। इह रूपादिसामान्यं वा धर्मिस्वरूपत्वेन परिकल्प्यमानं परिकल्प्येत रूपादिविशेषो वा? किं चातः? तन्न तावद्रूपादिसामान्यधर्मिस्वरूपमिति शक्यं कल्पयितुम्। कस्मात्? असम्भवात्। यदि तावत्पृथिवी सामान्यं घटादिर्विशेषस्तेन पृथिव्यपि तन्मात्रापेक्षया विशेषः। यावत्प्रधानमिति नास्ति सामान्यम्। तदभावाद् धर्मिस्वरूपाभावः। अथ विशेषा घटादयस्तेषां विशेषान्तरेण सहाऽवस्थानाद्धर्मिस्वरूपानवस्थानात्। ततश्च यदुक्तं स्वरूपादप्रच्युतो धर्मी धर्मान्तरं विजहाति धर्मान्तरमुपादत्ते इति तद् व्याहन्यत इति।

प्रतिषेध किया गया है; फिर भी पट का विनाश होने पर तन्तु का विनाश नहीं हो जाता है। इसलिये आपने जो आपत्ति की कि धर्म का विनाश होने पर धर्मी का विनाश होने लगेगा—यह आपत्ति अयुक्त है।

पूर्वपक्ष—फिर भी उक्त कथन अयुक्त है। क्योंकि सामान्य और विशेष इन दोनों में किसी की भी धर्मी के रूप में कल्पना नहीं की जा सकती है। अर्थात् यहाँ रूपादिसामान्य की धर्मी के रूप में परिकल्पना करेंगे या रूपादिविशेष की।

प्रश्न—इससे क्या आया?

उत्तर—यह कि रूपादिसामान्य को धर्मी का स्वरूप नहीं कल्पित कर सकते। क्योंकि सामान्य का धर्मीस्वरूप होना असम्भव है। कारण, यदि पृथ्वी को सामान्य मानो और घटादि को विशेष मानो तो यह नहीं हो सकता; क्योंकि पृथ्वी भी तन्मात्रा की अपेक्षा से विशेष ही है सामान्य नहीं है। यह प्रक्रिया प्रधानपर्यन्त है। अतः सामान्य कोई वस्तु ही नहीं है। अतः इस स्थिति में सामान्य का अभाव होने से धर्मी-स्वरूप का भी अभाव हो जाता है।

यदि कहें कि विशेष को ही धर्मी का स्वरूप माना जायेगा तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि घट आदि विशेष हैं और वे किसी दूसरे विशेष के साथ अवस्थित हैं, न कि धर्मी के साथ। इस प्रकार धर्मीस्वरूप भी अवस्थित नहीं है। अतः यह जो कहा कि अपने स्वरूप से बिना च्युत हुये धर्मी दूसरे धर्म-को छोड़ता है और दूसरे धर्म को गृहीत करता है—यह कथन व्याहत है।

उच्यते—यदुक्तं रूपादिसामान्यविशेषयोर्धर्मिस्वरूपपरिकल्पनानुपपत्तिरिति, अस्तु सामान्यम्। यत्तूक्तं सामान्यं सामान्यान्तरापेक्षं विशेषत्वमिति, न, प्रत्ययनिवृत्तौ सामान्याभावावस्थितेस्ततश्च धर्मिस्वरूपसिद्धेः। यावत् पृथिवीत्ययं प्रत्ययो न निवर्तते, तावत् पृथिवी सामान्यं घटादिर्विशेषः, द्रव्यत्वं चासौ। धर्मान्तरपरिवर्तेषु तदाकारप्रत्ययोत्पत्तितः स्वरूपावस्थानसिद्धेर्धर्माः घटादयः। यदा तु पृथिवीप्रत्ययनिवृत्तिः तदा तन्मात्राणां सामान्यभावो द्रव्यत्वं च विशेषो धर्म इति यावत् प्रधानं। तस्य तु सामान्यान्तरानुपपत्तेः कौटस्थ्यमेव। यत्र सर्वविशेषाभावस्तत् प्रधानम्।

यदि तु पृथिव्यादीनां नित्यमव्यावृत्तं स्यात् सामान्यरूपम्, एवं सति

उत्तरपक्ष—यह जो कहा कि 'रूपादि सामान्य या रूपादि विशेष में धर्मिस्वरूप की कल्पना अनुपपन्न है' तो यहाँ धर्मी का स्वरूप सामान्य ही रहे। इस पर यह जो आपने कहा कि पृथिवी आदि सामान्य भी तन्मात्रस्वरूप अन्य सामान्य की अपेक्षा विशेष ही है, तो वह नहीं कह सकते; क्योंकि पृथिवी में सामान्यप्रतीति की निवृत्ति होने पर ही उसमें सामान्याभाव की अवस्थिति होगी अन्यथा नहीं, अतः सामान्य धर्मी का स्वरूप सिद्ध हो सकता है। अर्थात् जबतक 'पृथिवी' यह सामान्यप्रतीति निवृत्त नहीं हो जाती, तब तक पृथिवी सामान्य है और घट आदि विशेष है। ऐसे ही तन्मात्र की अपेक्षा द्रव्यत्व भी विशेष हो सकता है। विभिन्न धर्मों के परिवर्तनों में भी पृथिवीसामान्य की प्रतीति ज्यों की त्यों उत्पन्न होती है; इसलिये पृथिवी का स्वरूप यथापूर्व अवस्थित रहता है, यह सिद्ध है। अतः घटादि विशेष हैं और पृथिवी सामान्य है। तथा सामान्य ही धर्मी का स्वरूप है।

किन्तु जब पृथिवीप्रत्यय की निवृत्ति हो जाती है; तब तन्मात्रों में सामान्यत्व आ जाता है और पृथिवीत्व और द्रव्यत्व विशेषधर्म की कोटि में आ जाते हैं। यह स्थिति प्रधानपर्यन्त रहती है। अर्थात् अन्तिम सामान्य प्रधान होता है। प्रधान का तो कोई अन्य सामान्य नहीं होता; इसलिये प्रधान का सामान्यत्व कूटस्थ (अविचल) रहता है। जिसमें सर्वथा विशेषत्व का अभाव हो, अर्थात् जो किसी का विशेष न हो, वह प्रधान है।

यदि तो पृथिवी आदि का सामान्य स्वरूप कभी भी न छूटे तब इनमें कूटस्थता की प्रसक्ति हो सकती; किन्तु वैसा है नहीं। अर्थात् घट की अपेक्षा पृथिवी में सामान्यत्व

कौटस्थ्यमेषां प्राप्तम् । तस्मान्न धर्मिस्वरूपाभावः । शक्तेर्वा सामान्य-भावाऽभ्युपगमात् । अथवा सुखदुःखमोहशक्तय एवेह महदादिना विशेषान्तेन लिङ्गेन परिणामं प्रतिपद्यन्ते । तासां च सततं सामान्यप्रत्ययनिमित्तत्वात् स्वरूपादप्रच्युते (:) तद् द्रव्यत्वं लिङ्गस्य धर्मत्वम् ।

अप्रसिद्धेरयुक्तमिति चेन्न, उक्तत्वात् । प्रागुक्तमेतत् सुखादिपूर्वकमिदं विश्वमिति ।

आह—एवमपि वैश्वरूप्यानुपपत्तिः, कारणाविशेषात् । यदि सुखादिशक्तय एव परिणामिन्यः, यदिदं ब्रह्मादिस्थावरान्तं वैश्वरूप्यं तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? न ह्यभिन्नं कार्यमुत्पद्यत इति ।

उच्यते—शक्तिश्च परिणामिनी, भवति तेन वैश्वरूप्यम् । कथम् ?

रहता है, किन्तु तन्मात्र की अपेक्षा उसका सामान्य स्वरूप च्युत हो जाता है, और वह विशेष बन जाती है । इसलिए प्रधान ही ऐसी स्थिति है; जिसका सामान्य स्वरूप कूटस्थ रहता है । अतः धर्मिस्वरूप का अभाव नहीं है । अर्थात् सामान्य ही धर्मी का स्वरूप है और विशेष धर्म का स्वरूप है ।

अथवा शक्ति को ही सामान्यरूप स्वीकार किया गया है । अर्थात् सुख-दुःख मोहात्मक शक्तियाँ ही महत् से लेकर विशेषपर्यन्तस्वरूप में परिणाम को प्राप्त करती हैं । और वे शक्तियाँ सदैव सामान्यप्रतीति का निमित्त होने से अपने (धर्मी) स्वरूप से अप्रच्युत रहती हैं । महदादि विशेषपर्यन्त लिङ्ग सुखादि शक्तियों का धर्म है; क्योंकि वह सुखादि शक्तियों का द्रव्यभूत है । उसका द्रव्य होना ही उसका धर्म होना है । अतः उक्त विशेषान्त लिङ्ग उसका धर्म है ।

यदि कहो कि उक्त शक्तियाँ असिद्ध हैं, अतः उक्त कथन ठीक नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है । अर्थात् पहले यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि यह विश्व सुख-दुःख-मोहात्मकशक्तिपूर्वक है ।

शङ्का— फिर भी वैश्वरूप्यं नहीं बन सकता; क्योंकि विश्व का कारण एक रूप है । अर्थात् यदि कहो कि सुखादि शक्तियाँ ही परिणामिनी हैं, तो जो यह ब्रह्मादि स्थावरपर्यन्त वैश्वरूप्य देखा जाता है, वह नहीं बन सकता है । क्योंकि जैसे, सुखादि शक्तिरूप कारण अभिन्न है, वैसे कार्य अभिन्न नहीं उत्पन्न है ।

सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥

यथाऽन्तरिक्षादविशिष्टस्याम्भसः प्रच्युतिराश्रयेण(याणां)गोभुजङ्गमोष्ट्रादीनां विशेषात् क्षीरमूत्रविषादिवैश्वरूप्यं चोपपद्यते। [तथा गुणशक्तयो(ऽ)विशिष्टाः परस्पराश्रयविशेषात् ब्रह्मादिस्तम्बान्तं जात्याकृतिवाग्बुद्धिस्वभावाहारविहाररूपं प्रतिपद्यन्ते।] तस्मात् सिद्धमेतत् प्रकृतिरेव सर्वभावानां प्रसवित्री, न कश्चिद् दोष इति ॥१६॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ
युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे चतुर्थमाह्निकम् ॥

समाधान— शक्ति ही परिणामिनी है, और उससे वैश्वरूप्य की उत्पत्ति हो सकती है। क्योंकि जल के समान आश्रय की विशेषता से वैश्वरूप्य होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। अर्थात् जैसे, आकाश से सामान्य जल ही गिरता है; किन्तु गौ-सर्प-उष्ट्र आदि आश्रयों की विशेषता से कहीं क्षीर, कहीं मूत्र और कहीं विष आदि नाना स्वरूप को प्राप्त कर जाता है। [वैसे ही सत्त्वादिगुणशक्तियाँ अविशिष्ट होती हुई भी परस्पर आश्रय की विशेषता से ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त जाति-आकृति-वाणी-बुद्धि-स्वभाव-आहार-विहार-स्वरूप वैश्वरूप्य (नानारूपता) को प्राप्त कर जाती है।] अतः यह सिद्ध है कि प्रकृति ही समस्त भाववस्तुओं को उत्पन्न करने वाली है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्यकेदारनाथत्रिपाठिकृतायां सांख्यसप्तति-
युक्तिदीपिकाया हिन्दीकलाव्याख्यायां चतुर्थमाह्निकम् ॥

अथ पञ्चममाह्निकम्

आह—समधिगतं प्रधानम्। पुरुष इदानीं कार्यकारणव्यतिरिक्तोऽस्तीत्येतत्प्रतिपाद्यम्। कुतः संशय इति चेत्, अनुपलभ्यमानस्योभयथा दृष्टत्वादित्युक्तम्। किं चान्यत्। आचार्यविप्रतिपत्तेः। विज्ञानस्कन्धव्यतिरिक्तो नास्ति कश्चिदर्थ इति शाक्यपुत्रीयाः प्रतिपन्नाः। कस्मात्? सर्वप्रमाणाऽनुपलब्धेः। इह यदस्ति तत्प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनोपलभ्यते, तद्यथा रूपादि। ततश्च तावदयमात्मा न प्रत्यक्षत उपलभ्यते। कस्मात्? अशब्दादिलक्षणत्वात्। नान्तः प्रत्यक्षतः। कस्मात्? त्रिगुणादिविपरीतस्य

जिज्ञासु— प्रधान को जान लिया; अब कार्य और कारण से व्यतिरिक्त पुरुष है; इसका प्रतिपादन करना चाहिए।

प्रश्न— यह संशय क्यों हुआ?

उत्तर— नहीं उपलब्ध होने वाली वस्तु दोनों प्रकार की देखी गयी है; इसलिए संशय होता है। अर्थात् किसी वस्तु की अनुपलब्धि दो कारणों से हो सकती है। प्रथम यह कि वस्तु के होने पर भी प्रत्यक्ष न होने से, दूसरा वस्तु का ही अभाव हो तो भी उपलब्धि नहीं होती है। यहाँ पुरुष के सम्बन्ध में यह संदेह होता है कि क्या पुरुष सत् ही नहीं है; इसलिए उसकी अनुपलब्धि है? या प्रमाण नहीं मिलने से पुरुष की अनुपलब्धि है?

पुरुष की सत्ता के सम्बन्ध में संशय का अन्य भी कारण है। आचार्यों की विप्रतिपत्ति। अर्थात् पुरुष के सम्बन्ध में आचार्यों में भी भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ हैं। जैसे—विज्ञानस्कन्ध से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं होता; ऐसा बुद्ध के अनुगामी मानते हैं; क्योंकि सभी प्रमाणों से पुरुष की उपलब्धि नहीं होती है। यहाँ जो वस्तु है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाण द्वारा उपलब्ध होती है, जैसे रूप आदि सत् है और वह प्रत्यक्ष से उपलब्ध होता है। किन्तु यह आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता है; क्योंकि यह शब्दादिरूप नहीं है। शब्दादि विषय का ही ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। एवं मानस प्रत्यक्ष से भी आत्मा की उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि त्रिगुणादि से रहित होने के कारण वह आत्मा मानसप्रत्यक्ष का अविषय है।

तदविषयत्वात् । न पूर्ववच्छेषवद्भ्याम्, कार्यकारणाऽनुपपत्तेः । न च सामान्यतोदृष्टात्, धर्मसामान्याभावात् । नाप्तवचनात्, अनभ्युपगमात् । न हि बौद्धानां श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासाः प्रमाणम् ।

यश्चैषामागमः स एवमाह—

'आत्मैव ह्यात्मनो नास्ति विपरीतेन कल्प्यते ।
नैवेह सत्त्वमात्मास्ति धर्मास्त्वेते सहेतुकाः ॥
द्वादशैव तदाङ्गानि स्कन्धायतनधातवः ।
विचिन्त्य सर्वाण्येतानि पुद्गलो नोपलभ्यते ॥
शून्यमाध्यात्मिकं विद्धि शून्यं पश्य बहिर्गतम् ।
न दृश्यते सोऽपि कश्चिद्यो भावयति शून्यताम् ॥

पुनरप्याह—अस्ति कर्मास्ति विपाकः, कारकस्तु नोपलभ्यते य इमान्स्वान्धर्मानाक्षिपति । अन्यांश्च प्रतिसन्दधाति, अन्यत्र धर्मसंकेतात् । तस्मात्सर्वप्रमाणानुपलब्धेर्नास्त्यात्मेति ।

एवं पूर्ववत् और शेषवत् प्रमाण से भी पुरुष को उपलब्धि नहीं हो सकती है; क्योंकि आत्मा न कार्य हो सकता है न कारण हो सकता है । कार्य का ही पूर्ववत् अनुमान से ज्ञान होता है और कारण का हो शेषवत् अनुमान से बोध होता है । एवं सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती; क्योंकि आत्मा में सामान्य धर्म का अभाव है । एवं आप्तवचनप्रमाण से भी आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती है; क्योंकि आत्मा में आप्तवचन को प्रमाण नहीं मानते हैं । कारण, बौद्धों के यहाँ श्रुति-स्मृति-पुराण और इतिहासरूप आप्तवचन प्रमाण नहीं माना गया है ?

बौद्धों का जो आगम है; वह तो ऐसा कहता है—'आत्मैव'—आदि वचन के द्वारा । अर्थात् आत्मा का अपना स्वरूप ही नहीं है । इसलिए उसके अभाव की कल्पना करते हैं । अथवा विपरीतेन=विपर्ययेण=भ्रमेण उसकी कल्पना की जाती है आस्तिकों द्वारा । यहाँ अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व भी आत्मा में नहीं है; क्योंकि ये सहेतुक धर्म हैं । बौद्धमत में स्कन्ध-आयतन और धातु के रूप में बारह अंग होते हैं । इनका विचार करने पर इनसे अतिरिक्त आत्मा की उपलब्धि नहीं होती है । शून्य को आध्यात्मिक समझो और शून्य को ही बहिर्गत समझो । साथ ही सर्वत्र वर्तमान शून्यता की भावना करने वाला भी नहीं दिखाई देता है । और भी कहा है

उच्यते—यत्तावदुक्तं प्रत्यक्षतः पूर्ववच्छेषवद्भ्यां चात्मनो नोपलब्धि-रिति, सत्यमेतत् । यत्तूक्तं सामान्यतोदृष्टादनुपलब्धिरात्मसामान्याऽनुप-पत्तेरिति, तदयुक्तम् । कस्मात् ?

संघातपरार्थत्वात्

इह संघाताः परार्था दृष्टाः । तद्यथा शयनासनरथचरणादयः । अस्ति चायं शरीरलक्षणः संघातः तस्मादनेनाऽपि परार्थेन भवितव्यम् । योऽसौ परःसः पुरुषः । तस्मादस्ति पुरुषः ।

आह—संघातार्थत्वोपलब्धेः । शयनादयो हि सत्यपि परार्थत्वे संघा-तार्थाः । यदि च तैरतिदेशः कार्यकारणसंघातस्य क्रियते प्राप्तमस्य तद्वत्सं-घातार्थत्वम् । एवं पुरुषविपरीतार्थसिद्धिप्रसंगः । अथैतदनिष्टं, न र्तांह चक्षुरादयः परार्थाः ।

कि कर्म है और उसका फल है; किन्तु कर्ता आत्मा को उपलब्धि नहीं होती है; जो अपने वर्तमान धर्मों को हटाकर अन्यधर्मों का प्रतिसंधान करता हो । अतः सभी प्रमाणों से अनुपलब्ध होने के कारण आत्मा नहीं है । यह बात सिद्ध हुई ।

सिद्धान्ती— जो यह कहा कि प्रत्यक्ष के द्वारा और पूर्ववत् शेषवत् अनुमानों के द्वारा आत्मा की उपलब्धि नहीं होती है । यह कथन ठीक है; किन्तु यह जो कहा कि 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है; क्योंकि आत्म-सामान्य अनुपपन्न है और सामान्यतोदृष्ट अनुमान में सामान्यज्ञान के आधार पर विशेष का अनुमान किया जाता है—यह ठीक नहो है; क्योंकि कोई भी संघात परार्थ होता है । जैसे, शयन आसन रथचरण आदि । यह शरीरेन्द्रिय संघात है और यह भी दूसरे के लिये होगा और दूसरा आत्मा हो है । अतः पुरुष की सत्ता है ।

शङ्का— एक संघात किसी दूसरे संघात के लिये देखा जाता है । जैसे, शयन आसन आदि परार्थ होने पर भी सघात के लिये ही होता है । यदि शयनादि के द्वारा कार्यकारण संघात (शरीर) का निर्देश किया जाता है, तो इस शरीर का भी किसी संघात के लिये ही होना प्राप्त होता है । इस प्रकार तो पुरुषस्वरूप के विपरीत अर्थ की सिद्धि होने लगेगी । अर्थात् असंहत पुरुष नहीं सिद्ध हो सकेगा । यदि ऐसा इष्ट नहीं है तो फिर चक्षुरादि भी परार्थ नहीं होंगे ।

समाधान—उपर्युक्त आपादन नहीं किया जा सकता है; क्योंकि पुरुष का असंहतत्व सिद्ध हो चुकने पर इस विचार की प्रवृत्ति होती है । अर्थात् पुरुष तो पहले से

उच्यते—न शक्यमेतदापादयितुम् । कस्मात् ? असंहतत्वसिद्धौ वादप्रवृत्तेः । सिद्धे सत्यसंहतत्वे पुरुषस्यायं वादः प्रवृत्तः । तस्मान्न पारार्थ्यमनेन बाध्यते ।

कथमवगम्यत इति चेत्, प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेः । सति हि संघातत्वे देवदत्तादिवदयं पुरुषः प्रत्यक्षत एवोपलभ्येत । तथा च सति संशयाभावात् प्रवृत्तिरेवास्य वादस्य न स्यात् । तस्मादयुक्तं संहतार्थाः शयनादिवच्चक्षुरादयः ।

आह—परस्परोपकारित्वात् पारार्थ्यसिद्धिः । इह क्षेत्रोदकसूर्योदयादयः सस्यादीनामुपकारकाः । तथा कार्यकारणत्वात् संघातश्च यथोक्तम् । तस्मादयुक्तमेतेषां पारतन्त्र्यमिति ।

उच्यते—न, शयनादिवत् ततोऽन्येनार्थवत्त्वात् । तद्यथा शयनाद्यङ्गानां सति परस्परोपकारित्वे ततोऽन्येनार्थवत्त्वात् तदभावे चार्थानर्थ-

---

ही असंहत सिद्ध है, अनन्तर यह परार्थत्व का विचार प्रवृत्त है । अतः इस शयन आसन आदि के अतिदेश से शरीर के परार्थ होने में कोई बाधा नहीं है । अर्थात् 'संघात परार्थत्वात्' इस अनुमान का प्रयोजन परार्थत्वमात्र की सिद्धि करना है । वह वस्तु कहीं संघातरूप हो सकती है और कहीं असंघातरूप हो सकती है, जैसे पुरुष ।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि पुरुष असंहत है ?

उत्तर—यदि पुरुष संघातरूप होता तो यह प्रत्यक्ष से ही उपलब्ध हो जाता । ऐसी स्थिति में संशय नहीं होने से इस विचार की प्रवृत्ति ही नहीं होती । इसलिये यह ठीक नहीं है कि शयनासन के समान चक्षुरादि समूह भी किसी संहत के लिये होगा ।

शङ्का—चक्षुरादि में परस्पर का उपकारी होने के कारण परार्थत्व की सिद्धि हो जायेगी । अतः परार्थ के रूप में पुरुष की सिद्धि नहीं हो सकती है । यहाँ देखा गया है कि क्षेत्र-उदक और सूर्य आदि फसल के उपकारी होते हैं । वैसे ही कार्य-कारण का संघात भी उपकारी होगा, जैसा कि कहा गया है । अतः इन शरीरेन्द्रियादिकों को परतन्त्र बताना अर्थात् पुरुष के अधीन कहना अयुक्त है ।

उत्तर—उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि शयनादिक की तरह उनसे भिन्न किसी अन्य के द्वारा ही शरीरेन्द्रियादि की सार्थकता है । अर्थात् जैसे—शयनादि अंग परस्पर

क्यम् । एवं चक्षुरादीनां सति परस्परोपकारित्वे ततोऽन्येनार्थवत्त्वं भवितु-महंति । तदभावे चार्थानर्थक्यमिति ।

आह—शयनादीनां देवदत्तार्थत्वात्तस्य च भेदाऽबहिर्भावात्परस्परार्थत्वप्रसंगः । एवं शयनादयो देवदत्तार्थाः, कार्यकारणसंघातश्च देवदत्त-शब्दवाच्यस्तत्र भेदानामेव भेदार्थत्वात्पुरुषार्थसिद्धिः । दृष्टान्ताऽभावो वा । अथ मतम्—शयनादयो न देवदत्तार्थाः, किं तर्हि ? क्षेत्रज्ञार्थाः । तथा सति साध्यसमो दृष्टान्त इति ।

उच्यते—न, प्रसिद्ध्यनुरोधात् । सत्यं कार्यकारणसंघातस्य पारार्थ्यम्, भोक्तृत्वं नोपपद्यते । लोके तु देवदत्तार्थत्वं शयनादीनां प्रसिद्धम् । अतस्तदनुगच्छन्तो वयमप्येवं ब्रूमः । कस्मात् ? प्रसिद्धेः । प्रसिद्धेन ह्यप्रसिद्धं तद्धर्मतामापद्यते । पश्चात्तु द्वयोरप्येकधर्मानुगमाद्धर्मान्तरेणाऽपि

का उपकारी होने पर भी इनसे अतिरिक्त देवदत्त आदि के द्वारा इनकी सार्थकता है । और देवदत्तादि के अभाव में ये निरर्थक हैं । ऐसे ही चक्षुरादि के परस्पर उपकारी होने पर भी इनसे भिन्न पुरुष के द्वारा इनकी सार्थकता होना उचित है और पुरुष के अभाव में ये इन्द्रियाँ निरर्थक हैं ।

पूर्वपक्ष—शयन-आसन आदि देवदत्त के लिये हैं, वह देवदत्त व्यक्तभेद के अन्तर्गत ही है । इसलिये ये परस्पर के लिये ही होंगे । एवं, शयन आदि देवदत्त के लिये हैं, और यह कार्यकारण संघातात्मक देह ही देवदत्तशब्द का वाच्यार्थ है । अतः व्यक्त-विशेष के व्यक्त-विशेष के लिये ही होने से पुरुषार्थ (प्रयोजन) की सिद्धि हो जाती है ।

अथवा दृष्टान्त का अभाव है । अर्थात् यदि यह माना जाय कि शयन (शय्या) आदि कार्यकारणसंघातात्मक देवदत्त के लिये नहीं हैं; किन्तु क्षेत्रज्ञ पुरुष के लिये हैं, तो क्षेत्रज्ञसाधन में यहाँ का दृष्टान्त साध्यसम होने से स्वयं ही असिद्ध हो जायेगा ।

उत्तरपक्ष—उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि प्रसिद्धि के अनुसार से हम संघात को परार्थ मानते हैं । अर्थात् यह सत्य है कि कार्यकारणसंघात परार्थ होता है; किन्तु उसमें भोक्तृत्व नहीं हो सकता है; क्योंकि भोक्ता तो पुरुष ही होता है । लोक में तो शयन आदि देवदत्त के लिये है; यह बात प्रसिद्ध है । इसीलिये उसका अनुगमन करते हुये हम भी ऐसा कहते हैं ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर-वैसी ही प्रसिद्धि होने से । क्योंकि लोक में प्रसिद्ध के अनुसार अप्रसिद्ध

तद्वत्ताऽनुमीयते । तथा च क्षणभङ्गाधिकारे भवद्भिरप्युक्तम् 'यस्य हि प्रतिक्षणमन्यथात्वं नास्ति, तस्य बाह्यप्रत्ययो भेदः, पश्चाद्विशेषग्रहणे नास्ति । तद्यथा भूमेरपच्यमानत्याः पाकजानाम् ।' न च भूमेः प्रतिक्षण-मन्यथात्वं नास्ति, अक्षणिकत्वप्रसङ्गात् । सौक्ष्म्याद् दुरधिगमो भेद इति दृष्टान्तः प्रत्युक्तः । तस्मात्सिद्धं संघातपरार्थत्वादस्ति इति पुरुषः ।

इतश्च—

त्रिगुणादिविपर्ययात्

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि च बाह्याध्यात्मिकं तथा प्रधानम् । तत्र यद्येतावदेतत् स्यात् किमपेक्ष्य व्यक्ताव्यक्तयोस्त्रैगुण्यादीति ?

किञ्चान्यत्—

अधिष्ठानात् ।

वस्तु भी पक्ष का धर्म बन जाती है। पहले दोनों ही के एक धर्मी में महानसादि में अनुगत होने के कारण पीछे दूसरे(पर्वतस्थ)धूम से भी वह्निमत्ता का अनुमान हो जाता है। क्षणभङ्गाधिकार में आपने भी कहा है कि—जिसके मत में प्रतिक्षण वस्तु में अन्यथात्व नहीं होता है, उसके मत में बाह्य प्रतीयमान भेद (विशेष) पीछे अन्य विशेषग्रहण के अवसर पर नहीं है। जैसे, भूमि स्वयम् अपच्यमान रहती है; किन्तु पाकज रूप आदि पक कर अन्यथा हो जाते हैं; फिर भी भूमि में प्रतिक्षण अन्यथात्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि तब पृथिवी में अक्षणिकत्व की प्रसक्ति हो जायेगी। वहाँ सूक्ष्मता के कारण भेद का अवगम अशक्य है। इसलिये असंहत पुरुष के साधन में देवदत्तदृष्टान्त का खण्डन कर दिया गया है। अतः सिद्ध हो गया कि संघात के परार्थ होने से पुरुष की सत्ता है।

इससे भी सिद्ध है कि 'पुरुष' है—जैसे, त्रिगुणादि का विपर्यय होने से भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। अर्थात् बाह्य और आध्यात्मिक व्यक्तजगत् तथा प्रधान (अव्यक्त), ये सभी त्रिगुणात्मक हैं, अविवेकी हैं, विषय हैं, सामान्यरूप हैं, अचेतन हैं तथा प्रसवधर्मी हैं। यदि यहाँ इतना ही संसार होता और इनके अलावे पुरुषतत्त्व नहीं होता तो किस की अपेक्षा से व्यक्त और अव्यक्त में उपर्युक्त त्रैगुण्य आदि होते ? अतः सिद्ध होता है कि व्यक्त-अव्यक्त से पृथक् पुरुषतत्त्व है, जो अत्रिगुणात्मक आदि है और उसकी अपेक्षा से व्यक्त-अव्यक्त में त्रिगुणात्मकत्व आदि हैं।

और भी प्रमाण है। जैसे अधिष्ठान से भी पुरुष का अस्तित्व सिद्ध है। अर्थात् यहाँ यदि प्रधान को प्रवृत्ति अकस्मात् (बिना प्रवर्तक के) होती तो प्रयोजन के अनुसार

इहाकस्मिकत्वयां प्रधानप्रवृत्तार्थवशः सन्निवेशविशेषनियमो न स्यात् । श्रोत्रादिपृथिव्यादीनां देवमानुषतिर्यक्षु हितयोगार्थश्चाहितप्रतिषेधार्थश्च सः । तस्मादस्ति तद्व्यतिरिक्तो यदधिष्ठितानां गुणानामयं चित्ररूपो विपरिणामः ।

कर्तृत्वप्रसङ्गादधिष्ठानानुपपत्तिरिति चेत्, स्यान्मतम्—यदि गुणानां पुरुषाधिष्ठितानां प्रवृत्तिरभ्युपगम्यते, कर्तृत्वमस्य प्राप्तम् । अथाऽकर्ता न तर्ह्यस्याधिष्ठातृत्वमिति ।

एतच्चायुक्तम्—कस्मात् ? अर्थे तदुपचारात् । यथा पुरुषार्थः सिध्यति तथा गुणाः कार्यकारणभावेन व्यूह्यन्त इत्यतस्तत्पारतन्त्र्यादेषामधिष्ठितत्वमुपपद्यते, पुरुषस्य चाधिष्ठातृत्वम् । अतो नास्य कर्तृत्वप्रसङ्गः । तस्माद् युक्तमेतत्—अधिष्ठानात् पुरुषः ।

किञ्चान्यत्—

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् ।

सन्निवेशविशेष (संघातविशेष) का नियम नहीं देखा जाता । किन्तु देखा जाता है कि देव मनुष्य और तिर्यग् योनियों में श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा पृथिवी आदि भूतों का संन्निवेशविशेष उनके हित के योग के लिये और अहित के परिहार के लिये होता है । अतः भूत इन्द्रियादि से व्यतिरिक्त पुरुषतत्त्व है; जिससे अधिष्ठित हुये सत्त्वादि गुणों का यह विचित्र विपरिणाम संसार में देखा जाता है ।

शङ्का—पुरुष में कर्तृत्व का प्रसङ्ग होने लगेगा; इसलिये उसके द्वारा प्रकृति का अधिष्ठान अनुपपन्न है । अर्थात् यदि पुरुष से अधिष्ठित हुये गुणों की प्रवृत्ति मानते हैं तो पुरुष में कर्तृत्व का प्रसङ्ग होने लगेगा । और यदि पुरुष को अकर्ता मानें तो उसमें अधिष्ठातृत्व नहीं बन सकता है ।

समाधान—यह आशङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि पुरुषार्थनिमित्तक प्रवृत्ति होने से पुरुष में अधिष्ठातृत्व का उपचार है । अर्थात् जैसे पुरुषार्थ की सिद्धि हो सके, उस प्रकार गुण कार्यकारणभाव के रूप में परस्पर मिल जाते हैं । अतः गुणों की प्रवृत्ति पुरुषार्थाधीन होने के कारण इनका अधिष्ठित होना उपपन्न है और पुरुष का अधिष्ठातृत्व उपपन्न है । अतः औपचारिक अधिष्ठातृत्व होने से पुरुष में कर्तृत्व की प्रसक्ति नहीं होगी । इसलिये यह कथन युक्त है कि अचेतन प्रकृति का अधिष्ठाता होने के कारण पुरुष की सत्ता है ।

और भी, अर्थात् भोक्ता होने के कारण पुरुष है । यहाँ सुख-दुःख मोहात्मक

इह सुखदुःखमोहात्मकत्वादचेतनं व्यक्तमव्यक्तञ्च, तस्मादस्य परस्परेण भोगो नोपपद्यते, इत्यवश्यं भोक्त्रा भवितव्यम् । योऽसौ भोक्ता स पुरुषः ।

आह—कः पुनरयं भोगो नाम ?

उच्यते—भोग उपलब्धिसद्भावात् ।

विज्ञानमेव हि विषयोपलब्धिसमर्थमित्यतस्तावन्मात्रमेवास्तु, किं पुरुषेण परिकल्पितेनेति ?

उच्यते—किं पुनरिदं विज्ञानं नामेति ?

आह—चित्तं मनो विज्ञानमिति । तच्च षड्विधं ज्ञानम्—चक्षुर्विज्ञानं, श्रोत्रविज्ञानं, घ्राणविज्ञानं, जिह्वाविज्ञानं, कायविज्ञानं, मनोविज्ञानमिति । तत्र रूपं प्रतीत्य चक्षुश्चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम् । एवं श्रोत्रशब्द-घ्राणगन्ध-जिह्वारस-मनोधर्माश्चित्तमुत्पादयन्ति । तस्य धर्मा वेदना-संज्ञा-चेतना-स्पर्शो-मनःसंस्कार एवमादयः । तस्माद् विज्ञानस्कन्धस्यैवोपभोगसामर्थ्यान्नास्त्यात्मेति ।

होने के कारण व्यक्त और अव्यक्त जगत् अचेतन है। अतः इस जगत् का भोग परस्पर द्वारा नहीं हो सकता है। इसलिये इसका कोई भोक्ता आवश्य होना चाहिये। जो वह भोक्ता है, वह पुरुष हैं।

प्रश्न—यह भोग क्या वस्तु है ?

उत्तर—उपलब्धि के होने से भोग है। अर्थात् विषय को उपलब्धि ही भोग है।

पूर्वपक्ष—विज्ञान ही विषय को उपलब्धिरूप भोग में समर्थ है। इसलिये भोग के लिये विज्ञान ही रहे; पुरुष की परिकल्पना क्यों की जाय ?

सिद्धान्ती—यह तुम्हारा विज्ञान वस्तु क्या है ?

पूर्वपक्षी—चित्त और मन ही विज्ञान है। वह विज्ञान छै प्रकार का होता है—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान और मनोविज्ञान। इनमें रूप और चक्षु के कारण चक्षुर्विज्ञान होता है। ऐसे ही श्रोत्र और शब्द घ्राण और गन्ध,जिह्वा और रस,मन और उसके धर्म चित्त को उत्पन्न करते हैं। उस चित्त के धर्म हैं—वेदना, संज्ञा, चेतना; स्पर्श, मन और संस्कार आदि। इसलिय विज्ञान-स्कन्ध में ही भोगसामर्थ्य होने से आत्मानामक कोई वस्तु नहीं है।

उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि अचेतन के विकार में चेतना नहीं बन

उच्यते—न, अचेतनविकारस्य चेतनानुपपत्तेः। यत्तु खल्विदमिष्यते, रूपं प्रतीत्य चक्षुश्चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानमित्यादि, तेनाचेतनविकारत्वात्तदचेतनं घटादिवदित्यापन्नम्। तस्मान्मनोधर्मश्चेतनेति मनोरथमात्रमेतत्।

विलक्षणकार्योत्पत्तिदर्शनात् तत्सिद्धिरिति चेत्, स्यान्मतम्—नायं नियमः, यदुत यज्जातीयं कारणं तज्जातीयकेन कार्येण भवितव्यम्। किं तर्हि? विलक्षणकार्योत्पत्तिरपि भावानामुपलभ्यते। तद्यथा, शृङ्गाच्छरो जायते, गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा। वत्सरान्मुक[1] ··· यश्चन्द्रकान्तेन्दुसंयोगात् सलिलम्। सूर्यकान्तगोमयार्कसम्पर्कात् सुधोदकसम्पर्कादरणिनिर्मथनाच्चाग्निः। एवमचेतनेभ्यो रूपादिभ्यश्चेतनमुत्पद्यत इति।

एतच्चायुक्तम्, चेतनाचेतनोत्पत्तिनियमवत् तन्नियमात्। यथा सत्येतस्मिन् विलक्षणकार्यप्रादुर्भावे भवतश्चेतनाच्चित्तान्नचेतनं घटाद्युत्पद्यत

सकती है। जो तो यह चाहते हैं कि रूप और चक्षुः के कारण चक्षुर्विज्ञान पैदा होता है, तो वह चक्षुर्विज्ञान अचेतन का विकार होने से घटादि की तरह अचेतन होगा। अतः चेतना मन का धर्म है; यह केवल मनोरथमात्र है।

पूर्वपक्ष—कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है; इसलिये अचेतन विकार में भी चेतना की सिद्धि हो सकती है। अर्थात् यह नियम नहीं है कि जिस जाति का कारण होगा, उसी जाति का कार्य होगा। किन्तु भावों से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति भी देखी जाती है। जैसे श्रृङ्ग से शर उत्पन्न होता है, गौ और भेड़ के लोमों से दूब उत्पन्न होती है। चन्द्रकान्त मणि एवं चन्द्रमा के संयोग से जल उत्पन्न हो जाता है। सूर्यकान्त मणि-गोमय (सूखी गोहरी) और सूर्य के सम्पर्क से, सुधा (चूना) और जल के सम्पर्क से तथा काठ के घर्षण से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। इसी तरह अचेतन रूप और चक्षु आदि कारणों से चेतन चक्षुर्विज्ञान आदि कार्य उत्पन्न होगा।

उत्तर-यह पूर्वपक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि चेतन से अचेतन की उत्पत्ति का जैसा नियम है, वैसा ही अचेतन से चेतन की उत्पत्ति का भी नियम होगा। अर्थात् जैसे, इस विलक्षण कार्य की उत्पत्ति देखे जाने पर आप के यहाँ चेतन चित्त से चेतन घटादि नहीं उत्पन्न होता है, वैसे ही इस विलक्षण कार्योत्पत्ति के देखे जाने पर भी

---

१. प्रस्तरान्मूर्तय इति पाठोऽपि संभाव्यते।

इति नियमः, तथा सत्येतस्मिन् विलक्षणकार्यप्रादुर्भावे नाचेतनेभ्यो रूपादिभ्यश्चेतनं चित्तमुत्पद्यत इत्ययं नियमो नः । तस्मादेषां दृष्टानां सति बहुत्वे मायाकारनगरविन्यासवदयथार्थज्ञानविषयत्वादसाधीयस्त्वम् ।

प्रदीपवत् तद्व्यवस्थेति चेत्, स्यादेतत्—यथाऽचेतनेभ्यः सत्त्वादिभ्योऽव्यवसायकं घटाद्युत्पद्यत इति नेदानीं व्यवसायको महान्नोत्पद्यते । एवं रूपादिभ्योऽचेतनं घटाद्युत्पद्यत इति नेदानीं चेतनं चित्तं नोत्पद्यत इति ।

एतदप्यनुपपन्नम् । कस्मात् ? शक्तिभेदात् । प्रकाशस्वाभाव्याद्

अचेतन रूपादि से चेतन चित्त की उत्पत्ति का नियम हमारे यहाँ नहीं है। इसलिये इन विलक्षण कार्यों की बहुत मात्रा में उत्पत्ति के देखे जाने पर भी आकाश में बने गन्धर्वनगर के समान अयथार्थ ज्ञान का विषय होने से अचेतन रूपादि से चेतन चित्त की उत्पत्ति का होना असमीचीन है।

पूर्वपक्ष—प्रदीप के समान व्यवस्था होगी। अर्थात् ऐसा होगा कि जैसे, अचेतन सत्त्व आदि से अव्यवसायात्मक घटादि की उत्पत्ति होती है; इससे ऐसा नहीं होता कि उस सत्त्व से व्यवसायात्मक महान् उत्पन्न न होता हो। इसी प्रकार रूप आदि से अचेतन घटादि को उत्पत्ति होती है, इससे यह नहीं होगा कि उस रूपादि से चेतन चित्त उत्पन्न न हो सकेगा।

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि सत्त्वादि स्थल में शक्तिभेद से कार्यभेद होता है। अर्थात् प्रकाशस्वभाव वाला होने से सत्त्वगुण व्यवसायात्मक होता है। इसलिये यह युक्त है कि व्यवसायप्रधान होने के कारण उस सत्त्व से व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) महान् उत्पन्न होता है। एवं तमः प्रधान होने के कारण घटादि विषय तो अव्यवसायात्मक होते हैं। किन्तु आपके रूपादि में ऐसा कोई शक्तिभेद नहीं होता है; जिससे अचेतन रूपादि से चेतन चक्षुर्विज्ञान आदि की उत्पत्ति हो सके और वह आत्मा का स्थान ग्रहण कर सके। अतः सत्त्व का दृष्टान्त देना विषम दृष्टान्त है।

विश्लेषण—यहाँ मूल में प्रदीप का दृष्टान्त दिया गया है, किन्तु उपपादन नहीं किया गया। बल्कि उसके स्थान में सत्त्व गुण को दृष्टान्त बनाकर उपपादन किया गया है। अतः ग्रन्थकार को यहाँ न्यूनता प्रतीत होती है। उसके निवारणार्थ यों उपपादन हो सकता है—जिन तत्त्वों से प्रदीप का निर्माण होता है, उन्हीं तत्त्वों से

व्यवसायात्मकं सत्त्वम् । तदयुक्तम्, यदि तत्प्राधान्याद् व्यवसायात्मको महानुत्पद्यते । तमःप्राधान्यादव्यवसायका घटादयः । भवतस्त्वेकाकारा रूपादयः । तस्मादयमसमः समाधिरिति ।

आह—किं व्यवसायचैतन्ययोः कश्चिद् रूपभेदोऽस्ति न वेति ?

उच्यते—किं तर्हि त्रैगुण्यात्, सति प्रत्ययरूपत्वे संवेद्या बुद्धिर्यथा तु व्यवसायरूपं तथा चैतन्यरूपमिति । तथा च वार्षगणाः पठन्ति—'बुद्धिवृत्त्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्तमानामनुयाति पुरुष इति । आह च—

अर्थाकार इवाभाति यथा बुद्धिस्तथा पुमान् ।
आभासमानो बुद्ध्याऽतो बोद्धा मणिवदुच्यते ॥

यथा यथा मनोवृत्तिः पुरुषोऽपि तथा तथा ।
बुद्धिरूपमवाप्नोति चैतनत्वात् पराश्रयम् ॥

काजल धूँआ आदि विलक्षण कार्य की भी उत्पत्ति देखी जाती है । अतः अचेतन रूपादि से चेतन चित्त की (चक्षुर्विज्ञान की) उत्पत्ति होने में कोई बाधा नहीं है ।

प्रश्न— क्या व्यवसाय और चैतन्य के स्वरूप में कोई भेद है ? या नहीं ?

उत्तर— तब बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने से क्या हुआ ? अर्थात् बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने से तथा पुरुष के अत्रिगुणात्मक होने से यदि व्यवसाय (बुद्धि) और चैतन्य में रूपभेद मानों तो उससे कोई अन्तर पड़ने वाला नही है। क्योंकि प्रत्यय-रूपता (चैतन्याकारता) होने पर बुद्धि संवेद्य होती है। ऐसो स्थिति में तो जैसा व्यवसाय का स्वरूप है, वैसा चैतन्य का भी स्वरूप हुआ । वैसा ही वार्षगण ने कहा भी है—'बुद्धिवृत्त्याविष्टो हि' इत्यादि । अर्थात् बुद्धि की वृत्ति से आविष्ट हुआ पुरुष चित्-प्रतिबिम्ब के कारण चैतन्यरूप में अनुवर्तमान बुद्धि का अनुगमन करता है । तात्पर्य यह है कि पुरुष बुद्धिवृत्ति का आकार धारण कर लेता है, और बुद्धि चैतन्याकार बन जाती है । ऐसी स्थिति में तुम्हारा दोनों में स्वरूपभेदविषयक विकल्प नहीं बन सकता है । कहा भी गया है—'अर्थाकार इवाभाति' इत्यादि ।

अर्थात् जैसी बुद्धि वैसा पुरुष भी अर्थाकार के समान भासित होता है । बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर भासमान पुरुष मणि के समान विषय का बोद्धा होता है । अतः जैसे-जैसे मन की वृत्ति विषयाकार बनती है, वैसे-वैसे पुरुष भी विषयाकारवत् हो जाता है और पराश्रित सा होकर चैतन्य बुद्धिरूप बन जाता है ।

आह—रूपाभेदात् पुरुषान्तःकरणयोरन्यतरपरिकल्पनाऽनर्थक्यम्। यदि तर्हि यथा व्यवसायरूपं तथा चैतन्यरूपम्, एवं सति व्यवसायमात्रं परिकल्पनीयं चैतन्यमात्रं वा? न ह्येकान्तकारिणोर्युगपत् कल्पने सामर्थ्यमस्ति रूपान्तराभिधानं वा। अथ व्यवसायचैतन्ययोः पदार्थान्तरमेवेति नित्यतो विशेष्यते, तर्हि, वक्तव्यमिदममुष्यैवं रूपं नामुष्येति।

उच्यते—य एवमाह—रूपाभेदादर्थाभेद इति, स तावदिदं प्रष्टव्यः—अथ किम्? भवतः किं विज्ञानविषययोराकारभेदोऽस्ति उत नास्तीति? नेत्याह। कस्मात्? आकारान्तरे सति विषयपरिच्छेदानुपपत्तेः। न हि विषयस्य विज्ञानप्रत्यवभासमन्तरेण शक्यं स्वरूपं परिच्छेतुम्। तत्र यदन्याकारो गौरन्याकारं गोविज्ञानं स्यात् तेन यथाऽन्याकारेणाश्वविज्ञानेनान्याकारस्य गोरपरिच्छेदः, एवमन्याकारेण गोविज्ञानेनान्याकारस्य गोरपरिच्छेदः स्यात्। तस्मान्नास्ति विषयविज्ञानयोराकारभेद इति।

आशङ्का—स्वरूप का अभेद होने से पुरुष और अन्तः करण में किसी एक की कल्पना निरर्थक है। अर्थात् यदि जैसा व्यवसाय का रूप है, वैसा ही चैतन्य का रूप है, तो ऐसी स्थिति में व्यवसायमात्र की कल्पना करनी चाहिये अथवा चैतन्य मात्र की। क्योंकि अव्यभिचरितरूप से कार्य को करने वाले दो वस्तुओं की एक साथ कल्पना करने में कोई प्रयोजन नहीं है।

यदि तो उनकी कल्पना की जाती है; तो उनके भिन्न रूप का अभिधान करना होगा। अर्थात् व्यवसाय और चैतन्य भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, इसलिये उनको अपनी-अपनी नित्य विशेषता है, तो कहना चाहिये कि अमुक का यह रूप है और अमुक का नहीं है।

समाधान—जो यह कहते हैं कि 'रूप के अभिन्न होने से वस्तु में भी अभेद होगा' उनसे यह पूछना है कि इससे क्या आया? क्या आपके मत में विज्ञान और विषय के आकार भेद (रूपभेद) है? या नहीं है?

पूर्वपक्षी—आकार भेद नहीं है। क्योंकि दोनों में यदि आकारभेद हो तो विज्ञान द्वारा विषय का परिच्छेद (निश्चय) नहीं हो सकेगा। कारण, विज्ञान का भान हुए बिना विषय के स्वरूप का बोध नहीं हो सकता है। क्योंकि यदि गौ का आकार अन्य हो और गोविज्ञान का आकार अन्य हो तो, जैसे अन्य आकार वाले अश्वविज्ञान से अन्य आकार वाले गौ का परिच्छेद (निश्चय) नहीं होता है, वैसे ही अन्य आकार

उच्यते—तयोरिदानीं विषयविज्ञानयोः किमुभयत्वमुताभेद इति ।

आह—(उभयत्वम्) कस्मात् ? ज्ञाप्यज्ञापकभावादिति ।

उच्यते—ज्ञानविज्ञेययोर्यद्वद् रूपाभेदेऽपि भिन्नता ।

ग्राह्यग्राहकभावेन तथैवात्मप्रकाशयोः ॥

यथैव तर्हि भवतः सत्यप्याकाराभेदे ज्ञानविज्ञेयोर्ग्राह्यग्राहकभाव-परिकल्पनाद् भेदः, एवं पुरुषान्तःकरणयोरपीति ।

ग्राह्यग्राहकभावसिद्धेरयुक्तमिति चेत्, स्यादेतत्—यथा गोतद्विज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकभावो निश्चितो नैवं पुरुषान्तःकरणयोः । तस्माद् वैषम्यमिति ।

एतदनुपपन्नम्—कस्मात् ? मार्गान्तरगमनात् । प्रागुक्तं, येषामाकारभेदो नास्ति तेषामेकत्वम् । इदानीं तु रूपाभेदेऽपि ग्राह्यग्राहकभावादेवं ब्रुवतो मार्गान्तरम् ।

वाले गोविज्ञान से अन्य आकार वाले गौ का भी परिच्छेद नहीं होना चाहिये । किन्तु गोविज्ञान से गोविषय का निश्चय होता है । इसलिये विज्ञान और विषय में आकार भेद नहीं है।

सिद्धान्ती—यदि विज्ञान और विषय में आकारभेद नहीं है तो क्या विषय और विज्ञान दो वस्तु हैं या अभिन्न हैं ?

पूर्वपक्षी—विज्ञान और विषय दोनों दो वस्तु हैं । क्योंकि इनमें ज्ञाप्यज्ञापक-भाव है। अर्थात् विषय ज्ञाप्य है और विज्ञान ज्ञापक है। इसलिये ये दोनों दो वस्तु हैं ।

सिद्धान्ती—जैसे विज्ञान और विषय में रूप (आकार) का अभेद होने पर भी भिन्नता है, वैसे ही आत्मा और प्रकाश (विज्ञान) में भी ग्राह्यग्राहक भाव के कारण भिन्नता है । अर्थात् जैसे ही आपके यहाँ आकार में अभेद होने पर भी ज्ञान और ज्ञेय में ग्राह्यग्राहक भाव की कल्पना से भेद है, वैसे ही पुरुष और अन्तःकरण (विज्ञान) में भी भेद होगा ।

पूर्वपक्षी—पुरुष और अन्तःकरण में ग्राह्यग्राहकभाव के असिद्ध होने से उसमें भेद सिद्ध करना अयुक्त है । अर्थात् जैसे गौ और उसके विज्ञान में ग्राह्यग्राहक-भाव निश्चित है, वैसे पुरुष और अन्तःकरण में निश्चित नहीं है । अतः यहाँ गौ के दृष्टान्त से वैषम्य है ।

ज्ञानमात्राभ्युपगमादशक्योयमिति चेत्, स्यान्मतम्—ज्ञानमेवान्तराऽसद्विषयभूतानुरञ्जितं विषयविषयिरूपेण प्रत्यवभासते, न तु किञ्चिद् बाह्यं किञ्चिद् ग्राह्यरूपापन्नमस्ति । तस्माज्ज्ञानविज्ञेययोर्ग्राह्यग्राहकभेदाद् भेद इत्यशक्योयमेतदिति चेत्,

तदप्ययुक्तम् । सिद्धान्तभेदात् । येषां बाह्यो विषयोऽस्ति; तत्पक्षेऽयं दोषः । इतरेषां तु ज्ञानमात्रस्य विषयविषयिभावं प्रतिषेत्स्याम इति ।

आह—एवमपि विषयानवस्थाप्रसङ्गः । विषयिणो विषयत्वप्रतिज्ञानात् । यदि विषयिणोऽप्यध्यवसायस्य विषयभावः प्रतिज्ञायते, तेन पुरुषस्यापि विषयिणोऽन्यो विषयीति प्राप्तम् । तस्याप्यन्य इत्यनवस्था ।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ मार्गान्तर में गमन कर रहे हो । तुम्हीं ने पहले कहा था कि जिनमें आकार भेद नहीं है; उनमें एकत्व (अभेद) होता है । और अभी तो यह कह रहे हो कि रूप (आकार) का अभेद होने पर भी ग्राह्यग्राहकभाव के कारण गौ और उसके विज्ञान में भेद होगा । अतः ऐसा कहते हुये तुम मार्गान्तर में जा रहे हो ।

पूर्वपक्षी—शाक्यमत में ज्ञानमात्र स्वीकृत होने से ग्राह्यग्राहक का वास्तविक भेद अशक्यीय है । अर्थात् ज्ञान ही अपने अन्तर्गत असद् (अवास्तविक) विषय से अनुरञ्जित होकर विषय के आकार में और विषयी आकार में भासित होता है । अतः न तो कोई ज्ञानातिरिक्त बाह्य वस्तु होती है और न वह ग्राह्यरूप को प्राप्त होती है । इसलिये ज्ञान और विज्ञेय में ग्राह्यग्राहकभेद से भेद है, यह कथन अशाक्यीय (बौद्धमतविरुद्ध) है ।

सिद्धान्ती—पूर्वपक्षी का उक्त कथन भी अयुक्त है । क्योंकि सिद्धान्तभेद है । अर्थात् जिनके सिद्धान्त में बाह्य विषय की सत्ता है; उनके पक्ष में अशाक्यीयत्व होगा । किन्तु जिनके मत में बाह्य विषय असद्भूत है; उनके मतानुसार ज्ञान ही विषय है और ज्ञान ही विषयी है—इसका हम प्रतिषेध करेंगे । अर्थात् ज्ञानमात्र के विषय-विषयी होने में हम आगे दोष दिखायेंगे ।

पूर्वपक्षी—यदि पुरुष और अन्तःकरण में ग्राह्यग्राहकभाव मान भी लिया जाय तो भी विषय की अनवस्था का प्रसङ्ग हो जायेगा; क्योंकि विषयी में विषयत्व माना गया है । अर्थात् यदि विषयीभूत अध्यवसाय को पुरुष की अपेक्षा विषय माना जाता है; तो उसके अनुसार पुरुषरूप विषयी में भी विषयत्व हो जायेगा तथा पुरुषरूप

अथ मा भूदयं दोष इति पुरुषो निश्चयरूपत्वान्न विषयो, न तर्ह्यध्यवसायादपि निश्चेतुरर्थान्तरं कल्पयितव्यम् इति ।

उच्यते—चेतनत्वात् पुरुषे तदनुपपत्तिः । इन्द्रियाणि तावद् ग्रहणमात्ररूपत्वादप्रत्ययानीति प्रत्ययवदन्तस्तावत् करणं परिकल्प्यते । अन्तःकरणमप्युपात्तविषयेन्द्रियवृत्त्युपनिपातात् तद्रूपापत्तावपि सत्यामचेतनत्वात् स्वयमुपलब्धुमसमर्थमेव विषयमित्यतो भोक्तारं चेतनं पुरुषमपेक्षते । पुरुषस्य तु चेतनत्वात् द्रष्ट्रन्तरमशक्यं कल्पयितुम् । तस्मान्नानवस्थाप्रसङ्गः ।

आह—पुरुषस्याध्यवसायकर्तृत्वप्रसङ्गः, चैतन्यात् । यद्यचेतना बुद्धिस्तेन तस्या अध्यवसायो वृत्तिर्घटादिवन्न प्राप्नोति । अतः पुरुषस्याध्यवसायः प्राप्तः । ततश्च बुद्ध्यभाव इति ।

विषय के प्रति कोई दूसरा विषयी होने लगेगा । और उस विषयीरूप विषय का भी कोई अन्य विषयी होने लगेगा । इस प्रकार विषयित्व की अनवस्था होने लगेगी ।

यदि यह अनवस्थादोष न हो, एतदर्थ निश्चयरूप होने से पुरुष किसी का विषय न होगा; तो अध्यवसायरूप निश्चयकर्ता से भी अतिरिक्त निश्चेता के रूप में पुरुष की कल्पना अनावश्यक है ।

सिद्धान्ती—चेतन होने से पुरुष के सम्बन्ध में अनवस्थादोष अनुपपन्न है । अर्थात् इन्द्रियाँ ग्रहण का साधनमात्ररूप हैं; इसलिये ये अध्यवसायात्मक नहीं हैं । अतः वहाँ अध्यवसायात्मक अन्तःकरण की कल्पना की जाती है । और वह अन्तःकरण विषय से सम्बद्ध इन्द्रियों की वृत्ति से सम्पृक्त होकर इन्द्रियों की वृत्ति के आकार का हो जाता है । अर्थात् जैसे इन्द्रियवृत्ति विषयाकार हो जाती है, वैसे ही उससे सम्बद्ध अन्तःकरण भी तादृश विषयाकार हो जाता है । फिर भी वह अन्तःकरण अचेतन होने से स्वयं विषय का बोध करने में असमर्थ ही होता है; इसलिये वह अन्तःकरण भोक्ता चेतन पुरुष की अपेक्षा करता है । किन्तु पुरुष के लिये तो उसके स्वयं चेतन होने से किसी अन्य द्रष्टा (चेतन) की कल्पना करना अशक्य है । अतः यहाँ पूर्वोक्त अनवस्थादोष का प्रसङ्ग नहीं होगा ।

शङ्का—चेतन होने के कारण अध्यवसाय के प्रति पुरुष में कर्तृत्व की प्रसक्ति हो जायेगी । अर्थात् यदि बुद्धि अचेतन है, तो उसमें अध्यवसाय (निश्चय) रूप वृत्ति

उच्यते—न, कैवल्यादप्रतिबन्धप्रसङ्गात्। अनामिश्ररूपं पुरुषतत्त्वमिति एतदुपरिष्टाद् वक्ष्यामः। स यदि व्यवसायकः स्यात् अप्रतिबन्धेन दिङ्निश्चयादिषु सुप्तमत्तमूर्छितानां च व्यवसायः स्यात्। दृष्टस्त्वेवमवस्थस्य व्यवसायप्रतिबन्धः। तस्मान्न पुरुषस्य व्यवसायः।

यस्य पुनरन्तःकरणं व्यवसायकं तस्यैवं दोषो नास्ति। कस्मात्? त्रैगुण्यात्। सत्त्वादिसंस्थानविशेषो हि बुद्धिः करणान्तरप्रतिषेधात्। तत्र यदाऽध्यवसायलक्षणं सत्त्वं गुणभावात् प्रधानभूतेन तमसा तिरस्कृतशक्ति भवति, तदाऽध्यवसायप्रतिबन्धः।

आह—कथं पुनरेतद् गम्यते, सर्वमिदमचेतनमिति?

उच्यते—प्रकृतिविकारभूतत्वात्। इह यत् प्रकृतिविकारभूतं तदचेतनम्। तद्यथा तन्तुपटादयः प्रकृतिविकारभूतं तस्मादचेतनम्।

नहीं होनी चाहिये; जैसे अचेतन घटादि को अध्यवसायात्मक वृत्ति नहीं होती है। अतः बुद्धि को अचेतन मानने में अध्यवसायवृत्ति पुरुष की होने लगेगी। ऐसी स्थिति में बुद्धि का अभाव होने लगेगा। क्योंकि बुद्धि का काम पुरुष ही करेगा।

समाधान—उक्त प्रसङ्ग नहीं होगा। क्योंकि कैवल्यस्वभाव के कारण बिना किसी प्रतिबन्ध के पुरुष को व्यवसाय होने लगेगा। अर्थात् पुरुषतत्त्व सर्वथा निर्लिप्त स्वरूप है; ऐसा आगे चलकर हम कहेंगे। वह पुरुष यदि व्यवसायकर्ता माना जाय तो बिना किसी रुकावट के सुप्त मत्त एवं मूर्छित को भी दिङ्-निश्चय आदि में व्यवसाय होना चाहिये। किन्तु सुप्तादि अवस्था वाले को व्यवसाय का प्रतिबन्ध देखा गया है।

किन्तु जिसके मत में अन्तःकरण का धर्म व्यवसाय है; उसे यह दोष नहीं है; क्योंकि वह त्रिगुणात्मक है। अर्थात् बुद्धि सत्त्व-रज और तम का आश्रय विशेष है; क्योंकि बुद्धि के अतिरिक्त किसी अन्य कारण का प्रतिषेध कर दिया गया है। अतः अध्यवसायलक्षण सत्त्व गौण होकर प्रधानभूत तमोगुण से तिरोहित शक्ति वाला हो जाता है, तब उसमें अध्यवसाय का प्रतिबन्ध हो जाता है। अतः सत्त्व के तिरस्कृत हो जाने से सुप्त आदि अवस्थाओं में बुद्धि में अध्यवसाय की प्रसक्ति नहीं होगी।

शङ्का—यह कैसे समझा जाता है कि यह सब कुछ अचेतन है?

समाधान—प्रकृति का विकार होने से वैसा समझा जाता है। अर्थात् यहाँ जो प्रकृति का विकारभूत है; वह अचेतन है। जैसे तन्तु पट आदि प्रकृति का विकारभूत है, इसलिये अचेतन है।

आकाशे(ऽ)दर्शनान्नैकान्त इति चेन्न, असिद्धत्वात् । न ह्याकाशस्यात्मपक्षे प्रकृतिविकारत्वाभावः सिद्धः । तस्माद् युक्तमेतत् प्रकृतिविकारभूतत्वाद-चेतनं सर्वम् । अत एव च चेतनस्याप्रकृतिविकारभूतत्वं, परस्परवैधर्म्यात् । नान्यस्य परमार्थस्य भोक्तृमाचेतन्यावुपपद्यते, न चेत्, सूक्तं, भोक्तृत्वा-दस्ति पुरुषः ।

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

इह प्रवृत्तिमतां निमित्तमन्तरेण प्रवृत्ति[1] र्नोपपद्यते । प्रधानमपि च प्रवृत्तिमत्, व्यक्तदर्शनात् । तस्माद् यस्य कैवल्यं प्रधानप्रवृत्तिहेतुः स

पूर्वपक्ष—आकाश में वैसा नहीं देखा जाता है; इसलिये उक्त नियम ऐका-न्तिक (अव्यभिचारित) नहीं है । अर्थात् आकाश में प्रकृति का विकार होना नहीं देखा जाता है, इसलिये उसमें अचेतनत्व सिद्धि आवश्यक नहीं है । अतः सब कुछ अचेतन है, यह कैसे समझा जाय ?

समाधान—आकाश में प्रकृति का विकारत्वाभाव असिद्ध है । इसलिये प्रकृति का विकार होने से वह अचेतन है । अर्थात् उभय सिद्ध स्थल हो दृष्टान्त होता है । यहाँ पर हमारे अपने पक्ष में अथवा प्रकृति विकारों से अतिरिक्त आत्मा (पुरुष) के अस्तित्व पक्ष में आकाश में प्रकृति का अविकारात्मक भाव सिद्ध नहीं है, किन्तु वह भी प्रकृति का विकार ही है । इसलिये यह युक्त है कि प्रकृति का विकारभूत होने से सब कुछ अचेतन है ।

और इसीलिये चेतनतत्त्व प्रकृति का अविकारभूत है । क्योंकि चेतन होना और प्रकृति का विकारभूत होना यह दोनों विरोधी धर्म हैं । अर्थात् चेतनत्व और प्रकृतिविकारभूतत्व ये दोनों धर्म एक साथ नहीं रह सकते हैं । इसलिये पुरुष से अन्य किसी वस्तु में उसके अचेतन होने के कारण भोक्तृत्व नहीं सम्भव है । यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो ठीक हो कहा कि भोक्ता होने के कारण पुरुष की सत्ता है ।

सिद्धान्ती—कैवल्य के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होने से भी पुरुष की सिद्धि होती है । अर्थात् जिसके कैवल्य के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होती है, वह पुरुष है ।

यहाँ जो प्रवृत्तिमान् हैं; उनकी प्रवृत्ति विना किसी निमित्त के नहीं हो सकती है, प्रधान भी प्रवृत्तिमान् है; क्योंकि उसके परिणामभूत व्यक्त पदार्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है । अतः जिसका कैवल्य प्रधानप्रवृत्ति का निमित्त है, वह पुरुष है ।

---

१. निवृत्तिर्नोपपद्यते इति मुद्रितोऽपपाठः ।

पुरुषः। प्रधानानभ्युपगमादुभयाऽसिद्धिरिति चेत्, स्यादेतत्—प्रधानं चेतनवदस्माकमप्रसिद्धम् : यावत्तस्य कैवल्यार्थं प्रवृत्तिर्भवता पुरुषास्तित्वे लिङ्गमपदिश्यते, तदि¹दमसिद्धं, न सिद्धं प्रतिपाद्यत इति।

एतच्चायुक्तम्—कस्मात् ? पूर्वं तत्प्रतिपादनात्। प्राक्प्रधानम-प्रतिपाद्यैवमाचक्षाणः सत्यमेवं पर्यनुयोगार्हः स्यात्, साधितं तु प्रधानं परिमाणादिभिरित्यतो न किञ्चिदेतत्।

सर्वाचार्यविप्रतिपत्तेः पुरुषार्थ(ा)सिद्धिरिति चेत्, स्यान्मतम्—यदि पुरुषस्य सत्त्वमेव स्यात् तेन तं प्रत्याचार्याणां न धर्मविवादः स्यात्। अस्ति चासौ। तथाहि, केषांचिन्निर्गुणः, केषांचित् परवान्, अतः सर्वेषां विभुः, परिमितोऽन्येषाम्, तथैको नैक इति। तस्माद् भ्रान्तिमात्रं पुरुषकल्पनेति।

(पूर्वपक्ष) प्रधान के अस्वीकृत होने से दोनों की असिद्धि हो जायेगी। अर्थात् हमारे यहाँ जैसे चेतन असिद्ध है, वैसे प्रधान भी अप्रसिद्ध है। जबकि कैवल्य के लिये उसकी प्रवृत्ति को पुरुष के अस्तित्व में हेतु के रूप में आप प्रयुक्त करते हैं। तो यह स्वयं असिद्ध है, अतः सिद्ध का प्रतिपादन नहीं हो रहा है। अथवा 'असिद्धेन सिद्धं प्रतिपाद्यते' इस सम्भावित पाठ के अनुसार स्वयं असिद्ध प्रधान से ही पुरुष को सिद्ध प्रतिपादित करते हैं; जो ठीक नहीं है।

सिद्धान्ती—उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्व में प्रधान की सिद्धि की जा चुकी है। अर्थात् पहले प्रधान का प्रतिपादन (सिद्धि) किये बिना ऐसा कहने वाला व्यक्ति (कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च–इस हेतु द्वारा पुरुष का साधन करने वाला व्यक्ति) ठीक ही उक्त आक्षेप के योग्य होगा; किन्तु हमने तो परिणाम आदि हेतुओं से प्रधान की सिद्धि पहले ही कर दी है। अतः उक्त आक्षेप अकिञ्चित्कर (निष्फल) है।

पूर्वपक्षी—सभी आचार्यों की पुरुष के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति होने से पुरुष-रूप अर्थ असिद्ध है। अर्थात् यदि पुरुष का अस्तित्व ही होता, तो पुरुष के विषय में आचार्यों को धर्म सम्बन्धी विवाद नहीं होता। किन्तु विवाद है। जैसे किन्हीं आचार्य के मत में पुरुष निर्गुण है, किन्हीं के मत में पराधीन है। अतः विवादास्पद होने से ही सब के मत में पुरुष विभु है, फिर भी अन्य कुछ आचार्यों के मत में वह परि-मित परिच्छिन्न है। तथा किन्हीं के मत में पुरुष एक है और किन्हीं के मत में अनेक है, इत्यादि। अतः पुरुष की कल्पना भ्रान्तिमात्र है।

---

१. 'तदिदमसिद्धेन सिद्धं प्रतिपाद्यते' इत्यपि पाठः संभवति।

एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? सर्वपदार्थाभावप्रसङ्गात् । रूपादिष्वपि विप्रतिपत्तेः केषांचित् क्षणिकाः केषांचित् कालान्तरावस्थायिनः, तथाश्रिताः स्वतन्त्रा इत्यादि । तथा श्रोत्रादीनि भौतिकानि, आहङ्कारिकाणि, पौरुषाणीति विप्रतिपत्तिः । तस्मादस्ति पुरुषः । तत्र युक्तं (यदुक्तं) सर्वप्रमाणानुपलब्धेर्नास्ति पुरुष इत्येतदयुक्तम् ।

यदप्युक्तम्—'शून्यमाध्यात्मिकं यच्च' इति, तस्य पश्चात् प्रतिषेधं वक्ष्यामः । यत् पुनरेतदुक्तम्—'अस्ति कर्मास्ति विपाकः कारकस्तु नोपलभ्यत' इति, सत्यमेतत् न हि पुरुष[ः]स्कन्धानां निक्षेपे प्रतिसन्धानेऽन्यत्र वा कारक इति नः पक्षः ।

तस्माच्छ्रेयोऽर्थिभिः सर्वागमतर्कविरुद्धां नैरात्म्यवादपरिकल्पनाभ्रान्तिमसमञ्जसामपोह्य पुरुषसत्त्वपरिज्ञानादेव जननमरणादिसर्वोपद्रवप्रतिपक्षभूतं परममृतं ध्रुवं स्थानमवाप्तव्यमिति ॥१७॥

सिद्धान्ती-पूर्वपक्षो का उक्त कथन अयुक्त है। क्योंकि यदि धर्म में विप्रतिपत्ति होने से पुरुष का अभाव हो तो सभी पदार्थों का अभावप्रसंग हो जायेगा; क्योंकि, रूपादि विषयों के सम्बन्ध में भी विप्रतिपत्ति है। रूपादि विषय किन्हीं के यहाँ क्षणिक है और किन्हीं के यहाँ कालान्तर में भी अवस्थित रहने वाले हैं। तथा किन्ही के मत में रूपादि आश्रित रहते हैं और किन्हीं के मत में स्वतन्त्र हैं, इत्यादि। एवं किन्हीं के मत में श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ भौतिक हैं। किन्हीं के यहाँ अहङ्कार से उत्पन्न हैं या पौरुष हैं, इत्यादि। इस प्रकार विप्रतिपत्ति के कारण सभी पदार्थों का अभाव होने लगेगा। अतः पुरुष का अस्तित्व है। विप्रतिपत्ति के कारण उसका अभाव नहीं हो सकता है। अतः उसके सम्बन्ध में जो कहा था कि सभी प्रमाणों से अनुपलब्ध होने के कारण पुरुष नहीं है—यह कथन अयुक्त है।

और जो कहा कि—'आध्यात्मिक तत्त्व शून्य को ही समझो। अर्थात् शून्य ही आत्मा है तो उसका हम बाद में खण्डन करेंगे। यह भी जो कहा कि कर्म है, उसका विपाक (भोग) भी है, किन्तु कर्ता आत्मा की उपलब्धि नहीं होती है- तो यह सत्य है। क्योंकि हमारा यह पक्ष नहीं है कि पुरुष स्कन्धों के निक्षेप (त्याग) में प्रतिसन्धान (ग्रहण) में या अन्य किसी क्रिया में कारक हो।

अतः श्रेयस् की कामना वाले जन को सम्पूर्ण आगमों एवं तर्कों से विरुद्ध, नैरात्म्यवाद की असंगत कल्पनारूप भ्रान्ति का परित्याग कर पुरुषसत्ता के परिज्ञान से ही जन्म-मरण आदि समस्त उपद्रवों से छुटकारा दिलाने वाला अत्यन्त अमृत एवं ध्रुव स्थान प्राप्त करना चाहिये॥ १७॥

आह—गृह्णीमहे तावदस्त्ययमात्मेति। इदानीमनेकोऽथैक इति विचार्यम्। कुतः संशय इति चेत्, सम्बन्धिनामुभयथा दृष्टत्वात्। इह कस्यचिदनेकस्यानेकेन सम्बन्ध उपलभ्यते, तद्यथा श्रोत्रादिना शरीरस्य। कस्यचिदेकस्यानेकेन, तद्यथाऽऽकाशस्य घटादिना। अयमपि चात्मा कार्यकारणसम्बन्धीत्यतः संशयः—किं श्रोत्रादिवदनेकः, आकाशवदेको वेति ?

किं चान्यत्—आचार्यविप्रतिपत्तेः। औपनिषदाः खलु एक आत्मेति प्रतिपन्नाः। काणादाक्षपादार्हतप्रभृतयः पुनरनेक इति। यथा चैकानेकत्वं प्रत्यात्मनो विप्रतिपत्तिरेवं साक्षित्वौदासीन्यद्रष्टृत्वाकर्तृत्वेषु। तस्माद् वक्तव्यं, कथमेते धर्माः पुरुषेऽवतिष्ठन्त इति ?

उच्यते—यत्तावदुक्तं सम्बन्धित्वादात्मपदार्थे सन्देहः किमनेकोऽथैक इति। अत्र ब्रूमः—बहवः पुरुषा इति प्रतिज्ञा। कस्मात् ?

पूर्वपक्षी—यह आत्मा है, इसे हम स्वीकार कर रहे हैं। अब यह विचारणीय है कि यह आत्मा अनेक है या एक ? यह संशय क्यों हुआ ? यदि प्रश्न करें तो उत्तर है कि दोनों प्रकार के सम्बन्धो देखे जाते हैं; इसलिये संशय हुआ। यहाँ किसी अनेक का अनेक के साथ सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे श्रोत्रादि के साथ शरीर का। श्रोत्रादि भी अनेक हैं, और उससे सम्बन्धित शरीर भी अनेक हैं। एवं किसी एक का भी अनेक के साथ सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे आकाश का घटादि के साथ। यह आत्मा भी कार्यकारणसंघात (देहादि) से सम्बन्धित है; इसलिये संशय होता है कि क्या यह आत्मा श्रोत्रादि के समान अनेक है ? या आकाश के समान एक है ?

संशय होने का कुछ अन्य भी कारण है। इसके सम्बन्ध में आचार्यों में विप्रतिपत्ति है। जैसे—औपनिषद लोग आत्मा एक है, ऐसा मानते हैं। न्याय-वैशेषिक और आर्हत आदि दार्शनिक तो आत्मा अनेक है, ऐसा मानते हैं। जैसे आत्मा के एकत्व और अनेकत्व के प्रति विप्रतिपत्ति (विरोधी विचार) है, ऐसे ही उसके साक्षित्व-औदासीन्य-द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व के सम्बन्ध में भी विप्रतिपत्ति है। इसलिये बताना चाहिये कि पुरुष में ये साक्षित्व आदि धर्म कैसे वर्तमान हैं ?

सिद्धान्ती—जो तो कहा गया कि सम्बन्धी होने से आत्मा के विषय में सन्देह है कि क्या वह अनेक है ? अथवा एक है ? उस पर हम कहते हैं—पुरुष बहुत (अनेक) हैं। यह हमारी प्रतिज्ञा है। क्योंकि जन्म, मृत्यु एवं इन्द्रियों का प्रत्येक पुरुष के

जन्म (जनन) मरणकरणानां प्रतिनियमात् ।

जन्मेति महदादेः सूक्ष्मशरीराश्रितस्य लिङ्गस्य यथासंस्कारं बाह्येन शरीरेण सम्बन्धः । मरणमिति पूर्वकृतस्य कर्मणः फलभोगपरिसमाप्तेः साम्प्रतस्य च फलभोगस्य प्रत्युपस्थाने लिङ्गस्य पूर्वशरीरत्यागः । करणं च त्रयोदशविधमिति (का० ३२) वक्ष्यति । जन्म च मरणं च करणानि च जन्ममरणकरणानि, तेषां प्रतिपुरुषं नियमः एतस्माल्लिङ्गादात्मनो बहुत्वमवसीयते ।

एतदुक्तं भवति—जन्मलक्षणं च मरणलक्षणं च कार्यकारणस्यावस्थान्तरं परस्परविरोधिनी तमप्रकाशवत् । तत्र यद्येक आत्मा स्यात् तेन यथैकं द्रव्यं तमःप्रकाशावेकप्रदेशोपनिपातिनौ न शक्नोत्यनुभवितुमसम्भवात्, एवमयं जन्ममरणे अपि न शक्नुयादुपभोक्तुम् । अस्ति चायं केनचित् कार्यकारणेन जन्मोपभोगः, केनचिन्मरणोपभोगः । तेन मन्यामहे नाना आत्मानः, येषां विरोधिधर्मोपभोगसामर्थ्यमिति ।

साथ नियम (अर्थात् अलग-अलग सम्बन्ध) है । महत्-अहङ्कार-पञ्चतन्मात्रायें एवं एकादश इन्द्रियांरूप सूक्ष्म देह में आश्रित इन अठ्ठारह तत्त्वों का बने लिङ्ग का पूर्वजन्म की वासना के अनुसार बाह्य शरीर (स्थूल शरीर) के साथ सम्बन्ध होना जन्म है । एवं पूर्व जन्म में किये गये कर्म के फल का भोग समाप्त हो जाने पर वर्तमान जन्म में किये कर्म के फल के भोग को प्राप्त कराने के लिये लिङ्ग द्वारा पूर्व शरीर का त्याग होना मृत्यु है । करण तेरह प्रकार के होते हैं, ऐसा आगे बत्तीसवीं कारिका में आचार्य कहेंगे । वे हैं—बुद्धि-अहङ्कार (अन्तः करण) तथा एकादश इन्द्रियाँ (बाह्य करण) । ये जन्म मरण और करण प्रत्येक पुरुष के साथ नियत होते हैं । इस नियमरूप हेतु से आत्मा का बहुत्व (अनेकत्व) सिद्ध होता है ।

सिद्धान्ती—यहाँ निष्कर्ष के रूप में यह प्रतिपादित होता है कि जन्म एवं मरण कार्यकारण की दो विभिन्न अवस्थायें हैं; जो तम और प्रकाश की तरह परस्पर में विरोधिनी हैं । अतः यदि एक ही आत्मा सबकी हो तो जैसे एक द्रव्य एक ही प्रदेश में तम और प्रकाश को साथ-साथ नहीं अनुभव कर सकता है; क्योंकि एक जगह तम और प्रकाश दोनों का अनुभव होना असंभव है । वैसे ही एक आत्मा एक काल में परस्पर विरोधी जन्म और मरण का भी अनुभव नहीं कर सकता है । जबकि यह देखा जाता है कि किसी कार्यकारण (देहेन्द्रिय) द्वारा जन्म का उपभोग होता है तो किसी के द्वारा मरण का उपभोग होता है । इससे हम मानते हैं कि आत्मा नाना

यथा करणानां प्रकाशातिशयो विषयग्रहणलक्षणोऽशुद्ध्यतिशयश्चाष्टाविंशतिधाऽशक्तिः, तयोः परस्परविरोधादेकेनात्मना युगपदुपभोगो नोपपद्यते। न हि शक्यमेकेनात्मना प्रकाशातिशयो विषयग्रहणलक्षणोऽशुद्ध्यतिशयश्चाशक्तिलक्षणो विरोधित्वाद्युगपदुपभोक्तुम्। अस्ति चायं करणनिमित्तः प्रतिपुरुषं नियमः। तेन मन्यामहे नाना आत्मान इति।

किञ्चान्यत्—

अयुगपत् प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धम्,

कस्मात्? अयुगपत् प्रवृत्तेः प्रधानस्येति शेषः, यस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते। कस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते? प्रधानस्य। कथमिति?

उच्यते—यद्येक आत्मा स्यात् तेनैकपुरुषाधिकारनिबद्धं प्रधानम्। शक्तश्चासौ युगपदनेकानि शरीराणि उपभोक्तुमित्यतो यावद्भिः शरीरैरुप-

---

हैं; जो एक समय में जन्म-मरणरूप विरोधी धर्मों के पृथक्-पृथक् उपयोग की सामर्थ्य रखते हैं।

वैसे ही आन्तर तथा बाह्य इन्द्रियों में विषयों का ग्रहणरूप प्रकाशातिशय तथा अट्ठाईस प्रकार की अशक्तिरूप अशुद्धि का अतिशय पाया जाता है। उन दोनों अतिशयों का परस्पर विरोधी होने के कारण एक आत्मा द्वारा एक साथ उपभोग नहीं बन सकता है। क्योंकि यह सर्वथा असंभव है कि एक आत्मा के द्वारा एक ही काल में विषय का ग्रहणरूप प्रकाशातिशय तथा अशक्ति (विषय ग्रहण में असामर्थ्य) लक्षण अशुद्ध्यतिशय दोनों का उपभोग हो सके। किन्तु इन्द्रियों द्वारा प्रत्येक पुरुष के प्रति अलग-अलग प्रकाशातिशय और अशुद्ध्यतिशय का नियम देखा जाता है कि एक ही काल में कोई देखता है तो अन्धापन के कारण कोई नहीं देखता। इससे भी हम मानते हैं कि आत्मा (पुरुष) नाना है।

सिद्धान्ती—पुरुष के नाना होने में अन्य भी प्रमाण है। जैसे—अयुगपत् प्रवृत्ति होने से भी पुरुष का बहुत्व (नानात्व) सिद्ध है। यहाँ 'प्रधानस्य' यह वाक्य का शेष भाग है; क्योंकि जिसकी प्रवृत्ति उपपन्न है, वह प्रधान ही है। अर्थात् प्रधान की भिन्न-भिन्न काल में ही प्रवृत्ति होने के कारण भी पुरुष नाना है, यह सिद्ध है।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—यदि एक ही आत्मा हो तो एक पुरुष के अधिकार से प्रधान बँधा

पचितासु कालमात्रास्वस्मिन् भवपरिवर्ते भवितव्यम् सर्वेषामुत्पत्तिं प्रति युगपत् प्रवर्तेत। दृष्टा तु प्रधानस्यायुगपच्छरीरभावेन प्रवृत्तिः। तस्मादयुगपत् प्रवृत्तेश्च नाना आत्मान इति।

अन्ये पुनराहुः—बहिष्करणानामेवायुगपत्प्रवृत्तेः। कथम्? यद्येक आत्मा स्यात् तेन तत्संस्कारोपनिबद्धान्येव सर्वाणि करणानीत्यतः प्रतिपिण्डमवस्थितैः करणैर्युगपद् विषयान् गृह्णीयात्। बाधिर्याद्युपघाते वा सति पिण्डान्तरसम्बन्धिना करणेनान्यस्य शब्दादिकरणमप्रतिषिद्धं स्यात्; न तु तथा भवति। तस्मात् करणानामयुगपत् प्रवृत्तेर्नाना आत्मान इति।

तदयुक्तम्—कस्मात्? पूर्वेणाविशेषात्। करणानां प्रतिनियमादित्यनेनायमुपसंगृहीतोऽर्थः। तस्माद् यथोक्तमेवास्तु।

होगा। और वह एक पुरुष अनेक शरीरों का एक साथ उपभोग करने में समर्थ होगा। इस कारण इस भवचक्र में बिताई जाने वाली काल की मात्राओं में जितने शरीरों को होना है; उन सभी शरीरों की एक साथ उत्पत्ति के प्रति प्रधान को प्रवृत्त हो जाना चाहिये। किन्तु यह देखा जाता है कि देह के रूप में प्रधान की प्रवृत्ति (परिणाम) युगपत् (एक साथ) न होकर अयुगपत् (आगे पीछे) होती है। इसलिये भिन्न-भिन्न काल में शरीरों को उत्पन्न करने में प्रधान की प्रवृत्ति होने से भी आत्मा नाना है, यह सिद्ध होता है। क्योंकि विभिन्न आत्माओं के अधिकार के अनुसार आगे पीछे शरीर की उत्पत्ति के प्रति प्रधान की प्रवृत्ति होने में कोई अनुपपत्ति न होगी।

दूसरे तो ऐसी व्याख्या करते हैं—बाह्येन्द्रियों की ही एक साथ प्रवृत्ति नहीं होने के कारण आत्मा नाना है।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—यदि सबके शरीर में एक आत्मा होता तो उसी के संस्कार से सभी इन्द्रियाँ बँधी रहतीं। इस कारण प्रत्येक पिण्ड (देह) में अवस्थित उन करणों (इन्द्रियों) से वह आत्मा एक साथ विषयों का ग्रहण करता। अथवा बधिरता आदि के रूप में इन्द्रियों का उपघात हो जाने पर अन्य देह से सम्बद्ध अनुपहत श्रोत्रादि करणों से दूसरे के शब्दादिकरण को निर्बाधरूप से शब्दश्रवणादि क्रिया होनी चाहिये; किन्तु वैसा नहीं होता है। इसलिये करणों की युगपत् प्रवृत्ति नहीं होने के कारण आत्मा नाना है।

किन्तु उक्त व्याख्यान अयुक्त है। क्योंकि पूर्व में कहे हुए से कोई विशेषता न

किञ्चान्यत्—

त्रिगुणादिविपर्ययाच्चैव ।। १८ ।।

इह 'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि' इत्येते धर्माः प्रतिपिण्डमुपलभ्यन्ते । यथा चैते तथा तत्प्रतियोगिनो नैर्गुण्यादयः पुरुषधर्माः । तत्र यथैव गुणस्वभावविपरीतस्वभावस्योपलम्भादेकस्मात् पिण्डादेकपुरुषसिद्धिः, एवं प्रतिपिण्डं गुणस्वभावविपरीतस्वभावस्योपलम्भात् पुरुषनानात्वमवसेयम् । तस्मादवस्थितमेतन्नानात्मान इति ।। १८ ।।

आह—सिद्धमात्मनो नानात्वम् । साक्षित्व-कैवल्यमाध्यस्थ्य-द्रष्टृत्वाकर्तृत्वानामिदानीं कस्माद्धेतोः प्रतिपत्तिरिति ?

होगी । अर्थात् 'जन्ममरणकरणानां' यहाँ पर करणों का भी उल्लेख होने से उसी से यह विषय उपसंगृहीत हो जाता है । अतः 'अयुगपत् प्रवृत्तेश्च' का जैसा व्याख्यान पूर्व में किया गया है, वही ठीक है ।'

सिद्धान्ती—यहाँ त्रिगुणात्मकत्व-अविवेकित्व-विषयत्व-सामान्यत्व-अचेतनत्व और प्रसवधर्मित्व ये धर्म प्रत्येक पिण्ड में उपलब्ध हैं । जैसे, ये धर्म पिण्ड में हैं; वैसे ही इनके विरोधी नैर्गुण्य आदि (नैर्गुण्य-विवेकित्व-अविषयत्व-असामान्यत्व-चेतनत्व और अप्रसवधर्मित्व) पुरुष के धर्म हैं । वहाँ जैसे गुणों के स्वभाव से विपरीत स्वभाव की उपलब्धि होने से एक पिण्ड में उस पिण्ड से अतिरिक्त एक पुरुष की सिद्धि होती है, वैसे ही प्रत्येक पिण्ड के गुणों के स्वभाव से विपरीत स्वभाव को उपलब्धि होने से प्रतिपिण्ड उनसे अतिरिक्त नाना पुरुष को समझना चाहिये । अतः यह सिद्ध हो गया कि पुरुष नाना है ।

प्रश्न—आत्मा का नानात्व सिद्ध हो गया । अब यह बतावें कि आत्मा में साक्षित्व-माध्यस्थ्य-द्रष्टृत्व-अकर्तृत्व की सिद्धि किस हेतु से होती है ?

---

१. यहाँ वाचस्पतिमिश्र ने उपचारतः पुरुष की प्रवृत्ति का निरूपण आत्मा के नानात्व-साधन में किया है । किसी अन्य ने बाह्य करणों की प्रवृत्ति का निरूपण किया है । वे अन्य कौन हैं ? यह विचारणीय है । युक्तिदीपिकाकार ने तो प्रकृति की प्रवृत्ति का उपपादन किया है । इनमें वाचस्पतिमिश्र का व्याख्यान ही अधिक क्लिष्ट मालूम होता है, क्योंकि युक्तिदीपिकाकार ने जैसे इन्द्रियों की प्रवृत्ति को 'करणानां' से गतार्थ किया है, वैसे शरीरों की उत्पत्ति के लिये प्रधान की प्रवृत्ति भी 'जन्म' के उल्लेख से ही गतार्थ हो सकती है ।

उच्यते—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

तस्मादित्यनेन हेतुसामान्यमाचष्टे । चशब्दोऽवधारणे । विपर्यासादिति सामान्येन हेतुमुपात्तं विशेषेऽवस्थापयति । सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्येत्येवमादिना साध्यधर्मनिर्देशं करोति । तत्र साक्षित्वमित्यनेन गुणानां प्रवृत्तावस्वातन्त्र्यं ख्यापयति, प्रधानस्य तदर्थनिबन्धनत्वात् प्रवृत्तेः ।

अधिष्ठातृत्वं कथमिति ?

उच्यते—यथा हि क्रियासाक्षिणि कस्मिंश्चिदवस्थिते कर्ता तदिच्छानुविधायी कार्यं निर्वर्तयति न स्वतन्त्रः,[१]एवं प्रधानमपि । प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्यथा पुरुषस्यार्थः सिध्यति, तथा महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतदेव-

---

उत्तर—त्रैगुण्य के विपर्यास (अभाव) से आत्मा में साक्षित्व आदि की सिद्धि होती है ।

सूत्र में कथित 'तस्मात्' इस पद से हेतुसामान्य को आचार्य कहते हैं । च-शब्द अवधारणअर्थ में है । अर्थात् उसी हेतु से साक्षित्व आदि सिद्ध है । इस प्रकार 'तस्मात्' इस पद से सामान्यरूप से निर्दिष्ट हेतु को 'विपर्यासात्' इस पद के द्वारा आचार्य विशेष हेतु के रूप में व्यवस्थापित करते है । एवं 'सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य' इस सूत्रांश के द्वारा साध्यभूत धर्म का आचार्य निर्देश करते हैं । अर्थात् यह प्रतिज्ञा-वाक्य है और 'तस्माच्च विपर्यासात्' यह हेतुवाक्य है । एवं, यहाँ पर आचार्य 'साक्षित्वम्' इस पद के द्वारा प्रवृत्ति होने में गुणों की अस्वतन्त्रता सूचित करते हैं । क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रधान की प्रवृत्ति पुरुषार्थ के अधीन ही होती है ।

प्रश्न—पुरुष में अधिष्ठातृत्व कैसे सिद्ध है ?

उत्तर—क्रिया के साक्षी के रूप में किसी के उपस्थित रहने पर उसकी इच्छा का अनुसरण करता हुआ कर्ता कार्य को सम्पादित करता है स्वतन्त्र होकर नहीं; वैसे ही प्रधान भी साक्षी के रूप में पुरुष की अवस्थिति में ही सृष्टि कार्य को सम्पादित करता है, स्वतन्त्र होकर नहीं । (अथवा वैसे ही प्रधान भी प्रवृत्ति और निवृत्ति में

---

१. एवं प्रधानमपि प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्यथेत्यादिक्रमेणैव मध्ये पूर्णविरामरहितः पाठः श्लिष्टः ।

मनुष्यतिर्यक्स्थावरभावेन व्यूहते, न यदृच्छातः। तस्मात् पुरुषस्तदर्थपरतन्त्रत्वात् प्रधानप्रवृत्तिनिवृत्त्योः साक्षी।

कैवल्यमित्यनेन संसर्गधर्मत्वमात्मनो निवर्तयति। न यथा सत्त्वादीनां परस्परेण प्रकाशादिधर्मापेक्षाणां संसर्गः, एवं पुरुषस्य तैर्भवति। माध्यस्थ्यमित्यनेनातिशयनिर्ह्रासानुपपत्तेः पुरुषस्य गुणैः सह बाधानुग्रहानुपपत्तिं स्वकार्यप्रवृत्तौ चापक्षपातं दर्शयति। द्रष्टृत्वमित्यनेनोदासीनस्य कार्यकारणपिण्डव्यूहसमकालं चैतन्यशक्तिसद्भावात् सुखदुःखमोहस्वभावानां गुणचेष्टानामनिवृत्तार्थानां सन्निधानमात्रादुपलब्धिमात्रं प्रतिजानाति।

अकर्तृभावश्चेत्यनेन सप्तविधमकर्तृत्वमाश्रयति। न ह्ययं विषयेषु

जिस प्रकार से पुरुष का भोग और अपवर्गरूप अर्थ सिद्ध होना है, उसी प्रकार महत्-अहङ्कार-तन्मात्र-इन्द्रिय-भूत-देव-मनुष्य तिर्यक् और स्थावरभाव से संघात को प्राप्त करता है, मनमाना नहीं। इसलिये प्रधान की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के पुरुषार्थ के अधीन होने के कारण पुरुष प्रधान की प्रवृत्ति और निवृत्ति का साक्षी है।

'तस्माच्च विपर्यासात्' इस सूत्र में उल्लिखित 'कैवल्यम्' इस पद से आचार्य आत्मा में संसर्गधर्मत्व की निवृत्ति करते हैं। अर्थात् प्रकाश-प्रवृत्ति और नियमरूप धर्म की अपेक्षा रखने वाले सत्त्वादि गुणों का जैसे परस्पर में संसर्ग होता है, वैसे पुरुष का उन गुणों से संसर्ग नहीं होता है।

सूत्रोक्त 'माध्यस्थ्यम्' इस पद के द्वारा आचार्य यह दिखाते हैं कि—पुरुष में किसी प्रकार का अतिशय (वृद्धि या ह्रास) नहीं बन सकता है; इसलिये पुरुष का गुणों के साथ (साहचर्य) से बाध या अनुग्रह दोनों की अनुपपत्ति को तथा स्वकार्य में गुणों की प्रवृत्ति होने में पुरुष के अपक्षपात को सूचित करते हैं। 'द्रष्टृत्वम्' इस पद के द्वारा उदासीन पुरुष को कार्यकारणात्मक पिण्डव्यूह के समकाल में चैतन्यशक्ति के सद्भाव से सुख-दुःख-मोहात्मक एवं जिनका प्रयोजन अभी सिद्ध नहीं हुआ है, ऐसी गुण-चेष्टाओं के सन्निधानमात्र से उपलब्धिमात्र होने की प्रतिज्ञा करते हैं। अर्थात् गुणों के सन्निधान से पुरुष को उपलब्धिमात्र होती है; न कि वह बुद्धि की तरह ज्ञान का कर्ता बनता है।

'अकर्तृभावश्च' इस पद के द्वारा आचार्य सप्तविध अकर्तृत्व को लेते हैं। क्योंकि यह पुरुष विषयों में बाह्यकरण एवं अन्तःकरण का सान्निध्य होने पर स्वयं

बाह्यान्तःकरणसान्निध्येऽध्यवसायं कुरुते। न च सत्त्वादीनां प्रकाशप्रवृत्ति-नियमलक्षणैर्धर्मैरितरेतरोपकारेण प्रवर्तमानानां स्वेन चैतन्यलक्षणेन धर्मेणाङ्गभावं प्रतिपद्यते, नाप्यङ्गिभावम्। एवं सह गुणैः कार्यं न कुरुते स्त्रीकुमारवत्। स्थित (:) प्रयोगं न कुरुते रथशकटयन्त्रप्रेरकवत्। न स्वात्मनो, मृत्पिण्डवत्। न परतः कुम्भकारवत्। नाप्यादेशान्मायाकार-वत्। नोभयतो मातृपितृवत्। तदेवमनेन सूत्रेणाचार्यः पुरुषस्याधिष्ठातृत्वं नैर्गुण्यमौदासीन्यं भोक्तृत्वमकर्तृत्वं च साध्यतामापाद्य त्रिगुणादिविपर्ययं साधनत्वेनोपन्यस्यति।

तैः पञ्चभिस्त्रिगुणादिविपरीतैः कर्मभिः पञ्चानामेषां यथासम्भवं

अध्यवसायक्रिया (निश्चय) नहीं करता है। एवं पुरुष प्रकाश-प्रवृत्ति और नियमलक्षण धर्मों से परस्पर के उपकार द्वारा प्रवृत्तिशील सत्त्व-रजः और तमोगुणों के प्रति अपने चैतन्यलक्षण धर्म द्वारा अङ्गभाव को प्राप्त नहीं करता और न हि उन सत्त्वादि गुणों के प्रति अङ्गीभाव को प्राप्त करता है। अर्थात् यह उदासीन पुरुष सत्त्वादि गुणों का न अङ्ग होकर कर्ता है और न अङ्गी होकर कर्ता है। एवं गुणों के साथ (भी) कार्य नहीं करता है, जैसे स्त्री और कुमार (बालक) साथ रहकर भी प्रसङ्ग कार्य नहीं करते हैं। अर्थात् सहकर्तृत्व भी पुरुष में नहीं है। एवं, स्थित (आरूढ़) होकर प्रयोग क्रिया (सञ्चालन) नहीं करता, जैसे रथ शकट एवं यन्त्र पर आरूढ़ होकर कोई उन्हें सञ्चालित करता है। अर्थात् सञ्चालनकर्तृत्व भी पुरुष में नहीं है। अपने स्वरूप से भी यह पुरुष अध्यवसाय नहीं करता है; जैसे स्वरूपतः मृत्पिण्ड घट करता है। अर्थात् मृत्-पिण्ड के समान पुरुष में उपादानस्वरूप कर्तृत्व भी नहीं हैं।

एवं परतः (तटस्थरूप से) भी पुरुष कर्ता नहीं होता; जैसे कि कुम्भकार मट्टी आदि अन्य साधनों से घट करता है। अर्थात् निमित्तस्वरूप कर्तृत्व भी पुरुष में नहीं है। एवं मायाकार जादूगर की तरह आदेश द्वारा भी पुरुष कर्ता नहीं बनता है सम्मिलित कर्तृत्व भी पुरुष में नहीं है, जैसे पुत्रोत्पत्ति के प्रति माता-पिता में सम्मिलि॰ कर्तृत्व होता है।

तो इस प्रकार आचार्य पुरुष के अधिष्ठातृत्व-नैर्गुण्य-औदासीन्य-भोक्तृत्व-और अकर्तृत्व को साध्य बनाकर त्रिगुणादि-विपर्यय को उसके साधन के रूप में उप-न्यस्त करते हैं।

त्रिगुणादि से विपरीत उन पाँच कर्मों से साक्षित्व आदि पाँचों की पुरुष में यथा सम्भव प्रवृत्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये। उनमें त्रिगुण से विपरीत नैर्गुण्य से

प्रवृत्तिरवगन्तव्या। तत्र नैर्गुण्यात् साक्षित्वम्। यस्मादयं सुखादिभ्योऽर्थान्तरभूतः, तस्मादयं तत्क्रियासाक्षी।

आह—तदसिद्धेः। नैर्गुण्यासिद्धेः। यद्यस्य[1] सुखादिधर्मत्वमात्मनः प्रसिद्धं स्यादत एतद् युज्यते वक्तुम्। तत्त्वसिद्धम्। तस्मादयुक्तमेतत्।

विशेषानभिधानादितरात्(रा)सिद्धिरपीति चेत्, स्यान्मतम्-आत्मगुणाः सुखादयो न शब्दगुणा इत्यत्रापि भवता विशेषो नाभिधीयते। तस्मादेतदप्यसिद्धम्। एतदप्ययुक्तम्। कस्मात्? अहङ्कारेणैकवाक्यत्वेऽ[2]भिन्नाधिकरणत्वं स्यात्। दृष्टं तु सुखितोऽहं दुःखितोऽहमिति। तस्मात् सुखदुःखयोः शब्दाद्यात्मभावो न युक्तः।

पुरुष में साक्षित्व की प्रवृत्ति (सिद्धि) होती है। क्योंकि चूँकि सत्त्वादिगुणस्वरूप सुख दुःख एवं मोह से यह पुरुषतत्त्व सर्वथा रहित है;इसलिये यह त्रिगुणों की क्रिया का साक्षी है। कारण, सुखादि के कार्यभूत रागद्वेषादि से रहित ही लोक में साक्षी होता है।

पूर्वपक्षी—पुरुष में उसकी असिद्धि है; अर्थात् निर्गुणत्व (त्रैगुण्यविपर्यय) सिद्ध नहीं है। अर्थात् यदि आत्मा में असुखादिधर्मत्व प्रसिद्ध हो तो यह कहना युक्त होगा कि असुखाद्यात्मक (त्रिगुणविपर्यय) होने के कारण आत्मा में साक्षित्व की सिद्धि होती है। किन्तु आत्मा में वह (असुखादिधर्मत्व) ही सिद्ध नहीं है। अतः आत्मा में साक्षित्व सिद्ध करना अयुक्त है।

अवान्तर शङ्का एवं पूर्वपक्षी द्वारा उसका समाधान—आत्मा का ही गुण सुखादि है, शब्दादि का नहीं-इसमें किसी विशेष हेतु का अभिधान नहीं होने से सुखादि शब्द का भी गुण हो सकता है। अर्थात् सुखादि आत्मा के गुण हैं, शब्द के नहीं हैं, इसमें आपने कोई विशेष प्रमाण का कथन नहीं किया है। इसलिये सुखादि में आत्मगुणत्व असिद्ध है, अतः आत्मा निर्गुण है और निर्गुण होने से साक्षी है—इस प्रकार का सांख्यवादी द्वारा आत्मा में निर्गुणत्व का उपपादन भी अयुक्त है।

क्योंकि अहङ्कार के साथ सुखादि का एकवाक्यत्वरूप सामानाधिकरण्य होने से सुख और अहङ्कार में अभिन्नाधिकरणत्व होगा। अर्थात् जो अहङ्कार का अधिकरण होगा, वही सुख का भी अधिकरण होगा। देखा गया है कि

---

१. यद्यसुखादि इति पाठः सङ्गतो भाति।
२. भिन्नाधिकरणत्वमिति आदर्शपुस्तकस्थपाठोऽपि कथञ्चित् संगमयितुं शक्यः।

उच्यते—न, गौरादिष्वनेकान्तात् । तद् यथा गौरः कृष्णोऽहमिति शरीरधर्मैरात्मनो भिन्नाधिकरणत्वमहङ्कारेण, एवं सुखदुःखयोरपि स्यात्; न चात्मगुणत्वं स्यादिति ।

आह—पृथगुपलब्धेरयुक्तम् । यद्यपि गौरादीनामविभक्तमहङ्कारेण ग्रहणं तथापि पृथगयं प्रागेतानात्मनो गृहीत्वा पश्चादविभक्तान् गृह्णन् शक्नोति व्यवस्थापयितुममुष्यैते न पुनरमुष्येति । न त्वेवं सुखदुःखयोः पृथगुपलब्धिः । तस्मादसदेतदिति ।

'सुखितोऽहम्-दुःखितोऽहम्' यह प्रतीति होती है। अतः इस प्रतीति के बल से अहङ्कारास्पद आत्मा ही सुखादि का भी अधिकरण होगा। इसलिये सुख और दुःख शब्दादि का धर्म नहीं हो सकता है; किन्तु आत्मा का ही गुण है। इस प्रकार आत्मा में निर्गुणत्व (त्रैगुण्यविपर्यय) की सिद्धि नहीं होने से उसमें साक्षित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

'इतरात् सिद्धिः' पाठपक्ष में इतरात्=इतरं शब्दमाश्रित्य निर्गुणत्वसिद्धिः' यह व्याख्या होगी। 'इतरासिद्धिः' इस पाठपक्ष में 'इतर में अर्थात् शब्द से भिन्न आत्मा में निर्गुणत्व की असिद्धि होगी' ऐसा अर्थ होगा। (वस्तुतः 'इतरात्' यह अशाब्द प्रयोग है) ऐसे ही 'भिन्नाधिकरणत्वं स्यात्' इस पाठपक्ष में 'शब्द से भिन्न आत्मा ही सुखादि का अधिकरण होगा' यह अर्थ होगा।

सिद्धांती—पूर्वपक्षी का उक्त उपपादन ठीक नहीं है। क्योंकि गौर और कृष्ण के साथ व्यभिचार हो जाता है। अर्थात् जैसे, 'गौरोऽहम् कृष्णोऽहम्' यहाँ पर शरीरधर्म गौरत्व-कृष्णत्व के साथ आत्मा का भिन्नाधिकरणत्व है। अर्थात् आत्मा का कोई सामानाधिकरण्य नहीं है और गौरत्वकृष्णत्व आत्मा का धर्म नहीं होता; वैसे ही 'अहं सुखी अहं दुःखी' इत्यादि स्थल में भी अहमर्थ अहङ्कार के साथ सुख-दुःख का भी भिन्नाधिकरणत्व होगा। अर्थात् अहमर्थ आत्मा के साथ सुख-दुःख का कोई सामानाधिकरण्य नहीं है और सुख-दुःख आत्मा का गुण नहीं होगा।

पूर्वपक्षी—गौरत्व-कृष्णत्व की पृथक् उपलब्धि होने से उसका दृष्टान्त देना अयुक्त है। अर्थात् 'अहं गौरः' इत्यादि स्थल में यद्यपि गौरत्व-कृष्णत्व का अहमर्थ अहङ्कार के साथ ग्रहण होता है, तथापि उक्त गौरत्व आदि को पहले आत्मा से पृथक् जानकर पीछे आत्मा से अविभक्त जानता हुआ व्यक्ति यह व्यवस्था कर सकता है कि अमुक के ये गौरत्व आदि धर्म हैं और अमुक के नहीं हैं। किन्तु सुख-दुःख की इस प्रकार पृथक् उपलब्धि नहीं होती है। अतः उसके बारे में व्यवस्था नहीं दी जा सकती है। इसलिये सुख-दुःख सर्वथा आत्मा के ही धर्म हैं।

उच्यते—नैवमुपपद्यते । कस्मात् ? मार्गान्तरगमनात् । अहङ्कारेणाऽविभक्तग्रहणादात्मगुणत्वमिति प्रागुपदिष्टम् । इदानीं तु सत्यपि तस्मिन् पृथग् ग्रहणादभावं ब्रुवतो मार्गान्तरगमनमनैकान्तिकस्य चापरिहारः ।

किञ्चान्यत्, संशयाऽव्यतिरेकात् । यत एव गौरादयः पृथगुपलभ्यन्ते न सुखादयोऽत एव संशयः । न च यत एव संशयस्तत एव निर्णयो युक्तः । तस्माद् युक्तमेतद्-गौरादिवदहङ्कारेणाप्यभिन्नग्रहणाच्छब्दाद्यात्मभूता सुखादयः ।

किञ्चान्यत्—स्वभावानवधारणादनुपादानप्रसङ्गात् । सुखाद्यात्मकाः शब्दादय इत्येवं ब्रुवतः शब्दादीनां स्वभावानवधारणादनुपादानप्रसङ्गः ।

सिद्धान्ती—उक्त व्यवस्था नही बन सकती है; क्योंकि पूर्वस्वीकृत मार्ग से भिन्न मार्ग अपना रहे हैं। अर्थात सुख-दुःख का अहङ्कार के साथ ग्रहण होने से वह आत्मा का गुण है—ऐसा पहले कहा है। किन्तु अब तो 'अहं गौरः कृष्णः आदि स्थल में अहङ्कार के साथ गौरत्व-कृष्णत्व का अविभक्तरूप में ग्रहण होने पर भी 'गौरो देहः' इत्यादि स्थल में अहमर्थ से पृथक् रूप में ग्रहण होने से उसमें आत्मधर्मत्व का अभाव बताते हैं। इस प्रकार मार्गान्तरगमन भी हो रहा है और व्यभिचार दोष का परिहार भी नहीं हो रहा है।

और भी—यहाँ संशय से व्यतिरिक्त कुछ नहीं होगा। अर्थात् गौरत्व-कृष्णत्व आदि अहमर्थ से पृथक् भी उपलब्ध होते हैं; किन्तु सुख-दुःख आदि वैसा नहीं उपलब्ध होते। अत एव संशय होगा कि सुख-दुःख अहमर्थ आत्मा का धर्म है? अथवा गौरत्व-कृष्णत्व के समान किसी अन्य का धर्म है? यहाँ यह युक्त नहीं होगा कि संशय होने से सुखादि में आत्मधर्मत्व का निर्णय हो जाय। इसलिये यही युक्त है कि 'अहं गौरः' इत्यादि के समान 'अहं सुखी-दुःखी' इत्यादि अहङ्कार के साथ अपृथक् रूप में ग्रहण होने पर भी सुख-दुःख शब्दादि के ही धर्म हैं; आत्मा के (पुरुष के) धर्म नहीं हैं।

और भी प्रमाण है—स्वभाव का निश्चय नहीं होने से सुखादि के निमित्तभूत शब्दादि का उपादान (ग्रहण) नहीं हो सकेगा। अर्थात् सुखादि गुण आत्मधर्म हैं, ऐसा मानने पर 'सुखादिरूप शब्दादि हैं' ऐसा शब्दादिस्वभाव का निश्चय नहीं होने से

निमित्तत्वेनोपादानादग्निवददोष इति चेत्, स्यान्मतम्—यथाऽग्निः पाकजनिमित्तमुपादीयतेऽथ चैषां पार्थिवत्वमेव शब्दादयोऽपि सुखादिनिमित्तत्वेनोपादीयेरन्, अथ चैषामात्मगुणत्वमेवं स्यादिति।

तदप्यनुपपन्नम्। कस्मात्? सामानाधिकरण्यदर्शनात्। यथा निमित्तस्याग्नेर्न पाकजैः सामानाधिकरण्यं 'पक्वोऽग्निः पच्यतेऽग्निरिति', एवं शब्दादीनां निमित्तत्वान्न सामानाधिकरण्यं स्यात्। सुखशब्दो दुःख इति दृष्टं तु। तस्मान्न तेषां निमित्तार्थेनोपादानमिति।

आह—एवमपि सुखादीनां शब्दाद्यात्मभावो न युक्तः। कस्मात्? विप्रतिपत्तेः। यथा हि शब्दाः शब्दात्मका इति सर्वैः शब्दरूपेण गृह्यन्ते, एवं

सुखादि के लिये शब्दादि का उपादान नहीं हो सकेगा। अतः मानना होगा कि सुखादि शब्दादि का ही धर्म है।

यदि कहें कि 'सुखादि के लिये शब्दादि का उपादान निमित्त के रूप में होगा। जैसे पाक के लिये अग्नि का ग्रहण निमित्त के रूप में होता है। अर्थात् जैसे पाकज रूपादि के निमित्त अग्नि का उपयोग किया जाता है; फिर भी ये पाकज रूपादि पृथिवी के ही माने जाते हैं, अग्नि के नहीं। वैसे ही शब्दादि भी सुखादि के निमित्त गृहीत होंगे फिर भी वे सुखादि शब्द के धर्म नहीं होंगे; किन्तु आत्मा के ही धर्म होंगे।'

तो यह कथन भी अनुपपन्न (अयुक्त) है। क्योंकि शब्दादि और सुखादि का सामाधिकरण्य देखा जाता है। यह तभी हो सकेगा; जबकि सुखादि को शब्दादि का धर्म माना जाय। अर्थात् पाकज रूपादि के निमित्तभूत अग्नि का पाकज रूपादि के साथ 'पक्वोऽग्निः पच्यतेऽग्निः' ऐसा सामानाधिकरण्य नहीं होता है; वैसे ही शब्दादि को यदि सुखादि का निमित्तमात्र माना जाय तो शब्दादि का एवं सुखादि का सामानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा। किन्तु 'सुखं शब्दः दुःखं शब्दः' ऐसा सामानाधिकरण्य देखा जाता है। इसलिये शब्दादि का उपादान सुखादि के निमित्त के रूप में नहीं हो सकता है; किन्तु शब्दादि सुखादि का धर्मी है और सुखादि शब्दादि का धर्म है। अतः सुखादि आत्मा का धर्म नहीं है।

पूर्वपक्षी—फिर भी सुखादि को शब्दाद्यात्मक मानना (शब्दादि का धर्म मानना) युक्त नहीं है; क्योंकि विप्रतिपत्ति देखी जाती है। अर्थात् जैसे 'शब्दाः शब्दात्मकाः' ऐसा सभी को शब्द के रूप में अनुभव होता है; वैसे 'सुखात्मकोऽयम्' ऐसा

---

१. 'सुखं शब्दो दुःखं शब्दः इति दृष्टं तु' इति पाठेन भाव्यम्।

सुखात्मकोऽयमिति सर्वैस्तद्रूपेण गृह्यते[1] । दृष्टा तु विप्रतिपत्तिः तस्मादात्मगुणा इति ।

उच्यते—न, संस्कारविशेषनिमित्तत्वात् । तद्यथा पित्तादिसामर्थ्यान्माधुर्यादिषु विप्रतिपत्तिः । न चैषामशब्दादिगुणत्वसंस्कारविशेषयोगात् सुखादिषु विप्रतिपत्तिः । न चैषामशब्दादिगुणत्वमिति ।

किञ्चान्यत्—निमित्तत्वेऽपि तत्प्रसङ्गात् । निमित्तवादिनोऽपि एतत् समानम् । न हि निमित्तनैमित्तिकयोर्विप्रतिपत्तिरस्ति, यथा प्रदीपप्रकाशयोः । ततश्च विप्रतिपत्तेर्निमित्तत्वमपि शब्दादीनामकल्पनीयं स्यात् । यश्च द्वयोर्दोषो न तमेकश्चोद्यत इति ।

सबको सुख के रूप में शब्द का या शब्द के रूप में सुख का ग्रहण होना चाहिये । किन्तु यहाँ सुखादि के सम्बन्ध में विपरीत ही अनुभव होता देखा जाता है । अतः सुखादि आत्मा के गुण हैं, शब्दादि के नहीं ।

सिद्धान्ती—उक्त विप्रतिपत्ति यहाँ नहीं ठीक है; क्योंकि संस्कारविशेष के कारण विप्रतिपत्ति होती है । जैसे पित्तादि दोष के सामर्थ्य से माधुर्यादि के विषय में विप्रतिपत्ति होती है कि मिस्री मिठी नहीं है । सभी मिस्री को मीठी कहते हैं किन्तु पित्तदोषग्रस्त व्यक्ति उसे कड़वी बताता है । किन्तु सुखादि में अशब्दादिगुणत्व का अर्थात् शब्दादिगुणत्वाभाव का प्रयोजक कोई पित्तादि के समान संस्कारविशेष नहीं है; जिससे सुखादि के शब्दादिगुण होने में विप्रतिपत्ति हो । इसलिये सुख-दुःख शब्दादि से अतिरिक्त आत्मा का गुण नहीं है किन्तु शब्दादिका ही गुण है ।

और भी—शब्दादि को सुखादि का निमित्त मानने में भी विप्रतिपत्ति है । अर्थात् जो सुखादि के प्रति शब्दादि को निमित्त मानते हैं; उनके प्रति भी समान दोष है । क्योंकि वास्तविक निमित्त-नैमित्तिक में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होती है, जैसे प्रदीप और प्रकाश में । प्रदीप प्रकाश का निमित्त है और प्रदीप के प्रति प्रकाश नैमित्तिक है । किन्तु सुखादि के प्रति शब्दादि के निमित्त होने में भी वादियों को विप्रतिपत्ति होने से शब्दादि को सुखादि का निमित्त भी नहीं कहा जा सकता है । इस प्रकार जो दोष दोनों पक्षों में हो उसे किसी एक के प्रति नहीं दिखाया जा सकता है ।

---

१. 'गृह्येत' इति पाठः सुसङ्गतः ।

आत्मगुणाकाङ्क्षित्वाददोष इति चेत्, स्यान्मतम्—निमित्तमप्रधानत्वादन्यपरिपाकवशेन सुखदुःखेनोत्पादयत्यात्मनः। तन्मयत्वे तु निराकाङ्क्षत्वात् प्रधानस्य व्यवस्थाभेदो न युक्त इति।

तच्च नैवम्। कस्मात्? उक्तत्वात्। तन्मयत्वेऽपि गुणभावान्माधुर्यादिषु विप्रतिपत्तिरित्यादावेवोक्तमेतत्। तस्मात् तन्मयत्वे प्राधान्यमिति चानिश्चिताभिधानमेतत्।

आह—एवमप्ययुक्तमेतत्। कस्मात्? अतीतानागतेष्वपि तु दृष्टेः। तस्मात् सुखादीनां शब्दाद्यात्मभावो न युक्त इति।

तात्पर्य यह है कि विप्रतिपत्ति होने से यदि सुखादि को शब्दादि का धर्म नहीं माना जा सकता है तो सुखादि के प्रति जो तुम शब्द को निमित्त बताये हो; वह भी मान्य नहीं होगा।

शङ्का—आत्मा के गुण का (सुखादि का) आकाङ्क्षी होने के कारण शब्द के सुखादि का निमित्त होने में कोई दोष नहीं है। अर्थात् जो निमित्त होता है; वह अप्रधान होने से अन्य के (आत्मा के) परिपाक (भोग) के वशीभूत होकर उसी को सुख-दुःख उत्पन्न करता है; अपने को नहीं। अतः सुख-दुःख शब्दादि का धर्म नहीं है; किन्तु आत्मा का धर्म है। यदि शब्दादि को ही सुखादिमय माना जाय तो वह स्वयं प्रधानभूत हो जायेगा और आत्मा के सुखादि की उत्पत्ति में निराकाङ्क्ष होने से शब्दादि आत्मा के सुख-दुःख भोग के लिये है, यह व्यवस्था न बन सकेगी।

सिद्धान्ती—उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है। अर्थात् मिस्री यद्यपि माधुर्यमय होती है, फिर भी पित्त दोष के कारण वहाँ माधुर्य गुण (गौण) बन जाता है और मिस्री के माधुर्य के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति हो जाती है; यह पहले ही कहा जा चुका है। अतः यह कहना अनिश्चित है कि शब्दादि के सुख-दुःखमय होने पर उसमें प्राधान्य बना रहेगा। अर्थात् उसमें सुखाद्यात्मकत्व की प्रतीति सदा होती रहेगी। क्योंकि पित्तादि दोष के कारण माधुर्य आदि के समान-अविवेक वशात् सुखादि की प्रतीति शब्दादि में न होकर आत्मा में हो सकती है। यद्यपि वह आत्मा का धर्म नहीं है। जैसे कड़वापन मिस्री का धर्म न होने पर भी दोषवशात् मिस्री में प्रतीत होता है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। अतः सिद्ध है कि आत्मा सुखादिधर्म का साक्षीमात्र है; उसका आश्रय नहीं है।

पूर्वपक्षी—फिर भी शब्दादि को सुखाद्यात्मक नहीं माना जा सकता; क्योंकि

उच्यते—न, स्मृतिनिमित्तत्वाद् बुद्धेः। अयमतीतानागतेष्वपि शब्दादिषु स्मार्तसुखदुःखयोगो भवति। तत्संपर्कात्तु पुरुषेण तथाऽनुभूयते। पुरुषगुणत्वे तु पाकजवन्निमित्तादुत्पन्नानां सुखादीनां विशेषभावात् तीव्रमन्दताऽनुपपत्तिः स्यात्। तस्मात् सुखदुःखयोः शब्दाद्यात्मभावो न[1] (ना) युक्त इति।

किञ्चान्यत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। द्रव्यस्य गुणैरविप्रयोगात् सुखदुःखयोरात्मगुणत्वे सत्यात्मनस्ताभ्यामनिर्मोक्षप्रसङ्गः। तस्मात्तयोरात्मगुणत्वमयुक्तमिति।

श्यामादिवत् तद्विनिवृत्तिरिति चेत्, स्यान्मतम्—यथा श्यामगुणत्वे सत्यणोरग्निसम्बन्धात् तद्विनिवृत्तिः; शब्दादिगुणत्वे चाकाशस्याशब्दकस्यावस्थानमेवमात्मनोऽपीति। एतदयुक्तम्। कस्मात्? विशेषोपादानप्रसङ्गात् साध्यत्वाच्च। यथा ह्यणुः श्यामतां परित्यज्य रूपविशेषमेव रक्तलक्षण-

---

शब्दादि की अतीतावस्था और अनागतावस्था में भी सुखादि देखा जाता है। इस लिये सुखादि की शब्दाद्यात्मकता युक्त नहीं है।

सिद्धान्ती—उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि स्मृति के आधार पर सुखादि की बुद्धि होती है। अर्थात् शब्दादि की अतीतावस्था या अनागतावस्था में भी स्मार्त सुख-दुःख का ही योग होता है। तथा स्मर्यमाण सुखादि के संसर्ग से ही पुरुष को वर्तमान में सुखादि अनुभव होता है। यदि सुखादि पुरुष का गुण (धर्म) हो तो पाक से उत्पन्न रूपादि में जैसे विशेषता देखी जाती है; वैसे निमित्तविशेष से उत्पन्न सुखादि में प्रतीयमान तीव्रता मन्दता आदि विशेषता अनुपपन्न हो जायेगी। क्योंकि पुरुष का धर्म सदा एकसा ही रहेगा। अतः सुख-दुःख की शब्दाद्यात्मकता अयुक्त नहीं है।

सुखादि को आत्मगुण मानने में और भी दोष है—कि आत्मा का अनिर्मोक्ष प्रसक्त हो जायेगा। अर्थात् द्रव्य का गुणों से वियोग न होने से सुख-दुःख यदि आत्मा के गुण हों तो आत्मा का उनसे कभी मोक्ष न हो सकेगा। इसलिये सुख-दुःख का आत्मगुणत्व अयुक्त है।

शङ्का—श्यामरूप आदि की तरह सुखादि गुणों की निवृत्ति हो जायेगी। अर्थात् जैसे परमाणु में श्यामगुण होने पर अग्नि के संयोग से उसकी निवृत्ति हो जाती है। तथा आकाश का गुण शब्द होने पर भी अशब्द (शब्दरहित) आकाश की भी

---

१. 'न' स्थाने 'ना' इति पाठोऽत्र संगतः।

मुपादत्ते, न रूपवत्तां त्यजति । एवमात्मापि बाह्यनिमित्तसामर्थ्यात् सुखात् सुखान्तरं दुःखाद् दुःखान्तरमुपाददीत, न तेऽत्यन्तं जह्यात् । तथा ह्याकाशं शब्दलक्षणं कस्यांचिदवस्थायामशब्दकं भवतीत्यस्मान् प्रति साध्योऽयमर्थः । भेर्या[1] दिशब्दास्तु तद्गुण एवेति प्रतिपादयिष्यामः । तस्मात् सुखदुखयोः शब्दाद्यात्मभावोऽयुक्तः[2] (युक्तः) ।

एवमनामिश्ररूप आत्मा । ततश्चेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म-ज्ञान-संस्काराणामनेकस्वभावानां परस्परविरोधिनां च तद्गुणत्वमनुपपन्नम् । तस्माद् युक्तमेतन्निर्गुण आत्मा, नैर्गुण्याच्च साक्षिमात्र इति केवलो विविक्तत्वात् । यस्मादयं गुणेभ्यः पृथग्भूतः, तस्मात् केवलः, न तैः संसर्गेण वर्तते ।

आह—कः पुनरस्यात्मनो गुणेभ्यः पृथग्भावोऽभिप्रेत इति ?

अवस्थिति होती है । ऐसे ही आत्मा का भी सुख दुःख से छुटकारा हो सकता है । अतः सुखादि को आत्मा का गुण मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

समाधान—पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि वैसी स्थिति में आत्मा को अन्य सुख और अन्य दुःख का ग्रहण करना पड़ेगा । तथा दृष्टान्तभूत आकाश कदाचित् शब्दरहित होता है, यह बात अभी साध्य कोटि में है; असिद्ध है । अतः यह दृष्टान्त नहीं हो सकता है । अर्थात् जैसे परमाणु श्यामता को छोड़कर रक्तलक्षण रूप-विशेष को ही पुनः प्राप्त कर लेता है; रूपवत्ता का सर्वथा परित्याग नहीं करता; वैसे आत्मा भी बाह्य निमित्त को पाकर एक सुख को छोड़कर दूसरा सुख और एक दुःख को छोड़कर दूसरा दुःख प्राप्त कर सकेगा । इसी प्रकार शब्दगुणवाला आकाश किसी अवस्था में शब्दरहित हो जाता है; यह विषय हमारे प्रति असिद्ध है । भेरी (नगाड़ा) आदि के शब्द तो आकाश के ही गुण हैं; इसे आगे कहेंगे । अर्थात् आकाश में कोई न कोई शब्द बना रहता है । अतः सुख-दुख शब्दादि का ही गुण है; यह युक्त है ।

एवम्, यह आत्मा सर्वथा अमिश्रितरूप है । इसीलिये इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-ज्ञान और संस्काररूप अनेक स्वभाव वाले परस्पर विरोधी तत्त्व आत्मा के गुण नहीं हो सकते । इसलिये यह युक्त है कि आत्मा निर्गुण है, और निर्गुण होने के कारण साक्षिमात्र है और सबसे विविक्त होने से केवल है । चूँकि यह आत्मा गुणों से

---

१. भेदादिशब्दास्तु इति चक्रवर्तिपाठः ।
२. अत्र 'युक्तः' इति पाठो युज्यते ।

उच्यते—तदुपकारनिरपेक्षाणां सत्त्वादीनां स्वकार्यसामर्थ्यं[1] पृथग्-भावः। न हि सत्त्वादयः प्रकाशादिभिर्धर्मैरितरेतरोपकारेण वर्तमानाः पुरुषकृतमुपकारमपेक्षन्ते। प्रकाशादिधर्मसन्निधानमात्रादेव तु प्रवर्तन्ते। तथा च वार्षगणाः पठन्ति—'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तन्ते' (ते) इति। यस्माद् गुणास्तदुपकारनिरपेक्षाः प्रवर्तन्ते, तस्मादसावपि तत्संसर्गं नानुभवति। दृष्टा तु लोके[2] ऽप्येककार्यत्वात् पृथक् पृथग् भावपरिकल्पना। तद्यथा, इमे भ्रातरःपृथक्, एषां नैकं कार्यम्। न पृथगिमे येषामेकमिति।

मध्यस्थो विषयित्वात्। यस्मादयं पुरुषो विषयी, तस्मान्मध्यस्थः।

पृथग्भूत (विविक्त) है, इसीलिये केवल है, अर्थात् उन गुणों के साथ असंसृष्ट होकर रहता है।

शङ्का—गुणों से इस आत्मा के पृथग्भाव का क्या अभिप्राय है?

समाधान—पुरुष के द्वारा किये जाने वाले किसी भी उपकार की अपेक्षा किये बिना सत्त्वादि गुणों के अन्दर वर्तमान अपने कार्य के प्रति सामर्थ्य ही गुण का आत्मा से पृथग्भाव है। क्योंकि सत्त्व आदि गुण अपने प्रकाश-प्रवृत्ति एवं नियमन रूप धर्मों से परस्पर में उपकृत होकर अपना कार्य करते हुए, उसमें पुरुषकृत उपकार की अपेक्षा नहीं रखते हैं। किन्तु प्रकाश-उपष्टम्भकत्व एवं आवरणरूप एक दूसरे के धर्म के सान्निध्यमात्र से ही सत्त्वादि गुणों की प्रवृत्ति होती है। जैसा कि वार्षगण आचार्य कहते हैं—'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तते' इति। अर्थात् आदि सर्ग में प्रधान की प्रवृत्ति अहेतुकः (स्वाभाविक) एवं पुरुष से अपरिगृह्यमाण (अननुगृह्यमाण) होकर अर्थात् पुरुषकृत उपकार की अपेक्षा किये बिना ही होती है।

चूँकि सत्त्वादि गुण पुरुषकृत उपकार से निरपेक्ष होकर अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं; इसलिये पुरुष भी उनके संसर्ग का अनुभव नहीं करता है। अर्थात् सत्त्वादि गुणों एवं उनके कार्यों से पुरुष असंपृक्त रहता है। लोक में भी देखा गया है कि एक कार्य न होने पर पृथक् पृथक् भाव की परिकल्पना की जाती है। जैसे, ये सभी भाई पृथक् हैं; क्योंकि इनका एक कार्य नहीं है। ये पृथक् नहीं हैं, जिनका एक कार्य है।

विषयी होने के कारण यह आत्मा मध्यस्थ है। अर्थात् चूँकि यह पुरुष विषयी (विषय से भिन्न) है, इसलिये मध्यस्थ है।

---

१. 'सामर्थ्यं पृथग्भावः' इति पाठेन भाव्यम्।
२. 'अनेककार्यत्वात्' इति पाठ उचितो भाति।

किं कारणम् ? विषयाणां ह्यतुल्यबलत्वात् न्यूनातिशयोपपत्तेश्च परस्परेण बाधानुग्रहावुपपन्नौ। विषयी चायम्। तस्मान्नास्ति न्यूनताद्युपपत्तिः। ततश्चेतनाभावः। न चाऽमिश्ररूपत्वात् सङ्गद्वेषौ गुणविषयौ, अतो मध्यस्थः।

द्रष्टृत्वं चैतन्यात्। प्रकृतिविकारभूतत्वात् सत्त्वादिभ्यश्चैतन्यमपोद्धृत्य पुरुषे व्यवस्थापनीयम्। न चाचेतनानां द्रष्टृत्व मुपपद्यते इत्यत पुरुष एव चैतन्याद् द्रष्टा नान्यत् तत्त्वान्तरम्।

अकर्तृभावः, अप्रसवधर्मित्वात् प्रसवार्थो धर्मः प्रसवधर्मः; सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मी। कः पुनरसौ प्रसवार्थो धर्म इति ? प्रस्पन्दनपरिणामौ। निष्क्रियत्वादकर्तेति यावत्। तदिदमप्रसवधर्मित्वादकर्तेति। कथमस्य निष्क्रियत्वमिति चेत् ? चैतन्यात्। अचेतनानां हि क्षीरादीनां क्रियावत्त्वमुप-

---

प्रश्न—क्या कारण है ?

उत्तर—चूँकि विषयों में अतुल्यबलत्व है और किसी का न्यून होना या किसी का अतिशययुक्त होना उनमें उपपन्न है; इसीलिये विषयों में परस्परबाध और अनुग्रह भी उपपन्न (संभव) है। किन्तु यह पुरुष तो विषयी है। इसलिये पुरुष में न्यूनता या अतिशय की संभावना नहीं है। विषयी होने के कारण यह चैतन्यस्वरूप है। एवं, आत्मा के अमिश्ररूप होने से अर्थात् इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म-ज्ञान और संस्काररूप परस्पर विरोधी गुणों से रहित होने से सत्त्वादि गुणों में रहने वाले सङ्ग (राग) और द्वेष से यह रहित है। अतएव आत्मा मध्यस्थ है। क्योंकि रागद्वेषवान् मध्यस्थ नहीं हो सकता है।

चैतन्य के कारण पुरुष में द्रष्टृत्व है अर्थात् आत्मा द्रष्टा है। चूँकि बुद्धि-सत्त्वादि जड़-प्रकृति के विकारभूत हैं; इसलिये उनसे चैतन्य को पृथक् कर पुरुष में व्यवस्थित करना चाहिये। अचेतन सत्त्वादि गुणों में द्रष्टृत्व नहीं बन सकता; इसलिये चैतन्य के होने से पुरुष ही द्रष्टा है, कोई अन्य तत्त्व द्रष्टा नहीं है।

एवं अप्रसवधर्मी होने के कारण पुरुष में अकर्तृत्व है। प्रसव के लिये जो धर्म वह प्रसवधर्म है, और वह जिसमें हो, वह प्रसवधर्मी है।

प्रश्न—वह कौन सा धर्म है, जो प्रसव के लिये होता है ?

उत्तर—प्रस्पन्दन (क्रिया) और परिणाम ही वह धर्म है, जो प्रसव के लिये

लब्धं, चेतनस्य न कस्यचिदित्यतो निष्क्रियः पुरुषः। किञ्च, अनामिश्ररूपत्वात्। आमिश्ररूपं हि क्रियादिमत् क्षीरादि, अनामिश्ररूपश्चायम्। तस्मान्निष्क्रियः।

विभुत्वादिति चेत्, स्यादेतत्—यथा विभुत्वे सति प्रधानस्य सक्रियत्वमेवं पुरुषस्य इति विभुत्वे सक्रियत्वेन भवितव्यमिति। तच्च नैवम्—कस्मात्? धर्मद्वयसहितस्य साहचर्योपलब्धेः। तद् विभुत्वमाचेतन्यानेकरूपत्वसहितं क्रियावति दृष्टं, न केवलम्। न तु तथा पुरुषे। तस्माद् विषममेतत्। एवं निष्क्रियः पुरुषः, निष्क्रियत्वाच्च प्रधानात् कार्यकरणं न कुरुते। कस्मात्? क्रियावतः कुम्भकारस्य मृत्पिण्डात् कार्यनिष्पत्तिसामर्थ्यदर्शनात्।

होता है। निष्क्रिय होने से पुरुष अकर्ता है—यह तात्पर्य है। यही बात कही गयी है कि अप्रसवधर्मी होने के कारण पुरुष अकर्ता है।

प्रश्न—यह पुरुष निष्क्रिय कैसे है?

उत्तर—चैतन्य के कारण निष्क्रिय है। क्योंकि क्षीर आदि अचेतन वस्तु ही क्रियावान् देखी गयी है, कोई चेतन क्रियावान् नहीं देखा गया है। इसलिये चेतन पुरुष निष्क्रिय है।

एवं अमिश्रित स्वरूप का होने के कारण भी पुरुष निष्क्रिय है। क्योंकि मिश्रित स्वरूप वाला क्षीर आदि ही क्रियादिमान् होता है। पुरुष तो सदा अनामिश्रस्वरूप है। अतः यह निष्क्रिय है।

शङ्का—विभु होने से पुरुष में सक्रियत्व होगा। अर्थात् जैसे विभु होने से प्रधान सक्रिय होता है। ऐसे ही पुरुष को भी विभु होने के कारण सक्रिय होना चाहिये।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि दो धर्मों के सहित विभुत्व में ही क्रिया का साहचर्य देखा गया है। अर्थात् वह विभुत्व अचेतनत्व और अनेकरूपत्व के सहित ही क्रियावान् में देखा गया है, केवल विभुत्व नहीं। पुरुष में तो अचेतनत्व और अनेकरूपत्व (अनेकरूप में परिणामित्व) के साथ विभुत्व नहीं रहता है। इसलिये यह प्रधान दृष्टान्त विषम है।

इस प्रकार पुरुष निष्क्रिय है और निष्क्रिय होने से वह प्रधान के द्वारा कार्यकरण संघात नहीं करता है। क्योंकि, क्रियावान् कुम्भकार में ही मृत्पिण्ड के द्वारा घटादि कार्य के निष्पादन की शक्ति देखी जाती है।

स्यादेतत्—उत्पादितस्यान्येन स्थितिं कुरुते, धात्रीकुमारवत् । स्थितस्य वा प्रयोगं रथशकटयन्त्रप्रेरकवदिति ।

एतदप्यनुपपन्नम्, पूर्वस्मादेव हेतोः । अथापि स्यात्, स्वतः पुरुषः कार्यकरणं कुरुत इति । तदप्ययुक्तम् । चेतनाचेतनयोरत्यन्तभेदात् प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः । अथ मतमुभयत इति, तदपि नैव संभवति, उभयदोषप्रसङ्गात् ।

स्यात् पुनरेतत्—अव्यपदिश्य योनिं पुरुषोऽभिध्यानमात्रेण कार्यकरणं कुरुते इति, असदेतत् । कस्मात् ? अनुत्पत्तावभिध्यानानुपपत्तेः । ईश्वरकारणप्रतिषेधेऽभिहितं प्राक्[1] प्रधानविपरिणामाद् बुद्धिमतो बुद्धि-

---

पूर्वपक्षी—अन्य द्वारा उत्पन्न किये हुए को स्थिति पुरुष करता है, जैसे धात्री (धायी) अन्य द्वारा उत्पन्न किये हुए कुमार का पोषण करती है। अथवा स्थितिमान् देहादि का प्रयोग पुरुष करता है, अर्थात् प्रयोजक होता है। जैसे, कोई रथ-शकट (गाड़ी), या यन्त्र का प्रेरक उसको सञ्चालित करता है।

सिद्धान्ती-पूर्व में प्रतिपादित कारण से ही उक्त कथन भी संगत नहीं है। अर्थात् निष्क्रिय होने के कारण पुरुष कार्यकारणसंघात का पोषक या सञ्चालक भी नहीं हो सकता है।

पूर्वपक्षी—फिर तो यह हो कि पुरुष स्वतः ही कार्यकारणसंघात को करता है।

सिद्धान्ती—वह भी नहीं हो सकता है। क्योंकि पुरुष है चेतन और कार्यकरण संघात अचेतन है। ऐसी स्थिति में चेतन-अचेतन में अत्यन्त भेद होने के कारण उनमें प्रकृतिविकारभाव उपपन्न नहीं है। अर्थात् चेतन पुरुष अचेतन कार्यकारणसंघात का उपादान नहीं हो सकता है। यदि कहो कि पुरुष स्वतः और प्रधान के द्वारा भी करता है तो वह भी नहीं हो सकता है; क्योंकि प्रधानपक्ष में और स्वतःपक्ष में प्रतिपादित उभय दोषकी प्रसक्ति हो जायगी।

पूर्वपक्षी-ऐसा हो कि योनि (निमित्त) का व्यपदेश अर्थात् व्यवहार-प्रयोग-अपेक्षा किये बिना पुरुष अभिध्यान=संकल्प या भावना मात्र से कार्यकारणसंघात को उत्पन्न करता है-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि अनुत्पत्ति की दशा में अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व भावना का होना अनुपपन्न है। ईश्वर-कारणता के खण्डन में कहा जा चुका है कि

---

१. 'प्राक् च प्रधानविपरिणामाद् बुद्धिरेव नास्तीत्युपपन्नमेतदित्यत्र ।

र्नास्ति। न च बुद्धिमन्तरेणाभिध्यानमुपपद्यते, तद्वृत्तिभूतत्वात्। तथा बुद्धिमत्पूर्वकसृष्टिप्रतिषेधः कृतः।[1] स इहापि योज्यः। अध्यवसायकर्तृत्वं च प्राक् प्रतिषिद्धम्[2]।

उक्तञ्च—

नाध्यवसायं कुरुते नैव स्थितिं प्रयोगं वा।
न स्वात्मनो न परतो न व्यपदेशान्न चोभयतः॥

तद्युक्तमेतत्—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥ इति॥१९॥

यतश्चेतनाशक्तिसम्बन्धात् पुरुष एव द्रष्टा, नान्यत् तत्त्वान्तरम्, गुणाश्च कर्तारो, न पुरुषः—

प्रधान का परिणाम होने के पहले बुद्धिमान् की बुद्धि नहीं है और बुद्धि के अभाव में पुरुष का अभिध्यान अनुपपन्न है। क्योंकि अभिध्यान बुद्धि की ही वृत्ति है। एवं पूर्व में बुद्धिमत् के द्वारा सृष्टि का प्रतिषेध किया गया है। उसकी योजना यहाँ भी कर लेनी चाहिये। एवं अध्यवसायकर्तृत्व का भी पूर्व में निषेध कर दिया गया है। इस प्रकार सातों प्रकर से कर्तृत्व नहीं होने से पुरुष अकर्ता है। कहा भी गया है—

'नाध्यवसायं कुरुते नैव स्थितिं प्रयोगं वा।
न स्वात्मनो न परतो न व्यपदेशान्न चोभयतः॥

इसका अर्थ उपर्युक्त व्याख्या में आ गया है। इसलिये यह ठीक ही है कि—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥

इसकी व्याख्या पहले हो चुकी है।

चूँकि चेतनाशक्ति का सम्बन्ध होने से पुरुष ही द्रष्टा है; कोई अन्य तत्त्व द्रष्टा नहीं है; तथा सत्त्वादिगुण ही कर्ता हैं, पुरुष कर्ता नहीं है—

इसलिये उस पुरुष के संयोग ये अचेतन भी लिङ्ग चेतनावान् के समान हो

---

१. ईश्वरकारणताखण्डनावसरे इति ज्ञेयम्।
२. द्रष्टव्यम्—'न ह्ययं विषयेषु बाह्यान्तःकरणसान्निध्ये ऽध्यवसायं कुरुते' इति।

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

पुरुषसम्पर्काद् हि ग्रहणधारणविज्ञानवचनोहापोहक्रियाः, यथान्यायाभिनिवेशानां (यथाऽन्याभिनिवेशानां) करणधर्माणां प्रत्ययरूपाणामिवोपलब्धेश्चेतनाशक्तेश्चाध्यवसायवृत्तिमनुरुध्यमानायास्तद्भावसन्निवेशिनां सत्त्वादीनां व्यापारवतामभिसम्बन्धाद् व्यापाराविष्टाया इवोपलब्धिः । यतस्तत्रायमनेककालप्रवृत्तमिथ्याप्रत्ययाभ्यासवासनापेक्षो भवबीजहेतुर्ज्ञानविशेषः प्राणभृतामवभासते—श्रोत्रमुपलभ्य (भ) ते त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमित्यादि, तथा पुरुषः कर्मणां कर्ता, पुरुषः सुख-दुःखयोरिति ।

तस्मात् करणस्य ग्रहणरूपता पुरुषस्य च कर्तृरूपता सम्बन्ध्यन्तरसम्पर्कादन्यगताऽन्यत्रोपलभ्यमाना भक्त्याऽध्यवसातव्या, न परमार्थतः । उक्तं च—

जाता है । एवं गुणों में ही वास्तविक कर्तापन होने पर भी उदासीन पुरुष कर्ता के समान हो जाता है; वास्तविक कर्ता नहीं है ।

क्योंकि पुरुष के सम्पर्क से ही ग्रहण, धारण, विज्ञान, वचन एवं ऊहापोह क्रियायें होती हैं । जैसे अन्य के अभिनिवेश के कारण (पुरुष के सम्पर्क के कारण) करण के (अन्तःकरण के या बाह्यकरण के) धर्म प्रत्ययरूप में (ज्ञान के रूप में) उपलब्ध होते हैं । एवं बुद्धि की अध्यवसाय वृत्ति का अनुरोध करने वाली चेतनाशक्ति को भी उससे (चेतनाशक्ति से) सम्पृक्त व्यापारयुक्त सत्त्वादि के साथ सम्बन्ध होने से व्यापाराविष्टरूप में उपलब्धि होती है; यद्यपि पुरुष (चेतनाशक्ति) वस्तुतः व्यापाराविष्ट नहीं होता है । कारण, अनेक (अनादि) काल से आ रहा जो मिथ्या प्रत्यय, उसके अभ्यास(परम्परा)से उत्पन्न वासना-प्रयुक्त एवं संसारबीजहेतुक यह ज्ञान विशेष प्राणियों में प्रतीयमान होता है—जैसे, श्रोत्र शब्द का उपलम्भ करता है, त्वचा स्पर्श का, चक्षु रूप का, जिह्वा रसका, घ्राण गन्ध का उपलम्भ करता है इत्यादि । ऐसे ही पुरुष कर्मों का कर्ता है, पुरुष सुख-दुःख का आश्रय है—इत्यादि भी प्रतीति होती है ।

इसलिये करणों की ग्रहणरूपता तथा पुरुष की कर्तृरूपता सम्बन्ध्यन्तर के सम्पर्क के कारण वस्तुतः अन्यगत होने पर भी अन्य में उपलब्ध होती हुई गौण रूप में ही समझनी चाहिये परमार्थ रूप में नहीं । कहा भी गया है—चेतनाधिष्ठिता इत्यादि ।

चेतनाधिष्ठिता बुद्धिश्चेतनेव विभाव्यते ।
कर्तृष्ववस्थितश्चात्मा भोक्ता कर्तेव लक्ष्यते ॥

आह—संयोगात् पररूपतापत्तावतिप्रसङ्गः, अविशेषात् । यदि चेतनसंयोगाद् बुद्ध्यादीनां प्रत्ययवदुपचारः, व्यापित्वादस्य घटादिभिरपि संयोगो न प्रतिषिध्यत इत्यतः प्राप्तस्तेषामपि प्रत्ययवदुपचारः । अथ संयोगाऽविशेषात् करणानामेव प्रत्ययवदुपचारो न घटादीनाम्, विशेषस्तर्हि वक्तव्य इति ।

उच्यते—तदप्रसङ्गः, शक्त्यपेक्षत्वात् स्फटिकादिवत् । यथोपधानसंयोग(गा)विशेषे सत्याकाशस्फटिकयोः, स्फटिकमेवोपधानसरूपं प्रत्यवभासते शक्तितो नाकाशम् । एवं पुरुषसंयोगाविशेषे बुद्धिघटयोः शक्तितो बुद्धिरेव चेतनारूपापन्नेवोपलभ्यते, न घटः ।

आह—पुरुषस्य विकार्यत्वप्रसङ्गः, रूपान्तरोपादानात् । यदि तर्हि

अर्थात् चेतन से अधिष्ठित बुद्धि चेतन की तरह मालूम देती है । एवं बुद्धिरूप कर्ताओं में अवस्थित (सम्पृक्त) भोक्ता आत्मा कर्ता के समान लक्षित होता है । वस्तुतः वह कर्ता नहीं है ।

शङ्का—संयोग से यदि अन्यरूपता प्राप्त हो तो अतिप्रसङ्ग दोष हो जायेगा; क्योंकि सबके साथ संयोग एक समान होगा । अर्थात् चेतन के संयोग से यदि बुद्धि आदि में ज्ञान का व्यवहार हो तो आत्मा के व्यापक होने से घटादि के साथ भी इसके संयोग का वारण नहीं हो सकता; इसलिये घटादि में भी ज्ञान का व्यवहार होने लगेगा । यदि कहें कि 'संयोग में कोई अन्तर न होने पर भी बुद्धि आदि कारणों में ही ज्ञानवत्ता का व्यवहार होगा घटादि में नहीं; तो जिस विशेषता के कारण एक जगह ज्ञानवत्ता का व्यवहार होता है और अन्यत्र नहीं होता; उसे बताना चाहिये ।

समाधान—उक्त दिया हुआ अतिप्रसङ्ग नहीं होगा । क्योंकि शक्ति की अपेक्षा से करणों में ज्ञान का व्यवहार होगा और घटादि में नहीं होगा, स्फटिक के समान । अर्थात् जैसे आकाश और स्फटिक का शिर के साथ समान रूप से संयोग होने पर भी शक्तिविशेष के कारण स्फटिक उपधान (सिरहानी) के रूप में प्रतीत होता है, आकाश नहीं, ऐसे ही बुद्धि और घट दोनों का समानरूप से पुरुष के साथ संयोग होने पर भी शक्तिविशेष के कारण बुद्धि ही चेतनारूप को प्राप्त हुई सो अनुभव में आती है, घट नहीं ।

करणसम्बन्धात् पुरुषः कर्तृत्वोपचारं विषयसरूपतां च प्रतिपद्यते, प्राप्तमस्यापि स्फटिकवद् रूपान्तरोपादानाद् विकार्यत्वम्। अथ नास्य विषयरूपापत्तिः, न तर्हि करणस्वरूपः पुरुष इति।

उच्यते—न, भक्तितोऽभ्युपगमात्। बुद्धिरुपात्तविषयेन्द्रियवृत्त्युपनिपातात् ताद्रूप्यं प्रतिपद्यते। बुद्धिरूपं तु सन्निधानमात्राच्छक्तिविशेषयोगात् फलभोक्तृत्वाच्च राजनि भृत्यजयपराजयोपचारवत् पुरुष उपचर्यते, न त्वसौ बुद्धिसम्पर्कात् तद्रूपो भवति। अत एवास्य सत्यां चेतनाशक्तौ व्यवसायकर्तृत्वं प्रतिषिध्यते, मा भूद् विषयरूपापत्तौ सत्यामनेकस्वभाव-

---

शङ्का—पुरुष में विकारकी प्रसक्ति हो जायेगी; क्योंकि बुद्धि का संयोग पाकर वह रूपान्तर को प्राप्त कर जाता है। अर्थात् यदि करण के सम्बन्ध से पुरुष कर्तापन को तथा विषयाकारता को प्राप्त करता है, तो स्फटिक के समान रूपान्तर ग्रहण करने के कारण पुरुष में भी विकार्यत्व (विकार) की प्राप्ति हो गयी। यदि कहें कि पुरुष में विषयाकारता नहीं आती है, तो यह पुरुष करणस्वरूप न हो सकेगा। अर्थात् करण-धर्म कर्तृत्व का उपचार (व्यवहार) पुरुष में न हो सकेगा। क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से पहले बुद्धि (करण) विषयाकारता को धारण कर लेती है; तदनन्तर बुद्धिसम्पृक्त पुरुष में भी बुद्धिगत विषयाकारता भासित होने लगती है और बुद्धिगत ज्ञानकर्तृत्व पुरुष में व्यवहृत होने लगता है। जैसे, जपाकुसुम के संयोग से स्फटिक रक्त जैसा व्यवहृत होने लगता है। अतः पुरुष में विषयाकारता का ग्रहण मानना होगा। ऐसी स्थिति में उसमें विकार्यत्व की प्रसक्ति निश्चित है।

समाधान—पुरुष में विकार्यत्व का प्रसङ्ग नहीं होगा; क्योंकि पुरुष में बुद्धिरूपता गौण स्वीकार की जाती है; वास्तविक या मुख्य नहीं है। क्योंकि विषयसन्निकृष्ट (संयुक्त) इन्द्रिय की विषयाकार वृत्ति होती है, और उससे सम्बद्ध बुद्धि वास्तविक विषयाकारता को धारण कर लेती है। किन्तु विषयाकारता या ज्ञानकर्तृत्वरूप बुद्धि का स्वरूप पुरुष में बुद्धि के सन्निधानमात्र से शक्तिविशेष के कारण और फल का भोक्ता होने के कारण वैसे ही उपचरित(व्यवहृत)होता है, जैसे भृत्यगत वास्तविक जय-पराजय राजा में उपचरित होता है। ऐसा नहीं है कि वह पुरुष बुद्धि के संसर्ग से वस्तुतः बुद्धिरूप हो जाता है अर्थात् कर्ता बन जाता है।

इसीलिये पुरुष में चेतनाशक्ति के रहते व्यवसाय (ज्ञान) कर्तृत्व का निषेध किया है। अतः विषयाकारता प्राप्त होने के कारण बुद्धि के साथ एकस्वभावता (एकरूपता) हो जाने से बुद्धि के समान पुरुष में विकार्यत्व का प्रसङ्ग नहीं होगा। इसलिये

त्वादि[1] कार्यत्वप्रसङ्गः। तस्माद् विषयसम्पर्कादप्यविकार्यः पुरुषः। न ह्यस्य नित्यत्वात् किञ्चिदनुग्रहाय, नापघाताय। आह च—

मुष्टिर्यथा विकीर्णः सूच्यग्रे सर्षपादीनाम्।
तिष्ठति न सूक्ष्मभावात् तद्वद् द्वन्द्वानि सर्वज्ञे॥ इति॥

चेतनाशक्तियोगात्तु द्रष्टृत्वमस्य स्वाभाविकम्।

एवं चेद् यदुक्तम्—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्समः॥ इति,

तदयुक्तम्। किं कारणम्? यस्मादविकार्यरूपस्याकाशस्य सन्निधानमात्रान्मेघपयोरजोधूमप्रभृतिभिरभिन्नदेशत्वादत्यन्तशुद्धस्यापि मलिन-

---

विषय का सम्पर्क होने पर भी पुरुष अविकार्य है। क्योंकि इसके (पुरुष के) नित्य (अविकार्य एकरूप) होने से न इसके अनुग्रह के लिये कुछ होता है और न किसी प्रकार के अपघात के लिये कुछ होता है। यहाँ अनुग्रह का अर्थ है—उपचय तथा अपघात का अर्थ है—अपचय। अर्थात् पुरुष अविकार्य होने से वृद्धि-ह्रास से सर्वथा रहित है। कहा भी गया है—

मुष्टिर्यथा विकीर्णः सूच्यग्रे सर्षपादीनाम्।
तिष्ठति न सूक्ष्मभावात् तद्वद् द्वन्द्वानि सर्वज्ञे॥ इति।

अर्थात् जैसे सूई के अग्र भाग पर प्रक्षिप्त सरसों आदि की मुट्ठी (ढेर) उस पर नहीं टिक पाती है; क्योंकि सूई का अग्रभाग अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वैसे ही सर्वज्ञ (चेतनाशक्ति) पुरुष में द्वन्द्व लिप्त नहीं होते हैं। किन्तु चेतनाशक्ति के योग से इसमें द्रष्टृत्व स्वाभाविक होता है। अर्थात् पुरुष स्वभावतः द्रष्टा है।

ऐसी स्थिति में यह जो कहा गया है कि-वर्षातपाभ्यां कि व्योम्न इत्यादि। अर्थात् वर्षा और धूप से आकाश को कुछ नहीं होता है; उनका फल तो चमड़े में होता है कि वह भीगकर और सूखकर नष्ट हो जाता है। यहाँ आत्मा यदि चर्मतुल्य हो तो वह अनित्य हो जायेगा; यदि आकाशतुल्य हो तो शून्यरूप होने से असत् हो जायेगा।

तो उक्त कथन अयुक्त है। क्योंकि चूंकि अविकार्यस्वरूप आकाश स्वतः अत्यन्त शुद्ध होता हुआ भी सन्निधानमात्र से मेघपय (जल) धूलि एवं धूम प्रभृति से

---

१. 'एकस्वभावत्वाद्विकार्यत्वप्रसङ्गः' इति पाठो युक्तो भाति।

मिव रूपमुपलभ्यते, न च विकार्यत्वम्, एवमात्मनोऽपि स्यात्। तद् युक्तमेतत्–पुरुषसंयोगात् करणस्य प्रत्ययोपचारः, पुरुषस्य च गुणसंयोगात् कर्तृत्वोपचार इति।

आह—अयुक्तमेतत्, कस्मात्? संयोगानुपपत्तेः। पुरुषस्य हि गुणानां च संयोगः परिकल्प्यमानोऽन्यतरकर्मजो वा परिकल्प्यते यथा स्थाणुश्येनयोः, उभयकर्मजो वा यथा मेषयोः,संयोगजो वा(यथा)द्व्यङ्गुलाकाशयोः, स्वाभाविको वा यथाऽग्न्यौष्ण्ययोः, शक्तिनिमित्तो वा यथा चक्षूरूपयोः, योग्यतालक्षणो वा यथाऽङ्गुष्ठोपानद्द्रव्ययोः, यादृच्छिको वा यथा श्वभ्रतत्पातिनोः, विषयविषयिनिमित्तो वा यथा मत्स्योदकयोरिति?

अभिन्न (समान) देश होने के कारण मलिन जैसा प्रतीत होता है। किन्तु उसमें कोई विकृति नहीं आती है। ऐसे ही आत्मा का भी होगा। इसलिये यह युक्त है कि पुरुष के संयोग से करण में प्रत्यय का (ज्ञान का) उपचार होगा और गुण के संयोग से पुरुष में कर्तृत्व का उपचार होगा।

पूर्वपक्षी—उक्त करण का प्रत्ययोपचार और पुरुष का कर्तृत्वोपचार दोनों ही अयुक्त है; क्योंकि गुण और पुरुष का संयोग अनुपपन्न है। कारण पुरुष और गुण के संयोग की जो कल्पना की जा रही है; वह संयोग क्या अन्यतर कर्मज है? जैसा कि स्थाणु और बाजपक्षी का संयोग केवल बाज की क्रिया से होता है। या उभयकर्मज (दोनों की क्रिया से उत्पन्न) है? जैसे परस्पर लड़ते हुये दो भेड़ों का संयोग दोनों के कर्म से उत्पन्न होता है। या संयोगज (संयोग से उत्पन्न) संयोग है? जैसा कि अङ्गुलियों और आकाश के संयोग से देह और आकाश का संयोग हो जाता है। या स्वाभाविक संयोग है? जैसा कि अग्नि और उष्णता का सम्बन्ध स्वाभाविक होता है। या शक्ति-निमित्तक है? जैसा कि चक्षु और रूप का सम्बन्ध दोनों की शक्ति (सामर्थ्य) पर आश्रित है। या योग्यतालक्षण संयोग है? जैसा कि अँगूठा और जूते का सयांग योग्यता के कारण है। अर्थात् अँगूठा जूता से संयुक्त होने के योग्य है, और जूता अगूँठा से संयुक्त होने के योग्य है। वैसे ही पुरुष और गुण में योग्यतालक्षण संयोग है। अथवा यादृच्छिक संयोग है? जैसा कि गर्त और उसमें गिरने वाले का संयोग यादृच्छिक (इच्छानधीन) है। जैसे बिना प्रयत्न के उसमें गिरकर संयोग हो जाता है। अथवा विषय (देश) और विषयी (देशी) के निमित्त से है? जैसा कि मत्स्य (मछली) और पानी का संयोग होता है। क्योंकि मछली का निवासदेश=पानी ही है; इसलिये मछली और पानी का संयोग देशदेशी होने के कारण होता है। वैसे ही क्या पुरुष और गुण का संयोग देशदेशी होने के कारण है?

तन्न तावदन्यतरकर्मज उभयकर्मजश्च संयोग एषामुपपद्यते । कस्मात्? विभुत्वात् । परिच्छिन्नदेशानामप्राप्तौ सत्याम(म) दृष्टः, यथोदाहृतम् । न चैतद् गुणानां पुरुषस्य च सम्भवति, विभुत्वात् । न स्वाभाविकः, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात् । यथाऽग्नेः स्वाभाविकादौष्ण्यान्मोक्षो न भवति, एवमात्मनः स्वाभाविकत्वाद् गुणसंयोगादनिर्मोक्षप्रसङ्गः स्यात् । शक्तिनिमित्तश्च, किम् ? अनिर्मोक्षप्रसङ्गादेव, स न भवतीत्यनुवर्तते । स्वस्वामिशक्तिनिमित्ते हि संयोगे परिकल्प्यमाने शक्त्योः सततावस्थानादनिर्मोक्ष एव प्रसज्येत । योग्यतालक्षणः शक्तिमात्ररूपत्वादसंवेद्योऽतस्तदसिद्धिः । किं च प्रयोजनान्तरानुपपत्तेः । प्रवृत्त्यनुगुणं हि योग्यमित्युच्यते । तस्या एव तु प्रवृत्तेः पुरुषार्थमपोह्य (न) निमित्तान्तरं शक्यं कल्पयितुम् । आकस्मिकत्वे च नियमद्वैतानुपपत्तिः । तस्मादयुक्तं पुरुषस्य गुणानां च योग्यतालक्षणः सम्बन्धः ।

पूर्वपक्षी द्वारा उपपादन—पुरुष एवं गुणों का संयोग अन्यतरकर्मज या उभयकर्मज दोनों हो नहीं बन सकता है । क्योंकि गुण और पुरुष दोनों ही विभु हैं । जो परिच्छिन्न देश वाले हैं अर्थात् सीमित हैं, उन्हीं में अप्राप्तिपूर्वक प्राप्तिरूप संयोग देखा गया है । जैसे वृक्ष और बाजपक्षी तथा दो भेड़ों में । गुण और पुरुष में तो कभी अप्राप्ति है नहीं कि उनका संयोग हो सके; क्योंकि वे विभु (व्यापक) हैं ।

गुण और पुरुष का संयोग स्वाभाविक नहीं हो सकता है; क्योंकि तब मोक्ष का सर्वथा अभाव हो जायेगा । अर्थात् जैसे अग्नि की स्वाभाविक उष्णता से मुक्ति नहीं होती है; वैसे ही आत्मा का भी स्वाभाविक होने के कारण गुणों के सदा संयोग से मोक्षाभाव की प्रसक्ति हो जायेगी । एवं शक्तिनिमित्तक भी गुण-पुरुष संयोग नहीं हो सकता है; क्योंकि वैसा होने पर भी मोक्षाभाव की प्रसक्ति हो जायेगी । अर्थात् स्वशक्ति (गुणों की) तथा स्वामिशक्ति (पुरुष की) के कारण संयोग मानने पर उन शक्तियों के सतत अवस्थित होने से अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग हो ही जायेगा ।

योग्यतारूप संयोग गुण और पुरुष की शक्तिमात्रस्वरूप होने से अनुभव का विषय नहीं होगा, अतः वैसे संयोग को सिद्धि नहीं हो सकती है । एवं उक्त योग्यता का कोई अन्य प्रयोजन भी नहीं बताया जा सकता है । अर्थात् प्रवृत्ति के अनुरूप होना ही योग्यता कही जाती है । किन्तु उस प्रवृत्ति का पुरुषार्थ को छोड़कर किसी अन्य निमित्त की कल्पना नहीं की जा सकती है । तात्पर्य यह है कि गुणगत योग्यता से

न [1]यादृच्छिकः, मोक्षकारणनियमानुपपत्तेः। संयोगकारणप्रतिद्वन्द्वं कैवल्यकारणम्। यदि च यादृच्छिको गुणपुरुषसंयोगः स्यात् तस्या-(स्य) ज्ञानान्निवृत्तिर्नास्तीति तदर्थस्याभ्युत्थानस्यानर्थक्यं प्राप्तं, विशेषानुपपत्तेश्च कारणान्तरं कल्पयितुम्। अत एतदप्ययुक्तमिति।

न वैषयिकः, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। सततमेव हि पुरुषस्य विषयित्वमव्यावृत्तं गुणानां च विषयत्वमित्यनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव स्यात्। एतावांश्च संयोगः परिकल्प्यमानः परिकल्प्येत। सर्वथा च नोपपद्यते। तस्मात् तत्संयोगादित्ययुक्तमभिधातुमिति।

उच्यते—संयोगानित्य(नियत)त्वादिह चौपचारिकपरिकल्पनाददोषः।

होने वाली प्रवृत्ति का प्रयोजन पुरुषार्थ होगा; किन्तु पुरुषगत योग्यता से होने वाली प्रवृत्ति का प्रयोजन पुरुषार्थ के सिवाय कोई अन्य होना चाहिये; जो असम्भव है। अतः प्रयोजन के अभाव में उक्त योग्यतालक्षण संयोग की कल्पना नहीं की जा सकती है।

गुण-पुरुष का संयोग यादृच्छिक नहीं हो सकता है, क्योंकि तब मोक्ष का क्या कारण होगा; यह नियम नहीं बन सकेगा। क्योंकि संयोग के कारण के साथ विरोध है जिसका ऐसा क्या होगा,जो कैवल्य(मोक्ष)का कारण है। यदि गुण-पुरुष का संयोग यादृच्छिक हो तो मोक्षकारण ज्ञान से उसकी निवृत्ति नहीं होगी। 'अज्ञानान् निवृत्तिर्नास्ति' इस पाठ में संयोग के कारण का ज्ञान न होने से उसको निवृत्ति न हो सकेगी—ऐसा अर्थ होगा। अतः उसकी निवृत्ति के लिये उद्योग निरर्थक हो जायेगा। साथ ही मोक्ष के प्रति किसी कारणान्तर की कल्पना करने में कोई विशेष हेतु भी नहीं है। अतः यह कथन भी अयुक्त है।

गुण-पुरुष का संयोग वैषयिक (विषयकृत) भी नहीं है; क्योंकि तब मोक्ष का अभाव हो जायगा। क्योंकि पुरुष में विषयित्व सदा अव्यावृत्त होकर रहता है और गुणों का विषयत्व भी सदा अव्यावृत्त ही है। इस प्रकार पुरुष का अनिर्मोक्ष होने लगेगा अर्थात् पुरुष का कभी मोक्ष न हो सकेगा। इसलिये गुण-पुरुषसंयोग की कल्पना होगी तो इतने प्रकार से हो सकेगी; किन्तु उक्त सभी प्रकार यहाँ अनुपपन्न हैं। अतः 'तत्संयोगात्' इस कारिकांश का प्रतिपादन अयुक्त है।

सिद्धान्ती का समाधान—संयोग के अनियत होने से यहाँ गुण-पुरुष के संयोग

---

१. यादृच्छिकः=अयत्नसिद्धः।

इहाऽनेकविधः संयोगः । तद्यथाऽप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः,यथोदाहृतम्-अन्यतर-(कर्म)ज उभयकर्मजः संयोग(ज)इत्यादि। यत्रासौ न संभवति, तत्र सन्निधि-मात्रसामान्याद् भक्त्या कल्प्यते, तद्यथाऽऽकाशस्य गवादिभिः । प्रदेशैरिति चेन्न, अभावात् । तेऽपि हि निरवयवत्वादाकाशस्य भक्त्या कल्प्यन्ते, मा भूत् कृतकत्वाऽनित्यत्वदोषप्रसङ्गः । तस्मात् प्रदेशोपचारात् कार्यमप्युपच-रितम् । अन्यस्तु शास्त्रीयः संयोगोऽर्थनिमित्तः । तत्रानेकसंयोगोपपत्तेरिह पुरुषान्तःकरणयोरभिन्नदेशत्वात् सन्निधिमात्रसामान्याद् भाक्तं संयोगं परिकल्प्यैवमुच्यत इत्यदोषः ।

आह—विज्ञातं संयोगद्वयम् । अयं त्वन्योऽर्थनिमित्तः शास्त्रीयः संयोगो भवता परिभाष्यते । तत्र वक्तव्यं किमर्थोऽसाविति ।

को औपचारिक कल्पना करने से दोष नहीं होगा। अर्थात् यहाँ अनेक प्रकार का संयोग होता है। जैसे अप्राप्तिपूर्वक प्राप्तिरूप संयोग का उदाहरण दिया गया है—अन्यतरकर्मज संयोग उभयकर्मज संयोग इत्यादि। जहाँ पर उक्त संयोग संभव नहीं है; वहाँ सामान्यतः सन्निधिमात्र से गौण संयोग की कल्पना की जाती है, जैसे आकाश का गो आदि के साथ।

यदि कहो कि 'वहाँ भी आकाश के प्रदेशों से गवादि का संयोग होता है और वह अप्राप्तिपूर्वकप्राप्तिरूप होने से कर्मज हो है' तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि आकाश में प्रदेश का अभाव है। अर्थात् आकाश के निरवयव (अवयवरहित) होने से वे प्रदेश भी वास्तविक न होकर गौण ही कल्पित किये जाते हैं, ताकि आकाश में कृतकत्व-अनित्यत्वदोष का प्रसङ्ग न हो जाय। अतः आकाश में प्रदेश के औपचारिक होने से संयोगरूप कार्य भी औपचारिक (गौण) ही है। और तो शास्त्रानुमत संयोग अर्थनिमित्तक है अर्थात् प्रयोजनवशात् माना जाता है। अतः अनेक प्रकार का संयोग उपपन्न होने से चूँकि पुरुष और अन्तः करण अभिन्न देश में हैं; इसलिये सामान्यतः सन्निधानमात्र के कारण उनके (पुरुष और अन्तः करण के) गौण संयोग की कल्पना करके उक्त कारिका में 'तत्संयोगात्' ऐसा कहा गया है। अतः यहाँ कोई दोष नहीं है।

जिज्ञासु—दोनों संयोग ज्ञात हो गया–अन्यतरकर्मज और उभयकर्मज संयोग। यह तो उनसे भिन्न अर्थनिमित्तक शास्त्रीय संयोग आप बतलाते हैं। अब बतावें, यह शास्त्रीय संयोग किमर्थक है ? अर्थात् क्यों है ?

उच्यते—

पुरुषस्य दर्शनार्थः

दृष्टिर्दर्शनम्। अर्थशब्दो निमित्तवचनः। दर्शनमर्थोऽस्यासौ दर्शनार्थः, दर्शननिमित्तो दर्शनहेतुः दर्शनकारण इत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति—सन्निधानाविशेषे सति आत्मन आकाशादेश्च, यस्माद् दृक्छक्तियुक्तः पुरुषः तस्मात् कार्यकारणतामापन्नेन प्रधानेन सह भोक्तृत्वेन सम्बध्यते, नाचैतन्यादाकाशादय इति।

अथवा अर्थशब्दः फलवचनः यथा तृप्त्यर्था भुजिक्रिया तृप्तौ सत्यां निवर्तते प्राप्त्यर्था गमिक्रिया प्राप्तौ सत्याम्, एवं पुरुषस्य प्रधानेन दर्शनार्थः संयोगो दर्शने सति निवर्तते। तथा च वक्ष्यति—'दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या' इति (का० ६६)।

उत्तर—गुण-पुरुष का उक्त शास्त्रीय संयोग पुरुष के दर्शनार्थ है। यहाँ दर्शन का अभिप्राय है दृष्टि तथा अर्थशब्द निमित्तवाची है। अतः पुरुषदर्शन है अर्थ अर्थात् निमित्त जिस संयोग का; वह संयोग दर्शनार्थक-दर्शननिमित्तक या दर्शनहेतुक या दर्शन के कारण है।

इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा का और आकाशादि का प्रधान के साथ समान-सन्निधान होने पर भी, चूँकि दृक्शक्ति (दर्शनशक्ति) से युक्त पुरुष है; इसलिये कार्यकारणभाव को प्राप्त प्रधान के साथ भोक्ता के रूप में पुरुष ही सम्बद्ध होता है अर्थात् संयोग का कारण बनता है, अचेतन होने के कारण आकाश आदि नहीं। निष्कर्ष यह है कि गुण-पुरुष के संयोग का कारण पुरुषगत दृक्शक्ति (चैतन्य-शक्ति) है।

अथवा 'पुरुषस्य दर्शनार्थः' इस कारिकांश में अर्थशब्द फलवाची (प्रयोजन-वाची) है। अतः जैसे तृप्ति के लिये अपनायी गयी भोजनक्रिया तृप्ति हो जाने पर निवृत्त हो जाती है, तथा प्राप्ति के लिये अपनायी गयी गमनक्रिया प्राप्त हो जाने पर निवृत्त हो जाती है, ऐसे ही पुरुषदर्शन के लिये हुआ प्रधान के साथ संयोग पुरुष का दर्शन हो जाने पर निवृत्त हो जाता है। जैसा कि आगे आचार्य कहेंगे—दृष्टा मयेत्यादि। अर्थात् मेरे द्वारा प्रकृति देख ली गयी इसलिये एकतरफ पुरुष उसकी उपेक्षा कर देता है तथा मैं पुरुष द्वारा देख ली गयी इसलिये प्रकृति पुरुष की तरफ से विरत हो जाती है।

आह—एवमपि शब्दाद्युपलब्धिसमकालमेव निवृत्तिप्रसङ्गः। किं कारणम्? तस्यामप्यवस्थायां शक्यं वक्तुं दृष्टा प्रकृतिरिति।

उच्यते—यद्यप्येतदेवं तथापि यथा पुरुषस्य दर्शनार्थः संयोगः—

कैवल्यार्थस्तथा प्रधानस्य।

कैवल्यमिति विवेकपरिच्छिन्नं सत्त्वादिभिरसंसर्गधर्मित्वमात्मनः, सोऽर्थोऽस्य सोऽयं कैवल्यार्थः। सत्यपि हि दर्शनाविशेषे प्रधानं पुरुषस्य कैवल्यार्थं प्रवर्तते। यदाऽस्य बुद्धिस्तमसोऽङ्गित्वाद् ये गुणाः कार्यरूपापन्नाः शिरः पाण्यादय आध्यात्मिका बाह्याश्च गवादयः, कारणरूपापन्नाश्चालोचनक्रियासंकल्पाभिमानाध्यवसायलक्षणाः, सोऽहमित्यविशिष्टप्रत्ययोपसंहारं करोति, तदा प्रवर्तत एव।

यदा त्वन्ये गुणाः प्रकृतिभूता विकारभूताः कार्यभूताः कारणभूता

शङ्का—यदि पुरुषदर्शनहेतुक अथवा पुरुषदर्शनफलक गुण-पुरुष का संयोग है, तथापि शब्दादि की उपलब्धि के काल में ही संयोग की निवृत्ति हो जानी चाहिये। क्योंकि उस अवस्था में भी कहा जा सकता है कि प्रकृति देख ली गयी है।

समाधान—यद्यपि यह ऐसा है; तथापि जैसे पुरुष के दर्शनार्थ प्रधान की प्रवृत्ति है, वैसे ही पुरुष के कैवल्यार्थ भी प्रधान की प्रवृत्ति है। 'कैवल्यार्थस्तथा प्रधानस्य' इस कारिकांश में कैवल्य का अर्थ है—विवेकज्ञान से प्रयुक्त आत्मा का सत्त्वादि के के साथ असंसर्गधर्मी होना। अर्थात् आत्मा का सत्त्व-रजस् और तमोधर्म के संसर्ग से रहित होना कैवल्य है। उक्त सत्त्वादिसंसर्गराहित्य है अर्थ=प्रयोजन जिसका, वही कैवल्यार्थ संयोग है। अर्थात् प्रधान और पुरुष के संयोग का प्रयोजनभूत दर्शन दृश्य प्रधान और द्रष्टापुरुष के लिये समान है; तथापि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के कैवल्य के लिये होती है।

इसीलिये जब पुरुष की बुद्धि, तमोगुण के अङ्गी होने के कारण अर्थात् तमोगुण की प्रधानता के कारण जो सत्त्वादि गुण सिर-हस्त-पाद आदि आध्यात्मिक कार्य तथा गवादिरूप बाह्य कार्य के स्वरूप को प्राप्त हुए हैं, तथा आलोचन-क्रिया-संकल्प-अभिमान और अध्यवसायलक्षण कारणस्वरूप को प्राप्त हुए हैं, उनके साथ 'सोऽहम्' इस प्रकार की एकरूपताप्रतीति को कराती है, तब प्रधान की प्रवृत्ति होती ही है।

किन्तु जब गुण प्रकृतिभूत-विकारभूत-कार्यभूत-कारणभूत-अचेतन और परार्थ होने के कारण अन्य हैं तथा मैं न प्रकृति हूँ—न विकृति हूँ—न कार्य हूँ—न कारण हूँ, न

अचेतनाः परार्था अन्योऽहं न प्रकृतिर्न विकृतिर्न कार्यं न कारणं नाचेतनः स्वार्थं इति भिन्नप्रत्ययोपसंहारं करोति, तदा निवर्तते। सोऽयं पुरुषस्य दृक्छक्तिनिमित्तः प्रधानस्य च कैवल्यावधिपरिच्छिन्नः पुरुषार्थः

सत्यपि परिभाषिकत्वे

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगः।

एतदुक्तं भवति—प्रागपि कार्यकारणसम्बन्धात् पुरुषे चैतन्यमस्ति। तद्यथा अग्नेर्दहनं परशोश्छेदनमसति दाह्ये छेद्ये च न व्यज्यते, तत्सन्निधानसमकालमेव तु व्यज्यते, इत्यतः प्रधानमपेक्षते। तथा प्रधानमप्यन्तरेण पुरुषोपकारं स्वकार्याद(र्या)समर्थमनिष्पन्नकार्यसमं चेति तदनर्थकं स्यादित्यतः पुरुषमपेक्षते। तत्र उभयोरितरेतरापेक्षा। तं संयोगमधिकारबन्धमाहुराचार्याः। पङ्ग्वन्धदृष्टान्तस्तु नान्तरीयकमात्रप्रदर्शनार्थम्। यथा पङ्गुर्नान्तरेणान्धं दृक्छक्त्या विशिष्टे-

---

अचेतन हूँ और न परार्थ हूँ किन्तु अन्य हूँ—ऐसी भेदप्रतीति में बुद्धि पर्यवसित होती है, तब प्रधान की निवृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार पुरुषार्थ पुरुष की दृक्शक्ति के अधीन है और प्रधान की कैवल्यरूप अवधि से प्रतिबद्ध है। अर्थात् पुरुषार्थ का निमित्त पुरुष की दृक् शक्ति है और उसकी अवधि पुरुष का कैवल्य है। इसलिये जबतक कैवल्य की प्राप्ति न हो जाती है, तबतक प्रधान की प्रवृत्ति होती है। अतः शब्दादि की उपलब्धि के समकाल ही प्रधान की निवृत्ति का प्रसङ्गरूप पूर्वोक्त दोष नहीं है।

यद्यपि पूर्वोक्त रीति से गुण-पुरुष का संयोग पारिभाषिक है। अर्थात् पुरुषदर्शन हेतुक और पुरुषदर्शनफलक तथा कैवल्यरूप अवधि से परिच्छिन्न (युक्त) प्रधान-पुरुष का संयोग है; ऐसा सांख्याचार्यों ने परिभाषित किया है, तथापि लङ्गड़े और अन्धे के समान दोनों का संयोग है, ऐसा जानना चाहिये। यहाँ का निष्कृष्टार्थ यह है—कार्यकारणसम्बन्ध के पहले भी पुरुष में चैतन्य है। जैसे अग्नि की दाहकता और फरसे की छेदनशक्ति पहले से ही रहती है; फिर भी दाह्य वस्तु एवं छेद्य वस्तु के अभाव में वह दाहशक्ति और छेदनशक्ति अभिव्यक्त नहीं होती है; किन्तु दाह्य वस्तु और छेद्य वस्तु के सन्निधान के समकाल में ही व्यक्त हो जाती है। वैसे ही प्रधान के सन्निधान के समकाल में ही पुरुष का चैतन्य व्यक्त होता है; इसलिये वह प्रधान की अपेक्षा करता है।

नार्थेनार्थवान् भवति, अन्धश्च नान्तरेण पङ्गुं विशिष्टेनार्थेन। एवं प्रधानं नान्तरेण पुरुषं कृतमपि कार्यं द्रष्टुं शक्तमनवधिकं च प्रवर्तमानं विशेषाभावान्नैव निवर्तते। तथा पुरुषः सत्यपि चेतनत्वे नान्तरेण प्रधानमुपलभ्याभावादुपलब्धा भवेदिति प्रधानमपेक्षते।

तस्मादितरेतरापेक्षया संयोगत्वे कल्प्यमाने (कल्पमाने), यदुक्तम्—

विना सर्गेण बन्धो हि पुरुषस्य न युज्यते।
सर्गस्तस्यैव मोक्षार्थमहो सांख्यस्य सूक्तता ॥ इति।

तदयुक्तम्। कस्मात्? न ह्यसौ विना सर्गेण न युज्यत इति। आह च—

दृश्यदर्शनभावेन प्रकृतेः पुरुषस्य च।
अपेक्षा शास्त्रतत्त्वज्ञैर्बन्ध इत्यभिधीयते ॥

एवं प्रधान भी पुरुषचैतन्य द्वारा उपकृत हुए बिना अपने आप असमर्थ है और अनिष्पन्न (अनुत्पन्न) कार्य की तरह है, अतः प्रधान निरर्थक होने लगेगा; इसलिये वह प्रधान भी पुरुष की अपेक्षा करता है। इस प्रकार दोनों को परस्पर की अपेक्षा है। इनके संयोग को आचार्यों ने अधिकार का बन्ध या अधिकाररूप बन्ध बताया है।

पङ्गु और अन्धका दृष्टान्त अविनाभावमात्र को दिखाने के लिये है। एक के बिना दूसरे का न होना अविनाभाव है। जैसे पङ्गु व्यक्ति अन्धे के बिना दृक्-छक्तिरूप विशिष्ट अर्थ से अर्थवान् नहीं हो पाता है अर्थात् निरर्थक होता है और अन्धा भी लङ्गड़े के बिना गमनरूप विशिष्ट अर्थ से अर्थवान् नहीं हो पाता है। इसी प्रकार प्रधान पुरुष के बिना कृत भी कार्य को देखने में अशक्त होता है। साथ ही प्रधान भी निरवधिक प्रवृत्त होता हुआ किसी विशेष कारण के बिना अपने कार्य से निवृत्त नहीं होगा।

तथा पुरुष भी चेतन होता हुआ प्रधान के बिना उपलभ्य का अभाव होने से उपलब्धा द्रष्टा न हो सकेगा। इन तरह पुरुष प्रधान को अपेक्षा करता है।

इसलिये परस्पर अपेक्षा से गुण-परुष के संयोग की उपपत्ति हो सकने पर यह जो कहा कि—बिना सर्गेण बन्धो हि इत्यादि, वह ठीक नहीं है। अर्थात् यह जो आक्षेप किया कि 'सर्ग के बिना पुरुष का बन्ध युक्त नहीं है; साथ ही सर्ग पुरुष के ही मोक्ष के लिये (हेतु) है, यह तो सांख्य की अच्छी कथनी है।

वह आक्षेप अयुक्त है। क्योंकि ऐसी बात नहीं है कि सर्ग के बिना बन्ध अयुक्त

एवं विनाऽपि सर्गेण यस्माद् बद्धः पुमान् गुणैः ।
तस्माद् विफलतां यातु मनोरथ(थि)मनोरथः ॥

इति सिद्धः संयोगः ।

तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

प्रधानपुरुषयोर्हि भोक्तृभोग्यभावापेक्ष(ा)निमित्तोऽयं तत्त्वसर्गो महदादिः, भावसर्गश्च धर्मादिः, भूतसर्गश्च बाह्यादिः प्रवर्तते । सा चापेक्षा पुरुषानन्त्यान्न निवर्तत इत्यतोऽर्थवतीनां हि प्रकृतीनां तदपरिसमाप्तेर्न निवृत्तिरस्ति ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे पञ्चममाह्निकं द्वितीयं च प्रकरणम् ॥

हैं। क्योंकि कहा गया है—'दृश्यदर्शनभावेन' इत्यादि अर्थात्; दृश्य और दर्शन (दृक्शक्ति) के रूप में प्रकृति और पुरुष की जो परस्पर अपेक्षा है; उसे ही सांख्य शास्त्र के मर्मज्ञों ने बन्ध बताया है। एवं, चूँकि सर्ग के बिना भी पुरुष गुणों से बद्ध है, इसलिये मनोरथी (आक्षेपकर्ता) का मनोरथ विफल है; अर्थात् सांख्यशास्त्र पर उक्त आक्षेप नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार गुण पुरुष का संयोग सिद्ध है और 'तत्कृत सर्गः' अर्थात् उस संयोग के द्वारा ही यह सर्ग किया गया है। क्योंकि प्रधान और पुरुष का जो परस्पर भोग्य-भोक्तृभाव है; उसकी अपेक्षा के कारण ही यह महत् आदि तत्त्वों की सृष्टि, धर्माधर्मादिभावों की सृष्टि बाह्य आदि भूतसृष्टि की प्रवृत्ति होती है। और वह पुरुष और प्रधान की परस्पर अपेक्षा पुरुष के अनन्त होने से कभी निवृत्त नहीं होती है। इसलिये भोगसम्पादनरूप प्रयोजन वाली त्रिगुणात्मक प्रकृति के उस प्रयोजन की आत्यन्तिक समाप्ति न हो सकने के कारण प्रकृति की अपनी क्रिया से कभी निवृत्ति नहीं होती है।

॥ इति श्रीमदाचार्यकेदारनाथत्रिपाठिकृतायां सांख्यसप्ततियुक्तिदीपिकाया हिन्दीकलाव्याख्यायां पञ्चममाह्निकं द्वितीयं च प्रकरणम् ॥

●

अथ षष्ठमाह्निकम्

एवं कारणान्तरप्रतिषेधात् प्रकृतेः पुरुषार्थोऽयं व्यक्तभावेन विपरिणाम इति स्थितम् । तत्रेदानीं विप्रतिपत्तिराचार्याणाम्—

केचिदाहुः—प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते; ततो महानिति । पतञ्जलि-पञ्चाधिकरण-वार्षगणानां तु प्रधानान्महानुत्पद्यत इति । तदन्येषां पुराणेतिहासप्रणेतॄणां महतोऽहङ्कारो विद्यत इति पक्षः, महतोऽस्मिप्रत्ययकर्तृत्वाभ्युपगमात् । अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणीति सर्वे । महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते, पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम् । तथाऽहङ्कारादिन्द्रियाणीति सर्वे । भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम् । एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये । एकोत्तराणीति वार्षगण्यः ।

सृष्टि के प्रति अन्य कारणों का प्रतिषेध कर दिये जाने के कारण पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन के लिये प्रकृति का ही व्यक्त के रूप में यह सारा विपरिणाम है, यह बात स्थिर हो गयी। उसके ऊपर यहाँ आचार्यों की निम्नोक्त विप्रतिपत्तियाँ हैं—

(१) कोई कहते हैं—प्रधान से एक ऐसे तत्त्वान्तर की उत्पत्ति होती है, जिसके स्वरूप का निर्देश नहीं किया जा सकता है; और उसके बाद महान् की उत्पत्ति होती है। (२) पतञ्जलि-पञ्चाधिकरण और वार्षगण के मत में तो प्रधान से महान् (महत्तत्त्व) उत्पन्न होता है। (३) उनसे भिन्न पुराणेतिहास के प्रणेताओं के मतानुसार महत् का हो धर्म अहङ्कार है। अर्थात् अहंकारतत्त्व महत्तत्त्व से भिन्न नहीं है। क्योंकि उनके द्वारा 'अहं प्रतीति' का कर्ता महान् ही माना गया है। (४) अहंकार से पञ्च तन्मात्र होते हैं, यह प्रायः सभी मानते हैं। (५) महत् से पञ्च तन्मात्र और अहंकार ये छे अविशेष तत्त्व पैदा होते हैं, ऐसा विन्ध्यवासी का मत है। (६) एवं अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, यह सभी मानते हैं। (७) इन्द्रियाँ भौतिक (भूतों से उत्पन्न) हैं, यह पञ्चाधिकरण का मत है। (८) तन्मात्रों के अपने अपने एक-एक रूप होते हैं, यह अन्य आचार्यों का मत है। जैसे, शब्दतन्मात्र का एक ही रूप है—शब्द। स्पर्शतन्मात्र का एक ही रूप है—स्पर्श इत्यादि। (९) किन्तु तन्मात्रों का एक एक

इन्द्रियाणि संस्कारविशेषयोगात् परिगृहीतरूपाणीति केचित् । परिच्छिन्नपरिमाणानीत्यपरे । विभूनीति विन्ध्यवासिमतम् । अधिकरणमपि केचित् त्रयोदशविधमाहुः । एकादशकमिति विन्ध्यवासो । तथान्येषां महति सर्वार्थोपलब्धिः, मनसि विन्ध्यवासिनः । संकल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषाम्, एकत्वं विन्ध्यवासिनः । तथा करणं निर्लिखितस्वरूपं शून्यग्रामनदीकल्पम्, प्राकृतवैकृतिकानि तु ज्ञानानि प्रेरकाङ्गसंगृहीतानि प्रधानादागच्छन्ति चेति पञ्चाधिकरणः । न तु तथेत्यन्ये । कारणानां महतो स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात्, स्वल्पा च स्वत इति वार्षगण्यः । सर्वा स्वत इति पतञ्जलिः । सर्वा परत इति पञ्चाधिकरणः । बुद्धिः क्षणिकेति च

बढ़ा हुआ रूप है, यह वार्षगण्य आचार्य मानते हैं। जैसे शब्दतंन्मात्र एक रूप वाला है, स्पर्शतन्मात्र शब्द और स्पर्श दो रूप वाला है, रूपतन्मात्र शब्द-स्पर्श और रूप तीन रूपों वाला है, रसतन्मात्र शब्द-स्पर्श-रूप और रस चार रूपों वाला है, तथा गन्धतन्मात्र शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध इन पाँच रूपों वाला है—ऐसा वार्षगण्य का मत है।

(१०) इन्द्रियाँ संस्कारविशेष (पूर्वजन्मार्जित) को पाकर छोटा या बड़ा स्वरूप ग्रहण करती हैं; ऐसा कोई मानते हैं (११) इन्द्रियाँ परिच्छिन्न (सीमित) परिमाण वाली हैं; ऐसा दूसरे मानते हैं। (१२) इन्द्रियाँ विभु (व्यापक) हैं; यह विन्ध्यवासी का मत है। (१३) तेरह प्रकार के करण के भेद हैं; यह कोई कहते हैं। (१४) एकादश करण हैं; यह विन्ध्यवासी मानते हैं। (१५) महत्तत्त्व को समस्त विषयों को उपलब्धि होती है; ऐसी अन्य आचार्यों की मान्यता है। (१६) विन्ध्यवासी मन में विषयोपलब्धि मानते हैं। (१७) संकल्प अभिमान और अध्यवसाय भिन्न-भिन्न हैं; ऐसा अन्य आचार्यों का कथन है। (१८) ये सभी एक ही हैं; ऐसी मान्यता विन्ध्यवासी की है। (१९) ग्राम से शून्य नदी के समान करण विषयों से उल्लिखित स्वरूप वाला होता है। अर्थात् जैसे तटस्थ ग्राम का प्रतिबिम्ब नदी में पड़ता है; उसमें वस्तुत ग्राम नहीं होता; वैसे ही करणों में विषय का उल्लेख होता है। (२०) प्राकृत ओर वैकृतिक सभी ज्ञान प्रेरक पुरुष के अङ्ग के रूप में संगृहीत होते हैं और प्रधान से आते हैं; यह पञ्चाधिकरण का मत है। वैसा नहीं हैं; ऐसा अन्य आचार्य मानते हैं (२१) करणों में प्रधान से स्वभाव की महती प्राप्ति होती है और अपनी थोड़ी होती है, यह वार्षगण्य मानते हैं। (२२) सभी स्वभाव उनमें स्वतः प्राप्त हैं, यह पतञ्जलि मानते हैं। समस्त स्वभावप्राप्ति दूसरों से ही है; यह पञ्चाधिकरण मानते हैं। (२३) बुद्धि क्षणिक है,

कालान्तरावस्थायिनीत्यपरे । एवमनेकनिश्चयेष्वाचार्येषु ये तावत् प्रधानमहतोरन्तराले तत्त्वान्तरमिच्छन्ति; तत्प्रतिक्षेपायाचार्यः स्वमतमुपस्थापयति-

प्रकृतेर्महान्,

प्रकृतेर्महानुत्पद्यते । महान् बुद्धिर्मतिर्ब्रह्मा पूर्तिः ख्यातिरीश्वरो विश्वर इति पर्यायाः । स तु देशमहत्त्वात् कालमहत्त्वाच्च महान् । सर्वोत्पाद्येभ्यो महापरिमाणयुक्तत्वान्महान् ।

अन्यस्य तु पक्षे नैवाहङ्कारो विद्यत इति प्रतिषेधविवक्षयेवमाह—

ततोऽहङ्कारः,

तस्मान्महतोऽहङ्कार उत्पद्यते ।

यः पुनराह-महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति—तन्निरासार्थमाह—

तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

ऐसा कोई मानते हैं तथा (२४) कालान्तर (क्षणान्तर) तक अवस्थित रहने वाली हैं; ऐसा दूसरे मानते हैं ।

इस प्रकार अनेकविध निश्चय वाले आचार्यों के मध्य जो प्रधान और महत्तत्त्व के बीच में अनिर्देश्यस्वरूप तत्त्वान्तर स्वीकार करते हैं, उनके मत का निराकरण करने के लिये आचार्य (ईश्वरकृष्ण) अपने मत को उपस्थापित करते हैं—

'प्रकृतेर्महान्' । अर्थात् प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है । महान् बुद्धि मति ब्रह्मा पूर्ति ख्याति ईश्वर और विश्वर ये पर्याय हैं । उसे देश के महत्त्व और काल के महत्त्व के कारण महान् कहा गया है । अर्थात् महत्त्व का आधारभूत देश और काल दोनों ही महत्त्व से युक्त हैं; इसलिये इसका नाम महान् है । एवं सभी उत्पाद्य पदार्थों की अपेक्षा महत्परिणाम से युक्त होने के कारण भी महान् है । अन्य के मत में अहङ्कारतत्त्व (महान् से) पृथक् नहीं है; इसलिये उनके पक्ष का प्रतिषेध करने के अभिप्राय से 'ततोऽहङ्कारः' ऐसा आचार्य ने कहा । अर्थात् महान् से अहङ्कार उत्पन्न होता है ।

जो तो यह कहते हैं कि महान् से छै अविशेष तत्त्व उत्पन्न होते हैं—पञ्च तन्मात्र और छठा अहङ्कार; उसका निराकरण करने के लिये आचार्य ने कहा—

'तस्माद् गणश्च षोडशकः' ऐसा ।

अर्थात् अहङ्कार से सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है—पञ्च तन्मात्र

तस्मादहङ्कारात् षोडशको गण उत्पद्यते, पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च। अनेनैव भौतिकेन्द्रियवादी प्रतिक्षिप्तो बोद्धव्यः।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥२२॥

तस्मादपि षोडशकाद् गणाद् यः पञ्चको गणस्ततः पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते। पूर्वपदलोपेनात्र महाभूतानीति वक्तव्ये भूतानीत्युच्यते। भूतसंज्ञा हि तन्मात्राणां न पृथिव्यादीनामत्र तु सांख्याचार्याणामविप्रतिपत्तिः। भूतकौटस्थ्यवादिनस्तु मीमांसका आर्हताश्च, तत्प्रतिक्षेपेणेदमुच्यते इति ॥२२॥

आह—उक्तं प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यत इति। तत्र वक्तव्यम्—किंलक्षणा पुनर्बुद्धिरिति ? उच्यते—

एवं ग्यारह इन्द्रियाँ। आचार्य के उक्त कथन से इन्द्रियों को भौतिक मानने वाले नैयायिक आदि को भी खण्डित समझना चाहिये।

पुनः आचार्य ने कहा—'तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि'। अर्थात् पञ्च तन्मात्र और एकादश इन्द्रियरूप षोडश तत्त्वों में पञ्च तन्मात्ररूप तत्त्व से पञ्च भूतों की उत्पत्ति होती है। यद्यपि उक्त कारिका (सूत्र) में महाभूत शब्द का प्रयोग करना चाहिये, तथापि 'महा' इस पूर्वपद का लोप करके 'भूत पद का प्रयोग आचार्य ने किया है। अर्थात् यहाँ भूतशब्द से महाभूत ही समझना चाहिये; यद्यपि भूत यह संज्ञा तन्मात्रों के लिये है, पृथिवी आदि के लिये नहीं है, इसमें सांख्याचार्यों में मतभेद नहीं है। यहाँ तन्मात्र का बोध न हो जाय इसीलिए महापद का लोप आचार्य को अभिप्रेत है।

मीमांसक और जैन भूतों को कूटस्थ मानते हैं। अर्थात् पृथिवी आदि भूत किसी के विकार नहीं हैं; ऐसा उनका मत है। उनका निराकरण के अभिप्राय से 'पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि' ऐसा आचार्य ने कहा।

पूर्वपक्षी—प्रधान से बुद्धि उत्पन्न होती है, यह कहा गया। अब यह बतावें कि बुद्धि का लक्षण क्या है ?

सिद्धान्ती—'अध्यवसायो बुद्धिः' अर्थात् अध्यवसाय बुद्धि का लक्षण है।

प्रश्न—यह अध्यवसाय क्या है ?

उत्तर—'यह गौ ही है, वह पुरुष ही है' इस प्रकार का जो प्रत्यय अर्थात् निश्चयात्मक अर्थग्रहण है, वह अध्यवसाय है।

अध्यवसायो बुद्धिः

कोऽयमध्यवसायः ? गौरेवायं, पुरुष एवायमिति यः प्रत्ययो निश्चयोऽर्थग्रहणं, सोऽध्यवसायः ।

अत्र क्षणिकवाद्याह—यद्यर्थग्रहणं बुद्धिः, अनित्या । कस्मात् ? हेत्वपेक्षणात् । अर्थग्रहणं हीन्द्रियादिविषयसन्निधानमावरणाद्यभावं चापेक्षते । न च नित्यस्य कारणापेक्षोपपद्यते । तस्मादनित्या बुद्धिः ।

अभिव्यक्तेरदोष इति चेत्, स्यादेतत्—नेन्द्रियसन्निधानादिभिरर्थग्रहणं जन्यते, किन्तर्हि ? अभिव्यज्यत इति । तच्च नैवम्, द्विधा दोषात् । सा ह्यभिव्यक्तिः स्वरूपलाभो वा स्यात्, ग्रहणप्रतिबन्धव्युदासो वा । किञ्चातः ? तद्यदि तावत् स्वरूपलाभः क्रियते, अर्थग्रहणमिति प्राप्तम् । अर्थग्रहण प्रतिबन्धस्यान्धकारस्य व्युदासः, तदप्ययुक्तम्, विप्रतिषेधात् । ग्रहणञ्च स्यात् तत्प्रतिबन्धश्चेति विप्रतिषिद्धम् ।

पूर्वपक्षी—यदि अर्थ का (विषय का) ग्रहणरूप अध्यवसाय बुद्धि है तो वह अनित्य हो जायगी; क्योंकि उसे अपने अस्तित्त्व के लिये हेतु की अपेक्षा होगी। कारण, अर्थ का ग्रहण इन्द्रिय आदि की, विषय के सन्निधान की तथा आवरणादि के अभाव की अपेक्षा करता है। नित्य वस्तु को कारण की अपेक्षा अनुपपन्न है। अर्थात् बुद्धि यदि नित्य होती तो अपने अस्तित्व के लिये उक्त कारणों की अपेक्षा नहीं करती; किन्तु अपेक्षा करती है; इसलिये बुद्धि अनित्य है।

सिद्धान्ती—बुद्धि में अनित्यत्व दोष नहीं होगा; क्योंकि हेतुओं से उसकी अभिव्यक्ति होती है; उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् इन्द्रियसन्निधान आदि से अर्थनिश्चय उत्पन्न नहीं होता है; किन्तु अभिव्यक्त होता है।

पूर्वपक्षी—ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि तब दोनों ही प्रकार से दोष हो जायेगा। अर्थात् वह अभिव्यक्ति स्वरूपलाभरूप हो या अर्थग्रहण में आये प्रतिबन्ध (बाधा) का निवारणरूप हो—इन दोनों स्थितियों में दोष होगा।

सिद्धान्ती—यह कैसे ?

पूर्वपक्षी—यदि अभिव्यक्ति का अर्थ स्वरूपलाभ होना है; तो अभिव्यक्ति ही अर्थग्रहण होने लगेगी, अर्थग्रहण की अभिव्यक्ति नहीं हुई। यदि अभिव्यक्ति का अर्थ अर्थग्रहण में आये अन्धकार[आवरण]रूप प्रतिबन्ध का निवारण है; तो वह भी युक्त

किंच, भेदात् । व्यङ्ग्यं हि घटादि चन्द्रार्कौषधि-मणि-रत्नप्रदीप-भेदात् न भिद्यते। अस्ति बुद्धीनामर्थभेदाद् भेदः। वृत्तिभेदादवबोधो मृद्वदिति चेत्, स्यान्मतम्—यथा मृद्द्रव्यस्य घटादिसंस्थानवृत्तिभेदेऽप्यभेदः, एवं बुद्धेरिति। तदप्ययुक्तम्। अनन्यत्वात्। यदा बुद्धिरनन्या वृत्तिभ्यः, प्राप्त-स्तद्भेदे बुद्धिभेदः।

किञ्च, दृष्टान्तासिद्धेः। साध्यं चैतत्-किं तदेव मृद्द्रव्यं घटादि-वृत्तिभेदमनुभवति ? आहोस्वित् प्रत्ययान्तरवशादन्यच्चान्यच्चोत्पद्यत

नहीं है। क्योंकि इस पक्ष में परस्पर विरोधदोष हो जायेगा। अर्थात् ग्रहण भी हो और उसका प्रतिबन्ध भी हो, यह परस्पर विरुद्ध है; क्योंकि ग्रहण है तो प्रतिबन्ध कैसा ? और यदि प्रतिबन्ध है तो ग्रहण कैसा ?

एवं, भेद होने से भी बुद्धि व्यङ्ग्य नहीं हो सकती है। अर्थात् व्यङ्ग्य घटादि वस्तु व्यञ्जक चन्द्र-सूर्य-ओषधिविशेष-मणि-रत्न और प्रदीप के भेद से भिन्न नहीं होती है। किन्तु अर्थ के भेद से बुद्धि में भेद हो जाता है। इसलिये अध्यवसाय (अर्थ-ग्रहण) रूप बुद्धि जन्य ही है व्यङ्ग्य नहीं है। इसलिये वह अनित्य है।

सिद्धान्ती—अर्थ के भेद से अर्थाकार वृत्ति में भेद होता है, बुद्धि भिन्न नहीं होती है मृत्तिका के समान। अर्थात् जैसे घटादि-संस्थान (आकृति) रूप वृत्ति का भेद होने पर भी मृत्तिका-द्रव्य में भेद नहीं होता है; वैसे ही अर्थाकार वृत्ति का भेद होने पर भी बुद्धि में भेद नहीं होगा। इसलिये बुद्धि अनित्य नहीं है।

पूर्वपक्षी—सिद्धान्ती का उक्त समाधान भी ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धि और वृत्ति में कोई भेद नहीं है। अर्थात् बुद्धि जब वृत्तियों से अभिन्न है, तब वृत्ति भेद से बुद्धिभेद सिद्ध ही हो गया। अतः बुद्धि अनित्य (क्षणिक) है।

एवं, दृष्टान्त को असिद्धि से भी बुद्धि अनित्य है। अर्थात् यह अभी साध्यकोटि में ही है कि क्या वही मृत्तिकाद्रव्य घट शराव आदि विभिन्न स्थितियों का अनुभव करता है ? अथवा घट शराव आदि विभिन्न प्रतीतियों के आधार पर मृत्तिकाद्रव्य भिन्न-भिन्न रूप में दूसरा पैदा होता है। इस प्रकार जब दृष्टान्तभूत मृत्तिका का ही स्थिरत्व असिद्ध है; तब उस दृष्टान्त के आधार पर बुद्धि में स्थिरत्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

एवं दृष्टान्तभूत मृत्तिकाद्रव्य में अवयवभेद भी है। अर्थात् वही मृत्तिकाद्रव्य घट शराव आदि में अनुवर्तमान रहता है—यह मानकर भी हमारा कहना है कि वह मृत्तिका द्रव्य एक नहीं है; किन्तु अनेक देशों से सम्बद्ध बहुत से मट्टी के परमाणु हैं।

इति ? अवयवभेदाच्च । उपेत्य वाऽनुवृत्तिं ब्रूमः—न हि तदेकं मृद्द्रव्यम्, किन्तर्हि ? बहवो मृत्परमाणवोऽनेकदेशावच्छिन्नवृत्तय इति ।

किञ्चान्यत्, निवृत्तिविभक्तिग्रहणात् । तद्धि मृद्द्रव्यं संस्थानम(न)-पेक्ष्यापि गृह्यते, न त्वर्थग्रहणमनपेक्ष्य बुद्धेर्ग्रहणमस्ति । तस्माद् विषमो दृष्टान्तः ।

परिणामाददोष इति चेत्, स्यान्मतम्—सत्त्वादीनामङ्गाङ्गिभावनियमात् तेन तेनार्थग्रहणात्मना विपरिणामो वृत्तिरिति ।

एतच्चायुक्तम्—उभयकल्पने दोषप्रसङ्गात् । यदि धर्मान्तरोपादान परित्यागौ व्यक्त्यव्यक्ती, दत्तोत्तर एष पक्षः । अथ नाशोत्पादौ, तेन धर्म-

---

बुद्धि तो निरवयव वस्तु है, इसलिये बुद्धि को विषयभेद से भिन्न सिद्ध करने में मृत्तिकादृष्टान्त बाधक नहीं बन सकता है । क्योंकि वह (मट्टी) स्वयं अनेकात्मक है ।

हमारे कथन में अन्य भी प्रमाण है । जैसे—घटादि की निवृत्ति की स्थिति में भी विभक्तरूप में मृत्तिका का ग्रहण होता है; किन्तु बुद्धि वैसी नहीं है । अर्थात् घट शराव आदि संस्थान की बिना अपेक्षा किये भी मृत्तिकाद्रव्य का ग्रहण होता है; किन्तु विषयग्रहण की अपेक्षा किये बिना बुद्धि का ग्रहण नहीं होता है । इसलिये बुद्धि को स्थिर सिद्ध करने के लिये सांख्यवादी द्वारा दिया गया मृत्तिका-दृष्टान्त विषम दृष्टान्त है । दृष्टान्त को साध्य के समान होना चाहिये ।

सांख्यवादी—परिणामवाद के स्वीकार से उक्त दोष नहीं होगा । अर्थात् सत्त्व-रजस् और तमस् इन तीनों गुणों में अङ्गाङ्गिभाव का नियम है । इसके अनुसार कभी सत्त्वगुण अङ्गी बनता है और इतर गुण अङ्ग होते हैं; तब ज्ञान होता है । जब रजोगुण अङ्गी बनता है और इतर गुण अङ्ग होते हैं; तब क्रिया होती है । तथा जब तमोगुण अङ्गी बनता है और इतर गुण अङ्ग होते हैं, तब आवरण या मोह होता है । ऐसी स्थिति में बुद्धि में जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, तब उस स्थिर बुद्धि का अर्थ-ग्रहण (विषयज्ञान) के रूप में परिणाम होता है; और यही बुद्धि की अर्थाकारा वृत्ति है । इससे सिद्ध है कि बुद्धि स्थिर है और इसकी वृत्तिमात्र को अभिव्यक्ति होती है ।

क्षणिकवादी—सांख्यवादी का यह कथन भी अयुक्त है । क्योंकि दोनों प्रकार की कल्पना में दोष की प्रसक्ति हो जाती है । अर्थात् यदि धर्मान्तर का ग्रहण और उसका परित्याग अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति हो तो इस पक्ष का उत्तर 'सा ह्य-भिव्यक्तिः स्वरूपलाभो वा स्यात्, ग्रहणप्रतिबन्धव्युदासो वा' इस विकल्प द्वारा पूर्व में दिया जा चुका है ।

र्मिणोरनन्यत्वाद् धर्माणां नाशोत्पादाद् बुद्धेरपि नाशोत्पादप्रसङ्गः। तद-नभ्युपगमे वाऽन्यत्वमिति दोषः। आह च—

नष्टोत्पन्नमनन्यत्वादनित्यं नित्यमेव वा।
नष्टोत्पन्नाऽविनष्टानां नित्यं नो नास्ति चैकदा॥

यदप्युक्तम्—सत्त्वादीनामङ्गाङ्गिभावनियमादिति, तदयुक्तम्। अत-एवानित्यत्वसिद्धेः। तुल्यानां गुणप्रधानभावाऽनुपपत्तेः। सत्त्वादीनामङ्गा-ङ्गिभावाऽभ्युपगमात् वृद्धिक्षयावभ्युपगन्तव्यौ। ततश्च बुद्धिरनित्येति प्राप्तम्, तेभ्योऽनन्यत्वात्। अथ मतम्-तदवस्थाप्यसौ नित्येति, न तर्हि

यदि नाश और उत्पत्ति अनभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति हो तो धर्म और धर्मी में अभेद होने से धर्मों के नाश और उत्पत्ति से बुद्धि के भी नाश और उत्पत्ति का प्रसङ्ग हो जायेगा। यदि धर्मों के नाश और उत्पत्ति से बुद्धिरूप धर्मी का नाश और उत्पत्ति नहीं मानोगे तो धर्म और धर्मी में अन्यत्व (भेद) होने लगेगा, जो आप को इष्ट नहीं होने से दोष है। कहा भी है—

नष्टोत्पन्नमनन्यत्वादनित्यं नित्यमेव वा।
नष्टोत्पन्नाविनष्टानां नित्यं नो नास्ति चैकदा॥

अर्थात् धर्मी-धर्म के अनन्य होने से सदैव नष्ट और उत्पन्न होते रहने वाला पदार्थ अनित्य है। हमारे मत में नित्य नष्ट, नित्य उत्पन्न या नित्य अनष्ट होने वाला कोई पदार्थ नहीं है। अर्थात् सभी पदाथ बार-बार उत्पन्न होता है और बार बार नष्ट होता है, यही क्षणिकत्व है। और कभी भी नहीं विनष्ट होने वाला ईश्वर आदि कोई पदार्थ है ही नहीं।

यह भी जो कहा कि—सत्त्वादि गुणों में अङ्गाङ्गिभाव का नियम होने से अर्थाकारा वृत्ति सत्त्वप्रधान स्थिर बुद्धि का परिणामविशेष है—वह ठीक नहीं है। क्योंकि इसीलिये बुद्धि में अनित्यत्व की सिद्धि हो जायेगी। कारण, परिणाम ही अनित्यत्व का प्रयोजक है। एवं, तुल्य सत्त्वादि गुणों में गुण-प्रधानभाव नहीं बन सकता है। एवं, सत्त्वादि गुणों में अङ्गाङ्गिभाव मानने से बुद्धि में वृद्धि और क्षय को स्वीकार करना पड़ेगा। वैसी स्थिति में बुद्धि में सुतरां अनित्यत्व की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि बुद्धि उन सत्त्वादि गुणों से अभिन्न है। अर्थात् सत्त्व की वृद्धि होने पर ही सत्त्वगुण अङ्गी बनेगा। अतः सत्त्वगुण से अभिन्न बुद्धि में भी वृद्धि माननी होगी। एवं सत्त्वगुण का क्षय होने पर ही वह अङ्ग बनेगा। अतः उससे अभिन्न बुद्धि में क्षय स्वीकार करना होगा। रज और तम गुणों के अङ्गाङ्गिभावों में भी बुद्धि में क्षय और वृद्धि स्वीकार करनी पड़ेगी।

सत्त्वाद्यात्मभूता बुद्धिरिति प्राप्तम् । ततश्च कार्यकारणयोरविवेक इत्यस्य विरोधः । तस्मादनित्या बुद्धिरिति ।

उच्यते—यत्तावदुक्तं हेत्वपेक्षणादनित्या बुद्धिरिति, तदयुक्तम् । कस्मात्? सिद्धसाधनात् । कस्यात्र विप्रतिपत्तिरनित्या वा बुद्धिः स्यान्नित्या वेति ? किं तर्हि ? हेतुमदनित्यं व्यक्तमिति वचनादनित्यैव । तस्मादिष्टमेवैतत् संगृहीतम् ।

अत एव क्षणिकत्वमिति चेत्, अथापि स्यात्—हेत्वपेक्षा हि संस्कृतत्वम् । संस्कृतं च क्षणिकम्, तद्यथा प्रदीप इति । तस्मादनित्ये सत्यपि विशेषानभिधाने क्षणिकत्वमेवानेन हेतुना बुद्धेः प्रतिपाद्यत इति । (न,) कस्मात् ? उत्तरवचनविरोधप्रसङ्गात् ।

एवमपि यदुत्तरं क्षणिकत्वप्रसिद्ध्यर्थमुच्यते 'प्रत्यर्थग्रहणान्यत्वादनित्ये' त्यादि, तस्यानर्थक्यम् । तस्मात् पूर्वोत्तरविरुद्धत्वात् सकलमेवेदं

यहां मानो कि सत्त्वादि गुणों की अङ्गाङ्गिभावावस्था में भी बुद्धि नित्य ही रहेगी, तब तो बुद्धि सत्त्वादिगुणों से अभिन्न (आत्मभूत) नहीं है, यह प्रसङ्ग आ जायेगा । वैसी स्थिति में आपका यह सिद्धान्त कि कार्यकारण में अविवेक (अभेद) है, इसका विरोध हो जायेगा । अतः बुद्धि अनित्य है, यह सिद्ध हो गया ।

सिद्धान्ती—यह जो कहा कि 'हेतु की अपेक्षा करने के कारण बुद्धि अनित्य है' वह कथन अयुक्त है । क्योंकि इसमें सिद्धसाधन दोष हो जायेगा । अर्थात् इसमें किसे विप्रतिपत्ति है कि बुद्धि अनित्य है या नित्य है ? बल्कि 'हेतुमदनित्यं व्यक्तम्' इस वचन के अनुसार बुद्धि अनित्य ही है । इसलिये प्रतिपक्षी ने हमारे इष्ट पक्ष को ही अपनाया । अतः सिद्धसाधन दोष हो जायेगा ।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'इसीलिये (अनित्य होने से ही) बुद्धि में क्षणिकत्व सिद्ध हो जायेगा । अर्थात् हेतु की अपेक्षा ही वस्तु का संस्कृत होना है और संस्कृत ही क्षणिक है, जैसे बत्ती तेल आदि से निर्मित प्रदीप क्षणिक होता है । इसलिये अनित्य होने की स्थिति में भी क्षणिकत्व के विरुद्ध किसी विशेष हेतु को न बताने पर हेतुसापेक्ष होने के कारण बुद्धि में क्षणिकत्व की प्रतिपत्ति होगी' तो यह नहीं हो सकता है । क्योंकि अग्रिम वचन से विरोध का प्रसङ्ग हो जायेगा ।

अर्थात् क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये आगे जो कहा कि 'प्रत्यर्थग्रहणान्यत्वादनित्या' इत्यादि, वह कथन अनर्थक हो जायेगा । क्योंकि अनित्य होने से बुद्धि में

प्रकरणं नाध्ययनं, न प्रत्याख्यानमर्हति । परेषां त्वभिनिविष्टा बुद्धिरत्रेत्य-संगतार्थोत्तरापवाददोषमनपेक्ष्यापि प्रत्येकमप्येतदसाधनम्, वृत्तिविषय-त्वात् । स्वकारणपरिनिष्पन्नाया हि बुद्धेर्व्यापारोऽर्थग्रहणसंज्ञक इन्द्रियादि-सन्निधानापेक्षो, न बुद्धिः ।

तदनन्यत्वात् (न) प्रसङ्गनिवृत्तिरिति चेत्, अथ मतम्—वृत्तिवृत्तिमतो-रनन्यत्वादित्थमपि कल्पयित्वा न निवर्तते । तथा चोक्तम्—'स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य' इति (का० २९) । तदप्यबाधकम् । कस्मात् ? उपचारात् ।

क्षणिकत्व का साधन आप यहीं कर रहे हैं। उसे पुनः दोहराना व्यर्थ है। अतः पूर्वोत्तर में विरुद्ध होने के कारण यहाँ का समस्त प्रकरण ही अध्ययन के बहिर्भूत है. इसलिये इस पूर्वपक्ष के खण्डन का कोई प्रश्न ही नहीं हैं। [अथवा यहाँ का समस्त प्रकरण न अध्ययन और न प्रत्याख्यान के योग्य है] ऐसा अर्थ होगा।

दूसरों की (प्रतिपक्षियों की) बुद्धि अपने पक्ष के प्रति दुराग्रहपूर्ण होती है; इस लिए असंगतार्थक अग्रिम वचन का आनर्थक्यरूप उसके ऊपर आये दोष का यदि कभी खयाल किया जाय; तो भी यहाँ का प्रत्येक हेतु भी क्षणिकत्व का साधक नहीं होगा; क्योंकि इन्द्रियादिसन्निधानरूप हेतु वृत्ति का विषय है, बुद्धि का नहीं। अर्थात् अपने कारण से परिनिष्पन्न हुई बुद्धि का व्यापारभूत अर्थाकारा वृत्ति ही, जिसे अर्थग्रहण-संज्ञा से कहा जाता है, अपनी उत्पत्ति के लिये इन्द्रियादिसन्निधानरूप हेतु की अपेक्षा करती है, न कि बुद्धि। अतः 'हेत्वपेक्षारूप' हेतु से बुद्धि में अनित्यत्व या क्षणिक-त्व का साधन नहीं किया जा सकता है।

पूर्वपक्षी—उक्त प्रसङ्ग की यहाँ निवृत्ति [नहीं] होगी, क्योंकि बुद्धि और उसकी वृत्ति में कोई भेद नहीं है। अर्थात् वृत्ति और वृत्तिमान् बुद्धि का ग्रहण भिन्न रूप में नहीं होने से उक्त कल्पना द्वारा भी उक्त प्रसङ्ग की निवृत्ति नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि बुद्धि और उसकी वृत्ति में भेद नहीं होने से जब वृत्ति इन्द्रियादि-सन्निधान से जन्य होने के कारण अनित्य है तो उससे अभिन्न बुद्धि भी अनित्य होगी ही। इसीलिये कहा गया है 'स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य' (का० २०)। अर्थात् 'स्वस्य लक्षणं (स्वरूपं) स्वलक्षणं तस्य भावः स्वालक्षण्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार बुद्धि का ही स्वरूप वृत्ति है। इसलिये वृत्ति के अनित्य होने से बुद्धि में भी अनित्यत्व प्रसङ्ग की निवृत्ति नहीं हो सकेगी।

सिद्धान्ती—पूर्वपक्षी का उक्त कथन भी बुद्धि के नित्यत्व का बाधक नहीं हो सकता है। अर्थात् उससे भी बुद्धि में क्षणिकत्व नहीं सिद्ध हो सकेगा। क्योंकि बुद्धि

सत्यमनन्या, वृत्तिवृत्तिमंतोर्भेदेनाग्रहणात्, तथापि उपरतव्यापारस्यापि परश्वादेर्वृत्तिमतः स्वरूपं नोपरमतीति भेदमुपचर्य्य व्यवहारो नानाकार्य-विषयः प्रवर्तते।

अत एवान्यत्वप्रसङ्ग इति चेत्, स्यादेतत्—यतो वृत्त्युपरमे वृत्तिमतोऽनुपरमः कार्यनानात्वं च, अत एवान्यत्वमपि स्यादिति।

तदयुक्तम्, एकान्तात्। तद्यथा सेनापङ्क्तिसेनाकुण्डलाद्युपरमे न तत्सन्निवेशिनामुपरमः कार्यभेदश्च, न चान्यत्वम्, एवं वृत्तितद्वतोरपि च स्यात्। तस्माद् युक्तमेतत्, हेत्वपेक्षणस्य वृत्तिविषयत्वान्न बुद्धेरनित्य-त्वमिति।

और उसकी वृत्ति का औपचारिक भेद सिद्ध है। अर्थात् यह सत्य है कि वृत्ति और वृत्तिमान् का भेदेन ग्रहण नहीं होने से वे दोनों परस्पर में अनन्य (अभिन्न) हैं। फिर भी जैसे परशु (फरसा) गत व्यापार का उपराम हो जाने पर भी व्यापाराश्रय परशु का स्वरूप उपरत नहीं होता; किन्तु उसका स्वरूप बना रहता है, वैसे ही यहाँ वृत्ति रूप व्यापार के उपरत हो जाने पर भी वृत्तिमती बुद्धि बनी रहती है। इस प्रकार औपचारिक भेद के आधार पर बुद्धि में नाना कार्यों का व्यवहार चलता है।

पूर्वपक्षी—इसी कारण बुद्धि और उसकी वृत्ति में अन्यत्व की (भेद की) प्रसक्ति हो जायेगी। अर्थात् चूंकि वृत्ति का (व्यापार का) उपरम हो जाने पर भी वृत्तिमान् का (बुद्धि का) उपरम नहीं होता है और बुद्धि में नाना कार्य होते हैं; इसीलिये बुद्धि और उसकी वृत्ति में भेद होने लगेगा; जो सांख्यवादी सिद्धान्ती को इष्ट नहीं है।

सिद्धान्ती—पूर्वपक्षी द्वारा आपादित उक्त प्रसङ्ग ठीक नहीं है। क्योंकि वृत्ति और वृत्तिमान् का अनन्यत्व (अभेद) ऐकान्तिक (अव्यभिचारत) है। अर्थात् बुद्धि और वृत्ति में अभेद भी रहेगा और उनके कार्य भी भिन्न रहेंगे। जैसे सेना की पंक्ति सेना का कुण्डल आदि का उपरम हो जाने पर भी उसमें सन्निविष्ट सैनिकों का उपरम नहीं हो जाता है और उन सैनिकों का भिन्न-भिन्न कार्य चलता रहता है; फिर भी सेना और सैनिक में अन्यत्व नहीं होता। वैसे ही वृत्ति और वृत्तिमान् (बुद्धि) में भी होगा। अर्थात् बुद्धि और उसकी वृत्ति परस्पर में भिन्न होती हुई भी उनका कार्य-भेद होगा; और वृत्ति के अनित्य होने पर भी बुद्धि अनित्य न होगी अर्थात् वह स्थिर होगी। इसलिये यह युक्त है कि हेतु की अपेक्षा का सम्बन्ध वृत्ति के साथ होने से बुद्धि अनित्य नहीं होगी।

एतेन व्यक्तिविकल्पः प्रत्युक्तः, सोऽपि वृत्तिविषय इति कृत्वा (।) तदप्युक्तमिन्द्रियादिभेदे भेदादिति । तदप्यनेनैवोक्तम् । वृत्तिभेदोऽत्र न भेद इति ।

किञ्चानेकान्तात् । यथोदकादिभेदात् प्रतिबिम्बभेदो न चाव्य-[1] ङ्न्यत्वमेवमन्यत्रापि स्यात् ।

द्रव्यान्तरोत्पत्तेरदोष इति चेत्, स्यान्मतम्—उदकस्याननसंयोगाद् द्रव्यान्तरमेव प्रतिबिम्बलक्षणमुत्पद्यते न तु मुखं भिद्यत इति[।]असदेतत्—कस्मात् ? उभयोः कारणत्वेन कल्पनानुपपत्तेः । न हि मुखं निमित्तं शक्यं

इस वृत्ति के विचार से व्यक्ति का विकल्प (व्यक्तिसम्बन्धी विरुद्ध कल्पना) खण्डित हो गयी; क्योंकि व्यक्ति भी वृत्ति का विषय है। अर्थात् उसके सम्बन्ध में भी कहा गया है कि इन्द्रियादि के भेद से व्यक्ति में भेद होता है। वह भी इस वृत्ति-विचार से ही कथित हो गया कि वृत्तिका भेद व्यक्ति का भेद नहीं है।

तात्पर्य यह कि बुद्धि का भेद वृत्ति के भेद का प्रयोजक नहीं होता है; किन्तु विषयभेद से विषयाकारा वृत्ति भिन्न-भिन्न होती है। वैसे ही वृत्ति के भेद से व्यक्ति का भेद नहीं होता है; क्योंकि एक ही व्यक्ति की अनेक बार तदाकारा वृत्ति हो सकती है। किन्तु इन्द्रियादि के भेद से ही व्यक्ति भिन्न होता है। अतः वृत्ति का भेद व्यक्ति का भेद नहीं है।

एवं वृत्ति के भेद से वृत्तिमान् (बुद्धि) के भेद में अनेकान्तत्व (व्यभिचार) भी है। जैसे जल के भेद से प्रतिबिम्ब में भेद होता है किन्तु मुख में अन्यत्व (भेद) नहीं होता। वैसे ही अन्यत्र (वृत्ति और वृत्तिमान् के सम्बन्ध में भी) होगा। अर्थात् विषय-भेद से वृत्तिभेद होता है, बुद्धिभेद से नहीं।

यदि कहा जाय कि प्रतिबिम्बस्थल में द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होने से कोई अनुप-पत्ति नहीं है। अर्थात् उदक और आनन (मुख) के संयोग से प्रतिबिम्ब के रूप में एक दूसरा द्रव्य ही उत्पन्न होता है, न कि बिम्बभूत मुख के भेद से वैसा होता है। तात्पर्य यह है कि मुख और भिन्न-भिन्न जल के संयोग से भिन्न-भिन्न दूसरा द्रव्य ही प्रतिबिम्ब के रूप में उत्पन्न हो जाता है और हम भी नहीं मानते कि प्रतिबिम्बभेद का कारण मुख की भिन्नता है। तथापि सिद्धान्ती का यह कथन कि मुख से प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं है, ठीक नहीं है। क्योंकि हमारे मतानुसार प्रतिबिम्ब के रूप में बिम्बभूत मुख से

---

१. 'न चान्यत्वमेवमन्यत्रापि स्यात्' इति पाठः सुसंगच्छते ।

वक्तुम्, विप्रकृष्टत्वान्नासादयो[1] मुखापगमेऽप्युपलब्धिप्रसङ्गात्, पाकजवत् ।

यत् पुनरेतदुक्तम्—वृत्तिभेदाददोषो मृद्वदिति-तथा तदस्तु । यत्तूक्तम्-अनन्यत्वाद् दृष्टान्तासिद्धेश्चेति—वृत्त्यनन्यत्वमिदानीमेव प्रत्युक्तम् क्षण-भङ्गप्रतिषेधे चोक्तम्—न पृथिव्यादोनामन्यथा चोत्पत्तिः । यत् पुनरेत-दुक्तम्—नैकं मृद्द्रव्यमिति—तत्र बुद्धिः प्रमाणम् । यदेकबुद्धिनिमित्तं

भिन्न एक द्रव्यान्तर की ही उत्पत्ति होती है। अतः वह प्रतिबिम्बद्रव्य मुख से अभिन्न नहीं हो सकता है[2] ।'

किन्तु पूर्वपक्षी का उक्त कथन असत् है; क्योंकि उदक और मुख दोनों की प्रतिबिम्ब के कारणरूप में कल्पना नहीं की जा सकती है; क्योंकि प्रतिबिम्ब के प्रति मुख को निमित्तकारण नहीं कहा जा सकता है। कारण, मुखरूप निमित्तकारण उस प्रतिबिम्ब से विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) होता है। ऐसी स्थिति में तथा मुख के वहाँ से हट जाने पर भी उस प्रतिबिम्बगत नासिका आदि की उपलब्धि होनी चाहिये। जैसे अग्नि का संयोग पाकज रूपादि का निमित्तकारण होता है और उस अग्निसंयोग के हट जाने पर भी उस पाकज रूप आदि की उपलब्धि होती रहती है।

यह जो हमने कहा था कि 'जैसे मृत्तिका-द्रव्य का घट-शराव आदि संस्थान के भेद में भी अभेद ही है; वैसे ही घटाद्याकारा वृत्तियों का भेद होने पर भी बुद्धि अभिन्न ही रहती है; तो वह कथन वैसा हो रहे। अर्थात् वह कथन ठीक ही है।

इस पर पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि 'वृत्तियों से बुद्धि के अनन्य होने से अर्थात् वृत्ति और बुद्धि में अभिन्नता होने से बुद्धि में भिन्नता की प्राप्ति होने लगेगी तथा मृत्तिका का दृष्टान्त स्वयं असिद्ध है। अर्थात् यह भी साध्यकोटि में है कि वही मिट्टी घट-शराव आदि भाव को प्राप्त करती है? या मिट्टी भी घटादि के रूप में भिन्न-भिन्न उत्पन्न होती है' इनमें वृत्त्यनन्यत्व के सम्बन्ध में अभी अभी निराकरण किया है—उपचारात्⋯भेदमुपचर्य व्यवहारो नानाकार्यविषयः प्रवर्तते—इस कथन द्वारा। एवं क्षणभङ्गवाद के प्रतिषेध में भी कहा गया है कि 'न पृथिव्यादोनामन्यथा चान्यथा चोत्पत्तिः' ऐसा।

जो तो यह कहा कि 'मृत्तिकाद्रव्य एक नहीं है; किन्तु घट-शराव आदि के भेद से भिन्न हैं' उसके सम्बन्ध में तो बुद्धि ही प्रमाण है। अर्थात् जो वस्तु एकबुद्धि

---

१. 'नासादीनां' इति पाठः संगतः संभवति।

२. इसके अनुसार वृत्ति और वृत्तिमान् में भी अभेद नहीं हो सकता है।

तदेकम् । [1]तत्र यदि मृदोऽनेकत्वेन प्रयोजनं बुद्धिरुपलभ्यते·········
वयमिति ।

यत् पुनरेतदुक्तम्—मृद्द्रव्यस्य संस्थानव्यतिरेकेण स्वभावोऽवधार्यते, न तु बुद्धेरर्थग्रहणमन्तरेण स्वरूपग्रहणमिति ।

तदयुक्तम्—अभावस्यारूपत्वात् । उपेत्य वा—

यथा बाह्याद्यवस्थासु व्याकारा चित्तसन्ततिः ।
विद्यते बीजमात्रा वस्तथा धीरिति गृह्यताम् ॥

यथा बाह्यार्थाकारवच्चित्तसन्ततिरथ च सुप्तमूर्छितविरोधसमा-

(एकाकारबुद्धि या एकत्वबुद्धि) का निमित्त बनती है, वह एक है। भिन्न होती तो उससे एक बुद्धि नहीं होती।

यदि मिट्टी के अनेकत्व से ही प्रयोजन की सिद्धि है, अर्थात् अनेकदेशावच्छिन्न वृत्ति अनेक मृत्परमाणु से ही घटरूप प्रयोजन की सिद्धि मानी जाय तो 'एकं मृद्द्रव्यम्' यह बुद्धि कैसे देखी जाती है ? अतः मृद्द्रव्य एक ही है।

अथवा पाठान्तर के अनुसार यह अर्थ होगा—यदि मृद् द्रव्य में अनेकत्व है तो 'एकं मृद्द्रव्यम्' इस बुद्धि का कोई प्रयोजन न होगा। अर्थात् उक्त बुद्धि निष्प्रयोजन हो जायेगी।

यह जो कहा कि 'बुद्धि के लिये मिट्टी का दृष्टान्त विषम है, क्योंकि मिट्टी द्रव्य का स्वभाव घट शराव आदि आकृति के अभाव में भी गृहीत होता है; किन्तु बुद्धि के स्वरूप का ग्रहण तो विषयग्रहण के विना स्वतन्त्र नहीं होता है।'

तो यह कथन अयुक्त है; क्योंकि अभाव किसी का रूप (स्वरूप) नहीं होता है। अर्थात् संस्थान का अभाव मिट्टी का स्वभाव (स्वरूप) नहीं बन सकता है। क्योंकि वैसा होने पर मिट्टी कभी घटादिरूप में परिणत ही न हो सकेगी।

यदि घटादि संस्थान के अभाव में भी मिट्टी का स्वभाव मान लिया जाय तो—

जैसे बाह्यादि अवस्थाओं में घट पटादि विभिन्न आकार वाली आपकी चित्तसन्तति कभी निराकार बीजमात्ररूप में (आलयविज्ञानरूप में) भी रहती है; वैसे ही सिद्धान्ती की बुद्धि भी अर्थग्रहण के बिना भी अपने स्वरूप में रहेगी, ऐसा मानें।

---

१. तत्र यदि मृदोऽनेकत्वेन प्रयोजनं, बुद्धिरुपलभ्यते कथमेकमिति पाठः सम्भाव्यते। अथवा—तत्र यदि, मृदोऽनेकत्वं; न प्रयोजनं बुद्धिरुपलभ्येत 'एकं मृद्द्रव्य'मिति।

पन्नानामर्थरूपावृते बीजमात्राऽस्तीत्यभ्युपगम्यते सा चिति कापि वाऽवस्थेति वचनात्, न च गृह्यते तथा बुद्धिरपीति कस्मान्न परिकल्प्यते ?

यत् पुनरेतदुक्तम्—यदि धर्मान्तरोपादानपरित्यागौ व्यक्त्यव्यक्ती, दत्तोत्तर एष पक्ष इति। तदितरत्र तुल्यम्। अस्माभिरपि तर्ह्यसत्कार्य-प्रत्याख्याने दत्तोत्तर एष पक्षः; व्यक्तिः; न क्रियत इति। नाशोत्पादौ तु अनिष्टावेवेति न परिहारं प्रत्यादरः क्रियते।

यदप्युक्तम्—'नष्टादुत्पन्नाच्चानष्टमनुत्पन्नं चान्यन्नास्तीति' तद-युक्तम्—अनभ्युपगमात्। नाशोत्पादौ कः प्रतिजानीते, यं प्रत्येतदर्थवत् स्यात् ? किं च त्वत्पक्षप्राप्तेः। भवत एव नष्टोत्पन्नेभ्यः स्कन्धेभ्यो

अर्थात् जैसे बाह्यार्थाकार वाली चित्तसन्तति होती है; फिर भी सुप्तमूर्छित या विरोधी विषय को प्राप्त व्यक्ति के लिये अर्थस्वरूप के बिना बीजमात्र में रहती है; ऐसा आप मानते हैं 'सा चितिः कापि वाऽवस्था' इस वचन के अनुसार; वैसे ही अर्थ-ग्रहणात्मिका बुद्धि भी अवस्थाविशेष में निराकाररूप में बीजमात्ररूप में अवस्थित होकर स्वरूपतः गृहीत नहीं होती है; ऐसी कल्पना क्यों नहीं कर लेते हैं ?

[सुप्त अवस्था में या मूर्छित अवस्था में, अथवा विरोधी पटादिविषयक चित्तसन्तति की दशा में घटविषयक चित्तसन्तति निराकाररूप में बीजरूप में अवस्थित रहती है; यह पूर्वपक्षी बौद्ध की मान्यता है।]

यह जो कहा कि–यदि धर्मान्तर का ग्रहण करना अभिव्यक्ति है तथा परित्याग करना अनभिव्यक्ति है–तो इस पक्ष का उत्तर दिया जा चुका है–तो यह कथन दूसरे पक्ष में भी समानरूप से लागू है; क्योंकि हमने भी असत्कार्यवाद के खण्डन में इस पक्ष का उत्तर दे दिया है कि कार्य की अभिव्यक्ति होती है; वह उत्पन्न नहीं किया जाता है। धर्मी का नाश या उत्पत्ति तो हमें अनिष्ट ही है; इसलिये आपके उक्त कथन के निराकरण के प्रति हम आदर नहीं कर रहे हैं। अर्थात् धर्मान्तर का ग्रहण करना अभिव्यक्ति है और परित्याग करना अनभिव्यक्ति है, यह हमें भी मान्य है।

और जो भी कहा कि—नष्ट और उत्पन्न से भिन्न अनष्ट और अनुत्पन्न कोई वस्तु नहीं है। अर्थात् सभी वस्तु नष्ट और उत्पन्न होने वाली है—वह भी कथन युक्त नहीं है। क्योंकि हम वैसा नहीं मानते हैं। अर्थात् वस्तु के नाश और उत्पत्ति को कौन स्वीकार करता है; जिसके प्रति यह कथन अर्थवान् हो ? सांख्यवादी वस्तु के आविर्भाव और तिरोभाव को ही स्वीकार करता है नाश और उत्पत्ति को नहीं।

नान्या सन्ततिरथ च नास्ति दोषः। कयाऽपि युक्त्या स्यादे[1] तदन्यैवा-सावित्ति, ततश्चैका सन्ततिरिति हीनम्।

यदप्युक्तम्—गुणवृद्धिक्षयेऽनित्यत्वमिति-तदनुपपन्नम्। कस्मात्? रूपान्तराप्यायनात्। सत्त्वं हि प्रकर्षमनुभवद् रजस्तमसी च न्यूनतां, धर्मादिरूपां (पं) (पं) बुद्धेराप्याययति, नार्थान्तरं कुर्वन्ति नो खल्वप्य-भावम्। एवं, रजस्तमो वा प्रकर्षमनुभवत् सत्त्वं च न्यूनता(ताम्), (अ) धर्मादिरूपं बुद्धेराप्याययन्ति, नार्थान्तरं कुर्वन्ति नाभावम्। एवं गुणवृद्धि-क्षयेऽपि रूपान्तराप्यायनान्नास्ति क्षयो बुद्धेः। तत्र यदुक्तम्—हेत्वपेक्षणा-दनित्या बुद्धिरिति एतदयुक्तम्।

एवं, तुम्हारे पक्ष में ही दोष की प्राप्ति है। अर्थात् आप के मत में ही सदा नष्ट-उत्पन्न होते रहने वाले स्कन्धों से अन्य उनकी सन्तति नहीं होती है, फिर भी कोई दोष नहीं मानते; किन्तु किसी भी युक्ति से उन स्कन्धों से सन्तति अनन्य (अभिन्न) ही है। ऐसी स्थिति में एक सन्तति होती है—यह आपका मत तिरस्कृत हो जाता है। क्योंकि सदा नष्ट-उत्पन्न होने वाले स्कन्ध जब भिन्न-भिन्न होने से अनेक हैं; तब उन स्कन्धों से अभिन्न सन्तति कैसे एक हो सकेगी?

और जो कहा कि—गुणों की वृद्धि एवं क्षय होने से बुद्धि में अनित्यत्व है—वह कथन अयुक्त है। क्योंकि गुणों की वृद्धि एवं क्षय से बुद्धि के रूपान्तरों का आप्यायन (पोषण या वृद्धि) होता हैं। अर्थात् जब सत्त्वगुण प्रकर्ष (आधिक्य) को प्राप्त कर जाता है तथा रजोगुण-तमोगुण न्यूनता को प्राप्त हो जाते हैं, तब वे गुण बुद्धि के धर्मादि (धर्म-ज्ञान वैराग्य-ऐश्वर्य) को बढ़ाते हैं; न कि कोई दूसरा पदार्थ उत्पन्न करते हैं या किसी का अभाव करते हैं।

ऐसे ही जब रजोगुण या तमोगुण प्रकर्ष को प्राप्त कर जाते हैं तथा सत्त्वगुण न्यूनता को प्राप्त हो जाता है; तब वे गुण बुद्धि के अधर्म आदि (अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य) को बढ़ाते हैं; न कि कोई दूसरा पदार्थ उत्पन्न करते हैं या किसी का अभाव करते हैं। इस प्रकार गुणों की वृद्धि या क्षय होने पर भी बुद्धि के धर्मादि रूपान्तरों का आप्यायनमात्र होने से बुद्धि का क्षय या अभाव नहीं होता है।

पूर्व में यह जो कहा कि-हेतु की अपेक्षा होने के कारण अर्थात् हेतुसापेक्ष होने के कारण बुद्धि अनित्य है—तो पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें सिद्धसाधन दोष हो जाता है। [यह बात पहले कही जा चुकी है]।

---

१. 'स्यादेतदनन्यैवासौ' इति पाठान्तरम्, तच्च युक्तम्।

यत् पुनरेतदुक्तम्—प्रत्यक्षग्रहणान्यत्वात् प्रतिक्षणं दीपादितैलधारासु शब्दभेदाच्च क्षणिकेति-अत्र ब्रूमः—ग्रहणान्यत्वे चोक्तम्-वृत्तिभेदो न वृत्तिमद्भेदः।

किञ्चान्यत्, भिन्नार्थग्रहणैकत्वात्। उपेत्य वा ब्रूमः—यदि प्रत्यर्थमन्यदन्यद् ग्रहणं कल्प्यते, (यथा) विकल्पबाधसमुच्चयसंशयद्वित्वातिशयनिवारणेषु, तथा कल्माषं शबलं चित्रमित्यनेकार्थरूपमेकं ग्रहणं न स्यात्। दृष्टं तत्। तस्मान्नायं क्षणिकत्वे हेतुः।

एवमवस्थितमिदम्—अध्यवसायो बुद्धिर्न क्षणिकेति। बुद्धेस्तु त्रिगुणात्मकत्वात् तस्य तस्य गुणस्य प्रकर्षे तत्तद् रूपान्तरमुत्पद्यत इति।

आह—कस्य गुणस्य प्रकर्षे बुद्धेः किंलक्षणं रूपान्तरमुत्पद्यते? इत्युच्यते—

धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।

जो तो यह कहा कि—जैसे, दीपादि-तेल और जल की धारा में वैसे बुद्धि में भी प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न प्रत्यक्षज्ञान होने से तथा शब्दभेद से भी बुद्धि क्षणिक है—इस पर हम कहते हैं कि भिन्न-भिन्न ग्रहण होने के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि 'वृत्तियों में भेद होता है, वृत्तिमान् में (बुद्धि में) नहीं।

और भी युक्ति है—भिन्न अर्थों का यह ज्ञान (समूहालम्बनात्मक ज्ञान) होने से भी बुद्धि एक है। अर्थात् अभ्युपगमसिद्धान्त से पूर्वपक्षी की उक्त बात मानकर भी हम कहते हैं कि—जैसे, विकल्प-बाध-समुच्चय-संशय-द्वित्व-अतिशय और निवारण में होता है, वैसे ही कल्माप-शबल या चित्राकार अनेकार्थविषयक एक ग्रहण नहीं होना चाहिये। किन्तु वैसा ग्रहण देखा जाता है। इसलिये बुद्धि के क्षणिकत्व में यह भी हेतु नहीं है।

इसलिये यह स्थित हो गया कि अध्यवसायात्मिका बुद्धि क्षणिक नहीं है। हाँ इतना तो सही है कि बुद्धि के त्रिगुणात्मक होने के कारण उस पर गुण की प्रकर्षावस्था में बुद्धि के उस उस रूपान्तर का प्रादुर्भाव हो जाता है।

प्रश्न—किस गुण के प्रकर्ष (आधिक्य) में बुद्धि के किस प्रकार के रूपान्तर की उत्पत्ति होती है?

उत्तर—'धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्, सात्त्विकमेतद्रूपम्। अर्थात् धर्म-ज्ञान-

सात्त्विकमेतद् रूपम्,

अत्र त्वेद्रूपमिति सत्यपि धर्मादिभेदे बुद्धिरित्यभेदविवक्षाविषय एकवचननिर्देशः क्रियते। एतदुक्तं भवति-यदा रजस्तमसी वशमापाद्य बुद्धिगतं सत्त्वमुत्कृष्टं भवति, तदा धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यमित्येतद्रूपं भवति।

तत्र श्रुतिस्मृतिविहितानां कर्मणामनुष्ठानाद् बुद्ध्यवस्थः सत्त्वावयव आशयभूतो धर्म इत्युच्यते। स तु द्विविधः—ब्रह्मादिस्थानेष्वभिप्रेतशरीरेन्द्रियविषयोपभोगनिर्वर्तको ज्ञानाद्यङ्गभूतश्च प्रथमः। अग्निहोत्रहवनादिक्रियानुष्ठानसाधनो यमनियमसाधन इतरः।

तत्राहिंसासत्यमस्तेयमकल्कता ब्रह्मचर्यमिति पञ्च यमाः। अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवमप्रमाद इति पञ्च नियमाः। एतेषामविलोपेनानुष्ठानाद् यतेरेवं विधोत्तरणे सत्त्वधर्म आशयतां प्रतिपद्यते, यो ज्ञानादीनां

वैराग्य और ऐश्वर्य यह बुद्धि का सात्त्विक रूप है। यहाँ पर यद्यपि धर्म आदि चार भिन्न-भिन्न हैं और सूत्र (कारिका) में 'सात्त्विकान्येतानि रूपाणि' ऐसा बहुवचन निर्देश होना चाहिये, तथापि बुद्धि के अभेद की विवक्षा से 'सात्त्विकमेतद्रूपम्' ऐसा एक वचन का निर्देश आचार्य ने किया है।

उक्त कारिका द्वारा यह कहा गया है कि जब रजोगुण और तमोगुण को वश में करके बुद्धिगत सत्त्वगुण उत्कर्ष को प्राप्त कर जाता है, तब धर्म-ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्य यह रूप बुद्धि का उत्पन्न होता है। इनमें श्रुति-स्मृति द्वारा विहित कर्मों के अनुष्ठान से सत्त्वरूप अवयव से उत्पन्न बुद्धिगत जो आशय या संस्कार, वह धर्म कहा जाता है। वह दो प्रकार का होता है—ब्रह्मादि स्थानों में (लोकों में) अपने अभीष्ट शरीर-इन्द्रिय और विषयोपभोग का सम्पादक तथा ज्ञानादि का अङ्गभूत धर्म प्रथम है। एवं, अग्निहोत्र हवन आदि क्रियाओं के अनुष्ठान से होने वाला तथा यम-नियमों के पालन से होने वाला धर्म दूसरा है।

उनमें अहिंसा-सत्य-अस्तेय-अकल्कता (अपरिग्रह) और ब्रह्मचर्य ये पाँच यम हैं। अक्रोध-गुरुशुश्रूषा-शौच-आहार में (हलकापन) और प्रमाद न करना ये पाँच नियम हैं। बिना व्यवधान इनके अनुष्ठान द्वारा यति को इनका (यम नियमों का) उत्तरण अर्थात् प्रकर्ष प्राप्त हो जाने पर सत्त्वधर्म संस्कार के रूप में प्राप्त हो जाता है; जो ज्ञानादि धर्मों को वृद्धि करता है। यह स्थिति अभ्युदय और निःश्रेयस का सोपान-

रूपाणामाप्यायनं करोति। एतदभ्युदयनिःश्रेयसयोः सोपानभूतं प्रथमं पर्व, यत्रायमवस्थितो यतिरितरेषां पर्वणामनुष्ठाने योग्यो भवति।

ज्ञानं द्विविधम्—शब्दाद्युपलब्धिलक्षणं, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च। तत्र शब्दाद्युपलब्धिलक्षणं प्रत्यक्षानुमानागमरूपम्। गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधम्—अपूर्वमभ्यासजं च। तयोरपूर्वम् 'ऊहः शब्दोऽध्ययनम्' (का० ५१) इति सिद्धिकाण्डानुपतितानि प्रमाणानि। अभ्यासजं पुनः वैराग्यपूर्वा(पर्वा)वजयपृष्ठलब्धं शान्तममलं ध्रुवं सकलभवाऽभव-(भवभय) प्रतिपक्षभूतम्। यदाचार्यो वक्ष्यति—

'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ इति॥ (का० ६४)

विरागस्तु रागप्रतिपक्षभूतो ज्ञानाभ्यासोपजनितो बुद्धेः प्रसादः। तस्य

भूत प्रथम पर्व है, जिस पर आरूढ हुआ यति अन्य अग्रिम पर्वों के अनुष्ठान में समर्थ होता है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—शब्दादि विषयों की उपलब्धिस्वरूप और गुण (त्रिगुणात्मक प्रकृति) एवं पुरुष के विवेक की उपलब्धिस्वरूप। उनमें शब्दादि-उपलब्धिलक्षण ज्ञान प्रत्यक्ष-अनुमान और आगमरूप है। तथा गुण-पुरुषविवेक की उपलब्धिलक्षण ज्ञान के दो भेद हैं—अपूर्व विवेक ज्ञान और अभ्यास से उत्पन्न विवेक ज्ञान। उनमें 'ऊहः शब्दोऽध्ययनम्' (का० ५१) सिद्धियों के इस प्रकरण में आये प्रमाण अपूर्व ज्ञान है। तथा वैराग्य पर्व की विजय के पृष्ठ में (अनन्तर) प्राप्त शान्त-निर्मल-निश्चल एवं समस्त संसारभय का विरोधीभूत विवेकज्ञान अभ्यासज विवेकज्ञान है। जिसे आगे आचार्य कहेंगे—

'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे' इत्यादि। अर्थात् इस प्रकार तत्त्वों के अभ्यास (पुनः पुनः मनन) से 'नास्मि, न मे, नाहम्' ऐसा सम्पूर्ण-विपर्ययरहित विशुद्ध केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

राग का प्रतिपक्ष (विरोधी) भूत एवं ज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न जो बुद्धि का प्रसाद (निर्मलता), वह विराग है। उस विराग की चार अवस्थायें होती हैं—यतमान अवस्था व्यतिरेक अवस्था एकेन्द्रिय अवस्था और वशीकार अवस्था। उनमें विषयों की कामनारूप कषाय के पाचन के प्रति (नाश के प्रति) जो प्रयत्न या उत्साह, वह यतमानसंज्ञा वैराग्य के इस पर्व में यतिजन उसके लिये यत्नवान् होता है। जब तो

तु यतमान-व्यतिरेकैकेन्द्रिय-वशीकारलक्षणाश्चतस्रोऽवस्था भवन्ति । तत्रे-न्द्रियाणां विषयाभिलाषलक्षणकषायपाचनं प्रति यः प्रयत्न उत्साहः, सा यतमानसंज्ञा । यतमानो ह्यस्मिन् पर्वण्यवस्थितो यतिर्भवति । यदा तु केषांचिदिन्द्रियाणां परिपक्वं, सा व्यतिरेकसंज्ञा । व्यतिरिच्यते हि तदा यतेरिन्द्रियाणि परिपक्वाण्यपरिपक्वेभ्यो विशिष्टतराणि भवन्तीत्यर्थः । विपरिपक्वसर्वेन्द्रियस्तु संकल्पमात्रावस्थितकषायो यदा भवति तदैकेन्द्रिय-संज्ञा । निवृत्त सर्वेन्द्रियविषयेच्छस्य यतेरेकमेव मनोलक्षणमिन्द्रियं तदा(ऽ) परिपक्वं भवति ।

संकल्पमात्रावस्थितस्यापि परिपाको वशीकारसंज्ञा । संकल्पमूलो-च्छिन्नविषयमृगतृष्णो ह्ययं यतिरिन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च प्रवृत्तिनिवृ-त्त्योरीष्टे । एकाग्र एकारामोऽविद्यापर्वणोऽतिक्रान्तः परस्य ब्रह्मणः प्रत्यनन्तरो भवति । तदेवं चतुरवस्थं वैराग्यपर्व विज्ञाय तदनुष्ठानाय यतिः प्रयतेत ।

कुछ इन्द्रियों का कषाय परिपक्व हो गया रहता है और कुछ का शेष रहता है, तब वह व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्य कहाता है; क्योंकि उस अवस्था में यति को परिपक्वकषाय वाली इन्द्रियाँ अपरिपक्व कषाय वाली इन्द्रियों से पृथक् हो जाती हैं; और अपेक्षा-कृत विशिष्ट हो जाती हैं ।

जब तो यति की सभी इन्द्रियाँ विनष्ट-कषाय वाली हो जाती है और केवल मन का कषाय शेष रह जाता है; तब वह एकेन्द्रियसंज्ञा वैराग्य है । क्योंकि उस अवस्था में यति की सभी इन्द्रियों में विषयों की इच्छायें निवृत्त हो गयीं रहती हैं और एकमात्र मननामक इन्द्रिय ही अपरिपक्वकषाय वाला रह जाता है । अर्थात् उस स्थिति में केवल मन में विषय के प्रति आकर्षण शेष रह जाता है ।

मानसिक संकल्प के रूप में अवस्थित विषय की इच्छा का भी परिपाक(निवृत्ति) वशीकारसंज्ञा वैराग्य है । संकल्पमूलक विषयमृगतृष्णा जिसकी उच्छिन्न (नष्ट) हो गयी है, ऐसा यति अपनी बाह्येन्द्रियों को और अन्तःकरण (मन) को भी प्रवृत्ति और निवृत्ति के ऊपर काबू प्राप्त कर लेता है । और वह यति एकाग्र और एक ही में रमण करने वाला अविद्या की गाँठ को पारकर परब्रह्म के अत्यन्त निकटवर्ती हो जाता है । इस प्रकार पूर्वोक्त चार अवस्था वाले वैराग्य के भेदों को जानकर उनके अनु-ष्ठान के निमित्त यति प्रयत्न करे ।

तस्योपायो दृष्टानुश्रविकविषयप्रत्याख्याने य उपदिष्टो यश्च तुष्टिषु वक्ष्यमाणस्तमेकीकृत्योत्तरोत्तरां तत्त्वभूमिं विज्ञानस्य विषयीकुर्वन् पूर्वस्यां तत्त्वभूमौ मध्यस्थः स्यात् ।

ऐश्वर्यमप्रतीघातलक्षणम् यत् पुनरष्टविधम्—अणिमा-महिमा-लघिमा गरिमा-प्राप्तिः-प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्र कामावसायित्वमिति । [अत्राणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमेति भूतवैशेषिकम्, बुद्धेस्तु प्राप्त्यादि । एवमेतच्चतुर्विधं महतः सात्त्विकं रूपमिति ।]

आह—अथ गुणान्तररूपं किम् ? उच्यते—

'तामसमस्माद् विपर्यस्तम्' ॥ २३ ॥

एतत्, अस्माद् धर्मादेः सत्त्वरूपाद् विपर्यस्तं तामसं तमः प्रकर्षो-

---

ज्ञानप्राप्ति का अन्यतम हेतुभूत उस वैराग्य का उपाय यह है, जो दृष्ट(लौकिक) और आनुश्रविक (वैदिक) विषयों के परित्याग के लिये कहा जा चुका है और जो तुष्टि में कहा जाने वाला है। उन (द्विविध) उपायों को समुदितरूप में अपनाकर विज्ञान की अग्रिम-अग्रिम तत्त्वभूमि को जानता हुआ पूर्व-पूर्व भूमि के प्रति मध्यस्थ (तटस्थ या उदासीन) हो जाय।

सभी विषयों में प्रतिघात=व्याघात या रुकावट का न होना ऐश्वर्य है। जो आठ प्रकार का होता है—अणिमा=अत्यन्त सूक्ष्म हो जाना, गरिमा=अत्यन्त भारी वन जाना, प्राप्ति=अत्यन्त दूरवर्ती चन्द्रमा आदि को हाथ से छू लेना, प्राकाम्य= कहीं भी इच्छा का विघात न होना, ईशित्व=देवमनुष्यादि सब पर शासन कर सकना और वशित्व=सबको अपने वश में कर लेना, जहाँ कामनाओं का इच्छाओं का अवसान हो जाता है। (इनमें अणिमा-महिमा-लघिमा और गरिमा ये चार भूत से सम्बन्धित हैं तथा प्राप्ति आदि शेष चार बुद्धि से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार ज्ञान-धर्म-वैराग्य और ऐश्वर्य यह चार भेद महत्तत्त्व (बुद्धि) का सात्त्विक रूप है।)

प्रश्न—सत्त्वगुण के धर्मादि चार रूप बता दिये गये। अब बतावें कि अन्यगुण (तम) का क्या रूप है ?

उत्तर—'तामसमस्माद् विपर्यस्तम्' इति। अर्थात् इस धर्मादि सात्त्विकरूप के विपरीत तमोगुण के प्रकर्ष (आधिक्य) से उत्पन्न बुद्धि का तामस रूप यह है—यहाँ शास्त्रविहित कर्म के अनुष्ठान से आशय (वासना) के रूप में उत्पन्न सत्त्व का अवयव (अंश) धर्म है, यह कहा गया है। एवं शास्त्र विहित नित्य कर्म के अननुष्ठान (नहीं

पजनितमित्यर्थः । अत्र शास्त्रचोदितानुष्ठानादाशयनिष्पन्न (:) सत्त्वावयवो धर्म इत्युक्तम् । शास्त्रचोदितस्य नित्यस्य च कर्मणोऽननुष्ठानाद् बुद्ध्यवस्थस्तमोऽवयव आशयतां प्रतिपन्नोऽधर्मः । स चापि द्विविधः—अनिष्टशरीरेन्द्रियविषयोपभोगनिर्वर्तकः, ख्यातिवारकश्च ।

यथा च ज्ञानं द्विविधं-शब्दाद्युपलब्धिलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च, एवमज्ञानमपि विपर्ययेण वाच्यम् ।

यथा च चतुरवस्थं वैराग्यं तथा यतमानादि चतुरवस्थो रागः । यथा चाष्टगुणमैश्वर्यमणिमादि तथाऽष्टगुणमनैश्वर्यमेतत् तामसं महतो रूपम् । यच्चैतदधर्मादिनिमित्तभूतमुत्कृष्टं तमोरूपं, तद्रजसा सहाऽविरोधादेकतामिवापन्नमशुद्धिरित्याचार्यैः पठ्यते । सत्त्वरूपं तु प्रकाश इति ।

करने) से उत्पन्न बुद्धिस्थ तमोगुण का अवयव (अंशभूत) अधर्म है। वह भी दो प्रकार का होता है—प्रथम अनिष्ट शरीर इन्द्रिय और विषय का जो उपभोग उसका प्रयोजक अधर्म तथा दूसरा विवेकख्याति का प्रतिबन्धक अधर्म ।

एवं, जैसे ज्ञान दो प्रकार का होता है—शब्दादि विषयों की उपलब्धिरूप तथा प्रकृति-पुरुष के विवेक की उपलब्धिरूप; वैसे ही अज्ञान भी उसके विपरीत दो प्रकार का होता है, ऐसा मानना चाहिये। प्रथम शब्दादि विषयों की अनुपलब्धिरूप तथा द्वितीय प्रकृति-पुरुष के विवेक की अनुपलब्धिरूप ।

जैसा कि चार अवस्था वाला वैराग्य होता है, वैसे ही यतमान आदि चार अवस्था वाला राग भी होता है, यतमान-व्यतिरेक-एकेन्द्रिय और वशीकारसंज्ञा राग। एवं जैसे आठ प्रकार का ऐश्वर्य होता है अणिमा आदि, वैसे ही आठ प्रकार का अनैश्वर्य होता है—अणिमा का अभाव अनणिमा, महिमा का अभाव अमहिमा, अलघिमा, अगरिमा, अप्राप्ति-अप्राकाम्य-अनीशित्व और अवशित्व। इस प्रकार चतुर्विध राग और अष्टविध अनैश्वर्य ये महत्तत्त्व के तामस रूप हैं ।

जो यह अधर्मादि का निमित्तभूत प्रकर्ष को प्राप्त तमोरूप है, वह रजोगुण के साथ विरोधरहित होकर उसके साथ एकता को प्राप्त हुआ अशुद्धिशब्द से आचार्यों द्वारा कहा जाता है। जो तो महत्तत्त्व का सत्त्वरूप है, वह प्रकाश या ज्ञान है।

इन दोनों (तमोरूप एवं सत्त्वरूप) के प्रतिपादन से पञ्चाधिकरण का निम्नलिखित पक्ष खण्डित हो जाता है कि प्राकृत (सांसिद्धिक) एवं वैकृत (नैमित्तिक) ज्ञानों का प्रधान के समान शुष्क नदीस्थानीय अन्तःकरण में और बाह्यकरण

अनयोश्चाभिधानाद् यः पञ्चाधिकरणपक्षः—प्राकृतवैकृतानां ज्ञानानां प्रधानवच्छुष्कनदीस्थानीयाऽन्तःकरणे बाह्ये च प्रेरकज्ञानांशक-कृत उपनिपातः, तथा(अ)सात्त्विकस्थित्यात्मककृतमप्रत्ययस्यावस्थानमिति तत्प्रतिक्षिप्तं भवति। किं कारणम् ? यस्मादशुद्धिरेव प्रकाशमलमतिप्रवृत्तं निवर्तयितुं प्रकर्षमापन्नाऽन्याभूता (अन्यभूता) च प्रवर्तयितुम्। इत्येव-मष्टधा बुद्धिर्व्याख्याता ॥ २३ ॥

यस्त्वसावनन्तरमुक्तोऽहङ्कारस्तं व्याख्यास्यामः।

आह—यद्येवं तस्मादिदमेव तावदुच्यताम्, किमस्याहङ्कारस्य लक्षणमिति ?

उच्यते—

अभिमानोऽहङ्कारः

कर्तुः स्वात्मप्रत्ययवमर्शात्मको योऽयमहमिति प्रत्यय उत्पद्यते, स

में प्रेरक ज्ञानांशकृत समावेश हो जायेगा। यहाँ प्रेरकपद से रजोगुण विवक्षित है तथा ज्ञानांशपद से सत्त्वगुण विवक्षित है। 'प्रधानवत्' का अभिप्राय है कि जैसे भावों का प्रधान में समावेश हो जाता है, वैसे ही सभी प्राकृत वैकृत ज्ञानों का शुष्क नदीतुल्य सत्त्वगुणात्मक अन्तःकरण एवं बाह्यकरण में सन्निवेश हो जाता है। वैसे ही असात्त्विक एवं स्थित्यात्मक तमः द्वारा अज्ञान की भी अन्तःकरण एवं बाह्यकरणों में अवस्थिति हो जाती है।

पञ्चाधिकरण के इस पक्ष के खण्डित होने का कारण यह है कि प्रकर्ष को प्राप्त अशुद्धि ही अतिशय प्रवर्तमान प्रकाश को निवृत्त करने में अलम् (समर्थ) है और उससे अन्यभूत (भिन्न) अर्थात् अपकर्ष को प्राप्त हुई अशुद्धि प्रकाश को प्रवृत्त करने में समर्थ होती है। इस प्रकार आठ भाव वाली बुद्धि का व्याख्यान सम्पन्न हुआ।

जो तो पूर्व में महत्तत्त्व के बाद अहङ्कार तत्त्व कहा गया है, उसका व्याख्यान हम करेंगे।

प्रश्न—यदि ऐसा है, तो यही कहें कि अहङ्कार का क्या लक्षण है ?

उत्तर—'अभिमानोऽहङ्कारः' अभिमान को अहङ्कार कहते हैं। अर्थात् कर्ता को (बुद्धि को) अपना मान कराने वाली जो यह 'अहम्' ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है, वही अहङ्कार है, जो महत् से भिन्न तत्त्व है। क्योंकि महत्तत्त्व (बुद्धि) सर्वविषयक अध्यवसाय (निश्चय) रूप है, और यह अहङ्कार तो स्वात्ममात्र का भान कराता है। किन्तु यह प्रकृति से अर्थान्तर नहीं है।

खल्वहङ्कारो महतस्तत्त्वान्तरम्। कस्मात्? तस्य सर्वविषयाध्यवसाय-रूपत्वात्, अस्य तु स्वात्मप्रत्ययमर्शात्। न त्वर्थान्तरम्। कस्मात्? प्रकृतिविकारयोरनन्यत्वाऽभ्युपगमात्। न हि नः प्रकृतेरर्थान्तरभूतो विकार इति प्राग् विस्तरेण प्रतिपादितम्।

स च मूर्तिप्रत्ययाभ्यां महतः स्थूलतरः। कस्मात्? अविभागात् विभागनिष्पत्तेः, कालादिवत्। त्रिगुणस्य च महतो विकारत्वादसावपि त्रिगुणः। कस्मात्? प्रकृतिरूपस्य विकारे दृष्टत्वात्, तन्तुपटवत्।

तद्भावसन्निविष्टास्तु ये सत्त्वादयस्त आचार्यैर्वैकारिक-तैजस-भूतादिशब्देनाख्यायन्ते। तथा च शास्त्रमाह-'एतस्माद्धि महत आत्मन इमे त्रय

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—क्योंकि यहाँ प्रकृति और विकार को अभिन्न माना गया है। अर्थात् हमारे यहाँ प्रकृति से भिन्नरूप में विकार नहीं है, यह पूर्व में विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि विकार की सत्ता जब प्रकृति से भिन्न नहीं है, तब प्रकृति के लिये सभी विकार स्वात्मरूप है। और स्वात्मरूप में भान कराना ही अहङ्कार का कार्य है।

वह अहङ्कार मूर्ति (स्वरूप) और प्रतीति की दृष्टि से महत् की अपेक्षा स्थूलतर है। क्योंकि अविभाग से विभाग की निष्पत्ति होती है। अर्थात् महत्तत्त्व से अविभक्तावस्था में पहले वर्तमान अहङ्कार अब विभक्तावस्था को प्राप्त हो गया। इसीलिये अविभक्तावस्था में सूक्ष्म अहङ्कार विभक्तावस्था में स्थूलतर स्वरूप को धारण कर लेता है। जैसे–काल अविभक्त-अवस्था में सूक्ष्म रहता है; किन्तु दिन मास आदि के रूप में जब हम उसे विभक्त करते हैं; तब वह हमारे लिये स्थूल बन जाता है। 'कालादिवत्' यहाँ आदि पद से ज्ञान ले सकते हैं। ज्ञान भी विषय के अभाव में सूक्ष्म या अज्ञेय रहता है, किन्तु विषयावच्छिन्न होकर स्थूल या वेद्य बन जाता है।

एवं, त्रिगुणात्मक महत्तत्त्व का विकार होने से अहङ्कार भी त्रिगुणात्मक प्रतीत होता है। क्योंकि प्रकृति का रूप विकार में देखा जाता है। अर्थात् अहङ्कार का त्रिगुणात्मक स्वरूप प्रतीयमान होने से वह महत्तत्त्व की अपेक्षा स्थूलतर है। महत्तत्त्व की त्रिगुणात्मकता सूक्ष्म है और वह विकार की त्रिगुणात्मकताप्रतीति से ही गम्य होती है। जैसे तन्तु का विकार पट तन्तु की अपेक्षा स्थूलतर होता है। क्योंकि पटरूप विकार के आविर्भाव से ही तन्तु का प्रकृतित्व गम्य होता है। पट के

आत्मानः सृज्यन्ते, वैकारिक-तैजस-भूतादयोऽहङ्कारलक्षणाः। अहमित्येवैषां सामान्यलक्षणं भवति। गुणप्रवृत्तौ च पुनर्विशेषलक्षणमिति।'

आह—का पुनर्गुणप्रवृत्तिर्यस्याह'मस्मि'प्रत्ययैकरूपस्याहङ्कारस्य विशेषप्रतिपत्तिर्भवतीति ?

उच्यते—योऽयम्,

तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।

द्विविधः इन्द्रियलक्षणस्तन्मात्रलक्षणश्च सा गुणप्रवृत्तिरित्युच्यते। कस्मात् ? तत्कार्यत्वात्। गुणप्रवृत्तिकार्यो हि सर्गः। दृश्यते च खलु लोके कार्ये कारणमुपचर्यमाणम्! तद्यथा, शालीन्भुङ्क्त इति।

अभाव में तन्तु का प्रकृतित्व तिरोहित रहता है। इसलिये तन्तुस्वरूप की अपेक्षा पट का स्वरूप स्थूलतर है। यह सिद्ध हुआ।

एवं अहङ्कारभाव में सन्निविष्ट जो सत्त्व-रजस् तमस् हैं, उन्हें आचार्यों ने वैकारिक-तेज और भूतादि शब्द से कहा है। जैसा कि आचार्यों के शास्त्रवचन है—'एतस्माद्धि महत 'आत्मनः' इत्यादि। अर्थात् इसी महत्तत्त्वरूप आत्मा से ये तीन आत्मा बनते हैं—वैकारिक तैजस और भूतादि, जो कि अहङ्कारस्वरूप हैं। क्योंकि इन तीनों का सामान्य स्वरूप 'अहम्' इत्याकारक ही है। किन्तु सत्त्व आदि गुणों की पृथक्-पृथक् प्रवृत्ति होने पर तो उसका वैकारिक-तैजस और भूतादि यह विशेष स्वरूप बन जाता है। अर्थात् सत्त्व का वैकारिक, रजस् का तैजस, और तमस् का भूतादि स्वरूप बन जाता है।

प्रश्न—वह कौन सी गुणों की प्रवृत्ति है, जिसके होने पर 'अस्मि' इस प्रत्ययमात्रस्वरूप अहङ्कार के विशेष स्वरूपों का (वैकारिक तैजस-भूतादि स्वरूपों की) प्रतिपत्ति (प्रतीति) होती है ?

उत्तर—जो यह 'तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः' इस सूत्र द्वारा दो प्रकार का सर्ग इन्द्रियलक्षण और तन्मात्रलक्षण बताया गया है, वह द्विविध सर्ग ही गुणों की प्रवृत्ति कही जाती है। क्योंकि उक्त द्विविध गुणों की प्रवृत्ति का कार्य है सर्ग। यह लोक में देखा जाता है कि कार्य में कारण का औपचारिकव्यवहार होता है। जैसे चावल खाने वाले को शाली (धान) खाता है' ऐसा व्यवहार में कहा जाता है। वैसे ही इन्द्रियलक्षण और तन्मात्रलक्षण द्विविध सर्ग गुणप्रवृत्ति का यद्यपि कार्य है, तथापि उक्त द्विविध सर्ग में ही गुणप्रवृत्ति का औपचारिक अभेद व्यवहार होता है। अर्थात् द्विविध सर्ग ही वह गुणप्रवृत्ति है, जिससे 'अहं' सह सामान्यस्वरूप अहङ्कार में वैकारिक आदि त्रिविध विशेषों की प्रतीति हो जाती है।

आह—प्रागुक्तम्, अहङ्कारात् षोडशको गण उत्पद्यते। इदानीं पुनरुच्यते 'तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।' तदिदं पूर्वोत्तरव्याघातादयुक्तमिति।

उच्यते—न, सामान्येन विवक्षितत्वात्। अभेदविवक्षायां हि कृत्वा कार्यकारणलक्षणमेवमस्माभिरुपदिष्टम् 'द्विविधः सर्गः' इति।

भेदविवक्षायां पुनः—

ऐन्द्रिय एकादशकस्तान्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

इन्द्रियाणामयमैन्द्रियः एकादश परिमाणमस्य एकादशकः एवं तन्मात्रेषु वक्तव्यम्। तन्मात्राणां शब्दस्पर्शादीनामयं तान्मात्रः सर्गः। पञ्चकश्च, पञ्चपरिमाणमस्येति पञ्चकः। अस्य तु षोडशकस्य विकारस्य संज्ञालक्षणप्रयोजनान्युत्तरत्र वक्ष्यति। एषा गुणप्रवृत्तिर्व्याख्याता,

---

शङ्का—पूर्व में कहा गया है कि 'अहङ्कार से षोडश पदार्थों का समूह उत्पन्न होता है और अभी कहा जा रहा है कि उससे (अहङ्कार से) दो प्रकार की सृष्टि होती है' किन्तु यह दोनों कथन पूर्व और उत्तर वचनों में विरोध होने के कारण अयुक्त है।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि 'तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः' यहाँ सामान्य विवक्षा है। अर्थात् अभेद विवक्षा में कार्य-कारण स्वरूप को मानकर 'द्विविधः सर्गः' ऐसा कहा गया है। अर्थात् कार्य की दृष्टि से इन्द्रिय सर्ग है; इन्द्रियाँ किसी कार्य का उपादान कारण नहीं होती हैं। और कारण की दृष्टि से तन्त्रमात्र सर्ग है, जो भूतपञ्चक की उत्पत्ति में कारण होता है। तात्पर्य यह है कि कार्य सर्ग और कारण सर्ग की दृष्टि से यहाँ दो सर्ग कहा गया है।

और भेद की विवक्षा में पूर्व में अहङ्कार से सोलह पदार्थों की उत्पत्ति बतायी गयी थी। 'एकादश ऐन्द्रिय सर्ग और पाँच तन्मात्र सर्ग'।

इन्द्रियों का सर्ग (सृष्टि) ऐन्द्रिय है। वह एकादशक सर्ग है। अर्थात् एकादश संख्या है परिमाण जिस सर्ग का, वह एकादशक सर्ग कहलाता है। ऐसे ही तन्मात्रों के सम्बन्ध में कहना चाहिये। अर्थात् पाँच संख्या है परिमाण जिस सर्ग का, वह तन्मात्र सर्ग, पञ्चक सर्ग कहा गया है। तन्मात्रों का=शब्द-स्पर्शादिकों का यह सर्ग तान्मात्र सर्ग है; जो संख्या में पांच होने से पञ्चक है। पञ्चसंख्या परिमाण होने से यह पञ्चक सर्ग है।

इस षोडश संख्या वाले इन्द्रियाँ और तन्मात्ररूप विकार की संज्ञा, लक्षण

यस्याम'स्मि' प्रत्ययस्य विशेषग्रहणं भवति—शब्देऽहम्, स्पर्शोऽहम्, रूपेऽहम्, रसेऽहम्, गन्धेऽहमिति।

आह—अहङ्कारे सत्त्वादीनां संज्ञान्तरावचनम्, आनर्थक्यात्। यदिदमहङ्कारे सत्त्वादीनां संज्ञान्तरमारभ्यते वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति' तन्न वक्तव्यम्। कस्मात्? आनर्थक्यात्। न हि तत्त्वान्तरसन्निवेशिनां सत्त्वादीनां संज्ञान्तराभिधाने किञ्चित् प्रयोजनमस्तीति, संज्ञाभूयस्त्वात्। अथायं निर्बन्धस्तत्त्वान्तरम्[1] संज्ञाभूयस्त्वं प्राप्नोति। प्रयोजनाभिधानं वा, विशिष्टयत्नानामनाकस्मिकत्वात्। अथवा प्रयोजनं वक्तव्यम्—एवमर्थमहङ्कारे संज्ञान्तराभिधानमिति। कस्मात्? न हि विशिष्टयत्नानामाकस्मिकत्वमुपपद्यत इति।

और प्रयोजन आगे आचार्य कहेंगे। इस प्रकार गुणप्रवृत्ति क्या है? यह व्याख्यान हुआ; जिसमें 'अस्मि' इस प्रतीति के विशेषों का ग्रहण होता है—'मैं शब्द सुनता हूँ, स्पर्श का अनुभव करता हूँ, रूप देखता हूँ, रस चखता हूँ, और गन्ध सूंघता हूँ' इस रूप में। यहाँ सर्वत्र 'अहं' रूप में अहङ्कारतत्त्व अनुस्यूत है। यही अहङ्कार के विशेष रूप है।

पूर्वपक्ष—अहङ्कार में सत्त्व-रजस् और तमस् की वैकारिक-तैजस और भूतादि यह अन्य संज्ञायें नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ऐसा करना निरर्थक है। अर्थात् जो यह (अहङ्कार के विषय में या अहङ्कार के अन्तर्गत) सत्त्वादि की वैकारिक आदि अन्य संज्ञायें की जाती हैं, वैसा नहीं करना चाहिये। क्योंकि अहङ्कार में सत्त्वादि की अलग संज्ञा देना निष्प्रयोजन है। कारण, सत्त्वादि गुण अहङ्कार के अलावा भी तत्त्वों में सन्निविष्ट हैं। ऐसी स्थिति में अहङ्कारान्तर्गत सत्त्वादि की वैकारिक आदि पृथक् संज्ञा देने का कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वैसा होने पर प्रत्येक तत्त्व में उनकी संज्ञायें बढ़ जायेंगी। यदि यह आग्रह हो कि तत्त्वान्तर में भी सत्त्वादि की अलग संज्ञायें कहनी चाहिये, तो ऐसी स्थिति में संज्ञाओं की भरमार हो जायेगी।

अथवा प्रयोजन बताना चाहिये; क्योंकि विशेष प्रकार का प्रयत्न अकारण नहीं होता है। अर्थात् अहङ्कार में ही वैकारिक आदि अतिरिक्त संज्ञायें जिस लिये की जाती हैं; वह प्रयोजन बताना चाहिये; क्योंकि विशेष प्रकार के प्रयत्नों का अकारण होना युक्त नहीं है।

---

१. [संज्ञान्तरं वक्तव्यम्, एवं सति तत्त्वभूयस्त्वात्] इत्यधिकः पाठः सन्निविष्टः चक्रवर्तिग्रन्थे।

उच्यते—न, कार्यविशेषहेतुत्वात् । महदाविलक्षणानां हि गुणानामनेकरूपस्तत्त्वारम्भ इति हि न संज्ञान्तरमारभ्यते । अहङ्कारस्तु सत्त्वतमोबहुलयोरिन्द्रियतन्मात्रपर्वणोः प्रकृतिः, तदर्थमाचार्याणां यत्नविशेषः ।

धर्मादिविशेषाभ्युपगमान्महति प्रसङ्ग इति चेत्, न, विशेषितत्वात् । तत्त्वान्तरारम्भ इति विशेषितम्, न तु धर्मादयस्तत्त्वान्तरमतो न महति प्रसङ्गः । विशेषानभिधानादयुक्तमिति चेत्, स्यादेतत्—कः पुनरत्र विशेषो येन धर्मादि न तत्त्वान्तरम्, तत्त्वान्तरन्तु श्रोत्रादीति ? एतच्च नैवम् । कुतः ? वृत्तिमात्रे तदुपचारात् । वृत्तिमात्रे हि महतो धर्माद्युपचारः । तथा च तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्—'प्रकाशवृत्तिर्धर्मः' इति । वृत्तिनिस्पादितस्तु संस्थान-

---

उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि अहङ्कार कार्यविशेष का हेतु है। इसलिये वहाँ वैकारिकादि पृथक् संज्ञायें की गयी हैं। अर्थात् महदादिस्वरूप गुणों से अनेक रूप (सामान्य रूप) में तत्त्व का आरम्भ होता है, इसलिये वहाँ पृथक् संज्ञा नहीं की जाती है। किन्तु अहङ्कार तो सत्त्वबहुल इन्द्रिय पर्व (इन्द्रियसमुदाय) का तथा तमोबहुल तन्मात्रपर्व (तन्मात्रसमुदाय) रूप कार्यविशेषों का] कारण है (आरम्भक होता है)। इसीलिये वहाँ संज्ञान्तर करने में आचार्यों का विशेष यत्न है।

यदि कहो कि महत्तत्त्व का भी धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य और ऐश्वर्य-अनैश्वर्यरूप विशेष कार्य माने गये हैं; इसलिये महत् में संज्ञान्तर की प्रसक्ति हो जायेगी—तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि अहङ्कार से विशेष प्रकार का कार्यारम्भ होता है। अर्थात् अहङ्कार से तत्त्वान्तर का आरम्भ होता है, यह विशेषता है। धर्म-अधर्म आदि तो महत् से होता हुआ भी तत्त्वान्तर नहीं है। इसलिये महत्तत्त्व में संज्ञान्तरकरण का प्रसङ्ग नहीं होगा।

प्रश्न—इन्द्रियादि के तत्त्वान्तर होने में भी किसी विशेष का कथन नहीं हुआ है। अर्थात् कौन सा विशेष है, जिससे धर्मादि तत्त्वान्तर नहीं है और श्रोत्रादि इन्द्रियाँ तत्त्वान्तर हैं ? अतः उक्त समाधान ठीक नहीं है। इसलिये अहङ्कार के समान महत्तत्त्व में भी संज्ञान्तरकरण की प्रसक्ति हो जाती है।

उत्तर—ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता है; क्योंकि वृत्तिमात्र में धर्म-अधर्म आदि का औपचारिक प्रयोग होता है। अर्थात् धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान आदि महत्तत्त्व की वृत्तिमात्र है, उनका स्वतन्त्र पृथक् अस्तित्व नहीं है और उस वृत्ति में ही धर्म-अधर्म आदि पदों का लाक्षणिक प्रयोग होता है। जैसे, प्रवाह का वाचक गङ्गापद का तीर में लाक्षणिक प्रयोग होकर 'गङ्गायां घोषः' यह व्यवहार होता है। इन्द्रियाँ तो

विशेषो वृत्तिमतस्तत्त्वान्तरमित्यनयोर्विशेषः । तस्माद् युक्तमेतत् कार्यविशेषहेतुत्वमिति ॥ २४ ॥

आह—यद्येवमिदं तर्हि वक्तव्यम्-अमुष्य कार्यविशेषस्यैवंसंज्ञकादहङ्कारात् प्रवृत्तिरिति ।

उच्यते—सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।

सर्ग इत्यनुवर्तते एकादशेन्द्रियाणि सत्त्वबहुलानि वैकृतादहङ्कारात् प्रवर्तन्ते निष्पद्यन्त इत्यर्थः । एकादशाभिधानादेव चेन्द्रियप्रतीतिः, पूर्वसूत्रे तत्सामानाधिकरण्यात् । अतो न पुनरिन्द्रियग्रहणम् ।

आह—तान्मात्रसर्गः पुनः किंगुणः, कस्माच्चाहङ्कारात् प्रवर्तत इति ?

अहङ्कार की वृत्तिमात्र नहीं हैं, इसलिये वे स्वतन्त्र तत्त्व हैं। इसलिये वहाँ अहङ्कार का वैकारिक आदि संज्ञान्तरकरण समुचित ही है।

तन्त्रान्तर में कहा गया है—'प्रकाशवृत्तिधर्मः' ऐसा। अर्थात् प्रकाशात्मक बुद्धितत्त्व की वृत्तिमात्र धर्म है। किन्तु अहङ्कार की वृत्ति से निष्पादित जो संस्थानविशेष (आकृतिविशेष) इन्द्रियाँ और तन्मात्र हैं, वे तो वृत्तिमान् अहङ्कार से भिन्न तत्त्व हैं। यही धर्मादि में और इन्द्रियादि में विशेषता है। इसलिये युक्त ही है कि अहङ्कार इन्द्रियादि कार्यविशेष का हेतु है; इसलिये उसकी कार्यविशेष की दृष्टि से वैकारिक-तैजस और भूतादि नामकरण ठीक ही है।

प्रश्न—इस प्रकार यदि अहङ्कार का संज्ञान्तरकरण सहेतुक है, तो यह बताना चाहिये कि इस संज्ञा के (नाम के) अहङ्कार से इस कार्यविशेष की निष्पत्ति होती है।

उत्तर—'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्'। २४ वीं कारिका से यहाँ 'सर्गः' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः इसका यह अर्थ हुआ—सत्त्वबहुल एकादश इन्द्रियाँ वैकृत (सात्त्विक) अहङ्कार से प्रवृत्त होती हैं, निष्पन्न होती हैं या उत्पन्न होती हैं। इस कारिका में यद्यपि इन्द्रियपद नहीं है, तथापि 'एकादश' इस कथन से ही इन्द्रिय की प्रतीति हो जाती है। क्योंकि पूर्व सूत्र में (कारिका में) 'ऐन्द्रिय एकादशकः' इन्द्रियपद के साथ ही एकादशपद का सामानाधिकरण्य है। इसीलिये इस सूत्र में पुनः 'इन्द्रिय' पद का ग्रहण (उल्लेख) नहीं किया गया।

प्रश्न—तान्मात्र सर्ग किस गुण वाला है और त्रिविध अहङ्कार में किस अहङ्कार से उत्पन्न होता है ?

उच्यते—भूतादेस्तान्मात्रः, स तामसः

भूतादेर्भूतादिसंज्ञकात् तमःप्रधानात् तान्मात्रः सर्गः। तान्मात्रस्तु तमोबहुलो भूतादिसंज्ञकादहङ्कारात् प्रवर्तते। तत्र पुनस्तन्मात्रग्रहणात् संख्या शस्यत इति नोच्यते।

आह—प्रकृतिविशेषनिर्देशानर्थक्यम्। प्रागुक्तम्, सत्त्वादीनामहङ्कारावस्थितानां वैकारिकाद्याः संज्ञा उच्यन्ते। तद् यदि सत्त्वं वैकारिक-शब्देनोच्यते, वैकारिकाणि चेन्द्रिय एकादशकः सर्गः प्रवर्तत इत्युक्ते गम्यत एतत्-सात्त्विकोऽसौ। भूतादेस्तान्मात्र इत्युक्ते गम्यत एतत्-तामस इति। कस्मात्? न ह्यस्ति संभवो यत् सत्त्वात्तमोबहुलः सर्गः स्यात् तमसश्च सत्त्वबहुल इति।

उच्यते—न, अप्रसिद्धत्वज्ञापनात्। य(अ)स्यैवार्थस्य(अप्रसिद्धस्य)

उत्तर—'भूतादेस्तान्मात्रः, सः तामसः'

अर्थात् भूतादिसंज्ञक तमःप्रधान अहङ्कार से तन्मात्र सर्ग (तन्मात्रों की सृष्टि) होती है। चूँकि तन्मात्रसर्ग तमोबहुल होता है, इसलिये वह भूतादिसंज्ञक अहङ्कार से उत्पन्न होता है। यहाँ भी तन्मात्रग्रहण से ही पञ्चसंख्या कथित हो जाती है, इस लिये पञ्चपद का उल्लेख नहीं किया गया।

शङ्का—प्रकृति (स्वभाव) विशेष का निर्देश करना निरर्थक है। अर्थात् इन्द्रिय-समुदाय को सात्त्विक कहना तथा तान्मात्रसर्ग को तामस कहना निरर्थक है। क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि अहङ्कार में अवस्थित सत्त्व आदि गुणों की वैकारिक-तैजस और तामस संज्ञायें कही जाती हैं। ऐसी स्थिति में वैकारिकशब्द से यदि सत्त्व लिया जाता है, तो 'वैकारिकाणि चेन्द्रिय एकादश सर्गः प्रवर्तते' इस कथन से ही यह बात अवगत हो जाती है कि ऐन्द्रिय सर्ग सात्त्विक है। एवं 'भूतादेस्तान्मात्रः ऐसा कहने पर यह अवगत ही हो जाता है कि तान्मात्र सर्ग तामस है। क्योंकि यह नहीं हो सकता है कि सत्त्व से तमोबहुल सृष्टि हो और तमस् से सत्त्वबहुल सृष्टि हो जाय।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त कथन द्वारा अप्रसिद्धत्व को ज्ञापित किया गया है। अर्थात् अप्रसिद्ध अर्थ को ही ज्ञापित करने के लिये आचार्य ने यहाँ ऐसा किया है। क्योंकि यह कैसे जाना जा सकता है कि वैकारिक शब्द से सत्त्व कहा जाता है, भूतादि शब्द से तमस् एवं तैजस शब्द से रजस् कहा जाता है? कारण

ज्ञापनार्थमेवमिह क्रियते । कथं गम्यते-सत्त्वं वैकारिकशब्देनोच्यते, तमो भूतादिशब्देन, रजस्तैजसशब्देन ? अप्रसिद्धार्था हि तान्त्रिकी परिभाषेयमनिर्णीता न गम्यत इति ।

आह—तैजससंज्ञानर्थक्यमिति ।

उच्यते—न, तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

उभयत्र तत्सामर्थ्यात् । स्यादेतदेवं यद्यस्य कार्यसामर्थ्यमेव न स्यात् । अस्मात्तु तैजसादुभयमप्येतत्तन्मात्रेन्द्रियसंज्ञकं प्रवर्तत इत्यनुवर्तते । कथम् ? यदा हि वैकारिकोऽहङ्कार इन्द्रियभावेन प्रवर्तते तदा निष्क्रियत्वात्तैजसं प्रवर्तकत्वेनाकाङ्क्षति, भूतादि भेदकत्वेन । कस्मात् ? तेनैव तद्(द)भेदात् । तद्यथाऽग्निरग्नौ प्रक्षिप्तोऽग्निरेव भवति, आपो वाऽप्सु प्रक्षिप्ता आप एव भवन्ति, एवं सत्त्वमेव सत्त्वे तु (न) भेदं

यह शास्त्रीय परिभाषा है, जो अप्रसिद्धार्थक होने से निश्चयरूप में नहीं जानी जा सकती है । अतः एकादश इन्द्रियगण सात्त्विक हैं और तन्मात्रगण तामस हैं यह निश्चयपूर्वक जानने के लिये ही इन्द्रियगण को सात्त्विकविशेषण से तथा तन्मात्रगण को तामसविशेषण से आचार्य ने कहा है ।

शङ्का—अहङ्कार की तैजस संज्ञा व्यर्थ है ।

उत्तर—उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि तैजस अहङ्कार से उभय (इन्द्रियगण और तन्मात्रगण दोनों) की प्रवृत्ति होती है । अर्थात् दोनों को निष्पन्न करने में तैजस को सामर्थ्य (सार्थकता) है । उक्त निरर्थकता तब होती यदि तैजस को किसी कार्य के प्रति सामर्थ्य ही न होती । किन्तु इस तैजस से तो इन दोनों ही तन्मात्र और इन्द्रियसंज्ञक की प्रवृत्ति होती है । यद्यपि यहाँ 'उभयम्' के साथ 'प्रवर्तते' पद नहीं पढ़ा गया है, तथापि पूर्व में पठित 'प्रवर्तते' पद को यहाँ अनुवृत्ति हो जाती है ।

प्रश्न—तैजस से उभय की प्रवृत्ति कैसे हो जाती है ?

उत्तर—चूंकि जब वैकारिक अहङ्कार इन्द्रियरूप में प्रवृत्त होता है- तब वह वैकारिक अहङ्कार स्वयं निष्क्रिय होने से प्रवर्तकरूप में तैजस की आकाङ्क्षा करता है । तथा भेदक के रूप में भूतादि (तामस अहङ्कार) की आकाङ्क्षा करता है ।

प्रश्न—क्यों ? अर्थात् भूतादि (तामस अहङ्कार) भेदक क्यों होता है ?

उत्तर—क्योंकि भूतादि से ही वैकारिक का भेद होता है । [अथवा अभेदपाठ

जनयति, गुणान्तरमपेक्षते। भूतादिलक्षणस्य तु तमसः संसर्गाद् भिद्यमानं तैजसेन च रजसा क्रियात्मकेनानुगृहीतमेकादशेन्द्रियभावमपेक्षते।

तथा भूतादिलक्षणं तमोऽहङ्कारात् तन्मात्रभावेन प्रवर्तमानं प्रवृत्त्यर्थं तैजसमाकाङ्क्षति; वैकारिकं भेद(क)त्वेन। कस्मात्? तेनैव तस्य(स्या) भेदादिति योज्यम्। शास्त्रं चैवमाह—'तदेतस्मिन् वैकारिके स्रक्ष्यमाण एष भूतादिस्तैजसेनोपष्टब्ध एतं वैकारिकमभिधावति। तथैव तस्मिन् भूतादौ स्रक्ष्यमाणे एष भूतादि[1] स्तैजसेनोपष्टब्ध एतं भूतादिमभि[धा]भवति' इत्यनेन न्यायेन तैजसादुभयनिष्पत्तिरिति व्याख्यातोऽहङ्कारः॥ २५॥

पक्ष में वैकारिक का भेद नहीं हो सकता है, यह अर्थ होगा।] अर्थात् जैसे अग्नि में डाला गया अग्नि अग्नि ही होता है, अथवा जल में डाला गया जल जल ही होता है। वैसे ही सत्त्व ही सत्त्व में भेद नहीं पैदा कर सकता है, वह अन्य गुण (तमः) की अपेक्षा करता है। अतः भूतादिलक्षण तमः के संसर्ग से भेद को प्राप्त करता हुआ सत्त्व क्रियात्मक (चलात्मक) तैजसरूप रजोगुण से अनुगृहीत होकर अर्थात् प्रवर्तमान होकर एकादश इन्द्रियभाव को ग्रहण कर लेता है।

इसी प्रकार भूतादिलक्षण तमोगुणात्मक अहङ्कार तन्मात्र के रूप से परिणत होता हुआ अपने में प्रवृत्ति लाने के लिये तैजस को आकाङ्क्षा करता है। तथा वही भूतादि अपने में भेद लाने के लिये भेदक के रूप में वैकारिक की आकाङ्क्षा करता है। क्योंकि वैकारिक से ही भूतादि का पञ्चतन्मात्र के रूप में भेदन हो सकता है। अथवा भूतादि से ही भूतादि का भेद नहीं हो सकता है। अतः भूतादि को भेदक रूप में वैकारिक की आकाङ्क्षा होती है। ऐसा अर्थ अभेदपाठ पक्ष में होगा।

शास्त्र भी ऐसा कहता है 'तदेतस्मिन् वैकारिके स्रक्ष्यमाणे' इत्यादि। अर्थात् वैकारिक इन्द्रियगण की सृष्टि करने में यह भूतादि तैजस से उपष्टब्ध (प्रेरित) होकर वैकारिक की तरफ दौड़ता है। वैसे ही उस भूतादि से तन्मात्रगण की सृष्टि करने में यह वैकारिक तैजस से प्रेरित होकर भूतादि की तरफ उन्मुख होता है' यह उक्त शास्त्रवचन का तात्पर्य है। इस रीति से सिद्ध होता है कि तैजस (राजस अहङ्कार) से वैकारिक कार्य इन्द्रियगण तथा भूतादि कार्य तन्मात्रगण दोनों की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार अहङ्कारतत्त्व का व्याख्यान हुआ॥ २५॥

---

१. अत्र वैकारिक इति पाठो युज्यते।

आह—प्रागपदिष्ट ऐन्द्रिय एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारादिति, तत्सामान्याभिधानान्न प्रतिपद्यामहे । तस्माद् वक्तव्यम्, कानीन्द्रियाणि भवतोऽभिप्रेतानि ?

उच्यते—द्विविधानीन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च । तत्र—

बुद्धीन्द्रियाणि कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि ।

कर्णौ त्वक्चक्षुषी च रसनं च नासिका च कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाः । आख्यानमाख्या प्रत्यायनमित्यर्थः । एतैः शब्दैराख्या येषां तानीमानि कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि । अधिष्ठानभेदाद् द्विवचनेन विग्रहः क्रियते । एतानि बुद्धीन्द्रियाणि प्रत्यवगन्तव्यानि । बुद्धेरिन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि ।

किं पुनरेतानि बुद्धेरिति ?

प्रश्न—पहले कहा गया है कि एकादश इन्द्रियगण वैकृत अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं। वह सामान्यतः कथन हुआ है, उससे हम विशेषरूप से नहीं जान पा रहे हैं। अतः बताना चाहिये कि कौन इन्द्रियाँ आपको अभिमत हैं ?

उत्तर—इन्द्रियों के दो भेद हैं—बुद्धीन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। उनमें श्रोत्र-त्वक् चक्षु-रसना और नासिका ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं। उक्त इन्द्रियों को सूत्र में 'कर्णत्वक्चक्षूरसनानासिकाख्यानि' इस समस्त पद से दर्शाया गया है। यहाँ विग्रह यों है—कर्णौ च त्वक् च चक्षुषी च रसनं च नासिका च कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाः—यह द्वन्द्व समास है। आख्यान पद का अर्थ है—आख्या या प्रत्यायन (प्रतीति कराना) अर्थात् इन शब्दों से जिनकी आख्या (प्रतीति) होती है, वे कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्य हैं—कर्ण-त्वक्-चक्षुः-रसन और नासिका। 'कर्णौ' तथा 'चक्षुषी' यहाँ पर अधिष्ठान के भेद से द्विवचन द्वारा विग्रह किया जाता है। अर्थात् कर्णेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय भी यद्यपि एक एक ही हैं, किन्तु अधिष्ठान दो दो होने से कर्णौ और चक्षुषी यहाँ द्विवचनान्त प्रयोग किया गया है। इन्हें बुद्धीन्द्रिय जानना चाहिये। बुद्धि की इन्द्रियाँ होने से ये बुद्धीन्द्रिय कही जाती हैं।

प्रश्न—बुद्धि की ये क्या हैं ? जिस कारण इन्हें बुद्धीन्द्रिय कहा जाता है ? अर्थात् इन इन्द्रियों का बुद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है ?

उच्यते—शब्दादिविषयप्रतिपत्तौ द्वारम्। कस्माद्? अबहिर्वृत्तित्वात् (बुद्धेः)। अन्तःकरणस्य नास्ति बहिर्वृत्तिरित्यतो नाऽलमेतत् साक्षाच्छब्दादीनर्थान् प्रतिपत्तुम्। तस्माच्छ्रोत्रादिलक्षणं साक्षाद् बाह्यविषयप्रकाशनसमर्थं कारणान्तरमपेक्षते। तत्प्रणालिकया तस्य (तस्याः) विषयग्रहणम्। तस्माद् युक्तमुक्तम्—बुद्धेर्बाह्यविषयप्रतिपत्तौ द्वारभूतत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणीति।

आह—कर्मेन्द्रियाणि पुनः कानीति?

'वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥'

वाक् च पाणी च पादौ च पायुश्चोपस्थश्च वाक्पाणिपादपायूपस्थाः। एतानि कर्मेन्द्रियाण्याहुराचक्षते। [कर्मार्थानीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि। किं पुनः कर्म? वचनादि वक्ष्यमाणम्। एतद् विकुर्वत इति कर्मेन्द्रियाणि।]

आह—कथमेतदुपलभ्यते अधिष्ठानादर्थान्तरभूतानीन्द्रियाणि, न पुनरधिष्ठानमात्रमिति?

उत्तर—बुद्धि को होने वाले शब्द स्पर्शादि विषयों के ज्ञान में ये इन्द्रियाँ द्वारभूत हैं; इसीलिये इन्हें बुद्धीन्द्रिय कहा जाता है। क्योंकि बुद्धि की वृत्ति बाह्यवस्तुओं में नहीं होती है। अर्थात् अन्तःकरण की बहिः वृत्ति नहीं है, इसलिये बुद्धि शब्दादि विषयों को साक्षात् ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। अतएव यह साक्षात् बाह्यविषयों के प्रकाशन में समर्थ श्रोत्र आदि बाह्यकरणों की अपेक्षा करती है। और इन इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि को विषयों का ज्ञान होता है। इसलिये ठीक ही कहा गया कि बुद्धि द्वारा शब्दादि बाह्य विषयों के ज्ञान में द्वारभूत होने से (माध्यम होने से) श्रोत्रादि इन्द्रियाँ बुद्धीन्द्रियपद से कही जाती हैं।

प्रश्न—कर्मेन्द्रियाँ भी कौन हैं?

उत्तर—'वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः।

अर्थात् वाक्-पाणि (हाथ)-पाद (पैर)-पायु (गुदेन्द्रिय)- और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय या जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रिय कहे गये हैं। उक्त समस्त पद का विग्रह यों है—वाक् च पाणी च पादौ च पायुश्च उपस्थश्च इति वाक्पाणिपादपायूपस्थाः—इन्हें कर्मेन्द्रिय कहते हैं। [कर्म के लिये क्रियाओं के लिये जो इन्द्रियाँ, वे कर्मेन्द्रियाँ हैं—यह कर्मेन्द्रिय-शब्द का शाब्दिक अर्थ है।

उच्यते—अधिष्ठानादिन्द्रियपृथक्त्वम्, शक्तिविशेषोपलम्भात्। यथा शरीरासम्भविनो विषयव्यवसायलक्षणस्य शक्तिविशेषस्योपलम्भादर्थान्तरं बुद्धिरनुमीयते; एवमधिष्ठानासंभविनो विषयग्रहणलक्षणस्य शक्तिविशेषस्योपलम्भादर्थान्तरमिन्द्रियमिति।

आह—न, असंभवासिद्धेः। अधिष्ठानमात्रस्य विषयग्रहणं न संभवति, अर्थान्तरस्य च संभवति इत्येतदुभयमपि चाऽप्रसिद्धमिति।

उच्यते—नैतदप्रसिद्धम्। तुल्यजातीयेषु तदनुपपत्तेः। यस्माद् भौतिकेष्वन्येषु घटादिषु विषयग्रहणसामर्थ्यासंभवः। आ (अ) हङ्कारविकार(णां)वत् तत्सामर्थ्याप्रतिषेधान्नेन्द्रियाणां नस्तत्प्रतिषेधोऽनुमातव्य इति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? शक्तिभेदापत्तेः। वैकारिकं सत्त्वमाह-

---

प्रश्न—कर्म भी क्या है?

उत्तर—वचन आदि जो आगे कहा जायेगा, वह कर्म है। इसे निष्पन्न करने वाले कर्मेन्द्रिय हैं, वाक् आदि।

प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि अधिष्ठान से भिन्न अर्थ इन्द्रियाँ हैं, अधिष्ठानमात्र नहीं हैं।

उत्तर—अधिष्ठान से इन्द्रियाँ पृथक् हैं, क्योंकि शक्तिविशेष की उपलब्धि होती है। अर्थात् जैसे शरीर के लिये असम्भव विषयग्रहणरूप शक्तिविशेष की उपलब्धि होने से बुद्धि शरीर से भिन्न वस्तु है। वैसे ही अधिष्ठान के लिये असम्भव शब्दादि विषय का ग्रहणरूप शक्तिविशेष की उपलब्धि होने से इन्द्रियाँ भी अपने अधिष्ठान से भिन्न हैं। जिस जिस स्थान पर इन्द्रियाँ आश्रित हैं, वह स्थान अधिष्ठान है।

शङ्का—अधिष्ठान के द्वारा विषयग्रहण कर सकना असम्भव होने से विषय का ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ अधिष्ठान से भिन्न हैं; ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त असम्भव असिद्ध है। अर्थात् अधिष्ठानमात्र का विषयग्रहण असम्भव है और अर्थान्तर का (इन्द्रियों का) सम्भव है—यह दोनों बात अप्रसिद्ध है।

समाधान—उक्त दोनों बातें अप्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि अधिष्ठान के तुल्य जातियों में विषय का ग्रहण अनुपपन्न है। अर्थात् चूँकि अन्य घटादि भौतिक पदार्थों में विषयग्रहणसामर्थ्य का अभाव है। किन्तु अहङ्कार के विकारभूत इन्द्रियों में विषयग्रहणसामर्थ्य का निषेध (अभाव) नहीं होने से हम इन्द्रियों में विषयग्रहण के प्रतिषेध का अनुभव नहीं कर सकते।

ङ्कारिकं प्रकाशरूपम्, तच्छक्तिविशेषादिन्द्रियाणि न (नः) उत्पद्यन्ते। भूतादिलक्षणस्य तमसः सामर्थ्यात् तन्मात्राणि[1] (।) परस्य[2] पृथिव्याः दीनामेकरूपत्वात्। तस्मादयमसमःसमाधिरिति। एतेन भौतिकत्वं प्रत्युक्तम्।

आह—कथमवगम्यते बहूनीन्द्रियाणि, न पुनरेकमेवेन्द्रियं मनोवत् सर्वार्थमनेकाधिष्ठानं स्यादिति ?

उच्यते—न, युगपत् प्रवृत्त्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। यद्येकमेवेन्द्रियं मनोवत् सर्वार्थमनेकाधिष्ठानं स्यादेकविषयप्रतिपत्तौ वा सर्वविषयप्रतिपत्तिः। दृष्टस्तु ग्रहणभेदस्तस्मान्नैकमिन्द्रियमिति।

भौतिकैरनुग्रहोपघातदर्शनादिन्द्रियाणां भौतिकत्वमिति चेत्, स्यान्मतम्-इह भौतिकानां घटादीनां भौतिकैर्मृद्दण्डचक्रसूत्रोदकमुद्गरादिभिर-

---

साथ ही उभय को अप्रसिद्ध बताना अयुक्त भी है। क्योंकि (दोनों में) शक्ति-भेद की प्राप्ति है। (सत्त्वशक्ति और तमशक्ति) अर्थात् अहङ्कारगत वैकारिक सत्त्व प्रकाशरूप है और उस वैकारिक सत्त्वरूप अहङ्कार की शक्तिविशेष से हमारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। और (अहङ्कारगत) भूतादिलक्षण तमः की सामर्थ्य से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। एवं तन्मात्र से उत्पन्न पृथिवी आदि और अधिष्ठान एकरूप (तामस) हैं। इसलिये इन्द्रिय और अधिष्ठान के सम्बन्ध में समान स्थिति नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से इन्द्रियों का भौतिकत्व खण्डित हो गया। क्योंकि इन्द्रियाँ वैकारिक अहङ्कार की सृष्टि हैं न कि तामस अहङ्कार की।

प्रश्न—यह कैसे ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ बहुत हैं ? क्यों न मन के समान एक ही इन्द्रिय सभी अर्थ को ग्रहण करने वाली और अनेक अधिष्ठान (आश्रय) वाली हो ?

उत्तर—उक्त प्रश्न या शङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि उसकी एक साथ प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों होने लगेगी, यदि एक ही इन्द्रिय मन के समान सर्वार्थक और अनेकाधिष्ठान में आश्रित हो। अथवा एक विषय का ज्ञान होने पर सब विषय का ज्ञान होने लगेगा, यदि एक ही इन्द्रिय हो। किन्तु स्वरूपतः और विषय की दृष्टि से ज्ञान में भेद देखा जाता है, अतः इन्द्रिय एक नहीं है, किन्तु अनेक इन्द्रियाँ हैं।

पूर्वपक्ष—भौतिक पदार्थों से अनुग्रह और उपघात हो जाने से इन्द्रियाँ भौतिक

---

१. उत्पद्यन्ते इति शेषः। २. अधिष्ठानस्येत्यर्थः।

-नुग्रहोपघातो दृष्टः । यदि भौतिकानीन्द्रियाणि न स्युः, नैषां भौतिकैरञ्ज-नादिभिरनुग्रहः क्रियते, उपघातश्च रजःप्रभृतिभिरिति ।

एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? अनेकान्तात् । तद्यथा भौतिकैर्वदना-दिभिरन्तःकरणस्य ग्रहणधारणस्मृतिलक्षणोऽनुग्रहः क्रियते, उपघातश्चो-पलादिभिः, न चास्य भौतिकत्वम् । एवमिन्द्रियस्यापि स्यात् ।

वैशेषिकगुणव्यञ्जकत्वाद् विकारप्रतीतिरिति चेत्, अथ मतम्—पृथिव्यादिवैशेषिको गन्धो घ्राणेनाभिव्यज्यते, औदको रसो रसनेन च, आग्नेयं रूपं वीक्षणेन, वायवीयः स्पर्शस्त्वचा, आकाशीयः शब्दः श्रोत्रेण । येन च यस्य वैशेषिकगुणाभिव्यक्तिस्तस्य तद्विकारत्वं दृष्टम् । तद्यथा प्रदीपस्य रूपाभिव्यञ्जकत्वे सति तैजसत्वमिति ।

एतच्चाऽनुपपन्नम्—कस्मात् ? अनिष्टप्रसङ्गात् । वैशेषिकगुण-

हैं। अर्थात् यहाँ यह माना जाय कि भौतिक घटादि पदार्थों का भौतिक मिट्टी-दण्ड-चक्र-सूत्र और उदक (जल) से अनुग्रह (रचना) देखी गयी है; और उसका मुद्गर आदि से उपघात (ध्वंस) देखा गया है। यदि इन्द्रियाँ भौतिक न हों तो इनका भौतिक अञ्जन आदि से अनुग्रह (उपकार) नहीं किया जा सकता और भौतिक धूलिकण आदि से इनका उपघात (पीडन) न होता।

उत्तरपक्ष—उक्त पूर्वपक्ष युक्त नहीं है। क्योंकि उक्त कथन में व्यभिचार दोष है। अर्थात् जैसे भौतिक वदन आदि से अन्तःकरण का ग्रहण धारण और स्मृतिलक्षण अनुग्रह किया जाता है; और प्रस्तर आदि की चोट से पोड़ा की जाती है, फिर भी वह अन्तःकरण भौतिक नहीं होता है। वैसे ही इन्द्रियाँ भी भौतिक पदार्थों से होने वाले अनुग्रह या उपघात से भौतिक नहीं सिद्ध हो सकती हैं।

पूर्वपक्ष—वैशेषिक गुण का अभिव्यञ्जक होने से इन्द्रियों के भौतिक विकार होने की प्रतीति होती है। अर्थात्। ऐसा माना जाय कि पृथिवी आदि का वैशेषिक गुण गन्ध घ्राण से अभिव्यक्त होता है; जल का विशेष गुण रस रसना से, अग्नि का विशेषगुण रूप नेत्र से, वायु का विशेषगुण त्वचा से, और आकाश का विशेषगुण शब्द श्रोत्र से अभिव्यक्त होता है। जिससे जिसका विशेषगुण अभिव्यक्त होता है, वह उसी का विकार है, ऐसा देखा गया है। जैसे प्रदीप रूप का अभिव्यञ्जक होने से तैजस है। वैसे ही यहाँ गन्धादिविशेष गुणों का अभिव्यञ्जक होने से घ्राण आदि इन्द्रियाँ पार्थिव जलीय तैजस वायवीय एवं आकाशीय हैं। अर्थात् भौतिक हैं।

व्यञ्जकानां तद्विकारत्वमिच्छतः प्राप्तमपां गन्धाभिव्यक्तिहेतुत्वात् पार्थिवत्वम्। अथैतदनिष्टम्, न तर्ह्यैकान्तिको हेतुरिति। तत्र यदुक्तम्, वैशेषिकगुणाभिव्यञ्जकत्वाद् भौतिकानीन्द्रियाणीति, एतदयुक्तम् ॥ २६ ॥

आह—एकादशेन्द्रियाणि अहङ्कारादुत्पद्यन्त इति प्रागपदिष्टम्। इदानीं बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि दशापदिश्यन्ते। तदिदं पदार्थन्यून(त्व)मिति।

उच्यते—स्यादेतदेवम्, यद्येतावदिन्द्रियपर्वं स्यात्। किं तर्हीति ?

संकल्पकमत्र मनः

अत्रेन्द्रियपर्वणि मनो भवद्भिः प्रत्यवगन्तव्यम्। तत्र संकल्पकमिति लक्षणमाचक्ष्महे। संकल्पोऽभिलाष इच्छा तृष्णेत्याद्यनर्थान्तरम्।

उत्तर पक्ष—यह कथन अयुक्त है। क्योंकि ऐसा नियम मानने पर अनिष्ट की प्रसक्ति हो जायेगी। कारण, वैशेषिकगुणों के अभिव्यञ्जकों को यदि विशेषगुण वाले पदार्थों का विकार माना जाय तो गन्ध की अभिव्यक्ति का हेतु जल भी पार्थिव होने लगेगा। यदि ऐसा प्रसङ्ग पूर्वपक्षी को इष्ट नहीं है, तो उक्त नियम ऐकान्तिक नहीं हुआ, अर्थात् व्यभिचारी हो गया। अतः यह जो कहा कि पञ्चभूतों के वैशेषिक गुणों का अभिव्यञ्जक होने से घ्राण आदि इन्द्रियाँ भौतिक हैं; वह कथन अयुक्त है।

शङ्का—अहङ्कार से एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, यह पूर्व में कहा गया है। और अभी बुद्धीन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ कुल दस कही जा रही हैं। अतः यह पदार्थ की न्यूनता है कि पूर्व में एकादश कह कर अब दस ही कहे जा रहे हैं।

समाधान—इस प्रकार की आशङ्का होती यदि इतना ही इन्द्रिय-पर्व (इन्द्रिय गण) होता। किन्तु 'संकल्पकमत्र मनः' अर्थात् यहाँ इन्द्रिय वर्ग में आपको मन भी जानना चाहिये।

सूत्र में 'संकल्पकम्' इतना अंश मन का लक्षण है, ऐसा हम कहते हैं। संकल्प अभिलाषा-इच्छा-तृष्णा इत्यादि शब्द अभिन्न अर्थ के वाचक हैं। इस प्रकार विषय-विशेष के प्रति जो संकल्प-अभिलाषा या इच्छा आदि करे वह संकल्पक है। यही मन का लक्षण है[1]।

---

१. श्रीमद् वाचस्पति मिश्र ने संकल्प शब्द का अर्थ सामान्य-विशेषरूप में (ऐसा है-ऐसा नहीं है) इस प्रकार अनुवृत्ति-व्यावृत्तिरूप में वस्तु की सम्यक् कल्पना बताया है। यह अर्थ युक्तिदीपिका के अर्थ से भिन्न है। यह अन्तरङ्ग परीक्षा से भी विदित होता है कि यह ग्रन्थ वाचस्पतिकृत नहीं। ऐसा अर्थ और भी है।

संकल्पयतीति संकल्पकम् । एतन्मनसो लक्षणम् । तस्मादस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्यास्तित्वमवसीयते । कस्मात् ? व्यस्तसमस्तानामिन्द्रियान्तराणां तदसंभवात् । अपोह्य हि मनः संकल्पं व्यस्तानामिन्द्रियान्तराणां भवान् परिकल्पयेत्, समस्तानां वा ? किं चातः ? तन्न तावद् व्यस्तानामिन्द्रियाणां संकल्पो भवति । किं कारणम् ? अनियतविषयत्वात् नियतो हि श्रोत्रादीनां शब्दादिर्विषयः । अनियतविषयश्च संकल्पः ।

किं च त्रिकालविषयत्वात् । वर्तमानविषया श्रोत्रादिवृत्तिः, त्रिकालविषयश्च संकल्पः । तस्मान्न व्यस्तानाम् ।

नापि समस्तानाम्, बधिरादिषु तदभावप्रसङ्गात् । यदि समस्तेन्द्रियवृत्तिः संकल्पः स्यात् प्राणादिवदिति चेत्, स्यान्मतम्-यथा समस्ते-

---

इस संकल्परूपी कार्य के आधार पर प्रत्यक्ष से उपलब्ध न होने पर भी इस मन के अस्तित्व का निश्चय होता है। क्योंकि व्यस्तरूप में (पृथक्-पृथक् रूप में) या समस्तरूप में (समुदितरूप में) और इन्द्रियों का यह कार्य नहीं हो सकता है। क्योंकि क्या मन को छोड़कर आप और इन्द्रियों का व्यस्तरूप में या समस्तरूप में संकल्प व्यापार मानेंगे ?

प्रश्न—इस प्रकार की कोटि से क्या आया ?

उत्तर—इसमें प्रथमकोटि नहीं हो सकती। अर्थात् पृथक्-पृथक् इन्द्रियों का संकल्प व्यापार नहीं हो सकता है। क्योंकि संकल्प अनियतविषयक होता है। किन्तु श्रोत्र आदि इन्द्रियों का तो शब्द आदि नियत विषय होता है। अतः नियत विषय वाले प्रत्येक इन्द्रिय का धर्म संकल्प नहीं हो सकता है।

एवं, संकल्प के त्रिकालविषयक होने से भी वह श्रोत्रादि इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता है। अर्थात् श्रोत्र आदि वृत्ति वर्तमान विषयक होती है, किन्तु संकल्प त्रिकालविषयक होता है। इसलिये प्रथम कोटि के अनुसार संकल्प पृथक्-पृथक् इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता है।

द्वितीय कोटि के अनुसार समस्तरूप में भी इन्द्रियों का विषय संकल्प नहीं हो सकता है। क्योंकि तब बहरे आदि विकलेन्द्रियों को संकल्प का अभाव होने लगेगा।

पूर्वपक्ष—प्राण-अपान आदि की तरह संकल्प भी समस्त इन्द्रियों की वृत्ति होगी। अर्थात् जैसे समस्त इन्द्रियों की वृत्तिभूत प्राणादि है; किन्तु किसी एक इन्द्रिय के विकल हो जाने पर भी प्राणादि का अभाव नहीं हो जाता है, वैसे ही संकल्प भी

न्द्रियवृत्तिः प्राणादिः, न चान्यतरवैकल्ये तदभावः । एवं समस्तेन्द्रियवृत्तिः संकल्पः स्यान्न चान्यतरवैकल्ये तदभावः स्यादिति ।

एतच्चानुपपन्नम् । विशेषितत्वात् । निर्विषया प्राणादिवृत्तिः, शब्दादिविषयस्तु संकल्प इति विशेषितम् । तस्माद् व्यस्तसमस्तानामिन्द्रियाणां संकल्पानुपपत्तेर्मनसो लिङ्गमेतदस्तित्वे इति सिद्धम् ।

आह—तदवधारणीयम्, इन्द्रियद्वैविध्यात् । द्विप्रकाराणि हीन्द्रियाणि पुरस्तादुपदिष्टानि । तत्र मनोऽप्यवधारणीयम्-किं बुद्धीन्द्रियमथ कर्मेन्द्रियमिति ?

उच्यते—

तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम् ।

ह्यर्थे चः पठितः । तद्धीन्द्रियमुभयथेत्यर्थः । मनो न केवलं बुद्धीन्द्रियमपि तु कर्मेन्द्रियमपि । नियमहेत्वभावादयुक्तमिति चेत्, स्यात् पुनरेतत्—कोऽत्र नियमहेतुः, यदिन्द्रियत्वाविशेषे मनस एवोभयप्रचारत्वमभ्युपगम्यते, नान्येषामिति ?

समस्त इन्द्रियों की वृत्ति होगी, फिर भी किसी इन्द्रिय के विकल हो जाने पर संकल्प का अभावप्रसङ्ग नहीं होगा। अतः संकल्प को समस्त इन्द्रियों की वृत्ति मानने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं होगी।

उत्तरपक्ष—पूर्वपक्षी का यह उपपादन भी ठीक नहीं है। संकल्पवृत्ति शब्दादि विषयों से विशिष्ट होती है। अर्थात् प्राणादिवृत्ति निर्विषयक होती है और संकल्प तो शब्दादिविषयक होता है; यह विशेषता है। अतः व्यस्त या समस्तरूप में इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकने में यह संकल्पवृत्ति मन के अतिरिक्त इन्द्रिय होने में प्रमाण है; यह सिद्ध हुआ।

पूर्वपक्षी—मन कौन इन्द्रिय है; इसका निर्धारण करना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय के दो भेद होते हैं। अर्थात् पूर्व में दो प्रकार की इन्द्रियाँ कही गयी हैं। उनमें मन का भी निर्धारण करना चाहिये कि मन क्या बुद्धीन्द्रिय है या कर्मेन्द्रिय है ?

सिद्धान्ती—'तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्' सूत्र में (कारिका में) च शब्द 'हि' अर्थ में पढ़ा गया है। कारिकांश का अर्थ हुआ कि मन निश्चयपूर्वक उभयात्मक इन्द्रिय है। अर्थात् मन न केवल बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) है; अपि तु कर्मेन्द्रिय भी है।

पूर्वपक्षी—नियामक हेतु के नहीं होने से मन को उभयेन्द्रिय कहना अयुक्त है।

उच्यते—

अन्तस्त्रिकालविषयं तस्मादुभयप्रचारं तत् ॥ २७ ॥

त्रिकालविषयत्वात् । इह यस्यान्तः त्रिषु च कालेषु करणस्य वृत्तिस्तदुभयप्रचारम्, तद्यथा बुद्धिः । साक्षाद् विषयाऽनभिसन्धानादतीतानागतवर्तमानविषयत्वाच्च मनोऽन्तस्त्रिकालविषयम् । तस्मादुभयप्रचारमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे षष्ठमाह्निकं द्वितीयं च प्रकरणम् ॥

सिद्धान्ती—अन्तस्त्रिकालविषयं तस्मादुभयप्रचारं तत् ॥ २७ ॥

अन्तःकरण त्रिकाल विषयक होता है; इसलिये मन इन्द्रिय उभयात्मक है । अर्थात् जिस करण की वृत्ति भूत वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में होती है, वह बाहर और भीतर उभयत्र गतिवाला होता है, जैसे बुद्धि । अर्थात् मन द्वारा साक्षात् विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होने से तथा अतीत अनागत और वर्तमानविषयक होने से मन की वृत्ति त्रिकालविषयक होती है । इसलिये मन का सन्निवेश बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों में होता है ॥ २७ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्यकेदारनाथत्रिपाठिकृतायां सांख्यसप्ततियुक्तिदीपिकाया हिन्दीकलाव्याख्यायां षष्ठमाह्निकं द्वितीयं च प्रकरणम् ॥

अथ सप्तमाह्निकम्

समधिगतं करणपर्व। तस्येदानीं व्यस्तसमस्तवृत्तयो वक्तव्याः। सति चोभयाभिधाने व्यस्तवृत्तिरेव तावदुच्यते- न समस्तवृत्तिः। किं कारणम् ? प्रकरणशेषभूतत्वात्। श्रोत्रादीनां हि सद्भावप्रकरणमिदमनुक्रान्तम्। स चैषां सद्भावः शक्तिविशेषोपलम्भादित्युक्तम्। इदानीमसौ शक्तिविशेषोऽस्माकं व्यस्तवृत्तिरित्युच्यते। तस्मात् तदनुक्रमणं करिष्यामः।

आह—यद्येवं तस्मादुच्यताम्, तस्य करणस्य कस्मिन्नर्थे वृत्तिः, किंलक्षणं वेति।

करण-पर्व (खण्ड) अवगत हुआ। अर्थात् बुद्धि-अहङ्कार और एकादश इन्द्रियाँ ये करण-पर्व हैं, जिनका पूर्व प्रतिपादन किया गया। अब उनकी व्यस्त (पृथक्-पृथक्) और समस्त (मिलित) वृत्तियों का प्रतिपादन करना चाहिये। व्यस्त और समस्त उभय वृत्तियों के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में पहले व्यस्त (विशेष) वृत्तियाँ ही आचार्य द्वारा कही जा रहीं हैं, न कि (सामान्य) वृत्तियाँ।

प्रश्न—क्या कारण है ?

उत्तर—वर्तमान प्रकरण का शेषभूत (अङ्गभूत) होने के कारण व्यस्त वृत्तियों का ही प्रतिपादन किया जा रहा है। क्योंकि श्रोत्र आदि इन्द्रियों के सद्भाव का यह प्रकरण प्रस्तुत है। और उनमें सद्भाव का निश्चय शक्तिविशेष को उपलब्धि होने से होता है, यह बात कही जा चुकी है। इस समय यह बात कही जा रही है कि वह शक्तिविशेष ही हमारी व्यस्त वृत्ति है। इसलिये व्यस्त वृत्तियों के ही प्रतिपादन का हम उपक्रम करेंगे।

पूर्वपक्षी—यदि करणों की व्यस्त वृत्तियां ही यहां उपक्रान्त हैं, तो बताओ कि उस कारण की किस अर्थ (विषय) में वृत्ति (व्यापार) है ? और उस वृत्ति (व्यापार) का स्वरूप क्या है ?

सिद्धान्ती—'रूपादिषु पञ्चानामलोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः' अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-

उच्यते—यदुक्तम्, तस्य कस्मिन्नर्थे वृत्तिरित्यत्र ब्रूमः—

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।

रूपादिषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु स्वभेदभिन्नेषु पञ्चानां श्रोत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां श्रवणस्पर्शनदर्शनरसनघ्राणलक्षणो व्यापारो वृत्तिरित्युच्यते । तत्र करणनिर्देशे श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राक् पाठात् तद्विषयनिर्देशातिलङ्घने प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा 'शब्दादिषु पञ्चानाम्', इत्येव पठितव्यम् । प्राक्तनस्तु प्रमादपाठः ।

यत् पुनरेतदुक्तम्, किंलक्षणेति, तत्र ब्रूमः—

आलोचनमात्रमिष्यते । आलोचनं ग्रहणमित्यनर्थान्तरम् । मात्रशब्दो

रस और गन्ध स्वरूप विषयों में, जो कि अपनी अपनी विशेषताओं के कारण परस्पर भिन्न हैं, श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा (रसना) तथा घ्राणस्वरूप करणों की वृत्ति होता है, और वह वृत्ति श्रवण-स्पर्शन-दर्शन-रसन और घ्राण क्रियात्मक व्यापाररूप है। तात्पर्य यह है कि शब्दादि विषयों का श्रोत्रादि करणों के द्वारा श्रवणादि व्यापार ही वृत्ति है। अर्थात् उक्तव्यापार ही वृत्ति शब्द से कहा जाता है।

पूर्व कारिका में किये गये करणों के निर्देश में श्रोत्र इन्द्रिय का पहले पाठ होने से तदनुसार ही 'शब्दादिषु पञ्चानाम्' ऐसा ही पाठ रखना चाहिये, क्योंकि तदनुसार विषयनिर्देश का उल्लङ्घन करने का कोई प्रयोजन नहीं है। अतः प्राचीन 'रूपादिषु पञ्चानाम्' यह पाठ प्रमादप्रयुक्त है।

माठरवृत्ति जो कि कारिका की सबसे प्राचीन व्याख्या है, में 'रूपादिषु पञ्चानाम्' यही पाठ है। और उसकी देखा-देखी सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि परवर्ती व्याख्याग्रन्थों में भी 'रूपादिषु' ऐसा ही पाठ है। किन्तु ऐसा पाठ प्रामादिक ही है; यह युक्तिदीपिकाकार का कथन है। किन्तु पूर्व कारिका में करणनिर्देश में श्रोत्रेन्द्रिय का पूर्वपाठ ही विवादास्पद है। कारण, युक्तिदीपिकाकार-भट्टोत्पल आदिक ही 'बुद्धीन्द्रियाणि कर्णत्वक् चक्षुः...या श्रोत्रत्वक् चक्षुः' ऐसा पाठ मानते हैं, सभी नहीं। अन्य व्याख्याकार तो 'बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि' ऐसा चक्षुःशब्दपूर्वक ही पाठ मानते हैं। अतः इस पाठ को आधार मानने पर 'रूपादिषु पञ्चानाम्...' ऐसा पाठ उचित ही है, प्रामादिक नहीं कहा जा सकता है।

यह जो कहा कि वृत्ति का लक्षण क्या है ? उस विषय में हमारा कहना है कि शब्दादि विषय का आलोचन ही वृत्ति का लक्षण या स्वरूप है। आलोचन और ग्रहण

विशेषनिवृत्त्यर्थः । तद्यथा भैक्षमात्रमस्मिन् ग्रामे लभ्यत इत्युक्ते नान्यो विशेष इति ज्ञायते । छन्दोमात्रमधीते माणवक इत्युक्ते नान्यदधीत इति । एवम् 'आलोचनमात्रमिष्यते वृत्ति' रित्युक्ते नान्यो विशेष इति गम्यते ।

तेन किं सिद्धं भवति ? यदुक्तमन्यैराचार्यैः 'सामान्यज्ञानमिन्द्रियाणां विशेषज्ञानं बुद्धेरि'ति तत्प्रतिषिद्धं भवति ।

आह– कः पुनरस्मिन् दर्शने दोषो यत एतत् प्रतिषिध्यत इति ?

उच्यते—सामान्यविशेषयोरितरेतरापेक्षत्वे सत्येकस्मिन्नविरोधादन्यतरपरिकल्पनाऽनर्थक्यम् । यदि खल्विन्द्रियस्य सामान्यज्ञानं न स्यात् तेन विशेषापेक्षं सामान्यं सामान्यापेक्षश्च विशेष इति यत्र सामान्यज्ञानं तत्र

एक ही वस्तु है । अर्थात् शब्दादि विषय का ग्रहणमात्र होना वृत्ति है । यहाँ मात्रशब्द विशेष की निवृत्ति के लिये है । जैसे, 'भिक्षामात्र इस ग्राम में प्राप्त होता है' ऐसा कहने पर कोई विशेष नहीं प्राप्त होता है; ऐसा ज्ञान होता है । 'बालक वेदमात्र को पढ़ता है' ऐसा कहने पर वेद से अतिरिक्त नहीं पढ़ता है; ऐसा ज्ञान होता है । ऐसे ही 'आलोचनमात्र ही वृत्ति इष्ट है' कहने पर ग्रहण के अतिरिक्त और कुछ इन्द्रियाँ नहीं करती हैं, ऐसा अवगत होता है ।

प्रश्न—इस प्रकार के कथन से क्या सिद्ध होता है ?

उत्तर—इससे अन्य आचार्यों ने जो यह कहा है कि 'सामान्य ज्ञान इन्द्रियों की वृत्ति है और विशेष ज्ञान बुद्धि की वृत्ति है' यह कथन खण्डित हो जाता है । अर्थात् वस्तु के साथ इन्द्रिय का सनिकर्ष होने पर सर्वप्रथम शिशु के ज्ञान के समान 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य-विशेष स्वरूप के ज्ञान से शून्य निर्विकल्पक प्रतीतिमात्र कराना इन्द्रियों की वृत्ति है ।

प्रश्न—इस सांख्य दर्शन के अनुसार क्या दोष है ? जिससे अन्य आचार्यों के उक्त कथन का यहाँ प्रतिषेध किया जाता है ।

उत्तर—सामान्य और विशेष दोनों परस्पर सापेक्ष हैं; इसलिये उन दोनों में किसी एक के होने पर दूसरे के होने में भी कोई विरोध नहीं होने से दूसरा भी स्वतः सिद्ध हो जायगा । ऐसी स्थिति में इतरका कथन अनर्थक है ।

यदि इन्द्रिय से सामान्य ज्ञान न भी हो, तो भी विशेष की अपेक्षा सामान्य की है और सामान्य की अपेक्षा विशेष की है । ऐसी स्थिति में जहाँ सामान्य ज्ञान होगा,

विशेषज्ञानमपि न प्रतिषिध्यत इत्युभयमपीन्द्रियस्य स्यात् । ततश्चान्तःकरणपरिकल्पनाऽनर्थक्यम् ।

विशेषवतो वाऽन्तःकरणस्य कः सामान्येन विरोध इत्युभयस्यापि तत्र सम्भवादिन्द्रियानर्थक्यम् । तस्मादप्रत्ययमिन्द्रियमिति । इन्द्रियस्य चेत् प्रत्ययः स्याद्, यथा प्रत्ययवतोऽन्तःकरणस्यानियतविषयत्वम्, एवमस्यापि स्यात्, न तु तदस्ति । तस्मादप्रत्ययमिन्द्रियमिति ।

किञ्च, कालातिवृत्तिप्रसङ्गात् । इन्द्रियस्य चेत् प्रत्ययः स्याद्, यथा प्रत्ययवतोऽन्तःकरणस्य त्रिकालविषयत्वमेवमस्यापि स्यात्, न तु तदस्ति । तस्मादप्रत्ययमिन्द्रियमिति ।

वहाँ विशेष ज्ञान का भी प्रतिषेध नहीं हो सकता । अतः पूर्वपक्षी के लिये दोनों ही ज्ञान इन्द्रिय द्वारा हो जायगा । इसलिये विशेष ज्ञान के लिये अन्तःकरण की परिकल्पना निरर्थक हो जायेगी ।

अथवा विशेष ज्ञान कराने वाले अतःकरण को सामान्य ज्ञान के साथ क्या विरोध है ? इस प्रकार विशेष ज्ञान और सामान्य ज्ञान दोनों ही अन्तःकरण से सम्भव है; इसलिये सामान्य ज्ञान कराने के लिये इन्द्रिय की कल्पना निरर्थक हो जायगी । अतः सिद्ध होता है कि इन्द्रिय प्रत्यय (ज्ञान) रहित है । अर्थात् इन्द्रिय से सामान्य का या विशेष का ज्ञान नहीं होता है । किन्तु उससे शब्दादि विषय का आलोचनमात्र होता है ।

एवं इन्द्रिय को यदि ज्ञान हो तो ज्ञान कराने वाला अन्तःकरण जैसे अनियतविषयक होता है, वैसे ही इन्द्रिय भी अनियतविषयक होने लगेगा । किन्तु ऐसा नहीं है । अर्थात् श्रोत्र आदि इन्द्रिय का शब्द आदि विषय नियत होता है, न कि अन्तःकरण के समान सर्व ही विषय होता है । अतः सिद्ध होता है कि अन्तःकरण के समान इन्द्रिय को ज्ञान नहीं होता है; किन्तु उससे आलोचनमात्र निर्विकल्पात्मक होता है । यही सांख्य का सिद्धान्त है ।

इन्द्रिय को ज्ञान मानने में और भी दोष है । जैसे, काल की अतिवृत्ति (अतिप्रसक्ति) होने लगेगी । अर्थात् अपने काल से अतिरिक्त काल में भी इन्द्रिय की वृत्ति (व्यापार) होने लगेगी । अर्थात् इन्द्रिय को यदि ज्ञान हो तो जैसे ज्ञान कराने वाला अन्तःकरण त्रिकालविषयक होता है; वैसे ही इन्द्रियां भी त्रिकालविषयक होने लगेगी । किन्तु ऐसा नहीं होता है और इन्द्रियाँ वर्तमानविषयक ही होती हैं । जैसा

किञ्चान्यत्, स्मृत्यदर्शनात्। इन्द्रियस्य चेत् प्रत्ययः स्याद् यथा प्रत्ययवतोऽन्तःकरणस्यादिरूपोपपत्तिरेवमत्रापि स्यात्, न तु तदस्ति। तस्मादप्रत्ययमिन्द्रियं सिद्धमिति।

आह, भवतु तावदप्रत्ययमिन्द्रियम्। तत्तु ग्रहणरूपं न तु प्रकाशकं प्रदीपवदित्यत्र को हेतुरिति ?

उच्यते—न, करणान्तरप्रसङ्गात्। यदि प्रदीपवदिन्द्रियं प्रकाशकं स्यात्, तेन यथा तत्प्रकाशितेषु घटादिष्वर्थेषु करणान्तरमार्गणमेवमत्रापि स्यात्। न चैतदिष्टम्। अतो न प्रदीपवदिन्द्रियं प्रकाशकमिति।

कि कहा गया है—'सम्बद्धं वर्तमानञ्च गृह्यते चक्षुरादिना।' अतः इन्द्रियां ज्ञान नहीं करती हैं।

एवं, अन्य भी कारण है, जिससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियों को ज्ञान नहीं होता है। जैसे, इन्द्रिय को यदि प्रत्यय (ज्ञान) होता तो, उसे भी स्मृति होती; किन्तु स्मृति नहीं देखी जाती है। अर्थात् इन्द्रिय को यदि ज्ञान होता तो ज्ञान का आश्रय-भूत अन्तःकरण के समान इन्द्रिय को भी आदिरूप की उपपत्ति होती; किन्तु वैसा नहीं है। इसलिये इन्द्रिय ज्ञानविहीन होती है। तात्पर्य यह है कि स्मृतिस्थल में ज्ञान के आदिरूप अनुभव की उपपत्ति देखी जाती है। अर्थात् अनुभवरूप ज्ञान होने के बाद ही स्मृति देखी जाती है। अतः अन्तःकरण को होने वाले ज्ञान [अनुभव एवं स्मृति] के समान इन्द्रिय को भी स्मृति और अनुभव दोनों रूप की उपपत्ति होने लगेगी. किन्तु वैसा नहीं होता; इसलिये भी इन्द्रिय अप्रत्ययरूप सिद्ध होता है। अर्थात् इन्द्रिय ज्ञानरहित है।

आशङ्का—इन्द्रिय अप्रत्यय (ज्ञानरहित) हो; किन्तु वह इन्द्रिय ग्रहणरूप (आलोचनात्मक) है; प्रदीप के समान प्रकाशक तो नहीं है, इसमें क्या हेतु है ?

समाधान—उक्त आशङ्का नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रकाशक मानने पर उससे इतर कारण की भी प्रसक्ति होने लगेगी। अर्थात् इन्द्रियादि प्रदीप के समान विषय का प्रकाशक हो तो, जैसे प्रदीप द्वारा प्रकाशित घटादि विषय को जानने के लिये चक्षुरादि करणान्तर की अपेक्षा रहती है, वैसे ही यहाँ भी इन्द्रिय द्वारा प्रकाशित विषय के ज्ञान में इन्द्रियातिरिक्त करणान्तर की भी अपेक्षा होने लगेगी। किन्तु ऐसा अभीष्ट नहीं है। अर्थात् इन्द्रियातिरिक्त करण की अपेक्षा नहीं रहती है। इसलिये प्रदीप के समान इन्द्रिय को विषय का प्रकाशक नहीं माना जा सकता है।

अन्तःकरणसद्भावादयुक्तमिति चेत्, स्यान्मतम्—अस्ति करणान्तरं बुद्धिलक्षणं यदिन्द्रियेण प्रदीपवत् प्रकाशितमर्थं गृह्णाति। तस्मात् परवादानुवादोऽयं क्रियते, न प्रतिषेध इति।

तच्च नैवम्। कस्मात्? प्रदीपेन्द्रिययोरन्यतरानुपादानप्रसङ्गात्। इन्द्रियमपि प्रकाशकम्, प्रदीपोऽपि। तत्रान्यतरस्यानुपादानं प्रसक्तम्। कस्मात्? न ह्येकार्थकारिणो युगपत्करणे सामर्थ्यमस्तीति।

किञ्चान्यत्, अन्तःकरणहानेः। इन्द्रियेण प्रदीपवत् प्रकाशितान् बाह्यानर्थान् साक्षादन्तःकरणं गृह्णातीति वदतोऽन्तःकरणमेव हीयते। तस्मादयुक्तमन्तःकरणस्य ग्रहणसामर्थ्यम्।

पुरुषस्येति चेन्न, करणानर्थक्यप्रसङ्गात्। साक्षाद् विषयग्रहणसमर्थं

पूर्वपक्ष—इन्द्रिय का प्रकाशक मानने में दिया गया उक्त दोष नहीं आ सकता है। क्योंकि इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्तःकरण का सद्भाव है ही। अर्थात् बुद्धिरूप अन्य करण है ही, जो कि प्रदीप के समान इन्द्रिय से प्रकाशित अर्थ को गृहीत करता है। इसलिये इन्द्रिय को अप्रत्यय कहना दूसरे मत का अनुवादमात्र है, न कि इन्द्रिय के ज्ञान का प्रतिषेध है। अर्थात् इन्द्रियाँ ज्ञान कराती हैं; आलोचनमात्र उनका व्यापार नहीं है।

उत्तरपक्ष—उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय को विषय का प्रकाशक मानने पर प्रदीप और इन्द्रिय इनमें किसी एक का परित्याग कर देना पड़ेगा। अर्थात् इन्द्रिय भी प्रकाशक है और प्रदीप भी प्रकाशक है। ऐसी स्थिति में उनमें किसी एक के परित्याग की प्रसक्ति हो जायगी; क्योंकि एक ही प्रयोजन को सिद्ध करने वाले दो कारण एक साथ उस कार्य को नहीं कर सकते हैं।

और भी दोष है—अन्तःकरण की हानि हो जायगी। अर्थात् प्रदीप के समान इन्द्रिय से प्रकाशित अर्थ को अन्तःकरण साक्षात् ग्रहण करता है; यदि ऐसा कहा जाय तो अन्तःकरण की ही हानि हो जायगी और यह अन्तःकरण ही न रह जायगा। क्योंकि अन्तःकरण उसे ही कहते हैं, जो विषय का साक्षात् प्रकाशक हो। अतः इन्द्रिय से प्रकाशित विषय के प्रति अन्तःकरण में ग्रहणसामर्थ्य बताना अयुक्त है।

यदि कहो कि पुरुष में ही विषयग्रहणसामर्थ्य रहे तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि तब करण मानना निरर्थक हो जायगा। अर्थात् साक्षात् विषयग्रहण में पुरुष को समर्थ मानने पर करण में आनर्थक्य की प्रसक्ति हो जायगी। इसलिए यही मानना

पुरुषमिच्छतः करणानर्थक्यं प्रसज्यते । तस्माद् युक्तमेतत् ग्राहकमिन्द्रियं न तु प्रदीपवत् प्रकाशकमिति ।

आह—भवतु तावद् ग्रहणमात्रमिन्द्रियवृत्तिरप्रत्यया, ग्रहणप्रत्ययप्रकाशानामिदानीं को भेदः ?

उच्यते—विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्तिरिन्द्रियवृत्तिग्र (ग्रं) हणम् । तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो 'गौरयं शुक्लो धावती' त्येवमादिः प्रत्ययः । तथा विषयसम्पर्कापगमे[1] श्रोत्रादिवृत्तेस्ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालताग्रहणस्य अनुभवस्तु संस्काराधानं तत्पूर्विका च स्मृतिरिति त्रिकालविषया (विषयता) प्रत्ययस्येत्ययमनयोर्विशेषः ।

युक्त है कि इन्द्रिय केवल ग्राहक (विषय का आलोचकमात्र) होता है, प्रदीप के समान प्रकाशक नहीं होता ।

प्रश्न—भले हीं ऐसा हो कि ग्रहणमात्र ही इन्द्रिय का व्यापार है जो कि प्रत्ययरूप नहीं है । किन्तु अब यह बतावें कि ग्रहण प्रत्यय और प्रकाश में क्या भेद है ?

उत्तर—विषय के सम्पर्क से विषयाकारता को धारण कर लेना इन्द्रिय की वृत्ति है और वही ग्रहण है । अर्थात् विषय और इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर इन्द्रिय की वृत्ति विषयाकार हो जाती है, यही ग्रहण है । इस विषयाकारा इन्द्रियवृत्ति में विषय का आलोचनमात्र होता है, यही ग्रहण का स्वरूप है ।

तथा विषयाकार इन्द्रिय वृत्ति के अनुसार 'यह गौ है, शुक्ल है और दौड़ रहा है' इस प्रकार का निश्चय प्रत्यय है । इसे ही सांख्यशास्त्र में बुद्धि की वृत्ति अध्यवसाय कहा गया है ।

तथा विषय का सम्पर्क प्राप्त होने पर विषयाकारता की प्राप्ति ग्रहण की वर्तमानकालता है । एवं, अनुभव से (प्रत्यय या व्यवसाय से) संस्कार की उत्पत्ति होती है और संस्कार से स्मृति होती है, यह प्रत्यय की त्रिकालविषयता है, यही ग्रहण और प्रत्यय में विशेषता है । अर्थात् त्रिकालविषयक होकर स्मृति का कारण बनना प्रत्यय की विशेषता है और वर्तमानकालमात्र में विषयाकारता की प्राप्तिरूप आलोचन ग्रहण की विशेषता है क्योंकि ग्रहण से संस्कार और स्मृति का प्रादुर्भाव नहीं होता है, किन्तु प्रत्यय से (अनुभव से) तो संस्कार और स्मृति का प्रादुर्भाव होता है ।

---

१. 'सम्पर्कोपगमे-ताद्रूप्योपगमो' इति पाठौ सुश्लिष्टौ भातः ।

बाह्यस्तु प्रकाशो न विषयरूपापन्नः संस्कारात्तु घटादीनां व्यवधानरूपं पार्थिवं छायालक्षणं धर्ममपनुद्य(हत्य)व्यञ्जकत्वाय कल्पते चक्षुषोऽनुग्रहाय। उभयोर्वा चक्षुर्विषययोरित्यपरे। तस्मादुपपन्नमेतत् प्रकाशकं प्रदीपादि, ग्राहकं श्रोत्रादि, व्यवसायकमन्तःकरणमिति।

नैयायिकास्त्वेवमाहुः—'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः' (न्यायसूत्रम् १।१।१२)। भूतेभ्य इत्यनेन स्वविषयोपलब्धिलक्षणत्वं हीन्द्रियाणां भूतप्रकृतित्वे सति निर्वहति नान्यथा। तानि पुनरिन्द्रियकारणानि पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि। एभ्यःपञ्चभ्यो यथासंख्यं घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति।

भूतप्रकृतित्वमिति भूतस्वभावं व्याख्यायमानं पञ्चस्वपि सम्भवति। भूतकारणत्वं त्वन्येषु चतुर्षु तथैव। श्रोत्रे तु कथंचित् कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न-

---

एवं, बाह्यरूप प्रकाश विषयरूपता को नहीं धारण करता है। किन्तु वह स्वगत संस्कारवश घटादिविषय के बोध में व्यवधानस्वरूप पार्थिव छायात्मक धर्म (अन्धकार) को नष्ट कर चक्षुरिन्द्रिय को अनुगृहीत करता हुआ विषय का व्यञ्जक बनता है। अथवा अन्यों के मतानुसार चक्षु और विषय दोनों को प्रकाश अनुगृहीत करता है। इसलिये यह कथन युक्त है कि प्रदीप आदि प्रकाशक होता है, श्रोत्रादि इन्द्रिय विषय का ग्राहक होता है तथा अन्तःकरण व्यवसायक अर्थात् विषय का निश्चायक होता है।

इस विषय में नैयायिक ऐसा कहते हैं—'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छ्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः' (न्यायसूत्र १।१।१२)। इस सूत्र में 'भूतेभ्यः' इस पद से यह सूचित होता है कि अपने-अपने विषय की उपलब्धि ही घ्राण आदि इन्द्रियों का लक्षण या स्वरूप है। अर्थात् स्वस्वविषयोपलब्धिकरणत्व ही इन्द्रियों का लक्षण है। इन इन्द्रियों का उक्त स्वरूप तभी बन सकता है जब कि ये भूतप्रकृतिक हों, अन्यथा नहीं। अर्थात् पृथिवी आदि भूतों से ही इनकी उत्पत्ति हो, तभी इनमें स्वविषयोपलम्भकत्व बन सकेगा। इस प्रकार न्यायमतानुसार इन्द्रियों का भौतिकत्व सिद्ध होता है। इन्द्रियों की उत्पत्ति के वे कारण-पृथिवी-जल-तेज-वायु और आकाशरूप पञ्चभूत ही हैं। इन पञ्चभूतों से क्रमशः घ्राण-रसन-चक्षुः-त्वक् और श्रोत्र नामक पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। इसीलिये इन्द्रियाँ भौतिक हैं।

यहाँ भूतप्रकृतित्व का व्याख्यान यदि भूतस्वभाव किया जाय तो घ्राण से

नभोभागाभिप्रायेण व्यवहारतः समर्थनीयम् । एवं भौतिकानीन्द्रियाणि स्वस्वविषयमधिगन्तुमुत्सहन्त इति तल्लक्षणत्वमेषां सिध्यतीति । अतो 'भूतेभ्य' इत्युक्तम् ।

एतत्तु सांख्याचार्याणां नेष्टम् । एवं हि सांख्यवृद्धा आहुः—आहङ्कारिकाणीन्द्रियाणि अर्थं साधयितुमर्हन्ति, नान्यथा । तथाहि, कारकं कारकत्वादेव प्राप्यकारि भवति । भौतिकानि चेन्द्रियाणि कथं प्राप्यकारीणि दूरवर्तिनि विषये भवेयुः ? आहङ्कारिकाणां तु तेषां व्यापकत्वात्, विषयाकारपरिणामात्मिका वृत्तिर्वृत्तिमतोऽनन्या सती सम्भवत्येवेति सुवचं प्राप्यकारित्वम् ।

लेकर श्रोत्र तक पाँचों इन्द्रियों में भूतप्रकृतित्व संगत होगा । यदि तो भूत-प्रकृतित्व की व्याख्या भूतकारणत्व हो तो घ्राण से लेकर त्वक् तक चार इन्द्रियों में भूतप्रकृतित्व यथावत् सुसंगत हो जाता है । किन्तु श्रोत्र इन्द्रियों में किसी प्रकार कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश भाग को श्रोत्रेन्द्रिय मानकर व्यावहारिक दृष्टि से भूत-प्रकृतित्व का समर्थन करना चाहिये । वस्तुतः तो श्रोत्र के स्वयं आकाश रूप होने से वह नित्य है और उसका कारण आकाशरूप भूत नहीं हो सकता है । इस लिये कर्णशष्कुलीरूप उपाधि को लेकर ही श्रोत्र इन्द्रिय में भूतप्रकृतित्व का कथञ्चित् समर्थन किया जा सकता है । भूतप्रकृतिशब्द में बहुव्रीहि समास होने से भूत है प्रकृति कारण जिसका, वह भूतप्रकृति है, ऐसा अर्थ विवक्षित है ।

इस रीति से ये भौतिक इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में प्रवृत्त होती हैं । अतः स्वस्वविषयोपलम्भकत्व लक्षण इनमें सिद्ध हो जाता है । इसी दृष्टि से न्याय सूत्रकारने उक्त सूत्र में 'भूतेभ्यः' यह कहा ।

नैयायिकों का बुद्धीन्द्रियसम्बन्धी उक्त मत सांख्याचार्यों को इष्ट नहीं है । इस सम्बन्ध में सांख्याचार्य ऐसा कहते हैं—आहङ्कारिका (अहङ्कार से उत्पन्न) ही इन्द्रियां अर्थ का ग्रहण करने में समर्थ हैं, अन्यथा नहीं । वैसा इसलिये है कि कारक वस्तु कारक होने से ही प्राप्यकारी होती है । यहाँ प्राप्यकारित्व का अर्थ है—विषय को प्राप्त कर अर्थात् उससे सम्बद्ध होकर कार्य करना । यदि इन्द्रियाँ भौतिक हों तो वे दूरस्थ विषय में प्राप्यकारी कैसे हो सकेंगी ? आहङ्कारिक होने की स्थिति में तो इनके (इन्द्रियों के) व्यापक होने के कारण दूरस्थ विषय से सम्बद्ध होकर विषयाकार परिणामात्मिका वृत्ति(कार्य)इनकी हो सकती है और वह वृत्ति वृत्तिमती इन्द्रियों से अभिन्न होगी । क्योंकि धर्म-धर्मी में अभेद होता है । इस प्रकार इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व का प्रतिपादन सुकर है ।

अपि च महदणुग्रहणमाहङ्कारिकत्वे तेषां कल्पते, न भौतिकत्वे। भौतिकत्वे हि यत् परिमाणं करणं तत्परिमाणं ग्राह्यं गृह्णीयात्।

आह—अथ कर्मेन्द्रियाणां का वृत्तिरिति ?

उच्यते—

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थानां तु वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दलक्षणा यथाक्रमं वृत्तयः प्रत्यवगन्तव्याः। तत्रोच्यतेऽनेनेति वचनम्। तस्माद् य एवार्थप्रत्यायनसमर्थो वर्णसमुदायः पदवाक्यश्लोकग्रन्थलक्षणः, स वागिन्द्रियस्यार्थो नान्यः।

आदीयतेऽनेनेत्यादानम्। आङभिविध्यर्थे प्रयुज्यते। ततश्च यदेव प्रक्षालनपरिमार्जनोपस्पर्शनाध्ययनप्रहरणशिल्पव्यायामादि कृत्स्नं ग्रहणं स इन्द्रियार्थो नान्यः। विशिष्टं हरणं विहरणम्। अतश्च यदेव समविषमनिम्नोन्नतचङ्क्रमणपरिवर्तननाट्यव्यायामादिः स इन्द्रियार्थो नान्यः।

इसके अतिरिक्त महत् और अणु विषय का ग्रहण इन्द्रियों के आहङ्कारिक होने की स्थिति में ही उपपन्न है, भौतिक होने की स्थिति में नहीं। भौतिक होने पर तो जितने परिमाण का करण होगा, उतने परिमाण वाले ग्राह्य विषय को वह गृहीत कर सकेगा।

प्रश्न—अब बतावें कर्मेन्द्रियों की क्या वृत्ति (व्यापार) है ?

उत्तर—'वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्' अर्थात् वाक्, पाणि (हाथ) पाद (पैर), वायु (गुदा) एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय) रूप पाँच कर्मेन्द्रियों की तो यथाक्रम वचन (बोलना), आदान (ग्रहण करना), विहरण (चलना फिरना), उत्सर्ग (मलत्याग) एवं आनन्द वृत्तियाँ जाननी चाहिये। इनमें जिससे कुछ कहा जाय, वह वचन है। इसलिये पद वाक्य श्लोक या ग्रन्थ के रूप में जो वर्णसमुदाय अर्थप्रतीति कराने में समर्थ है, वही वागिन्द्रिय का विषय है, दूसरा नहीं।

जिससे कुछ पकड़ा जाय, वह आदान है। यहाँ आङ्उपसर्ग अभिविधि (कृत्स्नता) के अर्थ में है। इसलिये जो ही प्रक्षालन, परिमार्जन (शुद्धकरना) उपस्पर्शन, अध्ययन (ऊपर उठाना) प्रहरण (प्रहार करना), कोई कारीगरी करना और व्यायाम करना यह सब कुछ ग्रहण है और यही हस्त इन्द्रिय का विषय है, दूसरा नहीं।

विशिष्ट हरण को विहरण कहते हैं। इसलिये जो भी सम विषम नीची ऊँची जगह पर चलना (परिवर्तन) घूमना, नाट्य और व्यायाम आदि है, वही पाद इन्द्रिय

एवमुत्कृष्टः सर्ग उत्सर्गः अतश्च य एवाऽशितपीतविपरिणामस्य सम्यक्स्रोतोमार्गानुसारिणो विसर्गः स इन्द्रियार्थो नान्यः। एवमभिव्याप्यानन्दनमानन्दः। ततश्च य एवासाधारणप्रीतिनयनाभिनिष्पत्तिलक्षणः, स इन्द्रियार्थो नान्यः॥ २८॥

आह—प्रागन्तःकरणवृत्तिनिर्देशः। सर्गक्रमानुगमात् पूर्वं बुद्ध्यहंकारमनसां वृत्तिनिर्देशः कर्तव्यः। किं कारणम्? एवं हि सर्गक्रमोऽनुगतो भवति। क्रमभेदे वा प्रयोजनं वक्तव्यमिति।

उच्यते—न, इन्द्रियवृत्तिपूर्वकत्वात्। अन्तःकरणस्य हि इन्द्रियवृत्तिपूर्वकः प्रत्ययः। तथा च वक्ष्यति—'दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पू-

---

का विषय है, दूसरा नहीं। इसी प्रकार उत्कृष्ट सर्ग (त्याग) उत्सर्ग है। इसलिये जो कुछ खाये पीये का परिपाक होने पर निर्गम मार्ग से मल का विसर्जन है, वही पायु (गुदा) इन्द्रिय का विषय है, दूसरा नहीं।

इसीप्रकार पर्याप्तरूप में आनन्दन क्रिया को आनन्द कहते हैं। इसलिये जो विशिष्ट सुख की प्राप्ति या अभिनिष्पत्ति है, वही उपस्थ इन्द्रिय का विषय है, अन्य नहीं।

इसी प्रकार वचन आदि ही वागादि कर्मेन्द्रियों की पृथक्-पृथक् वृत्ति है॥२८॥

आशङ्का—यहाँ पहले अन्तःकरण की वृत्ति का उल्लेख होना चाहिये। अर्थात् सृष्टिक्रम के अनुसार इन्द्रियों की वृत्ति की अपेक्षा पहले बुद्धि-अहङ्कार और मनकी वृत्तियों का क्रमशः उल्लेख आचार्य को करना चाहिये। क्योंकि सृष्टिक्रम में इन्द्रियों की सृष्टि के पहले अन्तःकरणों की सृष्टि होती है। जैसे, प्रकृति से महान् (बुद्धि), बुद्धि से अहङ्कार, अहङ्कार से मनः सहित दस इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। यही इनकी सृष्टि का क्रम है।

प्रश्न—क्या कारण है कि पहले अन्तःकरण की वृत्ति का उल्लेख करना चाहिये?

उत्तर—इसलिये कि ऐसा करने पर सृष्टिक्रम का अनुगमन होता है। क्रम का उल्लङ्घन करने में तो उसका प्रयोजन बताना चाहिये।

आशङ्का का समाधान—उक्त आशङ्का ठीक नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय की वृत्ति पूर्व में होती है। अर्थात् अन्तःकरण से होने वाला प्रत्यय (अध्यवसाय-ज्ञान) इन्द्रियवृत्तिपूर्वक होता है। क्योंकि तद्विषयक इन्द्रियवृत्ति के बाद ही तद्विषयक अध्यवसाय बुद्धि को होता है, पहले नहीं। आगे आचार्य कहेंगे—'दृष्टे तथाप्यदृष्टे

र्विका वृत्तिरिति ।' (का० ३०) तस्मात् सर्गक्रमेण विना तन्निर्देशः प्रागाचार्येण क्रियत इति ।

आह—तदसंभवः, शास्त्रे प्रागभिमानाभिधानात् । शास्त्रं ह्येवमाह—का नु भोः संज्ञा मातुरुदरेऽवस्थितं कुमारं प्रत्यभिविशत इति ? 'अस्मीत्येषा माहात्मी संविदि'ति । तथा कार्यकारणव्यूहसमकालं माहात्म्यशरीरोऽस्मीति प्रतिबुध्यते । प्रवृत्ताश्चैव ह्यव्यक्ता भवन्त्यस्मीत्यस्मितामात्राः । प्रमाणं च शास्त्रम् । तस्मात् प्रागन्तःकरणनिर्देशः कर्तव्यः ।

उच्यते—तन्निमित्तार्थेन[1] विवक्षितत्वात् । सत्यमेतत् कार्यकारणव्यूहनिष्पत्तिसमकालमस्मीत्येषा माहात्मी संवित् प्रत्युपधीयते । शब्दावि-

त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः' अर्थात् जैसे दृष्ट विषय में वैसे ही अदृष्ट विषय में भी त्रिविध अन्तः करण की वृत्ति इन्द्रियवृत्तिपूर्वक ही होती है। यह आगे स्पष्ट होगा। इसीलिये सर्गक्रम का अनुगमन किये बिना ही पहले इन्द्रियवृत्ति का उल्लेख आचार्य करते हैं।

शङ्का—उक्त समाधान सम्भव नहीं है। अर्थात् यह जो कहा कि इन्द्रियवृत्तिपूर्वक अन्तः करण की वृत्ति होने के कारण पहले इन्द्रियवृत्ति का निर्देश किया गया, वह ठीक नहीं है; क्योंकि शास्त्र में पहले अभिमानवृत्ति का कथन किया गया है। शास्त्र में यों कहा गया है—'का नु भोः संज्ञा···इत्यादि। अर्थात् माता के उदर में अवस्थित बालक को सर्वप्रथम कौन सी प्रतीति होती है ? इसका उत्तर वहीं दिया गया है—'अस्मि' यह माहात्मी अर्थात् अहङ्कार सम्बन्धी संवित् (ज्ञान) उदरस्थ कुमार को सर्वप्रथम होती है। एवं, कार्यकारणसंघात (देह) के समकाल में साभिमान देही होकर 'अस्मि' (हूँ) ऐसा अनुभव करता है। उस समय 'अस्मि' ऐसा अस्मितामात्र के रूप में अव्यक्त की प्रवृत्ति होती है। इसमें शास्त्र ही प्रमाण है। इसलिये पहले अन्तः करण का ही निर्देश करना समुचित है।

समाधान—इन्द्रियरूप निमित्त के अर्थ में प्रयुक्त पूर्वशब्द से यही विवक्षित होने के कारण इन्द्रियवृत्ति का पहले निर्देश किया गया। अर्थात् यह सत्य है कि कार्यकारणसंघातरूप देह की निष्पत्ति के समकाल 'अस्मि' ऐसी आभिमानिक संवित् उदरस्थ बालक को पहले होती है; क्योंकि उस समय नेत्रादि इन्द्रियों का द्वार अभी खुला भी नहीं रहता है। तथापि शब्दादिविषयक अन्तः करण की वृत्ति का निमित्त श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ ही होती हैं। क्योंकि श्रोत्रादि द्वारा शब्दादि विषय का ग्रहण

१. पूर्वशब्देन इति शेषः।

विषयस्त्वन्तःकरणप्रत्ययः श्रोत्रादिनिमित्त इति। एतत् पूर्वशब्देन विवक्षितम्। न च निमित्तमतिक्रम्य नैमित्तिकाभिधानं न्याय्यम्।

अथवा, नैव वयमिदं प्रष्टव्या यथा प्रागन्तःकरणवृत्तिनिर्देशः कर्तव्य इति। किं कारणम्? यस्मात्—

'स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य'।

स्वलक्षणमेव स्वालक्षण्यम्। स्वार्थे तद्धितवृत्तिः,[यथा]अन्यभावस्तु [यथाआन्यभाव्यन्तु] कालशब्दव्यवायादिति।[1] [यथा बुद्ध्यहङ्कारमनसां हि

हुए बिना अन्तःकरण को शब्दादिविषय का अध्यवसाय (निश्चय) नहीं हो सकता है। अग्रिम कारिकागत पूर्वशब्द से आचार्य का यही विवक्षित है। इसीलिये आचार्य ने पहले इन्द्रियवृत्ति का निर्देश किया है। कारण, निमित्त का अतिक्रमण कर नैमित्तिक का कथन न्यायसंगत नहीं है।

अथवा, हमसे यह नहीं पूछना चाहिये कि पहले अन्तःकरण की वृत्ति का ही निर्देश क्यों नहीं किया गया? अर्थात् अन्तःकरण की ही वृत्ति का निर्देश पहले करना चाहिये।

प्रश्न—क्या कारण है?

उत्तर—चूँकि बुद्धिमनअहङ्कार इन तीनों की अपनी-अपनी वृत्ति ही इनका अपना लक्षण है; इसलिये वृत्ति के अतिरिक्त इनके लक्षण का निरूपण असंभव होने से वृत्तिनिरूपण होने पर ही लक्षण का निरूपण हो पायेगा। और वह अन्तःकरण की वृत्तियाँ इन्द्रियवृत्तिपूर्वक ही होती हैं; इसलिये इन्द्रियवृत्ति का निरूपण आचार्य ने पहले किया और अन्तःकरण की वृत्ति का निरूपण बाद में करेंगे। यह तात्पर्य है।

स्वलक्षण ही स्वालक्षण्य है। यहाँ स्वार्थ में तद्धितवृत्ति का ष्यञ्प्रत्यय हुआ है। जैसे कात्यायन के वार्तिक में 'आनुभाव्य' यह शब्द स्वार्थ में ष्यञ्प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होकर प्रयुक्त हुआ है[2]।

१. प्रश्नचिह्नमत्र कलिकातापुस्तके। अयं पाठो दृष्टान्तार्थः। 'अइउण्' सूत्रे कात्यायनस्य वार्तिकमिदम्।

२. उक्त वार्तिक में पूर्वपक्ष के रूप में अकारवर्ण में आन्यभाव्य (अन्यत्व या अनेकत्व) का आपादन किया गया है। वहाँ 'अन्यस्य भावः अन्यभावः (अन्यत्वम्) अन्यभाव एवान्यभाव्यम्' ऐसा स्वार्थ में तद्धित का ष्यञ्प्रत्यय करके उक्त शब्द सिद्ध किया गया है। उक्त दृष्टान्त से 'स्वालक्षण्यम्' में भी स्वार्थिक ष्यञ्प्रत्यय है। अवर्ण के अनेकत्व में 'कालव्यवायात् शब्दव्यवायाच्च' यह हेतुवाक्य भाष्य में कहा गया है–[द्रष्टव्य महाभाष्य द्वि० आह्निक 'अइउण्' सूत्रभाष्य]

सौक्ष्म्यान्न शक्यं स्वरूपमभिधातुमित्यतो वृत्तिरेव लक्षणभावेनोपदिश्यते ।] श्रोत्रादीनामपि च सौक्ष्म्याल्लक्षणमपदेष्टुमशक्यमिति वृत्तिरेवोच्यते, न लक्षणम् । तदेव चैषां लक्षणं भवति । यच्छब्दालोचनसमर्थं तच्छ्रोत्रम् । एवमितरेष्वपि वक्तव्यम् ।

बुद्ध्यहङ्कारमनसां च लक्षणमध्यवसायाद्युक्तम् । तदेव वृत्तित्वेनाचक्षाणः श्रोत्रादीनामेव चाभिधानं[1] लक्षणं चाप्याचक्षाणो वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वं ज्ञापयति । अन्यथा तु यथाऽध्यवसायादि लक्षणमेवं रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रं लक्षणमित्युच्यते (च्येत), न तु वृत्तिरिति । श्रोत्रादिवद् बुद्ध्यादीनामपि व्यवसायादयो वृत्तिरित्युच्यते (च्येत), न तु लक्षणम् । तस्मादन्यथानिर्देशो ज्ञापकं वृत्तिवृत्तिमतोरन्यत्वस्य (रनन्यत्वस्य) इति व्याख्याता करणवृत्तिः ।

[जैसे, बुद्धि-अहङ्कार और मन के सूक्ष्म होने से इनके स्वरूप का प्रतिपादन अशक्य है । इसलिये इनकी वृत्ति ही इनके लक्षण के रूप में कही जाती है ।] ऐसे ही श्रोत्र आदि इन्द्रियों के भी सूक्ष्म होने से इनका लक्षण कहना अशक्य है, इसलिये इनकी भी वृत्ति ही कही जाती है, लक्षण नहीं । क्योंकि वृत्ति ही इनका लक्षण है । अर्थात् जो शब्द का आलोचन (ग्रहणमात्र) करने में समर्थ है; वह श्रोत्र है । वैसे ही अन्य इन्द्रियों के बारे में भी कहना चाहिये—जो रूपग्रहण में समर्थ है; वह चक्षु है इत्यादि ।

बुद्धि अहङ्कार और मन का लक्षण अध्यवसाय आदि कहा गया है । उसे ही वृत्ति के रूप में कहते हुए, तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों को आलोचनमात्र वृत्ति को ही लक्षण के रूप में कहते हुये आचार्य वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेद ज्ञापित करते हैं । नहीं तो जैसे अध्यवसाय आदि को बुद्धि आदि का लक्षण कहे, वैसे ही चक्षु आदि का रूपादि विषयों का आलोचनमात्र लक्षण है—ऐसा कहते; वृत्ति नहीं कहते ।

एवं श्रोत्र आदि के समान बुद्धि आदि का भी अध्यवसाय आदि वृत्ति है, ऐसा ही कहते, लक्षण नहीं कहते; किन्तु 'स्वालक्षण्यम्' शब्द से अध्यवसाय आदि को लक्षण भी कहा है ।

---

१. अत्र 'श्रोत्रादीनां वृत्तिमेव चाभिदधानो लक्षणं चाप्याचक्षाणो' इति पाठः कथञ्चित् संगच्छते ।

'सैषा भवत्यसामान्या' ।

'सेति' पूर्वकृतां वृत्तिमभिसंबध्नाति । 'एषेति' सर्वनाम्ना प्रत्याकृष्टां तामेव प्रत्यक्षं प्रति निर्दिशति । 'भवतीति' वक्ष्यमाणेन धर्मान्तरेणास्या-स्तद्वत्ताऽनुभावित्वं ख्यापयति । 'असामान्येति' धर्ममाचष्टे । सामान्या साधारणेत्यर्थः । न सामान्याऽसामान्या । प्रतिकरणं नियतेत्युक्तं भवति । या ह्यीयमनुक्रान्ता करणपर्वणोऽध्यवसायादिका वृत्तिरियं व्यस्तानां करणानां प्रतिस्वं नियता । ततश्चैषां बुद्ध्यादीनां कार्यविशेषनिमित्तभाव-संसूचितस्य स्वरूपस्यासङ्करः सिद्धः ।

इसलिये बाह्येन्द्रियों और अन्तःकरणों के सम्बन्ध में हुआ भिन्न निर्देश सूचित करता है कि वृत्ति और वृत्तिमान् में अनन्यत्व (अभेद) है । इस प्रकार करण की वृत्तियों का व्याख्यान पूर्ण हुआ ।

अन्तःकरण की यह अध्यवसायवृत्ति असामान्य होती है । अर्थात् सामान्य न होकर अपनी-अपनी नियत वृत्ति होती है । जैसे बुद्धि की अध्यवसायवृत्ति, अहङ्कार की अभिमानवृत्ति तथा मन की संकल्पवृत्ति ही नियत है ।

कारिकागत 'सा' यह पद पूर्व में उल्लेख की गयी वृत्ति से सम्बन्धित है । 'एषा' यह पद 'सा' इस सर्वनाम पद से गृहीत उसी वृत्ति को प्रत्यक्षतः दर्शाती है । 'भवति' यह क्रियापद आगे कहे जाने वाले 'असामान्यत्वरूप' धर्मान्तर से वृत्ति में तद्वत्ताका (असामान्यत्व का) नित्ययोग बताता है । अर्थात् अध्यवसाय आदि वृत्ति सदा असामान्य असाधारण या नियत होती है यह बात 'भवति' पद से सूचित की गई है । 'असामान्य' यह पद वृत्तिगत धर्म का बोधक है । अर्थात् वृत्ति में तीन धर्म हैं—अध्यवसायत्व, अभिमानत्व और संकल्पत्व । इसके अतिरिक्त असामान्यत्व भी एक धर्मान्तर है ।

सामान्य का अर्थ है—साधारण । जो सामान्य या साधारण न हो, वह असामान्य है । इससे यह निष्कर्ष होता है कि अध्यवसायादि वृत्ति प्रतिकरण नियत होती है । अर्थात् जो यह पूर्व में बताई गई करणवर्ग की अध्यवसायादिक वृत्ति है, वह पृथक्-पृथक् बुद्धि आदि करणों की अपनी अपनी नियत वृत्ति है । जैसे अध्यवसाय बुद्धि की, अभि-मान अहङ्कार की और संकल्प मन की अपनी अपनी नियत वृत्ति है ।

इससे बुद्ध्यादिकों के अपने अपने कार्यविशेष के प्रति निमित्त होने के कारण सूचित विशिष्ट स्वरूप का परस्पर असाङ्कर्य सिद्ध होता है । अर्थात् बुद्धि अहङ्कार और मन का अपना अपना पृथक् स्वरूप सिद्ध होता है । क्योंकि ये तीनों हो अपने अपने

आह—सामान्यविशेषयोरितरापेक्षत्वादसामान्याभिधानेन सामान्यस्याप्यभिधानादध्यवसायादिका करणानामसामान्या वृत्तिरित्युक्तेऽर्थादापन्नमेषां सामान्यापि वृत्तिरस्तीति। तस्मादसावपि वक्तव्येति।

उच्यते—

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

सामान्या चासौ करणवृत्तिः सामान्यकरणवृत्तिः प्राणश्चाद्यो येषां ते प्राणाद्याः-प्राणापानसमानोदानव्यानाः पञ्च समस्तकरणवृत्तिः प्रत्यवगन्तव्येति। 'तैः सर्वैः सहितः प्राणः' इति वेदान्तेष्वपि।

आह—अयुक्तमेतत्। कस्मात्? धर्मिणो धर्म्यन्तरवृत्तिभावानुप-

कार्य विशेष के प्रति ही निमित्त होते हैं। यदि इनका परस्पर असङ्कीर्ण विशिष्ट स्वरूप न होता तो इनका अध्यवसायादि पृथक् पृथक् कार्य न होता।

प्रश्न—सामान्य और विशेष परस्पर सापेक्ष होते हैं, इसलिये विशेष का कथन होने पर सामान्य का भी कथन स्वतः हो जाने से अध्यवसाय आदि वृत्ति करणों की असामान्य (विशेष) वृत्ति है—ऐसा कहने पर अर्थात् सिद्ध हो गया कि इनकी कोई सामान्य भी वृत्ति है। इसलिये उसे भी बताना चाहिये।

उत्तर—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' अर्थात् प्राण आदि पञ्च वायु करणों की (साधारण) वृत्ति है।

यहाँ 'पर सामान्या चासौ करणवृत्तिः' ऐसा विग्रह एवं कर्मधारयसमास है। एवं 'प्राण आद्यो येषां ते प्राणाद्याः' ऐसा विग्रह एवं बहुव्रीहि समास है। अर्थात् सामान्यात्मक करणवृत्ति सामान्यकरणवृत्ति है। एवं प्राण है आदि में जिनके वे प्राणादि वृत्तियाँ हैं अर्थात् प्राण-अपान-समान-उदान और व्यान इन पाँचों को समस्त करणों की वृत्ति जानना चाहिये। वेदान्त वचनों में भी कहा गया है कि 'उन सभी करणों से एक साथ हुई वृत्ति प्राण है'। यहाँ करणशब्द से अन्तःकरणमात्र विवक्षित है; क्योंकि युक्तिदीपिकाकार ने अध्यवसायादि को असामान्यवृत्ति कहा है; जो अन्तःकरण के लिये ही उपपन्न है। इस प्रकार अन्तःकरण की असामान्य वृत्ति बताकर अन्तःकरण की ही सामान्यवृत्ति बताना कारिका में अभिप्रेत है।

पूर्वपक्ष—'प्राणादि वायु सामान्यकरणवृत्ति हैं' यह कथन अयुक्त है; क्योंकि धर्मी धर्म्यन्तर की वृत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् प्राण आदि वायु स्वयं धर्मीरूप हैं। अतः वे प्राणादि वायु करणरूप दूसरे धर्मी की वृत्ति कैसे हो सकती हैं? कारण,

पत्तेः । वृत्तिरित्ययं शब्दो व्यापारमाचष्टे । न च धर्मान्तरं[1] धर्म्यन्तरस्य व्यापारो भवितुमर्हतीति ।

उच्यते—न; कार्ये कारणोपचारात् । सत्यमेतत्, धर्मो धर्म्यन्तरस्य वृत्तित्वेनाशक्यः परिकल्पयितुम् । किं तु सामान्यकरणवृत्त्या प्रेर्यमाणो वायुस्तत्प्रवणत्वात् तत्कार्यतां प्रतिपद्यते । तत्र प्राणादिकार्ये वायौ प्राणोपचारं कृत्वा एवमुच्यते—

'प्राणाद्या वायवः पञ्च' ।

तत्प्रेरणासिद्धेरयुक्तमिति चेत्, स्यादेतत्—कथमेतदवगम्यतेऽर्थान्तर-प्रेरितस्य वायोरियं क्रिया भवति, न पुनः स्वतन्त्रस्येति ?

उच्यते—न स्वतः, तद्व्यतिरिक्तत्वानुपपत्तेः । इहेयमकस्माद् भिन्ना क्रिया वायोः स्वतो वा स्यात्, करणवृत्तिव्यतिरिक्ताद् वा ? किञ्चातः ?

कारिकागत 'वृत्ति' यह शब्द व्यापार-अर्थ को बताता है और अन्य धर्मी अन्य धर्मी का व्यापार हो नहीं सकता ।

समाधान—उक्त पूर्वपक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि कार्य के लिये कारण का औपचारिक (लाक्षणिक या गौण) प्रयोग है । अर्थात् यह कथन सत्य है कि किसी धर्मी को किसी अन्य धर्मी की वृत्ति के रूप में परिकल्पित करना अशक्य है । किन्तु प्राणादि-रूप सामान्य करणवृत्ति से प्रेरित वायु वृत्ति के अधीन होने के कारण वृत्ति का कार्य बन जाता है । यहाँ जो वायु प्राणादिरूप वृत्ति से प्रेरित होने के कारण वस्तुतः प्राणादि का कार्य है न कि स्वयं प्राणादिरूप है; उसमें प्राणशब्द का औपचारिक प्रयोग कर 'प्राणाद्या वायवः पञ्च' ऐसा कहा जाता है ।

तात्पर्य यह है कि यहाँ अन्तःकरणों की सामान्यवृत्ति के रूप में प्रतिपादित प्राण आदि वायु नहीं हैं; किन्तु प्राणन-अपानन-समानन-उदानन और व्यानन रूप क्रिया या व्यापार है और इस प्राणनादि व्यापाररूप वृत्ति से प्रेरित वायु को प्राणादि के रूप में औपचारिक प्रयोग किया गया है ।

शङ्का—उक्त कथन अयुक्त है; क्योंकि किसी अन्य के द्वारा वायु का प्रेरित होना असिद्ध है । अर्थात् यह कैसे ज्ञात होता है कि भिन्न वस्तु से प्रेरित वायु की क्रिया होती है; विना किसी की प्रेरणा के स्वतन्त्र वायु की क्रिया नहीं होती है ?

उत्तर—वायु की क्रिया स्वतः नहीं हो सकती है । एवं उसमें क्रिया उत्पन्न करने वाली करणवृत्ति से भिन्न कोई वस्तु भी अनुपपन्न है ।

---

१. 'धर्म्मान्तरं धर्म्यन्तरस्य' इति पाठः सुसंगतः ।

तन्न तावत् स्वत उपपद्यते। कस्मात्? सर्वत्र प्रसङ्गात्। स्वाभाविके हि वायोर्दिक्संचारेऽभ्युपगम्यमाने सर्वत्र तत्संभवः स्यात्। ततश्च तिर्यक्पातादिवृत्तिर्हन्येत।

न चान्यतः। कस्मात्? अदर्शनात्। न हि पृथिव्यादीनां वायुप्रेरणसामर्थ्यं क्वचिदुपलब्धम्। भस्त्रादिषु दृष्टमिति चेन्न, अन्यनिमित्तत्वात्। अत्रापि चैत्रव्यापार उपलभ्यते इत्यवश्यमन्यनिमित्तमुपलभ्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

आत्मेति चेत्, न, क्रियाप्रतिषेधात्। उपपादितमेतत् पूर्वम्—आत्मा निष्क्रिय इति। न च निष्क्रियस्य प्रेरणमुपपद्यते। न च निर्निमित्ता,

---

अर्थात् यहाँ वायु में अकस्मात् प्रतीयमान विलक्षण क्रिया स्वतः होगी? या करणवृत्ति से व्यतिरिक्त किसी अन्य कारण से होगी?

प्रश्न—इससे क्या अभिप्राय निकला?

उत्तर—यह कि उक्त दोनों पक्षों में स्वतः वाला पक्ष नहीं बन सकता है; क्योंकि तब सर्वत्र क्रिया का प्रसङ्ग होने लगेगा। अर्थात् वायु का दिक्सञ्चार स्वाभाविक मानने पर सभी दिशाओं में उसका सञ्चार सम्भव हो जायगा। ऐसी स्थिति में वायु की तिरछी गतिरूप वृत्ति (व्यापार) बाधित हो जायगी।

करणवृत्ति से व्यतिरिक्त वाला दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता है। अर्थात् करणवृत्ति से व्यतिरिक्त किसी अन्य कारण से भी वायु की क्रिया सम्भव नहीं है; क्योंकि वैसा देखा नहीं गया है। कारण, पृथिवी आदि में वायु को प्रेरित करने की क्षमता कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

यदि कहो कि भस्त्रा (भाथी) आदि पृथिवी में देखा गया है कि वह वायु को प्रेरित करती है—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि वहाँ वायु को प्रेरित करने वाला कोई अन्य निमित्त है। अर्थात् भस्त्रा में भी चैत्र का व्यापार प्रेरक उपलब्ध होता है। इसलिये पृथिव्यादि से अन्य निमित्त अवश्य ही उपलब्ध है, ऐसा मानना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि भस्त्रागत वायु की क्रिया में भी चैत्रीय अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रेरक है। इसलिये यह सिद्धान्त युक्त है कि प्राणनादिरूप करणवृत्ति से प्रेरित वायु में क्रिया होने से 'प्राणाद्या वायवः पञ्च' यहाँ वायु में प्राणशब्द का प्रयोग औपचारिक है।

यदि वायु को प्रेरित करने वाला अन्य निमित्त आत्मा है—ऐसा कहो तो नहीं कह सकते। क्योंकि आत्मा में क्रिया का प्रतिषेध हुआ है। यह बात पूर्व में सिद्ध की

स्वभावभेदानामनाकस्मिकत्वात्। तस्माद् यत्तन्निमित्तं सा समस्तकरणवृत्तिः।

स चायं वायुरेक एव स्थानसञ्चारविशेषान्नानाख्यो भवति। यथैको देवदत्तः पाचको लावक इति क्वचित्। तदयुक्तम्। कस्मात्? युगपत् परस्परातिशयविरोधात्। पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो वायुर्बलीयानिति ह्यभ्युपगमः। तदेकस्यैकस्मिन् काले नोपपद्यते। तस्मादुपपन्नं 'प्राणाद्या वायवः पञ्च'।

किं पुनरेषां प्राणादीनां लक्षणमिति?

उच्यते—द्विविधाः प्राणादयः अन्तर्वृत्तयो बहिर्वृत्तयश्च। तत्र मुखनासिकाभ्यां प्रगमनात् प्रणतेश्च प्राणः। योऽयं मुखनासिकाभ्यां सञ्चरति, सोऽन्तर्वृतिर्वायुः प्राण इत्यभिधीयते। या काचित् प्रणतिर्नाम भूतेषु तद्यथा

गयी है कि 'आत्मा निष्क्रिय है'। और जो निष्क्रिय है, उसके द्वारा किसी का प्रेरित किया जाना अनुपपन्न है। यह भी नहीं हो सकता कि प्रेरणा किसी निमित्त के बिना अकस्मात् होती है; क्योंकि कोई भी स्वभावविशेष आकस्मिक (अकारण) नहीं होते हैं। इसलिये वायु की प्रेरणा का जो निमित्त है, वह समस्त करणों की वृत्ति है। अर्थात् समस्त करणों की सम्मिलित वृत्ति ही निमित्त है।

पूर्वपक्ष—वह वायु एक ही होता हुआ विभिन्न स्थानों में सञ्चारविशेष के कारण नाना संज्ञाओं को धारण करता है—प्राण-अपान-समान-उदान और व्यान के रूप में। जैसे एक ही देवदत्त कहीं पाचक होता है और कहीं लावक (छेदन करने वाला) होता है।

उत्तरपक्ष—उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि एक ही वस्तु में एक साथ परस्पर अतिशयविशेष का होना विरुद्ध है। कारण, पूर्व पूर्व वायु से उत्तर-उत्तर वायु बलवान होता है—यह सांख्य का सिद्धान्त है। यह बात एक वस्तु में एक काल में नहीं बन सकती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि प्राण आदि वायु पाँच हैं।

प्रश्न—इन प्राणादिकों का लक्षण क्या है।

उत्तर—प्राण आदि दो प्रकार के हैं—अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति। उनमें मुख और नासिका मार्ग से सञ्चरण करने के कारण तथा प्रणति (झुकना) के कारण प्राण कहा जाता है। अर्थात् जो यह मुख नासिका मार्ग से सञ्चरण करता है, वह अन्तर्वृत्ति वायु प्राण शब्द से कहा जाता है।

प्रणतेयं सेना, प्रणतोऽयं वृक्षः, प्रणतोऽयं धर्मे, प्रणतोऽयमर्थे, प्रणतोऽयं कामे, प्रणतोऽयं विद्यायाम् ।

तद्विपरीतेषु वा[1] बाह्यप्राणवृत्तिरेषा । प्राणिविषय एवैषा भवति । स खल्वयमत्राभिव्यक्तो भवति । तद्यथा महता वा दुःखेनाभिप्लुतस्य, महता वा बन्धुना वियुक्तस्य सहितस्य [सुहितस्य] वा सौरभेयस्य, निपानावतीर्णस्य वा महिषस्यावगतेः ।

अपक्रमणाच्चापानः । योऽयं रसं धातून् शुक्रं मूत्रं पुरीषं वातार्तवगर्भांश्चाकर्षन्नधोगच्छन्नयमन्तर्वर्ती वायुरपान इत्यभिधीयते । यच्चापि किञ्चिदपक्रमणं नाम भूतेषु, तद्यथा अपक्रान्तोऽयं धर्मादिभ्यस्तद्विपरीतेभ्यो वा इति । बाह्या खल्वपानवृत्तिरेषा । अपानविषय एवैष भवति ।

बलवत्तरश्चायं प्राणाद् वायोः । कस्मात् ? एष ह्येतं प्राणमूर्ध्वं

एवं, भूतों में जो कोई प्रणति क्रिया (झुकना) देखी जाती है—जैसे, यह सेना प्रणत है अर्थात् आगे की तरफ बढ़ी हुई है, यह वृक्ष झुका है, यह धर्म की तरफ झुका है, यह अर्थ की तरफ झुका है, यह काम में झुका है, यह विद्या की तरफ झुका है । अथवा इनके विपरीतों में झुकाव । जैसे, अधर्म में–अनर्थ में–अकाम में–अविद्या में प्रणति (झुकाव) । यह ऊपर बताई गयी बाह्य प्राणवृत्ति है । अर्थात् यह बाह्यवृत्ति वाला दूसरा प्राण है ।

यह द्विविध प्राणवृत्ति प्राणी विषय में ही होती है । क्योंकि वह प्राण इन जगहों में अभिव्यक्त होता है । जैसे—किसी महान् दुःख से आक्रान्त व्यक्ति में, किसी विशिष्ट बन्धु से वियोग को प्राप्त व्यक्ति में, हर्ष को प्राप्त वृषभ में, खाते के पानी से निकले भैंसे में बाह्य प्राणवृत्ति देखी जाती है । अर्थात् इन प्राणियों में उपर्युक्त परिस्थितियों में स्पष्टरूप में प्राणक्रिया देखी जाती है ।

अपक्रमण के कारण अपान कहाता है । जो वायु अपक्रमण करे–हटावे या खींचे, वह अपान है । अर्थात् जो यह वायु रस को धातुओं को शुक्र को–मूत्र को–पुरीष को वात आर्तव और गर्भ को आकृष्ट करता हुआ नीचे की ओर जाता है, यह अन्तर्वर्ती अपान वायु कहा जाता है ।

और जो तो भूतों में अपक्रमण देखा जाता है, जैसे—यह धर्म आदि से या उसके विपरीत अधर्म आदि से हट गया इत्यादि—यह बाह्य वृत्ति अपान वायु है ।

---

१. तद्विपरीतेषु वा । इति पूर्णविरामोऽत्रोचितः ।

वर्तमानमर्वागेव सन्नियच्छति अर्वागेव सन्निरुणद्धि। एषोऽत्राभिव्यक्तो भवति। तद्यथा उपकूपमुपश्वभ्रं वा परिवर्तमानस्या[1] शतपदीं लङ्घयतः।

हृद्यवस्थानात् सहभावाच्च समानः। यस्त्वयं प्राणापानयोर्मध्ये हृद्यवतिष्ठते, स समानो वायुरन्तर्वृत्तिः। यश्चापि कश्चित् सहभावो नाम भूतेषु द्वन्द्वारामता। तद्यथा सह दास्ये, सह यक्ष्ये, सह तपश्चरिष्यामि, सह भार्यापुत्रैर्बन्धुभिः सुहृद्भिश्च वर्तिष्य इति। बाह्या समानवृत्तिरेषा। समानविषय एवैष भवति।

बलवत्तरः खल्वयं प्राणापानाभ्याम्। एष ह्येतौ प्राणापानौ ऊर्ध्वमवाक् च वर्तमानौ मध्य एव सन्नियच्छति, मध्य एव सन्निरुणद्धि। स

यह बाह्यवृत्ति अपान वायु अपानसम्बन्धी विषय में ही होता है। इस प्रकार अपान वायु भी अन्तर्वृत्ति और बाह्यवृत्तिभेद से दो प्रकार का है।

यह अपानवायु प्राणवायु को अपेक्षा अधिक बलवान् भी होता है। क्योंकि ऊपर बढ़ते हुए प्राणवायु को नीचे ही नियन्त्रित कर देता है—नीचे ही रोक देता है। यह अपानवायु इन जगहों में अभिव्यक्त होता है। जैसे—कूप में या किसी गर्त (गढा) में उतरते हुए, अथवा किसी शतपदी को लाँघते हुए व्यक्ति में अपानवायु अभिव्यक्त होता है।

हृदय में अवस्थित होने के कारण तथा सहभाव (साहचर्य) के कारण समाननामक वायु कहा जाता है। जो तो वायु प्राण और अपान के मध्य हृदयप्रदेश में अवस्थित रहता है, वह अन्तर्वृत्ति समानवायु है। एवं जो कुछ भूतों में सहभाव देखा जाता है या द्वन्द्व के रूप में आरमण (रमण करना) देखा जाता है—जैसे, साथ दूँगा, साथ यज्ञ करूँगा, साथ तपश्चरण करूँगा, या स्त्री-पुत्र-बन्धु एवं मित्रों के साथ रहूँगा इत्यादि—यह बाह्यवृत्ति वाला समानवायु है। अथवा समाननामक वायु की उपयुक्त बाह्यवृत्तियाँ हैं। यह समाननामक बाह्यवृत्ति वायु समान विषय से ही सम्बन्धित है। इस प्रकार अन्तर्वृत्ति और बाह्यवृत्तिभेद से समानवायु के दो भेद हैं।

यह समानवायु प्राण-अपान वायुओं से अधिक बलवान् है। क्योंकि यह वायु ऊपर और नीचे वर्तमान प्राण-अपान वायुओं को मध्य में ही नियन्त्रित कर देता है, मध्य में ही रोक लेता है।

यह समानवायु इन स्थानों में अभिव्यक्त होता है—जैसे—जिसके शरीर का

---

१. अत्र 'स्याथवा' इतिः पाठ संभवी।

चैषोऽत्राभिव्यक्तो भवति, तद्यथा-स्रुतसारस्य वा सारमेयस्य, अनडुहो वोढभारस्य, घर्माभितप्ताया वा एडकाया अर्धार्धकायं-शकशकेति । प्राणान्ते सर्वप्राणिनां प्राणापानावुत्सृज्योर्ध्वमधश्च मुक्तयोक्त्रौ हयाविव विषमं सञ्चारयन् शरीरं स परास्यति ।

मूर्धारोहणादात्मोत्कर्षणाच्चोदानः । यस्त्वयं प्राणापानसमानानां स्थानान्यतिक्रम्य रसं धातूंश्चादाय मूर्धानमारोहति, ततश्च प्रतिहतो निवृत्तः स्थानकरणानुप्रदानविशेषाद् वर्णपदवाक्यश्लोकग्रन्थलक्षणस्य शब्दस्याभिव्यक्तिनिमित्तं भवति, अयमन्तर्वृत्तिर्वायुरुदान इत्युच्यते ।

यश्चापि कश्चिदात्मोत्कर्षो नाम भूतेषु, तद्यथा–हीनादस्मि श्रेयान्, सदृशेन वा सदृशः, सदृशादस्मि श्रेयान् श्रेयसा वा सदृशः, श्रेयसो वा श्रेयान् । एतस्मिंस्तथारूपाभिमानो वा । प्राप्तविद्यस्तु, तद्यथा-बह्व-तर विशेषादल्पान्तरविशेषोऽस्म्यगुणवतो वा गुणवानस्मीति बाह्योदानवृत्ति-

---

सार बह चुका है ऐसे कुत्ता में, भार ढो चुकने के बाद थके हुए वृषभ में, घाम से अत्यन्त तपी हुई भेड़ में शरीर के अन्तर्गत 'शकशक' ऐसी आवाज कम्पन या हाँफना देखा जाता है। मरणावस्था में यह समानवायु सभी प्राणियों के प्राण-अपान वायुओं की ऊर्ध्व और अधः गति को बन्द कराकर उन्हें विषमरूप में ऐसा सञ्चारित कराता है, जैसे जुआठ से मुक्त घोड़े अनियन्त्रितरूप में सञ्चरण करने लगते हैं। मृत्युदशा में ऐसा कराता हुआ समानवायु शरीर को गिरा देता है।

मूर्धा की तरफ आरोहण एवं आत्मा के उत्कर्षण के कारण उदान वायु कहाता है। अर्थात् जो तो यह वायु प्राण-अपान और समान वायुओं के स्थानों का अतिक्रमण कर रस और धातुओं को लेकर मूर्धापर चढ़ जाता है (आरूढ हो जाता है), और पुनः वहाँ से प्रतिहत होकर लौटा हुआ स्थान-करण और अनुप्रदानविशेष के प्रभाव से वर्ण-पद-वाक्य-श्लोक और ग्रन्थस्वरूप शब्द की अभिव्यक्ति का निमित्त बनता है–इसे अन्तर्वृत्ति उदान वायु कहते हैं।

और जो तो प्राणियों में आत्मा के (अपने) प्रति उत्कर्ष की प्रतीति होती है, जैसे–हीन जन से मैं श्रेष्ठ हूँ, अथवा समान व्यक्ति के सदृश हूँ, सदृश व्यक्ति से श्रेष्ठ हूँ या श्रेष्ठ के सदृश हूँ, अथवा श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हूँ इत्यादि। अथवा इनमें कोई विद्या को प्राप्त व्यक्ति अपने में वैसी विद्या का अभिमान करता है। जैसे—ऐसी विशेषता वाला व्यक्ति, जिस विशेषता को धारण करने वाले दूसरे बहुत व्यक्ति हैं, उसकी अपेक्षा मुझमें ऐसी विशेषता है, जिसे धारण करने वाले दूसरे कम व्यक्ति हैं,

रेषा। उदानविषय एवैष भवति।

बलवत्तरः खल्वयं पूर्वेभ्यः। कथम्? एष ह्येतान् प्राणादीनूर्ध्वमवाङ् मध्ये च वर्तमानानूर्ध्वमेवोन्नयति, ऊर्ध्वमेवोत्कर्षति। स चैषोऽत्राभिव्यक्तो भवति—शीतोदकेन वा पर्युक्षितस्य, प्रासमसिं विकोशं चोद्यतमभिपश्यतः।

शरीरव्याप्तेरत्यन्ताविनाभावाच्च व्यानः। यस्त्वयमालोमनखाच्छरीरं व्याप्य रसादीनां धातूनां पृथिव्यादीनां व्यूहं मर्मणां च प्रस्पन्दनं प्राणादीनां च स्थितिं करोति, सोऽन्तर्वृत्तिर्व्यानः।

यश्चापि कश्चिदत्यन्ताविनाभावो नाम भूतेषु, तद् यथा पतिव्रता भर्तारं मृतमप्यनुगच्छति भवान्तरेऽप्ययमेव भर्ता स्यात्, तथा धर्मादिभिस्तद्विपरीतैश्चेति। बाह्यो व्यानविषय एवैष प्रभवति।

अथवा गुणहीन व्यक्ति के समक्ष मैं गुणवान् हूँ इत्यादि। यह बाह्यवृत्ति उदानवायु है। उदान से सम्बन्धित विषय में ही यह उदान वायु को वृत्ति होती है।

यह उदानवायु पूर्वोक्त प्राण-अपान-समान वायुओं की अपेक्षा अधिक बलवान् होता है। क्योंकि यह वायु ऊपर नीचे और मध्य में वर्तमान प्राण-अपान और समान वायुओं को ऊपर ही ले जाता है और ऊपर की ही ओर खींचता है। इसकी अभिव्यक्ति इन जगहों में होती है—जैसे—शीतल जल का छींटा पड़े हुए व्यक्ति में अथवा भल्ला को एवं म्यान से निकली तलवार को सामने उठायी हुई देखते हुए व्यक्ति में। अर्थात् इन स्थितियों में व्यक्ति सहसा उछल पड़ता है। ऐसा उदानवायु के कारण होता है।

देह में व्याप्त होने के कारण तथा आत्यन्तिक अविनाभाव के कारण व्यानवायु कहाता है। अर्थात् जो वायु लोम-नख पर्यन्त समस्त देह में व्याप्त रहकर रसादि धातुओं को तथा पृथिवी आदि तत्त्वों को संघटित करता है, मर्मों में गति एवं प्राणादिकों की स्थिति को करता है, वह अन्तर्वृत्ति व्यान वायु है।

और जो कुछ भूतों में आत्यन्तिक अविनाभाव (साहचर्य) देखा जाता है, जैसे—प्रतिव्रता स्त्री मरणोत्तर भी पति का अनुगमन करती है कि दूसरे जन्म में भी यही मेरा पति रहे। एवं धर्म आदि तथा इसके विपरीत अधर्म आदि के साथ भी भूतों में (प्राणियों में) अविनाभाव सम्बन्ध देखा जाता है। अर्थात् जब तक मुक्ति नहीं हो जाती तब तक प्राणियों में धर्माधर्मादि का सम्बन्ध नियतरूप से बना रहता है। यह सब बाह्यवृत्ति व्यानवायु है। व्यान से सम्बन्धित विषय में ही यह व्यान वायु प्रभावकारी होता है।

बलवत्तमश्चायं सर्वेभ्यः। कथम्? अनेन हि व्याप्ते शरीरदण्डके तद्वशीकृतानां प्राणादीनां समा स्थितिर्भवति। स एषोऽन्तकाले प्राणभृतामविनाभावेन वर्तमानोऽभिव्यज्यते। तद् यथा[1] हा तर्हि पादौ हेमौ शीतीभूतौ गुल्फे जङ्घे ऊरू कटिरुदरमुरः कण्ठेऽस्य खुरघुरो वर्तते हू (?) इत्येवैषो (ष) बाह्यो व्यान इति।

एवमेते प्राणाद्याः स्थानकार्यविशेषसूचिताः पञ्च वायवो व्याख्याताः। तेषां प्रेरिका सामान्यकरणप्रवृत्तिः।

एषा च तन्त्रान्तरेषु प्रयत्न इत्युच्यते। स च धर्मादिसंस्कारभावनावशादनुपरतो जीवनम्। आह च—

वृत्तिरन्तः समस्तानां करणानां प्रदीपवत्।
अप्रकाशा क्रियारूपा जीवनं कायधारिका॥

और यह व्यान वायु प्राण आदि अन्य सभी चारों वायुओं की अपेक्षा बलवत्तम होता है।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—इसी वायु से शरीररूपी दण्ड के व्याप्त रहने पर इसके वशीभूत प्राण-अपान-समान-उदान वायुओं की स्थिति सम बनी रहती है। यह वायु प्राणियों के अन्त काल में (मृत्यु समय में) अविनाभाव सम्बन्ध से वर्तमान होकर स्पष्टरूप में लक्षित होता हैं। जैसा कि वह कहता है—हाय ये पैर ठण्डे पड़ गये हैं, गुल्फ जङ्घा-कमर और उदर भी ठण्डा हो गया है। इस प्राणी के हृदय और कण्ठ में खुरघुर की आवाज हो रही है इत्यादि। यही बाह्यवृत्ति व्यान वायु है।

इस प्रकार स्थानविशेष एवं कार्यविशेष से सूचित होने वाले इस प्राण आदि पञ्च वायुओं की व्याख्या पूर्ण हुई। इन्हें प्रेरित करने वाली वृत्ति (व्यापार) अन्तःकरण की सामान्यवृत्ति है। जैसा कि कारिका में कहा गया है—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।'

प्राणादि वायुओं को प्रेरित करने वाली यह सामान्य करणवृत्ति (करणों की सामान्य वृत्ति) ही वैशेषिकादि अन्य शास्त्रों में प्रत्ययशब्द से कही जाती है। और वह धर्माधर्मादि एवं वासनारूप संस्कार के अधीन जब तक उपराम (विराम) को

---

१. 'यथाऽऽह-आः तर्हि' इत्यपि पाठोऽत्र संभवति।

सा यावदनिरुद्धा तु हन्ति वायुं रजोऽधिका।
धर्माद्यनावृत्तिवशात् तावज्जीवति मानवः॥

अत्र च सामान्यकरणवृत्तिग्रहणसामर्थ्यात् प्राणाद्याः पञ्च वायवः, बुद्धीन्द्रियाणि षष्ठम्- कर्मेन्द्रियाणि सप्तमम्, पूरष्टमम्। पूरित्यहङ्कारावस्था संविदमधिकुरुते।

यस्मादाह—तत्र

संविदहङ्कारगतं कार्यंकारणं पूरयति यस्मात्।
तस्मात् पूरित्युक्ता प्रत्यवभासाऽष्टमं भोक्तुः॥

सा चाहङ्कारगता संविद् बुद्धिगतैव पुरुषेणोपलभ्यते।

यस्माद् वक्ष्यति—

प्राप्त नहीं करता, तब तक जीवन है। इसे ही जीवनयोनि यत्न कहा गया है। कहा भी गया है—

'वृत्तिरन्तः ···· तावज्जीवति मानवः'॥ २॥

अर्थात् जैसे बत्ती तेल और अनल सब मिलकर प्रदीप बनता है; वैसे ही समस्त अन्तःकरणों की मिलित वृत्ति, जो कि स्वयं अप्रकाशरूप है और क्रियारूप है; देह को धारण करने वाली जीवनरूप है। उस वृत्ति का जब तक निरोध नहीं होता और वह रजः प्रधान होकर प्राणादि वायु को प्रेरित करती है, पूर्वकृत धर्मादिके अनुवर्तन के कारण तब तक मानव जीवित रहता है।

यहां पर सामान्यकरणवृत्ति के ग्रहणसामर्थ्य से प्राणादि पञ्च वायु, छठीं ज्ञानेन्द्रियाँ, सातवीं कर्मेन्द्रियाँ तथा आठवीं पूः का संग्रह हो जाता है। पूः शब्द से अहङ्कारावस्था प्रतिपादित है जो संवित् का बोध कराती है। चूँकि कहा गया है—

'संविदहङ्कारगतं कार्यम्······इत्यादि।

अर्थात् चूँकि संवित् ही अहङ्कारगत कार्य और कारण को पूर्ण करता है, इस लिये उसे 'पूः' कहा गया है और भोक्ता का प्रत्यवभास करने वाली अष्टम वृत्ति है। इनमें प्राणादिक सामान्य वृत्ति हैं; और शेष वशेष वृत्तियाँ हैं; यह सूत्रकार का अभिप्राय है। और उक्त अभिप्राय 'सामान्यकरणवृत्ति' इस पद के ग्रहणसामर्थ्य से प्रकट होता है।

वह अहङ्कारगत संविद् (वृत्ति) बुद्धिगत होने के बाद ही पुरुष को उपलब्ध होती है, साक्षात् नहीं। क्योंकि सूत्रकार कहेंगे—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ (का० ३६)
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ॥ (३७)
तस्मात् सैव पूरिति ।

शास्त्रं चैवमाह—'प्राणापानसमानोदानव्यानाः पञ्च वायवः। षष्ठं मनः। सप्तमी पूरष्टमी वाक्।' वाग्ग्रहणेन कर्मेन्द्रियपर्वणो ग्रहणम्। मनोग्रहणेन बुद्धीन्द्रियपर्वणः।

तदेतत् प्राणाष्टमं (प्राणाद्यष्टकं) वैकारिकं गुणशरीरस्य परिद्रष्टुः क्षेत्रज्ञस्य शरीरमाददानस्य नित्यं स्तम्भस्थानीयं प्रत्यङ्गं भवति, अच्छेद्य—मभेद्यमदाह्यमविनाश्यमविकम्प्यम्। अनित्यानि पुनर्भौतिकानि बाह्यानि शरीराणि कुशमृत्तिकास्थानीयानि उपचीयन्ते चेति।

'एते प्रदीपकल्पा······साधयति बुद्धिः।

अर्थात् प्रदीप तुल्य ये सत्त्वादिगुणों के विकार परस्पर विलक्षण होते हुये पुरुष के समस्त विषयों को प्रकाशित कर बुद्धि को दे देते हैं। क्योंकि बुद्धि ही पुरुष के सब भोगों का साधन करने वाली है। अतः अहङ्कार गत या बुद्धिगत संवित् ही पूः है।

शास्त्र भी ऐसा कहता है—प्राण-अपान-समान-उदान और व्यान ये पांच वायु, छठा मन, सातवीं पूः और आठवीं वाक् ये ही प्राणाद्यष्टक हैं। उपर्युक्त शास्त्रवचन में वाक् के ग्रहण से कर्मेन्द्रियवर्ग का ग्रहण होता है और मन के ग्रहण से बुद्धीन्द्रियवर्ग का ग्रहण होता है।

यह प्राणाद्यष्टक प्रकृतिविकारभूत देह से सम्बन्धित है, तथा यह सत्त्वादिगुण हैं शरीर जिसका ऐसे द्रष्टा क्षेत्रज्ञ आत्मा के लिये इसके द्वारा शरीरधारण की अवस्था में सदा स्तम्भ के समान होता है और प्रत्येक देह में रहता है। तथा अच्छेद्य है—अभेद्य है—अदाह्य है-अविनाश्य है और अविकम्प्य (स्थिर) है। भौतिक बाह्य शरीर तो अनित्य हैं और कुशमृत्तिका (वल्मीक मट्टी) की तरह वृद्धि को प्राप्त हैं; जो स्थिर न होने से अकस्मात् गिर सकते हैं।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में प्राणाद्यष्ट को जो नित्यत्व-अच्छेद्यत्व आदि कहा गया है, वह भौतिकदेह की अपेक्षा से कहा गया है; न कि पुरुष की तरह स्वरूपतः नित्य है या अच्छेद्य-अभेद्य आदि है।

आह—कुतः पुनरियं प्राणादिवृत्तिः प्रवर्तत इति ?

उच्यते—सा कर्मयोनिभ्यः । महतः प्रच्युतं हि रजो विकृतम्, अण्डस्थानीयाः पञ्च कर्मयोनयो भवन्ति-धृति श्रद्धा-सुखा-विविदिषा-अविविदिषेति । आह च—

प्रच्युतो महतो यस्तु न प्राप्तो ज्ञानलक्षणम् ।
व्यापारो(ऽ)ज्ञानयोनित्वात् सा योनिः कुक्कुटाण्डवत् ॥

तासां लक्षणविषयसतत्त्वगुणसमन्वया भवन्ति । तत्र लक्षणं तावद्—व्यवसायादप्रच्यवनं धृतिः । फलमनभिसन्धाय शास्त्रोक्तेषु कार्येष्ववश्यकर्तव्यताबीजभावः श्रद्धा । दृष्टानुश्रविकफलाभिलाषद्वारको हि बुद्धेराभोगः सुखा । वेत्तुमिच्छा विविदिषा । तन्निवृत्तिरविविदिषा ।

तत्र यदायं जन्तुः शुभाशुभेषु कार्येषु वृत्त्यनुसारी जिज्ञासुरजिज्ञासुर्वा

प्रश्न—इस प्राणादिवृत्ति की प्रवृत्ति किस कारण से होती है ?

उत्तर—वह प्राणादि वृत्ति कर्मयोनियों से होती है । अर्थात् महत्तत्त्व से प्रच्युत उसका अंशभूत रजोगुण ही विकृत होकर(परिणाम को प्राप्त कर) अण्डस्थानीय पांच कर्मयोनियाँ हैं और इनसे प्राणादिवृत्ति की प्रवृत्ति होती है । वे हैं—धृति-श्रद्धा-सुखा-विविदिषा और अविविदिषा । कहा भी है—

'प्रच्युतो महतो यस्तु ······ इत्यादि ।

अर्थात् महत्तत्त्व से प्रच्युत जो रजःपरिणामात्मक व्यापार ज्ञानस्वरूप को नहीं प्राप्त हुआ है, अज्ञान का (कर्म का) योनि होने के कारण कुक्कुटाण्ड के समान वही कर्मयोनि है धृति श्रद्धा आदि पाँच । उनके लक्षणसतत्त्व; विषयसतत्त्व और गुणसमन्वय ये तीन प्रकार हैं ।

उनमें लक्षण जैसे—अपने व्यवसाय से (व्यापार से) प्रच्युत न होना धृति है । फल की भावना का परित्याग कर शास्त्रविहित कर्मों में अवश्यकर्तव्यतारूप बीज की भावना करना श्रद्धा है । दृष्ट (लौकिक) तथा आनुश्रविक (वैदिक) फलों की कामनापूर्वक बुद्धि का आभोग (परितृप्तता) सुखा है । ज्ञान की इच्छा विविदिषा है । तथा ज्ञानेच्छा की निवृत्ति (ज्ञान की इच्छा का न होना) अविविदिषा है ।

जब यह जीव शुभ या अशुभ कर्मों में अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जिज्ञासु होकर

शरीरं परित्यजति, तामेव कर्मयोनिमुपपद्यते। तस्यामुपपन्नस्तामेव भावयति। एतत्तावल्लक्षणसतत्त्वम्।

आह च–

वाचि कर्मणि संकल्पे प्रतिज्ञां यो न[नु] रक्षति।
तन्निष्ठस्तत्प्रतिज्ञश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम्॥
अनसूया ब्रह्मचर्यं यजनं याजनं तपः।
दानं प्रतिग्रहः शौचं श्रद्धायाः लक्षणं स्मृतम्।
सुखार्थी यस्तु सेवेत विद्यां कर्म तपांसि वा।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखायां स तु वर्तते॥
द्वित्वैकत्व पृथक्त्वं नित्यं चेतनमचेतनं सूक्ष्मम्।
सत्कार्यमसत्कार्यं विविदिषितव्यं विविदिषायाः॥

या अजिज्ञासु होकर शरीर का परित्याग करता है, तब वह उसी को प्राप्त किये रहता है और उसे प्राप्त किया हुआ उसी की भावना करता है। इस प्रकार धृति आदि कर्मयोनियों का लक्षणसतत्त्व प्रतिपादित हुआ।

अपनी वाणीसम्बन्धी, कर्मसम्बन्धी और संकल्पसम्बन्धी प्रतिज्ञा की जो रक्षा करता है; अपनी वाणी कर्म और संकल्प के प्रति निष्ठा रखता है तथा उनके सम्बन्ध में दृढ़प्रतिज्ञ होता है; वह धृतिका लक्षण है।

किसी के प्रति असूया (डाह) न रखना, ब्रह्मचर्य का धारण, यज्ञ करना, तपस्या, दान देना, प्रतिग्रह (किसी का दिया हुआ) स्वीकार करना, पवित्रता यह सब श्रद्धा के लक्षण हैं।

जो सुख की कामना से विद्या, कर्म और तप का सेवन करता है तथा सदा प्रायश्चित्त में लगा रहता है, वह व्यक्ति सुखानामक कर्मयोनि में प्रवृत्त है, ऐसा जानना चाहिये। अर्थात् यह सब सुखा के लक्षण हैं।

द्वित्व-एकत्व-पृथक्त्व-नित्य-चेतन-अचेतन-सूक्ष्म-सत्कार्य-असत् कार्य इन सब तत्त्वों को जानने की इच्छा होती है–यह विविदिषा का लक्षण है।

जिसने विष का पान कर लिया है, निद्रा में जो लीन है या मद से मत्त हो गया है, ऐसे व्यक्ति के समान विविदिषा का अभाव होना अविविदिषा है। यह

---

१. 'यो नु रक्षति' इति पाठो युक्तः।

विषपीतसुप्तमत्तवदविविदिषा[ऽ]ध्यानिनां सदा योनिः ।
कार्यकरणक्षयकरी प्राकृतिका गतिः समाख्याता ॥

विषयसतत्त्वं पुनः सर्वविषयिणी धृतिः । आश्रयविषयिणी श्रद्धा । दृष्टानुश्रविकविषयिणी सुखा । व्यक्तविषयिणी विविदिषा अव्यक्तविषयिण्यविविदिषा ।

गुणसमन्वयस्तु रजस्तमोबहुला धृतिः । सत्त्वरजोबहुला श्रद्धा । सत्त्वतमोबहुलाऽविविदिषा इति । उक्तं च—

लक्षणविषयसतत्त्वं त्रैगुण्यसमन्वयं च पञ्चानाम् ।
योनीनां यो विद्याद् यतिवृषभं तं त्वहं मन्ये ॥

इत्युक्ताः प्राणादयो योनयश्च ।

एतद् द्वयमधिगम्य सम्यङ्मार्गानुगमनं कुर्यात् । रजस्तमोधर्मादि-

---

ध्यान से विहीन व्यक्तियों को होती है और कर्म की शाश्वत योनि है। और यह कार्यकरणसंघात की सतत उत्पत्ति और नाश की परम्परा को कायम रखने वाली स्वाभाविक गति कही गयी है।

विषय से सम्बन्धित भी धृति आदि योनियाँ होती हैं। जैसे धृतिनामक योनि सर्वविषयिणी होती है। श्रद्धानामक योनि आश्रयविषयिणी होती है। दृष्ट (लौकिक और अदृष्ट (अलौकिक स्वर्गादि) विषयिणी सुखा होती है। व्यक्तविषयिणी विविदिषा है और अव्यक्तविषयिणी अविविदिषा है। अर्थात् व्यक्त पदार्थों को जिज्ञासा करना और अव्यक्त की जिज्ञासा न करना ये दोनों ही कर्म की योनि हैं।

इन कर्मयोनियों में गुणों का समन्वय यों है—जैसे; धृति रजस्तमोबहुल होतो है; श्रद्धा में सत्त्व और रजोगुण का बाहुल्य होता है—सुखा में सत्त्व और तमोगुण का बाहुल्य होता है; विविदिषा रजोबहुल होती है; तथा अविविदिषा तमोबहुल होती है।

कहा गया है—'लक्षणविषयसतत्त्वम्······' इत्यादि।

अर्थात् धृति आदि पाँच कर्मयोनियों में लक्षण और विषय का सम्बन्ध तथा सत्त्वादि गुणों का समन्वय जो जानता है; उसे मैं यतियों में श्रेष्ठ मानता हूँ। इस प्रकार प्राणादि वृत्तियों का तथा उनके कारणभूत पञ्च कर्मयोनियों का प्रतिपादन किया गया।

इन दोनों को (प्राणादिवृत्ति एवं कर्मयोनियों को) जानकर सम्यग्भूत मार्ग का

साधनभावविनिवृत्तितस्त्वत्र प्राणानामन्तर्वृत्तिरनुपाधिकत्वादनिवर्त्या । बहिर्वृत्तिस्तु मार्गामार्गविषयतया प्रयोक्तव्या । कथमित्युच्यते—प्राणविषया तावत् प्रणतिर्धर्मादिविषय एवाय (व) रोद्धव्या । ततो ह्यस्य सत्त्ववृद्धिः, सत्त्ववृद्धेश्चोत्तरोत्तर बुद्धिरूपाधिगमः ।

अपानविषयस्त्वपक्रमणं धर्मादिविषय एवापरोद्धव्यमेवं ह्यस्य ख्यातिविषयावका‌ऽऽ । रकस्य तमसो निर्ह्रासः ।

तथा समानविषयं साहचर्यं सत्त्वधर्मानुगुणं कुर्यात् । यस्माच्छास्त्र-माह—सत्त्वारामः सत्त्वमिथुनश्च सदा स्यादिति । आत्मोत्कर्षं तूदानविषयम् अविद्यापर्वणोऽन्त्यं रूपं विवर्ज्य तत्प्रतिपक्षैर्निवर्तयेत्[1] ।

अनुगमन करना चाहिये । इसे रजोगुण के धर्म और तमोगुण के धर्मों में सत्त्ववृद्धि के प्रति प्राणों में साधनभाव की निवृत्ति द्वारा सम्पादित करे । किन्तु यहाँ निरुपाधिक होने के कारण प्राणों की अन्तर्वृत्ति की निवृत्ति नहीं की जा सकती । किन्तु प्राणों की बाह्य-वृत्ति का प्रयोग मार्ग और अमार्ग विषय के रूप में उभयथा किया जा सकता है । यदि पूछो कि कैसे ? तो यह उत्तर कहा जायेगा कि प्राणवायु का कार्यभूत प्रणति [झुकाव] धर्मादि विषय में ही करनी चाहिये; अधर्मादि में नहीं । अर्थात् धर्मादि विषय में ही प्राणवृत्ति को नियन्त्रित करना चाहिये । वैसा करने से व्यक्ति में सत्त्व की वृद्धि होगी और सत्त्व की वृद्धि से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बुद्धि की प्राप्ति होगी ।

एवं अपान का विषय अपक्रमण को भी धर्मादिविषय में ही नियन्त्रित करना चाहिये । ऐसा होने पर व्यक्ति में वर्तमान ख्यातिविषय का आवरण करने वाले तमोगुण का आत्यन्तिक ह्रास हो जाता है । तब उत्तरोत्तर विशुद्ध बुद्धि का अधिगम होता है ।

एवं समानवायु के विषय साहचर्य को सत्त्वधर्म का अनुगामी बनावे । क्योंकि शास्त्र में कहा गया है—सदा सत्त्वगुण में रमण करे तथा सत्त्वगुण का साहचर्य करे । उदान वायु के विषय आत्मोत्कर्ष को तो पञ्चपर्वा अविद्या के अन्तिम पर्व अभिमान को छोड़कर उसके प्रतिपक्षभूत निरभिमानिता में अथवा आत्मा के नित्य शुद्धत्वबुद्ध-त्वाभिमान में परिवर्तित करे ।

एवं अत्यन्ताविनाभाव (नित्यसम्बन्ध) रूप व्यानविषय को ज्ञानविषय में ही

---

१. 'तत्प्रतिपक्षे निर्वर्तयेत्' इति कालिकाता पुस्तके पाठः ।

अत्यन्ताविनाभावं च ध्यानविषयं ज्ञानविषय एव भावयेत्। योनीनां चतसृणां धर्मताबीजतामेवादद्यात्। अविविदिषामपि अनिष्टफल-हेतुषु भावयेत्।

सौम्यं धर्मादिषु प्रवणस्तत्प्रतिपक्षापक्रान्तः सत्त्वारामो विनिवृत्ता-भिमानो ज्ञाननिष्ठः सविशुद्धयोनिरचिरेण परं ब्रह्मोपपद्यत इति। आह च—

बाह्यां प्राणविवृत्तिं सम्यङ्मार्गे बुधः प्रतिष्ठाप्य।
निनिवृत्तविखरकलुषो ध्रुवममृतं स्थानमभ्येति ॥
पञ्चानां योनीनां धर्मादि निमित्ततां च संस्थाप्य।
परिपक्वमित्यधस्तान्न पुनस्तद्भावितो गच्छेत् ॥

इति व्याख्याता व्यस्तसमस्ता करणानां वृत्तिः ॥ २९ ॥

आह—येयमेकैकस्मिन् रूपादावर्थे करणचतुष्टयस्य वृत्तिः सा किं

लगावे। एवं धृति-श्रद्धा-सुखा और विविदिषानामक चार योनियों को धर्म के बीज के रूप में ही गृहीत करे; न कि अधर्मादि के बीज के रूप में। अविविदिषानामक पञ्चम कर्मयोनि को भी अनिष्ट फल के जो हेतु हैं; उन्हीं में लगावे। अर्थात् अनिष्ट फल को पैदा करने वाले उपायों की विविदिषा (जिज्ञासा) न करे।

इस प्रकार मनुष्य प्राणादिवृत्तियों का उपयोग करता हुआ धर्मादि में उन्मुख होकर उसके प्रतिपक्ष अधर्मादि से दूर हो, सत्त्वगुणाश्रित होता हुआ, अभिमान से रहित होकर ज्ञान में निष्ठा रखता हुआ विशुद्ध योनि से सम्पन्न होकर अविलम्ब पर-ब्रह्मत्व को प्राप्त कर जाता है। कहा भी है—

'बाह्यां······ गच्छेत् ॥'

अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति बाह्य प्राणवृत्ति को समीचीन मार्ग में लगाकर समस्त कालुष्य से रहित होकर निश्चितरूप से अमृत स्थान (मोक्ष) को प्राप्त कर जाता है। पाँचों कर्मयोनियों को धर्मादिका निमित्त बनाकर परिपक्व(ज्ञान)होकर उसकी भावना से युक्त होकर फिर नीचे की तरफ न जाय।

इस प्रकार व्यस्तरूप में और समस्तरूप में करणों की वृत्तियों का व्याख्यान हुआ।

प्रश्न—जो यह रूपादि एक विषय में करणचतुष्टय की वृत्ति बताई गई है,

युगपदाहोस्वित् क्रमेणेति ? कुतः संशयः इति चेत्, उभयथा दृष्टत्वात् । इहैकार्थविषयाणां युगपदपि वृत्तिर्दृष्टा । तद् यथा चन्द्रमण्डले चक्षुषां मनसो वा । क्रमशश्च तद्यथा घटे मधूदकपयसाम् । एकार्थविषयं च करणचतुष्टयम् । अतो नः संशयः, किं चक्षुर्मनोवद् युगपदस्य वृत्तिः, आहोस्विन्मध्वादिवत् क्रमेणेति ?

उच्यते—यथादर्शनमपि तावदुच्यताम् । किमत्र युक्तं भवान् मन्यते ? स चेत् सम्यगुपदेक्ष्यसि, को निर्बन्धस्तदेव प्रतिपद्यामह इति । यद्येवं तस्मादिदमस्मद्दर्शनम्—

'युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः,'

तुशब्दोऽवधारणार्थः । युगपदेवेत्यर्थः ।

बुद्ध्यहङ्कारमनसां हि बुद्धीन्द्रियाणां च समानदेशत्वम् । तत्र न

वह क्या युगपत् (एक साथ) होती है ? या क्रमशः होती है ? यदि पूछो कि यहाँ संशय क्यों हुआ ? तो इसलिये कि दोनों प्रकार से देखा जाता हैं, इसलिये संशय हुआ । अर्थात् यहाँ जो एकार्थविषयक हैं; उनकी युगपत् भी वृत्ति देखी गई है । जैसे–चन्द्र-मण्डलरूप विषय के प्रति अनेक चक्षु की और मन की एक साथ वृत्ति होती है । एवं क्रमशः भी वृत्ति देखी जाती है । जैसे—एक घट में मधु-जल और दूध की । अर्थात् जैसे, एक घड़े में कभी मधु रखा जाता है, कभी जल और कभी दूध रखा जाता है, उस तरह ।

यहाँ करणचतुष्टय (तीन अन्तःकरण [और एक बाह्यकरण चक्षुरादि) भी एकार्थविषयक होता है; इसलिये हमें संशय होता है कि चन्द्रमा में चक्षु और मन के समान एक साथ करणों की वृत्ति होती है ? अथवा घड़े में मधु आदि के समान क्रमशः वृत्ति होती है ? प्रश्नकर्ता के प्रति सिद्धान्ती—यदि दोनों ही प्रकार से वृत्ति देखी जाती है, तो अपने दर्शन के अनुसार भी बतावें कि युगपत् या क्रमशः इनमें किसे आप युक्त मानते हैं ? यहाँ यदि आप ठीक उपदेश देंगे तो मुझे आग्रह क्या है ? आपके उपदेश को ही हम मान लेंगे ।

प्रश्नकर्ता—यदि ऐसा आप चाहते हैं, तो इस विषय में यह मेरा दर्शन है कि करणचतुष्टय की एक साथ ही वृत्ति होती है । उक्त कारिकांश में 'तु' शब्द अवधारण के अर्थ में है । इसलिये युगपत् ही अर्थात् एक साथ ही चारों की वृत्ति होती है, यह हमारे दर्शन की मान्यता है ।

शक्यत एतद्वक्तुं सति शक्तिसद्भावे विषयसम्बन्धे च कस्यचित्तत्र वृत्तिः कस्यचिन्नेति ।

किञ्चान्यत्—मेघस्तनितादिषु क्रमानुपलब्धेः । यदि हि क्रमेण श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च बाह्येऽर्थे वृत्तिः स्यादपि तर्हि मेघस्तनित-कृष्णसर्पालोचनादिष्वप्युपलभ्येत क्रमः, न तूपलभ्यते । तस्माद् युगपदेव बाह्येऽर्थे चतुष्टयवृत्तिरिति ।

उच्यते—यदुक्तं श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य चाभिन्नकालं वृत्तिरित्यत्र ब्रूमः—अयुक्तमेतत् । किं कारणम् ? यस्मादस्माकम् 'क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।' तस्येति चतुष्टयमभिसम्बध्यते । चशब्दोऽवधारणार्थः । क्रमश एवेत्यर्थः । क्रमश एव हि बाह्यान्तःकरणवृत्त्योरेकार्थनिपातः ।

बुद्धि-अहङ्कार और मनरूप अन्तःकरणों में तथा चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों में समान देशता (एक विषय में समनुगति) है। वैसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता है कि शक्ति के रहते हुये और विषय के साथ सम्बन्ध होते हुये भी किसी करण की वृत्ति होती है और किसी करण को नहीं होती है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि आदि चतुष्टय की वृत्ति युगपत् ही होती है।

युगपत् वृत्ति होने में और भी प्रमाण है। जैसे मेघगर्जन आदि में क्रम की उपलब्धि नहीं होती है। इससे भी युगपत् वृत्ति सिद्ध है। अर्थात् यदि श्रोत्र आदि इन्द्रियों की तथा बुद्धि आदि अन्तःकरणों की बाह्य अर्थ में क्रम से वृत्ति होती तो मेघगर्जन कृष्णसर्प का दिखाई पड़ना आदि क्रियाओं में भी क्रम की उपलब्धि होती; किन्तु वहाँ ऐसा नहीं होता। बल्कि एक साथ सारी क्रियायें हो जाती हैं। इसलिये बाह्य विषय में बुद्ध्यादि करणचतुष्टय की युगपत् ही वृत्ति होती है।

सिद्धान्ती—यह जो कहा कि श्रोत्र आदि इन्द्रियों को और अन्तःकरण को एक काल में वृत्ति होगी—यह कथन अयुक्त है।

प्रश्न—क्या कारण है ?

उत्तर—चूंकि हमारे यहाँ चतुष्टय की वृत्ति क्रमशः ही होती है, इसलिये। 'क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा' यहाँ 'तस्य' पद का 'चतुष्टय' पद के साथ सम्बन्ध है और 'च' शब्द अवधारण अर्थ में है। इसलिए क्रमशश्च का अर्थ होगा—क्रम से ही। अर्थात् क्रम से ही बाह्य और अन्तःकरण की वृत्तियों का एक विषय में निपात (सम्बन्ध) होगा।

यत्तूक्तं समानदेशानां शक्तिसम्बन्धसद्भावे वृत्त्यभावानुपपत्तिरिति, अत्र ब्रूमः—चक्षुरादिवदेतत् स्यात्। तद्यथा चक्षुस्त्वचोः समानदेशत्वे शक्तिविषयसम्बन्धोपपत्तौ रजोधूमातपाविगतः स्पर्श एवोपलभ्यते, न रूपम्। एवमिहापि स्यात्। तस्मात्—

'दृष्टे तथाप्यदृष्टे,'

क्रमश एव चतुष्टयस्य वृत्तिः। अदृष्टग्रहणेन पुनरत्रातीतानागतव्यवहितविषयग्रहणम्। तत्रातीतं द्विविधम् दृष्टविषयमदृष्टविषयं च। अत्रापि दृष्टविषयं प्रत्यभिज्ञानमित्यभिप्रेतम्। अदृष्टविषयं (या) स्मृतिः। सा तु लिङ्गागमाभ्यामकस्माद् वा भवति। तथा च वृषगण-

---

यह जो कहा कि शक्ति और सम्बन्ध के सद्भाव में समानदेशस्थ करणों में वृत्तिका अभाव नहीं हो सकता है। अर्थात् यदि करणों में सामर्थ्य है और विषयदेश के साथ करणों का सम्बन्ध है तो वहाँ किसी करण को वृत्ति होगी और किसी करण की वृत्ति नहीं होगी—यह अनुपपन्न है। इस सम्बन्ध में हम कहते हैं कि चक्षुरादि के समान ऐसा हो सकता है। जैसे, चक्षुरिन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय की समान देश में स्थिति होने पर और सामर्थ्य और विषय के साथ सम्बन्ध होने पर भी धूलिकण-धूम और आतपगत स्पर्श ही उपलब्ध होता; किन्तु रूप की उपलब्धि नहीं होती है। अर्थात् वहाँ चक्षुरिन्द्रिय को वृत्ति का अभाव रहता है। और त्वगिन्द्रिय की वृत्ति का भाव रहता है। और एक काल में दोनों की वृत्तियाँ नहीं होतीं। इसी तरह यहाँ भी होगा। अर्थात् काल की दृष्टि से क्रम से ही करणों की वृत्ति होती है।

तात्पर्य यह है कि अनेक देशों में अनेक करणों की युगपत् वृत्ति हो सकती है किन्तु एक देश में एक काल में अनेक करणों की युगपत् वृत्त न होकर क्रम से ही होगी। अर्थात् दैशिक यौगपद्य हो सकता है किन्तु कालिक यौगपद्य वृत्तियों में नहीं हो सकता है।

इसलिये दृष्ट के समान अदृष्ट विषय में अन्तःकरणादि चतुष्टय की क्रम से ही वृत्ति होती है, यह सांख्यदर्शन का सिद्धान्त है। यहाँ अदृष्ट के ग्रहण से अतीत-अनागत और व्यवहित [दूरस्थ होने से या बीच में दीवाल आदि किसी वस्तु का व्यवधान होने से इन्द्रियों के साथ जिसका सम्बन्ध नहीं हो पाता है, ऐसी] वस्तु का ग्रहण होता है। इनमें अतीतविषयक वृत्ति दो प्रकार की होती है—दृष्टविषयक और अदृष्ट-

चोरेणाप्युक्तम्[1] —भवति·········अनागतव्यवहितविषयज्ञानं तु लिङ्गा-गमाभ्याम् । आह च—

विषयेन्द्रियसंयोगात् प्रत्यक्षज्ञानमुच्यते ।
तदेवातीन्द्रियं जातं पुनर्भावनया स्मृतिः ॥

तदेव भावनापेक्षज्ञानं कालान्तरे पुनः ।
तत्रैव सेन्द्रियं जातं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते ॥

तत्र दृष्टे क्रमं प्रति नास्ति सन्देहः ।

विषयक । अर्थात् जिसका विषय पूर्व में देखा जा चुका है और वर्तमान में भी देखा जा रहा है; वह दृष्टविषयक वृत्ति है । और जिसका विषय वर्तमान में नहीं देखा जा रहा है; वह अदृष्टविषयक है ।

इनमें भी प्रथम दृष्टविषयक वृत्ति से प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान अभिप्रेत है । जैसे यह वही देवदत्त है; जिसे पाटिलीपुत्र में देखा था—यह प्रत्यभिज्ञा वृत्ति है ।

अदृष्टविषयक वृत्ति से स्मृतिज्ञान अभिप्रेत है । वह स्मृति किसी उद्बोधक लिङ्ग (चिह्नविशेष) से होती है; या आगम से होती है, या अकस्मात् होती है । जैसा कि वार्षगण्य ने भी कहा है—दृष्टविषयक ज्ञान विषय और इन्द्रिय के संयोग से होता है । किन्तु अनागत और व्यवहितविषयक ज्ञान लिङ्ग और आगम से होता है । कहा भी गया है—

विषयेन्द्रिय संयोगात्·······उच्यते ॥

अर्थात् विषय और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है । विषय के इन्द्रियातीत हो जाने पर भावना (संस्कार) द्वारा उसी विषय का हुआ ज्ञान स्मृति है । और कालान्तर में फिर संस्कारसापेक्ष उसी विषय का हुआ सेन्द्रिय ज्ञान (इन्द्रियसंयोग से उत्पन्न ज्ञान) प्रत्यभिज्ञान या प्रत्यभिज्ञा है ।

यहाँ दृष्टविषय में चतुष्टय की क्रमशः वृत्ति होने में सन्देह नहीं है । इसलिये दृष्ट के समान अदृष्ट विषय में भी क्रम से ही चतुष्टय की वृत्ति होती है—यह सिद्धान्त है ।

---

१. वृषगणस्यापत्येन इति तदर्थः । वीरशब्दस्य पुत्रवाचित्वस्मरणात् श्रवणाच्च । यथा 'आब्रह्मन् ···' इति मन्त्रे वीरशब्दः ।

यत्पुनरेतदुक्तम्—दृष्टे मेघस्तनितकृष्णसर्पालोचनादौ क्रमानुपलब्धेः युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरिति, अत्र ब्रूमः—एतदप्ययुक्तम्। किं कारणम्? यस्मात्—

'त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥'

न तावद् बुद्ध्यहङ्कारमनसां साक्षाद् बाह्यार्थग्रहणसामर्थ्यमस्ति, अन्तःकरणानुपपत्तिप्रसङ्गात्, श्रोत्रादिवैयर्थ्यप्रसङ्गाद्, द्वारिद्वारभावव्याघातप्रसङ्गाच्च। तस्मात् पूर्वं श्रोत्रादीनामर्थसम्बन्धोऽस्ति। मेघस्तनितादावप्यवश्यमेतदभ्युपगन्तव्यम्। तत्र यदुक्तम्-मेघस्तनितादिषु क्रमाऽननुगते युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिरित्येतदयुक्तम्।

अन्यैस्त्वन्यथाऽन्वयो दर्शितः। तद् यथा चतुष्टयस्येति मनोऽहङ्कार-

---

यह जो कहा कि 'मेघस्तनित-कृष्णसर्प का आलोचन आदि दृष्ट विषय में क्रम नहीं देखा जाता है; इसलिये बुद्ध्यादि चतुष्टय की वृत्ति युगतपत् होती है—इस पर हमारा कहना है कि यह भी युक्त नहीं है।

प्रश्न—इसमें क्या कारण है?

उत्तर—चूँकि बुद्धि अहङ्कार और मन इन तीनों की वृत्ति बाह्येन्द्रियवृत्तिपूर्वक ही होती है। अर्थात् बुद्धि अहङ्कार और मन में साक्षात् बाह्यार्थग्रहण की सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि वे यदि बाह्यार्थ का ग्रहण करें तो उनका अन्तःकरण होना अनुपपन्न हो जायेगा। एवं उनके द्वारा बाह्यार्थग्रहण का काम सम्पन्न हो जाने पर श्रोत्रादि बाह्येन्द्रियाँ व्यर्थ हो जायेंगी। साथ ही अन्तःकरण और बाह्यकरण में जो द्वारद्वारिभाव है; उसका भी व्याघात होने लगेगा। क्योंकि विषयग्रहण में बाह्येन्द्रियाँ द्वार हैं और अन्तःकरण द्वारी हैं।

इसलिये पहले श्रोत्रादि इन्द्रियों का अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है। यह बात मेघगर्जन आदि स्थल में भी अवश्य स्वीकार करनी चाहिये। इन्द्रियों की वृत्ति होने के बाद ही अन्तःकरण का अर्थ के साथ सम्बन्ध होगा और विषयाकारा अन्तःकरण की वृत्ति बनेगी। इस प्रकार मेघगर्जन कृष्णसर्पदर्शनादि स्थल में भी चतुष्टय की क्रम से ही वृत्ति होती है।

इसलिये यह जो पूर्व में कहा कि मेघगर्जनादि स्थल में क्रम का अनुगमन नहीं होने से चतुष्टय की वृत्ति युगपत् ही होती है, वह कथन युक्त नहीं है।

अन्य व्याख्याताओं ने प्रकारान्तर से उक्त कारिकांश का अन्वय दिखाया है। जैसे—'चतुष्टयस्य' इसका अर्थ है 'मन-अहङ्कार और बुद्धिरूप अन्तःकरणों का

बुद्धीनामन्तःकरणानां बाह्येनैकेन करणेन श्रोत्रेण वा चक्षुषा वा सह चतुष्टयस्यर्थः। अस्य दृष्टे वर्तमाने युगपद्वृत्तिः पूर्वाचार्यैर्निर्दिष्टा, आचार्येण तु क्रमेणेत्यर्थः। अदृष्टेऽतीतादावपि क्रमशश्च क्रमेणैव, यतस्त्रयस्यान्तःकरणस्य तत्पूर्विका बाह्येन्द्रियपूर्विका वृत्तिः। यदा (यथा) यथाऽनुभवस्तथा संस्कारस्तथा स्मृतिरित्येवं वृत्तिर्बाह्येन्द्रियपूर्विकेति ॥ ३० ॥

आह—किं पुनरेषां करणानां स्वविषयनियमेनवृत्तिर्भवति, आहोस्विद् व्यतिकरेणेति ?

श्रोत्र या चक्षुरूप किसी एक बाह्य करण के साथ मिलकर चतुष्टय बनता है। इस चतुष्टय का दृष्ट अर्थात् वर्तमान अर्थ में पूर्वाचार्यों ने युगपद् वृत्ति होना बताया है। किन्तु सांख्याचार्य ने तो दृष्ट में भी क्रमशः ही वृत्ति का होना बताया है।

एवं अदृष्ट अर्थात् अतीत आदि विषय में तो क्रम से ही वृत्ति का निर्देश किया है। क्योंकि तीन अन्तःकरणों को वृत्ति तत्पूर्विका अर्थात् बाह्येन्द्रियपूर्विका ही होती है, साक्षात् नहीं। जैसा अनुभव होता है, वैसा संस्कार होता है और जैसा संस्कार होता है, वैसी स्मृति होती है। इस प्रकार बाह्येन्द्रियपूर्विका ही अन्तःकरण की वृत्ति होती है।

पूर्व व्याख्या के अनुसार विदित होता है कि 'युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः' इस अंश द्वारा पूर्वपक्षी का मत उपस्थापित कर आचार्य ने 'क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा' इस अंश से उसका निराकरण किया है। इसीलिये दोनों ही अपने-अपने मतानुसार तु शब्द और च शब्द द्वारा अवधारण सूचित करते हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि युगपत् ही वृत्ति होती है और सिद्धान्ती कहता है कि क्रम से ही वृत्ति होती है। किन्तु द्वितीय व्याख्या के अनुसार कारिका की ही द्विविध व्याख्या उपस्थित करते हुए सांख्याचार्य की व्याख्या को अन्त में बताया गया है। इसके अनुसार दृष्ट अर्थ में युगपत् और क्रमशः दो मत हैं किन्तु अदृष्ट अर्थ में उभय मत से क्रमशः ही वृत्ति होती है, यह तात्पर्य हुआ।

[आचार्य वाचस्पति मिश्र 'तु' और 'च' शब्द से अवधारण अर्थ नहीं लेकर दृष्ट स्थल में कहीं युगपत् वृत्ति होती है और कहीं क्रमशः होती है। इस प्रकार दोनों ही व्यवस्था को स्वीकार करते हैं।]

प्रश्न—क्या इन करणों की वृत्ति अपने अपने नियत विषय में होती है? या दूसरे के संसर्ग से (साहचर्य से) मिलजुल कर होती है?

उत्तर—पहले ही 'रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः' यह कहकर

उच्यते—ननु च प्रागेव 'रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः' इति (का० २८) चोक्त्वाऽऽचार्येणान्तेऽपदिष्टम् 'सैषा भवत्यसामान्या' इति (का० २९)। तत्रैवं गते भवतः संशयः कुत इति ?

उच्यते—सत्यमेवैतत्, तथापि जायते संशयः। कुतः ? करणान्तरेण स्वविषयोपलब्धौ करणान्तरौत्सुक्यदर्शनात्। इह करणान्तरेण चक्षुषाऽऽम्र-दाडिमादिरूपोपलब्धौ सत्यां करणान्तरस्य जिह्वालक्षणस्यौत्सुक्यं प्रवृत्तिश्चोपलब्धा। तद्यदि स्वविषयनियतानीन्द्रियाणि, नैषां करणान्तरविषयोपलम्भात् तत्साहचर्यापेक्षः स्वविषयग्रहणभावः स्यात्। अस्ति च। तस्मादुपपन्नः संशयः। तत्र भवतः का प्रतिपत्तिरिति ?

उच्यते—अत्रापि नास्तीन्द्रियाणां स्वविषयग्रहणव्यतिकरः। किं तर्हि ?

आचार्य ने अन्त में कहा है 'सैषा भवत्यसामान्या'। अर्थात् रूपादि विषयों में चक्षुरादि इन्द्रियों की आलोचनमात्र वृत्ति है, और यह सबको अपनी-अपनी असाधारण (नियत-विषयक) वृत्ति है। ऐसी स्थिति में आपको संशय कैसे हो रहा है ?

पूर्वपक्षी—आपका कथन सत्य है; फिर भी संशय होता है। क्योंकि अन्य करण द्वारा अपने विषय की उपलब्धि होने पर अन्य करण में भी अपने विषयग्रहण के प्रति उत्सुकता देखी जाती है। जैसे चक्षुरूप अन्य करण द्वारा आम्र-अनार आदि के रूप की उपलब्धि होने पर जिह्वारूप करणान्तर में भी अपने विषय के प्रति उत्सुकता और प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः इन्द्रियाँ यदि अपने विषय में नियत होतीं तो इनमें करणान्तर द्वारा विषय की उपलब्धि होने पर उसके साहचर्य से अपने विषय के ग्रहण के लिये उत्सुकता नहीं होती; किन्तु होती है। इसलिये उक्त संशय होना उचित ही है। इस स्थिति में आप का (सिद्धान्ती का) निश्चय क्या है ?

सिद्धान्ती—इस स्थिति में भी इन्द्रियों को अपने विषय के ग्रहण में दूसरे के साहचर्य की अपेक्षा नहीं है। किन्तु—

'स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते·······करणम्॥

अर्थात् एक दूसरे का संकेत पाकर भी इन्द्रियाँ अपने अपने नियत विषय में स्वयं ही वृत्ति को प्राप्त करती हैं। इसमें पुरुषार्थ (पुरुष का प्रयोजन) ही कारण है। एक करण को कोई दूसरा प्रेरित नहीं करता है। इसलिये करणों को अपने अपने नियत विषय में ही वृत्ति होती है।

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकी (कां) वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

यस्य करणस्य या वृत्तिरुपदिष्टा, तद्यथा श्रोत्रस्य शब्दग्रहणम्, चक्षुषो रूपग्रहणमित्यादि, तामेव प्रतिपद्यन्ते—स्वविषयजिघृक्षयाऽवलम्बन्त इत्यर्थः। परस्परस्याकूतम् परस्पराकूतम्। आकूतमभिप्रायोऽभिसन्धिरित्यर्थः। परस्पराकूतं हेतुः प्रतिपत्तेरस्याः, सेयं परस्पराकूतहेतुकी। परस्पराकूतं प्रतिपत्तेः कारणमिति कृत्वा ताच्छब्द्यं लभते। तद्यथा दधित्रपुषे ज्वरः।

एतदुक्तं भवति-यदा चक्षुषाऽऽम्रदाडिमादिरूपमुपलब्धं भवति, तदा रसनेन्द्रियमुपात्तविषयस्य चक्षुषो वृत्तिं संवेद्य स्वविषयजिघृक्षयौत्सुक्यवद् विकारमापद्यते। रसनेन्द्रियस्य वृत्तिं संवेद्य पादौ विहरणमारभेते हस्तावादानम्, तावद्यावदसौ विषयो रसनेन्द्रिययोग्यतां नीतः। ततो रसनं स्वविषये प्रवर्तते। एवमितरेष्वपि वक्तव्यम्।

जिस करण की जो वृत्ति कही गयी है, जैसे श्रोत्र इन्द्रिय की शब्दग्रहण, चक्षु इन्द्रिय की रूपग्रहण आदि; वे करण उसी वृत्ति को अपनाते हैं। अर्थात् अपने विषय के ग्रहण की इच्छा से उसी विषय की वृत्ति का अवलम्बन करते हैं; और वह वृत्ति परस्पराकूतहेतुकी होती है। यहाँ परस्पर का आकूत परस्पराकूत है। आकूत का अर्थ है—अभिप्राय या अभिसन्धि। परस्पर का आकूत (अभिप्राय) ही स्व-स्व वृत्ति अपनाने का हेतु है; इसलिये वह वृत्ति परस्पराकूतहेतुकी है। इस प्रकार वृत्ति के प्रति परस्पराकूत के हेतु होने से वृत्ति के लिये 'परस्पराकूतहेतुक' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे दधि और त्रपुप ज्वर के कारण हैं; इसलिये ज्वर के लिये 'दधि-त्रपुष' शब्द का प्रयोग होता है।

निष्कर्ष यह है कि जब चक्षु को आम्र-दाडिम आदि का रूप उपलब्ध होता है, तब रसनेन्द्रिय विषयसंयुक्त चक्षु की वृत्ति को जानकर अपना विषय रस को ग्रहण करने की इच्छा से उत्सुक हो जाता है और विकार (वृत्ति) को प्राप्त कर जाता है। एवं रसनेन्द्रिय की वृत्ति को जानकर पैर चलने लगते हैं, हाथ पकड़ने लगते हैं। पैर और हाथ की उक्त क्रियायें तब तक होती रहती हैं; जब तक वह विषय रसनेन्द्रिय द्वारा आस्वाद के योग्य नहीं बन जाता। उसके अनन्तर स्वविषय में रसनेन्द्रिय की वृत्ति उत्पन्न होती है। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी कहना चाहिये, या जानना चाहिये।

आह—यद्येवं, तेन तर्हीन्द्रियान्तरवृत्तिसंवेदनेऽक्षप्रत्ययवत्त्व-प्रसङ्गः। यदि तर्हीन्द्रियान्तरेणेन्द्रियान्तरस्य वृत्तिः संवेद्यते, प्राप्तमस्य प्रत्ययवत्त्वम्। अथाऽप्रत्ययमिन्द्रियम्, परस्पराकूतसंवेदनं तर्हि न वाच्य-मिति।

किञ्च परस्परं द्वारिद्वारभावप्रसङ्गश्च। इन्द्रियान्तरं चेदिन्द्रियान्त-रस्य वृत्तिं संवेद्य स्वार्थमाकाङ्क्षेत्, प्राप्तमस्य द्वारित्वमितरस्य च द्वार-त्वम्। तदयुक्तमिन्द्रियाणां परस्पराकूतसंवेदनमिति।

उच्यते—न, उपचारात्। प्रागेवोपदिष्टमस्माभिरप्रत्ययमिन्द्रिय-मिति। किं तर्हि स्वविषयस्य पटोः सहचारिणमर्थमिन्द्रियान्तरविषयता-मापन्नं संस्पृश्य स्वभावत इन्द्रियान्तरं स्वविषयं प्रति साकाङ्क्षं भवति, तत्सन्निधौ विक्रियादर्शनात्। तत्र संवेदनमुपचर्यैवमुच्यते इत्यदोषः।

किञ्चान्यत्, भौतिकावयवप्रत्यय विवृत्तिवत् तद् विवृत्तेः। यथा

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा है, तब तो दूसरी इन्द्रिय की वृत्ति का ज्ञान दूसरी इन्द्रिय को होने पर दूसरी इन्द्रिय को भी उस विषय का प्रत्यय (निश्चयात्मक ज्ञान) होना चाहिये। अर्थात् यदि अन्य इन्द्रिय से अन्य इन्द्रिय की वृत्ति का ज्ञान होता है; तब यह इन्द्रिय भी उस विषय की प्रतीति (निश्चय) करने लगेगी। यदि कहो कि उक्त प्रत्यय दूसरी इन्द्रिय को नहीं होता है; तो आप को यह नहीं कहना चाहिये कि इन्द्रियों में परस्पर आकूत का संवेदन होता है।

एवं, इन्द्रियों में भी परस्पर द्वारिद्वारभाव होने लगेगा। अर्थात् अन्य इन्द्रिय यदि अन्य इन्द्रिय की वृत्ति को जानकर ही अपने विषय के प्रति आकाङ्क्षावान् हो; तब इसमें यह इन्द्रिय द्वारी बन जायेगी और दूसरी इन्द्रिय द्वार बन जायेगी। अतः यह ठीक नहीं होगा कि इन्द्रियों के परस्पर आकूत का संवेदन इन्द्रियाँ करती हैं।

सिद्धान्ती—उक्त शङ्का (पूर्वपक्ष) नहीं हो सकती है। क्योंकि इन्द्रियान्तर की वृत्ति का संवेदन इन्द्रियान्तर को होता है, यह औपचारिक प्रयोग है। कारण, पूर्व में हमने कह दिया है कि इन्द्रिय को प्रत्यय नहीं होता है; किन्तु पटु अर्थात् ग्रहण करने के योग्य जो अपना विषय, उसका सहचारी इन्द्रियान्तर का विषयभूत अर्थ के सम्पर्क को पाकर स्वभाव से ही दूसरी इन्द्रिय भी अपने विषय के प्रति साकाङ्क्ष हो जाती है। क्योंकि विषयान्तर की सन्निधि में उस इन्द्रिय में विक्रिया हुई देखी जाती है। इसलिये उस इन्द्रिय में उपचार द्वारा ही संवेदन होना कहा जाता है। अतः कोई दोष नहीं है।

बुद्धेः प्रसादसमनन्तरं भौतिकानामवयवानां मुखनयनादीनां प्रसादो भवति, न चैषां प्रत्ययवत्त्वम्, एवमिहापि स्यात्, न च प्रत्ययवत्त्वम् ।

एतेन द्वारिद्वारभावः प्रत्युक्तः । मनोऽधिष्ठानसामर्थ्याद् वा ।

अथवा परस्परविषयमाकूतं परस्पराकूतम्, यथा जलविषयः पुरुषो जलपुरुषः । आकूतमिच्छा संकल्पो मन इत्यर्थः । स हेतुरस्याः, सेयं परस्पराकूतहेतुकी, ताम् ।

एतदुक्तं भवति—यदा किञ्चिदिन्द्रियं विषये प्रवृत्तं भवति, तदा तद्द्वारेण समस्तमर्थमुपलभ्य तत्सहचारिणमर्थान्तरमाकाङ्क्षदिन्द्रियान्तरं वृत्त्या प्रतितिष्ठते । तेनाकाङ्क्षावता मनसाऽधिष्ठितमिन्द्रियं विक्रियामापद्यते ।

और भी; भौतिक अवयव के प्रत्यय का जैसे विवरण (व्याख्या) होता है, वैसे ही इन्द्रिय प्रत्यय का भी विवरण होगा । अर्थात् जैसे बुद्धि की प्रसन्नता के अनन्तर भौतिक अवयव जो मुख नयन आदि हैं; उनमें प्रसाद देखा जाता है; फिर भी बुद्धि प्रत्ययवती होती है; किन्तु मुख नेत्रादि प्रत्ययवान् नहीं होते । वैसे ही यहाँ भी होगा । अर्थात् दूसरी इन्द्रिय (नेत्रादि) के आकूत से वृत्तिमान् होने पर भी जिह्वा आदि इन्द्रिय प्रत्ययवान् नहीं हो सकेगी ।

इससे इन्द्रियों में द्वारिद्वारभाव का जो प्रसङ्ग दिया है; वह भी खण्डित हो गया । अर्थात् जैसे पूर्वोक्त बुद्धि और मुख नेत्र आदि में उक्त परिस्थिति में द्वारिद्वारभाव नहीं होता; वैसे यहाँ भी परस्पराकूत का संवेदन होने पर भी इन्द्रियों में द्वारिद्वारभाव की प्रसक्ति नहीं होगी ।

अथवा मन से अधिष्ठित होकर इन्द्रियाँ अपना अपना व्यापार करती हैं । अतः अपनी वृत्ति के लिये इन्द्रियान्तर की वृत्ति के संवेदन की अपेक्षा इन्द्रियान्तर को नहीं रहती है; इसलिये इन्द्रिय में प्रत्ययवान् होने के पूर्वोक्त प्रसङ्ग का प्रश्न ही नहीं है ।

अर्थात् परस्पर विषयक जो आकूत वह परस्पराकूत है । जैसे जल की इच्छा करने वाला पुरुष जलपुरुष कहा जाता है; वैसे परस्पर विषय का आकूत करने वाला (संकल्प करने वाला) मन परस्पराकूत है । आकूतशब्द का अर्थ है—इच्छा-संकल्प या मन । अतः ऐसा मन (आकूत) है हेतु जिसका वह वृत्ति परस्पराकूत हेतुकी वृत्ति है । उस वृत्ति को इन्द्रियां अपनाती हैं ।

यह अभिप्राय है—जब कोई इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त होती है; तब उस इन्द्रिय के द्वारा सम्पूर्ण अर्थ को जानकर उस विषय के सहचारी अन्य अर्थ की आकाङ्क्षा करता हुआ मन अपनी वृत्ति द्वारा अन्य इन्द्रिय के प्रति सम्बन्धित होता

तथा च तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्—'यस्य यस्येन्द्रियस्य विषयं मनो ध्याय-त्यभिसम्पत्त्यर्थेन, तस्य तस्यौसुक्यं प्रवृत्तिश्च भवतीति।

एतदुक्तम्—'स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकीं वृत्तिम्' इति। किमिन्द्रियं मनो वृत्त्याऽधिष्ठाय स्वविषये प्रवर्तयति यथा परश्वादींश्चैत्र इति? नेत्युच्यते। किं तर्हि? स्वविषयसंकल्पानुगृहीतस्य मनसः संस्पर्शात् स्वयमेवेन्द्रियं स्वविषयं प्रतिपद्यते। कस्मात्? प्रयोगशक्त्य-सिद्धेः। न हि यथा चैत्रस्य परश्वादिप्रयोगशक्तिः सिद्धा, एवं मनस इन्द्रियप्रयोगशक्तिः। तस्मादयुक्तमिन्द्रियस्य मनः प्रेरकमिति।

रज इति चेत्, स्यान्मतम्—रजसो ह्यीन्द्रियान्तरप्रयोगसामर्थ्यं विद्यते। तस्मादयुक्तमुक्तम् प्रयोगशक्त्यसिद्धेर्नेन्द्रियाणां मनः प्रयोजक-

---

है। इस प्रकार विषयान्तर की आकाङ्क्षा वाले मन से अधिष्ठित इन्द्रिय विक्रिया को प्राप्त करती है अर्थात् अपनी वृत्ति को प्राप्त करती है।

जैसा कि अन्य तन्त्र में भी कहा गया है—

'यस्य यस्य ...... इत्यादि।

अर्थात् जिस जिस इन्द्रिय के विषय का ध्यान या संकल्प मन करता है उप-लब्धि के लिये; उस इन्द्रिय में उत्सुकता उत्पन्न होती है तथा वृत्ति के लिये उसकी प्रवृत्ति होती है।

शङ्का—यह कहा गया है कि 'इन्द्रियाँ परस्पराकूतहेतुकी अपनी वृत्ति को प्राप्त करती हैं' यहाँ क्या मन अपनी संकल्पवृत्ति से अधिष्ठित करके इन्द्रिय को अपने विषय में प्रवृत्त कराता है? जैसे चैत्र अपने संकल्प से परशु आदि को लकड़ी के प्रति प्रवृत्त कराता है।

समाधान—वैसा नहीं है; किन्तु स्वविषयसम्बन्धी संकल्प से युक्त मन के संसर्ग से स्वयं ही इन्द्रिय अपने विषय के प्रति प्रवृत्त होती है। क्योंकि मन में इन्द्रियों को प्रयुक्त करने की शक्ति असिद्ध है। अर्थात् जैसे चैत्र में परशु आदि को प्रयुक्त करने की शक्ति है; वैसे मन में इन्द्रियों को प्रयुक्त करने की शक्ति सिद्ध नहीं है। इसलिये यह कहना अयुक्त है कि मन इन्द्रियों का प्रेरक है।

पूर्वपक्ष—रजोगुण इन्द्रिय का प्रयोजक होगा। अर्थात् मनोगत रजोंश में इन्द्रियान्तर को प्रेरित करने की सामर्थ्य है। इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं है कि मन में प्रयोजकशक्ति की सिद्धि नहीं होने से मन इन्द्रियों का प्रयोजक (प्रेरक) नहीं है।'

मिति। एतच्चायुक्तम्। कस्मात्? अविशेषात्। इन्द्रियान्तरेऽपि हि तर्हि रजोऽस्तीत्यत आत्मभूतेनैवास्य निमित्तेन प्रवृत्तिरप्रतिषिद्धा, किं मनसा परिकल्पितेनेति?

किञ्चान्यत्, करणान्तरानुपपत्तेः। चैत्रो हि परश्वादीनां प्रयोगं करणान्तरेण करोति, न तु मनसः करणान्तरमस्तीत्यसमानम्। पाणिवदितिचेत्, न, चैत्रव्यापारापेक्षत्वात्। तदपि हि चैत्रव्यापारापेक्षं प्रवर्तते न स्वतः।

किंच तद्व्यतिरेकेण प्रवृत्त्युपलब्धेः। यस्य हि प्रयोजकान्तरापेक्षा प्रवृत्तिः, न तस्य कदाचिदपि स्वतन्त्रस्य भवति। अस्ति खलु संकल्पव्यतिरेकेण मेघस्तनितादिष्विन्द्रियस्य प्रवृत्तिः तस्मान्नेन्द्रियान्तरस्य मनः

उत्तरपक्ष—उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि तब मन में और इन्द्रिय कोई विशेषता नहीं होने से मन की कल्पना निरर्थक हो जायेगी। अर्थात् इन्द्रियान्तर का स्वरूपभूत रजोगुणरूप निमित्त से ही प्रवृत्ति हो गयी; प्रवृत्ति का प्रतिषेध हुआ नहीं। ऐसी स्थिति में अतिरिक्त मन की परिकल्पना की आवश्यकता ही क्या है?

और भी, मन को प्रयोजक मानने पर करणान्तर अनुपपन्न है। अर्थात् चैत्र परशु आदि को अपने से भिन्न करणान्तर से (पाणि आदि से) प्रेरित करता है। मन को यदि परशुस्थानीय इन्द्रियान्तर का प्रयोजक माना जाता है; तो वहाँ प्रयोजक मन का कोई करणान्तर है नहीं; जिसके द्वारा वह इन्द्रियान्तर को प्रेरित कर सकेगा।

यदि कहो कि जैसे पाणि विना किसी करणान्तर के परशु का प्रयोजक होता है, वैसे ही मन भी बिना किसी करणान्तर की अपेक्षा किये इन्द्रियान्तर का प्रयोजक होगा—तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि पाणि तो चैत्रव्यापार की अपेक्षा करता हुआ प्रवृत्त होता है, स्वतः नहीं। मन को तो आप चैत्र के समान स्वतः प्रयोजक मानते हैं; अतः उसे तो करणान्तर की अपेक्षा होगी ही जिसके द्वारा वह इन्द्रियान्तर का प्रयोजक हो सकेगा। किन्तु मन को कोई करणान्तर है नहीं; इसलिये वह इन्द्रियान्तर का प्रयोजक नहीं बन सकता है।

एवं, किसी प्रयोजक के बिना भी स्वतः इन्द्रिय की प्रवृत्ति देखी जाती है। जिसकी तो प्रयोजकान्तर की अपेक्षा से प्रवृत्ति होती है; उसकी कभी भी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती है। इन्द्रिय की तो संकल्प के बिना भी मेघस्तनितादि स्थलों में विविध प्रवृत्तियाँ होती हैं। इससे सिद्ध है कि रूपदर्शन के अनन्तर रसास्वादन के निमित्त

कारकम् । न चेत् कारकम्, यथा मौलानां गुणानामेवमिहापि पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणमिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

आह—करणं प्रत्याचार्यविप्रतिपत्तेः [तदवधारणं कर्तव्यम् । इहाचार्याणां करणं प्रति विप्रतिपत्तिः] एकादशविधमिति वार्षगणाः । दशविधमिति तान्त्रिकाः पञ्चाधिकरणप्रभृतयः । द्वादशविधमिति पतञ्जलिः । तस्माद् भवतः कतिविधं करणमभिप्रेतमिति वक्तव्यमेतत् ।

उच्यते—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।

पञ्चकर्मेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि मनोऽहङ्कारो बुद्धिश्चेत्येतत् सर्वं पुरुषार्थोपयोगिकरणम् । कस्मात् ? अपुरुषार्थत्वे तत्त्वान्तरानुपपत्तिप्रसङ्गात् । यदि यथा वार्षगणा आहुः—लिङ्गमात्रे [त्रो]महानसंवेद्यः

जिह्वारूप इन्द्रियान्तर का कारक (प्रयोजक) मन नहीं है। इस प्रकार जब मन इन्द्रियान्तर का प्रयोजक नहीं है; तब सृष्टि के आदि में जैसे मौलिक सत्त्वादि गुणों की प्रवृत्ति का हेतु पुरुषार्थ होता है; वैसे यहाँ भी पुरुषार्थ हो इन्द्रियान्तर की प्रवृत्ति का हेतु है। किसी अन्य कारक से प्रयुक्त होकर इन्द्रियान्तर अपना कार्य (वृत्ति) नहीं करता है। यह सांख्य का सिद्धान्त है ॥ ३१ ॥

पूर्वपक्षी—करण के प्रति आचार्यों में मतभेद है; इसलिये करण का निर्णय करना चाहिये। अर्थात् यहाँ आचार्यों में करण के प्रति विरुद्ध मान्यता है। जैसे—एकादश प्रकार का करण है, यह वार्षगण मानते हैं। दस प्रकार का करण होता है,यह पञ्चाधिकरण प्रभृति शास्त्रकार मानते हैं। द्वादश प्रकार क करण है; यह पतञ्जति का मत है। इसलिये आपको कितने प्रकार का करण अभिप्रेत है, यह कहना चाहिये।

सिद्धान्ती—'करणं त्रयोदशविधम् ······इत्यादि।

अर्थात् करण त्रयोदश प्रकार का होता है; और वह आहरण धारण और प्रकाश करने वाला है। इसमें पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च बुद्धीन्द्रिय, मन, अहङ्कार और बुद्धि ये सब पुरुषार्थ के प्रयोजक करण हैं। क्योंकि पुरुषार्थ का प्रयोजक न होने पर अन्य तत्त्वों की उपपत्ति न हो सकेगी। यदि जैसा कि वार्षगण कहते हैं—'लिङ्गमात्र महान् संवेदन का विषय नहीं होता है। यदि वह कार्यरूप विशिष्टलक्षण और कारणरूप अविशिष्टलक्षण से युक्त होता है तो तत्त्वान्तर की उपपत्ति हो सकेगी।' किन्तु यदि वह

कार्यकारणरूपेण विशिष्टाविशिष्टलक्षणेन[1] तथा स्यात् तत्त्वान्तरम् । तन्न स्यात्, अनर्थकत्वात् ।

आह—सत्यम्, प्रधानलक्षणानां गुणानां वैषम्यमात्ररूपत्वेऽपि तत्त्वान्तरमसौ भविष्यतीति । कस्मात् ? साम्याद् वैषम्यमुपाख्यान्तरमिति ।

एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? तत्त्वानवस्थाप्रसङ्गात् । एवं हि परिकल्प्यमाने प्रधानमहतोर्यदन्तरालं तत्त्वान्तराणां च, तदपि क्रियारूपत्वादक्रियावत उपाख्यान्तरमिति तत्त्वान्तरानवस्थाप्रसङ्गः ।

अभ्युपगमे वा महतस्तत्त्वान्तराणां च क्रियाकालविरोधः । तस्मात् तत्त्वान्तरानुपपत्तिरनवस्था वा, त्रयोदशविधं करणमित्यन्यतरदवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । तत्र चास्मत्प्रतिज्ञातमेव निर्दोषं लक्ष्यते । तस्मादुपपन्नमेतत् त्रयोदशविधं करणमिति ।

पुरुषार्थ का प्रयोजक न हो अर्थात् अनर्थक हो; तो उस स्थिति में तत्त्वान्तर की उपपत्ति न हो सकेगी । इसीलिये इन करणों को पुरुषार्थ का उपयोगी कहा गया है ।

पूर्वपक्ष—पूर्वोक्त कथन ठीक है कि विशिष्ट लक्षण के कारण तत्त्वान्तर होता है । परन्तु ऐसी स्थिति में प्रधान (अव्यक्त) लक्षण जो त्रिगुण हैं, उनका वैषम्यमात्र भी एक तत्त्वान्तर होना चाहिये । क्योंकि साम्य से वैषम्य एक भिन्न स्थिति की संज्ञा है ।

उत्तरपक्ष—उक्त पूर्वपक्ष अयुक्त है । क्योंकि तब तत्त्वों की अनवस्था होने लगेगी । अर्थात् शास्त्र से वैषम्य की स्थिति को यदि भिन्न तत्त्व के रूप में परिकल्पित किया जाय, तो प्रधान और महत्तत्त्व का जो अन्तराल है तथा अन्य तत्त्वों का भी जो अन्तराल है, वह भी अनवस्थित तत्त्वान्तर होने लगेगा । क्योंकि अन्तराल अवस्था अक्रियावस्था है तथा महत् की या तत्त्वान्तर की क्रियावस्था है । ऐसी स्थिति में क्रियावस्था की अपेक्षा अक्रियावस्थारूप अन्तरालावस्था की एक भिन्न संज्ञा होने से तत्त्वों की अनवस्था होने लगेगी ।

एवं, वैसा स्वीकार करने पर महत्तत्त्व का और तत्त्वान्तरों का व्यवस्थित क्रिया और काल में विरोध होने लगेगा । क्योंकि तत्त्वों की अव्यवस्था होने से किस को क्या क्रिया होगी और क्या काल होगा, यह अनिश्चित हो जायगा । इसलिये तत्त्वों में पुरुषार्थ की उपयोगिता की दृष्टि न मानने पर या तो तत्त्वान्तर की अनुपपत्ति या अनवस्था स्वीकार करनी होगी अथवा पुरुषार्थोपयोगिता की दृष्टि से करण त्रयोदशविध ही मानना होगा । इन दोनों पक्षों में कोई एक स्वीकार करना होगा । यहाँ पर

---

१. अविशिष्टो विशिष्टलक्षणेन इति क्वचित् पाठः ।

आह—करणमिति क्रियाकारकसम्बन्धगर्भोऽयं निर्देशः। कथम् ? येन (क्रियते) तत्करणमिति। तत्र वक्तव्यम्—का क्रिया किञ्च तत्क्रियते यदपेक्ष्य बुद्ध्यादीनां करणत्वमिति ?

उच्यते—यदुक्तं का क्रियेत्यत्र ब्रूमः—तन्निर्वर्तकमिहाभिप्रेतम् न, दण्डादिवत्[1], किन्तर्हि ? तदाहरणधारणप्रकाशकरम्। तत्राऽऽहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, विषयार्जनसमर्थत्वात्। धारणं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति, विषयसन्निधाने सति श्रोत्रादिवृत्तेस्तद्रूपापत्तेः। प्रकाशमन्तःकरणं करोति, निश्चयसामर्थ्यात्।

अपर आह—आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति। धारणं मनोऽहङ्कार-

हमारे द्वारा प्रतिपादित पक्ष ही निर्दोष दीखता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि करण त्रयोदशविध ही होता है।

पूर्वपक्षी—'करण' यह निर्देश क्रिया और कारक के सम्बन्ध से गर्भित है। है। अर्थात् 'करण' इस शब्द से किसी क्रिया और किसी कारक का सम्बन्ध सूचित होता है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—जिससे किया जाय वह करण कारक है।

इस स्थिति में सांख्यवादी को यह बताना चाहिये कि क्रिया क्या है ? और वह कौन सी वस्तु की जाती है ? जिसकी अपेक्षा से बुद्धि आदि को करण कहा जाता है ?

सिद्धान्ती—सबसे प्रथम प्रश्न जो किया कि क्रिया क्या है ? इस विषय में हम कहते हैं—उस विषय का निर्वर्तक (उत्पादक) यहाँ अभिप्रेत नहीं है, जैसे दण्डादि साधन द्वारा घट का उत्पादन किया जाता है। अर्थात् क्रिया का अर्थ करण द्वारा विषय का उत्पन्न किया जाना नहीं है। किन्तु क्रिया का अर्थ है—करण द्वारा विषय का आहरण, धारण और प्रकाशन। इनमें कर्मेन्द्रियाँ विषय का आहरण करती हैं, क्योंकि वे विषय का अर्जन (प्राप्ति) करने में समर्थ हैं। विषय का धारण करना, बुद्धीन्द्रियों का काम है; क्योंकि विषय का सन्निधान होने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियों की वृत्तियां विषयाकार को प्राप्त कर जाती हैं। अर्थात् श्रोत्र आदि इन्द्रियों की वृत्ति विषयाकारा हो जाती है, यही बुद्धीन्द्रिय द्वारा विषय का धारण है। विषय को प्रकाशित करना अन्तःकरण का काम है; क्योंकि विषय का प्रकाश (निश्चय) कराने में अन्तःकरण ही समर्थ है।

अन्य आचार्य का कहना है—कर्मेन्द्रियाँ आहरण करती हैं। मन और अहङ्कार

---

१. 'न तन्निर्वर्त्यमिहाभिप्रेतम्, दण्डादिवत्' इति चक्रवर्तिपाठः।

रश्च । प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति । एतदभिसन्धाय बुद्ध्यादीनां करणत्वमुच्यत इति ।

यत्तूक्तम्, किं कार्यमिति ? उच्यते—

कार्यं च तस्य दशधा, आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥

दशधेति पञ्च विशेषाः पञ्चाविशेषा । तदप्यत एव कार्यशब्दं लभते—तद्ध्याहर्तव्यं धारणीयं प्रकाशयितव्यं च । अतः कार्यमित्युच्यते, न निर्वर्त्यत्वात् ॥ ३२ ॥

एतस्मिंस्त्रयोदशविधे तु करणे त्रयोदशं कतरदिति ?

उच्यते—बुद्धिरहङ्कारो मनश्चेति । तस्मात्—

अन्तःकरणं त्रिविधम्,

कस्मात् ? विषयानभिसन्धानात् । श्रोत्रादिप्रणालिकया विषयसंप्रतिपत्तेः । अविशेषाभिधानाद् बुद्ध्यादिप्रतिपत्तिरयुक्तेति चेत्, स्यान्मतम्—

विषय का धारण करते हैं तथा बुद्धीन्द्रियाँ और बुद्धि (महत्तत्त्व) विषय का प्रकाशन करते हैं। इसी अभिप्राय से बुद्धि आदि को करण शब्द से कहा जाता है।

यह जो पूछा कि करण का कार्य क्या है ? उस पर कहते हैं—'कार्यं च तस्य दशधा'। अर्थात् करण का कार्य दस प्रकार का होता है। इसमें पाँच विशेष और पाँच अविशेष (सामान्य) कार्य हैं। पञ्च महाभूत विशेष कार्य हैं और पञ्च तन्मात्रायें अविशेष कार्य हैं। वह भी इसीलिये कार्य शब्द से कहा जाता है कि वह आहार्य होता है, धार्य होता है और प्रकाश्य होता है। ऐसा नहीं है कि वह निर्वर्त्य (उत्पाद्य) होता है। अर्थात् वह आहरणीय धारणीय और प्रकाशनीय होने के कारण कार्य कहा जाता है; न कि निर्वर्त्य (उत्पाद्य) होने के कारण ॥ ३२ ॥

प्रश्न—इस त्रयोदश प्रकार के करण में त्रयोदश कैसे होता है ?

उत्तर—बुद्धि अहङ्कार और मन को मिलाकर त्रयोदश होता है। इसलिये अन्तःकरण त्रिविध है—बुद्धि अहङ्कार और मन।

प्रश्न—ये तीनों अन्तःकरण क्यों हैं ?

उत्तर—इनके द्वारा साक्षात् विषय का बोध नहीं होने से ये अन्तःकरण हैं। अर्थात् श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा ही इन्हें विषय की प्रतिपत्ति होती है, इसलिये अन्तःकरण हैं।

पूर्वपक्ष—अविशेष (सामान्य) रूप से कहने के कारण बुद्धि-अहङ्कार और मन

तम्—अविशेषेणेदमुक्तमाचार्येण 'अन्तःकरणं त्रिविधम्' इति। तत्र कथमिदमवगम्यते बुद्ध्यहङ्कारमनसां ग्रहणमिहाभिप्रेतं न पुनरन्येषामिति ?

उच्यते—न, प्रथमसंख्याव्यतिक्रमहेत्वनुपपत्तेः। बुद्ध्यादिसंख्यां हि व्यतिक्रममाणस्य प्रतिपत्तौ नास्ति हेतुः। तस्मात् तेषामेव ग्रहणम्। यथा, 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत, इति'[1]।

श्रोत्रस्यान्तःकरणत्वप्रसङ्गादयुक्तमिति चेत्, स्यादेतत्-बुद्धिमहङ्कारं चोक्त्वा तत आह—'बुद्धीन्द्रियाणि कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि' इति। (का० २६)। तस्माच्छ्रोत्रमन्तःकरणं प्रसज्यत इति।

रूप विशेष का बोध अयुक्त है। अर्थात् 'अन्तःकरणं त्रिविधम्' ऐसा आचार्य ने सामान्यतः कहा; किसी का नाम नहीं लिया। ऐसी स्थिति में यह कैसे जाना जाता है कि आचार्य को यहां बुद्धि-अहङ्कार और मन का ग्रहण अभिप्रेत है, किन्हीं अन्यों का नहीं ?

समाधान—उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम (पूर्व में) उक्त बुद्धि आदि की गणना का उल्लङ्घन करने का कोई कारण अनुपपन्न है। अर्थात् बुद्ध्यादि की गणना का उल्लङ्घन करने वाले को अन्तःकरण के रूप में किसी अन्य की प्रतिपत्ति करने का कारण नहीं है। इसलिये अन्तःकरण के रूप में बुद्धि अहङ्कार और मन का ही ग्रहण किया गया है। जैसे 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' यहाँ पर किया गया है। तात्पर्य यह है—'कपिञ्जलान्' यहाँ बहुवचन का प्रयोग होने पर भी बहुत्व का सम्पादक प्रथम त्रित्वसंख्या का उल्लङ्घन कर चतुष्ट्वादि का ग्रहण करने में कोई हेतु नहीं है। अतः त्रित्वसंख्या विशिष्ट कपिञ्जल के आलम्भनविधान में ही शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाने से उससे अधिक के आलम्भन की कल्पना नहीं की जाती है। उसी तरह 'अन्तःकरणं त्रिविधम्' यहाँ बुद्धि-अहङ्कार और मन का ही त्रिविध अन्तःकरण के रूप में ग्रहण होगा, इनसे भिन्न का नहीं।

पूर्वपक्षी—'अन्तःकरणं त्रिविधम्' यहाँ बुद्धि अहङ्कार मन का ग्रहण करना अयुक्त है; क्योंकि श्रोत्र में अन्तःकरणत्व का प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् बुद्धि और अहङ्कार को कहकर उसके बाद 'बुद्धीन्द्रियाणि कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि' (का० २६) यह आचार्य ने कहा है। अतः पूर्वोक्त दो बुद्धि-अहङ्कार के साथ अनन्तरोक्त श्रोत्र ही अन्तःकरण के रूप में प्राप्त हो रहा है।

---

१. मीमांसादर्शन शास्त्रदीपिका अ० ११ पा० १ अधि० ६।
   यु० दी० ५६

एतदनुपपन्नम् । कस्मात् ? मनसः पृथगभिधानात् । अतएवेदमाचार्येणापेक्ष्य मनसोऽन्तःकरणत्वं पृथगुक्तम्—'तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्, अन्तस्त्रिकालविषयम्' इति (का० २७)। तस्मादुपपन्नमन्तःकरणं त्रिविधं बुद्ध्यादीति ।

दशधा बाह्यम्,

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीत्येतद् बाह्यं दशप्रकारमाचार्यैराख्यायते ।

आह—दशधा बाह्यमित्यस्यानर्थक्यम्, परिशेषबुद्धेः । अन्तःकरणं त्रिविधमित्युक्ते गम्यत एतत् परिशेषादेव दशधा बाह्यमिति । तस्मात् तद्ग्रहणमनर्थकमिति ।

उच्यते—न, विषयार्थत्वात् । त्रयस्य विषयाख्यमित्येवं वक्ष्यामीत्याचार्य आरभते । अक्रियमाणे त्वस्मिन् किं तत् त्रयस्य विषयाख्यमिति न ज्ञायते ।

उत्तरपक्ष—उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि मन को पृथक् अन्तःकरण के के रूप में कहा गया है। अर्थात् इसी अपेक्षा से आचार्य ने मन को पृथक् अन्तःकरण रूप में कहा है—तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम् अन्तस्त्रिकालविषयम्' ऐसा। इस कारिका में स्पष्ट रूप में मन को अन्तःकरण कहा है। इसलिये यह कथन ठीक ही है कि बुद्धि अहङ्कार और मन ये ही तीन अन्तःकरण है। श्रोत्र में अन्तःकरणत्व का प्रसङ्ग नहीं होगा।

बाह्येन्द्रिय दश प्रकार की है। अर्थात् पञ्च बुद्धीन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय ये दस प्रकार की बाह्येन्द्रियाँ आचार्य द्वारा कही गयीं हैं।

पूर्वपक्ष—'दशधा बाह्यम्' यह कहना निरर्थक है; क्योंकि परिशेष से ही उसकी प्रतीति हो जायगी। अर्थात् 'अन्तःकरणं त्रिविधम्' यह कहने पर यह बात परिशेष से ही अवगत हो जाती है कि बाह्य इन्द्रियाँ दस प्रकार की हैं; इसलिये 'दशधा बाह्यम्' यहाँ दशधाशब्द का उल्लेख निरर्थक है।

उत्तरपक्ष—उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि विषयकथन के प्रयोजन से दशधाशब्द का उल्लेख है। अर्थात् 'दशधा बाह्यम्' ऐसा आचार्य इसलिये प्रारम्भ में कहते हैं कि त्रयस्य विषयाख्यम्' ऐसा उन्हें आगे कहना है। अर्थात् दस बाह्येन्द्रियां तीन अन्तःकरणों के विषय को प्रस्तुत करती हैं। ऐसी स्थिति में यदि 'दशधा बाह्यम्'

आह—एवमपि विषयग्रहणात् सिद्धेर्बाह्यग्रहणमपार्थकमिति ।

उच्यते—वक्तव्यं तावदिदमवश्यं विषयभावप्रतिपत्त्यर्थम् । तत्र शेषे वा यथान्यासं वोच्यमाने न कश्चिद् विशेषः । अथवा नेदं बाह्यं संज्ञाप्रतिपत्त्यर्थमारभ्यते ! किन्तर्हि ? नियमार्थम् । कथम् ? दशधा बाह्यं शब्दादिविषयग्रहणभूतमेव त्रयस्यापि विषयाख्यं यथा स्यात्, मा भूदन्तः प्राणादिभूतम् । अथवा दशधैव बाह्यम् । भेदविषयं बाह्यमित्यर्थः । प्राणादिभूतस्य तु भेदो नास्तीत्यदोषः ।

तदेतत्—

त्रयस्य विषयाख्यम् ।

ऐसा उल्लेख आचार्य न करते तो तीनों अन्तःकरणों के विषय को प्रस्तुत करने वाला क्या है; यह ज्ञात न हो सकेगा ।

पूर्वपक्ष—फिर भी 'बाह्य' पद का ग्रहण करना निरर्थक है; क्योंकि 'त्रयस्य विषयाख्यम्' यहाँ 'विषय' पद के ग्रहण से ही सिद्ध है कि श्रोत्र आदि दस इन्द्रियाँ बाह्य हैं । कारण, विषय को प्रस्तुत करना बाह्येन्द्रिय का ही काम है; क्योंकि अन्तःकरणों का विषय के साथ साक्षात् सम्बन्ध अनुपपन्न है । अतः कारिका में बाह्यपद निरर्थक है ।

समाधान—यहाँ बाह्यपद का उल्लेख अवश्य करना चाहिये; ताकि दस इन्द्रियों के साथ विषयसम्बन्ध की प्रतीति हो सके । ऐसी स्थिति में शेष में (बाद में) अथवा जैसा उपन्यास किया गया है, वैसा पुनः विषय का उल्लेख करने में कोई विशेषता (विरोध) नहीं है ।

आथवा 'बाह्य' इस पद को श्रोत्रादि के लिये बाह्येन्द्रिय इस संज्ञा की प्रतिपत्ति के लिये आचार्य ने नहीं कहा है, किन्तु नियम के लिये कहा है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—ताकि श्रोत्र आदि दस इन्द्रियाँ बाह्य होकर ही अर्थात् शब्दादि विषय का ग्राहक होकर ही बुद्धि आदि तीनों अन्तःकरणों के लिये विषय को प्रस्तुत करती हैं, ऐसा सिद्ध हो सके । ऐसा नहीं है कि अन्तर्वर्ती प्राणादि होकर वह विषय को प्रस्तुत करती हैं । क्योंकि प्राणादि को सामान्यकरणवृत्ति के रूप में कहा जा चुका है ।

अथवा बाह्येन्द्रियाँ दस प्रकार की ही होती हैं । अर्थात् बाह्य इन्द्रियाँ शब्द आदि भिन्नविषयक ही होती हैं । प्राणादिभूतका तो विषयभेद नहीं होता है । अतः नियमार्थ होने से 'दशधा बाह्यम्' यह कथन निरर्थक नहीं है ।

बुद्ध्यहङ्कारमनोलक्षणस्य हि त्रयस्योपात्तविषया बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियवृत्तयः सम्पर्काद् विषयरूपप्रत्ययवभासनिमित्ततामुपगच्छन्त्यो विषयाख्यतां लभन्ते । तथा मनोऽहङ्कारावपि बुद्धेः । बुद्धिस्तु निश्चयरूपत्वात् करणान्तरनिरपेक्षा सर्वमर्थं प्रवृत्तौ प्रति[1] निश्चयरूपेणाऽध्यस्तं पुरुषायोपसंहरति ।

तत्र शब्दादिसन्निधाने वृत्तीनां ताद्रूप्यापत्तेः तदपगमे च ताद्रूप्यापगमात् प्राप्यकारि—

साम्प्रतकालं बाह्यम्,

उपात्तविषयेन्द्रियवृत्तिसन्निधानात्तु तदाकारसंस्काराधाननिमित्त-प्रत्ययवशात्—

यह दशविध बाह्येन्द्रिय बुद्धि-अहङ्कार और मन इन तीनों के लिये विषय का आख्यान करती हैं, या विषय को प्रस्तुत करती हैं। अर्थात् बुद्धि अहङ्कार मनरूप त्रितय (त्रिपुटी) के लिये सम्पर्क पाकर शब्दादिविषयाकारता को प्राप्त हुई बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की वृत्तियां विषयभान का निमित्त बनती हैं; और इसीलिये उक्त त्रितय के लिए विषयाख्यता को प्राप्त करती हैं। यहाँ 'विषयान् आख्यान्ति इति विषयाख्याः, तासां भावो विषयाख्यता, तां लभन्ते' ऐसी व्याख्या समझनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि बुद्धीन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बुद्धि आदि तीन के लिये विषय को प्रस्तुत करती हैं। क्योंकि इन तीनों को शब्दादि विषय के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है।

एव इन तीनों में भी मन और अहङ्कार बुद्धि के लिये विषय प्रस्तुत करते हैं; क्योंकि इन दोनों के माध्यम से ही बुद्धि विषय से सम्बद्ध होती है, सीधे नहीं। बुद्धि तो निश्चयरूप होने से अन्य किसी करण की अपेक्षा बिना किये निश्चय का विषय-भूत समस्त शब्दादि अर्थ को आदान या परित्यागरूप प्रवृत्ति के निमित्त पुरुष को समर्पित कर देती है।

इनमें बुद्धीन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियरूप बाह्य करण साम्प्रतकाल होता है; अर्थात् वर्तमानकालिक विषय में ही व्यापारवान् होता है; क्योंकि शब्दादि विषय का सान्निध्य होने पर ही श्रोत्रादि इन्द्रिय की वृत्तियाँ शब्दाद्याकार होती हैं और शब्दादि विषय के हट जाने पर इन्द्रियवृत्ति की तदाकारता (शब्दाद्याकारता) भी समाप्त हो जाती है। इसीलिये बाह्यकरण सर्वदा प्राप्यकारी होता है। यहाँ प्राप्य अर्थात् संसर्ग प्राप्त कर व्यापार करने के कारण शास्त्र में बाह्यकरण को प्राप्यकारी कहा गया है।

एवं सम्बद्ध विषयाकारा जो इन्द्रियवृत्ति, उसका सन्निधान प्राप्त होने पर शब्दा-

१. प्रत्ययवभासरूपेणेत्यर्थः ।

त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

आह—प्राक्छब्दादिषु श्रोत्रादीनामालोचनमात्रं वृत्तिरित्यविशेषेणोक्तम् । तत्र किं तथैव प्रतिपत्तव्यमथवेन्द्रियाणां विषयविशेषोऽस्तीति ? अथ चोक्तं कार्यं च दशधा विशेषलक्षणमविशेषलक्षणं च । तत्र केन करणेन कस्य विषयस्य ग्रहणमिति ? उच्यते—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।

तेषां पूर्वोक्तानामिन्द्रियाणां यानि बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च श्रोत्रादीनि, तानि विशेषाविशेषविषयाणि प्रतिपत्तृभेदेन । तत्र देवानां यानीन्द्रियाणि, तानि धर्मोत्कर्षाद् विशुद्धान्यविशेषानपि गृह्णन्ति प्रागेव विशेषात्, योगिनां च संप्राप्तविशेषाणाम् । अस्मदादीनां तु विशेषानेव, तमसा परिवृतत्वात् ।

आह—किं कर्मेन्द्रियाणामपि प्रतिपत्तृभेदाद् ग्रहणभेदो भवति ? नेत्युच्यते । किन्तर्हि ? सर्वेषामेव—

वाग् भवति शब्दविषया,

र्विषयाकार संस्कार बनता है और उस संस्कार के कारण अन्तःकरण को बाद में स्मरणात्मक प्रत्यय (ज्ञान) होता है । इसीलिये आभ्यन्तरकरण (अन्तःकरण) त्रिकाल होता हैं । अर्थात् त्रिकालविषयक होता है ॥ ३३ ॥

प्रश्न—पूर्व में शब्दादि विषय के सम्बन्ध में श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) आलोचनमात्र है, ऐसा सामान्यतः कहा गया है । (द्रष्टव्य का० २८) । उस विषय में क्या वैसा ही मानना चाहिये ? अथवा इन्द्रियों का अपना विशेष विषय भी है ? और भी, करण का विशेषलक्षण और अविशेषलक्षण दस प्रकार का कार्य पूर्व में कहा है । वहाँ किस करण से किस विषय का ग्रहण होता है ?

उत्तर—बुद्धीन्द्रियाणि तेषां ··· विषयाणि ।

अर्थात् इन्द्रियों के अन्तर्गत पाँच बुद्धीन्द्रियाँ विशेषविषयक और अविशेष विषयक दोनों होती हैं । अर्थात् पूर्वोक्त इन्द्रियों में जो पाँच बुद्धीन्द्रियाँ हैं वे प्रतिपत्ता पुरुष के भेद से विशेष-अविशेष उभयविषयक होती हैं । उनमें देवताओं की जो इन्द्रियाँ हैं, वे धर्म के उत्कर्ष (अधिकता) के कारण विशुद्ध होने से अविशेषों को भी विशेषग्रहण के पहले ही ग्रहण कर लेती हैं । योगियों की इन्द्रियाँ तो विशेष का ग्रहण करने के बाद अविशेष का ग्रहण करती हैं । हम मनुष्यों की इन्द्रियाँ तो विशेष का ही ग्रहण कर पाती हैं; क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ तम से आवृत रहती हैं ।

प्रश्न—क्या ज्ञानेन्द्रियों के समान कर्मेन्द्रियों के द्वारा भी प्रतिपत्ता जन के भेद से ग्रहण में भेद होता है ?

वागिन्द्रियस्य वाय्वभिहतेषु वदनप्रदेशेषु ताल्वादिषु ध्वनेर्वर्णपद-वाक्यश्लोकग्रन्थभावेन विकारापादनं सर्वप्राणिनामविशिष्टम् ।

आह—अथेतराणि कर्मेन्द्रियाणि कथमिति? उच्यते—

शेषाण्यपि पञ्चविषयाणि ॥ ३४ ॥

पाणिपादपायूपस्थास्तु आदानविहरणोत्सर्गानन्दलक्षणैः कर्मभिः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धसमुदायरूपा मूर्तीर्विकुर्वन्तीति ।

आह—यदि पञ्चविषयाण्येवा (व शेषाणोति[1]) विशेषाणीति नियमोऽभ्युपगम्यते, तेनैकैककरणेष्वादानादिक्रियाऽनुपपत्तिप्रसङ्ग इति ।

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो फिर कैसा होता है ?

उत्तर—सभी प्राणियों की वागिन्द्रिय शब्दविषयक होती है। अर्थात् वायु का आघात पाये हुए तालु आदि मुख के प्रदेशों में उत्पन्न ध्वनि का वागिन्द्रिय द्वारा वर्ण-पद-वाक्य-श्लोक और ग्रन्थ के रूप में विकार पैदा कराना सभी प्राणियों में समान रूप से है।

प्रश्न—यह तो वागिन्द्रिय की बात हुई; किन्तु अन्य कर्मेन्द्रियों की क्या स्थिति है ?

उत्तर—शेष पाणि आदि कर्मेन्द्रियाँ तो पञ्चविषयक होती हैं। अर्थात् पाणि (हाथ) पाद (पैर) पायु (गुदेन्द्रिय) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) तो क्रमशः आदान (पकड़ना) विहरण (चलना फिरना) उत्सर्ग (मल आदि का त्याग) और आनन्दरूप अपने कर्मों से शब्द-स्पर्श-रस-रूप और गन्ध का समुदायभूत मूर्तियों के रूप में विकार पैदा करते हैं। तात्पर्य यह है कि हाथ जिस मूर्ति (वस्तु) को पकड़ता है, वह शब्दादि पञ्च का समूहरूप होती है। ऐसे पैर के बारे में भी समझना चाहिये। इसलिये आचार्य का यह कथन युक्त है कि वागिन्द्रिय केवल शब्दविषयक होती है। और शेष कर्मेन्द्रियाँ शब्दादि पञ्चविषयक होती हैं।

पूर्वपक्ष—यदि शेष कर्मेन्द्रियाँ (पाणि-पाद-पायु और उपस्थ) शब्दादि पञ्च-विषयक होती हैं, ऐसा नियम स्वीकार करते हैं; तो एक-एक करणों में पृथक्-पृथक् आदान आदि क्रिया अनुपपन्न हो जायेगी। अर्थात् पाणि से विहरण और पाद से आदान क्रिया भी होने लगेगी। ऐसा ही पायु और उपस्थ के बारे में भी प्रसङ्ग हो जायेगा।

---

१. 'पञ्चविषयाण्येव शेषाणीति' पाठोऽत्र युक्तः।

उच्यते—न, नियमप्रतिषेधार्थत्वात् । स्वविषयनियमो बुद्धीन्द्रियवत् कर्मेन्द्रियाणामपि मा विज्ञायीत्यतो नियमप्रतिषेधार्थमिदमारभ्यते । तदर्थमेव च 'अपि' शब्दमाचार्योऽधिजगे । सम्भावनार्थमपि च, पञ्चविषयाण्येतानि, प्रागेव तु चतुस्त्रिविषयाणीति ।

आह—कथमेतदवगम्यते 'विशेषाविशेषविषयाणीन्द्रियाणि, न पुनरसद्विषयाणि' इति ?

उच्यते—विशेषाणामसत्त्वासिद्धेः । प्रत्यक्षतस्तावद् विशेषा उपलभ्यन्ते । तस्मादेषामसत्त्वमशक्यं प्रतिज्ञातुम् ।

अथापि स्यात् साध्यमेतत् प्रत्यक्षमेवैतदनवद्यम्, बाह्यवस्तुविषयमय (यं) मृगतृष्णिकादिविज्ञानवत् प्रत्यक्षाभासम् ।

समाधान—उक्त पूर्वपक्ष नहीं हो सकता । क्योंकि नियम का प्रतिषेध यहाँ विवक्षित है । अर्थात् जैसे बुद्धीन्द्रियों में अपने-अपने शब्दादि विषयों का नियम है; वैसा कर्मेन्द्रियों के लिये भी कोई स्वविषय का नियम न समझ ले; इसलिए विषयनियम का प्रतिषेध करने के लिये 'पञ्चविषयाणि' ऐसा कहा जा रहा है । इसीलिये आचार्य ने 'शेषाण्यपि' यहां 'अपि' शब्द का पाठ किया है । एवं सम्भावना के लिये भी 'अपि' शब्द है । अर्थात् पाणि आदि कर्मेन्द्रियों द्वारा पाचों विषय का ग्रहण सम्भव है, चार-तीन आदि विषय का ग्रहण तो सुतरां सिद्ध है ।

पाणि आदि के द्वारा जिस वस्तु का आदान आदि होता है, वह शब्द आदि पञ्चविषयात्मक चतुर्विषयात्मक या त्रिविषयात्मक भी सम्भव है । अतः यहाँ कोई नियम विवक्षित नहीं है ।

प्रश्न—यह कैसे ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ विशेष और अविशेषविषयक होती हैं, असद् (अलीक) विषयक नहीं होतीं ?

उत्तर—इसलिये कि विशेषों का असत्त्व (अलीकत्व) असिद्ध है; क्योंकि पृथिवी आदि विशेषों की प्रत्यक्ष से उपलब्धि होती है । इसलिये इनका असत्त्व सिद्ध करना अशक्य है । यदि कहो कि विशेषों का यह अनवद्य (निर्दोष) प्रत्यक्ष ही अभी साध्य कोटि में है । अर्थात् असिद्ध है; क्योंकि बाह्यवस्तुविषयक यह सभी प्रत्यक्ष मृगतृष्णिकादि विज्ञान के समान प्रत्यक्षाभासमात्र है—तो यह कथन भी अयुक्त है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—इसलिये कि सभी ज्ञान प्रत्यक्षाभास है—यह विकल्प (कल्पना) अनुप-

एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? विकल्पानुपपत्तेः । सर्वमभूतमभ्युपगन्तव्यम् । यतो नास्ति किञ्चिद् भूतार्थेन प्रत्यक्षं यदपेक्ष्येतरत् प्रत्यक्षाभासं स्यात् । उक्तस्त्वयं विकल्पः । तस्मादयुक्तं ज्ञानमात्रमिदमिति ।

किञ्चान्यत्, विपरीतदर्शनप्रसङ्गात् । मृगतृष्णिकास्वप्नविषयैरसद्भिः सतामसत्त्वमिच्छतस्तद्वदेव विपरीतदर्शनप्रसङ्गः । तथाहि-गन्धर्वनगरादिषु कदाचित्तमेवार्थं गां पश्यति, कश्चिद्गजं पश्यति, कदाचित् पताकाम् । स्वप्ने चैकमूर्तिपतितानां गोपुरुषाश्वरासभनदीवृक्षप्रभृतीनां दर्शनं स्मरणे विपर्ययेण दृष्टम् । तथा वातायनेन हस्तियूथप्रवेशने (नं)··· (दृष्टम्) विच्छिन्नानां चावयवानां पुनः सन्धानमाकाशगमनमनीश्वरस्यानिमित्तं राज्यलाभ इति । तदितरत्रापि स्यात्, न त्वस्ति । तस्मादयुक्तं मृगतृष्णिकास्वप्नादिवदसत्त्वं भावानाम् ।

पन्न है । कारण, सब कुछ अभूत (अयथार्थ) है, यह आप का अभ्युपगम (मान्यता) है । चूंकि यथार्थविषयक कोई प्रत्यक्ष ही नहीं है,जिसकी अपेक्षा दूसरा कोई प्रत्यक्षाभास हो सके । अर्थात् प्रत्यक्षाभास होना सापेक्ष है, इसलिये किसी न किसी को यथार्थविषयक प्रत्यक्ष मानना ही होगा । पृथिव्यादि विशेषज्ञान को आपने प्रत्यक्षाभास माना है, इसलिए भूतार्थविषयक भी प्रत्यक्ष होना ही चाहिये । अतः पृथिव्यादि विशेषविषयक यह प्रत्यक्षज्ञान विषयशून्य ज्ञानमात्र है—यह कथन अयुक्त है ।

अन्य भी दोष है—विपरीत दर्शन का प्रसङ्ग होने लगेगा । अर्थात् मृगतृष्णिका एवं स्वप्न के असत् विषयों के दृष्टान्त से सत् को असत् चाहने वाले व्यक्ति को उसी के समान विपरीत दर्शन होना चाहिये । जैसे, गन्धर्वनगरादि में कभी उसी वस्तु को गौ के रूप में देखता है, कोई हाथी देखता है, तो कभी पताका के रूप में देखता है । तथा स्वप्न में एक मूर्ति (पिण्ड) के अन्तर्गत प्रतीयमान गो पुरुष अश्व रासभ (गदहा) नदी वृक्ष आदि का दर्शन जगने पर स्मरणकाल में विपरीत ही देखा जाता है । वैसे ही स्वप्न में वातायन (गवाक्ष-खिड़की) मार्ग से हाथी झुण्ड का प्रवेशन जगने पर स्मरणकाल में विपरीत ही देखा जाता है । जो अवयव विच्छिन्न (पृथक्-पृथक्) है, उनका स्वप्न में सन्धान (जुटजाना) देखा जाता है । मनुष्य का आकाशगमन एवं सामान्यजन को अकारण राज्यलाभ इत्यादि स्वप्न में देखा जाता है । यह सब स्थिति स्वप्नातिरिक्त दशा में भी होनी चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता है । इसलिये यह कहना अयुक्त है कि मृगतृष्णिका एवं स्वप्न आदि के समान प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीयमान सभी भाव असत् होते हैं ।

अर्थक्रिया च न स्यात्। यथा स्वप्ने स्नातानुलिप्ताशितपीतवस्त्राच्छादितानामफलत्वं दृष्टम्, एवमिहापि स्यात्। शुक्रविसर्गवदिति चेत्, स्यादेतत्—यथाद्वयसमाप्तिपूर्वकः शुक्रविसर्गः, स च तदभावेऽपि स्वप्ने भवति, एवमितरत् स्यादिति। तदयुक्तम्-रागादिनिमित्तत्वात्। तथा हि जाग्रतोऽपि तद् द्वयसमापत्तिमन्तरेण भवति। तस्मान्मनोरञ्जनानिमित्तं तत्।

प्रेतवदिति चेत्, स्यादियं मम सद्बुद्धिः, यथा प्रेतानामसद्भिः पूयनद्यादिभिरर्थक्रिया नरकपालैश्च बाधनम्, एवमत्रापि स्यादिति।

तदयुक्तम्। असिद्धत्वात् न ह्येतदसदिति सिद्धम्। किञ्च प्रत्यक्षेण चाप्रत्यक्षबाधनात्। इह प्रत्यक्षं बलीय इत्यप्रत्यक्षस्य तेन प्रत्याख्यानमुपपद्यते। भवन्तस्त्वप्रत्यक्षेण प्रत्यक्षं प्रत्याचक्षते। तस्मादयुक्तं नरकपालादिवदसतामर्थक्रियेति।

यदि बाह्य पदार्थ असत् होता तो उससे कोई अर्थक्रिया (प्रयोजन)सिद्ध न होती। अर्थात् जैसे स्वप्न में किये स्नान-अनुलेपन-भोजन-पान एवं वस्त्राच्छादन निष्फल देखे गये हैं, वैसे जागरणकाल में भी वे सभी निष्फल होते। यदि कहो—'शुक्रविसर्ग' (वीर्य-स्खलन) के समान निष्फल नहीं होंगे। अर्थात् जैसे स्त्रीपुरुष के वास्तविक संयोग से शुक्रविसर्ग होता है, किन्तु स्वप्नावस्था में स्त्रीपुरुषसंयोग के अभाव में भी वह होता है; वैसे अन्य अर्थक्रिया भी वस्तु के असत् होने पर भी होगी—तो उक्त कथन अयुक्त है; क्योंकि स्वप्न में या जागरण में रागादिनिमित्त से शुक्रविसर्ग होता है। इसीलिये जाग्रद्दशा में भी दोनों के संयोग के बिना भी अतिशय रागवशात् शुक्रविसर्ग हो जाता है। अतः मनोरागनिमित्तक शुक्रविसर्ग है; और वह मनोराग स्वप्नावस्था में भी सत् ही है।

पूर्वपक्ष—प्रेत (मृत) के समान होगा। अर्थात् बाह्यार्थ के सम्बन्ध में हमें भले ही यह सद्बुद्धि हो; किन्तु जैसे प्रेतों को असत् ही दुर्गन्ध नदी आदि से अर्थक्रिया होती है और असत् ही नरकपालों से बाधा होती है; वैसे ही यहाँ भी होगा। अर्थात् असत् बाह्यार्थ से भी अर्थक्रिया होगी।

समाधान—उक्त पूर्वपक्ष अयुक्त है; क्योंकि पूयनद्यादि का असत्त्व ही असिद्ध है। कारण, पूयनदी आदि असत् है, यह अभी तक सिद्ध नहीं है।

एवं प्रत्यक्ष के द्वारा अप्रत्यक्ष का बाध हो सकता है। अर्थात् यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण बलवान् होता है; इसलिये उसके द्वारा अप्रत्यक्ष का निराकरण बन सकता है। आप तो अप्रत्यक्ष प्रेत दृष्टान्त से प्रत्यक्षभूत बाह्यार्थ का निराकरण कर रहे हैं।

स्वभावभेदात् तदसत्त्वमिति चेत्, स्यादेतत्—यदि परमार्थतो नरकपालाः स्युस्तेषामपि दुःखसम्बन्धः स्यात् मूर्तिमत्त्वाविशेषात्। न तु तेषां बाधाऽस्ति। तस्माद् भ्रान्तिरसाविति।

एतदयुक्तम्—कस्मात्? कर्मशक्तिवैचित्र्यात्। प्रत्यक्षमेव तावत् कर्मनिमित्तो वाग्बुद्धिस्वभावाहारविहारशक्तिभेदभिन्नो विचित्रः संसार उपलभ्यते। स निपुणमवेक्षितुमशक्यः, गम्भीरत्वात्। किं पुनरप्रत्यक्षकर्मणां विपाकवैश्वरूप्यमतर्कगोचरमस्मदादिबुद्धयः परिच्छेत्स्यन्ति? तस्मान्मनोरथमात्रमेतत्।

धर्माधर्मानुपपत्तिश्च स्यात्। यथा स्वप्ने ब्रह्महत्यासुरापानागम्यगमनादीनामफलत्वम्, एवमितरत्रापि स्यात्, असदविशेषात्।

सिद्धोपघातात् तद्विशेष इति चेत् न, अविशेषात्। असत्त्वे तुल्ये

अतः नरकपाल आदि के समान असत् से अर्थक्रिया होती होगी, यह आपका कथन अयुक्त है।

पूर्वपक्ष—स्वभावभेद से नरकपाल आदि असत् हैं। अर्थात् यदि नरकपाल पारमार्थिक हों तो उन्हें भी दुःख का सम्बन्ध होना चाहिये। क्योंकि मूर्तिमत्ता उनमें भी वैसे ही है; जैसे अन्य मनुष्यों में। किन्तु मनुष्यों में नरकपालों से बाधा है और नरकपालों में दुःख बाधा नहीं है। इसलिए नरकपालों की सत्ता भ्रान्तिमात्र है।

उत्तरपक्ष—यह कथन अयुक्त है। क्योंकि कर्मशक्ति की विचित्रता से किसी को दुःख का सम्बन्ध होता है और किसी को नहीं होता, जैसे नरकपालों को। अर्थात् प्रत्यक्ष से ही कर्मनिमित्तक वाक्-बुद्धि-स्वभाव-आहार-विहार की शक्ति के भेद से भिन्न-भिन्न विचित्र यह उपलब्ध होता है। उस शक्तिभेद को अच्छी तरह देखा नहीं जा सकता है; क्योंकि वह अत्यन्त गम्भीर या रहस्यभूत है। तो फिर अप्रत्यक्ष कर्मों का तर्क का अविषय फलवैचित्र्य क्या हमारी बुद्धियाँ जान सकती हैं? अर्थात् नहीं। इसलिये यह मनोरथमात्र है कि नरकपाल असत् होते हैं।

असत् पक्ष में धर्म और अधर्म की अनुपपत्ति भी होगी। अर्थात् जैसे स्वप्न में हुए ब्रह्महत्या सुरापान और अगम्यागमन निष्फल होता है, वैसे जाग्रत्कालीन ब्रह्महत्या आदि भी निष्फल होना चाहिये। क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् उभय दशा में वह असत् ही है।

यदि कहो कि जाग्रत् काल में वास्तविक उपघात होने के कारण स्वप्न से

क्वचिदुपघातः क्वचिन्नेतीच्छामात्रमेतत् । एवं चेत्, नासन्तः पृथिव्यादयः । न चेदसन्तो युक्तमुपदिष्टं 'बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि' इति ॥ ३४ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे सप्तमाह्निकं द्वितीयं च प्रकरणम् ॥

विशेषता है, तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि आपके मतानुसार असत्त्व यदि तुल्य है; तो कहीं उपघात होगा और कहीं नहीं होगा, यह आपकी इच्छामात्र है ।

ऐसी स्थिति में पृथिवी आदि विशेष असत् नहीं है । और जब असत् नहीं हैं, तो ठीक ही आचार्य ने उपदेश किया कि उनमें पाँच बुद्धीन्द्रियाँ विशेष और अविशेष उभयविषयक होती हैं ।

॥ इति श्रीमदाचार्यकेदारनाथत्रिपाठिकृतायां सांख्यसप्ततियुक्तिदीपिकाया हिन्दीकलाव्याख्यायां सप्तमाह्निकं द्वितीयं च प्रकरणम् ॥

अथ अष्टमाह्निकम्

द्वारिद्वारभावमेषामिदानीं वक्ष्यामः। तत्र बाह्यं करणं द्वारम्, अन्तःकरणं द्वारीति।

आह—करणाविशेषादयुक्तम्। अन्तःकरणस्य हीन्द्रियाणां च करणत्वमविशिष्टम्। तत्र को हेतुरन्तःकरणं द्वारि, द्वाराणीन्द्रियाणीति?

उच्यते—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥ ३५॥

सहान्तःकरणेन वर्तते या सा साऽन्तःकरणा बुद्धिः। अहङ्कारमनोभ्यां सहिता बुद्धिरित्यर्थः। अत्र चान्तःकरणग्रहणेनैव बुद्धेर्ग्रहणे सिद्धे भूयो बुद्धिग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम्। भवति हि प्रधानस्य सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि पृथगुपदेशः। तद् यथा—

इन करणों का आगे द्वारिद्वारभाव कहेंगे। इनमें बाह्यकरण द्वार (माध्यम) हैं और अन्तः करण द्वारि हैं।

शङ्का—करणत्व में विशेषता (अन्तर) न होने से उक्त कथन अयुक्त है। अर्थात् अन्तः करण (बुद्धि-अहङ्कार-मन) और श्रोत्र आदि इन्द्रियों में समान करणत्व है। अतः इसमें क्या हेतु है कि अन्तःकरण द्वारि है और इन्द्रियाँ द्वार हैं?

समाधान—चूँकि अन्तःकरणसहित बुद्धि ही सभी विषयों का अवगाहन करती है; इसलिये त्रिविध अन्तःकरण द्वारि है और शेष श्रोत्रादि इन्द्रियाँ द्वार हैं। अन्तःकरण के साथ जो है, वह सान्तःकरणा बुद्धि है। अर्थात् अहङ्कार और मन के साथ जो बुद्धि, वह सान्तःकरणा बुद्धि है। यद्यपि अन्तःकरण के ग्रहण से ही तदन्तर्गतभूत बुद्धि का भी ग्रहण स्वतः सिद्ध है; तथापि पुनः बुद्धि का पृथक् ग्रहण उसका प्रधानता को सूचित करने के लिये है। सामान्य के अन्तर्भूत होने पर भी प्रधान का पृथक् उपदेश होता है। जैसे—'जगाम स वनोद्देशं व्यासः सह महर्षिभिः' यहाँ पर

'जगाम तं वनोद्देशं व्यासः सह महर्षिभिः' इति महर्षिग्रहणे व्यासोऽप्यन्तर्भूतः प्राधान्यात् पृथगुच्यते। एवं सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते, विशिष्टानविशिष्टांश्च शब्दादीन् सन्निकृष्टविप्रकृष्टव्यवहितान् प्रमाणबलेन स्ववृत्तेर्विषयीकरोतीत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति—अनियतविषयो द्वारी, नियतविषयाणि द्वाराणि। तद् यथा प्रासादस्य पूर्वोत्तरदक्षिणपश्चिमानां स्वदिङ्नियमः, न पूर्वमुत्तरं दक्षिणं पश्चिमं वा कदाचिद् भवति तथेतराण्यपि द्वारीणि। तत्रानियताः सर्वदिगवस्थितैर्द्वारैः प्रवर्तन्त एवमिहापि श्रोत्रादीनि स्वविषयनियतानि। सान्तःकरणा तु बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् तस्मादनियतविषयत्वादुपपन्नमेतत्—त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणीति ॥ ३५ ॥

'एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

महर्षि के ग्रहण से व्यास भी उसमें अन्तर्भूत हैं, फिर भी व्यास की प्रधानता सूचित करने के लिये उनका पृथक् उपदेश हुआ है।

इस प्रकार सान्तःकरणा बुद्धि सभी विषयों का अवगाहन करती है। अर्थात् विशिष्ट-अविशिष्ट, सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट-व्यवहित शब्दादि की प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाण के बल से अपनी वृत्ति का विषय बनाती है।

यह निष्कर्ष है—अनियतविषयक द्वारी होता है, और नियतविषयक द्वार होते हैं। जैसे प्रासाद (महल) के पूर्व-उत्तर-दक्षिण और पश्चिम भाग होते हैं, और उन भागों का अपना दिङ्नियम होता है। अर्थात् पूर्वभाग कभी भी उत्तर-दक्षिण या पश्चिम नहीं होता। वैसे ही अन्य द्वारियों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। वहाँ प्रासादस्थल में जो अनियत हैं; उनकी प्रवृत्ति सभी दिशाओं में अवस्थित द्वारों से होती है। वैसे यहाँ भी श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ स्व-स्व विषय में नियत होती हैं। किन्तु अन्तःकरणसहित (मनोऽहङ्कारसहित) बुद्धि तो चूँकि सभी विषय का अवगाहन करती है; इसलिये अनियतविषयक होने से यह बात युक्त है कि त्रिविध अन्तःकरण द्वारी है और शेष बाह्येन्द्रियाँ द्वार हैं।

कारिकार्थ—ये (बुद्धि से अतिरिक्त करण) प्रदीप के तुल्य परस्पर में विलक्षण हैं एवं गुणों के परिणामस्वरूप हैं; जो पुरुष के समस्त अर्थों को प्रकाशित कर बुद्धि (महत्तत्व) को समर्पित कर देते हैं।

'एते' इत्यनेन त्रयमभिसम्बध्नाति श्रोत्रादीनामन्यतमं मनोऽहङ्कारञ्च। 'प्रदीपकल्पाः' इत्यनेन प्रकाशसाम्यं करणपर्वण आचष्टे – यथा प्रदीपः प्रकाशक एवं करणमपि; तद्व्यापारेऽसति विषयाविर्भावानुपपत्तेः। 'परस्परविलक्षणा; इत्यनेन व्यस्तवृत्तिं पूर्वोक्तामाकर्षति। तया ह्येषां वैलक्षण्यमनुमीयते, आलोचनसंकल्पाभिमानभेदात्। 'गुणविशेषा' इत्यनेन सत्त्वादीनां पुरुषविज्ञानमुद्दिश्य तद्भावेन परिणामं ख्यापयति। 'कृत्स्नं पुरुषस्यार्थमि'ति विशेषाविशेषलक्षणं कार्यमाहार्यधार्यप्रकाश्यतया यथासंभवं प्रकाश्य स्ववृत्त्यनुगुणं कृत्वा विषयत्वमापाद्येत्यर्थः। बुद्धौ प्रयच्छन्ति बुद्धावावधति।

एतदुक्तं भवति—यदा श्रोत्रादीनामन्यतमं करणं शब्दादौ विषये प्रवर्तते, तदा तद्द्वारेणाहङ्कारो मनो वा तं विषयं स्वव्यापारेणानुभूय

यहाँ कारिका में पठित 'एते' पद से तीन तत्त्व सम्बन्धित हैं—श्रोत्रादि बाह्येन्द्रियों में कोई एक, मन और अहङ्कार। 'प्रदीपकल्पाः' इसके द्वारा करणवर्ग को प्रकाशक का साम्य आचार्य प्रतिपादित करते हैं। अर्थात् जैसे प्रदीप प्रकाशक होता है; वैसे करण भी विषय का प्रकाशक होता है। क्योंकि करण का व्यापार न होने पर विषय का प्राकट्य संभव नहीं है।

'परस्परविलक्षणाः' इससे करणों की पूर्वोक्त व्यस्तवृत्ति (पृथक्-पृथक् वृत्ति) को आचार्य लक्षित करते हैं। उस व्यस्त वृत्ति के कारण ही इन करणों में विलक्षणत्ता का अनुमान होता है। उक्त विलक्षणता आलोचन-संकल्प और अभियान के भेद से है।

'गुणविशेषाः' इसके द्वारा आचार्य पुरुषविज्ञान (पौरुषेयबोध) के उद्देश्य से सत्त्वादि गुणों का आलोचन-संकल्प और अभिमान के रूप में परिणाम को सूचित करते हैं। "कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य' इसका–विशेष–अविशेषलक्षण कार्य को आहार्य-धार्य और प्रकाश्यरूप में यथासंभव प्रकाशित कर अर्थात् अपनी वृत्ति का अनुगामी बनाकर अर्थात् अपनी-अपनी वृत्ति का विषय बनाकर–ऐसा अर्थ है। 'बुद्धौ प्रयच्छन्ति' का बुद्धि को समर्पित करते हैं–यह अर्थ है।

यह निष्कर्ष हुआ—जब श्रोत्रादि के अन्तर्गत कोई एक करण शब्दादि विषय में प्रवृत्त होता है, तब उसके द्वारा अहङ्कार या मन उस विषय को अपने व्यापार से अनुभव कर बुद्धि को समर्पित कर देता है अर्थात् बुद्धि का विषय बना देता है। कभी तो बुद्धि ही स्वयं बाह्य करण, संकल्प (मनोव्यापार) और अभिमान (अहङ्कार-व्यापार)

बुद्धावाधत्ते तद्विषयतामापादयतीत्यर्थः। कदाचित्तु बुद्धिरेव बाह्यकरण-संकल्पाभिमानान्निश्चिनोति विषयम्, कदाचित् संकल्पाभिमानान् निश्चिनोति विषयं तावत्, कदाचित् संकल्पाभिमानगृहीतम्। सर्वथा त्वयं शास्त्रार्थो येन वा तेन करणेन विषयमुपात्तं बुद्धिरध्यवस्यति। तथा चाध्यवसायरूपापन्नया चेतनाशक्तिरनुगृह्यते। न करणान्तरस्य पुरुषेण सम्बन्धोऽस्ति। ततश्च द्वारिणां बहुत्वाद् दर्शनविशेषस्वातन्त्र्यसमुच्चयान्तःकरणपुरुषकर्तृत्वदोषाणामप्रसङ्गः ॥ ३६ ॥

आह—कः पुनरत्र हेतुर्येन द्वारित्वाविशेषे सत्यहङ्कारमनसी बुद्धौ विषयाधानं कुरुतो न पुनरनयोः साक्षात् पुरुषेण सम्बन्ध इति ?

उच्यते—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।

अहङ्कारमनसोर्हि नास्ति निश्चयरूपता, संकल्पाभिमानरूपत्वात्। अनिश्चितविषयया च करणवृत्त्या पुरुषस्य सम्बन्धोऽनर्थकः स्यात्। स्वयं

के माध्यम से विषय का निश्चय कर लेती है। कभी संकल्पाभिमान को पाकर विषय का निश्चय करती है। कभी तो संकल्पाभिमान द्वारा गृहीत विषय को बुद्धि अपना विषय बनाती है। सर्वथा ही शास्त्र का यह अभिप्राय है कि जिस तिस करण से विषय को प्राप्त कर बुद्धि उसका निश्चय करती है।

निश्चयात्मक स्वरूप को प्राप्त हुई उस बुद्धि से चेतनाशक्ति अनुगृहीत होती है। अर्थात् बुद्धि ही उस विषय को पुरुष तक पहुँचाती है। क्योंकि बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी भी करण का पुरुष के साथ सम्बन्ध नहीं है। अतः द्वारीभूत अन्तःकरणों के बहुत होने से "दर्शनविशेष में कोई भी द्वारी स्वतन्त्र हो सकता है, अथवा दर्शन-विशेष में सभी द्वारियों का समुच्चय होगा, अथवा अन्तःकरण में कर्तृत्व होगा या पुरुष में कर्तृत्व होगा" इन दोषों की प्रसक्ति नहीं होगी। क्योंकि उक्त विधि के अनुसार बुद्धि ही विषय का निश्चय करती है और बुद्धि के सन्निधान से पुरुष में द्रष्टृत्व आता है ॥ ३६ ॥

प्रश्न—इसमें क्या हेतु है कि द्वारित्व समान होने पर भी अहङ्कार और मन बुद्धि में विषय का समर्पण करते हैं, न कि इन दोनों का पुरुष के साथ साक्षात् सम्बन्ध है ?

उत्तर—सर्वं ··· ··· ··· ···बुद्धिः।

अर्थात् चूँकि पुरुष के समस्त उपभोग को बुद्धि ही सम्पादित करती है,

वा निश्चेतुरस्य कर्तृत्वं स्यात्। ततश्चामिश्रनिश्चयकारणत्वादयमप्यामिश्ररूपः स्यात्। सर्वं चैतदुक्तोत्तरं निश्चयरूपा हि बुद्धिः।

अतस्तद्वृत्त्युपनिपाती विषयः सन्निधानमात्रात् पुरुषेण संचेतितो नास्यौदासीन्यं बाधितुमुत्सहते, नो खल्वप्यानर्थक्यमनुषज्यते। एतदुक्तम्— सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिरिति।

आह—एवमपि शब्दादिलक्षणो विषयः प्रकृतः, स च बुद्ध्या सर्वः प्रतिपद्यते। तत्र विषयान्तरमप्यस्ति प्रधानपुरुषान्तरलक्षणम्। तथा चाहुः— 'उपभोगस्य शब्दाद्युपलब्धिरादिः गुणपुरुषोपलब्धिरन्तः।' तस्मात् तत्प्रतिपत्त्यर्थं करणान्तरं वक्तव्यमिति।

उच्यते—न वक्तव्यम्। किं कारणम्? यस्मात्—

सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥ ३७॥

इसीलिये अहङ्कार और मन बुद्धि को ही विषय समर्पित करते हैं। कारण, अहङ्कार और मन निश्चयरूप नहीं हैं; क्योंकि उनका स्वरूप क्रमशः अभिमान और संकल्प है। ऐसी स्थिति में जो करणवृत्ति अनिश्चितविषयक है, जैसे अहङ्कार और मन की वृत्ति; उसके साथ पुरुष का सम्बन्ध निरर्थक होगा। अथवा निश्चय का कार्य स्वयं पुरुष करे तो उसमें कर्तृत्व का प्रसङ्ग हो जायगा। और तब किञ्चित् मिश्रित निश्चय का कारण होने से यह पुरुष भी मिश्ररूप होने लगेगा। इन सभी प्रसङ्गों का उत्तर कहा जा चुका है कि बुद्धि ही निश्चयरूप है, अहङ्कार-मन या पुरुष नहीं।

इसलिये बुद्धिवृत्ति से सम्बन्धित विषय सन्निधानमात्र से पुरुष द्वारा अधिगत होता है। अतः वह विषयबोध पुरुष के औदासीन्य को बाधित नहीं कर सकता और न करणवृत्ति के साथ पुरुष का सम्बन्ध निरर्थक होगा। इसी अभिप्राय से कहा— 'सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः' ऐसा। इसका अर्थ पूर्व में कहा जा चुका है।

पूर्वपक्षी—फिर भी, शब्दादिरूप विषय प्रकृत है, और वह सभी शब्दादि विषय बुद्धि द्वारा निश्चित होता है। किन्तु शब्दादि से अतिरिक्त भी बुद्धिविषय है—प्रधान-पुरुष का विवेक। जैसा कि आचार्यों ने कहा है—

'उपभोगस्य ...... अन्तः' इति। अर्थात् पुरुषगत उपभोग का आदि शब्दादि की उपलब्धि है तथा प्रधान-पुरुष के विवेक की उपलब्धि उस उपभोग का अन्त (काष्ठा) है। अतः प्रधान-पुरुषविवेकरूप विषयान्तर की प्रतिपत्ति (ज्ञान) कराने के लिए बुद्ध्यादि से अतिरिक्त करण बताना चाहिए।

यतो यस्मात् कारणात् सा बुद्धिरेव हि काष्ठापन्नेन तमसाऽभिभूतत्वाद् धर्मादीनां' सत्त्वधर्माणां प्रकृतिभूतान् [विकारभूतान्] परतन्त्रानुपकार्यानुपकारकानचेतनान् संसर्गधर्मिणश्च गुणानात्मत्वेनाऽध्यवस्य पुरुषायोपहरति। स च मिथ्याज्ञानाभ्यासवासनाऽनुरञ्जितं बुद्धिप्रत्ययमनुरुध्यमानो दर्शितविषयत्वात् तथैव प्रतिपद्यते।

यदा तु धर्माद्यभ्यासात् तमोरूपापगमे सत्युत्तरोत्तराणां सत्त्वधर्माणामुत्कर्षस्तदा विनिवृत्तमिथ्याप्रत्यया वृत्तिः, न प्रकृतिविकारभूतः, स्वतन्त्रोऽनुपकार्योऽनुपकारकश्चेतनोऽसंसर्गधर्मा च। ततो विपरीताश्च गुणा इति शुद्धाध्यवसायं करोति। पुरुषश्च परोपहृतवृत्तित्वात् तथैव प्रतिपद्यते। तदेतत् गुणानां पुरुषस्य चान्तरं द्वयोरपि निश्चयस्वभावत्वादस्मात् पूर्वोक्तधर्मभेदेऽपि सति सूक्ष्मं गभीरं दुर्ज्ञेयम्।

सिद्धान्ती—उसके लिये अतिरिक्त करण का प्रतिपादन नहीं करना चाहिये अर्थात् अनावश्यक है।

प्रश्न—क्या कारण है?

उत्तर—चूंकि;

'सैव च विशिनष्टि··· ··· ··· ···सूक्ष्मम्॥

अर्थात् वह बुद्धि ही प्रधान-पुरुष के सूक्ष्म अन्तर (विवेक) को भी बताती है, इसलिये पृथक् कारण का प्रतिपादन अनावश्यक है। तात्पर्य यह है कि चूंकि शब्दादि विषय का अध्यवसाय करने वाली बुद्धि ही पराकाष्ठा को प्राप्त तमोगुण से आवृत होने के कारण, सत्त्व (बुद्धि) के धर्मभूत धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य के प्रकृतिभूत (प्रकृतिविकारभूत) परतन्त्र-उपकार्य-उपकारक-अचेतन एवं संसर्गी (संसर्गधर्मी) गुणों (सत्त्व-रजः-तम) को आत्मा के रूप में निश्चय कर पुरुष को प्राप्त कराती है। और वह पुरुष भी मिथ्याज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न वासना से अनुरञ्जित बुद्धिवृत्ति का अनुगमन करता हुआ वैसा ही जानता है; क्योंकि वह सदैव बुद्धि द्वारा दर्शितविषय होता है, अर्थात् बुद्धि ही सदा पुरुष को विषय का दर्शन कराती है।

सिद्धान्ती—जब तो धर्मज्ञानादि चतुष्टय के अभ्यास से तमोरूपता के हट जाने पर उत्तरोत्तर सात्त्विक धर्मों का उत्कर्ष होता है, तब बुद्धि की मिथ्याप्रत्ययरहित वृत्ति हो जाती है। उक्त वृत्ति का स्वरूप यह है—कि 'पुरुष प्रकृति का विकारभूत नहीं है—स्वतन्त्र है—अनुपकार्य है—अनुपकारक है—चेतन है और प्रकृतिसंसर्ग धर्म से

अतश्च सूक्ष्मं यद् बुद्धिमात्रमवलम्ब्य तदविशिष्टायाश्चेतनाशक्ते-ग्राह्यग्राहक······[1] ॥ ३७ ॥

व्याख्यातं करणपर्व। कार्यपर्वेदानीं वक्तव्यम्। तस्य च पुरस्ता-दुद्देशः कृतः—'कार्यं च तस्य दशधा, पञ्च विशेषाः' इति। साम्प्रतं तु निर्देशं करिष्यामः।

आह—यद्येवं तस्मादिदमेव तावदुच्यतां के विशेषाः केऽविशेषा इति ?

उच्यते—

तन्मात्राण्यविशेषाः

यानि तन्मात्राणि पञ्चाहङ्कारादुत्पद्यन्त इति प्रागपदिष्टम्, ते

अस्पृष्ट है। गुण (त्रिगुणात्मक प्रधान) इसके विपरीत है।' इस प्रकार का शुद्ध अध्यवसाय (निश्चय) बुद्धि करती है। और परप्रदत्त वृत्ति का अनुसरण करने के कारण पुरुष भी वैसा ही अपने को अनुभव करता है। इस प्रकार का यह गुणों का और पुरुष का अन्तर अति सूक्ष्म है—गम्भीर है और दुर्ज्ञेय है। यद्यपि दोनों में स्वभावभेद के निश्चय से पूर्वोक्त प्रकृतिविकारत्व-अविकारत्व-परतन्त्रत्व-स्वतन्त्रत्व आदि धर्मों का वास्तविक भेद है।

इसलिये सूक्ष्मविषयक जो बुद्धिवृत्तिमात्र, इसका अवलम्बन (अनुगमन) कर बुद्धिवृत्ति के अनुरूप बनी चेतनाशक्ति शब्द-स्पर्शादि ग्राह्यों का ग्राहक [कही जाती है] ॥ ३७ ॥

करणपर्व का व्याख्यान किया गया। अब कार्यवर्ग का प्रतिपादन करना चाहिये। उस कार्यवर्ग का पूर्व में नामनिर्देश किया जा चुका है—'कार्यं च तस्य दशधा, पञ्च विशेषाः' इति। अर्थात् उस करणवर्ग का दस प्रकार का कार्य होता है, उनमें पांच विशेष हैं—पृथिवीजल आदि। इस समय उनका निर्देश करेंगे। अर्थात् उनका उल्लेख करेंगे।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो यही पहले कहिये कि कौन विशेष हैं और कौन अविशेष हैं ?

उत्तर—तन्मात्र ही अविशेष हैं। अर्थात् जो पाँच तन्मात्र अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं उनका पहले कथन हो चुका है। वे ही पञ्च तन्मात्र अविशेष हैं। वे तन्मात्र

---

१. [त्व व्यवहारः] इति त्रुटितपाठपूर्तिः सम्पादयितुं शक्यते। अत्रत्यो बहुभागः खण्डित इति चक्रवर्तिपाण्डेयौ समुल्लिखतः।

खल्वविशेषाः। कानि पुनस्तन्मात्राणीत्युच्यन्ते—शब्दतन्मात्रं-स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं-रसतन्मात्रं-गन्धतन्मात्रमिति।

कथं पुनस्तन्मात्राणीति ?

उच्यते—तुल्यजातीयविशेषानुपपत्तेः। अन्ये शब्दजात्यभेदेऽपि सति विशेषा उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकादयस्तत्र न सन्ति, तस्माच्छब्दतन्मात्रम्। एवं स्पर्शतन्मात्रे मृदुकठिनादयः। एवं रूपतन्मात्रे शुक्लकृष्णादयः। एवं रसतन्मात्रे मधुराम्लादयः एवं गन्धतन्मात्रे सुरभ्यादयः तस्मात् तस्य तस्य गुणस्य सामान्यमेवात्र, न विशेष इति तन्मात्रास्त्वेतेऽविशेषाः।

आह—अथ के पुनर्विशेषा इति ?

उच्यते—यानि खलु —तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।

कौन हैं ? इसे कहते हैं—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र।

प्रश्न—अविशेषों को तन्मात्र कैसे कहा जाता है ?

उत्तर—इनका सजातीय विशेष नहीं होने से ये तन्मात्र हैं। स्थूलशब्द के समान शब्दतन्मात्र में शब्दजातीयत्व के होने पर भी उसमें उदात्तत्व-अनुदात्तत्व-स्वरितत्व-अनुनासिकत्व आदि विशेष नहीं हैं; इसलिये वह शब्दतन्मात्र कहा जाता है। इसी तरह स्पर्शतन्मात्र में स्पर्शजातीयत्व के होने पर भी स्थूलस्पर्श के समान मृदुत्व-कठिनत्वादि विशेष के नहीं होने से वह स्पर्शतन्मात्र है। ऐसे ही रूपतन्मात्र में रूपजातीयत्व के होने पर भी उसमें स्थूलरूप के समान शुक्लत्व-कृष्णत्व आदि विशेष के नहीं होने से वह रूपतन्मात्र कहाता है। एवं रसतन्मात्र में रसजातीयत्व के होने पर भी उसमें स्थूलरस के समान मधुरत्व-अम्लत्व आदि विशेष के न होने से वह रसतन्मात्र कहा जाता है। इसी प्रकार गन्धतन्मात्र में गन्धजातीयत्व के होने पर भी उसमें स्थूलगन्ध के समान सुरभित्व-सुगन्धत्व आदि विशेष के न होने से वह गन्धतन्मात्र कहाता है। इसलिये उस-उस गुण का सामान्य भाव ही तन्मात्रों में रहता है, यही तन्मात्रों की अविशेषता है।

प्रश्न—विशेष कौन हैं ?

उत्तर—जो पञ्चभूत उन पञ्चतन्मात्रों से उत्पन्न होते हैं, ये पञ्चभूत ही विशेष कहे गये हैं। यहाँ युक्तिदीपिकाकार ने अड़तीसवीं कारिका के द्वितीय और तृतीय

उत्पद्यन्ते,

एते स्मृता विशेषाः,

तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी । तेभ्यो भूतानीत्येतावति वक्तव्ये 'पञ्च पञ्चभ्यः' इति ग्रहणं समसंख्याकतस्तदुत्पत्तिज्ञापनार्थम् । तेनैकैकस्मात् तन्मात्रादेकैकस्य विशेषस्योत्पत्तिः सिद्धा । ततश्च यदन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम्-एकलक्षणेभ्यस्तन्मात्रेभ्यः परस्परानुप्रवेशादेकोत्तरा विशेषाः सृज्यन्त इति तत्प्रतिषिद्धं भवति । किन्तर्हि, अन्तरेणापि तन्मात्रानुप्रवेशमेकोत्तरेभ्यो भूतेभ्य एकोत्तराणां भूतविशेषाणामुत्पत्तिः ।

शब्दगुणाच्छब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणम्, शब्दस्पर्शगुणात् स्पर्शतन्मात्राद् द्विगुणो वायुः, शब्दस्पर्शरूपगुणाद् रूपतन्मात्रात् त्रिगुणं तेजः,

---

चरण के साथ 'यानि खलु—उत्पद्यन्ते' अंश अपनी तरफ से जोड़कर उत्तर भाग को स्पष्ट किया है ।

उनमें शब्दतन्मात्र से आकाश, स्पर्शतन्मात्र से वायु रूपतन्मात्र से तेज, रसतन्मात्र से आप (जल) और गन्धतन्मात्र से पृथिवी उत्पन्न होती है । यहाँ 'तेभ्यो भूतानि' इतनामात्र कहना चाहिये था, फिर भी 'पञ्च पञ्चभ्यः' का उल्लेख आचार्य ने यह ज्ञापित करने के लिये किया है कि 'समानसंख्यक से भूतों की उत्पत्ति होती है।' इसके अनुसार एक एक तन्मात्र से एक-एक विशेष (भूत) की उत्पत्ति सिद्ध होती है ।

इसके द्वारा अन्य आचार्यों का जो अभिप्रेत है कि एकलक्षण तन्मात्रों से परस्पर के अनुप्रवेश द्वारा एकाधिक विशेषों की सृष्टि होती है' वह खण्डित हो जाता है। किन्तु तन्मात्रों के अनुप्रवेश के बिना भी एकाधिक भूतों से एकाधिक भूतविशेषों की उत्पत्ति होती है ।

उनमें शब्दगुण वाले शब्दतन्मात्र से आकाश उत्पन्न होता है, जो शब्दात्मक एकगुण वाला है । शब्दस्पर्शगुण वाले स्पर्शतन्मात्र से शब्दस्पर्शात्मक दो गुण वाली वायु की उत्पत्ति होती है । शब्दस्पर्शरूपगुण वाले रूपतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपात्मक तीन गुणों वाला तेज उत्पन्न होता है । शब्दस्पर्शरूपगुण वाले रसतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपरसात्मक चार गुणों वाला जल उत्पन्न होता है । एवं शब्दस्पर्शरूपरस-

शब्दस्पर्शरूपरसगुणाद् रसतन्मात्राच्चतुर्गुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रात् पञ्चगुणा पृथिवी ।

अत्र च वायोः शीतः स्पर्शः अपां च, तेजस उष्णः, अनुष्णाशीतः पृथिव्याः । रूपं च शुक्लं भास्वरं च तेजसोऽपां च, कृष्णं पृथिव्याः । रसो मधुरोऽपाम्, साधारणः पृथिव्याः । गन्धस्तु पार्थिव एव, तदवयवानुप्रवेशाद् भूतान्तरेषूपलभ्यते । इत्येते पृथिव्यादीनां धर्माः । अन्ये च परस्परानुग्राहकाः ।

के पुनस्त इत्याह—

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च ।
स्थितिभेदः क्षमा कृष्णच्छायासर्वोपभोग्यते ॥
इति ते पार्थिवा धर्मास्तद्विशिष्टास्तथा परे ।
जलाग्निपवनाकाशव्यापकास्तान् निबोधत ॥
स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत् ।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं सन्तानश्चौदका गुणा ॥

गन्धगुण वाले गन्धतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक पाँच गुणों वाली पृथिवी उत्पन्न होती है ।

यहाँ वायु का शीत स्पर्श होता है और जल का भी । तेज का उष्ण स्पर्श होता है । और पृथिवी का अनुष्णाशीत [न गरम और न शीत] स्पर्श होता है । तेज का रूप शुक्ल और भास्वर होता है और जल का भी । पृथिवी का कृष्ण रूप होता है । जल का रस मधुर होता है; किन्तु पृथिवी का सामान्य रस होता है । गन्धगुण केवल पृथिवी का ही होता है और पृथिवीभाग का अनुप्रवेश होने से अन्य भूतों में गन्ध की उपलब्धि होती है । ये उपर्युक्त धर्म पृथिवी आदि के हैं । अन्य धर्म आकार गौरवादि परस्पर में अनुग्राहक (उपकारक) होते हैं ।

प्रश्न—परस्पर के अनुग्राहक वे अन्य धर्म कौन हैं ?

उत्तर—आकार-गौरव (गुरुत्व), रूक्षता, आवरण, स्थैर्य, स्थितिभेद-क्षमा (क्षमता)—कृष्णच्छाया-सर्वोपभोग्यता ये पार्थिव (पृथिवीगत) धर्म हैं। इनसे विशिष्ट अन्य धर्म जो जल-अग्नि-वायु और आकाश में व्याप्त हैं, उन्हें सुनो—

ऊर्ध्वगं पावकं दग्धृ पाचकं लघु भास्वरम् ।
प्रध्वंस्योजस्विता ज्योतिः पूर्वाभ्यां सविलक्षणम् ॥
तिर्यग्गतिः पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम् ।
रौक्ष्यमच्छायता शैत्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः ॥
सर्वतोगतिरव्यूहोऽविष्कम्भश्चेति ते त्रयः ।
आकाशधर्मा विज्ञेयाः पूर्वधर्मविरोधिनः ॥
संहतानां तु यत् कार्यं सामान्यं ते गवादयः ।
इतरेतरधर्मेभ्यो विशेषान्नात्र संशयः ॥

तत्राकारादिभिर्धर्मैः पृथिव्या लोकस्य चोपक्रियते भूतान्तराणां च । तत्राकारात् तावद् गवादीनां घटादीनां चाकारनिर्वृत्तिः, गौरवादेषामवस्थानम् । रौक्ष्यादपां संग्रहो वैशद्यं च भूतानाम् । वरणादनभिप्रेतानां छादनम् । स्थैर्याद् वृत्तिः प्रजानां भूतान्तराणां च । स्थितेर्मात्रादिसन्निधानाद्यनु-

---

स्नेह (चिक्कणता)–सूक्ष्मता-प्रभा-शुक्लता-मृदता-गुरुत्व-शीतता-रक्षा-पवित्रता और सन्तान (विस्तार) ये जल के गुण हैं।

ऊर्ध्वगति–पावकत्व-दग्धृत्व-पाचन-लघु-(हल्कापन)–भास्वरत्व-प्रध्वंसिता-ओजस्विता-ज्योतिः ये पृथिवी और वायु से विलक्षण गुण तेज के हैं।

तिर्यग्गति-पवित्रता-आक्षेप-नोदन-बल-रूक्षता-छायाहीनता-शैत्य ये वायु के पृथक् धर्म हैं। सर्वतोगति-अव्यूह-अविष्कम्भ (रुकावट न डालना) ये तीन आकाश के धर्म जानने चाहिये; जो पूर्वोक्त धर्मों के विरोधी हैं। पञ्च भूतों के समुदाय का जो सामान्य कार्य है, वह गवादि हैं। क्योंकि गवादि में पृथिवी जलादि के धर्मों को अविशिष्टरूप में हम पाते हैं; इसमें कोई संशय नहीं है।

उनमें आकार आदि धर्मों से पृथिवी का और लोक का उपकार होता है और अन्यभूत भी उपकृत होते हैं। उनमें आकार-गुण से गवादि में और घटादि में आकार की उत्पत्ति होती है और गौरव (गुरुत्व) गुण से ये गवादि और घटादि अवस्थित रहते हैं। रूक्षतागुण से जल का संग्रह होता है और भूतों में वैशद्य आता है। वरण-गुण से अनभिप्रेत वस्तुओं का छादन (ढंक जाना) होता है। स्थैर्यगुण से प्रजाओं और अन्य भूतों में अस्तित्व आता है। स्थितिगुण से मात्रा (परिमाण) आदि के सन्निधान का अनुग्रह भूतों को प्राप्त होता है। भेदगुण से घट आदि विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, और अवयवों का व्यूहन एकत्र सम्मिलन होता है। क्षान्ति(क्षमा)

ग्रहः । भेदाद् घटादिनिष्पत्तिः, व्यूहश्चावयवानाम् । क्षान्तेरुपभोगयोग्यता । कृष्णच्छायत्वाद् रात्रिसम्पच्छायाकार्यप्रसिद्धिश्च । सर्वोपभोग्यत्वात् सर्वभूतानुग्रहः ।

स्नेहाद् रूपसम्पद् वायुप्रतीकारोऽग्निशमनं संग्रहश्च पृथिव्याः । सौक्ष्म्यादनुप्रवेशः । शौक्ल्याच्चन्द्रादिनिर्वृतिः । मार्दवात् स्नानावगाहनमेकक्रिया कठिनानां चावनामनम् । गौरवात् सन्तानाच्च भूतानुग्रहार्थं स्रोतस्त्वम् । शैत्यादुष्णप्रतीकारः । रक्षातः प्रजासु घोरशमनम् । पवित्रत्वाद् धर्मोपचयः शौचविधिरलक्ष्योपघातश्च । सन्तानाद् द्रव्यसंघातः ।

तथोर्ध्वगत्यादिभिर्धर्ममात्रैस्तेजसा लोकस्य चोपक्रियते भूतान्तराणां च । ऊर्ध्वगतेः पाकप्रकाशसिद्धिः पावकत्वाद् द्रव्यशौचं च । दाहकत्वात्

से उपयोग की योग्यता भूतों में आती है । कृष्णच्छाया के कारण रात्रि का निर्माण होता है और छायासम्बन्धी कार्यों की प्रसिद्धि होती है । सर्वोपभोग्य होने से पृथिवी द्वारा सभी भूत अनुगृहीत होते हैं ।

जलगत स्नेहधर्म से रूपसम्पत्ति होती है, वायु का प्रतीकार होता है, अग्नि का शमन होता है और पृथिवी का संग्रह (संकोच) होता है । सूक्ष्मताधर्म से अनुप्रवेश होता है अर्थात् जल कहीं भी घुस जाता है । शुक्लता धर्म से चन्द्रादिकी निष्पत्ति होती है । मार्दव (मृदुता) धर्म से स्नान-अवगाहनरूप एक क्रिया होती है और कठिन वस्तुओं का नम्रीकरण हो जाता है । अर्थात् कठिन पदार्थ भी नम्र बन जाता है । गुरुत्वधर्म एवं सन्तान (विस्तार या फैलाव) धर्म से भूतों के अनुग्रह (उपकार) हेतु स्रोतोभाव (धारा) बन जाता है । शैत्यधर्म से उष्णता का प्रतीकार या निवारण होता है । रक्षाधर्म से प्राणियों में घोरभाव (क्रूरभाव) का शमन होता है । पवित्रत्वधर्म से प्रजा में धर्म की अभिवृद्धि होती है, शौच (स्वच्छता) का सम्पादन एवं अलक्ष्य का उपघात होता है अर्थात् सुलक्षण का प्रादुर्भाव होता है, सन्तानधर्म से द्रव्यों का संघात (समुदाय) पिण्डीभाव होता है ।

एवं तेजोगत ऊर्ध्वगति आदि धर्ममात्र से लोक का एवं तेजोतिरिक्त भूतों का उपकार होता है । जैसे, ऊर्ध्वगति से पाक क्रिया और प्रकाश की सिद्धि होती है, और पावकत्वधर्म से द्रव्य में शौच (पवित्रता) भी आता है । दाहकत्वधर्म से राख की उत्पत्ति होती है; शीत का निवारण होता है तथा शब्दोत्पत्ति के लिये आकाश में उष्णत्व उत्पन्न होता है ।

क्षारोत्पत्तिः, शीतप्रतीकारो नभसश्चोष्णत्वं शब्दनिष्पत्त्यर्थम्। पाच-कत्वात् स्वेद्यस्वेदनमन्नपक्तिः पृथिव्यवयवानां क्रियायोग्यता, तथा बाह्या-न्तरपरिणामः रसलोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणां, लाघवाद् बाह्याति-क्रमः। भास्वरत्वाद् द्रव्यान्तरप्रकाशनम्। प्रध्वंसित्वाद् दग्धपक्वानामुप-भोगः। तेजसः (ओजसः) प्रजापालनम्।

तथा तिर्यक्पातादिभिर्धर्मैर्वायुना लोकस्य चोपकारः क्रियते भूता-न्तराणां च। तिर्यक्पाताद् दृष्टिविक्षेपो गन्धसंवहनञ्च। पवित्रत्वात् पूतिद्रव्यपवनम्। आक्षेपनोदनाभ्यामुत्कर्षः प्रथनं घर्माम्भसः। व्यूहश्च शरीरे रसादीनां धातूनां च। अग्नेश्चोपध्मानमभिघातश्चाकाशस्य। बलात् समीकरणं सर्वेषाम्। रौक्ष्याद् विशोषणम्। अच्छायत्वादहोरात्रप्रसिद्धिः। शैत्यादुष्णप्रतीकारः।

तेज के पाचकत्वधर्म से स्वेदयोग्य वस्तु में स्वेदन (प्रच्यवन) क्रिया होती होती है; अन्न का पकना, पृथिवी के अवयवों में क्रियायोग्यता उत्पन्न होती है तथा बाह्य और आभ्यन्तर वस्तु में परिणाम पैदा होता है। जैसे, रस-रक्त-मांस-स्नायु-अस्थि (हड्डी) मज्जा और शुक्र धातुओं का। लाघवगुण से बाह्य वस्तु का अतिक्रमण कर जाता है; अर्थात् किसी भी बाह्य पदार्थ को पारकर तेज दूर तक फैल जाता है। भास्वरत्वधर्म के कारण अन्य द्रव्यों को प्रकाशित कर देता है। प्रध्वंसित्व (विना-शित्व) धर्म के कारण जले और पके पदार्थों का उपभोग होता है। अन्यथा तेज के स्थित रहते तपे और पके पदार्थ का उपभोग करना असम्भव हो जाता। और तेज से या ओज धर्म से प्रजा का पालन होता है। अर्थात् ओजगुण के प्रभाव से ही प्रजा परस्पर विद्रोह नहीं करती और सुरक्षित रहती है। ये सब तेजोगत धर्म द्वारा होने वाले उपकार हैं।

एवं, तिर्यक्पात आदि धर्मों से वायु द्वारा लोक का उपकार सम्पादित होता है और अन्य भूतों का भी। जैसे, वायु के तिर्यक्पात से दृष्टि का विषयविशेष पर निक्षेप होता है, और गन्ध का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना भी होता है। पवित्रत्व-धर्म से दुर्गन्धयुक्त वस्तु का पवित्रीकरण होता है। आक्षेप (खींजना) और नोदन (दबाव देना) रूप धर्मों से वस्तुविशेष का ऊपर की ओर उठना होता है और पसीने का फैलाव होता है। तथा शरीर में रसादि धातुओं का एकत्रीकरण भी होता है। साथ ही अग्नि का उपध्मान (धधकना) एवं आकाश में अभिघात (क्षोभ) पैदा होता है। बलधर्म से सभी वस्तुओं में समीकरण (सन्तुलन) होता है। रूक्षता धर्म से

तथा सर्वतो गत्यादिभिर्धर्मैर्नभसा लोकस्योपकारः क्रियते भूतान्तराणां च। सर्वतोगतेः समन्तात् तुल्यदेशश्रवणानामेकश्रुतित्वम्। अव्यूह[ा]विष्कम्भाभ्यां सर्वेषामवकाशतादानमित्युक्ताः पृथिव्यादयः। एते विशेषा इत्युच्यन्त इति।

आह—कथं पुनरेते विशेषा इत्युच्यन्ते? यस्मात्—

शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

तत्र शान्तास्तावत् स्वसंस्कारविशेषयोगात् तत्सन्निधौ प्रसादादिधर्मोत्पत्तेः। घोरास्तु शे(रो)षादिधर्मनिमित्तत्वात्। मूढाश्च वरणादिधर्महेतुत्वात्। तन्मात्राणि पुनरशान्तघोरमूढानि, अतोऽविशेषा इत्युच्यन्ते।

तदेते यथा व्याख्याता अविशेषा विशेषाः पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं बहुधा व्यवतिष्ठन्ते। कस्मात्? न ह्येतेषामेकधावस्थाने पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति ॥ ३८ ॥

शोषणकार्य होता है। छायाराहित्यधर्म से अहोरात्र की प्रसिद्धि होती है। अर्थात् वायु द्वारा उसमें कोई अवरोध पैदा नहीं होता है। शीतताधर्म से उष्णता का निवारण होता है।

इसी तरह आकाशगत सर्वतोगति आदि धर्मों से लोक का एवं अन्य भूतों का उपकार होता है। जैसे सर्वतोगति धर्म से सर्वत्र तुल्य देश में स्थित श्रोत्रेन्द्रियों को एक प्रकार की शब्दश्रुति होती है। एवं आकाशगत अव्यूह एवं अविष्कम्भ धर्म से सभी पदार्थों के लिये अवकाश प्रदान होता है। इस प्रकार पृथिवी आदि का निरूपण हुआ। ये पृथिवी आदि ही विशेष कहे जाते हैं।

प्रश्न—ये पृथिवी आदि विशेष कैसे कहे जाते हैं?

उत्तर—चूँकि ये शान्त घोर और मूढ हैं; इसलिये ये विशेष कहे जाते हैं। इनमें अपने संस्कारविशेष के योग से ये शान्त होते हैं। क्योंकि शान्त के सन्निधान में प्रसाद (प्रसन्नता) आदि धर्मों की उत्पत्ति होती है। रोष आदि धर्मों की उत्पत्ति का निमित्त होने के कारण ये ही पृथिव्यादि घोर भी हैं। एवं आवरण आदि धर्म का हेतु होने के कारण इन्हें मूढशब्द से कहा जाता है। तन्मात्र तो अशान्त अघोर और अमूढ हैं, इसीलिये ये अविशेष कहे जाते हैं।

ये पूर्व व्याख्यात अविशेष और विशेष पुरुष के भोग और अपवर्गरूप प्रयोजन-

आह—अतिसामान्योक्तमिदमित्यतो न प्रतिपद्यामहे। तस्माद् वक्तव्यं कथं विशेषाणामवस्थानमिति ?

उच्यते—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।

तत्र सूक्ष्मा नाम चेष्टाश्रितं प्राणाष्टकं संसरति। मातापितृजास्तु द्विविधा जरायुजा अण्डजाश्च। तेषां कोशोपहृताः कोशाः लोमरुधिरमांसास्थिस्नायुशुक्रलक्षणाः। तत्र लोमरुधिरमांसानां मातृतः सम्भवः। अस्थिस्नायुशुक्राणां पितृतः। तत्रैवाशितपीताभ्यां सहाष्टौ कोशानपरे व्याचक्षते।

कथं पुनरेषां कोशत्वम् ? आवेष्टनसामर्थ्यात्। यथा कोशकारः कोशेनावेष्टितोऽस्वतन्त्रः, एवं सूक्ष्मशरीरं सप्राणमेतैरावेष्टितमस्वतन्त्रं तत् तत्कर्मोपचिनोति।

सिद्धि के लिये अनेक प्रकार से व्यवस्थित हैं; क्योंकि इनके एक ही प्रकार में (स्वरूप में) अवस्थित होने पर पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकेगी ॥ ३८ ॥

प्रश्न—आपने उपर्युक्त विषय को अत्यन्त सामान्यरूप में कहा है। इसलिये हम विशेषरूप में नहीं समझ पा रहे हैं। अतः आपको यह बताना चाहिये कि विशेषों की अवस्थिति किस स्वरूप में है ?

उत्तर—विशेष तीन स्वरूप में अवस्थित हैं—सूक्ष्म-मातापितृज और स्थूलभूत के रूप में। इनमें सूक्ष्मविशेष चेष्टायुक्त प्राणाष्टक हैं; जो संसरण करते हैं। अर्थात् जन्म-मृत्यु के रूप में जिनका आना जाना होता रहता है। मातापितृज तो दो प्रकार के होते हैं—जरायुज और अण्डज। उनमें बृहत्कोश में वर्तमान अवान्तर कोश हैं, जिनकी संज्ञा लोम-रुधिर (रक्त)-मांस-अस्थि (हड्डी) स्नायु (सिरायें) और शुक्र हैं। उनमें भी बालक को लोम रुधिर और मांस की प्राप्ति माता से होती है। हड्डी-सिरायें और शुक्र- की प्राप्ति पिता से होती है। उन्हीं में अशित-पीत (भोजन-पान) को साथ मिलाकर दूसरे आचार्य आठ कोश प्रतिपादित करते हैं।

प्रश्न—इन्हें कोश क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—आवेष्टन (चारों तरफ से कस जाना) की शक्ति धारण करने के कारण ये कोश हैं। जैसे, कोशकार (कीटविशेष) कोश से आवेष्टित होकर अस्वतन्त्र

प्रभूतास्तूद्भिज्जाः स्वेदजाश्च। तदेतैस्त्रिविधैर्विशेषैर्देवमानवतैर्यग्योनलक्षणस्त्रिविधो भूतसर्ग आरभ्यते। तत्र देवानां चतुर्विधं शरीरं प्रधानानुग्रहात्, यथा परमर्षेर्विरिञ्चस्य च। तत्सिद्धिभ्यो यथा ब्रह्मणः पुत्राणां तत्पुत्रपुत्राणां च। मातापितृतो यथाऽदितेः कश्यपस्य च पुत्राणाम्। केवलाद्वा यथा पितृतो मित्रावरुणाभ्यां वशिष्ठस्य। मनुष्याणां तु जरायुजम्। धर्मशक्तिविशेषात्तु कस्यचिदन्यथाऽपि भवति, यथा-द्रोणकृपकृपीधृष्टद्युम्नादीनाम्। तिर्यग्योनीनामपि चतुर्विधम्—

जरायुजं गवादीनामण्डजं चैव पक्षिणाम्।
तृणादेश्चोद्भिज्जं क्षुद्रजन्तूनां स्वेदजं स्मृतम्॥

एवं त्रिविधा विशेषा व्याख्याताः।

(पराधीन) हो जाता है, वैसे ही प्राणसहित सूक्ष्मशरीर इन लोमरुधिरादि से आवेष्टित होकर अस्वतन्त्र हो तत् तत् कर्मों की वृद्धि करता है।

प्रभूत दो प्रकार के हैं—उद्भिज्ज (तरु आदि) और स्वदेज (क्षुद्र कीट आदि)।

उपर्युक्त तीन प्रकार के विशेषों से देव-मानव और तिर्यग्योनि (पशु पक्षी आदि) रूप त्रिविध भूतसर्ग निर्मित होता है। इनमें देवताओं का चार प्रकार का देवशरीर होता है। प्रधान के अनुग्रह से प्रथम प्रकार का देवशरीर होता है—जैसे, परमर्षि कपिल का एवं विरिञ्च (ब्रह्मा) का। दूसरा उनकी सिद्धियों से—जैसे, ब्रह्मा के पुत्रों एवं उनके पुत्र के पुत्रों का। तीसरा माता-पिता से-जैसे अदिति के एवं कश्यप के पुत्रों का शरीर। अथवा केवल पिता से—जैसे, मित्रावरुण से वशिष्ठ का शरीर। यह देव का चतुर्थ प्रकार का शरीर है।

मनुष्यों का शरीर तो जरायु से होता है। किन्तु धर्म एवं शक्तिविशेष से मनुष्यों में किसी का शरीर बिना जरायु के भी होता है—जैसे द्रोण-कृप-कृपी एव धृष्टद्युम्न प्रभृति का।

तिर्यग्योनियों का भी शरीर चार प्रकार का होता है—जैसे, गवादि का शरीर जरायुज होता है, पक्षियों का शरीर अण्डज होता है, तृण गुल्मादिका शरीर उद्भिज्ज होता है; तथा यूका-लिक्षा-मत्कुण प्रभृति क्षुद्रजन्तुओं का शरीर स्वेदज होता है।

इस प्रकार सूक्ष्म, मातापितृज एवं प्रभूतनामक त्रिविध विशेषों का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

तत्र केचिन्नियताः केचिदनियता इति।

आह—के पुनरत्र नियताः, के वाऽनियताः ?

इत्युच्यते—

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

सूक्ष्मा आसर्गप्रलयान्नित्याः, मातापितृजा निवर्तन्ते। सह प्रभूतैरिति वर्तते।

केचित्तु प्रभूतग्रहणेन बाह्यानामेव विशेषाणां ग्रहणमिच्छन्ति। तेषामुद्भिज्जस्वेदजयोरग्रहणम्। तस्मादुभयथा प्रभूता इत्येतदनवद्यम्।

आह—सूक्ष्मा[न]भिधानमप्रसिद्धत्वात्। मातापितृजाश्च प्रभूताश्च प्रसिद्धा इत्यतो युक्त एषां परिग्रहः। सूक्ष्मास्त्वप्रसिद्धाः। तस्माद् वक्तव्यं कथमेषामुत्पत्तिरस्तित्वं वेति ?

उच्यते—पूर्वसर्गे प्रकृतेरुत्पन्नानां प्राणिनां सत्त्वधर्मोत्कर्षादन्तरेण द्वयसमापत्तिं मनसैवाऽपत्यमन्यद् वा यथेप्सितं प्रादुर्बभूव।

उनमें कुछ विशेष नियत हैं और कुछ अनियत हैं।

प्रश्न—यहाँ कौन नियत हैं और कौन अनियत हैं ?

उत्तर—त्रिविध विशेषों में सूक्ष्म नियत हैं और मातापितृज निवृत्त हो जाते हैं; अतः अनियत हैं। अर्थात् सूक्ष्म विशेष सर्गारम्भ से लेकर प्रलयपर्यन्त नित्य हैं, तथा मातापितृज निवृत्त हो जाते हैं। यहाँ 'सह प्रभूतैः' इसकी अनुवृत्ति है। अतः 'भूत नामक' विशेषों के साथ मातापितृज विशेष निवृत्त हो जाते हैं।' ऐसा आचार्य का अभिप्राय है।

कोई तो 'प्रभूत' ग्रहण से बाह्य विशेषों का ही ग्रहण चाहते हैं। उनके अनुसार उद्भिज्ज और स्वेदज का यहाँ ग्रहण नहीं है। इसलिये उद्भिज्ज और स्वेदज का ग्रहण हो या न हो, प्रभूतों का तो ग्रहण है ही। अतः प्रभूत का ग्रहण सर्वथा निर्दोष है।

प्रश्न—सूक्ष्म के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से बताना चाहिये; क्योंकि वे प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् मातापितृज और प्रभूत प्रसिद्ध हैं; इसलिये इनका ग्रहण तो युक्त है, किन्तु सूक्ष्म तो अप्रसिद्ध हैं। अतः इनकी उत्पत्ति और अस्तित्व कैसे है ? यह बताना चाहिये।

उत्तर—पूर्व सर्ग में प्रकृति से उत्पन्न प्राणियों में सत्त्वधर्म की अधिकता से

तदेतदद्यापि चानुवर्तते—यत् कच्छपिका निरूपितेना[निरीक्षितेना]ण्डधारणं करोति। प्रियं खल्वपि चक्षुषा निरीक्ष्य कृतार्थमात्मानं मन्यते। तस्यामपि क्षीणायां वाक्सिद्धिर्बभूव। अभिभाष्य प्राणिनो यदिच्छन्ति, तदापादयन्ति। तदद्याप्यनुवर्तते—यच्छङ्खी विरुतेनापत्यं बिभर्ति। प्रियं खल्वपि सम्भाष्य महतीं प्रीतिमनुभवति। तस्यामुपक्षीणायां हस्तसिद्धिर्बभूव। संस्पृश्य पाणिमीप्सितमर्थमुपपादयन्ति। तदेतदद्याप्यनुवर्तते—यत् प्रियं चिरादालोक्य पाणौ संस्पृश्य प्रीतिर्भवति। अस्यामुपक्षीणायामाश्लेषसिद्धिर्बभूव। आलिङ्गनेन प्राणिन ईप्सितं लभन्ते। तदेतदद्याप्यनुवर्तते—यत् प्रियमालिङ्ग्य निर्वृतिर्भवति। तस्यामुपक्षीणायां द्वन्द्वसिद्धिरारब्धा। स्त्रीपुंसौ संघृष्यापत्यमुत्पादयेताम्, ममेदं ममेदमिति च परिग्रहाः प्रवृत्ताः। एतस्मिन्नेवावसरे संसारो वर्ण्यते।

स्त्री-पुरुष दो का संयोग हुये बिना मन से ही (संकल्प से ही) सन्तान या अन्य कोई अभीष्ट वस्तु उत्पन्न हुई।

यह स्थिति आज भी चली आ रही है—जैसे, कछुवी बिना संयोग के निरीक्षण-मात्र से अण्ड धारण करती है। अपने प्रिय को नेत्र से देखकर भी अपने को कृतार्थ मानती है। उस सिद्धि के भी क्षीण हो जाने पर वाक्सिद्धि हुई। उसके अनुसार बोलकर प्राणी जो चाहते हैं, उसे सम्पादित कर लेते हैं। उसकी अनुवृत्ति आज भी हो रही है; जैसे शङ्खी आवाज द्वारा अपत्य को धारण कर लेती है। वह अपने प्रिय के प्रति सम्भाषण करके ही महती प्रीति का अनुभव करती है।

उस सिद्धि के क्षीण हो जाने पर हस्त की सिद्धि हुई। इसके अनुसार हाथ का स्पर्श कर अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं। वह सिद्धि आज भी वर्तमान है। जैसे प्रिय को चिरकाल तक देखकर हाथ का स्पर्श कर प्रीति उत्पन्न होती है। इस सिद्धि के भी क्षीण हो जाने पर आश्लेष (आलिङ्गन) की सिद्धि हुई। आलिङ्गन द्वारा प्राणी अपने ईप्सित को प्राप्त कर लेते हैं। यह सिद्धि आज भी वर्तमान है। जैसे अपने प्रिय का आलिङ्गन कर निर्वृति (तृप्ति) प्राप्त हो जाती है। इस सिद्धि के भी क्षीण हो जाने पर द्वन्द्व (मैथुन) की सिद्धि प्रारम्भ हुई। इसके अनुसार स्त्री-पुरुष परस्पर मैथुन द्वारा सन्तान उत्पन्न करते हैं। और इस स्थिति में 'यह मेरा है, यह मेरा है' इस तरह की भावना की प्रवृत्ति लोक में हुई। इसी ममता के अवसर में संसार का वर्णन आचार्यों के द्वारा किया जाता है।

तत्र चाचार्याणां विप्रतिपत्तिः। पञ्चाधिकरणस्य तावद् वैवर्तं[1] शरीरं मातापितृसंसर्गकाले करणाविष्टं शुक्रशोणितमनुप्रविशति। तदनुप्रवेशाच्च कललादिभावेन विवर्धते। व्यूढावयवं तूपलब्धप्रत्ययं मातुरुदरान्निःसृत्य यौ धर्माधर्मौ षट्सिद्ध्युपभोगकाले कृतौ तद्वशादवतिष्ठते। यावत् तत्क्षयाच्छरीरपातस्तावत्। यदि धर्मसंस्कृतं करणं; ततो द्युदेशं सूक्ष्मशरीरेण प्राप्यते; तद्विपर्ययात्तु यातनास्थानं तिर्यग्योनिं वा, मिश्रीभावेन मानुष्यम्।

एवमातिवाहिकं सूक्ष्मशरीरमिन्द्रियाणां धारणप्रापणसमर्थं नित्यं बाह्येनाऽपायिना परिवेष्ट्यते परित्यज्यते च।

पतञ्जलेस्तु सूक्ष्मशरीरं यत् सिद्धिकाले पूर्वमिन्द्रियाणि बीजदेशं

शरीर के सम्बन्ध में आचार्यों में विप्रतिपत्ति (मतभेद) है। पञ्चाधिकरण के मत में वैवर्त [संक्रमणशील] शरीर मातापिता के संसर्गकाल में करणों से आविष्ट होकर शुक्रशोणित में प्रवेश कर जाता है। और प्रवेश के अनन्तर वह कलल, बुद्बुद-मांस-पेशी-करण्ड अङ्ग प्रत्यङ्ग आदि के रूप में वृद्धि को प्राप्त करता है। अवयवसमुदाय से पूर्ण हुआ शरीर स्पष्ट प्रतीयमान होता हुआ माता के उदर से निकल कर पूर्वोक्त षड्विधसिद्धियों के उपभोगकाल में जिन धर्म-अधर्मों को किया रहता है, उनके वशीभूत होकर वह शरीर तब तक अवस्थित रहता है, जब तक कि उन धर्मों के क्षय होने से शरीर का पतन होता है।

उस अवस्था में यदि उसका करण धर्म से संस्कृत होता है, तब वह सूक्ष्मदेह द्वारा द्युलोक में पहुंचाया जाता है। उसके विपरीत अधर्म से संस्कृत होने पर यातना का स्थान नरकलोक को या तिर्यग्योनि (पशु पक्षी आदि) को प्राप्त कराया जाता है, अथवा धर्म-अधर्म उभय के मिश्रण की स्थिति में मानुष योनि को प्राप्त कराया जाता है।

इस प्रकार आतिवाहिक सूक्ष्मशरीर इन्द्रियों का धारण करने में एवं उन्हें दूसरे स्थूल शरीर तक पहुँचाने में समर्थ होता हुआ नित्य (सदा) विनाशशील बाह्य शरीर (स्थूलशरीर) से परिवेष्टित (संपृक्त) होता रहता है और त्याग किया जाता रहता है। यह पञ्चाधिकरण का मत है।

पतञ्जलि के मतानुसार तो जो सूक्ष्मशरीर पूर्वोक्त षड्विध सिद्धियों में अन्य-

१. सूक्ष्मशरीरम्।

नयति, तत्र तत्कृताशयवशाद् द्युदेशं यातनास्थानं वा करणानि वा प्रापय्य निवर्तते। तत्र चैवं युक्ताशयस्य कर्मवशादन्यदुत्पद्यते, यदिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तदपि निवर्तते, शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते। एवमनेकानि शरीराणि।

विन्ध्यवासिनस्तु विभुत्वादिन्द्रियाणां बीजदेशे वृत्त्या जन्म, तत्त्यागो मरणम्। तस्मान्नास्ति[1] सूक्ष्मशरीरम्। तस्मान्निर्विशेषः संसार इति पक्षः।एषा सूक्ष्मशरीरस्योत्पत्तिः।

आह—एवमनेकनिश्चयेष्वाचार्येषु भवतः का प्रतिपत्तिरिति ?

उच्यते—यत्तावत् पतञ्जलिराह—सूक्ष्मशरीरं विनिवर्तते पुनश्चान्यदुत्पद्यते—तत् 'सूक्ष्मास्तेषां नियताः' इति वचनादस्माभिर्नाभ्युपगम्यते। तस्मात्—

तम पूर्वसिद्धि के काल में इन्द्रियों को बीजदेश (शुक्रशोणितदेश) तक पहुँचाता है, और उस काल में किये गये धर्माधर्मादि कर्मों के संस्कारवश द्युदेश (स्वर्ग) अथवा यातनास्थान (नरक) तक इन्द्रियों को पहुँचा कर वह स्वयं निवृत्त हो जाता है। वहाँ पूर्वसंस्कार से युक्त प्राणी के कर्मवशात् दूसरा सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होता है; जो इन्द्रियों को बीजदेश तक पहुँचाता है; और वह भी निवृत्त हो जाता है। और पुनः शरीरपात होने पर दूसरा सूक्ष्मशरीर उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार पतञ्जलि के मत में अनेक सूक्ष्मशरीर होते हैं।

विन्ध्यवासी के मत में तो इन्द्रियों के व्यापक होने से बीजदेश (शुक्रशोणित देश) में वृत्ति से प्रकट होने से जन्म होता है, तथा उसका त्याग कर देना अर्थात् तिरोहित हो जाना मरण है। अतः सूक्ष्मशरीर कोई नहीं होता है। इसलिये विन्ध्यवासी के मतानुसार संसार (आवागमन) सूक्ष्मशरीररूप विशेष से रहित होता है, यह पक्ष है। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति का वर्णन विभिन्न आचार्यों की दृष्टि से किया गया।

प्रश्न—इस प्रकार शरीर के सम्बन्ध में आचार्यों के अनेक प्रकार के निश्चय की स्थिति में आप का निश्चय क्या है ?

उत्तर—जो तो पतञ्जलि ने कहा है कि 'पूर्व सूक्ष्मशरीर निवृत्त हो जाता है और पुनः दूसरा उत्पन्न होता है' उसे हम सांख्यवादी नहीं मानते हैं। क्योंकि; 'सूक्ष्मास्तेषां नियताः' ऐसा आचार्य का वचन है; इसलिये—

---

१. 'अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना' (श्लोकवार्तिके, आत्मवादः ६२)।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

तत्र पूर्वोत्पन्नमित्यनेन महदादेः सूक्ष्मपर्यन्तस्य लिङ्गस्यासर्गप्रलयान्नित्यत्वमाह । असक्तमित्यनेन गूढस्थिरबीजानुप्रवेशमाचष्टे । न हि लिङ्गं क्वचिद् व्याहन्यते, किन्तर्हि ? लिक्षादिबीजमप्याविशति । बदरगोलमपि भित्त्वा प्रविशति । नियतमित्यनेन प्रतिपुरुषव्यवस्थां प्रतिजानाति । साधारणो हि महान् प्रकृतित्वादिति वार्षगणानां पक्षः ।

महदादीत्यनेन प्राणाष्टकं परिगृह्णाति पूर्वात्मानः प्राणाद्याश्च पञ्च वायव इति । सूक्ष्मपर्यन्तमिति तत्त्वान्तरप्रतिषेधमाह, एतावदेव नातोऽन्यदिति । संसरतीति गतिमाचष्टे, ततश्चाविभुत्वाद् बीजावेशत्यागौ प्रख्यातौ भवतः । निरुपभोगमिति शरीरान्तरस्यावकाशं करोति । सूक्ष्मशरीरस्य ह्युपभोगसामर्थ्येऽभ्युपगम्यमाने शरीरान्तरस्य निरवकाशत्वादनुत्पत्तिप्रसङ्गः स्यात् ।

महत् से लेकर सूक्ष्मपर्यन्त लिङ्गशरीर सर्ग के आदि में उत्पन्न होता है, सर्वत्र असक्त (रुकावटरहित), नियत उपभोगशून्य और धर्माधर्मादि भावों से अधिवासित होकर संसरण (आवागमन) करता है । यह कारिकार्थ है ।

यहाँ पूर्वोत्पन्नम्—इत्यादि कारिका के अन्तर्गत 'पूर्वोत्पन्नम्' इस पद से कहा गया है कि 'महत् से लेकर सूक्ष्मपर्यन्त लिङ्गशरीर सर्ग से लेकर प्रलयपर्यन्त नित्य रहता है' । 'असक्तम्' इसके द्वारा अत्यन्त रहस्य एवं स्थिर बीज में उसका अनुप्रवेश बताया है आचार्य ने । लिङ्गशरीर कहीं भी व्याहत नहीं होता; किन्तु अव्याहत होकर लिक्षा आदि के बीज में भी प्रवेश कर जाता है, बेरफल के गोलक का भी भेदन कर उसमें प्रविष्ट हो जाता है । 'नियतम्' इस पद द्वारा आचार्य प्रतिपुरुष पृथक् पृथक् लिङ्गशरीर व्यवस्थित है, इस बात को प्रतिज्ञा करते हैं । महत् तत्त्व तो प्रकृति होने से साधारण है, यह वार्षगण का पक्ष है ।

कारिकागत 'महदादि' इस पद से आचार्य प्राणाष्टक या प्राणाद्यष्टक का ग्रहण करते हैं । वे हैं—महत्तत्त्व (बुद्धि) अहङ्कार और मनरूप पूर्वात्मा तथा प्राणादि पञ्च वायु । 'सूक्ष्मपर्यन्तम्' पद से आचार्य लिङ्ग शरीर के अन्तर्गत अन्य तत्त्वों का प्रतिषेध करते हैं कि इतना ही तत्त्व इसमें है; इससे अतिरिक्त नहीं है । 'संसरति' पद से गति कही गयी है । एवं उसके अविभु होने से बीज में (शुक्रशोणित में) उसका

भावैरधिवासितमित्यनेन भावाष्टकपरिग्रहं द्योतयति। बुद्धिरूपैरिह धर्मादिभिरधिवासितम्। तत्सामर्थ्यात् सर्वत्राप्रतिहतं प्राणाष्टकं सूक्ष्मशरीरेऽवस्थानगमनमात्रफले व्यवस्थितम्। द्यु-तिर्यक्-प्रेतेषु संसरतीति तेनैव चार्थसिद्धौ शरीरान्तरपरिकल्पनाऽऽनर्थक्यमतो न बहूनि शरीराणि ॥ ४० ॥

यत् पुनरेतदुक्तम्—विभुत्वादिन्द्रियाणां स्वात्मन्यवस्थानं वृत्तिलाभो वृत्तिनिरोधश्च संसार इति—अयुक्तमेतत्। कस्मात्? विभुत्वासिद्धेः। न हि विभुत्वमिन्द्रियाणां कश्चिदभ्युपगच्छति। किं कारणम्? सततोपलब्धिप्रसङ्गाद् युगपदुपलब्धिप्रसङ्गाच्च। कार्यकरणपुरुषाणां हि

आवेश (अनुप्रवेश) तथा मरणकाल में उसका त्याग कहे गये हैं। 'निरुपभोगम्' पद से उससे अतिरिक्त स्थूलशरीर को अवसर मिलता है। क्योंकि सूक्ष्मशरीर में उपभोग की शक्ति मानी जाय तो अन्य शरीर (स्थूलशरीर) निरर्थक हो जायगा और उसकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। किन्तु स्थूलशरीर की उत्पत्ति और उसके द्वारा सुख-दुःख का भोग देखा जाता है; इसीलिये सिद्ध है कि सूक्ष्मशरीर उपभोग रहित होता है।

'भावैरधिवासितम्' इस द्वारा आचार्य भावाष्टक का परिग्रह सूचित करते है। अर्थात् बुद्धिस्वरूप धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्यनामक आठ भावों से यह सूक्ष्मशरीर यहाँ अधिवासित (युक्त) रहता है। एवं उस धर्मादि की शक्ति से सर्वत्र अव्याहत हुए प्राणादि अष्टक की सूक्ष्मशरीर में अवस्थिति एवं गमनरूप फल के लिये व्यवस्था बनती है। यह सूक्ष्मशरीर द्युलोक-तिर्यक् योनि एवं प्रेत (यातनास्थान नरकादि) में संसरण करता है; और उसी से भोग-अपवर्गरूप पुरुष का उभय प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में अन्य शरीर की कल्पना अनर्थक होने से बहुत सूक्ष्मशरीर नहीं होते; यह सिद्धान्त है ॥ ४० ॥

यह जो कहा कि—इन्द्रियों के विभु होने से उनका स्वात्मा (शरीर) में अवस्थान—अपनी वृत्ति का लाभ एवं वृत्ति का निरोध होना ही संसार है—यह कथन अयुक्त है। क्योंकि इन्द्रियों का विभुत्व असिद्ध है। कोई भी आचार्य इन्द्रियों का विभुत्व नहीं स्वीकार करता है।

प्रश्न—विभुत्व न स्वीकार करने का क्या कारण है?

उत्तर—क्योंकि इन्द्रियाँ यदि विभु हों तो सदैव शब्दादि विषय की उपलब्धि

विभुत्वे सततोपलब्धिप्रसङ्गो विषयाणां प्रतिबन्धाभावात् प्रसज्यते। प्राप्त्यविशेषाच्च सर्वविशेषाणां युगपदुपलब्धिप्रसङ्गः।

व्यवहितविषयग्रहणं च। सर्वत्र सन्निधानात् सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः प्रत्यक्षानुमानागमानां चाविशेषः प्रसज्यते। वृत्तिविशेषात् तद्विशेष इति चेत्, न, हेत्वभावात्। विभूनामिहास्ति वृत्तिविशेष इत्यत्र हेतुरनुक्तः। तस्मान्न करणानां विभुत्वमुपपद्यते।

तस्मात्—

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद् विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥ ४१॥

यथा हि चित्रस्य कुड्यमृतेऽवस्थानं नास्ति, स्थाणुपुरुषादिभ्यो वा

होने लगेगी और एक साथ अनेक विषयों की भी उपलब्धि होने लगेगी। अर्थात् कार्य (देह), करण (इन्द्रियाँ), और पुरुष को व्यापक मानने पर कोई बाधा नहीं होने से विषयों की सतत उपलब्धि की प्रसक्ति हो जायगी। साथ ही सभी विषयों के साथ समानरूप से प्राप्ति (सम्बन्ध) होने के कारण सभी विषयों की भी एक साथ उपलब्धि की प्रसक्ति हो जायगी।

इसके अतिरिक्त बीच में किसी पदार्थ का व्यवधानप्राप्त विषय का भी ग्रहण होने लगेगा; यदि कार्य-करण-पुरुष सबको विभु मान लिया जाय। एवं इन्द्रियों के विभु होने की स्थिति में निकट-दूर सर्वत्र इन्द्रियों का सन्निधान होने के कारण प्रत्यक्ष-अनुमान और आगम प्रमाणों में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। इन प्रमाणों में परस्पर विशेषता का यही कारण है कि प्रत्यक्ष सन्निकृष्टविषयक होता है और अनुमान तथा आगम विप्रकृष्टविषयक होते हैं।

यदि कहो कि—वृत्ति में विशेषता होने से प्रत्यक्ष-अनुमान और आगम प्रमाणों में विशेषता है—तो यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वृत्ति की विशेषता में कोई हेतु नहीं है। अर्थात् इन विभुओं की वृत्तिओं में विशेषता है, इसमें कोई हेतु आपने नहीं कहा है। इसलिये करणों का विभुत्व स्वीकार करना ठीक नहीं है।

अतः जैसे आधार के बिना चित्र नहीं बनता, स्थाणु (ठूँठ) आदि के बिना छाया नहीं बनती, वैसे ही विशेषों के बिना लिङ्ग [बुद्ध्यादि] निराश्रय नहीं रह सकता है।

विना छायायाः, तद्वद् विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्। तस्मादुपपन्नमेतत् सविशेषः संसारः।

आह–यदि सविशेषः संसारः, बीजदेशगमने शरीरमुपलभ्येत, न त्वेवम्। तस्मादयुक्तमेतत्।

उच्यते––न विशेषितत्वात्। सूक्ष्मं तच्छरीरमिति विशेषितम्। ततो नाऽस्याहेतुकमग्रहणमिति।

आह–सूक्ष्मशरीरयोगात् पूर्वेश्वरत्वप्रसङ्गः। तस्मादयुक्तं तन्निमित्तमस्याग्रहणमिति।

उच्यते–न, अनेकान्तात्। तद्यथा क्षुद्रजन्तूनां सूक्ष्मशरीरं लघिमा च, न चैषामीश्वरत्वमेवं सर्वप्राणिनां स्यात्।

अथ मतम्–अगृह्यमाणेन सम्बन्धात् स्थूलस्यापि शरीरस्याग्रहणं

अर्थात् कुड्य (दीवाल) के बिना चित्र की स्थिति नहीं है; अथवा स्थाणुपुरुषादि के बिना छाया की स्थिति नहीं है; वैसे ही विशेषों के बिना निराश्रय लिङ्ग नहीं रह सकता है। इसलिये यह युक्त है कि संसार सविशेष होता है, निर्विशेष नहीं।

शङ्का—यदि संसार (संसरण) सविशेष होता है तो सूक्ष्मशरीर के बीजदेश (शुक्रशोणितदेश) में पहुँचाये जाने पर शरीर की उपलब्धि होनी चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः संसार को सविशेष (सशरीर) कहना अयुक्त है।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ विशेषण के साथ कहा गया है। अर्थात् वह शरीर सूक्ष्म है, ऐसा विशेषण के साथ कहा है। इसलिये बीजदेश में इस सूक्ष्मशरीर की उपलब्धि का न होना अकारण नहीं है।

शङ्का—सूक्ष्मशरीर का योग होने से उसमें प्रथम ऐश्वर्य की प्रसक्ति हो जायगी। अर्थात् उसमें प्राथमिक ईश्वरत्व होने लगेगा। इसलिये सूक्ष्मत्व के कारण उसकी अनुपलब्धि बताना युक्त नहीं है।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि उसमें व्यभिचार दोष है; कारण, क्षुद्रजन्तुओं को सूक्ष्मशरीर होता है और लघिमानामक ऐश्वर्य भी है; फिर भी उनमें ईश्वरत्व नहीं है। ऐसे ही सभी प्राणियों में [सूक्ष्मशरीर के होनेमात्र से ईश्वरत्व की प्रसक्ति नहीं होगी।

यदि ऐसा मानो कि तब स्वयं ग्रहण के अयोग्य सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बन्धित

प्रेताञ्जनसिद्धमाल्यादिवत् । तदप्यनुपपन्नम् । अनेकान्तात् । तद् यथा करणैरगृह्यमाणैः शरीरस्य सम्बन्धः, न चाग्रहणम्, पिशाचादिभिर्वा, तथैतदपि स्यात् ।

किञ्च, अन्तःकरणानुविधाने चैश्वर्याभिमानात् । यस्य चाध्यवसामनुविदधत्यणिमादीनि तस्यैश्वर्यमभिप्रेतम्, न तु यस्य स्वभावसिद्धानि । अन्यथा तु पिपीलिकादीनामप्याकाशगमनादैश्वर्यं स्यात् ।

आह—न, शरीरानुपपत्तिप्रसङ्गात् । सूक्ष्मशरीरोत्पत्तौ तर्हि चरितार्थयोः[धर्माधर्मयोः]शरीरान्तरसामर्थ्यं विरुध्यते । तस्मादयुक्तम्—सविशेषः संसारः (इति) ।

होने से स्थूल शरीर का भी ग्रहण नहीं होना चाहिये; जैसे, प्रेत से सम्बन्धित अञ्जन का तथा सिद्ध द्वारा धारण किये हुए माल्य का ग्रहण नहीं होता—तो वह भी अनुपपन्न है। क्योंकि उक्त नियम व्यभिचरित है। जैसे स्वयं ग्रहण के अयोग्य (अप्रत्यक्ष) इन्द्रियों के साथ शरीर का सम्बन्ध है; फिर भी शरीर का अग्रहण नहीं है; किन्तु ग्रहण ही होता है। अथवा पिशाच आदि स्वयं अप्रत्यक्ष हैं; फिर भी उनसे सम्बन्धित व्यक्ति का ग्रहण होता है; वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। अर्थात् अप्रत्यक्ष सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बन्धित होने पर भी स्थूलशरीर का ग्रहण होगा, इसमें कोई बाधा नहीं है।

एवं, सूक्ष्मशरीर को ऐश्वर्य न होने का कुछ अन्य भी हेतु है। जैसे—अन्तःकरण के साथ ही ऐश्वर्य का अभिमान होता है; अन्यथा नहीं। अर्थात् जिसके अध्यवसाय के अनन्तर अणिमा आदि सिद्धियाँ होती हैं; उस अन्तःकरण को ही ऐश्वर्य का होना आचार्य को अभिप्रेत है। जिसको तो अध्यवसाय के बिना ही स्वभावसिद्ध अणिमा आदि हैं; उसके लिये ऐश्वर्य का व्यवहार नहीं होता है। यदि स्वाभाविक सिद्धि की दशा में भी ऐश्वर्य का व्यवहार हो तो पिपीलिका (चींटी) आदि में भी आकाशगमन होने से उनमें भी ऐश्वर्य माना जाने लगेगा।

पूर्वपक्ष—सूक्ष्मशरीर मानना ठीक नहीं है; क्योंकि तब स्थूलशरीर की उत्पत्ति अनुपपन्न हो जायेगी। अर्थात् पूर्व में किये गये धर्म-अधर्म सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति में ही कृतार्थ हो जायेंगे; ऐसी स्थिति में स्थूलशरीर की उत्पत्ति के प्रति उनकी शक्ति व्याहत हो जायेगी। अतः यह कथन अयुक्त है कि बुद्धि का संसरण सूक्ष्मशरीर के साथ ही होता है।

उच्यते—न, अनभ्युपमात् । न धर्माधर्मनिमित्तं वैवर्तं शरीरम्, किं तर्हि ? आधिकारिकमित्यदोषः । न चानेकशरीरत्वमभ्युपगम्यते । तस्मात् पक्षान्तरोपालम्भोऽयम् ।

किं च कृत्स्नाशयपरिणामाऽप्रतिज्ञानात् । कृत्स्नस्याशयस्य परिणामं जानन्नेवमुपालभ्यः स्यादेकदेशस्तु नो विपरिणामी । तस्मान्न किञ्चिदेतत् ।

निमित्ताव (वि) शेषादाशयैकदेशाभिव्यक्तिरयुक्तेति चेत्, स्यान्मतम्—इह निमित्तानामल्पबहुत्वविशेषादाशयाभिव्यक्तिविशेषो दृष्टः, तद् यथा वाय्वादिक्रोधादिषु । प्रायणकालश्चायं फलाभिव्यक्तौ निमित्तम्; अविशिष्टश्चासौ । तस्मादाशयैकदेशपरिणामोऽनुपपन्न इति ।

समाधान—उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि सांख्य वैसा नहीं मानता है। अर्थात् सांख्यमत में वैवर्त शरीर (सूक्ष्मशरीर) का निमित्त धर्म-अधर्म नहीं होता है। क्योंकि सूक्ष्मशरीर तो आधिकारिक शरीर होता है; इसलिये कोई दोष नहीं है। कारण, धर्म-अधर्म द्वारा अनेक शरीर (सूक्ष्म-स्थूल) की उत्पत्ति सांख्य को अभिमत नहीं है; इसलिये यह आक्षेप किसी अन्यपक्ष में हो सक्ता है; सांख्यपक्ष में नहीं।

एवं सम्पूर्ण आशय (धर्माधर्म वासना) का परिणाम होना हम नहीं मानते हैं। जो सम्पूर्ण आशय का पणिाम होना मानते हैं; उनके प्रति यह आक्षेप हो सकता है। हमारे मत में तो आशय का एक देश ही परिणामी होता है। अर्थात् आशय के एक देश से सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होगा और अन्य अंश से स्थूल शरीर की उत्पत्ति होगी। अतः यहाँ उक्त आक्षेप निरर्थक है।

शङ्का—यदि कहो की समान निमित्त होने के कारण आशय के एक देश की अभिव्यक्ति अयुक्त है। अर्थात् यहाँ निमितों की अल्पता या बहुत्वरूप विशेषता के कारण आशय की अभिव्यक्ति में भी अन्तर देखा गया है। जैसे, वायु आदि में और क्रोध आदि में अल्प या बहुत निमित्त से अल्प या बहुत वायु आदि और क्रोध आदि का प्रकोप होता है। वैसे ही निमित्त के अल्पत्व या बहुत्व की स्थिति में आशय के एकदेशकी या सम्पूर्ण आशय की अभिव्यक्ति होने में कोई बाधा भले न हो; किन्तु प्रकृत में तो प्रायण (मृत्यु) काल ही नूतन सूक्ष्मशरीररूपी फल की अभिव्यक्ति में निमित्त है और वह प्रायणकालरूप निमित्त अविशिष्ट (समान) है। अर्थात् स्थूलशरीर का भी निमित्त प्रायणकाल ही है। अतः आशय के एकदेश का ही परिणाम सूक्ष्मशरीर है; यह कथन अनुपपन्न है।

एतच्चायुक्तम् । कस्मात् ? नैमित्तिकत्वात् । पूर्वकृतस्य कर्मणः फलभोगपरिसमाप्तिः, साम्प्रतस्य च फलभोगार्थं विपरिणामः प्रायणस्य निमित्तम्, न तु प्रायणो(णं)विपरिणामस्येति ।

किञ्च शरीरान्तराभावश्च । कृत्स्नस्याशयस्याभिव्यक्तिमिच्छतः शरीरान्तराभावो निमित्तान्तराभावात् प्राप्नोति । तत्र (पुनः) कृतेनेति चेत्, न, कललाद्यवस्थानाशे तदसंभवात् । तत्र कृताभ्यां हि बीजावेशः करणस्य निष्पादितो यावत् कललाद्यवस्थायामेव तच्छरीरं विनष्टमिति तत्र कृताशयासम्भवाच्छरीरान्तरानुपपत्तिप्रसङ्गः ।

किं च स्थावराणां च शरीरान्तरासम्भवः । आशयस्य स्थावरशरीरारम्भे चरितार्थत्वात् । स्थावरशरीरेण चाशयोपादानासम्भवात् तस्य

समाधान—उक्त शङ्का अयुक्त है; क्योंकि यहाँ प्रायणकाल निमित्त नहीं है किन्तु नैमित्तिक है । अर्थात् पूर्वकृत कर्म के फल के भोग की समाप्ति और फलभाग के लिये वर्तमान कर्म का विपरिणाम ही प्रायण का (मृत्यु का) निमित्त है । ऐसा नहीं है कि मृत्यु ही कर्म के विपरिणाम का हेतु हो । तात्पर्य यह है कि प्रायण (मृत्यु) कर्माशय के परिणाम का निमित्त नहीं है; किन्तु कर्माशय का विपरिणाम ही प्रायण का निमित्त है । ऐसी स्थिति में प्रायणरूप एक निमित्त के कारण समस्त कर्माशय का परिणाम कहकर सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति में ही समस्त कर्माशय के व्यापृत हो जाने से स्थूलशरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी—यह पूर्वोक्त आपत्ति अयुक्त है । अतः आशयः के एकदेश का परिणाम सूक्ष्मशरीर है और अन्य एकदेश का परिणाम स्थूलशरीर है—ऐसा मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

एवं, शरीरान्तर का अभाव भी होने लगेगा । अर्थात् समस्त कर्माशय की अभिव्यक्ति (विपरिणाम) मानने वाले के लिये शरीरान्तर का अभाव प्रसक्त हो जायेगा; क्योंकि अब कोई निमित्त शेष नहीं रह गया है; जिससे शरीरान्तर (स्थूल शरीर) की उत्पत्ति हो सके ।

यदि कहो कि पुनः कृत कर्माशय से शरीरान्तर होगा—तो ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि कललादि अवस्था का नाश हो जाने पर पुनः कर्माशय असम्भव है । अर्थात् पूर्वकृत धर्माधर्म [से करण का बीजानुप्रवेशरूप कार्य निष्पन्न हो चुका । और उसके परिणामस्वरूप कललादि अवस्था के रहते ही वह शरीर विनष्ट हो गया । ऐसी स्थिति

संसाराभावः प्राप्तः । तस्मादुपपन्नमेतत् पुरुषार्थमादिसर्गोत्पन्नं सूक्ष्मशरीरं संसरति । यावच्च स पुरुषार्थो न परिसमाप्यते तावत् तिष्ठतीति ॥४१॥

आह—यदि पुरुषार्था लिङ्गस्योत्पत्तिरभ्युपगम्यते, तत्समनन्तरमेवानेन पुरुषार्थोऽध्यवसाययितव्यो न पुनर्देवमानुषतिर्यग्भावेन पुनः पुनराजवञ्जवीभावोऽनुष्ठातव्य इति ।

उच्यते—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

यद्यपि पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं लिङ्गमुत्पद्यते, तथापि सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि प्राधान्याद् रजस्तमोभ्यामभिभूते सत्त्वे तत्प्रेरितं निमित्तनैमित्ति-

---

में धर्माधर्माशय का किया जाना सम्भव नहीं होने से शरीरान्तर (स्थूलशरीर) की उत्पत्ति नहीं बन सकेगी ।

एवं स्थावरों के अनन्तर पुनः दूसरा शरीर असम्भव हो जायेगा । क्योंकि पूर्वकर्माशय तो स्थावरशरीर की उत्पत्ति में ही चरितार्थ हो गया और उस स्थावरशरीर से धर्माधर्माशय की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । ऐसी स्थिति में स्थावरों का पुनः संसरण नहीं होना चाहिये ।

इसलिये यह सिद्धान्त युक्त है कि पुरुषार्थहेतु आदिसर्ग में उत्पन्न हुआ सूक्ष्मशरीर संसरण करता है और जबतक वह पुरुषार्थ (भोग-अपवर्ग) पूर्ण नहीं होता; तबतक वह सूक्ष्मशरीर कायम रहता है ।

आशङ्का—यदि लिङ्गशरीर की उत्पत्ति पुरुषार्थ के लिये मानते हैं; तब अपनी उत्पत्ति के तुरन्त बाद ही इसके द्वारा पुरुषार्थ का साधन कराया जाना चाहिये; न कि देव मनुष्य और तिर्यक् के रूप में बार-बार जन्ममरण की परम्परा करनी चाहिये ।

उत्तर—'पुरुषार्थ हेतुकमिदम् ··· ··· ··· लिङ्गम् ॥

अर्थात् यह लिङ्गशरीर पुरुषार्थ से प्रयुक्त होकर निमित्त (धर्माधर्मादि) और नैमित्तिक (देह) के सम्बन्ध से प्रकृति के विभुत्व के प्रभाव से नट के समान व्यवस्थित होता है । अर्थात् अनेक स्वरूप धारण करता रहता है ।

यद्यपि भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये लिङ्गशरीर की उत्पत्ति

कशरीरेन्द्रियविषयोपभोगनिर्वर्तकं श्रृणोति'[1] । तद्यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामो यमराज्यमग्निष्टोमेनाऽभिजयती'ति । तत्र फलेच्छया योनीः प्राणादींश्च सम्मुखीकृत्य क्रियामारभते ।

गुणवृत्तवैचित्र्याच्च प्रयत्नवानपि मनोवाग्देहैर्मलिनमपि कर्म करोति । ततश्च प्रकृतेर्विभुत्वयोगात् तेन तेन निमित्तेनोपस्थापितं देव-मनुष्य-तिर्यक्-प्रेतादिशरीरमेकस्वभावमपि सन्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्ग-माकृतिविशेषोपादानत्यागसाम्यतः । विभुत्वं[विभुत्वं] गुणानां त्रयाणा-मपि साम्यादितरेतराभिभवो दृष्टः । तस्मात् संसारः । तन्निमित्तानुपा-दान्मोक्षः ॥ ४२ ॥

होती है; तथापि सत्त्व रजः और तमोगुणों के मध्य जब रजोगुण-तमोगुण प्रधान हो जाता है; और प्रधान होने के कारण उन दोनों से सत्त्वगुण अभिभूत (तिरोहित) हो जाता है; उस दशा में रजोगुण तमोगुणों से सत्त्व के अभिभूत हो जाने पर उनसे प्रेरित हो कर्म को करता है; जो कर्म निमित्त (धर्माधर्म) और नैमित्तिक शरीर-इन्द्रिय द्वारा किये जाने वाले शब्दादि विषय के उपभोग का सम्पादक होता है। जैसा कि श्रुतिवचन हैं 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, यमराज्यमग्निष्टोमेनाभिजयति' इत्यादि । इन श्रुतियों के अनुसार मनुष्य अभीष्ट फल की इच्छा से अपनी वर्तमान योनियों को और प्राणादि से संश्लिष्ट सूक्ष्मशरीर को सम्मुख कर अग्निहोत्रादि क्रिया का आरम्भ करता है।

इस प्रसङ्ग में गुणों के स्वभाववैचित्र्य के कारण प्रयत्नशील भी मानव अपने मन-वचन और देह से मलिन कर्म भी करता है। उसके अनन्तर प्रकृति के विभुत्व के (शक्ति के) प्रभाव से भिन्न-भिन्न धर्मादि निमित्त से उपस्थापित (प्राप्त) देव-मनुष्य-तिर्यक् प्रेतादि शरीधारी होकर नट के समान व्यवहार करता है; यद्यपि सभी स्थितियों में वह लिङ्गशरीर एक स्वभाव का रहता है। जैसे, नट अपना स्वभाव छोड़े बिना राम-परशुराम-अजातशत्रु आदि विभिन्न रूपों में अभिनय करता है, उसी तरह। यहाँ आकृतिविशेष का ग्रहण करना और पुनः उसका त्याग कर देना लिङ्ग-देह और नट दोनों में समानरूप से है। इसीलिये 'नटवद् व्यवतिष्ठते' ऐसी उपमा दी गयी। एवं,प्रकृति के तीनों गुणों में विभुत्व भी समभाव में है; इसीलिये तीनों ही गुणों द्वारा एक दूसरे का अभिभव देखा गया है। ऐसा नहीं है कि कोई एक ही गुण सदा प्रबल रहे और दूसरा सदा अबल रहे।

---

१. अथवा श्रीणातीति पाठः। तस्यार्थः पचति फलोन्मुखं करोति इति।

आह—भावा इति तत्र भवताऽभिधीयते, न चास्य शब्दस्यार्थं प्रतिपद्यामहे। तस्माद् वक्तव्यमिदं के पुनरमी भावा इति ?

उच्यते—धर्माद्या भावाः। धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमित्येते भावाः।

तत्राचार्याणां विप्रतिपत्तिः। पञ्चाधिकरणस्य तावद् द्विविधं ज्ञानं प्राकृतिकं वैकृतिकं च। प्राकृतिकं त्रिविधम्-तत्त्वसमकालं सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च। तत्र तत्त्वसमकालं संहृतश्च महांस्तत्त्वात्मना (इति) महति प्रत्ययो भवति। उत्पन्नकार्यका[क]रणस्य तु सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च भवति।

सांसिद्धिकं यत् संहृतव्यूहसमकालं निष्पद्यते यथा परमर्षेर्ज्ञानम्। आभिष्यन्दिकं च संसिद्धकार्यकरणस्य कारणान्तरेणोत्पद्यते। वैकृतं तु द्विविधम्—स्ववैकृतं परवैकृतं च। स्ववैकृतं तारकम्, परवैकृतं सिद्ध्यन्तराणि।

इससे सिद्ध है कि धर्मादिभावनिमित्तक संसार होता है; और उस निमित्त का परित्याग हो जाने पर मोक्ष होता है।

प्रश्न—आपने भावों की चर्चा की है; किन्तु भावशब्द का क्या अर्थ है ? हम नहीं समझ पा रहे हैं। अतः आपको बताना चाहिये कि वे भाव कौन हैं ?

उत्तर—धर्म आदि भाव हैं। अर्थात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य-अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य और अनैश्वर्य से आठ भाव हैं।

यहाँ आचार्यों में मतभेद है। पञ्चाधिकरण के मत में दो प्रकार का ज्ञान है—(१) प्राकृतिक और (२) वैकृतिक। प्राकृतिक ज्ञान के तीन भेद हैं—१. तत्त्वसमकाल २. सांसिद्धिक और ३. आभिष्यन्दिक। प्रकृति के अनन्तर महान् एक तत्त्व के रूप में संहृत हुआ और उसी समय महत्तत्त्व में ज्ञान उत्पन्न होता है। वह तत्त्वसमकाल ज्ञान है। कार्य (देह) और करण (इन्द्रियाँ) इनके उत्पन्न हो जाने के बाद होने वाला ज्ञान सांसिद्धिक है और आभिष्यन्दिक है। इनमें संहृतव्यूह (शरीरेन्द्रिय की संघात-प्राप्ति) के समकाल जो ज्ञान प्राप्त होता है; वह सांसिद्धिक है। जैसे, परमर्षि कपिल का ज्ञान। देहेन्द्रियप्राप्त प्राणी को अन्य कारण के योग से आभिष्यन्दिक ज्ञान उत्पन्न होता है। ये प्राकृतिक ज्ञान के तीन भेद हुये।

आह च—

तत्त्वसमं वैवर्तं तत्राभिष्यन्दिकं द्वितीयं स्यात् ।
वैकृतमतस्तृतीयं षाट्कौशिकमेतदाख्यातम् ॥

अत्र तु तत्त्वैः सहोत्पत्त्यविशेषात् सांसिद्धिकमभेदेनाह[1]

वैकृतमपि च द्विविधं स्ववैकृतं तत्र तारकं भवति ।
स्यात् सप्तविधं परवैकृतं स्वतारादि निर्दिष्टम् ॥ इति ।

यथा ज्ञानमेवं धर्मादयोऽपीति ।

विन्ध्यवासिनस्तु नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकं च । किंतर्हि ? सिद्धिरूपमेव । तत्र परमर्षेरपि सर्गसंघातव्यूहोत्तरकालमेव ज्ञानं निष्पद्यते, यस्माद्

वैकृतज्ञान दो प्रकार का होता है–स्ववैकृत और परवैकृत। स्ववैकृतज्ञान तारक होता है; जो मुक्ति का साधक है । परवैकृत ज्ञान अन्य सिद्धियाँ हैं; जैसे विप्रकृष्ट व्यवहित आदि का ज्ञान। कहा भी गया है—तत्त्वसमं वैवर्तम् इत्यादि । अर्थात् तत्त्वसम ज्ञान वैवर्त (सांसिद्धिक) ज्ञान है। आभिष्यन्दिक ज्ञान दूसरा है और वैकृतज्ञान तीसरा है । यही तृतीय ज्ञान षाट्कौशिक ज्ञान कहा गया है ।

उक्त श्लोक में तत्त्वसम ज्ञान के अभिन्नरूप में सांसिद्धिज्ञान कहा गया है; क्योंकि तत्त्वों के साथ उत्पत्ति इसकी भी होती है। अतः समानता होने से सांसिद्धिक ज्ञान को पृथक् न कहकर तत्त्वसम ज्ञान से अभिन्न रूप में ही कहा ।

वैकृत ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—प्रथम स्ववैकृत ज्ञान जो तारक होता है। दूसरा परवैकृत ज्ञान सात प्रकार का होता है, जिसे स्वतार (सुतार)[2] आदि नाम से निर्दिष्ट किया गया है । जैसे ज्ञान का उक्त प्रकार है, वैसे धर्मादि के सम्बन्ध जानना चाहिये ।

विन्ध्यवासी आचार्य के मत में तो तत्त्वसम ज्ञान और सांसिद्धिक ज्ञान दो नहीं होता है; किन्तु सिद्धिरूप ही ज्ञान होना है । परमर्षि कपिल को भी सृष्टिरूप संघात एवं कार्यकारणव्यूह (देहेन्द्रियधारण) के उत्तर काल में ही ज्ञान उत्पन्न होता है; क्योंकि गुरुमुख प्राप्ति से ही प्रतिपत्ति होगी । यह भी कहा है कि निमित्त सिद्ध होकर

---

१. अत्र पूर्णविराम उचितः ।

२. आदि पद से तारतार, रम्यक्, सदामुदित, प्रमोद, मुदित और मोदमान का ग्रहण करना चाहिये । सम्भवतः इसी मत का खण्डन वाचस्पति मिश्र ने 'ऊहः शब्दोऽध्ययनम्'''' का० सं० ५१ की तत्त्वकौमुदीव्याख्या में किया है ।

गुरुमुखाभिप्रतिपत्तेः प्रतिपत्स्यत इत्यपीत्याह-सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्यानुग्रहं कुरुते, नापूर्वमुत्पादयतीति। निमित्तनैमित्तिकभावाच्चैवमुपपद्यते। तत्र परमर्षेः पटुरूहः, अन्येषां क्लिष्ट इत्ययं विशेषः। सर्वेषामेव तु तारकाद्यविशिष्टमाचार्य[1] आह—

त्रिविधा भावाः सांसिद्धिकाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्चेति।

तत्र सांसिद्धिकग्रहणात् तत्त्वसमकालं प्रत्याचष्टे, नैव तदस्तीति। कथम्? यदि हि तथा स्यात् तत्त्वान्तरानुत्पत्ति(ः), संघातो व्यूहश्चानर्थकः स्यात्। महत्युत्पन्नं ज्ञानं तत्रैवोपलब्धमिति कः संघातार्थः? तथा चर्षेरूहो? नोपपद्यते, प्रतिबन्धाभावात्। न ह्यस्य कार्यकरणव्यूहसमकालज्ञानोत्पत्तौ कश्चित् प्रतिबन्धोऽस्ति। अपरिवृतखलत्वाद् (फलत्वात्)[2]

नैमित्तिक को अनुगृहीत करता है; न कि किसी अपूर्व की उत्पत्ति करता है। निमित्त-नैमित्तिकभाव के कारण भी ऐसा उपपन्न है। यहाँ अन्तर यही है कि परमर्षि का ज्ञान पटु है और अन्यों का ज्ञान क्लिष्ट अर्थात् अपटु है। किन्तु सभी का तारकादि ज्ञान समान है। आचार्य ने कहा है—

भाव तीन प्रकार के होते हैं। सांसिद्धिक, प्राकृतिक और वैकृतिक। यहाँ सांसिद्धिक ज्ञान के ग्रहण से तत्त्वसमकाल ज्ञान का आचार्य निराकरण करते हैं कि तत्त्वसमकाल ज्ञान होता नहीं है।

प्रश्न—क्यों? अर्थात् कैसे?

उत्तर—यदि वैसा हो अर्थात् तत्त्वसमकाल ज्ञान हो तो तत्त्वान्तर की उत्पत्ति न हो सकेगी। तथा शरीरेन्द्रियसंघात एवं उसका व्यूह अनर्थक हो जायेगा; क्योंकि तत्त्वसमकाल में महान् (बुद्धितत्त्व) में उत्पन्न ज्ञान तत्काल ही उपलब्ध हो गया। इसलिये तत्त्वसाक्षात्कार हो चुकने पर आगे तत्त्वान्तर की उत्पत्ति एवं संघात का क्या प्रयोजन रह गया।

एवं, ऋषि (कपिल) को ही ऊह (पटु बोध) है, यह बात नहीं बन सकती है; क्योंकि अन्य पुरुष को भी होने में कोई बाधक नहीं है। कारण, कार्यकारणव्यूह के समकाल ज्ञान अन्य को भी हो इसमें बाधक कोई नहीं है। क्योंकि उसका ज्ञानरूप फल अपरिवृत (अनावृत प्रतिबन्धहित) होने से कालान्तर की प्रतीक्षा क्यों करेगा?

---

१. अत्र द्यविष्टम्। 'आचार्य आह' इति मध्ये पूर्वविरामसहितः चक्रवर्तिपाठः सम्यक्।
२. खलत्वात् इत्यत्र फलत्वात् इति पाठः कथञ्चित् सङ्गच्छते।

यतः कालान्तरं प्रतीक्षते (प्रतिक्षेत)। तस्मादस्य[न]सहैव कार्यकरणाभ्यां ज्ञानमभिनिष्पद्यते प्रदीपप्रकाशवदित्यतः सांसिद्धिकम्।

अन्येषां तु सत्त्वस्याऽपटुत्वात् कालान्तरेण प्रकृत्यभिष्यन्दाद् (द) द्रागिति भवति, कृष्णसर्पदर्शनवत्। तत्प्राकृतम्। वैकृतं तु द्विविधं पूर्ववत्। यथा च परमर्षेर्ज्ञानं सांसिद्धिकमेवं माहात्म्यशरीरस्यैश्वर्यं, भृग्वादीनां धर्मः, सनकादीनां वैराग्यम्। अधर्मो यक्षरक्षःप्रभृतीनाम्। अनैश्वर्यं षट्सिद्धिक्षयकालोत्पन्नानां मानुषाणां तिरश्चाश्च। रागोऽज्ञानं परमर्षिवर्ज्यानाम्।

प्राकृतास्तु-तद्यथा वैराग्यं भगवदासुरेः। तस्य हि परमर्षिसम्भावनादुत्पन्नो धर्मः, अशुद्धिः प्रतिद्वन्द्विभावादपजगाम। तस्यामपहृतायां प्रकृतेः शुद्धिस्रोतः प्रवृत्तं येनाऽनुगृहीतो दुःखत्रयाभिघातादुत्पन्न-

---

इसलिये इसे (सर्वसाधारण को) कार्यकारण (देहेन्द्रिय) की उत्पत्ति के बाद ही ज्ञान को अभिनिष्पत्ति होती, तत्त्वसमकाल ही ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है; जैसा कि प्रदीपोत्पत्ति के साथ ही प्रकाश हो जाता है। अतः यह ज्ञान तत्त्वसमकाल नहीं है किन्तु सांसिद्धिक है।

परमर्षि से भिन्न मनुष्यों का सत्त्वगुण अपटु (अप्रबल) होता है; इसलिये कालान्तर में प्राकृतिक धर्मों की अपेक्षा होने से देर से ज्ञान उत्पन्न होता है; जैसे प्रकाश के अभाव में कृष्णसर्प का दर्शन विलम्ब से होता है। वह प्राकृत ज्ञान है।

वैकृत ज्ञान तो दो प्रकार का होता है-स्ववैकृत और परवैकृत। जैसा कि पूर्व में बताया गया है। एवं जैसे परमर्षि का ज्ञान सांसिद्धिक होता है; वैसे ही माहात्म्यशरीर वाले व्यक्ति का ऐश्वर्य सांसिद्धिक होता है। ऐसे ही भृगु आदि का धर्म, सनकादिका वैराग्य, यक्ष-राक्षस प्रभृति का अधर्म, षड्विध सिद्धि के क्षयकाल में उत्पन्न मनुष्यों का और तिर्यग्योनियों का अनैश्वर्य भी सांसिद्धिक होता है। राग और अज्ञान परमर्षि से भिन्न मनुष्यों में होता है।

प्राकृतभाव तो हैं—जैसे, भगवान् आसुरि का वैराग्य। उन्हें परमर्षि कपिल की अनुकम्पा से धर्म उत्पन्न हुआ। उस धर्म ने अशुद्धि को, उसका प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) होने के कारण दूर कर दिया। अशुद्धि के नष्ट हो जाने पर प्रकृति का शुद्धि-स्रोत प्रकट हो गया। जिसके अनुग्रह से त्रिविध दुःखों से पीड़ित आसुरि को तत्त्वविषयक

जिज्ञासः प्रव्रजितः । तथा महेश्वरसम्पर्कान्नन्दिन ऐश्वर्यम् । नहुषस्याग-स्त्यसम्पर्काद् धर्म इत्यादि ।

वैकृतास्तु भावा अस्मदादीनाम् । एवं त्रिविधभावपरिग्रहात्त्वाचार्यस्य न सर्वं स्वतः पतञ्जलिवत्, न सर्वं परतः पञ्चाधिकरणवत् । किन्तर्हि ? महती स्वभावातिवृत्तिः प्रकृतितोऽल्पा स्वतो विकृतितः ।

एवम्,

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः ।

दृष्टाः करणाश्रयिणः,

यथा चैते तथा—

कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

त्रिविधा एवेति [।] कललादिग्रहणेन शरीराण्याह । तेषामाकृतिवैश्वरूप्यं चतुर्दशविधे संसारे त्रिविधम् । तत्र सांसिद्धिकस्तावद् वैवर्तानां

जिज्ञासा उत्पन्न हुई और वे परम वैराग्य को प्राप्त हो गये । वैसे ही महेश्वर के सम्पर्क से नन्दी को ऐश्वर्य प्राप्त हो गया और अगस्त्य के सम्पर्क से नहुष को धर्म उत्पन्न हो गया इत्यादि । यह सब प्राकृतिक भाव हैं ।

वैकृत भाव हम मनुष्यों के होते हैं । इस प्रकार आचार्य (कपिल) के मतानुसार त्रिविध (सांसिद्धिक-प्राकृतिक-वैकृत) भावों के स्वीकृत होने से पतञ्जलि के समान स्वतः नहीं होता और पञ्चाधिकरण के समान सब परतः भी नहीं होता ।

प्रश्न—तो कैसा होता है ?

उत्तर—धर्म ज्ञान आदि की विशिष्ट स्वभावाभिव्यक्ति प्रकृति से होती है तथा अल्पप्राप्ति स्वविकृति से होती है ।

(एवम्), सांसिद्धिक-प्राकृतिक और वैकृतसंज्ञक त्रिविध धर्मादि भाव करण (बुद्धि) के आश्रित देखे गये हैं । जैसे उक्त त्रिविध भाव करणाश्रित हैं; वैसे कलल आदि कार्याश्रयी भाव भी त्रिविध ही होते हैं । कललादि के कथन से शरीरमात्र प्रतिपादित हैं । अर्थात् कललादिका कथन उपलक्षण है । इससे कललादि से नहीं निर्मित होने वाले शरीर भी गृहीत होंगे । उन शरीरों की आकृतियों में जो अनेकरूपता (विलक्षणता) देखी जाती है, वह इस चतुर्दशभूमण्डलात्मक संसार में तीन प्रकार की होती है । उनमें सांसिद्धिक रूप तो ग्रह-नक्षत्रतारादि वैवर्तों का होता है । सांसिद्धिक के ही अन्तर्गत जातिकृत विशेषता होती है—जैसे हंसों का शुक्ल होना, तित्तिरि और मयूर आदि का चित्ररूपात्मक पंख का होना आदि है ।

ग्रहनक्षत्रतारादीनाम् । जातिकृतश्च विशेषः—हंसानां शौक्ल्यम्, तित्तिरिमयूरादीनां चित्रच्छदत्वमिति ।

प्राकृम्–यथा, माहात्म्यं [माहात्म्य] शरीराभिमानात् । तस्य ह्यभिमानो भवति–हन्ताहं पुत्रान् स्रक्ष्ये, ये मे कर्म करिष्यन्ति, ये मां परं च ज्ञास्यन्ति । स यादृक् सर्गमभिध्यायति तादृक् प्रधानादुत्पद्यते । तद्यथा–महेश्वरस्य रुद्र(रुद्राणां)कोटिसृष्टाविति ।

वैकृतास्तु कललाद्याः । यथा भिषग्वेदेऽभिहितम्—क्षीरं पीत्वा गर्भिणी गौरं पुत्रं जनयतीति । (बृ० उप० ६।४।१४) एते भावा व्याख्याताः । एषां वैश्वरूप्याल्लिङ्गस्य गतिविशेषः संसारो भवतीति ॥ ४३ ॥

आह—कस्य पुनर्भावस्यानुष्ठानात् को गमनविशेषो लिङ्गस्य निष्पद्यत इति ?

उच्यते–'-धर्मेण गमनमूर्ध्वम्'

शरीर का दूसरा प्राकृतरूप–जैसे, माहात्म्यसम्पन्न शरीर के अभिमान से होता है । ऐसे व्यक्ति को अभिमान होता है कि अहो मैं पुत्रों को उत्पन्न करूँगा, जो मेरा कर्म करेंगे और जो मुझे और पर को (मुझसे भिन्न को) जानेंगे । वह व्यक्ति जिस प्रकार की सृष्टि का ध्यान करता है, वैसी सृष्टि प्रधान (प्रकृति) से उत्पन्न हो जाती है । जैसे, महेश्वर को कोटि रुद्रों की सृष्टि में अभिमान हुआ और वैसी सृष्टि हो गयी ।

तीसरा वैकृत (प्रकृति के विकारों से उत्पन्न) रूप कलल आदि है । जैसे, भिषग्वेद (आयुर्वेद) में कहा गया है—'दुग्ध का पान करके गर्भिणी स्त्री गौर पुत्र को उत्पन्न करती है' इत्यादि ।

इन करणाश्रित और कार्याश्रित भावों का व्याख्यान पूर्ण हुआ । इनकी विविधरूपता के कारण लिङ्गशरीर का गतिविशेषरूप में संसरण होता है ॥ ४३ ॥

प्रश्न—किस भाव के अनुष्ठान से लिङ्गशरीर का कैसा गमन (गतिविशेष) निष्पन्न होता है ?

उत्तर—धर्मरूप भाव से लिङ्गदेह का ऊर्ध्वगमन होता है । धर्म का वर्णन किया जा चुका है । उसके अनुष्ठान से आठ प्रकार की देवभूमि में उत्पत्ति

उक्तो धर्मः, तदनुष्ठानादष्टविकल्पायां देवभूमावुत्पत्तिर्भवति ।
गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।

अधर्मोऽप्युक्तः, तदनुष्ठानात् पञ्चविकल्पायां तिर्यग्भूभावुत्पत्तिर्भवति ।

आह—एकभूमिविशेषानुपपत्तिः, गतिविशेषात् । यदि भावानां भूमिविशेषनिमित्तत्वं नियम्यते, तेनैकस्यां भूमौ हीनमध्यमोत्कृष्टत्वं जात्याकृतिस्वभावानुग्रहोपघातानां न प्राप्नोति ।

उच्यते—न तर्ह्यनेन भूमिविशेषो नियम्यते, किन्तर्हि ? ऊर्ध्वशब्द उत्कृष्टवचनः । धर्मेण देवेषु मानवेषु तिर्यक्षु चोर्ध्वगमनमुत्कृष्टं जन्म भवति । तथाऽधर्मादधोगमनमपकृष्टं जन्म भवति ।

ज्ञानेन चापवर्गः,

च शब्दोऽवधारणार्थः । ज्ञानेनैवापवर्गो न भावान्तरेणेति । यदुक्त-

---

होती है । आठ भूमियां हैं—ब्राह्म-प्राजापत्य-ऐन्द्र-पैत्र-गान्धर्व-याक्ष-राक्षस और पैशाच । अधर्म भी पूर्व में बताया जा चुका है । उसके अनुष्ठान से पाँच प्रकार की तिर्यग् भूमि में उत्पत्ति होती है । पांच प्रकार की तिर्यग्भूमियाँ हैं—पशु-मृग-पक्षी-सरीसृप और स्थावर ।

शङ्का—भावों के अनुष्ठान से ब्राह्म आदि या पशु आदि एक भूमिविशेष में उत्पत्ति अनुपपन्न है; क्योंकि एक ही प्रकार की भूमि में भी विभिन्न प्रकार की गति देखी जाती है । अर्थात् भावों में भूमिविशेष का निमित्त होना यदि नियत है तो फिर एक ही भूमि में जाति-आकृति-स्वभाव-अनुग्रह और पीड़ा की दृष्टि से हीनत्व-मध्यत्व-या उत्कृष्टत्व नहीं होना चाहिये । अर्थात् धर्मादि के अनुष्ठान से प्राप्त देव-मनुष्यादि भूमि में जाति-आकृति आदि की दृष्टि से सभी को एक समान होना चाहिये; न कि एक ही भूमि में कोई हीन आकृति का हो और कोई उत्कृष्ट आकृति का हो । किन्तु एक ही भूमि में भी हीन उत्कृष्ट भाव देखा जाता है । अतः भावों को भूमिविशेष के प्रति नियतरूप से निमित्त मानना ठीक नहीं है ।

समाधान—धर्म के अनुष्ठान से भूमिविशेष का नियमन नहीं होता है; किन्तु यहां ऊर्ध्वशब्द देशविशेष का वाचक न होकर उत्कृष्टत्व का वाचक है । अर्थात् धर्म के अनुष्ठान से देवताओं में, मनुष्यों में और तिर्यग् योनियों में ऊर्ध्वगमन अर्थात् उत्कृष्ट जन्म होता है । तथा अधर्म के अनुष्ठान से उन्हीं योनियों में अधोगमन अर्थात् निकृष्ट जन्म प्राप्त होता है ।

न्यैराचार्यैः-'वैराग्यात् पुरुषकैवल्यं ज्ञानवैराग्याभ्यां चेति' तत्प्रतिषिद्धं भवति !

आह—यदि पुनर्वैराग्यात् पुरुषकैवल्यमभ्युपगम्यते, क एवं सति दोषः स्यात् ?

उच्यते—न शक्यमेवं प्रतिपत्तुम्। कस्मात् ? संसारनिमित्ताऽप्रतिपक्षत्वात्। यदि रागादिनिमित्तः प्रधानपुरुषसंयोगः स्यात्, प्राप्तमिदम्—तत्प्रतिपक्षेण वैराग्येण वियोगो भविष्यतीति, न त्वेवम्। कुतः ? संयोगकृते कार्यकरणसर्गे सति निष्पत्तेः। कार्यकरणव्यूहोत्तरकालं हि रागो भवति। तस्मान्नासौ कार्यकरणनिष्पत्तेर्निमित्तमिति शक्यमाश्रयितुम्।

ज्ञान से अपवर्ग (मोक्ष) होता है। कारिका में 'च' शब्द अवधारण अर्थ में है। अर्थात् ज्ञान से ही अपवर्ग होता है; और किसी भाव से नहीं।

इससे, अन्य आचार्यों ने जो कहा है कि 'वैराग्य से पुरुष का कैवल्य (मोक्ष) सिद्ध होता है अथवा ज्ञान और वैराग्य के समुच्चय से मोक्ष होता है' वह कथन खण्डित हो जाता है।

प्रश्न—यदि वैराग्य से पुरुष का कैवल्य स्वीकार किया जाता है, तो इससे क्या दोष होगा ?

उत्तर—ऐसा नहीं स्वीकार कर सकते।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—इसलिये कि वैराग्य संसार के निमित्त का विरोधी नहीं है। अर्थात् संसार का निमित्तभूत प्रधान-पुरुष का संयोग यदि रागादिनिमित्तक होता तो यह सिद्ध होता कि रागविरोधी वैराग्य से प्रधान-पुरुष का वियोग रूप मोक्ष-होगा; किन्तु ऐसा नहीं है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—इसलिये कि प्रधान-पुरुष संयोग से कार्य-करण सर्ग (देहेन्द्रिय-सृष्टि) के होने पर ही राग की निष्पत्ति होती है; पहले नहीं। अर्थात् कार्यकरण-व्यूह के उत्तर काल में ही राग उत्पन्न होता है। इसलिये राग कार्यकरणनिष्पत्ति का निमित्त नहीं है—ऐसा माना जा सकता है।

जिसके पक्ष में तो ज्ञान से मोक्ष होता है; उसके मतानुसार ज्ञान का प्रतिपक्ष

यस्य तु ज्ञानान्मोक्ष इति पक्षः; तस्य प्रतिपक्षादज्ञानाद् बन्ध इति प्राप्तमस्ति, न चासौ प्रागपि कार्यकरणनिष्पत्तेः। तस्मान्न वैराग्यान्मोक्षः। अत एव न ज्ञानवैराग्याभ्यां मोक्षोऽस्ति, उभयनिमित्तासम्भवात्। तस्मात् सूक्तम्—ज्ञानेनैवापवर्गः।

विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

ज्ञानविपर्ययोऽज्ञानम्। तस्माद् बन्धस्त्रिविधो भवति—प्रकृतिबन्धो दक्षिणाबन्धो वैकारिकबन्धश्चेति ॥ ४४ ॥

आह—कस्माद् भावात् प्रकृतिबन्धो भवति ?

जो अज्ञान, उसी से बन्ध होता है; यह सिद्ध होता है। राग तो कार्यकरणनिष्पत्ति के पहले होता नहीं है; इसलिये वैराग्य से मोक्ष नहीं हो सकता हैं; किन्तु ज्ञान से ही मोक्ष होगा।

इसीलिये ज्ञान-वैराग्य के समुच्चय से भी मोक्ष नहीं होगा; क्योंकि तब दोनों निमित्त नहीं हो सकते हैं। इसलिये आचार्य ने ठीक ही कहा कि ज्ञान से ही अपवर्ग होता है।

एवं, विपर्यय से (ज्ञानविपर्यय अज्ञान से) बन्ध होता है—ऐसा माना गया है। अर्थात् ज्ञान का विपर्यय अज्ञान है, उससे बन्ध होता है। उस अज्ञान से तीन प्रकार का बन्ध होता है—प्रकृतिबन्ध-दक्षिणाबन्ध और वैकारिक बन्ध।

यहाँ प्रकृति को आत्मा समझ कर जो प्रकृति की उपासना करते हैं; उनका प्राकृत बन्ध है। पुराणों में इन्हें प्रकतिलय शब्द से कहा गया है। जिन्हें पुरुषतत्त्व का ज्ञान नहीं है और कामनावश इष्टापूर्तमात्र करते हैं; उनका दक्षिणाबन्ध है। इसमें धूमादि दक्षिणमार्ग से गमन के कारण दक्षिणाबन्ध है। जो तो भूत-इन्द्रियों-अहङ्कार और बुद्धि की ही पुरुषभावना से उपासना करते हैं, उनका वैकारिक बन्ध है[1] ॥४४॥

प्रश्न—धर्मादि भावों के अन्तर्गत किस भाव से प्रकृतिबन्ध होता है ?

---

१. पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः।
दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः॥
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः।
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः॥
ते खल्वमी विदेहा येषां वैकृतिको बन्धः॥
'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति'। (छान्दोग्योपनिषद् ५।१०।३)।

उच्यते—

वैराग्यात् प्रकृतिलयः,

वैराग्यादष्टसु प्रकृतिषु लयं गच्छति, असावुच्यते प्रकृतिबन्ध इति।

आह—यदि वैराग्यात् प्रकृतिलयः प्राप्तो (प्राप्तः,) यदेतत् (स्यादेतत्) प्रकृतौ वैराग्यमाञ्जसम्। अन्या प्रकृतिस्त्रिगुणा, कारणभूता, कार्यकारणभूता, अकार्यकारणभूता, अचेतना, परतन्त्रा चेति। अन्यः पुरुषो निर्गुणो न कार्यं न कारणं, न कार्यकारणं, तद्विपरीतश्चेतनः स्वतन्त्रश्चेति ततोऽपि। प्रकृतौ लयः ततश्चानिर्मोक्षप्रसङ्ग इति।

उच्यते—विपर्ययादिति वर्तते। तदिहाभिसम्भन्त्स्यामः। ततश्च विपरीतं यदेव वैराग्यं तुष्टिकाण्डानुपतितं प्रकृत्यादिषु परत्वाभिमानः, तत एव प्रकृतिलयो भवति, नान्यस्मात्।

उत्तर—वैराग्यभाव से प्रकृतिलय होता है। अर्थात् वैराग्य से आठ प्रकृतियों (महदादि सात के साथ मूलप्रकृति) में लय को प्राप्त करता है; वही प्रकृतिबन्ध कहा जाता है।

पूर्वपक्ष—यदि वैराग्य से प्रकृतिलय प्राप्त हो गया, तो यह होगा कि प्रकृति (मूलप्रकृति) में वैराग्य की पूर्णता हो गयी। अर्थात् वैराग्य से प्रकृतिलय अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में प्रकृति त्रिगुणात्मक है, केवल कारणभूत है, केवल कार्यभूत है, पुरुष में भिन्न कार्यकारणभूत (उभयरूप) है, अकार्यकारणभूत है, अचेतन है और परतन्त्र है।

प्रकृति से भिन्न पुरुष निर्गुण है, न कार्य है, न कारण है, न कार्यकरण है; किन्तु उसके विपरीत है, चेतन है, और स्वतन्त्र है—ऐसा ज्ञान होने पर भी प्रकृतिलय (ही) होगा और उससे मोक्षभाव की प्रसक्ति हो जायगी। अर्थात् वैराग्य प्रबल होकर प्रकृतिलय ही करायेगा और ज्ञान बाधित होकर मोक्ष नहीं करा सकेगा।

समाधान—पूर्व कारिका से 'विपर्ययात्' की अनुवृत्ति आ रही है। उसका यहाँ सम्बन्ध कर लेंगे। उससे यह अर्थ निकला कि ज्ञान के विपरीत जो तुष्टि काण्डान्तर्गत वैराग्य है; जो प्रकृति आदि में परत्व (सर्वोत्कृष्टत्व) का अभिमानरूप है; वैसे ही वैराग्य से प्रकृतिलय होता है; अन्य अर्थात् ज्ञानाविरोधी वैराग्य से नहीं। कारिका में उक्त 'वैराग्यात् प्रकृतिलयः' वचन का यही अभिप्राय है। अतः पूर्वपक्षी द्वारा उठाई गयी अनिर्मोक्षत्वप्रसङ्ग रूप आपत्ति ठीक नहीं है।

अथवाऽत्रापि यत्तत् प्रकृतावन्यत्वज्ञानं, तत एव मोक्षो, न वैराग्यात् । कुतः ? भव बीजाप्रतिपक्षत्वादिति ह्युक्तम् । आम्भासिकस्य च मोक्षप्रसङ्गात् । तुल्या ह्यस्य नानात्वसंवित्, आसङ्गदोष दिवृत्तेः । न चैतदिष्टम् । तस्माद् युक्तमेतत्-वैराग्यात् प्रकृतिलय इति ।

आह–अथ दक्षिणाबन्धः कुत ?

उच्यते–

संसारो भवति राजसाद् रागात् ।

योऽयं दृष्टानुश्रविकविषयाभिलाषः, स रागः । तत्र दृष्टविषयरागात्

अथवा यहाँ सिद्धान्तपक्ष में भी प्रकृति में जो पुरुष से अन्यत्व ज्ञान है; उसी से मोक्ष होता है; वैराग्य से नहीं ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर–क्योंकि वैराग्यभाव बीज का (अज्ञान या प्रकृतिपुरुषसंयोग का) प्रतिपक्ष नहीं है । यह बात पहले बताई जा चुकी है । साथ ही आम्भसिक को अर्थात् तुष्टि-काण्डान्तर्गत प्रकृतिनामक तुष्टि से युक्त व्यक्ति को भी मोक्ष होने लगेगा । प्रकृति नामक तुष्टि 'अम्भ' नाम से भी कही जाती है । इसलिये इस तुष्टि वाले व्यक्ति को यहाँ आम्भसिक कहा गया है । इस तुष्टि का स्वरूप यह है—विवेकसाक्षात्कार प्रकृति का परिणामस्वरूप है । इसलिये प्रकृति स्वयं ही विवेकसाक्षात्कार करा देगी । अतः उसके लिये ध्यानाभ्यास निरर्थक है । ऐसा समझ कर जो ध्यानाभ्यास से विरत हो हो जाता है; वह प्रकृतिनामक या अम्भः नामक तुष्टि है । यह तुष्टि भी एक प्रकार का वैराग्य ही है; तथापि संसारबीज का विरोधी नहीं होने से मोक्ष का कारण नहीं है ।

यद्यपि इस प्रकार की तुष्टि (वैराग्य) में भी नानात्व (प्रकृति-पुरुषान्यत्व) बुद्धि होती है, क्योंकि आसङ्ग (आसक्ति) दोष की निवृत्ति इसमें भी हो जाती है । तथापि यह मोक्ष के लिये इष्ट नहीं है । इसलिये आचार्य ने यह युक्त ही कहा है कि 'वैराग्यात् प्रकृतिलयः' ऐसा ।

प्रश्न—प्रकृतिबन्ध का निरूपण हुआ, अब बतावें दक्षिणाबन्ध कैसे होता है ?

उत्तर—'संसारो भवति राजसाद् रागात्' अर्थात् राजस राग से संसार होता है । जो यह दृष्ट (लौकिक) विषय स्त्री-पुत्र हिरणादि को तथा आनुश्रविक (वैदिक) विषय (स्वर्गादि) की कामना होती है; वह राग है । इसमें लौकिक विषय के प्रति राग होने पर व्यक्ति उस विषय की प्राप्ति कराने वाला कर्म करता है । उसके बाद उसे प्राप्त कर लेता है । एवं वैदिक विषय स्वर्गादि की कामना से अग्निहोत्र आदि वैदिक

तत्प्राप्तिनिर्वर्तकं कर्म करोति । ततश्च तत्रोपपद्यते । आनुश्रविकविषयाभिलाषादग्निहोत्रादिषु प्रवर्तते । ततश्च स्वर्गादिषूपपत्तिर्भवति । असौ दक्षिणाबन्धः ।

दृष्टानुश्रविकविषयाभिलाषद्वारेण तन्निर्वर्तकेकर्मणि प्रवर्तमानो गुणवृत्तिवैचित्र्यादनिष्टफलनिर्वर्तकमपि कर्म करोति । एवं मानुष्ये गत्यन्तरे योपपत्तिः, सर्वासौ रागात् ।

आह—राजसग्रहणानर्थक्यम्, तत्पूर्वकत्वाद् रागस्य । रजोनिमित्त एव हि रागः । तत्र संसारो रागादित्येव वक्तव्यम्, राजसग्रहणमनर्थकमिति ।

उच्यते—न, विषयविशेषणत्वात् । विषये यो रागः स संसारहेतुरित्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थमिदमुच्यते । अन्यथा यो यतेः सात्त्विको यमनियमध्यानाद्यनुष्ठानानुरागः प्रवचरागो वा, सोऽपि संसाराय स्यात् ।

ऐश्वर्यादविघातः,

कर्म में प्रवृत्त होता है। उसके द्वारा स्वर्गादि विषय को प्राप्ति कर लेता है। वह दक्षिणावन्ध है; यही दाक्षिणक बन्ध भी है।

उक्त प्रकार से लौकिक और वैदिक विषय की कामना द्वारा उसकी प्राप्ति कराने वाले कर्म में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति गुणों को वृत्ति (व्यापार) की विचित्रता से अनिष्ट फल प्राप्त कराने वाले कर्म को भी करता है। इसी प्रकार मनुष्य-सम्बन्धी गत्यन्तर में जो भी इष्टानिष्ट फल की प्राप्ति होतो है; वह सभो राग से होती है।

शङ्का—प्रस्तुत कारिका में 'राजस' पद का ग्रहण निरर्थक है, क्योंकि रजोगुण-पूर्वक ही राग होता है। अर्थात् राग का निमित्त रजोगुण ही है। ऐसी स्थिति में विना 'राजस' पद दिये ही राग में राजसत्त्व का बोध अपने आप हो जायगा। अतः आचार्य का 'संसारो रागात्' यही कहना चाहिये। इसलिये 'राजस' ग्रहण अनर्थक है।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि राग के प्रति विषय विशेषणभूत है। अर्थात् 'विषय के प्रति जो राग है, वही संसार का हेतु है' इस बात को ज्ञापित करने के लिये 'राजस पद का देना सार्थक है। अन्यथा योगी को जो यम-नियम-ध्यानादि के प्रति राग होता है; या प्रवचन (उपदेश) के प्रति राग होता है; वह भी संसार का निमित्त होने लगेगा।

ऐश्वर्यभाव के उत्पन्न होने पर अविघात होता है अर्थात् कहीं रुकावट नहीं होती

यदष्टगुणमैश्वर्यमणिमादि प्रागुपदिष्टम्, तस्मात् स्वे स्वे विषयेऽविघात उत्पद्यते। तदभिरतिर्वैकारिको बन्धः।

आह—यदि त्रिभि[1]स्त्रिभिर्निमित्तैर्वैराग्यादिभिस्त्रिविधो बन्धो निर्वर्त्यते, यदुक्तमज्ञानाद् बन्ध इति तदयुक्तम्, भावान्तरं ह्यज्ञानमतः फलान्तरेण भवितव्यमिति।

उच्यते—न, मूलकारणत्वात्। ज्ञानवर्जितानां हि भावानां यत् फलं तत्राऽज्ञानं मूलम्, तन्निमित्तत्वात् सर्वेषाम्। न हि ज्ञानिवैराग्यमलं प्रकृतिलयाय। तथेतराणि, परमर्ष्यादावदृष्टत्वात्। विचित्रं कार्यमेकस्मात् कारणादयुक्तमिति वैराग्यादीन्यसाधारणानि पृथक् कल्प्यन्ते, साधारणं त्वज्ञानमतो न कश्चिद् दोषः।

है। अर्थात् अणिमा महिमा आदि आठ प्रकार का जो ऐश्वर्य पहले बताया गया है, उससे अपने-अपने विषय में अविघात (रुकावट का अभाव) उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार की प्राप्त शक्ति के प्रति जो आसक्ति उत्पन्न होती है; वह वैकारिक बन्ध है।

शङ्का—यदि वैराग्य आदि तीन निमित्तों से तीन प्रकार का बन्ध उत्पन्न होता है तो यह जो कहा गया है कि 'अज्ञान से बन्ध होता है' वह कथन अयुक्त है। क्योंकि अज्ञान एक पृथक् भाव है। अतः अज्ञान का कोई दूसरा फल होना चाहिये; न कि बन्ध।

उत्तर—उक्त शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि अज्ञान बन्ध का मूलकारण है। अर्थात् ज्ञान से भिन्न भावों का जो फल है; उसमें अज्ञान ही मूल है। क्योंकि ज्ञानातिरिक्त सभी भावों का अज्ञान ही निमित्त है। कारण, ज्ञानीव्यक्ति का वैराग्य प्रकृतिलय (प्रकृतिबन्ध) के लिये समर्थ नहीं होता है; अज्ञानी के ही वैराग्य से प्रकृतिबन्ध होता है। इसलिये सिद्ध है कि अज्ञान ही सबका मूल है। वैसे ही ज्ञानी के ऐश्वर्य आदि भी बन्ध में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि परमर्षि कपिल आदि को वैराग्य ऐश्वर्य आदि सिद्ध है; किन्तु ज्ञानी होने के कारण वह वैराग्य-ऐश्वर्यादि उन्हें बन्ध नहीं कराता है। अतः अज्ञान ही बन्ध के लिये मूलभूत भाव है।

एवं, प्रकृतिबन्ध अविघात आदि कार्य (फल) किसी एक कारण से अनुपपन्न है। इसलिये वैराग्य आदि असाधारण कारणों की पृथक्-पृथक् कल्पना की जाती है। अज्ञान तो सबके प्रति साधारण कारण है; इसलिये पूर्वोक्त कथन में कोई दोष नहीं है।

---

१. त्रिभिरित्येकस्यैव पाठो युक्तो भाति।

विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

अनैश्वर्यात्तु अणिमादेरष्टविधादविघातविपर्ययो विघातो भवति । तदेवमेतदष्टविधं धर्मादिविधानमुपादायाष्टविधं नैमित्तिकमुपपद्यते । एवमेष तत्त्वसर्गो भावसर्गश्च व्याख्यातः एतच्च व्यक्तस्य रूपं प्रवृत्तिश्च परिकल्प्यते । फलमिदानीं वक्ष्यामः ॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे अष्टमाह्निकं तृतीयं च प्रकरणम् ॥

जैसे अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्यभाव से अविघात होता है; वैसे ही ऐश्वर्य का विपर्यय अनैश्वर्य से अविघात का विपर्यास विघात होता है। अर्थात् जिसे अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य का अभाव होता है; उसे स्व-स्व विषय में व्याघात होता है। तात्पर्य यह है कि अणिमा महिमा आदि ऐश्वर्य से होने वाला कार्य नहीं हो पाता है।

धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य और अनैश्वर्यरूप अष्टविध भाव को निमित्त के रूप में प्राप्त कर आठ प्रकार का नैमित्तिक (कार्य) उत्पन्न होता है। अर्थात् धर्मादि के कारण ऊर्ध्व गमनादि कार्य उत्पन्न होते हैं। जैसा कि पूर्व में दर्शाया गया है। इस प्रकार महदादि तत्त्वसर्ग का और धर्मादि भावसर्ग का व्याख्यान पूर्ण हुआ। यही व्यक्ततत्व के स्वरूप की और प्रवृत्ति (व्यापार) की परिकल्पना है। अब फल का प्रतिपादन आगे करेंगे ॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्यकेदारनाथत्रिपाठिकृतायां सांख्यसप्ततियुक्तिदीपिकाया हिन्दीकलाव्याख्यायां अष्टमाह्निकं तृतीयं च प्रकरणम् ॥

•

अथ नवममाह्निकम्

आह—किं पुनस्तत् फलमिति ?

उच्यते—यः खलु—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।

तत्फलमिति वाक्यशेषः । एष इति वक्ष्यमाणस्य सम्मुखीकरणार्थमुच्यते । प्रत्ययसर्ग इति । प्रत्ययः पदार्थो लक्षणमिति पर्यायाः । प्रत्ययानां सर्गः प्रत्ययसर्गः पदार्थसर्गो लक्षणसर्ग इत्यर्थः । अथवा प्रत्ययो बुद्धिर्निश्चयोऽध्यवसाय इति पर्यायाः । तस्य सर्गोऽयमतः प्रत्ययसर्गः प्रत्ययकार्यं प्रत्ययव्यापार इत्यर्थः ।

अथवा प्रत्ययपूर्वकः सर्गः प्रत्ययसर्गः । बुद्धिपूर्वक इत्युक्तः । कथम् ? एवं हि शास्त्रम्—

प्रश्न—तत्त्वसर्ग और भावसर्ग का वह फल क्या है; जिसके प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की गयी थी ।

उत्तर—जो यह प्रत्ययसर्ग है, जिसकी विपर्यय-आशक्ति-तुष्टि और सिद्धि संज्ञायें हैं; वही पूर्वोक्त उभयविध सर्गों का फल है । कारिका में आया 'एष' यह पद आगे वक्ष्यमाण को उपस्थित करने के लिये है । 'प्रत्ययसर्गः' यहाँ प्रत्यय-पदार्थ और लक्षण पर्याय हैं । यहाँ षष्ठी समास होने से प्रत्ययों का सर्ग है । अर्थात् प्रत्ययसर्गपद का पदार्थसर्ग और लक्षणसर्ग ऐसा अर्थ हुआ । अथवा प्रत्यय-बुद्धि निश्चय और अध्यवसाय ये पर्याय हैं । उसका यह सर्ग होने से प्रत्ययसर्ग है । अर्थात् प्रत्यय का कार्य या प्रत्यय का व्यापार होने से कारिका में उल्लिखित विपर्यय आदि चार विषय सर्ग हैं ।

अथवा प्रत्ययपूर्वकसर्ग प्रत्ययसर्ग है । अर्थात् बुद्धिपूर्वक सर्ग को यहाँ प्रत्ययसर्ग कहा गया है ।

प्रश्न—कैसे ?

'महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात् ।

उत्पन्नकार्यकरणस्तु माहात्म्यशरीर एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ—हन्ताहं पुत्रान् स्रक्ष्ये, ये मे कर्म करिष्यन्ति । ये मां परं च अपरं च ज्ञास्यन्ति । तस्याभिध्यायतः पञ्च मुख्यस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः । तेषूत्पन्नेषु न तुष्टिं लेभे । ततोऽन्ये तिर्यक्स्रोतसोऽष्टाविंशतिः प्रजज्ञे (प्रजज्ञिरे) । तेष्वप्यस्य मतिर्नैव तस्थे । अथापरे नवोर्ध्वस्रोतसो देवाःप्रादुर्बभूवुः । तेष्वप्युत्पन्नेषु नैव कृतार्थमात्मानं मेने । ततोऽन्येऽष्टावर्वाक्स्रोतस उत्पेदुः । एवं, तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नं स्तस्मात् प्रत्ययसर्गः । स विपर्ययाख्यः, आशयाख्यः; तुष्ट्याख्यः, सिद्ध्याख्यश्चेति ।'

तत्राश्रेयसः श्रेयस्त्वेनाभिधानं विपर्ययः । वैकल्यादसामर्थ्यमशक्तिः । चिकीर्षितादूनेन निर्वृतिस्तुष्टिः । यथेष्टस्य साधनं सिद्धिः । तद् यथा—

उत्तर—ऐसा शास्त्रवचन है—'महदादि—विशेषान्तः ··· ··· ··· ··· ··· सिद्ध्याख्यश्चेति' ।

अर्थात् महत् से लेकर विशेषपर्यन्त सर्ग है; क्योंकि बुद्धिपूर्वक है । जिसका कार्यकरण (देहेन्द्रिय) संघात उत्पन्न हो गया है—ऐसा माहात्म्यशरीर वाला देव अपने को अकेला देखकर ध्यान किया कि अहो । मैं पुत्रों को सृष्टि करूँगा; जो मेरा कर्म करेंगे । और जो मुझे पर और अपर के रूप में जानेंगे । उसके ध्यान करते हुये मुख्य स्रोत वाले पाँच देव उत्पन्न हुये । किन्तु उनके उत्पन्न होने पर उस देव को सन्तोष नहीं हुआ । तब उनसे भिन्न तिर्यक् स्रोत वाले अट्ठाईस तत्त्व उत्पन्न हुये । किन्तु उन पर भी इस देव की मति स्थिर नहीं हुई । तब नव ऊर्ध्वस्रोत वाले देव प्रकट हुये । किन्तु उनके उत्पन्न होने पर भी वह अपने को कृतकृत्य नहीं माने । तब दूसरे आठ अर्वाक्स्रोत वाले उत्पन्न हुये । इस प्रकार चूँकि ब्रह्मा के ध्यान से उत्पन्न हुआ; इसलिये उपर्युक्त सब प्रत्ययसर्ग है । वह प्रत्ययसर्ग विपर्ययसंज्ञक, अशक्ति संज्ञक, तुष्टिसंज्ञक और सिद्धिसंज्ञक है ।

यहाँ आचार्य द्वारा ब्रह्मा से प्रथम उत्पन्न पाँच देव के रूप में पञ्चविध विपर्यय विवक्षित है, द्वितीय प्रकट अट्ठाईस देव के रूप में अष्टाविंशति प्रकार को अशक्ति विवक्षित है, तृतीय उत्पन्न नव देव के रूप में नव प्रकार की तुष्टि विवक्षित है तथा चतुर्थ उत्पन्न आठ देव के रूप के अष्टविध सिद्धि विवक्षित है । इन सभी का विस्तृत विवेचन आचार्य स्वयं आगे करेंगे ।

उनमें अश्रेय को श्रेय के रूप में समझना विपर्यय है । वैकल्य (विकृति) के

धर्मार्थप्रवृत्तोऽग्निष्टोमादीन् परित्यज्य संकरं कुर्वीत, सोऽयं विपर्ययः। साधनवैकल्यादसामर्थ्यमशक्तिः। आधानमात्रसन्तोषस्तुष्टिः। कृत्स्नस्य क्रियातिशेषस्या (विशेषस्या) नुष्ठानं सिद्धिः। एवमर्थादिषु योज्यम्।

यश्चायं चतुर्विधः फलविशेषो विपर्ययाविराख्यातः—

गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

गुणानां वैषम्यं गुणवैषम्यम्। प्राधान्य-गुणभावयोग इत्यर्थः। गुण-वैषम्याद् विमर्दो गुणवैषम्यविमर्दः, प्रत्ययपर्यायेण सत्त्वरजस्तमसामि-तेरतरभावः। तन्निमित्ता एषां प्रत्ययानां पञ्चाशद् भेदा भवन्ति ॥४६॥

कथमित्युच्यते—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्ति,

कारण असमर्थ होना अशक्ति है। जितना करना अभीष्ट है, उससे कम से ही सन्तुष्ट हो जाना तुष्टि है। जैसा अभीष्ट है, उसका साधन कर लेना सिद्धि है।

इन सबका उदाहरण, जैसे—जैसे धर्म के लिये प्रवृत्त हुआ व्यक्ति अग्निष्टो-मादि यज्ञ का परित्याग कर संकर करे, वह इसका विपर्यय है। इन्द्रियादि साधन के दोषयुक्त हो जाने से धर्मानुष्ठान में असमर्थता का होना अशक्ति है। आधान (गर्भाधान) मात्र से सन्तोष कर लेना तुष्टि है। अतिरिक्त सम्पूर्ण क्रियाओं का अनु-ष्ठान करना सिद्धि है।

यहाँ जैसे धर्म के सम्बन्ध में विपर्यय आदि का उदाहरण बताया गया; वैसे ही अर्थ-काम और मोक्ष के सम्बन्ध में भी योजना कर लेनी चाहिये।

जो यह तत्त्वसर्ग और भावसर्ग का विपर्यय आदि चार प्रकार का फल कहा गया—गुणों के वैषम्य के विमर्द से उसके पचास भेद होते हैं। गुणों का वैषम्य गुण-वैषम्य है। अर्थात् सत्त्वादि गुणों की प्रधानता या गौणता का योग ही गुणवैषम्य है। उक्त गुणवैषम्य के कारण हुआ विमर्द गुणवैषम्य है। अर्थात् प्रत्ययपर्याय से (कारणविशेष के बदलाव से) सत्त्व-रजस् और तमो गुणों का परस्पर कभी प्रधान या कभी गौण हो जाना गुणवैषम्यविमर्द है। इसी गुणवैषम्यविमर्द के कारण उपर्युक्त चतुर्विध प्रत्ययसर्ग के पचास भेद होते हैं ॥ ४६ ॥

प्रश्न—प्रत्ययसर्ग के पचास भेद कैसे होते हैं?

उत्तर—'पञ्च विपर्ययभेदा भवन्ति' अर्थात् विपर्यय के पाँच भेद होते हैं—तम,

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति । तत्राश्रेयसि (तत्र श्रेयसि) प्रवृत्तस्य प्रत्ययावरे श्रेयोऽभिमाने आद्यो विपर्ययस्तम इत्यभिधीयते । भौतिकेष्वाकारेषु शिरःपाण्यादिष्वात्मग्रहो 'योऽयं व्यूढोरस्कः सितदशनस्ताम्राक्षः प्रलम्बबाहुः, सोऽहमिति । तथा श्रवणस्पर्शनरसनघ्राणवचनादानविहरणोत्सर्गानन्दसंकल्पाभिमानाध्यवसायलक्षणासु करणवृत्तिष्वहं श्रोता द्रष्टा चेत्येवमादिराद्यकालप्रवृत्तो ग्रहः सर्व[पूर्व]स्मादवरो मोह इत्युच्यते ।

कथं पुनरयमवर इत्युच्यते(इति ? उच्यते—) पूर्वं शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमुपलब्धुमिच्छन् सौक्ष्म्यात् तदनधिगमे भूताकारमभूतं प्रमाणं परपरिकल्पितं वाऽनुमन्येत, स्वयं वा परिकल्पयेदिति न मार्गाद् दूरापगतमेतत् ।

अयं तु प्रत्यक्षादि(धि)गतोत्पत्तिस्थितिविनाशेष्वनेकरूपकेषु कार्यकरणेष्वहमिति अभिमन्यते, तस्मात् पूर्वस्मादवरः ।

मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र । उनमें श्रेयस् के लिये प्रवृत्त व्यक्ति को हुआ निकृष्ट प्रत्यय (कारण) में श्रेयोऽभिमान विपर्यय का प्रथम भेद तम कहा जाता है ।

शिर-हस्त आदि भौतिक आकारों में । 'जो यह चौड़ी छाती वाला-उज्ज्वल दन्त वाला-लाल नेत्र वाला-लम्बी बाहु वाला है, वह मैं हूँ' ऐसा आत्मग्रह होता है एवं, श्रवण-स्पर्शन-रसन-घ्राण-वचन-आदान (ग्रहण)-विहरण (चलना फिरना)-उत्सर्ग (मलत्याग)-आनन्द (रतिक्रियाजन्य सुख)-संकल्प-अभिमान और अध्यवसायलक्षण करणों की वृत्तियों के प्रति 'मैं श्रोता हूँ, द्रष्टा हूँ' इत्यादि प्रकार का आदि काल से उत्पन्न (प्रवृत्त) ग्रह होता है, वह पूर्व (तम) से निकृष्ट मोह कहा जाता है ।

प्रश्न—यह द्वितीय विपर्यय मोह तम से अवर कैसे है ?

उत्तर—पूर्व में शरीरेन्द्रिय से व्यतिरिक्त को जानना चाहता हुआ उसके सूक्ष्म होने के कारण उसका ज्ञान नहीं होने पर भूताकार (यथार्थ की तरह) किन्तु वस्तुतः अभूत (अयथार्थ) प्रमाण के रूप में दूसरों द्वारा परिकल्पित को अङ्गीकार कर लेता है, अथवा स्वयं ही वैसी कल्पना कर लेता है । इसलिये यह (तम) मार्ग से बहुत दूर नहीं हटा है ।

किन्तु यह मोह प्रत्यक्ष से अधिगत है उत्पत्ति-स्थिति-विनाश जिनका,

बाह्ये तु विषये ममेदमित्यभिनिवेशः (महामोहः) पूर्वस्मादवर इत्युच्यते। (कथम् ?) पूर्वः (मोहः) शरीरिणोऽप्रत्यक्षत्वात् करणवृत्त्य-विशेषाद् वाऽऽत्मवृत्तेः (,) कार्यकरणे कुर्यादात्मबुद्धिमिति शक्यमेतत् (।) भिन्ननिमित्ताकारदेशस्वभावप्रयोजनानुग्रहोपघातोत्पत्तिस्थितिविनाशांश्च मातृ - पितृ-पुत्र - भ्रातृ - पुत्रदारगोहिरण्यवसनाच्छादनादीनकस्मादात्मत्वेन पश्यति, तस्मात् पूर्वस्मादवरः।

क्रोधश्चतुर्थो विपर्ययः पूर्वस्मादवरस्तामिस्र इत्यभिधीयते। कथं पुनरयं पूर्वस्मादवर इति ?

उच्यते—पूर्वो(र्वा)ऽभिनिवेशप्रतिषेधमस्यनुजानाति। यदाऽस्य बाह्य-द्रव्यवियोगे कश्चित् कुशलसंसृष्ट एवं ब्रवीति 'संसारस्य·········बुद्धा-ववस्थाप्य विमृश्यतां यावदयं कालो यदि कश्चित् प्रियेणावियुक्तपूर्वः।

ऐसे अनेकरूपात्मक कार्यकरणों (देहेन्द्रियों) में 'अहम्' ऐसी आत्मबुद्धि कर लेता है। अर्थात् देहेन्द्रियों को ही आत्मा मान बैठता है। इसलिये तम की अपेक्षा मोह अवर (निकृष्ट) है।

बाह्य विषय में जो 'मम इदम्' ऐसा अभिमान होता है, वह तो महामोह है; जो पूर्व (मोह) से निकृष्ट कहा जाता है। क्योंकि पूर्व (मोह) शरीरी आत्मा के अप्रत्यक्ष होने से अथवा आत्मा की वृत्ति और करणों की वृत्ति में कोई विशेषता (अन्तर) नहीं होने से कार्यकरण (देहेन्द्रियादि) में आत्मबुद्धि करे या करावे; यह हो सकता है। किन्तु यह महामोह तो भिन्न-भिन्न निमित्त-आकार-देह-स्वभाव-प्रयोजन-अनुग्रह-उपघात-उत्पत्ति-स्थिति और विनाश वाले माता-पिता-पुत्र-भ्रातृ, पुत्र-स्त्री-गौ-हिरण्य-वसन-आच्छादन आदिकों को अकस्मात् आत्मा के रूप में देखता या दिखाता है, इस लिये यह महामाह मोह से निकृष्ट है।

क्रोध चतुर्थ विपर्यय है और वह पूर्व से (महामोह से) निकृष्ट है तथा तामिस्र संज्ञा से कहा जाता है।

प्रश्न—यह पूर्व से अवर कैसे है ?

उत्तर—यह पूर्व (महामोहसंज्ञक) अभिनिवेश का प्रतिषेध स्वीकार करता है। जब इसे बाह्य द्रव्य के साथ वियोग होने पर कोई कुशल बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसा बोलता है कि संसार का(क्षणभङ्गुरत्व)बुद्धि में रख कर विचार करो कि जितना भी यह बीता हुआ समय है: उसमें कोई व्यक्ति अपने प्रिय जन से या प्रिय वस्तु से यदि कभी भी

तस्मादागमापायिषु बाह्येषु द्रव्येषु विदुषा नाभिनिवेशः कार्य इति', तदा प्रत्याह—सत्यमेवमेतदिति। सन्निकृष्टस्तु वियोगकाल इति न बुद्धिरवस्थापयितुं शक्यते। क्रोधाविष्टस्तु स्वविकल्पितग्राहविपरीतबुद्धिरशक्यो दण्डेनापि निवर्तयितुम्। तस्मात् पूर्वस्मादवरः।

मरणविषादः पञ्चमो विपर्ययः पूर्वस्मादवरोऽन्धतामिस्र इत्यभिधीयते। कथं पुनरयं पूर्वस्मादवर इति?

उच्यते—पूर्वोऽभिनिवेशात् प्रतिषिध्यमानः प्रतीकारमन्ततो जिह्माक्षिनिरीक्षितो (ते) नापि तावदारभते; न तु ब्रह्मादौ स्तम्बपर्यन्ते संसारे स्वनिमित्तनियततमपातस्य विनाशस्य केनचित् प्रतीकारः कृतः। तस्मादपरिहार्यं मरणमनुशोचत् पूर्वस्मादवर इति। एते पञ्च विपर्ययभेदा भवन्ति।

पूर्व में विमुक्त न हुआ हो। इसलिये उत्पत्ति-विनाशशाली बाह्य द्रव्यों में ज्ञानी जन को अभिनिवेश (आसक्ति) नहीं करना चाहिये। तब यह व्यक्ति उसके प्रति कहता है कि वस्तुतः यह ऐसा ही है कि सभी बाह्य द्रव्य उत्पत्ति-विनाशशाली हैं। किन्तु इनका वियोगकाल निकट है; ऐसी बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती है। यह स्थिति महामोह की है।

किन्तु क्रोधरूप चतुर्थ विपर्यय से आविष्ट व्यक्ति तो अपने द्वारा विकल्पित [विरुद्धकल्पनाप्रसूत] ग्राह (दुराग्रह) के कारण विपरीतबुद्धि हुआ वह व्यक्ति दण्ड के बल से भी उस बाह्य वस्तु के प्रति आसक्ति से हटाया नहीं जा सकता है। अतः क्रोधनामक चतुर्थ तामिस्ररूप विपर्यय महामोहरूप विपर्यय से निकृष्ट है, यह सिद्ध हुआ।

मरण का विषाद (त्रास) पांचवाँ विपर्यय है; जो पूर्वविपर्यय तामिस्र से निकृष्ट है और जो अन्धतामिस्रसंज्ञा से कहा जाता है।

प्रश्न—यह पूर्व से निकृष्ट क्यों है?

उत्तर—पूर्वविपर्यय तामिस्र से युक्त व्यक्ति अभिनिवेश से निवारित होकर अन्ततोगत्वा तिरछी दृष्टि से भी उसका (क्रोध का) प्रतीकार प्रारम्भ कर देता है; किन्तु ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (लता गुल्म) पर्यन्त इस संसार में कोई भी अपने निमित्त से अत्यन्त निश्चित पातरूप विनाश (मरण) का प्रतीकार नहीं कर सका। अनिवार्य मरण का त्रास कराने वाला यह अन्धतामिस्र पूर्वविपर्यय तामिस्र से अवर (निकृष्ट) है। ये ऊपर बताये पाँच विपर्यय के भेद हैं।

अशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।

अष्टाविंशतिभेदा,

भवतीत्यनुवर्तते । तत्र बाह्यकरणवैकल्यं सह मनसैकादशप्रकारम् । सप्तदशविधं बुद्धिवैकल्यम् । एतेऽशक्तिभेदाः ।

तुष्टिर्नवधाष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥

एवं चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य गुणवैषम्यविमर्दनेन पञ्चाशद् भेदा भवन्ति । विस्तरेण तु पदार्थशतसाहस्रमानन्त्यं वा लक्षणानाम् ॥४७॥

कथमित्युच्यते । यस्मात्—

भेदस्तमसोऽष्टविधः,

य एते पञ्च विपर्ययभेदा व्याख्यातास्तेषु तमसोऽष्टविधो भेदः । कथम् ? परविज्ञानमाश्रित्य प्रवृत्तस्याष्टासु प्रकृतिष्वपरासु पराभिमान-ग्रहात् ।

मोहस्य च—

किम् ? अष्टविधो भेद इति; चशब्दात् ।

करण के वैकल्य (त्रुटि या दोष) से अशक्ति अठ्ठाइस प्रकार की होती है। यद्यपि उक्त कारिका में 'भवति' पद नहीं है; तथापि इस कारिका के प्रथम चरण में आये 'भवन्ति' बहुवचनान्त पद को एकवचनान्त में परिवर्तित कर 'भवति' पद की अनुवृत्ति कर लेते हैं। तब 'अशक्तिश्च अष्टाविंशतिभेदा भवति' ऐसा पूर्ण वाक्य बन जाता है। 'करणवैकल्यात्' यहाँ बाह्य करण का वैकल्य मन के वैकल्य के साथ मिलकर एकादश प्रकार का होता है। एवं बुद्धिरूप अन्तःकरण का वैकल्य सत्तरह प्रकार का होता है। इस प्रकार कुल मिलकर अट्ठाइस प्रकार की अशक्ति होती है।

तुष्टि नव प्रकार की होती है और सिद्धि आठ प्रकार की होती है—इस प्रकार गुणों के वैषम्य से चतुर्विध प्रत्ययसर्ग के पचास भेद होते हैं ॥ ४७ ॥

विस्तार से तो इन पदार्थों की सौ हजार या अनन्त संख्या है। कैसे प्रत्यय सर्ग के पचास भेद हैं, इसे कहते हैं—

चूँकि, तमनामक प्रथम विपर्यय के आठ भेद हैं। अर्थात् जो ये विपर्यय के पाँच भेद बताये गये हैं, उनमें तम के आठ प्रकार हैं।

प्रश्न—कैसे ?

कार्यकरणसामर्थ्येऽष्टविधेऽणिमादावहमिति प्रत्ययः—

दशविधो महामोहः ।

मातृ-पितृ-भ्रातृ-स्वसृ-पत्नी-पुत्र-दुहितृ-गुरु-मित्रोपकारिलक्षणे दश-विधे कुटुम्बे योऽयं ममेत्यभिनिवेशः । दृष्टानुश्रविकेषु वा शब्दादिष्वित्य-परे । स दशविधो महामोहः परिसंख्यायते ।

तामिस्रोऽष्टादशधा,

अष्टविधे कार्यकरणसामर्थ्ये दशविधे च कुटुम्बे विषयेषु वा यः प्रतिहन्यमानस्यावेशः ।

तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥

उत्तर—परतत्त्व (परा प्रकृति) के विज्ञान को लक्ष्य कर प्रवृत्त व्यक्ति द्वारा आठ अपर प्रकृतियों में ही परत्व को आभिमानिक प्रतीति करने के कारण तम का आठ भेद हो जाता है ।

ऐसे ही मोहरूप दूसरे विपर्यय का भी आठ भेद होता है । यह बात 'मोहस्य च' इस कारिकांश में आये 'च' शब्द से अवगत होती है । चूँकि मोहावस्था में अणिमा आदि आठ प्रकार की देहेन्द्रियों की शक्ति में ही 'अहम्' ऐसी आभिमानिक प्रतीति होती है; इसलिये मोह के भी आठ भेद हैं ।

महामोहनामक तीसरा विपर्यय दश प्रकार का होता है । अर्थात् माता-पिता-भ्राता-स्वसा (भगिनी)-पत्नी (स्त्री)-पुत्र-पुत्री-गुरु-मित्र और अपना उपकार करने वाला व्यक्तिविशेषरूप दश प्रकार के कुटुम्ब में जो यह 'मम' ऐसा अभिनिवेश (अभिमान) होता है; वही दशविध महामोह है । अथवा पाँच दृष्ट (लौकिक) और पाँच आनुश्रविक (अलौकिक) शब्दादि दस विषयों में ममत्व का अभिनिवेश होना दशविध महामोह है । इस प्रकार तृतीय विपर्ययभेद महामोह दश प्रकार का परिगणित है ।

तामिस्रनामक चतुर्थ विपर्यय अट्ठारह प्रकार का होता है । अर्थात् पूर्वोक्त देहेन्द्रियों की आठ प्रकार की अणिमादि शक्ति में तथा पूर्व प्रदर्शित दशविध कुटुम्ब में अथवा दशविध लौकिक और अलौकिक शब्दादि विषयों में व्याघात (बाधा) उत्पन्न होने से जो आवेश (क्रोध) होता है; वह कुल मिलाकर अट्ठाइस प्रकार का तामिस्र होता है ।

अन्धतामिस्र भी वैसा ही होता है । कारिका में आया 'तथा' शब्द सामान्य

तथेति सामान्यातिदेशार्थः । अन्धतामिस्रोऽष्टादशधैवेति । कथम् ? असावप्यष्टविधात् कार्यकरणसामर्थ्याद् दशविधाच्च कुटुम्बात् प्रत्यवसानस्य (वियोगस्य) विषादः । एवमेते पञ्च विपर्ययभेदाः स्वलक्षणतो विषयविशेषा(च्च)लक्षिताः ।

तत्रापि चाष्टासु प्रकृतिषु सत्त्वरजस्तमसां संहतविविक्तपरिणतव्यस्तसमस्तानां परत्वाभिमानभेदादेकैका प्रकृतिः पञ्चदशभेदा । अत एव तेऽष्टौ पञ्चदश विंशं शतं च भवन्ति ।

यथा मोक्षे प्रवृत्तस्यैवं धर्मकामेष्वपि । एकः पदार्थो विस्तरेण परिसंख्यायमानोऽनन्तभेदः सम्पद्यते । निदर्शनमात्रमेतदाचार्येण कृतम् । एवमशक्त्यादिष्वपि लक्षणान्तरेषु योज्यम् । सेयमविद्या पञ्चपर्वा सप्रपञ्चा व्याख्याता । तदनन्तरोद्दिष्टानशक्तिभेदान् वक्ष्यामः ॥ ४८ ॥

(समानता) का सूचन करने के लिये है । अर्थात् जैसे तामिस्र अठ्ठारह प्रकार का होता है; वैसे ही अन्धतामिस्र भी अठ्ठारह प्रकार का होता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्योंकि अन्धतामिस्र भी अणिमादि अष्टविध देहेन्द्रियशक्ति से तथा माता-पिता आदि दशविध कुटुम्ब से होने वाले वियोग का विषाद (भय) रूप है । इसलिये अष्टविध सामर्थ्य एवं दशविध कुटुम्ब को मिलाकर अठ्ठारह विषयों से सम्बन्धित अन्धतामिस्र भी अट्ठारह प्रकार का ही है । इस प्रकार ये पांच विपर्यय के भेद अपने स्वरूप से तथा विषयविशेष से बताये गये ।

उनमें भी आठ प्रकृतियों में वर्तमान सत्त्व-रजः और तमस् तीनों गुणों के उनके संहृत (संघात को प्राप्त)-विविक्त (पृथक्-पृथक् भाव को प्राप्त)—परिणत (परिणाम को प्राप्त)-व्यस्त और समस्तभाव को प्राप्त होने पर परत्वाभिमान के भेद से प्रत्येक प्रकृति के पन्द्रह भेद हुए । इसीलिये वे आठ-पन्द्रह गुणित होकर बीस और सौ हो जाते हैं; अर्थात् एक सौ बीस हो जाते हैं ।

एवं, जैसे मोक्ष में प्रवृत्त व्यक्ति के इतने विपर्ययभेद होते हैं; वैसे ही धर्म और काम में भी प्रवृत्त हुए व्यक्ति का भी विपर्यय उतने ही प्रकार का होता है । इस प्रकार एक पदार्थ भी विस्तर के साथ परिगणित किये जाने पर अनन्तभेद वाला हो जाता है । आचार्य ने यहाँ निदर्शनमात्र किया है ।

जैसे, विपर्यय के उपर्युक्त भेद बताये गये; वैसे प्रत्ययसर्ग के अन्य लक्षण

आह—अतिव्यासाभिहितमिदमिति नास्माकं बुद्धाववतिष्ठते। तस्माद् विपर्ययोक्तं भेदाभिधानं परित्यज्य वक्तव्यम्—कथमशक्तिरष्टाविंशति-भेदेति ?

उच्यते—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।

इन्द्रियाणां वधा इन्द्रियवधाः। स्वसंस्कारविषय(विशेष)योगात् प्रकर्षापन्नेन तमसा ग्रहणरूपस्य सत्त्वस्याभिभवात् स्वविषयेष्वप्रवृत्तयः। तद् यथा—

बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं मूकता जडता च या।
उन्मादकौष्ठ्यकौण्यानि क्लैब्योदावर्तपङ्गुताः ॥

तत्र बाधिर्यं श्रोत्रस्य, आन्ध्यं चक्षुषः, अघ्रत्वं नासिकायाः, मूकता वाचः, जडता रसनस्य, उन्मादो मनसः, कौष्ठ्यं त्वचः, कौण्यं पाणेः,

---

(स्वरूप) अशक्ति-तुष्टि और सिद्धि में भी योजना कर लेनी चाहिये। यहाँ पर पञ्च-पर्वा अविद्या (विपर्यय) का प्रपञ्च सहित व्याख्यान किया गया। विपर्यय के बाद निर्दिष्ट अशक्ति के भेदों को आगे बतायेंगे।

प्रश्न—अतिविस्तार के साथ आपने विपर्यय का अभिधान किया। इसलिये वह विस्तृत कथन मेरी बुद्धि में स्थिर नहीं हो रहा है। इसलिये विपर्यय में कहे गये भेदों के अभिधान का परित्याग कर अब आप बतावें कि अशक्ति के अट्ठाइस भेद कैसे हैं ?

उत्तर—सत्तरह बुद्धिवधों के साथ ग्यारह इन्द्रियवध मिलकर अट्ठाइस भेद वाली अशक्ति सांख्यशास्त्र में कही गयी है। यहाँ 'इन्द्रियों का वध इन्द्रियवध' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास है। अर्थात् अपने संस्कारविशेष के कारण प्रबलता को प्राप्त तमोगुण के द्वारा ग्रहणात्मक सत्त्वगुण के दुर्बल हो जाने से इन्द्रियों की अपने विषयों में प्रवृत्ति का न होना इन्द्रियवध है। जैसे—

बाधिर्य (बहरा होना), आन्ध्य (अन्धा होना), अघ्रत्व (सूंघने की शक्ति का न होना), मूकता (गूंगा होना), जड़ता (स्वाद का न आना), उन्माद (मनोदोष), कौष्ठ्य (कुष्ठ होना), कौण्य (लूला होना), क्लैब्य (नपुंसकता), उदावर्त (गुदा का रोग), तथा पङ्गुता (पैर से लंगड़ा हो जाना) ये ग्यारह इन्द्रियवध हैं। इनमें बाधिर्य

क्लैब्यमुपस्थस्य, उदावर्तः पायोः, पङ्गुता पादयोरित्येवमिन्द्रियवधा एकादश ।

अन्ये तु–

सप्तदशवधा बुद्धि (बुद्धे) विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

तत्र तुष्टयः प्रकृत्याद्या वक्ष्यमाणाः । तासां द्विविधो विपर्ययः—अव्युत्पन्नस्य योगधर्मेण तस्यां भूमावप्रवृत्तिः, व्युत्पन्नस्य चोत्तरभूम्यपरिज्ञानात् पूर्वस्यां भूमावक्षेमरूपेण ग्रहणम्, आत्मविदो वा सर्वासु भूमिषु ।

तेषु यत्पूर्वं तदशक्तिभावाभिप्रेतम्, यन्मध्यमं तदापेक्षिकम् । कथम् ? तन्मात्रभूम्यवस्थो हि योग्यस्मितादिभूम्यनवजयात् तुष्टो, महाभूतातिक्रमात् सिद्धः । तथा विजिताऽस्मितारूपो महदाद्यवस्थापेक्षया तुष्टः, पूर्वभूम्यपेक्षया सिद्धः ।

श्रोत्र का वध है, आन्ध्य चक्षुरिन्द्रिय का, अघ्रत्व नासिका का, मूकता वागिन्द्रिय का, जड़ता रसनेन्द्रिय का उन्माद मन इन्द्रिय का, कौष्ठ्य त्वगिन्द्रिय का, कौण्य हस्त इन्द्रिय का, क्लैब्य उपस्थ इन्द्रिय (जननेन्द्रिय) का, उदावर्त गुदेन्द्रिय का और पङ्गुता पादेन्द्रिय का वध है । इस प्रकार इन्द्रियवध ग्यारह हैं ।

दूसरे तो सत्तरह बुद्धि के बध हैं; जो नौ तुष्टियों और आठ प्रकार की सिद्धियों के विपर्यय (विरोध) से होते हैं । उनमें तुष्टियां प्रकृति आदि हैं; जो आगे बतायी जायेंगी । उन तुष्टियों का विपर्यय (विरोध या अभाव) दो प्रकार का होता है—योगधर्म से अव्युत्पन्न (अज्ञानी) व्यक्ति की उस भूमि में प्रवृत्ति न होना, तुष्टि का प्रथम विपर्यय है । तथा व्युत्पन्न व्यक्ति द्वारा अग्रिम भूमि का परिज्ञान न होने से उसमें प्रवृत्त न होना तथा पूर्व भूमि में अकल्याण रूप से ग्रहण करना—यह तुष्टि का दूसरा विपर्यय है । अथवा आत्मज्ञानी द्वारा सभी योगभूमियों में अकल्याणरूप से ग्रहण का होना द्वितीय तुष्टि-विपर्यय है । इन तीनों में भी पूर्व अर्थात् अव्युत्पन्न व्यक्ति की अप्रवृत्ति उसकी अशक्ति के अभिप्राय से है, तथा जो मध्यम अर्थात् व्युत्पन्न व्यक्ति का भूमिविशेष में अकल्याणरूप से ग्रहण है, वह आपेक्षिक है ।

प्रश्न—आपेक्षिक कैसे है ?

उत्तर—चूंकि तन्मात्र (पञ्च तन्मात्र) भूमि में अवस्थित योगी अस्मिता आदि भूमियों पर विजय न प्राप्त करने से अस्मिता आदि की अपेक्षा से तुष्ट है तथा महाभूतरूप भूमि को पार कर गया है अर्थात् उसे जीत चुका है; इसलिये वह सिद्ध

एवं महदवस्थः प्रधानापेक्षया पूर्वापेक्षया च। प्रधानावस्थः पुरुषापेक्षया पूर्वापेक्षया च। गुणपुरुषान्तरज्ञस्तु सिद्ध एव।

तस्मादव्युत्पन्नस्याम्भःप्रभृतिषु नवाऽनम्भःप्रभृतयो बुद्धिवधाः। तारकादिविपर्ययेणाष्टावतारकादयः। एषा खल्वशक्तिरष्टाविंशतिभेदा।

तुष्टिस्तु सन्निहितविषयसन्तोषाच्चिकीर्षितादर्थादूनेन निवृत्तिः सामान्यत एकैव, प्रत्यर्थमनन्ता, शतेन तुष्टः सहस्रेणेति। शास्त्रे तु बाह्याध्यात्मिकानां सुखदुःखमोहानां प्राप्तिष्वपगमेषु वाचाऽव्यवस्थ्य (व्यवस्था) लक्षणा उपायनवत्वान्नव तुष्टयो भवन्ति॥ ४९॥

तासाम्—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च, नव तुष्टयोऽभिमताः॥ ५०॥

है। एवं अस्मितास्वरूप को जिसने जीत लिया है किन्तु महदादि अवस्था (भूमि) को नहीं जीत सका है; वह योगी महदादि अवस्था को अपेक्षा से तुष्ट है तथा पूर्वभूमि तन्मात्र को अपेक्षा से तो सिद्ध है अर्थात् सिद्धि को प्राप्त कर चुका है।

एवं, महत्तत्त्व की भूमि में अवस्थित योगी प्रधान की अपेक्षा से तुष्ट है तथा पूर्वभूमि अस्मिता की अपेक्षा से सिद्ध है। ऐसे ही प्रधान की भूमि में अवस्थित योगी पुरुष की अपेक्षा से तुष्ट है तथा पूर्वभूमि महत्तत्त्व की अपेक्षा से सिद्ध है। किन्तु जिस योगी ने गुण-पुरुष के अन्तर (विवेक) को जान लिया है; वह तो सर्वथा सिद्ध ही है, उसे तुष्ट को कोटि में नहीं माना जा सकता है।

इसलिये अव्युत्पन्न के लिये अम्भःप्रभृति तुष्टियों के विपर्यय में अनम्भःप्रभृति नो बुद्धिवध हैं। तथा तारक आदि आठ सिद्धियों के विपर्यय से अतारक आदि आठ और बुद्धिवध हैं। इस प्रकार ये सत्तरह बुद्धिवधों के साथ ग्यारह इन्द्रियवधों को मिलाकर सत्ताइस प्रकार को अशक्ति हुई।

तुष्टि तो प्राप्त विषय से ही सन्तुष्ट होने से अभीष्ट अर्थ से कम पाकर हो निवृत्त हो जाना है; और वह सामान्यतः एक ही है। किन्तु प्रत्येक विषय की दृष्टि से अनन्त है, जैसे कोई सौ से तुष्ट हुआ और कोई हजार से तुष्ट हुआ इत्यादि।

शास्त्र के अनुसार तो बाह्य और आध्यात्मिक सुख-दुःख और मोह को प्राप्ति एवं निवृत्ति में शब्द द्वारा व्यवस्थारूप नौ प्रकार की तुष्टियाँ होती हैं; क्योंकि उसके उपाय नौ प्रकार के बताये गये हैं॥ ४९॥

आध्यात्मिकी इति शरीरशरीरिणोर्विशेषमुपलिप्समानेन योगिना यदनात्मन्यात्मबुद्धिरवस्थाप्यते, सा खल्वाध्यात्मिकी[सिद्धिः]तुष्टिः सन्तोषः क्षेम इत्यर्थः । तासां प्रकृत्याख्या—

यदा वीतावीतैः प्रधानमधिगम्य तत्पूर्वकत्वं च महदादीनां विकाराणामानन्त्याच्च प्रधानात्मनः कृत्स्नस्य महदादिभावेन विपरिणामाऽसंभवादेकदेशस्याऽप्रकृतिविकारभूतस्य भोक्तृत्वमकर्तृत्वं चाऽध्यवस्य सङ्गद्वेषनिवृत्तिं लभते; साऽऽद्या तुष्टिरम्भ इत्यभिधीयते ।

कस्मात् ? अमितं हि प्रधानतत्त्वं भाति जगद्बीजभूतत्वात्, महदादिभावपरिणामेन न्यूनस्यैकदेशस्यात्मन एवाऽऽपूरात् । तद्व्यतिरेकेण

उनमें प्रकृति-उपादान-काल एवं भाग्यनामक चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं। (बाह्य पाँच तुष्टियों का आगे विवेचन किया जायेगा।) आध्यात्मिकी का अर्थ यह है—शरीर और शरीरी आत्मा के विशेष (अन्तर) को जानने की इच्छा रखने वाले योगी के द्वारा जो अनात्मा में आत्मबुद्धि की जाती है; वह आध्यात्मिकी तुष्टि है। इसे सन्तोष या क्षेम भी कहते हैं। इस प्रसङ्ग में तुष्टि के पर्याय के रूप में सिद्धि का पाठ मुद्रित ग्रन्थ में आपाततः आया मालूम होता है। क्योंकि सिद्धि का विवेचन पृथक् आगे हुआ है।

उन चारों आध्यात्मिकी तुष्टियों में प्रकृतिनामक तुष्टि यह है—

जब वीत (अन्वयी) और अवीत (व्यतिरेकी) अनुमानों के द्वारा प्रधान को जानकर तथा महदादि विकारों का प्रधानपूर्वकत्व (प्रधान से उत्पन्न होना) भी जानकर और यह निश्चय करके कि अनन्त होने के कारण सम्पूर्ण प्रधानस्वरूप का महदादिभाव से परिणाम असम्भव है; इसलिये प्रधान का वह अपरिणामी एकदेश जो न किसी की प्रकृति है और न किसी का विकार है; उसमें ही भोक्तृत्व और अकर्तृत्व का भी निश्चय कर रागद्वेष से निवृत्ति प्राप्त कर लेता है; वह प्रकृतिनामक तुष्टि है; जिसे अम्भः कहा जाता है।

प्रश्न—इसे 'अम्भः' कैसे कहा जाता है ?

उत्तर—प्रधानतत्त्व अमित (अपरिमित) प्रतीत (भासित) होता है; क्योंकि वह जगत् का बीजभूत है। एवं महदादिभाव (महदादि के रूप) में परिणाम होने से न्यून हुआ जो प्रधान का एकदेश उसकी आत्मा से ही पूर्ति होती है। (अथवा अपने से ही पूर्ति होती है।) इसलिये वह प्रधानतत्त्व अमित है। महदादिभाव से परिणामरहित होने से (परिणामी से व्यतिरिक्त होने से) प्रकृतिविकार उभयधर्मी प्रधानैक-

चान्यस्यैकदेशस्योभयधर्मिणो भोक्तृभूतस्य सद्भावात् सम्प्रक्षालनेऽपि चाप-संहृतम्,[1] वैश्वरूप्यस्यानुच्छेदात्। तथा च शास्त्रमाह—'अम्भ इति गुणलिङ्गसन्निचयमेवाधिकुरुते। गुणाश्च सत्त्वरजस्तमांसि। लिङ्गञ्च महदादि अत्र सन्निहितं भवति। तदिदं प्रधानममितं भात्यमितमुपलभ्यत इत्यम्भः॥

स खल्वयं योगी प्रधानलक्षणां भूमिमवजित्य तन्महिम्ना च तद-शून्यं दृष्ट्वा व्यतिरिक्तस्य पदार्थान्तरस्याभावं मन्यमानस्तामेव भूमिं कैवल्यमिति गृह्णाति। भिन्ने च देहे प्रकृतौ लयं गच्छति, ततश्च पुनरा-वर्तते। तस्यां च तुष्टावन्ये सप्त महदादिकारणिनोऽवरुद्धा द्रष्टव्याः। तत्र

देश से अन्य जो एकदेश भोक्ता एवं अकर्ता आत्मा है; उसका अपरिणामीरूप में सद्भाव है। इसीलिये संप्रक्षालन (परिणाम) होने पर भी प्रधानतत्त्व का उपसंहार (नाश) नहीं होता है। क्योंकि प्रधानतत्त्व का वैश्वरूप्य उच्छिन्न नहीं होता।

शास्त्र में वैसा ही कहा है— 'अम्भ' यह गुण और लिङ्ग के सन्निचय (सन्निधान) को अधिकृत करता है। अर्थात् सत्त्व रजस् और तमस्रूप गुण तथा महदादि लिङ्ग यहाँ सन्निहित होता है। इसलिये यहाँ प्रधान अपरिमित भासित होता है या उपलब्ध होता है। इसलिये यह अम्भ नामक तुष्टि है।

ऐसा योगी प्रधानलक्षण भूमि को जीतकर और उसकी महिमा से उसे पूर्ण देखकर उससे अतिरिक्त अन्य पदार्थ (पुरुष) का अभाव समझता हुआ प्रधानरूप भूमि को ही कैवल्य (मोक्ष) के रूप में ग्रहण कर लेता है। और शरीर छूटने पर वह योगी प्रकृति में लय को प्राप्त कर जाता है, अर्थात् प्रकृतिलीन हो जाता है। और वहाँ से पुनः वापस आ जाता है; अर्थात् पुनः शरीर धारण करता है।

उस प्रधानसम्बन्धी तुष्टि में अन्य सात अर्थात् महत्-अहङ्कार और पञ्च तन्मात्राओं को मुख्य कारण मानने वाले तौष्टिक अवरुद्ध समझने चाहिये। अर्थात् प्रधान को छोड़कर महदादि भूमि को कैवल्य नहीं माना जा सकता हैं।

उनमें जैसे प्रधान को चरमतत्त्व मानने वाले को पुरुषविज्ञान नहीं होता, ऐसे ही महदादि अधर अधर को मानने वालों को प्रधानादि उत्तरोत्तरों में विज्ञान नहीं होता है। जैसे महत् को कारण मानने वाले को प्रधान का विज्ञान नहीं होता, अस्मिता को कारण मानने वाले को महत् का विज्ञान नहीं होता और तन्मात्र को कारण मानने

---

१. नोपसंहृतम् इति पाठः सम्भवी।

यथा प्राधानिकस्य पुरुषे नास्ति विज्ञानमेवमितरेषामुत्तरेषु तत्त्वेषु। महत्कारणिनः प्रधाने, अस्मिताकारणिनो महति, तन्मात्रकारणिनोऽहङ्कारे। तदेकदेशश्चैषां भोक्तारःपूर्ववत्। अत्रापि च सत्त्वादीनां संहत-विविक्त-परिणत-व्यस्त-समस्तानां भेदादविद्याऽवच्छेदादानन्त्यमवसेयम्।

आह—तुष्ट्यविद्ययोरभेदः, लक्षणैकत्वात्। अष्टासु प्रकृतिष्वात्मबुद्धिस्तुष्टिः। तदेव च तम इत्यविद्याकाण्डे निर्दिष्टम्। तस्मात् पदार्थसंकर इति।

उच्यते—न, प्रत्ययविशेषात्। तमः (तत्र) प्रधानपुरुषोपदेशे सति प्रत्ययनिर्दिधारयिषया[1] तयोः प्रधानमेव ज्यायो न पुरुष इत्यभिनिविशेत। तुष्टिस्तु किं परमित्याश्रित्य प्रवृत्तः प्रधानज्ञानमात्रे सन्तोषात् पदार्थान्तरं विज्ञातुमेव नाद्रियते।

वाले को अहङ्कार (अस्मिता) का विज्ञान नहीं होता है। महदादि का भी सम्पूर्णरूप में परिणाम नहीं होता है; किन्तु आंशिकरूप में ही होता है। इसीलिये इनका भी परिणामशून्य एकदेश भोक्ता होता है। जैसे पूर्व में प्रधान के अपरिणामी एकदेश को भोक्ता और अकर्ता के रूप में बताया गया है।

यहाँ भी सत्त्व-रजस् और तमस् इन तीनों गुणों का संहत-विविक्त-परिणत-व्यस्त और समस्त के भेद से उनमें परत्वाभिमानरूप विभिन्न अविद्या के संसर्ग से महदादिरूप एक एक प्रकृति के अनन्तभेद हो जाते हैं, ऐसा जानना चाहिये।

शङ्का—तुष्टि और अविद्या में अभेद को प्रसक्ति होगी क्योंकि दोनों का लक्षण समान है। जैसे-आठ प्रकृतियों में (अनात्मा में) आत्मबुद्धि तुष्टि है और वही (अनात्मा में आत्मबुद्धि) तम है। यह अविद्याकाण्ड में दर्शाया गया है। इसलिये तुष्टि और अविद्यापदार्थ का साङ्कर्य होने लगेगा।

समाधान—उक्त शङ्का नहीं हो सकेगी। क्योंकि दोनों में प्रतीति का भेद है। अर्थात् तुष्टि और अविद्या में भिन्न प्रकार की प्रतीति होती है। वहाँ प्रधान-पुरुष दोनों का उपदेश होने पर यथार्थ प्रतीति के निर्धारण की इच्छा से प्रवृत्त व्यक्ति उनमें प्रधान ही श्रेष्ठ है पुरुष नहीं, ऐसा अभिनिवेशात्मक प्रत्यय (अभिमान) अविद्या है। और तुष्टि तो वह है कि दोनों में पर (श्रेष्ठ) कौन है? इसका आश्रयण कर प्रवृत्त

---

१. प्रवृत्तः इति शेषः।

किं च, प्रहाणविशेषात् । निरूढ़मूलो ह्यनात्मनि आत्मग्रहो ज्ञानोत्तर-कालभावनया प्रहातव्यः । तमोबहुलत्वात् तम इत्यभिधीयते । पेलवस्तु सत्त्वबहुलो दर्शनप्रणयस्तुष्टिः । किं च तत्त्वाभिजयात् । विजितभूमिकस्य हि योगिनस्तन्माहात्म्यवशीकृतत्वाद् भूम्यन्तरे(ऽ)प्रवृत्तिस्तुष्टिः । इतरस्य त्वभिनिवेशमात्रमेवेत्यनयोर्विशेषः । तस्मान्न पदार्थसंकर इति व्याख्याता प्रकृत्याख्या तुष्टिः ।

यदा तु सत्यपि प्रकृतिसामर्थ्ये नानपेक्ष्य यथास्वमुपादानं भावा-नामुत्पत्तिः संभवति, प्रकृत्यविशेषे सर्वकालमुत्पत्तिप्रसङ्गात्, प्रकृतिकृत्य-

---

हुआ व्यक्ति प्रधान का ज्ञान होने पर उसी में सन्तोष करके पदार्थान्तर जो पुरुष, उसके ज्ञान में रुचि ही न ले, यह तुष्टि है । इस प्रकार दोनों में प्रतीति का भेद है । अर्थात् अविद्या में विपरीत प्रतीति होती है और तुष्टि में यथार्थ की प्रतीति में रुचि ही नहीं लेता है । प्रधान की प्रतीति में ही सन्तोष कर लेता है ।

एवं, अविद्या और तुष्टि के प्रहाण (परित्याग या नाश) में विशेषता है । अर्थात् अत्यन्त बद्धमूल हुआ अनात्मा में आत्मा का ग्रह अविद्या है;और उसका नाश विवेक-ज्ञान के अनन्तर की गयी भावना से अर्थात् पुनः पुनः किये गये ज्ञानाभ्यास से होता है । तमोबहुल होने से यह अविद्या तम है । किन्तु अत्यन्त कोमल एवं सत्त्वबहुल जो प्रधानदर्शन के प्रति प्रणय (आसक्ति) वह तुष्टि है; जिसका परित्याग करना नहीं चाहता है । इस प्रकार अविद्या और तुष्टि के प्रहाण (परित्याग या निवारण) में भी विशेषता होने से दोनों में सांकर्य नहीं होगा ।

एवं, तत्त्व के सम्बन्ध में विजय के कारण भी अविद्या और तुष्टि में अन्तर (भेद) है । अर्थात् तुष्टि वह है कि पूर्व भूमि के प्रति विजय प्राप्त किया हुआ योगी वर्तमान भूमि के माहात्म्य से उसके वशीभूत होकर अग्रिम भूमि में प्रवृत्ति नहीं करता है । यह तुष्टि है। अविद्या में तो बिना किसी भूमि पर विजय प्राप्त किये प्रधान या महत् किसी में अभिनिवेशमात्र की अर्थात् अनात्मा में आत्माभिमान की उत्पत्ति हो जाती है । यही अविद्या और तुष्टि में विशेषता है । इसलिये यहाँ पदार्थ का सांकर्यदोष नहीं होगा । इस प्रकार प्रकृतिनामक प्रथम तुष्टि की व्याख्या पूर्ण हुई ।

जब तो प्रकृति में जगदुत्पत्ति की सामर्थ्य रहने पर भी यथायोग्य उपादान की अपेक्षा किये बिना भावों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । क्योंकि प्रकृतिरूप समान कारण के होने से सभी काल में भावों की उत्पत्ति होने लगेगी । एवं सम्पूर्ण विश्व उपादान के बिना केवल प्रकृति द्वारा ही कृत है, ऐसा मानने वाले के लिये प्रकृति में

(कृत) मेवेदं विश्वमित्यभ्युपगच्छतस्तदविशेषात् गोः पुरुषादुत्पत्तिप्रसङ्गः, पुरुषस्य वा महिषात् ।

किंच, जात्यभेदप्रसङ्गात् । प्रकृतिकृत्यमेवेवं विश्वमित्यभ्युपगच्छतो जातिभेदो न स्यात्, तदविशेषात् । दृष्टं तूपादानाज्जात्यनुविधानं भावानाम् । तस्मात् तदेव कारणत्वेन परिकल्पयितुं न्याय्यम् । उपादानैकदेश एव च[1] कार्यकारणविधात्मा भोक्तेत्येतस्माद् दर्शनात् सङ्गद्वेषनिवृत्तिं लभते, सा द्वितीया तुष्टिः सलिलमित्यभिधीयते ।

कथं पुनरेतत् सलिलम्? सत्युपादाने विकारो लीयत इति । तथा च कृत्स्नं शास्त्रमाह—'सलिलं सलिलमिति वैकारिकोपनिपातमेवाधिकुरुते, सति तस्मिल्लीयते जगदिति' । स खल्वयं योगी पार्थिवानवजित्य तन्म-

---

विशेषता नहीं होने से गौ की पुरुष से उत्पत्ति होने लगेगी अथवा महिष से पुरुष की उत्पत्ति होने लगेगी ।

और भी दोष है—जाति में अभेद का प्रसङ्ग हो जायेगा । अर्थात् प्रकृति ही यह विश्व है, ऐसा मानने वाले के लिये भावों में जातिभेद नहीं हो सकेगा; क्योंकि प्रकृतिरूप कारण सबके लिये समान है । ऐसा देखा गया है कि सभी भाव पदार्थ अपने उपादान कारण की जाति का अनुगमन करते हैं । अर्थात् जिस जाति का उपादान कारण होता है, उसी जाति का भाव पदार्थ उत्पन्न होता है । इसलिये जगत्-कारण के रूप में उपादान की ही कल्पना करना न्यायोचित है ।

एवं, उपादान का एक देश ही, जो कि कार्यकारणरूप अर्थात् प्रकृति-विकार-भूत नहीं है, भोक्ता आत्मा है । इस प्रकार की दृष्टि से व्यक्ति सङ्ग और द्वेष से निवृत्ति को प्राप्त कर लेता है, और यही मोक्ष है । यह द्वितीय उपादाननामक तुष्टि है, जो 'सलिल' संज्ञा से शास्त्र में अभिहित है ।

प्रश्न—उपादाननामक तुष्टि 'सलिल' संज्ञा से क्यों कही जाती है ?

उत्तर—सद्रूप उपादान में विकार लीन होता है, इसलिये यह 'सलिल' है । ऐसी व्युत्पत्ति कर शास्त्र कहता है—'सलिलं ········जगदिति' ।

अर्थात् 'सलिलं सलिलम्' यह वैकारिक उपनिपात(अपने में विकार के लय)को ही अधिकृत करता है, अर्थात् प्रतिपादित करता है । जैसे, सत् उपादान में जगत् लीन होता है, इसलिये उपादाननामक तुष्टि सलिल है । यह योगी पार्थिव आदि भूमियाँ

---

१. 'अकार्यकरणविधात्मा' इति पाठो युज्यते ।

हिम्ना जगदशून्यं दृष्ट्वा पदार्थान्तरस्याभावं मन्यमानस्तामेव भूमिं कैवल्यमिति गृह्णाति। भिन्ने च देहे पृथिव्यादिषु लीयते। ततश्च पुनरावर्तते।

यदा च सत्युपादानसामर्थ्ये न तावतैव भावानां प्रादुर्भावः, किं तर्हि? सन्निहितसाधनानामपि कालं प्रत्यपेक्षा भवति। कालविशेषाद् बीजादङ्कुरो जायते, अङ्कुरान्नालम्, नालात् काण्डम्, काण्डात् प्रसव इत्यादि। अन्यथा तूपादानानां सन्निधानमात्रात् क्षणेनैवाऽमीषामवस्थाविशेषाणामभिव्यक्तिः स्यात्।

किं च, कालविपर्ययेणोत्पत्तिप्रसङ्गात्। उपादानपूर्वकं विश्वमित्यभ्युपगच्छतः शरदि यवानां; वसन्ते व्रीहीणामुत्पत्तिः प्राप्नोति। न चैतदिष्टम्।

किञ्च तद[1]नभिधानात् (तदनुविधानात्)। दृश्यन्ते च प्राणिनां

को जीतकर उनकी ही महिमा से जगत् को परिपूर्ण देखकर अन्य पदार्थ (पुरुषतत्त्व) का अभाव मानता हुआ उसी भूमि को कैवल्य के रूप में मान बैठता है। तथा शरीर के छूटने पर पृथिवी आदि में लीन हो जाता है। और कुछ काल के बाद वह पुनः इस संसार में आता है।

जब उपादान कारण की सामर्थ्य रहने पर भी उतनेमात्र से भावों की उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु उत्पत्ति के साधनों का सन्निधान होने पर भी उसे काल की अपेक्षा होती है। अर्थात् समय पर ही उत्पत्ति होती है; पहले नहीं। जैसे, समयविशेष में बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है, अङ्कुर से नाल, नाल से काण्ड और काण्ड से प्रसव (पुष्प-फल) इत्यादि होता है। यदि काल की अपेक्षा न हो तो उपादानों के सन्निधानमात्र से क्षण में ही अङ्कुर नाल आदि सभी अवस्थाओं की अभिव्यक्ति हो जाती; किन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिये भावों के प्रादुर्भाव में काल की भी अपेक्षा होती है।

एवं, विपरीत काल में भी भावों की उत्पत्ति होने लगेगी। अर्थात् उपादानमात्र ही विश्व का कारण है—ऐसा स्वीकार करने वाले के लिये शरद् ऋतु में जवों की,और वसन्त में धानों की उत्पत्ति होनी चाहिये। किन्तु उन्हें भी ऐसा इष्ट नहीं है। इसलिये भी भावों की उत्पत्ति में काल की अपेक्षा है।

---

१. तदनुविधानात् इति पाठः सुसंगतः।

कालानुरूपाः स्वभावाहारविहारव्यवस्थाः, तस्मादसावेव कारणम्। तदेकदेशश्चाप्रकृतिविकारभूतो भोक्तेत्येतस्माद् दर्शनात् संगद्वेषनिवृत्तिं लभते। सा तृतीया तुष्टिरोघ इत्यभिधीयते।

कथं पुनरयं काल ओघ इत्युच्यते ? सलिलौघवत् सर्वाभ्यावहनात्। तद्यथा सलिलौघस्तृणं काष्ठमश्मानं प्राणिनं वा स्वमूर्तिसंसृष्टं सर्वमेवाभ्यावहति, एवमयं कालो गर्भाद् बाल्यं, बाल्यात् कौमारं, कौमाराद् यौवनं, यौवनात् स्थाविर्यं, स्थाविर्यान्मरणं, तथा बीजान्मूलं, मूलादङ्कुरमिति वहति। तथा चाह—

यामेव प्रथमां रात्रिं गर्भे भवति पूरुषः।
सम्प्रस्थितस्तां भवति, स गच्छन्न निवर्तते॥

तस्मादोघसामान्यादोघः कालः।

एवं कार्य में काल का अनुविधान (अनुसरण) होने से भी काल ही कारण है। अर्थात् प्राणियों में उनके स्वभाव एवं आहार-विहार की व्यवस्था काल के अनुरूप ही होती है; इसलिये काल ही कारण है। उसका भी सम्पूर्ण अंश कारण नहीं हो सकता; इसलिये उसका वह एकदेश—जो न किसी की प्रकृति (कारण) है, और न किसी का विकारभूत है—भोक्ता आत्मा है। इस प्रकार के दर्शन से भी संग और द्वेष की निवृत्ति प्राप्त हो जाती है; और वही मोक्ष है। इस प्रकार काल को ही परम तत्त्व को मानकर हुई तृतीय तुष्टि 'ओघ' कही जाती है।

प्रश्न—यह काल ओघ कैसे कहा जाता है ?

उत्तर—इसलिये इसे ओघ कहा जाता है कि जल के ओघ (बाढ) के समान काल सभी को बहा ले जाता है। अर्थात् जैसे, जल का समूह तृण-काठ-पत्थर अथवा किसी प्राणी को, जो अपने से लगा होता है, सभी को बहा ले जाता है; वैसे ही यह काल भी गर्भ से बाल्य, बाल्य से कौमार, कौमार से यौवन, यौवन से वार्धक्य, वार्धक्य से मरण को तथा बीज से मूल, मूल से अङ्कुर को प्राप्त करा देता है। कहा भी है—

यामेव ... ...पूरुषः।
सम्प्रस्थितः ... ... निवर्तते॥

अर्थात् प्रथम रात्रि में पुरुष गर्भ में आता है, उसी रात्रि में वह बाल्यादि

खल्वयं योगो कालमवजित्य पदार्थान्तराभावं मन्यमानस्तामेव भूमिं कैवल्यमिति मन्यते। देहभेदे च कालमनुप्रविशति, ततश्च पुनरावर्तते।

यदा तु सत्यपि कालसामर्थ्ये भावानामुत्पत्तिर्भाग्यान्यपेक्षते। कस्मात्? तत्सन्निधानेऽप्यप्रादुर्भावात्। सत्यपि साधनसामर्थ्ये कालविशेषे च कस्यचिदुत्पत्तिर्भवति कस्यचिन्नेति। तस्मादस्ति कारणान्तरं यदपेक्ष्य भावानामुत्पत्तिरनुत्पत्तिश्च।

किञ्चाभ्युत्थानानुपपत्तिप्रसङ्गात्। कालमात्रात् फलं भवतीत्येतदि-

---

अवस्थाओं के लिये प्रस्थान कर देता है; तथा आगे को अवस्थाओं में जाते हुये वह पीछे की ओर नहीं लौटता है।

इसलिये पानी की बाढ़ के समान वहन करने के कारण कालनामक तुष्टि ओघसंज्ञा से कही जाती है।

ऐसा यह काल को परम तत्त्व मानने वाला योगी काल को जीतकर और काल से अतिरिक्त पुरुषरूप अन्य पदार्थ की असत्ता मानता हुआ उस कालरूप भूमि को कैवल्य के रूप में मानता है। तथा देह छूटने पर काल में अनुप्रविष्ट हो जाता है। और वहाँ कुछ समय रहकर पुनः संसार में आता है, अर्थात् देह धारण करता है।

कभी तो कालसामर्थ्य रहने पर भी भावों की उत्पत्ति में भाग्य की अपेक्षा होती है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—काल के सन्निहित होने पर भी बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती है। अर्थात् साधन (उपादान) की सामर्थ्य होने पर और कालविशेष सन्निधान का होने पर किसी बीजविशेष से अङ्कुर की उत्पत्ति होती है और किसी बीजविशेष से अङ्कुरविशेष की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये काल से भी अतिरिक्त कारण होता है, जिसकी अपेक्षा होने के कारण कभी भावों की उत्पत्ति होती है, और कभी नहीं होती है।

एवं, अभ्युत्थान (क्रियाविशेष में प्रवृत्ति) अनुपपन्न हो जायेगी। अर्थात् कालमात्र से फल होता है, ऐसा स्वीकार करने वाले के लिये शास्त्रों में विहित अभिषेचन (अभिषेक) व्रत-उपवास-अग्निहोत्र आदि क्रियाविशेषों में प्रवृत्ति न हो सकेगी।

च्छतः शास्त्रोक्तेषु क्रियाविशेषेष्वभिषेचनव्रतोपवासाग्निहोत्रादिष्वभ्युत्थानं न स्यात् । कस्मात् ? आनर्थक्यात् । अस्ति च; तस्मान्न कालनिमित्ता भावानामुत्पत्तिः ।

किं च, तदनुविधानात् । दृश्यन्ते खल्वपि प्रकृत्युपादानकाला-विशेषेऽपि भाग्यविशेषात् फलविशेषाः । तस्मात् (तत्संकार) एव करणम् (कारणम्) । तदेकदेशश्चाप्रकृतिविकारभूतो भोक्तेत्येतस्माद् दर्शनात् सङ्ग-द्वेषनिवृत्तिं लभते । सा चतुर्थी तुष्टिर्वृष्टिरित्यभिधीयते ।

कथं पुनर्वृष्टिरित्युच्यते ? सर्वसत्त्वाप्यायनात् । यथा हि शीर्णा-नामपि तृणलतादीनां वृष्टिं प्राप्य पुनराप्यायनं भवति, एवमेव सर्वेषां प्राणिनां भाग्यविपरिणामात् पुनराप्यायनं भवति । तस्माद् वृष्टिसाम्याद्

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—उक्त अभिषेचन आदि क्रियाविशेष निरर्थक हैं; क्योंकि काल ही फल का सम्पादन कर देगा । किन्तु उक्त क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है; इसलिये भावों की उत्पत्ति कालनिमित्तक नहीं मानी जा सकती है ।

एवं, कारणान्तर का अनुसरण देखा जाता है । अर्थात् समान प्रकृति-उपादान-और कालविशेष के होने पर भी भाग्यविशेष की अपेक्षा से फलविशेष होते हुए देखे भी जाते हैं । अतः उस व्यक्ति का संस्कार अर्थात् पूर्वजन्म के कर्म से प्राप्त भाग्य ही कारण है ।

उस भाग्य का एकदेश—जो प्रकृति-विकारभूत नहीं है, वही भोक्ता आत्मा है । क्योंकि पूर्ववत् भाग्य भी अपने कृत्स्नस्वरूप (सम्पूर्ण रूप) से कारण नहीं हो सकता है । इसलिये उसका एकदेश प्रकृति-विकारभाव से रहित भोक्ता आत्मा है ।

इस प्रकार के दर्शन से व्यक्ति सङ्ग-द्वेष से रहित हो जाता है, और यही मोक्ष है । यह साधक योगी की चतुर्थी 'तुष्टि' है, जिसे 'वृष्टि' संज्ञा से सांख्यशास्त्र में कहा जाता है ।

प्रश्न—यह चतुर्थ तुष्टि वृष्टिसंज्ञा से क्यों कही जाती है ?

उत्तर—सब प्राणी का आप्यायन (तृप्ति) करने से वृष्टि कहाती है । अर्थात् सूखी तृणलता आदि वृष्टि को पाकर पुनः आप्यायित (हरीभरी) हो जाती है; ऐसे ही सभी प्राणियों का उसके भाग्य के विपरिणाम से पुनः आप्यायन (सुख) हो जाता है । इसलिये वृष्टि की समता के कारण भाग्यनामक तुष्टि 'वृष्टि' संज्ञा से कही जाती

भाग्याख्या तुष्टिर्वृष्टिरित्यभिधीयते। शास्त्रमप्याह—वृष्टिर्वृष्टिरिति श्रिय एवोपनिपातमधिकुरुते। सा हि वृष्टिवत् सर्वमप्याययतीति।

स खल्वयं योगी भाग्यान्वजित्य तन्महिम्ना जगदशून्यं दृष्ट्वा पदार्थान्तरस्याभावं मन्यमानस्तामेव भूमिं कैवल्यमिति गृह्णाति। स तस्यामेव देहभेदे लीयते। ततश्च पुनरावर्तत इति।

आह—कालभाग्ययोरप्रतिपत्तिः, समाख्याऽपरिज्ञानात्। प्रवृत्त्यात्मकस्य तावद् योगिनोऽष्टौ प्रकृतयो विषय इत्युक्तं पुरस्तात्। उपादानात्मकस्य च पृथिव्यादीनि महाभूतानि। कालभाग्ययोस्तु न तथोक्तम्। तस्माद् वक्तव्यं कस्य तत्त्वस्यैषा समाख्येति?

उच्यते—न, उक्तत्वात्। प्रागेवैतदपदिष्टं न कालो नाम कश्चित् पदार्थोऽस्ति। किं तर्हि? क्रियासु कालसंज्ञा। ताश्च करणवृत्तिरिति

है। शास्त्र भी कहता है—'वृष्टिर्वृष्टि' रित्यादि। अर्थात् वृष्टि वृष्टि ऐसा व्यवहार 'श्री' की प्राप्ति को ही बताता है। क्योंकि वह 'श्री' वृष्टि को तरह सबको आप्यायित (सुखी) करती है।'

ऐसा योगी भाग्यभूमि के ऊपर विजय प्राप्त कर भाग्य को ही महिमा से जगत् को पूर्ण समझकर भाग्यातिरिक्त पुरुषनामक पदार्थान्तर का अभाव मानता हुआ उस भाग्यभूमि को ही कैवल्य ऐसा मान बैठता है। और वह देह छूटने पर उसी में लीन हो जाता है। वहाँ कुछ काल लय को प्राप्त होने के अनन्तर पुनः संसार में आता है। अर्थात् जन्म ग्रहण करता है।

प्रश्न—काल और भाग्यनामक तुष्टियों का बोध नहीं हो सकता है; क्योंकि यहाँ समाख्या का ज्ञान नहीं है। कारण, पहले बताया गया है कि प्रकृतिरूप तुष्टि से युक्त योगी के लिये आठ प्रकार की प्रकृतियाँ विषय हैं। ऐसे ही उपादाननामक तुष्टि से युक्त योगी के लिये पृथिवी आदि पाँच महाभूत विषय हैं, यह भी कहा गया है; किन्तु काल और भाग्यनामक तुष्टियों के क्या विषय हैं, यह नहीं कहा गया है। अतः यह बताना चाहिये कि किस तत्त्व की काल और भाग्य संज्ञा है? अर्थात् काल और भाग्यनामक तुष्टियों के क्या विषय हैं?

उत्तर—उक्त प्रश्न ठीक नहीं है; क्योंकि इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है। अर्थात् पहले ही यह बताया जा चुका है कि सांख्यमत में काल नाम का कोई पदार्थ नहीं है; किन्तु सूर्य की क्रियाओं में ही कालसंज्ञा प्रयुक्त होती है। और वह तो

प्रतिपादितम् । न चान्या वृत्तिर्वृत्तिमतः । तस्मात् करणचैतन्यप्रतिज्ञः कालात्मक इति । भाग्यसंज्ञा तु धर्माधर्मयोः । तौ च बुद्धिधर्माविति प्रागपदिष्टम् । तस्माद् भाग्यवादी बुद्धिचैतनिक इति ।

आह—न, तुष्ट्यन्तरत्वात् । प्रकृतित्वान्महान् पूर्वं प्रकृत्याख्यायां तुष्टाववरुद्धः । तस्येदानीं तुष्ट्यन्तरत्वेन परिकल्पनं नातिसमञ्जसमिति ।

उच्यते—महांस्तर्हि पूर्वतुष्टिविषयभावादपकृष्यत इति । अथवा कार्यकरणवृत्ति(त्ति)क्रियारूपां वृत्तिमद्द्योत्यां परिकल्प्य तस्यां कालत्वमयमाह । महतश्च रूपं धर्मादिकं, महतोऽर्थान्तरं भाग्यमिति भाग्यवान् ।

अथवा बाह्य एवायं कालः कर्मकारणं निर्दिश्यते । तत्र चान्येऽपि स्वमति परिकल्पितपदार्थान्तरात्मभावग्राह्या[1] एवातिसांख्याः प्रवादिनः प्रतिक्षिप्ता बोद्धव्या इति ।

करण की वृत्ति है; यह प्रतिपादित किया गया है। एवं, कोई भी वृत्ति वृत्तिमान् से भिन्न नहीं होती, अर्थात् वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद है। अतः कालनामक तुष्टि से सम्पन्न योगी करण के ही मुख्य चैतन्य को मानता है। अर्थात् उससे अतिरिक्त पुरुषनामक चेतनतत्त्व को नहीं मानता है।

एवं भाग्यसंज्ञा तो धर्म और अधर्म की है। वे धर्माधर्म बुद्धि के धर्म हैं; यह पूर्व में बताया जा चुका है। इसलिये भाग्य को ही परम तत्त्व मानने वाला भाग्यवादी योगी बुद्धिचैतनिक (बुद्धि को ही चेतनतत्त्व मानने वाला) तौष्टिक है।

पूर्वपक्ष—महान को भाग्यनामक तुष्टि बताना ठीक नहीं है; क्योंकि यह प्रकृतिनामक भिन्न तुष्टि है। अर्थात् प्रकृति होने के कारण महान् पहले प्रकृति नामक तुष्टि के अन्तर्गत समाविष्ट हो चुका है। ऐसी स्थिति में अब महान् को प्रकृति से भिन्न भाग्य नामक तुष्टि के रूप में कल्पित करना (मानना) सुसंगत नहीं है।

समाधान—ऐसी स्थिति में महान् को पूर्व तुष्टि (पूर्वोक्त प्रकृतिनामक तुष्टि) से अलग कर दिया जायगा। अर्थात् यह प्रकृतिनामक तुष्ट्यन्तर नहीं है। अतः इसके भाग्यनामक तुष्टि होने में कोई असंगति नहीं है।

अथवा देहेन्द्रिय की वृत्ति की—जो क्रियारूप है और वृत्तिमान से द्योतित

---

१. एवैते सांख्याः इति क्वचित् पाठः।

अपर आह प्रकृतिचैतनिकः—प्रधानभावाशा(ह्यु)द्युपादानकालभाग्यवादिनो महदहङ्कारतन्मात्रवादिन इति । तदेतदप्रसिद्धत्वादयुक्तम् । नहि महदहङ्कारतन्मात्रलक्षणाः प्रकृतय उपादानकालभाग्यभावेन प्रसिद्धाः । तस्मादिदमप्ययुक्तम् । एवमेता आध्यात्मिकयश्चतस्रस्तुष्टयः ।

'बाह्या विषयोपरमात् पञ्च, च नव तुष्टयोऽभिहिताः' ॥५०॥

च शब्दोऽवधारणार्थः । अव्युत्पन्नात्मविचारस्य योगिनो विषयदोषदर्शनमात्रात् क्नदोष (द्वेष) निवृत्तिर्बाह्या तुष्टिः । तत्र यदाऽर्जनदोषमव-

---

होने वाली है–कल्पना कर उसी को आचार्य ने काल माना है और उसी से सम्बन्धित कालनामक तुष्टि है। महान् का स्वरूप धर्म-अधर्म आदि है, और महान् से भिन्न वस्तु भाग्य है और उस भाग्य को परमतत्त्व मानने वाला योगी भाग्यवान्संज्ञक तौष्टिक है; उसे बुद्धिचैतनिक तौष्टिक नहीं कह सकते। अथवा कर्म (क्रिया) का कारण यह बाह्य [देहेन्द्रियादि से पृथक्] ही—काल यहाँ विवक्षित है। इनसे अन्य भी तौष्टिक हैं, जो अपनी बुद्धि से कल्पित पदार्थान्तर में ही आत्मभाव को मानते हैं। ऐसे प्रवादी सांख्यमत का अतिक्रमण करने के कारण वस्तुतः सांख्यवादी नहीं हैं और उन्हें खण्डित समझना चाहिये।

प्रकृति को चेतनतत्त्व मानने वाले दूसरे का कथन है कि उपादान, काल और भाग्यशब्द से महत्-अहङ्कार और तन्मात्र विवक्षित हैं। ऐसे लोग महत्-अहङ्कार और तन्मात्र में ही प्रधानभाव (प्रकृतिभाव) की आशा करने वाले हैं। अर्थात् ये महदादि को ही मुख्य प्रकृति समझते हैं।

किन्तु अप्रसिद्ध होने से उक्त कथन अयुक्त है। क्योंकि महत्, अहङ्कार और तन्मात्रलक्षण प्रकृति उपादान, काल और भाग्य के रूप में प्रसिद्ध नहीं हैं। अतः इन्हें उपादान, काल और भाग्यनामक तुष्टि बताना भी युक्त नहीं है।

इस प्रकार प्रकृति-उपादान-काल और भाग्यनामक इन चार आध्यात्मिक तुष्टियों का निरूपण हुआ।

पञ्चविध विषयों के प्रति उपरम (विरक्ति) होने से पाँच बाह्य तुष्टियां हैं। इस प्रकार चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ और पाँच बाह्य तुष्टियां मिल कर कुल नौ प्रकार की तुष्टियां शांख्यशास्त्र में कही गयी हैं। कारिका में आया 'च' शब्द अवधारण अर्थ में है। अतः कुल नौ ही तुष्टियां हैं।

गच्छति न तावत् सर्वस्याभिजातिरस्तीति अर्थिनाऽवश्यं विषयार्जने वर्तितव्यम्। तेषामस्वाभाविकत्वात् क्वचिदेवावस्थितिरित्युक्तं प्राक्।

किं च, सप्रत्यनीकत्वात्। स्वाभाविकमवस्थानं विषयाणामपरिकल्प्यापि यदा प्रतिग्रहादिभिरर्जनं प्रत्याद्रियते, तदप्ययुक्तम्। कुतः? सप्रत्यनीकत्वात्। एवमपि नास्ति कश्चिदप्रत्यनीको विषयार्जनोपाय इति तद्विघातेऽवश्यं प्रयतितव्यम्। स च यदि प्रयतमानः प्रत्यनीकविघातं कुर्यात्, परोपघातेनात्माऽनुग्रहानुष्ठानाच्छास्त्रविरोधः। यस्मादाह—

न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः, कामादन्यः प्रवर्तते॥

अर्थात् जिस योगी को आत्मविषयक विचार (जिज्ञासा) नहीं उत्पन्न हुआ, बल्कि वाह्य विषयों में दोषदृष्टिमात्र से राग द्वेष को निवृत्ति हो गयी, उसकी वह वाह्य तुष्टि है। यहाँ बाह्य-विषय शब्दादि पाँच हैं, इसलिये उनसे सम्बन्धित तुष्टि भी पाँच हैं।

उन विषयों में अर्जन-रक्षण आदि कई दोष होते हैं। अतः जब उनमें अर्जन-सम्बन्धी दोष (विषयों को प्राप्त करने में हिंसा आदि दोष) जान लेता है, तब सभी को उनके प्रति अभिरुचि नहीं होती हैं। अथवा जब विषयों में अर्जनसम्बन्धी दोष नहीं जानता है, तब तक सबको उनके प्रति अभिरुचि होती है। यहाँ 'नञ्' पद का अन्वय 'अवगच्छति' पद के साथ है। अथवा 'अभिजाति' पद का 'प्रियत्व' अर्थ है। इसलिये विषय में अर्जनादि-दोषदर्शन के अभाव में विषय प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति अवश्य ही विषय के अर्जन में संलग्न रहेगा। वे विषय स्वाभाविक नहीं होते; इसलिये कभी-कभी ही वे अवस्थित रहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है।

एवं, विषय का अर्जन सप्रत्यनीक (सविघ्न) है निर्विघ्न नहीं है। अर्थात् विषयों की स्वाभाविक अवस्थिति की कल्पना न होने पर भी जो प्रतिग्रह (दान लेना) आदि के द्वारा उनके अर्जन के प्रति आदर होता है, वह भी युक्त नहीं है। अर्थात् ऐसा कोई भी विषयों के अर्जन का उपाय नहीं है जो विघ्नरहित हो। ऐसी स्थिति में उस विघ्न को नष्ट करने के लिये अवश्य ही प्रयत्न करना होगा। इस प्रकार प्रयत्न करता हुआ व्यक्ति यदि उस बाधक का विनाश करता है तो दूसरे के विनाश द्वारा अपना लाभ [उपकार] करने के कारण हिंसानिषेधक शास्त्र के साथ विरोध हो जाता है। क्योंकि शास्त्र कहता है—'न तत्परस्य सन्दध्यात्··· ··· ···इत्यादि। अर्थात् जो अपने लिये प्रतिकूल प्रतीत होता है, उसे दूसरे के लिये न करे। यही

अपर आह प्रकृतिचैतनिकः—प्रधानभावाशा(ह्यु)ह्युपादानकालभाग्यवादिनो महदहङ्कारतन्मात्रवादिन इति । तदेतदप्रसिद्धत्वादयुक्तम् । नहि महदहङ्कारतन्मात्रलक्षणाः प्रकृतय उपादानकालभाग्यभावेन प्रसिद्धाः । तस्मादिदमप्ययुक्तम् । एवमेता आध्यात्मिकयश्चतस्रस्तुष्टयः ।

'बाह्या विषयोपरमात् पञ्च, च नव तुष्टयोऽभिहिताः' ॥५०॥

च शब्दोऽवधारणार्थः । अव्युत्पन्नात्मविचारस्य योगिनो विषयदोषदर्शनमात्रात् क्रुदोष (द्वेष) निवृत्तिर्बाह्या तुष्टिः । तत्र यदाऽर्जनदोषमव-

---

होने वाली है-कल्पना कर उसी को आचार्य ने काल माना है और उसी से सम्बन्धित कालनामक तुष्टि है। महान् का स्वरूप धर्म-अधर्म आदि है, और महान् से भिन्न वस्तु भाग्य है और उस भाग्य को परमतत्त्व मानने वाला योगी भाग्यवान्संज्ञक तौष्टिक है; उसे बुद्धिचैतनिक तौष्टिक नहीं कह सकते। अथवा कर्म (क्रिया) का कारण यह बाह्य [देहेन्द्रियादि से पृथक्] ही—काल यहाँ विवक्षित है। इनसे अन्य भी तौष्टिक हैं, जो अपनी बुद्धि से कल्पित पदार्थान्तर में ही आत्मभाव को मानते हैं। ऐसे प्रवादी सांख्यमत का अतिक्रमण करने के कारण वस्तुतः सांख्यवादी नहीं हैं और उन्हें खण्डित समझना चाहिये।

प्रकृति को चेतनतत्त्व मानने वाले दूसरे का कथन है कि उपादान, काल और भाग्यशब्द से महत्-अहङ्कार और तन्मात्र विवक्षित हैं। ऐसे लोग महत्-अहङ्कार और तन्मात्र में ही प्रधानभाव (प्रकृतिभाव) की आशा करने वाले हैं। अर्थात् ये महदादि को ही मुख्य प्रकृति समझते हैं।

किन्तु अप्रसिद्ध होने से उक्त कथन अयुक्त है। क्योंकि महत्, अहङ्कार और तन्मात्रलक्षण प्रकृति उपादान, काल और भाग्य के रूप में प्रसिद्ध नहीं हैं। अतः इन्हें उपादान, काल और भाग्यनामक तुष्टि बताना भी युक्त नहीं है।

इस प्रकार प्रकृति-उपादान-काल और भाग्यनामक इन चार आध्यात्मिक तुष्टियों का निरूपण हुआ।

पञ्चविध विषयों के प्रति उपरम (विरक्ति) होने से पाँच बाह्य तुष्टियां हैं। इस प्रकार चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ और पाँच बाह्य तुष्टियां मिल कर कुल नौ प्रकार की तुष्टियां सांख्यशास्त्र में कही गयी हैं। कारिका में आया 'च' शब्द अवधारण अर्थ में है। अतः कुल नौ ही तुष्टियां हैं।

गच्छति न तावत् सर्वस्याभिजातिरस्तीति अर्थिनाऽवश्यं विषयार्जने वर्तितव्यम्। तेषामस्वाभाविकत्वात् क्वचिदेवावस्थितिरित्युक्तं प्राक्।

किं च, सप्रत्यनीकत्वात्। स्वाभाविकमवस्थानं विषयाणामपरिकल्प्यापि यदा प्रतिग्रहादिभिरर्जनं प्रत्याद्रियते, तदप्ययुक्तम्। कुतः? सप्रत्यनीकत्वात्। एवमपि नास्ति कश्चिदप्रत्यनीको विषयार्जनोपाय इति तद्विघातेऽवश्यं प्रयतितव्यम्। स च यदि प्रयतमानः प्रत्यनीकविघातं कुर्यात्, परोपघातेनात्माऽनुग्रहानुष्ठानाच्छास्त्रविरोधः। यस्मादाह—

न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः, कामादन्यः प्रवर्तते॥

अर्थात् जिस योगी को आत्मविषयक विचार (जिज्ञासा) नहीं उत्पन्न हुआ, बल्कि वाह्य विषयों में दोषदृष्टिमात्र से राग द्वेष की निवृत्ति हो गयी, उसकी वह वाह्य तुष्टि है। यहाँ बाह्य-विषय शब्दादि पाँच हैं, इसलिये उनसे सम्बन्धित तुष्टि भी पाँच हैं।

उन विषयों में अर्जन-रक्षण आदि कई दोष होते हैं। अतः जब उनमें अर्जन-सम्बन्धी दोष (विषयों को प्राप्त करने में हिंसा आदि दोष) जान लेता है, तब सभी को उनके प्रति अभिरुचि नहीं होती हैं। अथवा जब विषयों में अर्जनसम्बन्धी दोष नहीं जानता है, तब तक सबको उनके प्रति अभिरुचि होती है। यहाँ 'नञ्' पद का अन्वय 'अवगच्छति' पद के साथ है। अथवा 'अभिजाति' पद का 'प्रियत्व' अर्थ है। इसलिये विषय में अर्जनादि-दोषदर्शन के अभाव में विषय प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति अवश्य ही विषय के अर्जन में संलग्न रहेगा। वे विषय स्वाभाविक नहीं होते; इसलिये कभी-कभी ही वे अवस्थित रहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है।

एवं, विषय का अर्जन सप्रत्यनीक (सविघ्न) है निर्विघ्न नहीं है। अर्थात् विषयों की स्वाभाविक अवस्थिति की कल्पना न होने पर भी जो प्रतिग्रह (दान लेना) आदि के द्वारा उनके अर्जन के प्रति आदर होता है, वह भी युक्त नहीं है। अर्थात् ऐसा कोई भी विषयों के अर्जन का उपाय नहीं है जो विघ्नरहित हो। ऐसी स्थिति में उस विघ्न को नष्ट करने के लिये अवश्य ही प्रयत्न करना होगा। इस प्रकार प्रयत्न करता हुआ व्यक्ति यदि उस बाधक का विनाश करता है तो दूसरे के विनाश द्वारा अपना लाभ [उपकार] करने के कारण हिंसानिषेधक शास्त्र के साथ विरोध हो जाता है। क्योंकि शास्त्र कहता है—'न तत्परस्य सन्दध्यात्… … …इत्यादि। अर्थात् जो अपने लिये प्रतिकूल प्रतीत होता है, उसे दूसरे के लिये न करे। यही

पुनरप्याह—

प्राणिनामुपघातेन योऽर्थः समुपजायते ।
सोऽनपेक्षैः प्रहातव्यो लोकान्तरविघातकृत् ॥
तस्मात् संघातमात्रत्वात् सत्त्वादीनां घटादिवत् ।
आब्रह्मणः परिज्ञाय देहानामनवस्थितिम् ॥
इतस्त्यं सद्भिरादीप्तं तृष्णोल्काचपलं सुखम् ।
सुवृढैर्नं निपातव्यं दुःखैर्देहान्तरोद्भवैः ॥

अथ पुनरयं प्रत्यनीकैर्विहन्यते, ततोऽस्य विषयाभावः । सुखार्थं च प्रवृत्तस्य भूयिष्ठं दुःखमेवेत्येतस्माद् दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते । सा पञ्चमी तुष्टिः सुतारमित्यभिधीयते ।

धर्म का सार है। यदि वैसा करता है तो वह काम के वशीभूत होकर करता है, जो दोष है।

शास्त्र और भी कहता है—प्राणिनामुपघातेन···इत्यादि। अर्थात् प्राणियों की हिंसा द्वारा जो विषय उत्पन्न होता है, उसका निरपेक्ष (कामनारहित) व्यक्तियों को परित्याग कर देना चाहिये। क्योंकि हिंसा परलोक में अनिष्ट करने वाली होती है। इसलिये घटादि के समान ब्रह्मापर्यन्त सभी के शरीर सत्त्वादि त्रिगुणों का संघातरूप होने से अस्थायी हैं; ऐसा जानकर सत्त्वगुण से सम्पन्न व्यक्तियों को तृष्णा से अत्यन्त उद्दीप्त उल्का के समान चञ्चल देह से होने वाले सुख का पान नहीं करना चाहिये, अर्थात् शारीरिक सुख में मग्न नहीं होना चाहिये। क्योंकि इस चञ्चल सुख की अपेक्षा हिंसा आदि पाप से देहान्तर में होने वाले दुःख सुदृढ़ हैं।

इस प्रकार हिंसादि दोष को देखते हुए पञ्चविध विषयों से उपरतिस्वरूप बाह्य तुष्टि का यहाँ निरूपण किया गया है।

पूर्व में, विषय की प्राप्ति में जो बाधक होते हैं, उनका विघात करने पर हिंसा दोष बताया गया। अब यह बताते हैं कि यदि तो बाधकों से ही विषय की प्राप्ति में व्याघात उत्पन्न होता है, तो व्यक्ति को विषय का अभाव हो जाता है, अर्थात् विषय सुख नहीं प्राप्त हो पाता है। अतः यहां उभयतः पाशारज्जुन्याय आ जाता है। इस प्रकार सुखप्राप्ति के लिये प्रवृत्त व्यक्ति को दुःख ही अधिक प्राप्त होता है; इस दृष्टि से वह माध्यस्थ्य (तटस्थता) को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् विषयार्जन से उपरत हो जाता है। यह पञ्चमी तुष्टि है; जिसे शास्त्र में 'सुतारम्' शब्द से कहा जाता है।

कथं पुनः सुतारमित्युच्यते ? सुखमनेनोपायेन तरन्ति विषयसङ्कट-मिति सुतारम् ।

यदा तु योगी पूर्वदोषाधिगमेऽभिजात्या वा यत्नार्जितविषयत्वे सति रक्षादोषमुपन्यस्यति । कथम् ? भोक्तृभोग्यभावाऽव्यतिरेकात् सर्वप्राणि-साधारणा विषयाः, तस्मात् तेषां रक्षा विधेया । तस्यां च प्रवर्तमानो यदि परमुपरुन्ध्यात् तदा पूर्वोक्तदोषः, अथाऽऽत्मानं, दुःखमेवेत्येतस्माद्दर्शनान् माध्यस्थ्यं लभते । सा षष्ठी तुष्टिः सुपारमित्यभिधीयते ।

कथं पुनः सुपारमित्युच्यते ? सुखमनेन पारं विषयार्णवस्य प्रया-न्तीति ।

प्रश्न—इसे 'सुतारम्' क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—चूँकि इस उपाय द्वारा विषय के सङ्कट को मनुष्य सुखपूर्वक पार कर जाता है; इसलिये यह तुष्टि 'सुतारम्' कही जाती है ।

जब तो योगी पूर्वदोष (विषय के अर्जन में पर की हिंसा आदि दोष) का ज्ञान रहने पर भी अभिरुचि के कारण यत्नपूर्वक विषय का अर्जन कर चुकने के बाद उसमें रक्षादोष को उपस्थित करता है। क्योंकि भोक्ता और भोग्यस्वरूप से अतिरिक्त विषयों की सत्ता नहीं है। अर्थात् कोई विषय भोक्तारूप हैं और कोई भोग्यरूप हैं। अतः सभी विषय भोक्ता और भोग्य के रूप में सर्वप्राणी के लिये साधारण हैं और किसी के भी द्वारा उनका अपहरण सम्भव है। इसलिये उनकी रक्षा करनी चाहिये। इस भावना से अर्जित विषयों की रक्षा में प्रवृत्त व्यक्ति यदि रक्षा में बाधा उपस्थित करने वाले दूसरों की हिंसा करता है, तो पूर्व के समान हो हिंसादोष आ जाता है। अथवा यदि दूसरों से स्वयं बाधित होकर विषय की रक्षा नहीं कर पाता है, तो वह विषयसुख से वञ्चित हो जाता है।

इस प्रकार रात दिन विषयों की रक्षा में एकाग्रमन होकर विषयसुख के लिये प्रवृत्त व्यक्ति को सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिकतर प्राप्त होता है। इस दृष्टि को रखने वाला योगी-जन अर्जन के समान विषय की रक्षा में भी तटस्थता (उपरति) को धारण कर लेता है। यह छठी तुष्टि है, जो शास्त्र में 'सुपारम्' शब्द से कही जाती है।

प्रश्न—इसे 'सुपारम्' क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—इसलिये कि इस तुष्टि के कारण विषय-सागर को सुखपूर्वक पार कर जाता है। अन्यथा विषयसुख को पार करना अत्यन्त दुष्कर है।

यदा तु सति पूर्वदोषेऽसति वा ग्रामनगरनिगमसन्निवेशाद्युपाया-नुष्ठानाद्वा कृतविषयरक्षो योगी क्षयदोषमुपन्यस्यति । कथम् ?

येन द्रव्येण मोहाद् वा रन्तुमिच्छन्ति देहिनः ।
तदेवैषां विनाशित्वाद् भवत्यरतिकारणम् ।।
यत्नोपात्ताः सुगुप्ताश्च विषया विषयैषिणाम् ।
पश्यतामेव नश्यन्ति बुद्‌बुदाः सलिले यथा ।।
न तदस्ति जगत्यस्मिन् भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
प्रत्यक्षतोऽनुमानाद्वा विनाशो यस्य नेक्ष्यते ।।
तस्माद् विनाशिष्वक्तां पुत्रदारगृहादिषु ।
ममेति बुद्धिं यत्नेन बुद्धिमान् विनिवर्तयेत् ।। इति ।।

एतस्माद् दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते, सा सप्तमी तुष्टिः सुनेत्रमित्यु-च्यते । कथं पुनः सुनेत्रमित्युच्यते ? सुखमनेनात्मानं कैवल्याऽवस्थां न-यन्तीति सुनेत्रम् ।

जब तो अर्जनादि में पूर्व दोष हिंसा आदि हो या न हो, अथवा ग्राम-नगर-निगम की व्यवस्था आदि उपाय के अनुष्ठान से भोग्य विषय को सुरक्षित कर लिया हुआ भी योगी विषय का क्षयरूप दोष ही पाता है। क्योंकि देही प्राणी मोहवश जिस द्रव्य से आनन्द प्राप्त करना चाहता है; वही द्रव्य नाशवान् होने के कारण इनके लिये अरति (सुखाभाव) या दुःख का कारण बन जाता है। कारण, बहुत यत्न से प्राप्त एवं अच्छी तरह सुरक्षित भी विषय विषयी जनों के देखते-देखते वैसे नष्ट हो जाते हैं, जैसे देखते-देखते जल में बुलबुले नष्ट हो जाते हैं। इस संसार में स्थावर या जङ्गम कोई भी वह वस्तु नहीं है, जिसका विनाश प्रत्यक्ष या अनुमान से न ज्ञात होता हो। इसलिये विनाशशील पुत्र-स्त्री-गृह आदि में आसक्त (बद्ध-मूल) 'मम' इस बुद्धि को बुद्धिमान् व्यक्ति यत्नपूर्वक हटावे।

इस प्रकार अर्जित एवं सुरक्षित भी विषय के इस क्षयदर्शन से योगी व्यक्ति विषय के प्रति माध्यस्थ्य (तटस्थता या उपरति) को प्राप्त कर जाता है। यह सातवीं तुष्टि है, जो शास्त्र में 'सुनेत्रम्' शब्द से कही जाती है।

प्रश्न—इस तुष्टि को 'सुनेत्रम्' क्यों कहते हैं ?

उत्तर—इसलिये इसे सुनेत्रम् कहते हैं कि इसके द्वारा सुखपूर्वक आयास उठाये विना योगीजन आत्मा को कैवल्यावस्था तक पहुँचा देते हैं।

यदा तु सत्सु पूर्वदोषेषु प्रसङ्गदोषमुपन्यस्यति। कथम् ? प्राप्तविषयाणामिन्द्रियाणां तदभिलाषान्निवृत्तिस्तत्सुखम् । विषयजिघृक्षता च दुःखम् । प्राप्तिरप्येषामनुपशान्तये तदुपभोगकौशलाय च । यस्मादाह—

यदा प्रबन्धाद् विषयी विषयानुपसेवते ।
तदास्यैतस्त्वभिप्रायः सुतरां सम्प्रवर्तते ।।
अतोऽपि चैनं पुरुषः शमयेद् बडवानलम् ।
नेन्द्रियाण्युपभोगेन विषयेभ्यो निवर्तयेत् ।।
तस्माद् विषयसम्पर्कमसमर्थं निवर्तने ।
इन्द्रियाणां परिज्ञाय निरासङ्गमतिश्चरेत् ।। इति

एतस्माद् दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते । साऽष्टमी तुष्टिः सुमारीचमित्युच्यते ।

कथं सुमारीचमित्युच्यते ? अर्चतेः पूजार्थस्य शोभनमर्चितं विषयसङ्गनिवृत्तस्य योगिनोऽवस्थानं भवति ।

जब तो विषयों में पूर्वोक्त दोषों के रहते हुये उनके प्राप्त हो जाने पर प्रसङ्ग- (आसक्ति) दोष को सामने रखता है। क्योंकि इन्द्रियों के विषयसंयुक्त हो जाने के अनन्तर उनकी अभिलाषा अर्थात् उनके प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। इसलिये विषयों की कामना से जो निवृत्ति; वह सुख है । तथा विषयों को प्राप्त करते रहने की इच्छा से दुःख होता है। क्योंकि विषयों की प्राप्ति भी अनुपशान्ति (अशान्ति) के लिये होती है तथा उनके उपभोग के प्रति कौशल को (निपुणता को) अधिकाधिक बढ़ाने के लिये होती है। चूंकि कहा है—

'यदा प्रबन्धाद् ... ... निरासङ्गमतिश्चरेत् ॥ ऐसा ॥

अर्थात् जब विषयी व्यक्ति प्रबन्ध से अर्थात् आसक्तिपूर्वक लगातार विषयों का सेवन करता है, तब तो इसकी इस ओर कामना और बढ़ती है। इस लिये पुरुष जिसके द्वारा विषयाभिलाषरूपी वडवाग्नि को शान्त करे; वह अनासङ्ग अनासक्ति ही है। क्योंकि उपभोग द्वारा इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त नहीं कर सकेगा। अतः इन्द्रियों का विषय के साथ सम्पर्क विषयों से निवृत्ति में असमर्थ है, इस बात को जानकर पुरुष विषयों के प्रति निरासङ्गबुद्धि होवे। अर्थात् विषयों के प्रति आसक्ति को दोष समझकर उसका परित्याग करे।

इस प्रकार के दर्शन से (दृष्टि से) पुरुष माध्यस्थ्य (तटस्थता) को प्राप्त कर

यदा तु पूर्वदोषेषु (सत्सु) हिंसादोषमुपन्यस्यति । कथम् ? अनुपहत्यान्यभूतानि विषयभोगाऽनुपपत्तेः । उपभोगो हि नाम मनोज्ञाभ्यवहारः, स्त्रीसेवा, हयगजनरादिभिर्यानमित्येवमादि । तत्र मनोज्ञाऽभ्यवहारचिकीर्षुणा तदङ्गानां गोऽजाऽविबलीवर्दस्त्रीपुरुषादीनामवश्यमुपघातः कार्यः । अनुपघाते वा विषयाऽनुपपत्तिप्रसङ्गः ।

स्त्रियमासेवमानेनाऽन्यासां स्त्रीणां मातृपितृभ्रातृप्रभृतीनां च, अन्यथा तदभावो [भावः । एवं] हयादीनाम् । तस्मादुपभोगार्थिनाऽवश्यमन्योपघातः कार्यो निहितदण्डेन वा विषयोपभोगस्त्याज्य इति । आह च—

यथा यथा हि विषयो वृद्धिं गृह्णाति देहिनाम् ।
अपघातस्तदङ्गानां तथैवास्य विवर्धते ॥

लेता है । अर्थात् विषयों के प्रति आसङ्गरहित हो जाता है । यह आठवीं तुष्टि 'सुमारीचम्' शब्द से कही जाती है ।

प्रश्न—इसे 'सुमारीचम्' क्यों कहते हैं ?

उत्तर—पूजार्थक 'अर्च' धातु से 'सुमारोचम्' शब्द व्युत्पन्न है । चूँकि विषयसङ्ग से निवृत्त हुये योगी की यह तुष्टि की अवस्था भलीभाँति पूजनीय होती है, इस लिये यह तुष्टि 'सुमारीचम्' शब्द से कही जाती है ।

जब तो पूर्वोक्त दोषों के अन्तर्गत हिंसादोष को योगी उपस्थापित करता है, क्योंकि अन्य प्राणियों की हिंसा किये विना विषयभोग हो नहीं सकता । कारण, उपभोग कहा जाता है—मनोरम भोजन, स्त्री का सेवन, घोड़ा-हाथी-नर आदि की सवारी इत्यादि । इनमें मनोरम भोजन करने के इच्छुक व्यक्ति द्वारा उसके अङ्गभूत गो-अजा-अवि (भेड़)-बैल-स्त्री-पुरुष आदि का अवश्य ही उपघात (हिंसादि) करना होगा । यदि उपघात नहीं करता है तो विषयभोग ही नहीं हो पायेगा । ऐसे ही भोग के लिये स्त्री का सेवन करने वाले व्यक्ति के द्वारा अन्य स्त्रियों का तथा माता-पिता-भ्राता-प्रभृति का उपघात करना हो होगा । अन्यथा स्त्रीसेवनरूप भोग बन नहीं सकेगा । ऐसे ही सवारी के निमित्त हय आदि (घोड़ा-आदि) का उपघात करना होगा; अन्यथा सवारी का सुखभोग नहीं बन पायेगा । अतः सुखभोग चाहने वाले व्यक्ति को दूसरे का उपघात करना पड़ेगा; अथवा दण्डधारण (संन्यासग्रहण) कर विषय का उपभोग छोड़ना होगा । कहा भी है—

'यथा यथा हि हि विषयो ··· ··· ··· प्रवर्तते ॥ ऐसा ॥

तस्मादनिच्छन्नन्येषां प्राणिनां देहपीडनम् ।
सन्तोषेणैव वर्तेत त्यक्तसर्वपरिच्छदः ॥

सत्यवाचः प्रशान्तस्य सर्वभूतान्यनिच्छतः [निघ्नतः] ।
भावान्धकारान्तज्ञानमचिरेण प्रवर्तते ॥ इति ।

एतस्माद् दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते । सा नवमी तुष्टिरुत्तमाऽभयमित्यपदिश्यते । कथम् ? उत्तमं हि प्राणिनां सर्वेभ्यो भयेभ्यो हिंसाभयमिति तदपगमादुत्तमाऽभयमिति ।

आह—अर्जनरक्षणलक्षणयोरपि तुष्ट्योः परोपघातदोषः, अपदिष्टोऽस्यामपि च । तत्र कथमनयोर्विशेषः प्रतिपत्तव्य इति ?

अर्थात् देहधारी व्यक्तियों का विषयभोग जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके (भोग के) साधनों का उपघात भी बढ़ता ही जाता है। इसलिये अन्य प्राणियों की देहपीड़ा नहीं चाहने वाला व्यक्ति सम्पूर्ण आडम्बर छोड़कर सन्तोष से ही रहे। इस प्रकार सत्यवचन बोलने वाले, प्रशान्त चित्त एवं सभी प्राणियों की हिंसा से रहित व्यक्ति को तत्त्वविषयक अन्धकार (अज्ञान) को नष्ट कर देने वाला विवेकज्ञान अविलम्ब उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार के दर्शन (दृष्टि) से विषयभोग के प्रति माध्यस्थ्य (तटस्थता या विमुखता) को प्राप्त कर लेता है। वह नौवीं तुष्टि है, जो शास्त्र में 'उत्तमाऽभयम्' शब्द से व्यवहृत होती है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—इसलिये कि हिंसा का भय प्राणियों के लिये सभी भयों से बड़ा है। अतः उस भय की निवृति हो जाने से इस नौवीं तुष्टि को 'उत्तमाऽभयम्' शब्द से कहा जाता है।

ऊपर उद्धृत श्लोक में उल्लिखित 'सर्वभूतान्यनिच्छतः' यह पाठ असंगत लगता है। अतः वहाँ 'अनिच्छतः' के स्थान में अनिघ्नतः' ऐसा पाठ होना चाहिये। तभी प्रसङ्गानुसार संगति बन पाती है।

शङ्का—अर्जन और रक्षणरूप तुष्टियों में भी दूसरों की हिंसारूप दोष है; तथा इस नौवीं तुष्टि में भी हिंसादोष बताया गया है। ऐसी स्थिति में इन दोनों हिंसादोषों में अन्तर की प्रतिपत्ति कैसे होगी ?

समाधान—उक्त शङ्का नहीं हो सकती है; क्योंकि दोनों मे विषय का भेद है। उन

उच्यते—न, विषयभेदात् । तत्र येषामर्जनरक्षणे प्रत्याद्रियते विषयी, तदर्थिना प्रत्यनीकानामवश्यमभिघातोऽनुष्ठातव्य इत्यादावुक्तम् । इह तु येषामेवार्जनरक्षणे तदनुपघातेनाशक्यो विषयोपभोग इत्येतद् विवक्षितम् । तस्मादसङ्कीर्णमेतदिति ।

एवमम्भःप्रभृतयो नव विषयेभ्यः सङ्गद्वेषनिवृत्तिहेतवो व्याख्याताः । ते ज्ञानविरहितानां योगिनां तुष्टिशब्दवाच्यतां लभन्ते । ज्ञानिनां तु वैराग्यपर्वसंज्ञिता [:] स्वासु स्वासु तत्त्वभूमिषु सिद्धा एवेति ॥५०॥

आह—प्रागपदिष्टमष्टधा सिद्धिरिति; तदिदानीमभिधीयतामिति । उच्यते—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ,

विषयों में जिनके अर्जन और रक्षण के प्रति विषयी व्यक्ति आदरवान् है, उन विषयों की कामना वाला व्यक्ति उनकी प्राप्ति में बाधकों का अभिघात (हिंसा) अवश्य करेगा, यह बात प्रारम्भ में कही गयी है । यहाँ तो यह विवक्षित है कि जिन्हीं विषयों का अर्जन और रक्षण किया जाता है; उन्हीं की हिंसा किये बिना विषय का उपभोग नहीं किया जा सकता । अर्थात् पूर्व में विषय की प्राप्ति पर रक्षा में जो बाधक हैं, उनकी हिंसा बतायी गयी है, और यहाँ पर भुज्यमान विषय की ही हिंसा विवक्षित है । इस प्रकार दोनों हिंसाओं में विषय का भेद होने से अन्तर स्पष्ट है । इसलिये दोनों हिंसाओं में साङ्कर्य नहीं है ।

इस प्रकार विषयों के प्रति राग और द्वेष की निवृत्ति के हेतु 'अम्भः' प्रभृति नौ तुष्टियों का व्याख्यान पूर्ण हुआ । वे अम्भः प्रभृति ज्ञानरहित योगियों के लिये 'तुष्टि' शब्द के वाच्य होते हैं; तथा ज्ञानियों के लिये वे वैराग्य की कोटि में जानी जाती हुई अपनी-अपनी तत्त्वभूमियों में सिद्धि ही हैं ॥५०॥

पूर्वपक्षी—पूर्व में बताया गया है कि सिद्धि आठ प्रकार की होती है । अतः अब उन सिद्धियों को बतावें ।

सिद्धान्ती—'ऊह· शब्दोऽध्ययनम् ··· ··· इत्यादि ।

अर्थात् ऊह-शब्द-अध्ययन-त्रिविधदुःखविघात-सुहृत्प्राप्ति और दान ये आठ सिद्धियाँ है । उनमें ऊह वह है जब अपने अभिप्रेत विषय को प्रत्यक्ष अनुमान और आगम के अभाव में विचारणा (तर्कना) के बल से ही जान लेता है; वह प्रथम सिद्धि

तत्रोहो नाम यदा प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमव्यतिरेकेणाऽभिप्रेतमर्थं विचारणाबलेनैव प्रतिपद्यते, साऽऽद्या सिद्धिः 'तारक' मित्यपदिश्यते। तारयति संसारार्णवादिति तारकम्।

यदा तु स्वयं प्रतिपत्तौ प्रतिहन्यमानो गुरूपदेशात् प्रतिपद्यते, सा द्वितीया सिद्धिः सुतारमित्यपदिश्यते। कथम्? सुखमनेनाद्यत्वेऽपि भवसङ्कटात् तरन्तीति। यदा त्वन्योपदेशादप्यसमर्थः प्रतिपत्तुमध्ययनेन साधयति, सा तृतीया सिद्धिः, तारयन्तमित्यपदिश्यते। तदेतत् तारणक्रियाया अद्यत्वेऽपि अव्यावृत्तत्वात् महाविषयत्वात् तारयन्तमित्यदिष्टम्। त एते त्रयः साधनोपायैराब्रह्मणः प्राणिनोऽभिप्रेतमर्थं प्राप्नुवन्ति।

आह च—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽपरेभ्योऽसाक्षात्कृत-

है, जो 'तारकम्' शब्द से शास्त्र में व्यवहृत होती है। संसार-सागर से तरण करने के कारण यह तारक है।

जब तो स्वयं जानने में असमर्थ होता हुआ गुरु के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करता है; वह दूसरी सिद्धि 'सुतारम्' शब्द से कही जाती है।

प्रश्न—यह 'सुतारम्' कैसे है?

उत्तर—आज भी सुखपूर्वक संसार-सागर से तर जाते हैं; इसलिये यह 'सुतारम्'।

जब तो दूसरों के उपदेश से भी ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होता है; तब अध्ययन से ज्ञान की सिद्धि कर लेता है; वह तीसरी सिद्धि है, जो 'तारयन्तम्' ऐसा कही जाती है। वह आज भी तारणक्रिया (भवसङ्कट से पार करनारूप क्रिया) से पृथक् नहीं होने से और महाविषयक होने से 'तारयन्तम्' ऐसा कही गयी है। ये तीनों ही ब्रह्मापर्यन्त प्राणी उपर्युक्त साधनोपायों के अनुष्ठान से अभीष्ट अर्थ (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ तीनों सिद्धियों में तारणक्रिया का सम्बन्ध समान होने पर भी अध्ययन का विषय अत्यन्त विस्तृत होने के कारण तीसरी सिद्धि को 'तारयन्तम्' संज्ञा से शास्त्र में व्यवहृत किया गया है। कहा भी गया है—

'साक्षात्कृतधर्माण······——·········· वेदाङ्गानि च' (निरुक्त नै० का०) अर्थात् साक्षात् कर लिया है धर्म को जिन्होंने, वे ऋषि हुए। वे ऋषि औरों को, जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार नहीं किया है, उपदेश द्वारा मन्त्रों को दिया। किन्तु अन्य ऋषि

धर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽपरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि चेति ।' (निरुक्त नै० का०) बिल्मं भासनं सम्यक् प्रतिभासाय विशिष्टः संकेतः उक्तः ।

एषां तु साधनोपायानां प्रत्यनीकप्रतिषेधाय दुःखविघातत्रयम् । दुःखानि त्रीण्याध्यात्मिकादीनि । तत्र चाध्यात्मिकानां वातादीनां सिद्धि-प्रत्यनीकानामायुर्वेदक्रियानुष्ठानेन विघातं कृत्वा पूर्वेषां त्रयाणामन्यत-मेन साधयति । सा चतुर्थी सिद्धिः प्रमोदमित्यभिधीयते । कथम् ? निवृत्त-रोगा हि प्राणिनः प्रमोदन्त इति कृत्वा ।

यदा त्वाधिभौतिकानां मानुषादिनिमित्तानां सिद्धिप्रत्यनीकानां सामादिना यतिधर्मानुगुणेन वोपायेन [विघातं कृत्वा] पूर्वेषां त्रयाणामन्य-मेन साधयति, सा पञ्चमी सिद्धिः प्रमुदितमित्यभिधीयते । कथम् ? अनु-द्विग्नो हि प्रमुदित इति कृत्वा ।

उपदेश-प्रदान में अनुत्सुकता के कारण सम्यक्प्रकार से ज्ञान कराने के लिये वेद और वेदाङ्ग के रूप में इस ग्रन्थ को कहे । यहाँ बिल्म का अर्थ है—भासन । अर्थात् सम्यक् बोध के निमित्त वेद-वेदाङ्ग के रूप में विशिष्ट संकेत किया गया ।

सिद्धि के ऊह-शब्द और अध्ययनरूप इन उपायों में आने वाली बाधाओं के निवारण के लिये त्रिविधदुःखविघात है । दुःख तीन हैं—आध्यात्मिक-आधिभौतिक और आधिदैविक । उनमें आध्यात्मिक वात-पित्त-कफरूप दुःखों का—जो सिद्धि के प्रति-बन्धक हैं, आयुर्वेदशास्त्र में प्रतिपादित क्रियाओं के अनुष्ठान से नाश करके ऊह आदि पूर्वोक्त तीनों में किसी एक उपाय से सिद्धि प्राप्त करता है । वह चतुर्थी सिद्धि 'प्रमोदम्' संज्ञा से कही जाती है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—रोग से निवृत्त प्राणी ही प्रमोद को करता है; इसीलिये इस सिद्धि की संज्ञा 'प्रमोदम्' है ।

जब तो मनुष्यादि के कारण उत्पन्न होने वाले दुःखों का, जो कि सिद्धि के बाधक हैं, नीतिशास्त्रोक्त साम आदि उपाय से अथवा यतिधर्म के अनुकूल उपाय से विघात करके ऊह आदि पूर्वोक्त तीन उपायों में किसी एक से सिद्धि प्राप्त करता है, वह पञ्चमी सिद्धि है, जो शास्त्र में 'प्रमुदितम्' इस संज्ञा से कही जाती है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—इसलिये कि मनुष्यादिकृत उद्वेग से रहित प्राणि ही प्रमुदित होता है ।

यदा तु शीतादीत्याधिदैविकानि द्वन्द्वानि सिद्धिप्रत्यनीकानि स्वधर्मानुरोधेन प्रतिहत्य पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति, सा षष्ठी सिद्धिर्मोदमानमित्यभिधीयते। कथम् ? द्वन्द्वानुपहता हि प्राणिनो मोदन्त इति कृत्वा।

सुहृत्प्राप्तिः—यदा तु कुशलसंस्पृष्टं सन्मित्रमाश्रित्य सन्देहनिवृत्ति लभते, सा रम्यकमिति सप्तमी सिद्धिरपदिश्यते। रम्यो हि लोके सन्मित्रसम्पर्कः। तस्य संज्ञायां रम्यमेव रम्यकम्।

दानम्—यदा तु दौर्भाग्यं दानेनातीत्य पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयति, साऽष्टमी सिद्धिः सदाप्रमुदितमित्यभिधीयते। सुभगो हि सदा प्रमुदितो भवति। तस्माद् दौर्भाग्यनिवृत्तिः सदाप्रमुदितम्।

इत्येवमेताः सिद्धयोऽष्टौ व्याख्याताः। एतासां संश्रयेणाऽभिप्रेतमर्थं यतः संसाधयन्तीत्यतः पूर्वाचार्यागतं मार्गमारुरुक्षुस्तत्प्रवणः स्यादिति।

जब तो शीतोष्णादि आधिदैविक द्वन्द्वों को, जो कि सिद्धि के प्रतिबन्धक हैं, स्वधर्म का अनुगमन करते हुए नष्ट करके पूर्वोक्त ऊहादि तीन उपायों में किसी एक से सिद्धि को प्राप्त करता है, वह छठी सिद्धि मोदमानसंज्ञा से कही जाती है।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—इसलिये कि द्वन्द्वों से अपीडित प्राणी ही मोद (आनन्द) को प्राप्त करते हैं।

अब सुहृत्प्राप्ति बताते हैं—जब तो निपुणता से युक्त सन्मित्र को पाकर उसके द्वारा सन्देहनिवृत्ति को प्राप्त कर लेता है; तब वह 'रम्यक' नाम की सातवीं सिद्धि कही जाती है। क्योंकि अच्छे मित्र का सम्पर्क मनोरम (आनन्द देने वाला) होता है। संज्ञा की विवक्षा में कन् प्रत्यय होकर रम्य ही रम्यक हो जाता है। अर्थात् रम्य होने के कारण उस सिद्धि को 'रम्यकम्' यह संज्ञा हो जाती है।

दाननामक सिद्धि यह है—जब तो दान द्वारा दौर्भाग्य को पारकर ऊह आदि पूर्व के तीन उपायों में किसी एक से सिद्धि को प्राप्त करता है; तब वह आठवीं सिद्धि है, जो 'सदामुदितम्' संज्ञा से कही जाती है। चूंकि जो सौभाग्यशाली होता है; वही सदामुदित होता है। अतः दौर्भाग्य की निवृत्ति ही सदामुदित है।

इस प्रकार इन आठ सिद्धियों का व्याख्यान पूर्ण हुआ। चूंकि इन सिद्धियों के अर्थात् सिद्धि के उपायों के आश्रय से प्राणी अपने अभीष्ट अर्थ को अच्छी तरह सिद्ध

आह—कः पुनरत्र हेतुर्येन पुरुषार्थत्वाऽविशेषे सति गुणानां सर्वसिद्धिनिमित्तत्वमनुभवतीति ?[1]

उच्यते—यस्मात्,

सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१

साध्यप्रतिपत्तिसामर्थ्यसामान्यमङ्गीकृत्याह—सिद्धेरिति । पूर्वो विपर्ययाशक्तितुष्टिलक्षणः अङ्कुश इवाङ्कुशः, निवर्तनसामान्यात् । नित्यप्रवृत्तस्यापि प्रधानात् सिद्धिस्रोतसो विपर्ययाशक्तितुष्टिप्रतिबन्धात् सर्वप्राणिष्वप्रवृत्तिर्भवति । विपर्ययात्तावत् स्थावरेषु । ते हि मुख्याः(ख्य)स्रोतसो विपर्ययात्मानः। अशक्तेस्तिर्यक्षु । ते हि तिर्यक्स्रोतसोऽशक्त्यात्मानः । तुष्टिर्देवेषु । ते ह्यूर्ध्वस्रोतसस्तुष्ट्यात्मानः । मानुषास्त्वर्वाक्स्रोतसः संसि-

कर लेते हैं; इसलिये पूर्वाचार्यों से प्राप्त मार्ग (मोक्ष मार्ग) पर आरोहण की कामना वाला व्यक्ति इन साधनों की ओर उन्मुख होवे ।

शङ्का—इसमें क्या हेतु है कि गुणों में सामान्य रूप से पुरुषार्थत्व होने पर भी, अर्थात् गुणों के पुरुष मात्र के लिये होने पर भी, वे सबकी सिद्धि के निमित्त नहीं होते हैं ?

समाधान—'सिद्धेः पूर्वोङ्कुशस्त्रिविधः' चूंकि पूर्व तीनों सिद्धि के अंकुशरूप हैं, इसलिये सब को सदा सिद्धि नहीं होती है। साध्य की प्राप्ति के प्रति सामान्य सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए आचार्य ने 'सिद्धेः' यह कहा; अर्थात् सिद्धि के प्रति विपर्यय-अशक्ति और तुष्टि तीनों समानरूप से प्रतिबन्धक हैं; इसलिये सिद्धिप्राप्ति के लिये इन तीनों का अभाव भी समानरूप से ही कारण होता है। इसलिये आचार्य ने 'सिद्धेः' शब्द द्वारा सूचित किया कि पूर्व तीनों द्वारा सिद्धि समान रूप से बाधित होती है। कारिका में 'पूर्वः' का अर्थ है—विपर्ययम-शक्ति और तुष्टि। 'अङ्कुश' पद से 'अङ्कुश के समान' ऐसा अर्थ विवक्षित है। क्योंकि जैसे अङ्कुश में निवर्तन करा देने का गुण है; वैसे विपर्ययादि में भी सिद्धि का निवर्तन करा देने का गुण है। इसलिये विपर्यय आदि तीन को सिद्धि का अङ्कुश कहा। [मूल में 'साध्याप्रतिपत्ति' यह पाठ होना अधिक उपयुक्त है। इसके अनुसार विपर्यय आदि में सीधे साध्यप्रतिपत्ति का हेतुत्व प्रतिपादित हो जाता है।] प्रधान के कारण नित्य प्रवृत्तिशील प्राणी की भी सिद्धि का स्रोत विपर्यय—अशक्ति और तुष्टि द्वारा बाधित

१. 'सर्वसिद्धिनिमित्तत्वं न भवतीति' पाठः सङ्गतो भाति ।

दृष्ट्यात्मानः। तस्मात्त एव तारकादिषु प्रवर्तन्ते। सत्त्वरजस्तमसां चाङ्गाङ्गिभावनियमाद् विपर्ययाशक्तितुष्टिभिः प्रतिहन्यन्त इति न सर्वेषां सर्वदा सिद्धिर्भवति। अत एतदुक्तम्—'सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविध इति।

यथा च सिद्धेः विपर्ययाशक्तितुष्टयः प्रतिपक्षाः, एवं सिद्धिरपि विपर्ययादीनाम्। सा ह्युत्पन्ना सर्वानेतान्निवर्तयति। कथम्? अविपरीतज्ञानं विपर्ययमतीतानागतवर्तमानेषु विप्रकृष्टेषु इन्द्रियग्राह्येष्वतीन्द्रियेषु चाप्रतिघातादशक्तिम्, पुरुषस्य प्रकृतिविकारव्यतिरिक्तस्य दर्शनात् सर्वासु भूमिषु तुष्टिम्। एवमेतानि स्रोतांसि प्रा[प्रमा]णादयः कर्मयोनयश्च

हो जाता है। इस हेतु सब प्राणी को सिद्धि के लिये प्रवृत्ति नहीं हो पाती है। अर्थात् कोई-कोई ही सिद्धिहेतु प्रवृत्त होता है, सभी नहीं।

जैसे, विपर्यय के कारण स्थावरों में प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है—वे मुख्य स्रोतवाले हैं और विपर्ययात्मक हैं। अशक्ति के कारण तिर्यग्योनि वालों में प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। वे तिर्यक् (तिरछो) स्रोतवाले हैं और अशक्त्यात्मक हैं। तुष्टि देवों में प्रवृत्ति के प्रति बाधक होती है। वे देव ऊर्ध्वस्रोत वाले होते हैं और तुष्ट्यात्मक हैं। मनुष्य तो अर्वाक् (अधः) स्रोत वाले होते हैं और संसिद्ध्यात्मक हैं। इसलिये मनुष्य ही तारक आदि सिद्धियों में प्रवृत्त होते हैं। चूंकि सत्त्व रज और तम में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव का नियम होने से विपर्यय-अशक्ति और तुष्टि द्वारा प्रतिबन्धित हो जाने के कारण सबको सर्वदा सिद्धि नहीं प्राप्त होती हैं; इसीलिये 'सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः' ऐसा कहा।

पूर्वोक्तानुसार जैसे सिद्धि के प्रति विपर्यय अशक्ति और तुष्टि विरोधी (प्रतिबन्धक) है; वैसे ही सिद्धि भी विपर्यय आदि की प्रतिबन्धिका है। क्योंकि उत्पन्न हुई सिद्धि इन सभी को (विपर्यय आदि तीनों को) निवृत्त कर देती है। अर्थात् इन्हें नष्ट कर देती है।

प्रश्न—कैसे?

उत्तर—अविपरीत ज्ञान विपर्यय को निवृत्त कर देता है। एवं यह सिध्यात्मक ज्ञान अतीत-अनागत-वर्तमान-सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट (दूरवर्ती), इन्द्रियग्राह्य और अतीन्द्रिय विषयों में सर्वत्र अप्रतिहत होने से अशक्ति को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार प्रकृति-विकार से व्यतिरिक्त (विविक्त) पुरुष का साक्षात्काररूप ज्ञान से पूर्ववर्णित प्रकृति-उपादान-काल-भाग्य प्रभृति सभी भूमियों में तुष्टि को निवृत्त कर देती है।

व्याख्याताः। एतेषां मार्गेऽवस्थापनात् परां सिद्धिं कैवल्यलक्षणामचिरेण प्राप्नोति।

आह च—

योनीनां सप्रमाणानां सम्यङ्मार्गे नियोजनात्।
स्रोतसां च विशुद्धत्वान्निरासङ्गमतिश्चरेत्॥ इति॥ ५१॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे नवममाह्निकं तृतीयं च प्रकरणम्॥

इस प्रकार इन स्रोतों का, प्राणादि का या प्रमाणादिका, एवं कर्मयोनियों का व्याख्यान पूर्ण हुआ। इन्हें मार्ग में लगाने से योगीजन मोक्षरूप पर सिद्धि को अविलम्ब प्राप्त कर लेता है। कहा गया है—

योनीनां··· ··· ···चरेत्॥

अर्थात् प्रमाणसहित कर्मयोनियों के समीचीन मार्ग में लगाने से तथा सिद्धि के स्रोतों के विशुद्ध हो जाने से आसङ्गदोष से रहित बुद्धि वाला होकर व्यवहार करे॥ ५१॥

॥ इति श्रीमदाचार्यकेदारनाथत्रिपाठिकृतायां सांख्यसप्ततियुक्तिदीपिकाया हिन्दीकलाव्याख्यायां नवममाह्निकं तृतीयं च प्रकरणम्॥

अथ दशममाह्निकम्

एवं यत्पूर्वमपदिष्टम् 'संयोगकृतः सर्गः' इति (का०२१) तद्व्याख्यातम्। अत्रेदानीमाचार्याणां विप्रतिपत्तिः—धर्मादीनां शरीरमन्तरेणानुत्पत्तेः शरीरस्य च धर्माद्यभावे निमित्तान्तरासंभवादुभयमिदमनादि। तस्मादेकरूप एवायं यथैवाद्यत्वे तथैवातिक्रान्तास्वनागतासु कालकोटिषु सर्ग इति।

आचार्य आह—नैतदेवम्, किन्तर्हि ? प्राक् प्रधानप्रवृत्तेर्धर्माधर्मयोरसंभवः, बुद्धिधर्मत्वात् तस्याश्च प्रधानविकारत्वात्। ततस्तद्व्यतिरिक्तं शब्दाद्युपलब्धि[गुण ?]लक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं चार्थमुद्दिश्य सत्त्वादयो महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतत्वेनावस्थाय परमर्षिहिरण्यगर्भा-

---

इस प्रकार, पूर्व में आचार्य ने जो कहा था कि प्रधान-पुरुष के संयोग से महदादि की उत्पत्ति होती है; उसका व्याख्यान हो चुका। इस विषय में आचार्यों की विप्रतिपत्ति है—जैसे शरीर के बिना धर्मादि की उत्पत्ति नहीं हो सकने से, तथा धर्मादि के अभाव में शरीर की उत्पत्ति का कोई अन्य निमित्त नहीं हो सकने से धर्मादिभाव और शरीर यह दोनों ही अनादि हैं। इसलिये एकरूप ही यह सृष्टि है। अर्थात् जैसे आज दीख पड़ती है, वैसे ही बीते हुए और आने वाले क्षणों में भी सदैव यह सृष्टि एक सा रहती है।

यहाँ सांख्याचार्य का कहना है—उक्त मत ठीक नहीं है। क्योंकि प्रधान की प्रवृत्ति के पहले धर्म-अधर्म असम्भव हैं। कारण, धर्म-अधर्म दोनों ही बुद्धि के धर्म हैं और बुद्धि प्रधान का विकार है। अर्थात् धर्म-अधर्म की उत्पत्ति के लिये बुद्धि का उत्पन्न होना आवश्यक है और बुद्धि की उत्पत्ति के लिये प्रधान में विकार-विकृति-या परिणाम होना आवश्यक है। इसलिये धर्माधर्मादि भावों से व्यतिरिक्त शब्दादि विषयों की उपलब्धि (भोग) रूप प्रयोजन तथा गुण और पुरुष के अन्यत्व (भेद) की उपलब्धि (मोक्ष) रूप प्रयोजन के उद्देश्य से सत्त्वादि तीनों गुण-महत् (बुद्धि) अहङ्कार-तन्मात्र-

दीनां शरीरमुत्पादयन्ति। षट्सिद्धिक्षय(क्षण)कालोत्तरं तु गुणविमर्दवै-चित्र्याद् रजस्तमोवृत्त्यनुपाति संसारचक्रं प्रवृत्तम्।

न विना भावैर्लिङ्गम्,

देवमनुष्यतिर्यग्भावेन व्यवतिष्ठत इति वाक्यशेषः।

न विना लिङ्गेन भावसंसिद्धिः[निर्वृत्तिः]।

संसिद्धिरत्र निष्पत्तिरभिप्रेता।

लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

सोऽयं लिङ्गाख्यो भावाख्यश्च षट्सिद्धिक्षय(ण)कालादूर्ध्वं भवति। गुणसमनन्तरं तु अधिकारलक्षणः। तस्माद् द्विधा सर्गः अधिकारलक्षणो

इन्द्रियां और पञ्चभूत के रूप में आविर्भूत होकर परमर्षि कपिल और हिरण्यगर्भादि के शरीर को उत्पन्न करते हैं। महत् से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त छवों की सिद्धि का क्षणरूप जो काल उसके अनन्तर गुणों के विमर्द (गुणप्रधानभाव) की विचित्रता के कारण रजोवृत्ति और तमोवृत्ति का अनुगमन करने वाला यह संसारचक्र प्रवृत्त होता है। अर्थात् संसारचक्र की दशा में सत्त्ववृत्ति को अप्रधानता रहती है और रजोवृत्ति और तमोवृत्ति की प्रधानता रहती है।

इसी बात को आचार्य कहते हैं—'न विना भावैर्लिङ्गम्' अर्थात् धर्माधर्मादि-भावों के विना लिङ्गशरीर देव मनुष्य और तिर्यक् के रूप में व्यवस्थित नहीं होता है। तथा—'न विना लिङ्गेन भावसंसिद्धिः। अर्थात् लिङ्गशरीर के बिना धर्मादि भावों की निष्पत्ति नहीं होती है। कारिका में संसिद्धि से निष्पत्ति अर्थ अभिप्रेत है।

चूंकि भावों के विना लिङ्ग की स्थिति नहीं है और लिङ्ग के बिना भावों की उत्पत्ति नहीं हो सकती; इसलिये लिङ्गनामक और भावनामक दोनों ही प्रकार की सृष्टि होती है। यह लिङ्गनामक और भावनामक द्विविध सर्ग महदहङ्कार-तन्मात्र इन्द्रिय-पञ्चभूत एवं हिरण्यगर्भादि रूप छे की सिद्धि (उत्पत्ति) का जो क्षण, इस क्षणात्मक काल के बाद होता है। किन्तु उक्त षट्सिद्धिरूप अधिकारलक्षण सर्ग तो सत्त्वादिगुणात्मक प्रधानप्रवृत्ति के बाद ही होता है। अतः प्रधान से दो प्रकार का सर्ग हुआ-अधिकारलक्षण और भावनामक। यहाँ अधिकारलक्षण सर्ग के अन्तर्गत लिङ्गशरीर आता है। इसी अभिप्राय से कारिका में कहा गया है—लिङ्गाख्यो भावाख्यो इत्यादि।

भावाख्यश्च । येषां तु धर्माधर्मशरीरयोः पर्यायेण हेतुहेतुमद्भावस्तेषां 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' इत्यत्र (का० १६) प्रतिविहितम् ।

येऽपि च सांख्या एवमाहुः—'धर्माधर्माधिकारवशात् प्रधानस्य प्रवृत्तिरिति' तेषामन्यतरपरिकल्पनानर्थक्यमिति । कथम् ? यदि तावदधिकार एवायं प्रधानप्रवृत्तयेऽलम्, किं धर्माधर्माभ्याम् ? अथ तावन्तरेणाधिकारस्य प्रधानप्रवृत्तावसामर्थ्यम्, एवमपि किमधिकारेण ? तयोरेव प्रवृत्तिसामर्थ्यात् । तस्मादधिकारभावनिमित्तो द्विधा सर्गः ।

तत्र यथेदं शरीरमविभक्तं धर्मार्थकाममोक्षलक्षणासु क्रियासु विभक्तं भवेदित्यतः पाण्यादिविकल्पोऽस्य भवति । एवं सत्त्वसर्गोऽप्यविभक्तो धर्मार्थकाममोक्षलक्षणासु क्रियासु [अ] समर्थो भवेदिति ॥ ५२ ॥

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।

जिनके मत में तो धर्माधर्म और शरीर में पर्याय से (बारी बारी से) कार्यकारणभाव होता है। अर्थात् कभी धर्माधर्म से शरीर और कभी शरीर से धर्माधर्म होता है। उनका निराकरण 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' (का० १६) इस कारिका के व्याख्यान में कर दिया गया है।

जो तो सांख्याचार्य ऐसा कहते हैं कि धर्माधर्माधिकार के अधीन प्रधान की प्रवृत्ति होती है; उनके कथनानुसार धर्माधर्म और अधिकार इन दोनों में किसी एक की कल्पना निरर्थक हो जायेगी। क्योंकि यदि अधिकार ही प्रधान की प्रवृत्ति के लिये समर्थ है तो धर्माधर्म की क्या आवश्यकता ? यदि धर्माधर्म के बिना अधिकार प्रधान की प्रवृत्ति में असमर्थ है; तो फिर अधिकार की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि धर्म और अधर्म में ही प्रधान की प्रवृत्ति के लिये सामर्थ्य है। अतः महदादि अधिकारनिमित्तक और धर्माधर्मरूप भावनिमित्तक दो प्रकार का सर्ग है।

उसके साथ-साथ जैसे यह शरीर अविभक्त होता हुआ भी धर्म-अर्थ-काम-और मोक्षरूप क्रियाओं के लिये विभक्त हो जाता है, इसीलिये इस शरीर में हस्त-पादादि भेद होता है, वैसे ही महदादिरूप सत्त्वसर्ग भी अविभक्तावस्था में धर्म-अर्थ-काम और मोक्षरूप क्रियाओं के प्रति असमर्थ होगा। अतः देव मनुष्य तिर्यक्रूप में या देवदत्तादिरूप में पृथक्-पृथक् बुद्धि अहङ्कार आदि के रूप में विभक्त होता है। तात्पर्य यह है कि धमार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धिहेतु पृथक्-पृथक् लिङ्गशरीर की सृष्टि आवश्यक है ॥ ५२ ॥

मानुष्यश्चैकविधः,

अष्टौ विकल्पा अस्य सोऽयमष्टविकल्पः, अष्टप्रकारोऽष्टभेद इत्यर्थः। तद् यथा ब्रह्मप्रजापतीन्द्रपितृगन्धर्वनागरक्षःपिशाचाः। तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति—पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराः। मानुष्यश्चैकविधः, जात्यन्तरानुपपत्तेः।

आह—किमेतावानेव भूतसर्गविकल्पः? आहोस्विदन्योऽप्यस्तीति?

उच्यते—विकल्पान्तरमस्त्येतेषामेव स्थानानामन्तर्गणभेदात्। अयन्तु—

समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥

किम्? उपदिष्ट इति वाक्यशेषः। तत्र देवानां साध्यमरुद्रुद्रादिभेदात्। तिरश्चां ग्राम्यारण्यादिभेदात्। मानुषाणां च ब्राह्मणक्षत्रियविट्-

---

आठ प्रकार का देव सर्ग होता है, पाँच प्रकार का तिर्यग्योनिसम्बन्धी सर्ग होता है और मानुषसर्ग एक ही प्रकार का होता है। कारिका में आया 'अष्टविकल्प' पद समस्तपद है और यहाँ बहुव्रीहि समास है। अर्थात् इस देवसर्ग के आठ विकल्प हैं; इसलिये इसे अष्टविकल्प कहा जाता है। विकल्पशब्द का प्रकार या भेद अर्थ होने से आठ प्रकार का या आठ भेद वाला देवसर्ग है, यह तात्पर्य है। जैसे ब्रह्मा प्रजापति-इन्द्र-पितृ-गन्धर्व-नाग-राक्षस एवं पिशाच ये आठ देव सर्ग हैं। तिर्यग्योनि सम्बन्धी सर्ग पाँच प्रकार का होता है। जैसे—पशु-मृग-पक्षी-सरीसृप (सरकने वाले सर्प आदि) और स्थावर वृक्ष आदि। मानुष सर्ग एक ही प्रकार का होता है, क्योंकि मनुष्य में जातिभेद नहीं युक्त है।

प्रश्न—क्या भौतिक सर्ग का इतना ही भेद है? अथवा और भी है?

उत्तर—देवादि के उक्त स्थानों के ही अवान्तर भेद होने के कारण और भी भेद है, किन्तु यह तो संक्षेप से भौतिक सर्ग का भेद बताया गया है। यहाँ 'समासतो भौतिकः सर्गः' इस वाक्य में कोई क्रियापद नहीं कहा गया है, इसलिये जिज्ञासा-शान्ति के लिये 'उपदिष्ट' ऐसा वाक्य का शेषभाग स्वयं समझना चाहिये। अर्थात् आचार्य द्वारा यह संक्षेप से भौतिक सर्ग का उपदेश किया गया है। क्योंकि देवताओं के साध्य-मरुत्-रुद्र आदि भी भेद हैं। तिर्यक् प्राणियों के ग्राम्य और आरण्यक (जङ्गली) आदि भी भेद हैं। मानुषों के भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र भेद हैं।

शूद्रभेदात् । उद्भिद्भेदश्च विस्तरेणापदिश्यमान आनन्त्यमापादयेत् । तस्मात् समासतो भूतसर्गोऽपदिश्यते ।

आह—विकल्पान्तरवचनम्, स्रोतोभेदात् । दैवमानुषतैर्यग्योना इति त्रिविधो भूतानां विकल्प उपदिश्यते । स्रोतांसि तु चत्वार्युक्तानि । तस्माद् विकल्पान्तरं वक्तव्यमिति ।

उच्यते—न गुणधर्मसंग्रहसामर्थ्यात् । सत्त्वबहुला ऊर्ध्वस्रोतसः, रजोबहुला अर्वाक्स्रोतसः, तमोबहुलास्तिर्यक्स्रोतसो मुख्यस्रोतसश्च । तस्मादनयोरभेदेनोपदेशः ।

आह—असुराद्युपसंख्यानं कर्तव्यम्, इतरेष्वनन्तर्भावात् । अभेदेन वोपदेशः कार्यो न तु दैवमानुषतिरश्च इति ।

उच्यते—न, उक्तेष्वेव तत्संग्रहात् । असुराणां तावदैन्द्र एव स्थानेऽन्तर्भावः, पूर्वदेवत्वात् । पूर्वदेवा ह्यसुराः । किं च, पर्यायेणेन्द्रत्वात् । धन्वि-

---

उद्भिदों का भेद यदि विस्तार से कहा जाय तो अनन्त भेद होने लगेंगे । इसलिये आचार्य के द्वारा यहाँ संक्षेप से ही भौतिक सर्ग का उपदेश किया जा रहा है ।

आशङ्का—सर्ग का और भी भेद कहना चाहिये; क्योंकि स्रोतों का भेद है । अर्थात् देव-मानुष और तैर्यग्योन ये तीन भेद भूतों के आचार्य ने कहे हैं; किन्तु स्रोत चार बताये गये हैं । इसलिये स्रोत के भेद से भूतसर्ग का और भी भेद कहना चाहिये ।

समाधान—उक्त आशङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि गुण और धर्म के संग्रह (वर्गीकरण) की दृष्टि से तीन विकल्प कहे गये । जैसे, ऊर्ध्व स्रोतवाले देवादि सत्त्व-गुणप्रधान होते हैं । अधःस्रोतवाले मनुष्य रजोगुणप्रधान होते हैं । तिर्यक्स्रोत वाले पशु पक्षी आदि तथा मुख्यस्रोत वाले स्थावर ये दोनों ही तमोगुणप्रधान होते हैं । इसलिये इन दोनों का उपदेश आचार्य ने अभिन्न रूप में किया । अत एव देव-मानुष और तैर्यग्योन ये तीन ही भेद भूतों के किये गये ।

आशङ्का—भूतसर्ग में असुर आदि की भी पृथक् गणना करनी चाहिये; क्योंकि असुर आदि का अन्यों में समावेश नहीं है । अथवा सबका अभेद से उपदेश करना चाहिये; न कि देव-मानुष और तिर्यक् ऐसा तीन भेद करना चाहिये ।

समाधान—असुर आदि का देव आदि पूर्वोक्त में अन्तर्भाव होने से आचार्य ने,

प्रभृतीनां पर्यायेणेन्द्रत्वं श्रूयते । तथा यक्षाणां रक्षस्स्वेकरूपत्वात् । किन्नर-विद्याधराणां गन्धर्वेषु समानशीलत्वात् । प्रेतानां पितृष्वधिपतिसामान्यात् । तस्मात् त्रिविकल्प एव भूतसर्गः ॥ ५३ ॥

स चायम्—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः,

ऊर्ध्वमित्यनेनाष्टौ देवस्थानान्याह । तत्रायं सर्गः सत्त्वविशालः-पिशाचेभ्यो रक्षसाम्, रक्षोभ्यो नागानाम्, नागेभ्यो गन्धर्वाणाम्, गन्धर्वेभ्यः पितृणाम्, पितृभ्यस्त्रिदशानाम्, तेभ्यः प्रजापतीनाम्, तेभ्योऽपि ब्रह्मणः । एवं विशालग्रहणं समर्थितं भवति ।

तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः ।

मूलतस्तु सर्गस्तमोविशालः । पशुभ्यो हि मृगाणां प्रकृष्टतरं तमः, मृगेभ्यः पक्षिणाम्, पक्षिभ्यः सरीसृपाणाम्, सरीसृपेभ्यः स्थावराणाम् ।

उसकी पृथक् गणना नहीं की। पूर्व का देव होने से असुरों का तो ऐन्द्रपद (इन्द्रलोक) में ही अन्तर्भाव है; कारण वे भी पूर्व के देव ही हैं। एवं बारी-बारी से वे भी इन्द्र हैं। क्योंकि धन्वी आदि कभी इन्द्र थे, ऐसा सुना जाता है। एवं समानरूप होने से यक्षों का राक्षसों में अन्तर्भाव है। किन्नर एवं विद्याधरों का गन्धर्वों में अन्तर्भाव है; क्योंकि वे गन्धर्वों के ही समान स्वभाव वाले हैं। एवं प्रेतों का पितरों में अन्तर्भाव है; क्योंकि दोनों के समान अधिपति हैं यमराज। इसलिये भूतसर्ग के तीन ही भेद हैं॥ ५३ ॥

वह यह ऊर्ध्व में स्थित भूतसर्ग सत्त्वप्रधान होता है। यहाँ ऊर्ध्वशब्द से आचार्य ने आठ देवस्थानों को प्रतिपादित किया है। उनमें यह सर्ग पिशाचों की की अपेक्षा राक्षसों का सर्ग अधिक सत्त्ववाला है, राक्षसों की अपेक्षा नागों का सर्ग सत्त्वविशाल है, नागों की अपेक्षा गन्धर्वों का, गन्धर्वों की अपेक्षा पितरों का, पितरों की अपेक्षा देवों का, उनकी अपेक्षा प्रजापतियों का तथा प्रजापतियों की भी अपेक्षा ब्रह्मा का सर्ग सत्त्वविशाल (सत्त्वबहुल) है। इस प्रकार कारिका में विशालशब्द का उल्लेख सार्थक होता है।

मूलतः सर्ग अर्थात् पशु आदि का सर्ग तमोविशाल (तमोबहुल) होता है। उनमें भी पशु की अपेक्षा मृगों का सर्ग अधिक तम वाला है। मृगों की अपेक्षा पक्षियों का, पक्षियों की अपेक्षा सरीसृपों का तथा सरीसृपों की अपेक्षा स्थावरों का सर्ग प्रकृष्टतर तम वाला होता है।

मध्ये रजोविशालः,

देवेभ्यस्तिर्यग्भ्यश्चावकृष्टासु भूमिषु यथा यथा सत्त्वतमसोर्निर्ह्रासः तथा तथा रजसो वृद्धिः । मनुष्यास्तूभयोर्मध्यमिति तत्र परमः प्रकर्षो रजसः । अर्वाक्स्रोतसः सिद्धिरूपत्वादत्यन्तं क्रियाप्रवृत्तत्वात् । यथा च मानुषेषु रजःप्रकर्ष एवं ब्रह्मणः स्थाने सत्त्वस्य, स्थावरेषु तमसः । स खल्वयम्—

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

चतुर्दशभेदस्त्रिविकल्पः सत्त्वाद्यतिशयनिर्ह्रासविषयभावेन यः सर्गो व्याख्यातः ॥ ५४ ॥

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।

जराकृतं मरणकृतं जरामरणकृतम् । तत्र जराकृतं तावद्,यथा-बली-तरङ्गितगात्रत्वम्, दण्डमन्तरेण चङ्क्रमणादिष्वप्रवृत्तिः, सर्वेन्द्रियाणां

मध्य में रजोबहुल सर्ग होता है। यह रजोबहुल सर्ग मनुष्यों का होता है। देवताओं से और तिर्यग्योनि वालों से निकृष्ट भूमियों में जैसे-जैसे क्रमशः सत्त्व का और तमका ह्रास होता है, वैसे-वैसे उनमें रजोगुण की वृद्धि होती है। मनुष्य तो देव और तिर्यक् दोनों की मध्यभूमि हैं; इसलिये उनमें रजोगुण की अधिक बहुलता है। अर्थात् मनुष्यों का सर्ग ऐसा है, जिनमें न तो देवताओं के समान सत्त्व का बाहुल्य है और न तो तिर्यग्योनियों के समान तमोगुण का बाहुल्य है। ऐसी स्थिति में मानुष-सृष्टि सुतरां रजोबहुल सिद्ध होती है। क्योंकि अर्वाक्स्रोत वाले मनुष्य ऊह आदि पूर्वोक्त सिद्धिस्वरूप होने से क्रिया में अत्यन्त संलग्न होते हैं। इस प्रकार जैसे मनुष्यों में सर्वापेक्षया रजोगुण की अधिकता होती है; वैसे ब्रह्मलोक में सर्वापेक्षया सत्त्वगुण की तथा स्थावरों में सर्वापेक्षया तमोगुण की बहुलता होती है।

पूर्वोक्त वह ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (स्थावर) पर्यन्त चौदह भेद वाला (आठ दैव + पाँच तैर्यग्योन + एक मानुष=चौदह) तथा तीन विकल्प वाला (दैव-तैर्यक् और मानुष) तथा सत्त्वादि गुणों का अतिशय एवं ह्रास का विषयभूत जो भौतिक सर्ग है, उसका व्याख्यान पूर्ण हुआ ॥ ५८ ॥

इस भौतिक सर्ग में जरामरण से होने वाले दुःख को पुरुष भोगता है। दुःख यद्यपि बुद्धिगत धर्म है, तथापि उसका भोग अविवेक के कारण पुरुष को होता है। कर्तृत्व आश्रयत्व बुद्धि में है और भोक्तृत्व पुरुष में है, यह सांख्यमत है। जराकृत और

विषयोपभोगेष्वसामर्थ्यम्, प्रबलकासश्वासता, सास्राविलेक्षणता, दशनानामस्थिरत्वम्, वर्णविकृतिः, शैथिल्यमभिव्याहारसंगो, मन्दा स्मृतिरित्येवमादि।

मरणकृतमपि पृथिव्यादीनां शरीराविभावेनावस्थितौ सहभावप्रतिपक्षता, स्वभावभेदवृत्तिसंग्रहपन्थि[क्ति]व्यूहावकाशदानादेरुपकारस्य प्रच्युतिः। इन्द्रियाधिष्ठानविकाराच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सतामग्रहणमसतां च ग्रहणमभूताकारं सम्भवविपरीतं वा सर्वार्थानां ग्रहणम्।

तद्यथा—पौर्णमास्यां दक्षिणतः खण्डस्येन्दुमण्डलस्य पिशाचादीनां पाण्डरस्य च नभस इत्यादि। तथा वातादिवैषम्यात् समुपजनितानेकप्रकारव्याधिः प्रभ्रश्यमानसकलेन्द्रियवृत्तिः स्रस्ताङ्गः ताम्रपोतास्राविलेक्षणो

मरणकृत दुःख जरामरणकृत दुःख है, ऐसा अर्थ है। इससे विदित होता है कि जराकृत दुःख भिन्न है और मरणकृत दुःख भिन्न है।

उनमें जरा (वार्धक्य) कृत दुःख निम्नलिखित हैं—जैसे गात्र का वलीतरङ्गित होना, अर्थात् शरीर के ऊपर तरङ्गों की तरह वलियों की झुरियो का पड़जाना, दण्ड (लाठी) को सहायता के बिना चलने फिरने में प्रवृत्ति का न होना, समस्त इन्द्रियों का विषयोपभोग के प्रति असमर्थ हो जाना, खांसी और श्वास का प्राबल्य, कीचड़ से आखों का गिली हो जाना, दांतों का हिल जाना, शरीर के रंग में विकृति आ जाना देह का ढीला हो जाना, अधिक बोलने की प्रवृत्ति, स्मृतिशक्ति का मन्द पड़ जाना इत्यादि।

मरणकृत दुःख निम्नलिखित है—जैसे, पृथिवी आदि के हो शरीररूप में अवस्थित होने के कारण मरने पर शरीर का साथ छूट जाना अर्थात् शरीर का पृथिवी आदि तत्त्वों में मिल जाना, स्वभाव में भिन्नता आ जाने के कारण अपनी वृत्ति (जोविका) के संग्रह (सञ्चय) का विरोधी जो अपने देहेन्द्रियसमूह का दूसरों के लिये उपयोग करनारूप उपकारभाव उसका समाप्त हो जाना, इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न अधिष्ठानों में विकृति आ जाने के कारण वर्तमान भी शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध का ग्रहण (अनुभव) न होना तथा शब्दादि के अभाव में भी उनका ग्रहण (प्रतीत) होना। सभी वस्तुओं का उस रूप में ग्रहण होना जो उनका आकार न कभी हुआ हो और न सम्भव हो। जैसे—पूर्णिमा की रात में दक्षिण दिशा की तरफ खण्डित चन्द्रमण्डल की प्रतीति, पिशाच आदि की प्रतीति या श्वेताकार आकाश का दिखाई पड़ना आदि।

भ्रमदाहश्वासादिपरिगमा(ता)न्तर्मर्मसन्धिर्जलार्थं दिशोऽवलोकयन् स ब्रह्मलोकेष्वपि लोकेषु त्रातारमविन्दन् रागाद्य(द)नेककालात् पक्वेनात्म(त्माऽ)ग्रहेणात्मकार्यकरणोपह्रियमाणबुद्धिर्मन्दमन्देष्वपि स्मृतिप्रलम्भेषु दयितजनस्यात्मनश्चानुस्मरन् दशविधात् कुटुम्बाद् यः प्रभ्रश्यते, सोऽयमवश्यंभावो सर्वसत्त्वानां प्रकृष्टोद्वेगकारी चाव्युत्पन्नश्चापरिहार्यश्चानियतकालश्च महात्मभिः परमर्ष्यादिभिरन्धतामिस्रशब्देनापदिष्टो मरणकृतं दुःखम् ।

तच्चेदं दुःखं प्रधानमहदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतविशेषलक्षणस्य तत्त्वपर्वणश्चैतन्यासम्भवात् पुरुष एव चैतन्यशक्तियोगादुपलभ्यते । तदपि समीक्ष्योक्तमाचार्येण 'अत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः' इति ।

आह—जन्मकृतस्योपसंख्यानम् । यथैव हि जरामरणं चात्मनः

एवं वात आदि त्रिदोषों के वैषम्य से अनेक प्रकार की व्याधि जिसे उत्पन्न हो गयी है, जिसकी समस्त इन्द्रियों की वृत्ति क्षीण हो गयी है, जिसके अङ्ग शिथिल हो गये हैं, लाल पीले कीचड़ से जिसकी आँखें गिली हो गयी हैं, जिसके भीतरी मर्म की सन्धियाँ भ्रम-दाह-श्वास आदि से व्याप्त हो गयी हैं, ऐसा वह व्यक्ति जल के लिये दिशाओं की ओर देखता हुआ, ब्रह्मलोकसहित सभी लोकों में अपने रक्षक को नहीं पाता हुआ, रागवशात् अनेक काल से रूढ हुए आत्मविषयक अविवेक से अपने देहेन्द्रिय में ही जिसकी बुद्धि आकृष्ट हो रही है, स्मृतिशक्ति के अत्यन्त मन्द हो जाने पर भी अपने प्रियजन एवं अपने को याद करता हुआ जो अपने कुटुम्ब (बन्धुओं) से बिछुड़ जाता है; ऐसी वह मृत्यु सभी प्राणियों के लिये अवश्यम्भावी है, अत्यन्त उद्विग्नता को पैदा करने वाली है, अव्युत्पन्न है अर्थात् अज्ञात है, उसका परिहार अशक्य है, उसके आने का समय नियत नहीं है, और परमर्षि (कपिल) आदि महात्माओं के द्वारा वह अन्धतामिस्रशब्द से व्यवहृत है, ऐसी मृत्यु है । यही मरणकृत दुःख है ।

वह यह दुःख चैतन्यशक्ति से युक्त होने के कारण पुरुष में ही उपलब्ध होता है; क्योंकि प्रधान-महान्-अहङ्कार-तन्मात्र-इन्द्रियाँ और पञ्चभूतरूप तत्त्वपर्वों में चैतन्य असम्भव है । इस वस्तुस्थिति का भी विचार कर आचार्य ने 'अत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः' ऐसा कहा ।

आशङ्का—जन्म से होने वाले दुःख की भी गणना करनी चाहिये । क्योंकि

प्रकृष्टोद्वेगकारकमेवं जन्मापि। तथा ह्ययं मातुरुदरे जरायुपरिवेष्टितशरीरोऽमेध्यपरिस्नुतो (प्लुतो) व्रणमात्रायां गर्भवान्यां यथासुखमसंभवात् परिपीडितगात्रो मातुरशनादिभिः पीड्यमानो गर्भावासे दुःखमनुभूय पश्चात् संवृतेनास्थिद्वयविवरेण निस्सृतो मूत्ररुधिरकलिलैः परिषिक्तगात्रो बाह्येन वायुना करैश्च संस्पर्शासिभिरिव तुद्यमानः स्वसंवेद्यं दुःखमात्मनि वर्तमानमाख्यातुमसमर्थः स्वसुखदुःखसामान्यात् परत्र परिकल्पितसुखदुःखबुद्धिभिर्दृढगात्रैरुपचितक्लेशैश्च यात्यमानो जन्मदुःखमनुभवति। तस्मात् तदपि वक्तव्यमिति।

उच्यते—न, अव्यापित्वात्। मानुषतिरश्चामेव जन्मकृतं दुःखं भवति न देवानाम्। कथम्? तडिद्विलसितवत् क्षणमात्रेण शरीरप्रादुर्भावात्। जरामरणकृतं तु तेष्वपि न निवर्तते। तस्मात् प्राधान्यादेतदेवोपदिष्टं नेतरदिति।

जैसे जरा और मरण आत्मा को अत्यन्त कष्टकारक होते हैं, वैसे जन्म भी कष्टकारक होता है। वह यों है—माता के उदर में जरायु (झिल्ली) से घिरा है शरीर जिसका अपवित्र वस्तु में डूबा हुआ व्रण (फोड़ा) मात्ररूप गर्भस्थली में सुखपूर्वक (फैल कर) रहना असंभव होने से चारों तरफ से पीड़ित हो रहा है गात्र (देह) जिसका, माता द्वारा किये गये भोजनादि से पीड़ित होता हुआ जीव गर्भगृह में दुःख का अनुभव कर बाद में संकीर्ण दो हड्डियों के बिल से निकला हुआ, मूत्र-रक्त और गदले जल से भींगा शरीर होकर बाहरी वायु एवं सूर्य किरणों के स्पर्श से मानो तलवार की वार से प्रेरित किया जा रहा हो, ऐसा मात्र अपने अनुभवों में आने वाले अपने जन्मकालीन दुःख को कह सकने में असमर्थ, अपने सुख-दुःख के समान दूसरे में भी सुख-दुःखबुद्धियों की कल्पना से तथा वृद्धि को प्राप्त क्लेशों से युक्त अपने ही दृढ शरीर से यातना को प्राप्त करता हुआ प्राणी जन्म के दुःख का भी अनुभव करता है। अतः जरामरणकृत दुःख के समान जन्मकृत दुःख भी आचार्य को कहना चाहिये।

समाधान—जन्मकृत दुःख सर्वव्यापी नहीं है; क्योंकि मनुष्य और तिर्यग्योनि प्राणियों को ही जन्मकृत दुःख होता है, देवताओं को नहीं। क्योंकि बिजली की चमक की तरह क्षणमात्र में देवशरीर का प्रादुर्भाव हो जाता है। किन्तु जराकृत और मरणकृत दुःख तो देवताओं को भी नहीं छोड़ता है। इसलिये प्रधान होने से जरामरणकृत दुःख का ही आचार्य ने उपदेश किया अन्य (जन्मकृत) का नहीं।

आह—इतरग्रहणाप्रसक्तः, तुल्यत्वात् । न हि देवस्थानेषु जरा मरणं वा श्रूयते । तस्मादव्यापित्वात्तयोरप्यग्रहणप्रसक्तः ।

उच्यते—न स्मृतिवचनात् । जीर्यतेऽनयेति जरा क्षय इत्युक्तं भवति । स च देवभूमावपि भवति । कस्मात् ? एवं ह्याह—

रजोविषक्तिरङ्गेषु वैवर्ण्यं म्लानपुष्पता ।
पतिष्यतां देवलोकात् प्राणिनामुपजायते ॥

शक्रादीनां व्याधिश्रवणाच्छरीरक्षयः । एवं ह्याह—

'त्वाष्ट्रीयं साम भवति—इन्द्रं क्षाममपि नं सर्वभूतानि प्रस्वापयितुं नाशक्नुवंस्तमेतेन साम्ना त्वाष्ट्रीयेणास्वापयन्निति ।' तथा प्रजापतेर्वायुरक्षयीत् । दक्षाभिशापाच्च सोमस्य क्षयः । तथा 'प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे

शङ्का—यदि जन्मकृत दुःख के सर्वव्यापी नहीं होने से जन्मकृत दुःख का उपदेश आचार्य ने नहीं किया है, तो जरामरणकृत दुःखों का भी उपदेश नहीं करना चाहिये था; क्योंकि अव्यापित्वधर्म जरामरणकृत दुःखों में भी समान है । कारण, देवस्थानों में भी जरामरण नहीं सुना जाता है । अतः अव्यापी होने से जरामरणकृत दुःखों का भी अग्रहण प्रसक्त हो जायेगा ।

समाधान—उक्त शङ्का नहीं हो सकती है; क्योंकि देवों में भी जरामरणकृत दुःख के होने में स्मृति वचन प्रमाण है । कारण, 'जीर्यतेऽनया इति जरा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार क्षय होना जरा है । और वह क्षय देवभूमि में भी होता है । क्योंकि ऐसा कहा गया है—

'रजोविषक्तिरङ्गेषु वैवर्ण्यं म्लानपुष्पता ।
पतिष्यतां देवलोकात् प्राणिनामुपजायते ॥'

अर्थात् देवलोक से गिरने वाले प्राणियों के अङ्गों में धूलि का सम्पर्क, विकृत वर्ण का होना तथा धारण किये हुए पुष्प का मलिन हो जानारूप मानुषधर्म पैदा हो जाता है । जैसे इन्द्र आदि को व्याधि होना सुना जाता है; इसलिये उनके शरीर का क्षय होता है । ऐसा कहा जाता है कि इसमें प्रमाणभूत त्वाष्ट्रीय (इन्द्रसम्बन्धी) सामवचन है । जैसे—'इन्द्रं क्षाममपि ··· त्वाष्ट्रीयेणास्वापयत्' इति । अर्थात् क्षीणता को प्राप्त भी इन्द्र को समीभूत (प्राणी) सुला नहीं सके, तब उन्हें इस त्वाष्ट्रीय (ऐन्द्र) साम से सुलाया ।

तथा प्रजापति से वायुदेव क्षीणता को प्राप्त हुए । और दक्ष के शाप से सोम

दुहितृरदात् नक्षत्राणि, स रोहिण्यामेवावसत्। तान्यनपेक्ष्यमाणानि पुनरगच्छन्। तस्मात् स्वाननुपेयमाना पुनर्गच्छति। तान्यन्वागच्छत्, तानि पुनरयाचत। तान्यस्मै न पुनरददात्। सोऽब्रवीत् सर्वेष्वेव समास(व)त् वसाथ ते पुनर्दास्यामीति। स रोहिण्यामेवावसत्। तस्मिन् अनृते यक्ष्माऽगृह्णात्। चन्द्रमा वै सोमो राजा, यद्राजानं यक्ष्माऽगृह्णात् तद् राजयक्ष्मस्य (राजयक्ष्मनो) जन्म। स तृणमिवाशुष्यत्, स प्रजापता (तौ) अनाथत। सोऽब्रवीत्-सर्वेष्वेव समावद् वसाथ (वसाऽथ)त्वाऽतो मोक्ष्यामीति। तस्माच्चन्द्रमाः सर्वेषु नक्षत्रेषु समावद् वसति। तं वैश्वदेवेन चरुणाऽमावस्यां रात्रीमयजत्, तेनैनं यक्ष्मोदमुञ्चदित्यादि।' तस्माद् देवभूमावपि जराकृतं दुःखमस्ति।

तथा मरणकृतम्, भूम्यन्तरगमनात्, तत्रोत्पन्नानां ययातिरुदा-

(चन्द्र) का क्षय हुआ। इसमें भी प्रमाणभूत वैसा वचन है, जैसे—'प्रजापतिर्वै सोमाय··· तेनैनं यक्ष्मोदमुञ्चत्' इत्यादि। अर्थात् प्रजापति ने सोम राजा के लिये नक्षत्ररूप कन्याओं को दिया; किन्तु उसने रोहिणी में ही निवास किया। वे नक्षत्र अनपेक्षित होकर पुनः प्रजापति के यहाँ गये। इसलिये जो भी अनपेक्षित होकर ग्रहण नहीं किया जाता है, वह अपनों के पास जाता है। उनके पीछे सोम भी प्रजापति के पास गया और उन नक्षत्रों की याचना किया। किन्तु प्रजापति ने उन्हें इस सोम को नहीं दिया। और वह बोले—सभी में वर्ष भर वास करो; उसके बाद तुम्हें इन्हें दूंगा। किन्तु वह केवल रोहिणी में ही वास किया। तब मिथ्यावादी उस सोम को यक्ष्मा ने गृहीत कर लिया। चन्द्रमारूप सोम राजा हैं। चूँकि राजा को यक्ष्मा ने गृहीत किया; इसलिये राजयक्ष्मा का जन्म हुआ। वह सोम घास की तरह सूख गया, और प्रजापति से प्रार्थना किया। प्रजापति बोले—वर्ष भर इनमें वसो, उसके अनन्तर तुम्हें इस राजयक्ष्मा से मुक्त कर दूंगा। इसलिये चन्द्रमा सभी नक्षत्रों में वर्षभर वास करता है। उस चन्द्रमा ने अमावस्या की रात में वैश्वदेव (विश्वदेवसम्बन्धी) चरु से उस प्रजापति का यज्ञ किया; उससे इसे यक्ष्मा ने मुक्त कर दिया इत्यादि। अतः उक्त प्रमाण से सिद्ध है कि देवभूमि में भी जराकृत दुःख होता है, न केवल मनुष्यभूमि में ही।

वैसे ही मरणकृत दुःख भी देवलोक में होता है।

गोपथ ब्राह्मण में भी कहा है—पूर्व में पन्द्रह सौ देवता थे, वे ब्रह्मदोष से

हरणम् । तथा गोपथब्राह्मणम्—'देवानां ह वा पञ्चदशशतानि आसंस्तानि ब्रह्मकिल्बिषादक्षीयन्त । ततस्त्रयस्त्रिंशद्देवासत, तदेतदृचाऽभ्युक्तम् सोदर्याणां पञ्चदशानां शतानां त्रयस्त्रिंशदुदशिष्यन्त देवाः, शेषाः प्रासीयन्तेति ।' श्वेतारण्ये चान्तकस्य रुद्रेण कृतं दुःखमस्तीति ।

उदाहरणमात्राद्वा अथवोदाहरणमात्रमेव दुःखानाम् । आदिशब्दलोपो वा वक्तव्यः । [1] (जरामरणादिकृतं दुःखम्) । जरामरणकृतमेवोदाहरणत्वेनाभिप्रेतम्, न पुनर्दुःखान्तरम् । कस्मात् ? तत्रापि ह्यादिशब्दलोप उदाहरणमात्रत्वात् । शक्त्या परिकल्पयितुमिदतमियुच्यते—न(न,)सर्वदुःखास्पदत्वात् । सर्वेषां हि दुःखानामास्पदं जरामरणकृतं साधारणम् । कथम् ?

क्षीण हो गये, तब तैंतीस देवता रह गये । यह बात ऋङ्मन्त्र द्वारा भी कही गयी है—'सादर्याणां ···प्रासीयन्त' इति । अर्थात् सोदर पन्द्रह सौ देवों में तैंतीस रह गये और शेष अवसित समाप्त हो गया एवं, श्वेतारण्य में अन्तक को रुद्र द्वारा किया हुआ दुःख वर्णित है ।

अथवा दुःखों का यह उदाहरणमात्र है । अतः जरामरणदुःख कहने से अन्य दुःख (जन्मदुःख) अगृहीत नहीं माना जायगा । अथवा यहाँ जरामरणशब्द के साथ आदिशब्द लुप्त है; ऐसा कहना चाहिये । अतः जरामरणादिकृत तीनों दुःख समझ लेना चाहिये । फिर भी जरामरणकृत ही दुःख उदाहरणरूप में आचार्य को अभिप्रेत है; अन्य दुःख नहीं । क्योंकि आदिशब्द का लोप इसलिये है कि जरामरणकृत ही दुःख उदाहरण है । अर्थात् उदाहरणमात्र बताने के अभिप्राय से आदि शब्द का लोप आचार्य ने किया । यदि आदिशब्द का लोप न होकर तीनों दुःखों का स्व-स्वशब्द से प्रतिपादन होता तो जरामरणकृत दुःख उदाहरण कैसे बनता ?

शङ्का—शक्ति से ही जरामरणकृत दुःख का यहाँ उदाहरणत्व कहा जा सकता है; आदि शब्द की लोपकल्पना व्यर्थ है ।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि सर्व के दुःखों का आस्पद होने से उसका कथन किया जा सकता है । अतः उदाहरणत्व सूचित नहीं हो पाता; क्योंकि सभी के लिये दुःखों का आस्पद जरामरणकृत दुःख होता है । अतः वह दुःख सर्वजनसाधारण होता है ।

---

१. अयं चक्रवर्तिपुस्तके पाठः । अयमपि 'आदिशब्दलोपो वा वक्तव्य' इत्यस्य व्याख्यानरूपः । अत्रापि जरामरणादिकृतं दुःखं जरामरणकृतम् दुःखम् इत्येतावान् पाठः सम्भाव्यते ।

तद्बन्धुमित्राणामप्युद्वेगहेतुत्वात् । न तु जन्मकृतम्, सम्बन्धिनां प्रहर्ष-निमित्तत्वात् । यतश्च ब्रह्मादौ स्तम्बपर्यन्ते जगति जरामरणकृतं दुःखं न कश्चिदतिवर्तते ।

लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं समासेन ॥ ५५ ॥

सुखलेशस्य तद्व्याप्तत्वात् । यावदिदं लिङ्गं न निवर्तते तावदवश्यं दुःखेन भवितव्यम् । पर्यायेण संस्कारस्य सामर्थ्याल्लोकान्तरोपपत्तेः ।

तथा चाह—

'सुखं च दुःखं च हि संशयं च वारेणायं सेवते तत्र तत्र ॥

कथं पुनर्दुःखेन व्याप्तं सुखमिति चेत्, आब्रह्मणोऽशुद्धिक्षयातिशयोपपत्तेः । तस्याश्च दुःखमूलत्वात् । प्रजापतेरक्षिरोगश्रवणात्, इन्द्रस्य कामोपतापात्, गौतमपरिभा(भ)वात् रम्भायावचाभिशापात् पाषाणभावोपपत्तेः, नागानां सर्पसत्रायासात्, वैश्रवणस्य यस्काभिशापाद्धस्तिभावोपपत्तिः, जरत्कारोः पितॄणां च गर्तेऽवलम्बनात्, पिशाचानां मन्त्रौषधिमङ्ग-

---

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्योंकि जरामरणकृत दुःख बन्धु-मित्रों के लिये भी और अपने लिये भी उद्वेग का कारण होता है । जन्मकृत दुःख तो वैसा नहीं होता । क्योंकि जन्मकृत दुःख अपने लिये उद्वेग कारक होता हुआ भी सम्बन्धियों के लिये अत्यन्त हर्ष का निमित्त होता है । कारण यह है कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त कोई भी प्राणी जरामरणकृत दुःख से अलग नहीं होता ।

चेतन पुरुष जरामरणकृत दुःख को तब तक प्राप्त करता है—जब तक लिङ्ग-शरीर की आत्यन्तिक निवृत्ति न हो जाती है । इसलिये दुःख स्वभावत. प्राप्त होता रहता है । अर्थात् सुख का लेश भी दुःख से व्याप्त रहता है; इसलिये जब तक लिङ्ग-शरीर की निवृत्ति नहीं हो जाती है; तब तक अवश्य ही दुःख होगा । संस्कार की शक्ति से बारी बारी से सुखदुःखात्मक लोकान्तर की प्राप्ति भी उपपन्न है । वैसा कहा भी है—'सुखं च··· तत्र तत्र' । अर्थात् यह पुरुष सुख-दुःख और संशय (मोह) को उन उन लोकों में बारी-बारी से भोगता है ।

प्रश्न—दुःख से सुख कैसे व्याप्त है ?

उत्तर—ब्रह्मापर्यन्त को अशुद्धि-क्षय और अतिशय प्राप्त है; और इन तीनों की प्राप्ति दुःख का मूल है । प्रजापति को नेत्ररोग सुना जाता है, इन्द्र को काम की पीड़ा है, गौतम के अपमान से रम्भा को शाप से पाषाणभाव की प्राप्ति हुई, नागों

लप्रयोगैरुद्वासनान्मानुषतिरश्चां प्रत्यक्षत एव प्रायेण दुःखास्पदत्वात् । तस्मान्नास्ति संसारे कश्चित् प्रदेशो यत्र सह लिङ्गेनात्मानं दुःखं नाऽवाप्नुयादित्यत एवं प्रयतितव्यं येन लिङ्गस्यैवात्यन्तोच्छेदः । ततो हि सर्वदुःखानामत्यन्तोपशमः । समासग्रहणं तु सुखमोहयोरवकाशदानार्थम्, अन्यथा संसारे तयोरभाव एवाभ्युपगतः स्यात् ॥ ५५ ॥

एवं यथावत् सर्गमुपाख्यायोपसंहरन्नाह—

इत्येष प्रकृतिकृतः प्रवर्तते तत्त्वभूतभावाख्यः ।[1]

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

इतिकरणेन सर्वसमाप्तिं द्योतयति । एष इत्युक्तमपि प्रत्याम्नायार्थं पुनरपेक्षते । प्रकृत्या कृतः प्रकृतिकृतः । अनेन वाक्यपरिसमाप्त्यर्थं वीतावीताभ्यां सिद्धं प्रधानास्तित्वम् ।

को सर्पयज्ञ का भय है, वैश्रवण (कुबेर) को यक्ष के अभिशाप से हाथीस्वरूप की प्राप्ति हुई, जरत्कारुके पितरों को गर्त में लटकना पड़ा, पिशाचों को मन्त्र-ओषधि और मङ्गल प्रयोगों से निकाला गया था, मनुष्य तथा तिर्यग्योनि तो प्रायः दुःख के आस्पद (स्थान) हैं। इसलिये संसार में कोई भी स्थान नहीं है जहाँ लिङ्गशरीर के साथ आत्मा को दुःख व्याप्त न करे। अतः ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे कि लिङ्गशरीर का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाय। उसके बाद ही समस्त दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद होता है। कारिका में 'समास' पद का ग्रहण सुख और मोह को भी अवकाश प्राप्त कराने के लिये है। यदि ऐसा न हो तो संसार में सुख और मोह इन का अभाव ही स्वीकृत करना पड़ जायगा।

इस प्रकार यथास्थित सर्ग (सृष्टि) का वर्णन कर उसका उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं—'इत्येष प्रकृतिकृतः' इत्यादि 'परार्थ आरम्भः' पर्यन्त। अर्थात् इस प्रकार यह प्रकृति द्वारा किया हुआ महदादितत्त्व, आकाशादि भूत और धर्माधर्मादिलक्षण सर्ग प्रवृत्त होता है। यह प्रकृति द्वारा सर्ग का आरम्भ प्रत्येक पुरुष के विमोक्ष के लिये स्वार्थ की तरह परार्थ होता है। कारिका में 'इति' शब्द का उल्लेख कर आचार्य सर्गप्रकरण की समाप्ति को सूचित करते हैं। 'एष' इस पद से पूर्व में कहे हुए को भी आचार्य दुहराने के लिये फिर अपेक्षा करते हैं।

यहाँ 'प्रकृत्या कृतः प्रकृतिकृतः' ऐसा विग्रह है। इसके द्वारा वाक्य को

---

१. 'महदादिविशेषभूतपर्यन्तः' इति पाठ इति गौडपादवाचस्पती।

अण्वादिप्रतिषेधं चापेक्षते, प्रकृतिकृत एव नाण्वादिकृतः। प्रवर्तते इति क्रियाप्रबन्धमाह—[न]प्रवृत्तो न प्रवर्त्स्यति। किन्तर्हि प्रवर्तत एवानन्तानां शरीरादिभावेन परस्परानुग्रहेण च। नेयं क्रिया कदाचिदपि भूतभविष्यद्रूपा भवति। किन्तर्हि ? वर्तमानरूपा। यथा—वहन्ति नद्यः, तिष्ठन्ति पर्वता इति।

तत्त्वभूतभावाख्य इत्युक्तानां निगमार्थं[1] प्रत्याम्नायं करोति। तत्त्वाख्यो महदादिर्भावाख्यो धर्मादिर्भूताख्यो व्योमादिः। पुरुषं पुरुषं प्रति विमोक्षः प्रतिपुरुषविमोक्षः, तदर्थं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्। सर्वपुरुषाधि-

---

परिसमाप्ति सूचित करते हुए वीत और अवीत अनुमानों से प्रधान का अस्तित्व सिद्ध हुआ।

यहाँ अणु आदि का प्रतिषेध भी आचार्य को अपेक्षित (अभीष्ट) है। अर्थात् यह सर्ग प्रकृति द्वारा ही किया गया है; न कि परमाणु या किसी और के द्वारा। 'प्रवर्तते' पद से आचार्य ने क्रिया के निरन्तर प्रवाह को सूचित किया है—अर्थात् यह सर्ग पहले ही प्रवृत्त था, ऐसा नहीं है। और भविष्य में ही होगा, यह भी नहीं है। किन्तु अनन्त पुरुषों के शरीरादिरूप से और परस्पर अनुग्रह हेतु भी सदा प्रवृत्तिमान् है। और यह सर्गक्रिया कभी भी भूतरूप या भविष्यद्रूप नहीं होती है; किन्तु सदा वर्तमानरूप रहती है। जैसे नदियाँ बहती हैं, पर्वत स्थिर हैं इत्यादि। यहाँ नदियों का बहना सदा वर्तमान रहता है, तथा पर्वतों का स्थिर रहना भी सदा वर्तमान रहता है।

'तत्त्वभूतभावाख्यः' इस वचन द्वारा आचार्य पूर्व में बताये गये पदार्थों का संक्षेप में निष्कर्ष निकालने के लिये पुनः कथन करते हैं। इनमें तत्त्वसंज्ञक महदादि है, भावसंज्ञक धर्माधर्मादि है, तथा भूतसंज्ञक आकाशादि है। 'प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्' इस पद की व्युत्पत्ति यों है—पुरुष-पुरुष के प्रति अर्थात् प्रत्येक पुरुष के प्रति विमोक्ष 'प्रतिपुरुषविमोक्ष' है। तथा उस प्रयोजन के लिये जो क्रिया, वह 'प्रतिपुरुषविमोक्षार्थ' क्रिया=सर्गारम्भरूप क्रिया है। अर्थात् सभी पुरुषों का जो अधिकार=भोग और अपवर्गरूप कार्य, उसका साधन करने के लिये संलग्न जो सर्वशक्ति प्रकृति है, उसे निराकाङ्क्ष कर देने के लिये यह सर्गारम्भ है। क्योंकि पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन कर प्रकृति कृतार्थ हो जाती है, और वह सर्ग के प्रति निराकाङ्क्ष हो जाती है।

यह कार्य-करणरूप में जो प्रकृतिकृत सर्गारम्भ है, वह स्वार्थ के समान ही

---

१. हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् (न्यायदर्शन अ० १ आ० १ सूत्र ३९।)

कारनिबद्धायाः सर्वशक्तेर्निराकाङ्क्षीकरणार्थमित्यर्थः। स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः कार्यका(क)रणभावेन। तत्र कार्यस्य तावच्छब्दादेः स्वार्थ इवेन्द्रियाणां विषयभावः। इन्द्रियाणामप्राप्तविषयाणां लौल्यमधिष्ठानविकारानुमेयं स्वार्थमिव। करणानां च संकल्पाभिमानाध्यवसायानां विषयद्वारिभावोपगमनम्, मनःप्रभृतीनां स्वप्रवृत्तिविषयत्वम्, मनोऽहङ्कारयोश्च बुद्धौ स्वप्रवृत्त्युपसंहारः, बुद्धेश्च शान्तघोरमूढत्वं व्यवसायकर्तृत्वं च, सत्त्वरजस्तमसां च प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमलक्षणैर्धर्मैः परस्परोपकारित्वम्। न चैष स्वार्थः, सर्वस्याचैतन्यात्, किन्तर्हि ? परार्थ एवायमारम्भः संघातत्वादिति।

आह—यदुक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थमयमारम्भ इति, तदयुक्तम्,

परार्थ है। अर्थात् जैसे कोई अपने लिये किसी क्रिया को करता है, वैसे ही प्रकृति परार्थ (दूसरे के लिये) सर्गारम्भ करती है; क्योंकि प्रकृति का कोई अपना स्वार्थ न होने से वह पुरुष के लिये हो सब कुछ करतो है। अथवा स्वार्थ के समान लगता हुआ भी आरम्भ वस्तुतः स्वार्थ नहीं है किन्तु परार्थ ही आरम्भ है—यह अर्थ है।

यहाँ कार्यभूत शब्दादि का इन्द्रियों का विषय बनना स्वार्थ के समान है। वैसे ही विषय से असम्पृक्त इन्द्रियों में विषयसम्पर्क के लिये जो लौल्य (उत्सुकता) होती है, जो कि इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत चक्षुर्गोलकादि में उत्पन्न विकार से अनुमेय है, वह इन्द्रियों के स्वार्थ के समान है, वस्तुतः स्वार्थ नहीं है। वैसे ही मन-अहङ्कार और बुद्धिरूप करणों का विषय का द्वारीभाव को प्राप्त करना स्वार्थ के समान है। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषय मन आदि को प्राप्त होता है; इसलिये इन्द्रियाँ द्वार हैं तथा मन आदि द्वारी हैं। ऐसे ही मन आदि का अपनी प्रवृत्ति का विषय बनना भी स्वार्थ के समान है। अर्थात् अपनी संकल्पवृत्ति का विषय स्वयं मन भी होता है। ऐसे ही अहङ्कार और बुद्धि भी क्रमशः अपनी अभिमान और अध्यवसाय-वृत्ति के विषय हैं। यह तात्पर्य है। मन और अहङ्कार का बुद्धि में अपनी प्रवृत्ति का उपसंहार (समर्पण) करना स्वार्थ के समान है। एवं बुद्धि का शान्त घोर मूढ होना तथा व्यवसाय (निश्चय) का कर्ता होना स्वार्थ के समान है। एवं सत्त्व रजस् और तमस् का क्रमशः प्रकाश-प्रवृत्ति और नियमनरूप धर्मों से परस्पर का उपकार करना स्वार्थ के समान है। यह इनके वास्तविक स्वार्थ नहीं हैं; क्योंकि ये सभी अचेतन हैं और अचेतन का कोई स्वार्थ नहीं होता है। किन्तु परार्थ (पुरुष के लिये) ही इन सभी का यह आरम्भ है; क्योंकि ये संघातरूप हैं और जो संघात होता है; वह परार्थ होता है।

आचार्यविप्रतिपत्तेः, प्रतिपुरुषमन्यत् प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति । तेषां च माहात्म्यशरीरप्रधानं यदा प्रवर्तते तदेतराण्यपि । तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिरिति पौरिकः सांख्याचार्यो मन्यते । तत्कथमप्रतिषिध्यैका प्रकृति-रभ्युपगम्यत इति ?

उच्यते—न, प्रमाणाभावात् । न तावत् प्रत्यक्षत एव तच्छक्यं निश्चेतुम्, प्रधानानामतीन्द्रियत्वात् । लिङ्गं चासन्दिग्धं नास्ति । आप्ताश्च नो नाऽभिवधुरतो मन्यामहे-नैतदेवमिति । किञ्च, एकेनार्थपरिसमाप्तेः । अपरिमितत्वादेतदेकं प्रधानमलं सर्वपुरुषशरीरोत्पादनाय । तस्मादन्यपरि-कल्पनानर्थक्यम् । परिमितमिति चेत्, अथ मतम्-परिमितं प्रधानमिति, न, उच्छेदप्रसङ्गात् । एवमपि तस्योच्छेदः प्राप्तः क्षीरवत् । तथा च संसारो-च्छेदप्रसङ्गः ।

पूर्वपक्ष—यह जो कहा कि प्रत्येक पुरुष के विमोक्षहेतु यह सर्गारम्भ है, वह अयुक्त है; क्योंकि इसमें आचार्यों की विप्रतिपत्ति है। जैसे—प्रतिपुरुष भिन्न-भिन्न प्रधान शरीर आदि अर्थ को करता है। उन प्रधानों में माहात्म्यशरीर वाला प्रधान जब क्रियाशील होता है, तब अन्य प्रधान भी, जो माहात्म्य से सम्पन्न नहीं है, क्रिया-शील हो जाते हैं। और माहात्म्यशरीर वाले प्रधान की निवृत्ति होने पर अन्य प्रधानों की भी निवृत्ति हो जाती है—ऐसा पौरिक (पुराकालिक) सांख्याचार्य मानते हैं। अतः उसका बिना निराकरण किये कैसे स्वीकार किया जा रहा है कि एक ही प्रकृति (प्रधान) हैं ?

समाधान—उक्त पूर्वपक्ष नहीं हो सकता है; क्योंकि अनेक प्रधान के होने में प्रमाण नहीं है। सर्वप्रथम प्रत्यक्ष से ही उसका निश्चय नहीं हो सकता; क्योंकि प्रधान अतीन्द्रिय है। इसमें असन्दिग्ध लिङ्ग भी नहीं है कि अनुमान द्वारा प्रधान का अनेकत्व सिद्ध हो सके। आप्त भी वैसा हमें नहीं कहे हैं। इसलिये हम मानते हैं कि प्रधान अनेक नहीं हैं।

और भी, एक प्रधान से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाने से भी प्रधान अनेक नहीं है। अर्थात् अपरिमित-अपरिच्छिन्न-असीम होने से एक ही प्रधान सब पुरुष के शरीर को उत्पन्न करने में समर्थ है। अतः अन्य प्रधानों की परिकल्पना निरर्थक है। यदि यह माना जाय कि प्रधान परिमित है, तो ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि परिमित होने पर उसका उच्छेद (विनाश) प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् प्रधान को परिमित मानने पर

किञ्च, अनवस्थाप्रसङ्गात् । एकस्येश्वरस्य योगिनो वेच्छायोगाद-नेकशरीरत्वम् । तत्परिमितादयुक्तम् । प्रतिशरीरं वा प्रधानपरिकल्पने प्रधानानवस्था भवति । परिमितशरीरकारणत्वाभ्युपगमादन्यपरिकल्प-नाऽऽनर्थक्यम्, ततश्च प्रधानैकत्वमेव । तस्मादयुक्तं प्रतिपुरुषं प्रधाना-नीति ।

यत्तूक्तम्, माहात्म्यशरीरप्रधानप्रवृत्तावितरेषां प्रवृत्तिस्तन्निवृत्तौ निवृत्तिरित्यत्र ब्रूमः—न, अतिशयाभावात् । यथा क्षेत्रज्ञानां निरतिशय-त्वादितरेतराप्रवर्तकत्वमेवमेषामपि, सातिशयत्वे वा प्रधानानुपपत्तिप्रसङ्गः, वैषम्यात् । तस्माद् युक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थमेका प्रकृतिः प्रवर्तत इति ॥ ५६ ॥

उसका उच्छेद प्राप्त हो जायगा; जैसे परिमित क्षीर का अत्यधिक पाक होने पर उच्छेद हो जाता है। ऐसी स्थिति में संसार के उच्छेद को प्रसक्ति होने लगेगी।

एवं, प्रधान को अनवस्था होने लगेगी। अर्थात् एक ईश्वर या योगी को इच्छा के योग से एक हो अपरिमित प्रधान पुरुषों के लिये अनेक शरीर के रूप में परिणत हो सकता है। प्रधान को परिमित मानने पर उससे अनेक शरीर का होना अनुपपन्न है। यदि कहा जाय कि प्रधान को परिमित मानने पर भी अनेक शरीर की उत्पत्ति अनुपपन्न नहीं होगी; क्योंकि प्रति शरीर भिन्न-भिन्न प्रधान की कल्पना कर ली जायेगी; तो ऐसी स्थिति में प्रधान की अनवस्था होने लगेगी। अतः परिमित अनेक शरीरों के कारण के रूप में एक अपरिमित प्रधान को स्वीकार करने से अन्य अनेक प्रधानों की कल्पना निरर्थक है। इस प्रकार प्रधान का एकत्व ही है; अनेकत्व नहीं है। इसलिये पुरुष के भेद से अनेक प्रधानों का अस्तित्व अनुपपन्न है।

पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि 'माहात्म्यशरीर वाले प्रधान की प्रवृत्ति होने पर माहात्म्यशरीररहित अन्य प्रधानों की प्रवृत्ति होती है और उसकी निवृत्ति होने पर अन्य प्रधानों की निवृत्ति हो जाती है' इस पर हमारा यह कहना है कि ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि माहात्म्यशरीर वाले प्रधान में इतर प्रधानों को अपेक्षा कोई अतिशय (विशेषता) नहीं है। जिस प्रकार क्षेत्रज्ञों में (पुरुषों में) सभी के अतिशय-रहित होने से सभी सर्वथा समान हैं; अतः उनमें कोई भी क्षेत्रज्ञ एक दूसरे का प्रवर्तक नहीं होता है; वैसे हो अतिशयरहित सभी प्रधान एक दूसरे के प्रवर्तक या निवर्तक नहीं हो सकते हैं। यदि एक भी सातिशय (विशिष्ट) हो तो वैषम्य के कारण वे सभी

आह—तदनुपपत्तिराचैतन्यात् । इहाऽचेतनानां घटादीनामुद्दिश्य प्रवृत्तिरदृष्टा । सा चेदियमचेतना प्रकृतिरस्या अप्युद्दिश्य पुरुषार्थं प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । भवति चेत्, चैतन्यं तर्हि प्राप्नमस्याः । तत्र यदुक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं प्रकृतेः प्रवृत्तिरिति, एतदयुक्तमिति ।

उच्यते—न, दृष्टान्तोपपत्तेः ।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।। ५७ ।।

यथा क्षीरमचेतनं वत्सविवृद्धिमुद्दिश्य प्रवर्तते, एवं प्रधानमपि पुरुषविमोक्षमुद्दिश्य प्रवर्तते । न चास्य चैतन्यं स्यात् ।

साध्यत्वादयुक्तमिति चेत्, स्यान्मतम्—साध्यमेतत् यत् क्षीरस्योद्दिश्य वत्सविवृद्धिं प्रवृत्तिः, अथ नेति ? तस्मादुदाहरणं साध्यत्वादयुक्तमिति ।

प्रधान नहीं हो सकते । इसलिये यह युक्त है कि प्रत्येक पुरुष के विमोक्षहेतु एक प्रकृति ही सर्गारम्भ में प्रवृत्त होती है ॥ ५६ ॥

शङ्का—सर्गारम्भ में प्रकृति की प्रवृत्ति अनुपपन्न है; क्योंकि प्रकृति अचेतन है । यहां पर (लोक में) अचेतन घटादि की सोद्देश्य प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है । सांख्यों द्वारा स्वीकृत यह प्रकृति यदि अचेतन है, तो इसकी भी पुरुषार्थ के उद्देश्य से प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । यदि प्रवृत्ति होती है तो इसमें चैतन्य की प्राप्ति (प्रसक्ति) होने लगेगी; जो सांख्यवादी को मान्य नहीं है । वैसी स्थिति में (अचेतन होने की स्थिति में) यह जो कहा कि प्रत्येक पुरुष के विमोक्ष के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति होती है—यह अयुक्त है ।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है; दृष्टान्त के बल से प्रकृति की प्रवृत्ति उपपन्न है । जैसे—'वत्सविवृद्धिनिमित्तम् ·· ··· ··· प्रवृत्तिः प्रधानस्य'

अर्थात् जैसे, अचेतन दूध बछड़े की विवृद्धि के उद्देश्य से गौ के शरीर में प्रवृत्त हो जाता है; वैसे प्रधान (प्रकृति) भी पुरुष के मोक्ष के उद्देश्य से प्रवृत्त होता है । फिर भी दूध के समान ही प्रकृति में भी चैतन्य की प्रसक्ति नहीं होगी ।

शङ्का—साध्यकोटि में होने से क्षीर का दृष्टान्त ठीक नहीं है । अर्थात् अभी यह सिद्ध करना होगा कि क्षीर की प्रवृत्ति बछड़े की वृद्धि के उद्देश्य से होती है, अथवा नहीं । अतः क्षीर (दूध) का उदाहरण ठीक नहीं है, क्योंकि वह स्वयं साध्यकोटि में है ।

एतच्चायुक्तम्, कस्मात् ? तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात् । यत्र नास्ति वत्सविवृद्धिस्तत्र न क्षीरस्य प्रवृत्तिरुपलब्धा । यत्रास्ति तत्रोपलब्धा । यस्मिन् सति भवति, तस्य तदर्था प्रवृत्तिर्दृष्टा । तद्यथा घटे कुम्भकारस्य । स चायमीदृशोऽस्माकमुद्देशोऽभिप्रेतः यदुत तादर्थ्यम् । तस्मान्नास्त्युदाहरणसाध्यत्वमिति ।

असद्भावाभिधानात् सत्कार्यविरोध इति चेत्, न, व्यक्तिपर्यायत्वात् । व्यक्तिपर्यायो हि तदिति शास्त्रलोकप्रामाण्यात् । शास्त्रं तावत्—'सत्तामात्रो महान्' व्यक्तिमात्र इत्यर्थः । लोकेऽपि 'नास्त्यस्मिन् कूपे सलिलम्' इत्युच्यते । न क्वचिदपि कूपे सलिलं नास्त्यभिव्यक्तं न तद्भवति । तस्मान्न सत्कार्यविरोधः ।

अदृष्टप्रेरणत्वादसिद्धिरिति चेद्, अथ मतम्—धर्माधर्मप्रेरितं क्षीरं

समाधान—उक्त कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि वत्सविवृद्धि के अभाव में दुग्धप्रवृत्ति का भी अभाव होता है तथा उसके भाव में प्रवृत्ति का भाव होता है। अर्थात् जहाँ बछड़े की विवृद्धि नहीं होनी है; वहाँ दूध की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है और जहाँ विवृद्धि होनी है; वहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है। जिसके रहने पर जो होता है, उसकी प्रवृत्ति उसके उद्देश्य से होती देखी जाती है; जैसे घट के उद्देश्य से कुम्भकार की प्रवृत्ति होती देखी जाती है। यहाँ हमारा ऐसा उद्देश्य अभिप्रेत है, जो तादर्थ्यरूप है। अर्थात् वत्सविवृद्धि के लिये दूध की और पुरुषविमोक्ष के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति अभिप्रेत है। इस तादर्थ्यरूप उद्देश्य के लिये चैतन्य की अपेक्षा नहीं है। अतः क्षीर का उदाहरण साध्यकोटि में नहीं है, किन्तु सिद्ध है।

यदि कहा जाय कि प्रकृतिकृत यह सर्गारम्भ है तो असत् की उत्पत्ति प्रतिपादित होने से सत्कार्यवाद से विरोध हो जाता है तो ऐसा नहीं कह सकते हैं; क्योंकि यहाँ आरम्भशब्द अभिव्यक्ति का पर्याय है। आरम्भ अभिव्यक्ति का पर्याय है—यह बात शास्त्र और लोक से प्रमाणित है। शास्त्र तो 'सत्तामात्रो महान्' यह वचन है। सत्तामात्र का अर्थ है—अभिव्यक्तिमात्र। अतः इस शास्त्रवचन के प्रमाण से यहां सत्कार्यवाद का विरोध नहीं है। एवं लोक में भी इस कूप में जल नहीं है—ऐसी बात नहीं है। प्रत्युत उसमें जल अभिव्यक्त नहीं है, यही वास्तविकता है। इसलिये यहाँ सत्कार्यवाद का विरोध नहीं है।

शङ्का—बछड़े की विवृद्धि के लिये क्षीर की प्रवृत्ति है, यह असिद्ध है; क्योंकि

प्रवर्तते न वत्सविवृद्ध्यर्थमिति-तदप्ययुक्तम् । कस्मात् ? दोषसाम्यात् । धर्माधर्मावचेतनौ विवृद्धिकाले क्षीरं प्रवर्तयतस्तदवसाने च निवर्तयतः । तस्मादित्थमपि परिकल्प्यमाने समानो दोषः । ईश्वरप्रेरणादिति चेत्, स्यान्मतम्—ईश्वरस्तत्र क्षीरं प्रवर्तयते वत्सार्थम्, न स्वयमिति—तदयुक्तम् । कस्मात् ? प्रतिषेधात् प्राक् प्रतिषिद्धमीश्वरकर्म तस्मादिदमप्ययुक्तम् । एवं चेदवस्थितो दृष्टान्तः ।

वार्षगणानां तु स्त्री यथा पुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः ।

आह—कथमवगम्यते तादर्थ्यादुत्पन्नेन व्यक्तेन पुरुषस्य सम्बन्धो न पुनः सान्निध्यमात्राद्, भिक्षुवदिति ?

उच्यते—न, अनपवर्गप्रसङ्गात् । सान्निध्यमात्रात् पुरुषोपभोगमभ्यु-

---

अदृष्टप्रेरित होने से क्षीर की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् धर्माधर्म से प्रेरित होकर क्षीर प्रवृत्त होता है, वत्सविवृद्धि के लिये नहीं।

समाधान—उक्त शङ्का असंगत है, क्योंकि उस पक्ष में भी दोष समानरूप से है। अर्थात् अचेतन धर्माधर्म बछड़े की विवृद्धिकाल में क्षीर को प्रवृत्त करते हैं, और धर्माधर्म का अवसान होने पर क्षीर को निवृत्त करा देते हैं, इस तरह की कल्पना करने पर भी समान दोष है। क्योंकि जैसे क्षीर अचेतन है; वैसे धर्माधर्म रूप अदृष्ट भी अचेतन है। ऐसी स्थिति में स्वयं अचेतन धर्माधर्म अचेतन दूध को कैसे प्रवृत्त कर सकेगा ?

यदि कहा जाय कि ईश्वर की प्रेरणा से क्षीर प्रवृत्त होता है। अर्थात् ऐसा माना जाय कि वहाँ ईश्वर ही क्षीर को प्रवृत्त कराता है बछड़े के लिये; क्षीर स्वयं नहीं प्रवृत्त होता है—तो यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि ईश्वर की क्रिया का प्रतिषेध किया जा चुका है। अर्थात् पूर्व में ईश्वर का कर्म प्रतिषिद्ध हो चुका है। अतः ईश्वर की प्रेरणा बताना भी अयुक्त है। ऐसी स्थिति में प्रकृत में क्षीर का दृष्टान्त यथावत् कायम है।

आचार्य वार्षगण के मतानुसार तो जैसे अचेतन स्त्री-पुरुषशरीरों की प्रवृत्ति परस्पर को उद्देश्य करके होती है; वैसे अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष को उद्देश्य करके होती है, यह दृष्टान्त है।

शङ्का—यह कैसे जाना जाता है कि तादर्थ्य से (उसके लिये) उत्पन्न व्यक्त पदार्थ (महदादि) के साथ पुरुष का सम्बन्ध होता है सान्निध्यमात्र से नहीं, भिक्षु के समान। अर्थात् भिक्षु के लिये कोई अन्नादि पैदा नहीं करता है किन्तु सान्निध्य से

पगच्छतो नापवर्गप्रसङ्गः स्यान्नित्यसान्निध्यात् । तस्मादयुक्तमेतत् । अप्रवर्तयितारं प्रति कार्यका(क)रणानां प्रवृत्तिरयुक्तेति चेत्, स्यान्मतम्—अप्रवर्तयिता कृष्यादीनां भिक्षुरतो न तेषामपि तं प्रति प्रवृत्तिः । एवमप्रवर्तयिता कार्यकरणानां पुरुषः । तस्मात्तेषामपि तं प्रति प्रवृत्तिरयुक्तेत्येतदप्यत एवाऽनैकान्तिकम् । वत्सो हि क्षीरस्याप्रवर्तयिताऽथ च तं प्रति तस्य प्रवृत्तिः । तस्माद् युक्तमेतत् पुरुषविमोक्षार्था प्रकृतेः प्रवृत्तिर्न चैतन्यप्रसङ्ग इति ॥ ५७ ॥

आह—न, अप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । यदि प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्था प्रवृत्तिस्तेन तदभावे कैवल्यं सिद्धमेवेत्यप्रवृत्तिप्रसङ्गः । अथ केवले पुरुषे प्रधानं प्रवर्तते, न तर्ह्यस्य तदर्था प्रवृत्तिरिति ।

अन्न का उपयोग उसको हो जाता है। वैसे ही पुरुष के लिये व्यक्त उत्पन्न नहीं होता किन्तु सान्निध्यमात्र से व्यक्त के साथ पुरुष का सम्बन्ध हो जाता है।

समाधान—वैसा मानने पर पुरुष को अपवर्गाभाव प्रसक्त हो जायेगा। अर्थात् सान्निध्यमात्र से व्यक्त पदार्थ का पुरुष द्वारा उपभोग स्वीकार करने पर पुरुष को कभी भी अपवर्ग (मोक्ष) न हो सकेगा; क्योंकि व्यक्त के साथ पुरुष का नित्य सान्निध्य रहता है। अतः उक्त आशंका अयुक्त है।

शङ्का—जो प्रवर्तक नहीं है; उसके प्रति कार्य करणों की (देहेन्द्रियों की) प्रवृत्ति अयुक्त है। अर्थात् भिक्षु कृषि आदि का प्रवर्तक नहीं है; इसलिये कृषि आदि को प्रवृत्ति भिक्षु के प्रति (भिक्षु को उद्देश्य कर) नहीं होती है। वैसे ही कार्यकरणों का प्रवर्तक पुरुष नहीं है; इसलिये कार्यकरणों की भी पुरुष के उद्देश्य से प्रवृत्ति अयुक्त है।

समाधान—यह कथन भी आचार्य के क्षीर दृष्टान्त से व्यभिचरित है; क्योंकि बछड़ा क्षीर का प्रवर्तक नहीं है; फिर भी बछड़े के प्रति क्षीर की प्रवृत्ति होती है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। इसलिये आचार्य का यह कथन युक्त है कि पुरुष के विमोक्ष के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति होती है; फिर भी प्रकृति में चैतन्य की आपत्ति नहीं होगी।

शङ्का—पुरुषविमोक्षार्थ प्रकृति की प्रवृत्ति कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त प्रयोजन से प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी। अर्थात् यदि प्रधान की पुरुषकैवल्य (मोक्ष) हेतु प्रवृत्ति होती है, तब तो प्रधान के अभाव में पुरुष का कैवल्यरूप प्रयोजन (केवल

उच्यते—

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

प्रागेवैतदपदिष्टम्—यथा दृश्यदर्शनशक्तियुक्तत्वादन्यतराभावे च तयोरानर्थक्यात् प्रधानपुरुषयोरितरेतरसम्बन्धं प्रत्यौत्सुक्यम् । दृष्टा चोपरमार्थापि लोकस्यौत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्याप्युपरमार्था प्रवृत्तिः ।

अथ दृश्यदर्शनशक्त्योरौत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं प्रवर्तत इत्येकत्र कृतार्थत्वादितरेष्वप्रवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्, स्यादेतत्—प्रधानमेकस्य पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्योपरमेदेवं दृश्यदर्शनशक्त्योरौत्सुक्यनिवृत्तिर्भविष्यति ॥ ५८ ॥

होना-अकेला होना) सिद्ध ही है; ऐसी स्थिति में प्रवृत्ति का अभाव प्रसक्त हो जायगा। यदि पूर्वसिद्ध केवल पुरुष में प्रधान की प्रवृत्ति होती है तो कैवल्यरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रधान की प्रवृत्ति नहीं हुई।

समाधान—'औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्··· तद्वदव्यक्तम् ॥

अर्थात् जैसे, अपना औत्सुक्य निवृत्त करने के लिये लोक क्रियाओं में प्रवृत्त होता है; वैसे ही पुरुष के विमोक्ष हेतु क्रियाओं में अव्यक्त (प्रधान) प्रवृत्त होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि दृश्यशक्ति (प्रधान) और दर्शनशक्ति पुरुष दोनों के युक्त होने से इनमें एक का भी अभाव होने पर दोनों निरर्थक हो जायेगा। अतः प्रधान-पुरुष दोनों को एक दूसरे के साथ सम्बन्ध के प्रति उत्सुकता रहती है। देखा गया है कि औत्सुक्य की निवृत्ति हेतु से की गयी लोक की प्रवृत्ति अपने उपरम के लिये भी होती है; वैसे हो प्रधान की भी उपरमहेतु प्रवृत्ति होगी।

यदि कहो कि 'दृश्य-दर्शन शक्ति दोनों की औत्सुक्य-निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति होती है, ऐसो स्थिति में किसी एक पुरुष में कृतार्थ होने के कारण औरों में (औरों के प्रति) प्रवृत्ति का अभाव होने लगेगा' तो ऐसा हो कि प्रधान एक पुरुष को अपने को दिखलाकर उसके प्रति उपरम को प्राप्त कर ले; किन्तु ऐसा होने पर दृश्य-दर्शन शक्तियों में औत्सुक्य की निवृत्ति होगी ही। अर्थात् औत्सुक्यनिवृत्तिरूप प्रयोजन सिद्ध होगा ही; जो हमारी प्रतिज्ञा है।

अप्रवृत्तिश्चेत्येतदपि नोपपन्नम्। कस्मात्? दृष्टान्तान्तरसामर्थ्यात्। तद्यथा किम्?

उच्यते—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥ ५९॥

तत्र नानावर्णस्वभावविज्ञानानां प्रेक्षार्थिनां पुरुषाणां संघातो रङ्ग-इत्युच्यते। नर्तक्याश्च तदाराधना नृतिक्रियाऽनेकपुरुषार्था। यदि वाऽत्र कश्चिद् ब्रूयात्-नृत्ताचार्येण कुशीलवैर्वा दृष्टैवेयं कस्मान्न निवर्तते? कथम्? अकृतार्थत्वात्। एवं सर्वपुरुषाणां कार्यका (क)रणसम्बन्धेनौत्सुक्यवतां निराकाङ्क्षीकरणार्थं प्रवृत्ता प्रकृतिः कथमेकस्य पुरुषस्यौत्सुक्यनिवृत्तौ कृतार्था स्यात्? तस्मान्नैकस्य पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य प्रकृतेर्निवृत्तिर्युक्तेति॥ ५९॥

यह कहना भी ठीक नहीं है कि एक पुरुष के प्रति कृतार्थ हुई प्रकृति की और पुरुषों के प्रति भी अप्रवृत्ति (प्रवृत्ति का अभाव) हो जायगी, क्योंकि अन्य दृष्टान्त के आधार पर प्रकृति की प्रवृत्ति होती रहेगी।

प्रश्न—वह दृष्टान्त कौन है?

उत्तर—रङ्गस्य··· ··· ··· ···प्रकृतिः॥

अर्थात् जैसे कोई नर्तकी रङ्गगत पुरुषों को अपना नृत्य दिखाकर नृत्य से निवृत्त हो जाती है; उसी प्रकार प्रकृति भी अपने को पुरुष के सम्मुख दिखाकर निवृत्त हो जाती है। कारिका में कथित रङ्ग क्या है—इसे बताते हैं—नाना वर्ण-स्वभाव और विज्ञान से युक्त दर्शक पुरुषों का समूह रङ्ग कहाता है। नर्तकी द्वारा उसकी आराधना नृति क्रिया है; जो अनेक पुरुषों के लिये है।

यहाँ यदि कोई बोले कि नृत्ताचार्य के द्वारा अथवा कुशीलवों के द्वारा नृत्य करती हुई नर्तकी देख ही ली गयी; तब वह नृत्य से क्यों नहीं निवृत्त हो जाती है? तो इसका उत्तर होगा कि क्यों निवृत्त होवे? क्योंकि वह अभी कृतार्थ नहीं हुई है। एवं, कार्य-करण (देहेन्द्रिय) के सम्बन्ध से भोगापवर्ग के लिये उत्सुकता वाले सभी पुरुषों को निराकाङ्क्ष करने के लिये (उनकी उत्सुकता को शान्त करने के लिये) प्रवृत्त हुई

अत्र च··· ···।[1]

कार्यकरणक्रियासाक्षी पुरुषः। तस्माद् ये भौतिकाः शिरःपाण्यादयो ये चाहङ्कारिकाः श्रवणादयो वचनादयः संकल्पाभिमानाध्यवसायाश्च ते लक्षणविपर्ययात्—नाहं-नाष्टौ प्रकृतयः। तदेतदेवं तत्त्वानामभ्यासैकाग्रमनसो यतेः पुनः पुनरभ्यासात्, एकस्याप्यस्मितारूपस्य परिकल्पितविषयभेदप्रतिषेधमुखेन—

(एवं[2] तत्त्वाभ्यासात्) नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।

आप्रकृतेः प्रतिपक्षग्रहणात्।

अविपर्ययाद्

पञ्चस्रोतसोऽस्याविद्यापर्वणो निवृत्तेः शान्तं ध्रुवं सकलभावानुबन्धप्रतिपक्षभूतं धर्माद्याप्यायितस्य बुद्धितत्त्वस्याऽसन्दिग्धमविपरीतम्—

प्रकृति क्यों एक की उत्सुकता की निवृत्ति होने पर कृतार्थ होगी? इसलिये एक पुरुष को अपने को दिखाकर प्रकृति की निवृत्ति युक्त नहीं है॥ ५९॥

['अत्र च' इस वाक्यांश के बाद की लगभग चार कारिकायें एवं युक्तिदीपिका खण्डित हैं। इसके अतिरिक्त पूरी ६५ वीं एवं ६६ वीं कारिका की व्याख्या तथा ६७ वीं कारिका का एक पाद खण्डित है।]

कार्यकरण (देहेन्द्रिय) की क्रियाओं का पुरुष साक्षीमात्र है। अतः भूत से उत्पन्न जो शिर हस्त आदि तथा अहङ्कार से उत्पन्न श्रवण आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, वचन (वाक्) आदि कर्मेन्द्रियाँ एवं संकल्प अभिमान और अध्यवसाय हैं; वे विपरीतलक्षण होने से अहंपदवाच्य नहीं हैं। यहाँ अहंपद से प्रकृतित्व अभिहित है। वह प्रकृतित्व आठ तत्त्वों में ही है—मूल प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्र में। अतः उक्त भौतिक देहादि आहङ्कारिक उभयेन्द्रियाँ तथा संकल्पादि वृत्तियाँ 'अहं' पद वाच्य आठ प्रकृतियों से भिन्न हैं।

इस प्रकार तत्त्वों के अभ्यास में एकाग्र है मन जिसका, ऐसे यति के बार-बार अभ्यास करने से एक होते हुए भी अस्मितास्वरूप का परिकल्पित जो विषयभेद, उसके प्रतिषेध द्वारा 'नास्मि, न मे और नाहम्' ऐसा अपरिशेष पूर्णज्ञान उत्पन्न हो जाता है। प्रकृतिपर्यन्त का, प्रतिपक्ष के रूप में अर्थात् पुरुष से विविक्त रूप में, ग्रहण

---

१. इतोऽग्रिमस्य कारिकाचतुष्टयस्य युक्तिदीपिका खण्डितेति बोध्यम्।
२. अयमंशः त्रुटितः।

विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

आह— विशुद्धं केवलम् । अन्यतराऽनभिधानमर्थाभेदात् । यदेव विशुद्धं तदेव केवलमित्यर्थाभेदादन्यतरच्छक्यमवक्तुमिति ।

उच्यते—गुणान्तररूपनिवृत्तिहेतुत्वात् । रजस्तमोधर्माणां तावद(त्) ग्रहणाच्छुद्धं संशयविपर्ययव्यतिरिक्तं च केवलं क्षेत्रज्ञपरिज्ञानेऽपूर्वमेव इति ॥ ६४ ॥

आह—तत्समकालमेव शरीरस्य पातः प्राप्नोति । सति ध··· ···वस्थ;नेनाज्ञानहेतुकं शरीरमिति । अज्ञानहेतुकं शरीरम् । अथ चायं नानात्वदर्शी ।

[सम्यग् ज्ञानाधिगमाद्] धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।

होने से उक्त ज्ञान सर्वथा अपरिशेष (पूर्ण) होता है। उक्त ज्ञान विपर्ययरहित होता है। अतः तम-मोह-महामोह-तामिस्र और अन्धतामिस्रनामक पाँच स्रोत वाले अविद्यापर्व की निवृत्ति हो जाने से शान्त-निश्चल-धर्माधर्मादि समस्त भावों के सम्बन्ध का विरोधी-असन्दिग्ध-अविपरीत इसीलिये विशुद्ध केवलज्ञान धर्म-ज्ञान-वैराग्य एवं ऐश्वर्य से समृद्ध बुद्धितत्त्व को उत्पन्न हो जाता है।

शङ्का—'विशुद्धम्' और 'केवलम्' इनमें किसी एक का कथन नहीं करना चाहिये; क्योंकि दोनों के अर्थ में अभिन्नता है। अर्थात् जो ही विशुद्ध है, वही केवल है। अतः अर्थ में अभेद होने से दोनों में अन्यतर (किसी एक) का कथन नहीं किया जा सकता है।

समाधान—भिन्न-भिन्न गुणस्वरूपों की निवृत्ति का हेतु होने से विशुद्ध और केवल परस्पर भिन्नार्थक है। रजोधर्म और तमोधर्म का अग्रहण होने से तथा सत्त्व का प्राधान्य होने से वह ज्ञान विशुद्ध है तथा संशय और विपर्यय से व्यतिरिक्त होने से वह ज्ञान केवल है। तथा क्षेत्रज्ञ के परिज्ञान में अपूर्व (सर्वथा अभिनव) है ॥ ६४ ॥

[६४, ६६ वीं कारिका एवं यहाँ की युक्तिदीपिका त्रुटित है।]

पूर्वपक्ष—ज्ञान के समकाल ही शरीर का पतन हो जाना चाहिये; क्योंकि शरीर की उत्पत्ति अज्ञान के कारण होती है और वह अज्ञान विवेकज्ञान से नष्ट हो चुका है। क्योंकि यहाँ नानात्वदर्शन ही विवेकज्ञान या तत्त्वज्ञान है; और यह यति नानात्वदर्शी हो चुका है।

तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

यः······शरीरान्तरोपार्जिता धर्मादयो न तावत् कारणम् । बुद्धि···मुपसंप्राप्ता अकृतार्थत्वार्थं बुद्धिश्च प्रधानं तदा तिष्ठत्ययं नानात्वदर्शी तस्य संस्कारस्य सामर्थ्यात् ।

को दृष्टान्तः ? चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः । तद्यथा—कुम्भकारप्रयत्नविशिष्टेन दण्डेन घटादिनिष्पत्तियोग्यक्रिया चक्रस्य भ्रमः, तेन तुल्यं चक्रभ्रमवत् । यथा चक्रभ्रमगं घटार्थम्, निष्पन्ने घटे पूर्वसंस्कारानुरोधान्न निवर्तते, न च तदा निवृत्तमिति कृत्वा संस्कारक्षयेऽप्यवतिष्ठते । एवं सम्यग् दर्शनार्थं शरीरं सम्यग् ज्ञानाधिगमेऽपि न निवर्तते पूर्वसंस्कारवशात्, न च तदा निवृत्तमिति कृत्वा संस्कारक्षयेऽप्यवस्थाप्यत इति ॥ ६७ ॥

समाधान—सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होने से अन्य शरीर से उपार्जित धर्माधर्मादि अग्रिम शरीर की उत्पत्ति का कारण नहीं होगा।' अर्थात् वह ज्ञानी पुनः शरीर धारण नहीं करेगा। किन्तु पूर्व संस्कार के वशीभूत वह ज्ञानी पुरुष शरीर धारण किये रहता है, जैसे—कुम्हार का चक्का पूर्व संस्कार के अधीन अपने आप कुछ समय तक चलता रहता है। अर्थात् शरीरान्तर (अज्ञानकालिक शरीर) से उपार्जित धर्मादि पुनः शरीर की उत्पत्ति का कारण नहीं होते हैं।[1]

इसमें क्या दृष्टान्त है ? इस प्रश्न पर आचार्य ने कहा—'चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः'। अर्थात् कुम्भकार के प्रयत्न से युक्त दण्ड से घटादि की निष्पत्ति के योग्य क्रिया ही चक्र का भ्रम या भ्रमण है। उसके तुल्य जो है, वह चक्रभ्रमवत् है। यहाँ 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' इस सूत्र से तुल्यक्रिया सूचित करने के लिये वतिप्रत्यय हुआ है। यहाँ चक्रभ्रमण के तुल्य क्रिया शरीरधारण क्रिया है। अर्थात् कुम्भकार का प्रयत्न बन्द हो जाने पर भी जैसे चक्रभ्रमण होता रहता है; वैसे ही ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी शरीरधारण क्रिया चलती रहती है। अर्थात् घटनिष्पत्ति के लिये उत्पन्न चक्रभ्रमण घट के निष्पन्न हो जाने पर भी वेगाख्य संस्कार के अनुरोध से निवृत्त नहीं होता है और यह भी नहीं होता है कि संस्कार का क्षय हो जाने पर भी चक्रभ्रमण अवस्थित रहे। वैसे ही सम्यग्ज्ञान के लिये प्राप्त यह शरीर सम्यग् ज्ञान

---

१. यहाँ मूलग्रन्थ के अत्यन्त त्रुटित होने से उस सन्दर्भ का संक्षेप में तात्पर्यार्थमात्र वर्णित किया गया ॥ ६७ ॥

यदा तु संस्कारक्षये तन्निमित्तस्य शरीरस्य भेदः, अतः—

प्राप्ते शरीरभेदे।

धर्माधर्मौ कृतार्थौ कारणे बुद्धिलक्षणे लयं गच्छतः। यश्च भूतावयवः शरीरारम्भकः, स सर्वेषु भूतेषु, भूतानि तन्मात्रेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्राणि चाहङ्कारे अहङ्कारो बुद्धौ, बुद्धिरव्यक्ते। सेयं तत्त्वानुपूर्वी तदर्थं प्रधानादुत्पन्ना, परिसमाप्ते पुनः प्रधाने प्रलयं गच्छति। प्रधानमप्यर्थवशादेवास्य शरीराणि तेषु तेषु जात्यन्तरपरिवर्तेषु करोति। स चार्थश्चरितार्थः। अतः—

चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।

अतीन्द्रियमसंवेद्यं लघु सर्वत्र सन्निहितं प्रशस्यमनिर्मितं विशुद्धमक्षयं निरतिशयम्—

हो चुकने पर भी पूर्व संस्कार के वश से नहीं निवृत्त होता है। और यह भी नहीं होता है कि निवृत्त हो जाने पर (संस्कार का क्षय हो जाने पर) भी यह शरीर कायम रखा जा सके।

जब तो संस्कार (धर्माधर्मादि) का क्षय हो जाने पर वर्तमान देह का विनाश हो जाता है; तब शरीर के नष्ट हो जाने पर पूर्व धर्माधर्म कृतार्थ होकर बुद्धिस्वरूप कारण में लय को प्राप्त कर जाते हैं। और जो शरीर का आरम्भ करने वाला आकाशादि भूतों का अवयव है, वह आकाश पर्यन्त सभी भूतों में, और भूत तन्मात्रों में, इन्द्रियाँ तथा तन्मात्र अहङ्कार में, अहङ्कार बुद्धि में और बुद्धि अव्यक्त में लय को प्राप्त हो जाती है।

यह बुद्ध्यादि तत्त्वों की परम्परा पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन के लिये प्रधान से उत्पन्न हुई थी। उक्त प्रयोजन सिद्ध हो जाने से प्रधान के कृतार्थ हो जाने पर तो उक्त तत्त्वानुपूर्वी प्रधान में लय को प्राप्त कर जाती है। चूंकि प्रधान भी अर्थ (प्रयोजन) वश ही पुरुष के शरीरों की उन उन विभिन्न जात्यन्तर परिणामों में रचना करता है, और वह प्रयोजन सिद्ध हो चुका है; इसलिये कृतार्थ हो चुकने से प्रधान की पूर्णतया निवृत्ति हो जाने पर अतीन्द्रिय-असंवेद्य-लघु-सन्निहित-प्रशस्त-अनिर्मित (स्वतः सिद्ध) विशुद्ध-अक्षय-सर्वातिशायी ऐकान्तिक (अवश्यभावी) आत्यन्तिक (कभी नहीं निवृत्त होने वाला) और इसीलिये भयरहित कैवल्य को ज्ञानी पुरुष प्राप्त कर लेता है। अथवा 'उभयम्' पाठपक्ष में 'ऐकान्तिक और

एकान्तमात्यन्तिकमु(म)भयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

एतच्चावस्थानं बौद्धैर्निरुपधिविशेष (निरुपाधिविशेष) निर्वाणलक्षण-मपवर्गो व्याख्यातः। एतत्परं ब्रह्म ध्रुवममलमभयमत्र सर्वेषां गुणधर्माणां प्रतिप्रलयः। एतत् प्राप्य सर्वायासैः सर्वबन्धनैरनादिकालप्रवृत्तरागद्वेष-वियुक्तो मुक्तो भवति। एतदर्थं ब्राह्मणा दयितपुत्र-दारसम्बन्धमपहाय गुरुशुश्रूषापराः शरीरमरण्येषु या(पा)तयन्ति कथं नामैकान्तिकमात्यन्तिकञ्च कैवल्यं स्यादिति। यत्रैवोत्थानं शास्त्रस्य तत्रैवोपसंहार आचार्येण कृतः।

आह—किमर्थं पुनरिदं शास्त्रं केन वा प्रकाशितमिति ?

उच्यते—यदुक्तं किमर्थमिति—

पुरुषार्थमिदम्,

कथं नाम ज्ञानवशात् तत्संस्कारोपनिपतितानां प्राणिनामपवर्गः स्या-दित्येवमर्थमिदं शास्त्रं व्याख्यातम्। यत्तूक्तं केनेति, उच्यते—

आत्यन्तिक उभय प्रकार से कैवल्य को प्राप्त कर जाता है' यह आचार्य का अभिप्राय है।

इसी अवस्था को बौद्धों ने उपाधिविशेष से रहित निर्वाणस्वरूप अपवर्ग प्रतिपादित किया है। यह अवस्था परब्रह्मरूप ध्रुव अमल और अभय की अवस्था है; इसमें सभी गुणधर्मों का तिरोभाव हो जाता है। इसे पाकर अनादि काल से आ रहे राग-द्वेष से रहित हुआ यति समस्त श्रमों एवं समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसके लिये ब्राह्मण (ब्रह्मपरायण जन) प्रिय-पुत्र-दार (स्त्री) के सम्बन्ध का परित्याग कर गुरु की सेवा में संलग्न होकर अपने शरीर को वनों में कष्टयुक्त बनाते हैं कि कैसे ऐकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य प्राप्त हो। इस प्रकार आचार्य ने सांख्यशास्त्र का जहाँ उपक्रम किया था; वहीं इसका उपसंहार किया। अर्थात् कैवल्य के उद्देश्य से सांख्यशास्त्र का उपक्रम है और कैवल्यप्राप्ति में ही इसका पर्यवसान है।

प्रश्न—यह सांख्यशास्त्र किस प्रयोजन से और किसके द्वारा प्रकाशित किया गया ?

उत्तर—यह जो पूछा कि किस प्रयोजन से यह शास्त्र प्रकाशित हुआ, तो यह शास्त्र पुरुषार्थ के लिये प्रकाशित हुआ। किस प्रकार अनादि अज्ञानवश उसके संस्कार में डूबे हुए प्राणियों का अपवर्ग (मुक्ति) हो, इस प्रयोजन से इस शास्त्र का

गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।

गुह्यमिति गूहनीयम् । रहस्यमकृतात्मनां यमनियमेष्वनवस्थितानामादरादप्यनध्येयम् । परमर्षिर्भगवान् सांसिद्धिकैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैराविष्टपिण्डो विश्वाग्रजः कपिलमुनिः । तेन कपिलमुनिना समाख्यातम् सम्यगाख्यातम्; चिराभ्यस्तस्य विद्यास्रोतसो निर्वचनसामर्थ्यात् ।

स्यादेतत्—कथमिदं गुह्यमिति ?

उच्यते—कथं वेदं गुह्यं न स्यात् ? भवाग्रोत्पन्नैरपि सनक-सनातन-सनन्दन-सनत्कुमारप्रभृतिभिरनित्यानाम्—

स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते च[1] यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

तत्र स्थितिस्तावद् रूपप्रवृत्तिफलनिर्देशेन उत्पत्तिरपि प्रकृतेर्महानि-

---

व्याख्यान (प्रकाशन) किया । जो तो यह पूछा कि किसने इसे प्रकाशित किया; तो यह गुह्य शास्त्र परमर्षि कपिल के द्वारा प्रतिपादित (प्रकाशित) किया गया । यहाँ 'गुह्यम्' शब्द का अर्थ है गूहनीय (छिपा हुआ) । अर्थात् यह सांख्यशास्त्र अत्यन्त रहस्यभूत है; जो अकृतात्माओं के लिये, जो सत्यादि यम और शौचादि नियमों में अवस्थित नहीं है, इसमें आदरभाव होने पर भी अज्ञेय है । कारिका में परमर्षिपद से भगवान् कपिलमुनि विवक्षित हैं; जो स्वतः सिद्ध धर्म-ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं और जो सबसे पूर्व में उत्पन्न मुनि हैं; उस कपिलमुनि ने इस शास्त्र को समाख्यात किया । अर्थात् सम्यक् प्रकार से कहा । क्योंकि चिरकाल तक अभ्यास से सम्पन्न विद्या के स्रोत कपिलमुनि ही इस शास्त्र के निर्वचन में (पूर्णतया प्रतिपादन में) समर्थ थे ।

प्रश्न—यह शास्त्र गूह्य कैसे है ?

उत्तर—यह शास्त्र गूह्य क्यों न हो ? जब कि संसार के अग्रकाल में उत्पन्न सनक-सनातन-सनन्दन सनत्कुमार प्रभृति के भी द्वारा अनित्य भूतों की (जगत् के पदार्थों की) स्थिति-उत्पत्ति और प्रलय सम्बन्धी चिन्तन किया जाता रहा है ।

इनमें भूतों के रूप (स्वरूप), प्रवृत्ति (व्यापार) और फल के निर्देश से स्थिति की चिन्ता की गयी है, 'प्रकृतेर्महान्' इत्यादि के द्वारा उत्पत्ति की तथा 'अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य' इस वचन के द्वारा प्रलय की चिन्ता की गयी है । जब तक प्रकृति-पुरुष के औत्सुक्य की निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक स्थिति और उत्पत्ति है । क्योंकि

---

१. चक्रवर्त्यनुसारं 'चकार' पाठो नास्ति ।

स्यादिः । प्रलयोऽप्यविभागाद् वैश्वरूप्यस्येति वचनात् । औत्सुक्याऽनुपरमात् प्रकृतिपुरुषयोः स्थितिरुत्पत्तिर्दृश्यदर्शनशक्त्योः सापेक्षत्वात् । तथा चोक्तम्—

'पुरुषस्य दर्शनार्थः कैवल्यार्थस्तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥' इति (का०२१)

प्रलयः—'प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ'
इति (का०६८)

अथवा स्थिति (तिः) क्षणभङ्गप्रतिषेधात् कालान्तरेऽप्यस्यानाशादुत्पत्तिर्विपरिणामान्नाभूतप्रादुर्भावादकस्मादसम्भवात् । प्रलयोऽपि निमित्तान्तरात् तत्स्वाभाव्यादेव भूतानामपि व्यक्तानां निष्पत्तिमतामिति यावत् । एवं च महदादयोऽपि परिगृहीता इति ।

अपवर्ग के पूर्व दृश्यशक्ति प्रकृति और दर्शनशक्ति पुरुष ये दोनों परस्पर सापेक्ष रहते हैं और स्थिति उत्पत्ति का क्रम बना रहता है । आचार्य ने वैसा ही कहा है—

पुरुषस्य दर्शनार्थः··· ··· ··· ·· तत्कृतः सर्गः । (का० २१)

अर्थात् पङ्गु और अन्धे के समान प्रकृति-पुरुष दोनों का संयोग होता है और उसी से यह सर्ग उत्पन्न है और वह संयोग पुरुष द्वारा प्रकृति के दर्शन के लिये तथा प्रकृति द्वारा पुरुष के कैवल्य के लिये होता है । एवं दर्शन और कैवल्य द्वारा प्रकृति पुरुष के औत्सुक्य की निवृत्ति होने के अनन्तर प्रलय होता है । जैसा कि 'प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ' इस ६८ वीं कारिका में कहा गया है । कारिका का अर्थ पूर्व में वर्णित हो चुका है ।

अथवा क्षणभङ्ग (क्षणिकत्व) का प्रतिषेध होने से तथा कालान्तर में भी नाश न होने से भूतों की स्थिति कही गई है । ऐसा नहीं है कि अभूत (असत्) का प्रादुर्भाव होने से उत्पत्ति है । अकस्मात् भी उत्पत्ति नहीं है; क्योंकि अकस्मात् उत्पत्ति असंभव है । प्रलय भी भूतों का अन्य निमित्त से होता है; अकस्मात् नहीं होता । भूत भी व्यक्त होता है, निष्पत्ति वाला है, इसलिये उसका प्रलय (तिरोभाव) स्वभावसिद्ध है । जिसका आविर्भाव होता है, उसका तिरोभाव भी स्वतः सिद्ध है । यहाँ उत्पत्ति आविर्भावरूप है और प्रलय तिरोभावरूप है, न कि नाशरूप । यह सांख्यसिद्धान्त है । स्थिति-उत्पत्ति और प्रलय वाले जैसे भूत हैं; वैसे ही महदादि भी परिगृहीत हैं । अर्थात् महदादि का भी स्थिति उत्पत्ति और प्रलय होता है ।

पुरुषादयस्तर्हि परित्यक्ताः। कथं वा भूतशब्द इति ?

उच्यते—वितथप्रतिषेधार्थत्वात्। यावत् किञ्चिदवितथं भूतं तस्य सर्वस्येह स्थित्यादय उच्यन्त इति। उत्पत्तिविनाश(ा)प्रतिषेधा(धोऽ) विशेषात्। (,) एवमपि पुरुषादीनामुत्पत्तिप्रलयावपि प्राप्नुतः। किं कारणम् ? अविशेषादिति।

उच्यते—संभवतो विशेषणं भवति। तत्र स्थितिरेव पुरुषादीनाम्। इतरेषां तु स्थित्युत्पत्तिप्रलया इति विज्ञास्यामः॥ ६९॥

आह—कस्मै पुनरिदं शास्त्रं परमर्षिणा प्रकाशितमिति ?

उच्यते—

'एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।

तत्र पवित्रं पावनात्। अग्र्यं सर्वदुःखक्षपणसमर्थत्वात्। पवित्रान्तराणि

शङ्का—यहाँ पुरुष आदि को आचार्य ने छोड़ दिया है। अथवा यदि पुरुषादि भी संग्राह्य है, तो भूतशब्द का उल्लेख क्यों किया ?

समाधान—वितथ का (असत् का) प्रतिषेध करने के लिये भूतशब्द का यहाँ प्रयोग है। अर्थात् जो कुछ भी अवितथ है सत् है, वह भूत है और उस सभी की स्थिति आदि यहाँ कही गई है।

शङ्का—जो कुछ अवितथ (सत्) है, उसकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय यदि आचार्य का विवक्षित है; तब महदादि एवं आकाशादि के समान पुरुषादि में उत्पत्ति और विनाश का प्रतिषेध न हो सकेगा; क्योंकि महदादि से पुरुषादि में कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् सभी अवितथ की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय मानने में पुरुषादि में भी उत्पत्ति और प्रलय की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि महदादि के समान पुरुषादि भी अवितथ है।

समाधान—सम्भव होने से विशेषण होता है। अतः पुरुषादि में स्थिति ही सम्भव है, उत्पत्ति और प्रलय असंभव है। औरों में (महदाकाशादि में) तो स्थिति-उत्पत्ति और प्रलय तीनों संभव हैं। यह हमें जानना चाहिये। अतः पुरुषादि में उत्पत्ति और प्रलय को प्रसक्ति नहीं होगी॥ ६९॥

प्रश्न—इस सांख्यशास्त्र को परमर्षि कपिलमुनि ने किसके लिये प्रकाशित किया ?

उत्तर—'एतत् पवित्रमग्र्यम् ··· ··· ··· प्रददौ।

अर्थात् इस पवित्र एवं श्रेष्ठ शास्त्र को कपिलमुनि ने अनुकम्पा कर आसुरि

पुनरेकदेशं क्षालयन्त्यघमर्षणगङ्गादीनि । तस्मादिदमेवाग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।

आह—सम्प्रदानस्याकस्मिकत्वम् धर्मादिनिमित्तानुपपत्तेः । न तावत् परमर्षेर्धर्मार्थं शास्त्रप्रदानमुपपद्येत, फलेनाऽनभिष्वङ्गात् । नार्थकामार्थम्, शिष्याणामनायासप्रसङ्गात् । न मोक्षार्थम् सांसिद्धिकेनैव ज्ञानेन तत्प्राप्तेः । तस्माद् विपरीतार्थाऽसंभवात् परिशेषादकस्मादाचार्यः शास्त्रनिधानं प्रददाविति ।

उच्यते—नाऽकस्मात्, किन्तर्हि ? अनुकम्पया प्रददौ । आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकैर्दुःखैः पीड्यमानमासुरिमुपलभ्य स्वात्मनि च ज्ञानस्य सामर्थ्यात् सति कार्यका(क)रणसम्प्रयोगे दुःखानामप्रवृत्तिं शिष्यगुणांश्च

को प्रदान किया । दुःखरूपी मल को धो देने के कारण यह शास्त्र पवित्र है । एवं, यह शास्त्र आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक समस्त दुःखों के विनाश में समर्थ है; इसलिये अग्र्य (श्रेष्ठ) है । संसार की अन्य पवित्र वस्तुएँ अघमर्षण गङ्गा आदि एक देश को पवित्र करती है । इसलिये काय मन और आत्मासम्बन्धी समस्त-मल को धोने के कारण यही अग्र्य है और इसे कपिलमुनि ने आसुरि को अनुकम्पापूर्वक प्रदान किया ।

पूर्वपक्ष—इस शास्त्र को आसुरि को देना अकारण है; क्योंकि इसे प्रदान करने में धर्म आदि कोई प्रयोजन कपिलमुनि को नहीं उपपन्न है । कारण, परमर्षि का धर्मरूप प्रयोजन के लिये इस शास्त्र का प्रदान करना नहीं बन सकता है; क्योंकि धर्म से स्वर्गादि फल प्राप्त होता है और फल के प्रति परमर्षि को कोई आसक्ति नहीं है । एवं, अर्थ और काम के लिये इसे आसुरि को प्रदान करना युक्त नहीं है, क्योंकि अनायास (बिना कष्ट उठाये) अर्थ और काम (सुख) देकर ही शिष्यों को यह विद्या प्राप्त हो जायेगी । ऐसी स्थिति में परमर्षि की अनुकम्पा का कोई अर्थ नहीं रहा । शास्त्र का प्रदान मुनि ने मोक्षरूप प्रयोजन से किया—यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि सांसिद्धिक ज्ञान (स्वतः सिद्ध ज्ञान) से ही परमर्षि को मोक्ष की प्राप्ति है । अतः इससे विपरीत (भिन्न) कोई प्रयोजन नहीं है; इसलिये परिशेषात् अकारण ही आचार्य ने इस शास्त्ररूपी निधि को आसुरि को प्रदान किया; ऐसा मानना चाहिये ।

उत्तर—परमर्षि ने अकस्मात् (अकारण) शास्त्र का प्रदान नहीं किया ।
प्रश्न—तो क्यों प्रदान किया ?

कथं नाम यथा मम सुखदुःखेषु ज्ञानोपनिपातात् साम्यमेवमासुरेपि स्यात्, तद्द्वारेणाऽन्येषामपि पुरुषाणाम्, एवमनुकम्पया भगवान् परमर्षिः शास्त्रमाख्यातवान् ।

यथा च परमर्षिरासुरये, तथा—

दशमाय कुमाराय भगवत्—

आसुरपि पञ्चशिखाय, तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

बहुभ्यो जनकवशिष्ठादिभ्यः समाख्यातम् । अस्य तु शास्त्रस्य भगवतोऽग्रे प्रवृत्तत्वान्न शास्त्रान्तरवद् वंशः शक्यो वर्षशतसहस्रैरप्याख्यातुम् ॥ ७० ॥

संक्षेपेण तु[1] द्वाव (त्र निर्दिष्टौ ततो) ··· हारीत वाद्धलि-कैरात-

उत्तर—अनुकम्पा से प्रदान किया । अर्थात् आध्यात्मिक अधिदैविक आधिभौतिक दुःखों से पीड़ित हो रहे आसुरि को जानकर और देहेन्द्रियसम्बन्ध के रहते भी अपने में ज्ञानसामर्थ्य (ज्ञानशक्ति) से दुःखों को अप्रवृत्ति (उत्पत्ति का अभाव) जानकर, साथ ही आसुरि में शिष्योचित गुणों को जानकर "किस प्रकार, जैसे मुझे सुख-दुख की स्थितियों में भी ज्ञान के प्रभाव से साम्यभाव (सुख में अत्यन्त हर्षित न होना और दुःख में उद्विग्न न होना) है; वैसे आसुरि को भी सुख-दुःख की स्थितियों में साम्यभाव हो तथा आसुरि के द्वारा अन्य मानवों में भी हो," इस प्रकार की अनुकम्पा से भगवान् परमर्षि कपिल ने आसुरि को इस शास्त्र का उपदेश किया ।

और जिस प्रकार परमर्षि ने आसुरिको शास्त्रोपदेश किया; वैसे आसुरि ने भी दशम कुमार भगवान् पञ्चशिखाचार्य को उपदेश किया तथा पञ्चशिखाचार्य ने इस शास्त्र को बहुतों को अर्थात् जनक-वशिष्ठ प्रभृति को उपदेश किया । यह सांख्यशास्त्र तो भगवान् कपिल के पूर्व से आ रहा है; इसलिये अन्य शास्त्रों की तरह सैकड़ों हजारों वर्षों से भी इस शास्त्र की वंशपरम्परा नहीं कही जा सकती है ॥ ७० ॥

यहां पर संक्षेप से ही आसुरि और पञ्चशिख दो आचार्यों को ईश्वरकृष्ण ने निर्दिष्ट किया । उनके बाद हारीत-वाद्धलि-कैरात-पौरिक-आर्षभेश्वर-पञ्चाधिकरण-पतञ्जलि-वार्षगण्य-कौडिन्य-मूकादिक शिष्य परम्परा से आये हुये इस सांख्यतन्त्र

१. 'द्वावत्र निर्दिष्टौ । ततो' इति त्रुटिस्थानीयः पाठः संगच्छते कथञ्चित् ।

पौरिकार्षभेश्वर-पञ्चाधिकरण-पतञ्जलि-वार्षगण्य-कौण्डिन्य-मूकादिक—
शिष्यपरम्परयाऽऽगतम्,

भगवानीश्वरकृष्णश्च साहायकं शास्त्रम् ।(शास्त्रं पूर्वा) पूर्वाचार्य-सूत्रप्रबन्धे गुरुलाघवमनाद्रियमाणः पौरस्त्या[२] न्व्याख्यावव्या······ न गर्भ-मति प्रमादं ददातीति ग्रन्थभूयस्त्वमुपजायते । तच्चेदानीन्तनैः प्राणिभिर-रल्पत्वादायुषो ग्रन्थत एव न सूपपादम् किं पुनः श्रवणप्रयोगा-भ्याम् । आह च 'चतुर्भिः प्रकारैर्विद्या सूपयुक्ता भवति आगमकालेन-स्वाध्यायकालेन-प्रयोगकालेन च ।'

तत्र चास्यागमकालेनैवायुः पर्युपयुक्तं स्यात् ततश्च शास्त्रानर्थक्य-म् । इत्यस्य मन्दधियामप्याशु ग्रहणधारणप्रयोगसम्पत् स्यादिति षष्टितन्त्रादुपाख्यानगाथयवहितानि वाक्यान्येकत उपमृद्य शिष्यानुकम्पार्थं यावत् (,)

ईश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।

को आर्यमति ईश्वरकृष्ण ने सांख्य के सिद्धान्त को अच्छी तरह जानकर आर्याओं के द्वारा संक्षिप्त किया)। भगवान् ईश्वरकृष्ण ने—सांख्य के तत्त्वों को बताने वाला सहायक शास्त्र पूर्वाचार्य के सूत्रप्रबन्ध में गुरुलाघव का अनादर कर पुराने आख्यानों के व्याख्यान को अतिप्रमाण (अतिविस्तार) को दे देता है, इस प्रकार ग्रन्थबाहुल्य उत्पन्न हो जाता है। उसे आज के प्राणी अल्पायु होने के कारण ग्रन्थ केवल के आधार पर ही नहीं उपपादित कर सकता है, फिर श्रवण और प्रयोग द्वारा कैसे कर सकेगा ?

महाभाष्यकार ने कहा भी है—चार प्रकारों से विद्या अच्छी तरह उपयुक्त होती है। आगमकाल से, स्वाध्यायकाल से, (प्रवचनकाल से) और प्रयोग (व्यवहार) काल से। उनमें इस शास्त्र के आगमकाल से सम्पूर्ण आयु समाप्त हो जायेगी; वैसी स्थिति में स्वाध्याय, प्रवचन और प्रयोग के बिना शास्त्र निरर्थक हो जायेगा; इसका विचार करते हुए मन्दबुद्धियों को भी शास्त्रार्थ का ग्रहण-धारण और प्रयोग (व्यवहार) की सम्पन्नता हो जाय इस अभिप्राय से षष्टितन्त्र से उपाख्यानों और गाथाओं से युक्त

---

२. 'पौरस्त्यान्वाख्यानव्याख्यानगर्भमतिप्रमाणं ददातीति' इति पाठः कथञ्चित् संगच्छते ।

सप्तत्या—

संक्षिप्तमार्यमतिना,

सर्वसत्त्वहितप्रवृत्तेन—

सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

कथं चास्य सम्यक् सिद्धान्तविज्ञानस्याप्यनेकग्रन्थशतसहस्राख्येयं सांख्यपदार्थं सतत्त्वमखण्डमार्याणां सप्तत्या संक्षिप्तवान् ?

आह च—

सप्तत्यां किल येऽर्थाः तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

यतश्च नारायण-मनु-जनक-वशिष्ठ-द्वैपायनप्रभृतिभिराचार्यैः प्रधानपुरुषादयः पदार्थाः परिगृहीताश्चोपदिष्टाश्च प्रशस्ताश्चातः स्वभा-

---

वाक्यों को एक तरफ निकाल कर शिष्यों पर अनुकम्पा के लिये इस सम्पूर्ण सांख्यतन्त्र को आर्यमति ईश्वरकृष्ण ने (सत्तर) आर्याओं द्वारा सभी प्राणियों के हित में प्रवृत्त होकर तथा सांख्यसिद्धान्त को अच्छी तरह जानकर—संक्षिप्त किया। अर्थात् इस शास्त्र का संक्षेप से प्रतिपादन किया।

जिसने सम्यक् प्रकार से सिद्धान्त का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया है; ऐसे इस ईश्वरकृष्ण के लिये भी सैकड़ों हजारों ग्रन्थों से कहने योग्य तत्त्वों सहित अखण्ड (सम्पूर्ण) सांख्यपदार्थ को आर्यमति ईश्वरकृष्ण ने सप्तति (सत्तर आर्याओं) के द्वारा कैसे संक्षिप्त किया ? उत्तर में कहते हैं—

इस सप्तति (सत्तर आर्याओं) में जितने पदार्थ कहे गये हैं; वे पदार्थ सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के हैं; किन्तु इस सप्तति में कहे गये पदार्थ आख्यायिकाओं से सर्वथा रहित हैं और परकीयवादों की आलोचनाओं से भी विवर्जित हैं।

चूँकि नारायण-मनु-जनक-वशिष्ठ-द्वैपायन प्रभृति आचार्यों द्वारा प्रधान-पुरुष आदि पदार्थ स्वीकृत हैं, उपदिष्ट हैं और प्रशंसित हैं; इसलिये स्वभावतः प्रसिद्ध, ऐश्वर्यफल के रूप में समृद्ध इस आर्यमार्ग (श्रेष्ठ सांख्यमार्ग) को अलङ्कृत करने के लिये पूर्वोक्त प्रकार से भगवान् ईश्वरकृष्ण ने, जो कि पदार्थस्वरूप का निरूपण करने में निपुण एवं दृढमति वाले हैं, परमर्षि आदि के द्वारा कथित आगम के अनुसार

वतः प्रसिद्धमैश्वर्यस्य फलत ऋद्ध्या आर्षमार्गमलङ्कर्तुमिति भगवदीश्वर-कृष्णेन पदार्थस्वरूपनिरूपणनिपुणसारमतिना परमर्ष्यादियथोक्तागमेन प्रमाणत्रयं पुरस्कृत्य तर्कदृशा विचारः कृतः। न चास्य मूलकनकपिण्ड-स्येव स्वल्पमपि दोषजातमस्तीति ॥ ७२ ॥

आह च—

अज्ञानध्वान्तशान्त्यर्थमृषिचन्द्रमसश्च्युता ।
मलिनैस्तीर्थजलदैश्छाद्यते ज्ञानचन्द्रिका ॥

इति सद्भिरसम्भ्रान्तैः कुदृष्टितिमिरापहा ।
प्रकाशिकेयं सर्गस्य धार्यतां युक्तिदीपिका ॥

स्फुटाभिधेया मधुराऽपि भारती मनीषिणो नोपखलं विराजते ।
कृशानुगर्भाऽप्यभितो हिमागमे कदुष्णतां याति दिवाकरद्युतिः ॥

प्रत्यक्ष अनुमान और शब्दप्रमाण को पुरस्कृत कर (अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर) तर्कदृष्टि से यहाँ विचार किया। इसमें कनकपिण्ड या कनकसप्तति-ग्रन्थ के समान स्वल्पमात्र भी दोष नहीं है।

कहा भी है—अज्ञान ·· ··· ···पात्रताम् ॥

अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धकार की शान्ति के लिये परमर्षि कपिलरूपी चन्द्रमा से निकली ज्ञानरूपी चन्द्रिका सम्प्रदायरूपी मलिन मेघों से ढँक दी जा रही है। अतः भ्रमरहित ज्ञानी सज्जनों द्वारा कुदृष्टिरूपी अन्धकार को नष्ट कर देने वाली एवं सृष्टि-तत्त्व को प्रकाशित करने वाली यह युक्तिरूपी दीपिका का अवलम्बन किया जाय।

स्पष्टार्थक एवं मधुर भी मनीषी की वाणी खलों के समीप सुशोभित नहीं होती है। कारण, चारों तरफ से हिम के आने पर अग्नि से गर्भित भी सूर्य की द्युति कदुष्णता को (कम उष्णता को) प्राप्त कर जाती है। अर्थात् सूर्य की उष्णता कम हो जाती है। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार द्वारा युक्तिदीपिकाकार खलों के बीच अपनी स्पष्टार्थक मधुर वाणी की स्थिति का वर्णन करते हैं।

किन्तु खलों के विपरीत सज्जन लोग दूसरों के स्वल्प भी गुण को अपनी शक्ति से उदारता को (विशालता को) प्राप्त करा देते हैं। अतः मेरा यह परिश्रम सज्जनों की विचारशक्ति के अनुग्रह का पात्र बने। अर्थात् सज्जन लोग मेरी इस कृति को अपनी विचारशक्ति से अनुगृहीत करें। यहाँ युक्तिदीपिकाकार सज्जनों से अनुरोध-

नयन्ति सन्तश्च यतः स्वशक्तितो गुणं परेषां तनुमत्युदारताम् ।
इति प्रयात्वेष मम श्रमः सतां विचारणाऽनुग्रहमात्रपात्रताम् ॥

॥ इति श्रीमदाचार्येश्वरकृष्णविरचितायां सांख्यसप्ततौ युक्तिदीपिकानाम्नि विवरणे एकादशमाह्निकं चतुर्थं च प्रकरणं पूर्णं ग्रन्थश्च ॥

करते हैं कि वे खलों के समान बिना विचारे मेरी इस कृति की उपेक्षा न करें; किन्तु विचार द्वारा इसके गुण को प्रकट करें।[1]

॥ इति श्रीमदाचार्यकेदारनाथत्रिपाठिकृतायां सांख्यसप्ततियुक्तिदीपिकाया हिन्दी कलाव्याख्यायामेकादशमाह्निकं चतुर्थं च प्रकरणं पूर्णं व्याख्या ग्रन्थश्च ॥

---

१. यहाँ पुष्पिका में एकादशवां आह्निक पूर्ण हुआ–ऐसा कहने से विदित होता है कि नवम आह्निक के बाद कारिकासहित दशवां आह्निक तथा एकादश का प्रारम्भ भाग बीच में ही खण्डित हो गया है। साथ ही प्रश्नसूचक चिह्नसहित वाचस्पति की कृति के रूप में उल्लेख भी प्रमाणशून्य एवं निराधार है।






सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय